अथ

मम्मटाचार्यविरचितः

काव्यप्रकाशः

[समीक्षात्मक भूमिका-भाषानुवाद-व्याख्या-विवेचनात्मकटिप्पणीसहितः]

गुरुपादानां नवतीर्थवेदान्तव्याकरणाचार्याणां डाक्तरोपाधिधारिणाम्

श्रीहरिदत्तशास्त्रिणाम्

निर्देशेन

गुरुकुलझंडीरलीभूतपूर्वाचार्येण कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयप्राध्यापकेन

डॉ० श्रीनिवासशास्त्रिणा

सम्पादितः

प्रकाशक :

रतिराम शास्त्री

साहित्य भण्डार,

सुभाष बाजार, मेरठ ।

संशोधित एवं परिवर्द्धित
तृतीय संस्करण
व्यासपूर्णिमा वि० सं० २०२७
१९७० ई०

मूल्य :
बारह रुपये

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ।

प्रथम संस्करण, व्यासपूर्णिमा, वि० सं० २०१७ (१९६० ई०)
द्वितीय संस्करण, श्रावणी, वि० सं० २०२४ (१९६७ ई०)
तृतीय संस्करण, व्यासपूर्णिमा, वि० सं० २०२७ (१९७० ई०)

मूल्य : बारह रुपये

लेखक के अन्य ग्रन्थ

१. मृच्छकटिक संस्कृत टीका, हिन्दी व्याख्या
२. शिशुपालवध (प्रथम सर्ग) ,,
३. कादम्बरी (पूर्वार्ध) ,,
४. लघुकौमुदी (सन्धि आदि) ,,
५. दशरूपक ,,
६. एम० ए० संस्कृत व्याकरण
७. रचनानुवादप्रभा
८. वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन (शोध प्रबन्ध)
९. न्यायबिन्दुटीका हिन्दी व्याख्या (प्रेस में)

मुद्रक :
राजकिशोर शर्मा
अध्यक्ष
सर्वोदय प्रेस,
२९४, जत्तीवाड़ा, मेरठ।
(दूरभाप : ४३५२)

प्राक्कथन

वाग्देवतावतार आचार्य सम्मट की अमर कृति काव्यप्रकाश की यह हिन्दी व्याख्या पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जा रही है। इसके प्रारम्भ में संस्कृत अलङ्कार-शास्त्र के विकास-क्रम का संक्षिप्त परिचय देकर उसमें आचार्य मम्मट के महत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। विस्तार-भय से कई आवश्यक अंश छोड़ देने पड़े हैं। हिन्दी-व्याख्या का क्रम यह रक्खा गया है कि प्रथमतः कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण आदि का हिन्दी में अविकल अनुवाद किया गया है। तदनन्तर उसकी यथावश्यक व्याख्या की गई है तथा किसी लक्षण को उसके उदाहरण में घटित करके दिखलाया गया है। मूलग्रन्थ का शब्दशः अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है। अनुवाद के बीच में कुछ आवश्यक शब्द तथा उनकी व्युत्पत्ति आदि कोष्ठक मे दिये गये हैं। वस्तुतः संस्कृतभाषा एक समास-प्रधान भाषा है, उसमे अल्पशब्दों द्वारा अमित अर्थ प्रकाशन की शक्ति है अतः अन्य भाषा में उसका अविकल अनुवाद करते समय शब्दाध्याहार आदि का आश्रय लेना ही पड़ता है। इसी हेतु अनुवाद मे कहीं-कहीं शिथिलता या अस्पष्टता की झलक मिलना भी सम्भव है। 'प्रभा' नामक इस हिन्दी व्याख्या में ग्रन्थोक्त वस्तु की विशद-व्याख्या करने का प्रयास किया गया है; इसी लिये यत्र-तत्र उक्त अर्थों की आवृत्ति भी हो गई है। यथावसर तुलनात्मक तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ भी दी गई हैं जिनमें कहीं-कहीं आधुनिक विद्वानों के मत का भी निर्देश कर दिया गया है। सक्षेपतः इस व्याख्या में यह प्रयास किया गया है कि मूलग्रन्थ के अर्थ-स्फुटन के साथ-साथ एतत्प्रतिपादित वस्तु का तुलनात्मक दृष्टि से भी अनुशीलन किया जा सके।

यद्यपि काव्य-प्रकाश पर विविध व्याख्याओं के होते हुए यह नवीन प्रयास निरर्थक सा ही है, तथापि इसके लेखन की आवश्यकता तब अनुभव हुई जब कुछ ग्रन्थांशों के स्पष्ट न होने से छात्रों की आतुरता का अनुभव किया गया। इसे गुरु-गोविन्द की कृपा से प्राप्त प्रसाद का उनकी सेवा में समर्पण मात्र ही समझना चाहिये। इसमें जो भी ग्राह्य है, वह उन तपस्वी गुरुजनों का ही है, जिन्होंने अद्य-पर्यन्त अपने विलक्षण त्याग, तपस्या एवं सतत प्रयत्नों से आचार्य मम्मट की इस अद्भुत कृति को केवल जीवित ही नहीं रक्खा है अपितु इसे विशद से विशदतर बनाने का अथक परिश्रम किया है। इसमें जो अग्राह्य है वह लेखक की अल्पबुद्धि का स्खलन ही कहा जा सकता है। आशा है विवेकशील विद्वज्जन उसके प्रति उदार दृष्टि का परिचय देंगे।

इस व्याख्या में अनेक महानुभावों तथा ग्रन्थों से सहायता ली गई है, यत्र-तत्र उनका उल्लेख भी किया गया है।

संस्कृत वाङ्मय के नवीन अध्ययन तथा अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने वाले आदरणीय डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मेरठ कालिज), संस्थापक भारतीय विद्या संस्थान, देहली की व्याख्या-शैली ने हमारा मार्गनिर्देशन किया है। उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन लेखक की शक्ति से बाहर है।

विशेषरूप से वामनाचार्य झलकीकर की बालबोधिनी टीका, हरिशङ्कर शर्मा की नागेश्वरी टीका, डॉ० गङ्गानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद आदि का आधार इसमें लिया गया है। काव्यप्रकाश के उपलब्ध हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद तथा व्याख्याओं और अलङ्कारशास्त्र के अन्य ग्रन्थों ने भी हमारा यथोचित उपकार किया है। विषय-प्रवेश के लेखन में विशेषरूप से वामनाचार्य झलकीकर की प्रस्तावना, श्री M. P. V. काणे की History of Sanskrit Poetics, बलदेव उपाध्यायकृत संस्कृत साहित्य का इतिहास तथा काव्यप्रकाश की नाना भूमिकाओं आदि का आधार लिया गया है। इन सभी महानुभावों तथा ग्रन्थों का आभार-प्रदर्शन करना हमारा परम कर्तव्य है।

एक सुव्युत्पन्न तरुण प्रिय राजेन्द्रकुमार शास्त्री बी० ए० ने भी अपनी स्पष्ट सम्मतियों द्वारा तथा प्रूफसंशोधन आदि में सहयोग प्रदान करके इस कार्य में बड़ी सहायता प्रदान की है, वे साधुवाद के पात्र हैं।

साहित्य भण्डार के अध्यक्ष श्री रतिराम शास्त्री के अनुरोध से ही इस गुरु-कार्य का समापन हो सका है अतः वे अवश्य ही साधुवाद के भाजन हैं।

साधन तथा शक्ति के अभाव से इस पुस्तक में जो कुछ भी कमियां रह गई हैं, स्नेहशील विद्वज्जनों के सत्परामर्श से उन्हें दूर करने का प्रयास किया जायेगा।

—लेखक

मातृ नवमी
वि० सं० २०१७

तृतीय संस्करण

छात्रों की रुचि तथा विद्वज्जनों के सत्परामर्श से इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण में पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन किया गया था। फिर भी जो कुछ कमियां प्रतीत हुईं, उनकी पूर्ति का तृतीय संस्करण में प्रयास किया गया है। आशा है यह ग्रन्थ पाठकों के लिये और अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

—लेखक

व्यास पूर्णिमा
वि० सं० २०२७

विषयानुक्रमणिका

विषय-प्रवेश

१. अलङ्कार शास्त्र का महत्त्व—काव्यप्रकाश अलङ्कारशास्त्र का एक अनुपम ग्रन्थ है। वाङ्‌मय में अलङ्कारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अलङ्कारशास्त्र के द्वारा काव्य या साहित्य के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता है। कविजन की कीर्ति का प्रसार अलङ्कारशास्त्र के आधार पर ही हुआ करता है। इसके अध्ययन से ही कविजन काव्य के गुण-दोष आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह व्युत्पत्ति-जनन का एक मुख्य साधन है। जिस प्रकार भाषा-ज्ञान के लिये व्याकरण अपेक्षित है उसी प्रकार काव्य-रचना में नैपुण्य प्राप्त करने के लिये भी अलङ्कारशास्त्र के अनुशीलन की आवश्यकता है। काव्योत्पत्ति में ही नहीं, काव्य-प्रसार में, काव्य को लोकप्रिय बनाने में भी अलङ्कारशास्त्र महत्त्वपूर्ण योग-दान करता है। यह आलोचकों का मार्गदर्शक है। जिस प्रकार न्याय विद्या समस्त दर्शनशास्त्र का दीपक है उसी प्रकार अलङ्कारशास्त्र काव्य का प्रदीप है। अतः वेदशास्त्र से लेकर सामान्य साहित्य तक के अध्ययन में अलङ्कारशास्त्र के ज्ञान की उपयोगिता है। व्याकरण इत्यादि छः वेदाङ्गों के समान अलङ्कारशास्त्र का अध्ययन भी अनिवार्य है। इसी हेतु राजशेखर ने इसे सप्तम वेदाङ्ग माना है—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिः ज्योतिषं च षडङ्गानि" इत्याचार्याः। 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः।' (काव्यमीमांसा १.२)। राजशेखर के अनुसार तो यह अलङ्कारशास्त्र आन्वीक्षिकी (तर्क), त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन चार प्रसिद्ध विद्याओं का सार भाग है। अतएव पञ्चम विद्या है—'पञ्चमी साहित्यविद्या, इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः'। (काव्यमीमांसा १.२)। यह अलङ्कारशास्त्र कवि और सहृदय दोनों का मार्गदर्शक है अतएव इसके बिना काव्य के उक्त प्रयोजनों की सिद्धि नहीं हो सकती तथा काव्य अपने प्रयोजनों को निष्पन्न करने के लिये अलङ्कारशास्त्र की अपेक्षा रखता है। काव्य के अर्थ-ज्ञान, सौन्दर्यबोध तथा रसास्वादन में भी अलङ्कारशास्त्र की महती उपयोगिता है इसलिये इसका महत्त्व सर्वविदित ही है।

२. अलङ्कारशास्त्र का नामकरण—आधुनिक आलोचनाशास्त्र के एक अङ्ग के रूप में ही प्राचीनकाल में अलङ्कारशास्त्र था। उसमें आधुनिक आलोचना के समान किसी काव्य की सर्वाङ्गीण आलोचना तो नहीं होती थी, किन्तु आलोचना के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए उपलब्ध काव्यों में से उसके उदाहरण दिखला दिये जाते थे। उसमें काव्य के गुण, दोष, अलङ्कार तथा यथावसर शब्द और अर्थ आदि का भी विवेचन किया जाता था तथापि प्राचीन आलङ्कारिकों ने विशेषरूप से इसे अलङ्कारशास्त्र नाम से ही पुकारा था। इसी से भामह, वामन तथा उद्भट आदि ने

अथवा शास्त्रों से सम्बन्ध है। बात यह है कि काव्य में विविध विषयों का वर्णन होता है अतः काव्य-विवेचनात्मक शास्त्र का सामान्यतः विविध विषयों से सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है; किन्तु कुछ शास्त्रों से इसका गहन सम्बन्ध है अर्थात् अलङ्कार-शास्त्र के अध्ययनार्थ उनका यत्किञ्चित् अनुशीलन भी अपेक्षित है। जैसे—

(क) **अलङ्कारशास्त्र और व्याकरण**—व्याकरणशास्त्र समस्त विद्याओं का आधार माना जाता है, क्योंकि समस्त विद्याएँ, विशेषतः काव्य, शब्दाश्रित ही हैं। शब्दों का अनुशासन करने वाला व्याकरण ही है इसी से यह प्रमुख वेदाङ्ग माना जाता है 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। साहित्यशास्त्र से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः यहाँ वैयाकरणों का बड़े आदर के साथ स्मरण किया गया है। माना जाता कि काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द का व्यवहार वैयाकरणों का अनुसरण करके ही किया गया है। काव्यप्रकाश में संकेतित शब्दों का विभाजन **'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्या-दिर्जातिरेव वा'** भी महाभाष्य के आधार पर ही किया गया है—**(चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः)**। शब्द के स्वरूप-विवेचन में भर्तृहरि के वाक्यपदीय का उद्धरण दिया गया है—'नहि गौः स्वरूपेण गौः' तथा अर्थ-निर्धारण में 'संयोग' 'प्रकरण' आदि सहायक होते हैं यह दिखलाने के लिये 'संयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि भर्तृहरि की कारिका को उद्धृत किया गया है। यही नही अलङ्कार-विवेचन में भी व्याकरण का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है; उपमा का विभाजन 'वति' प्रत्यय तथा 'क्यच्' आदि प्रत्ययों के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। यत्र-तत्र व्याकरण के शास्त्रीय प्रयोगों का भी आश्रय लिया गया है; जैसे 'विभावना' के लक्षण में 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि' में वैयाकरणों के आधार पर ही 'क्रिया' का अर्थ 'हेतु' किया गया है। शब्दार्थ और अलङ्कार-विवेचन के अतिरिक्त गुण-दोष आदि के विवेचन में भी व्याकरणशास्त्र अत्यन्त सहायक है। इसी हेतु भामह तथा वामन ने शब्द-शुद्धि के अधिकरण का समारम्भ किया था— **सम्प्रति काव्यसमयं शब्दशुद्धिञ्च दर्शयितुं प्रायोगिकाख्यमधि-करणमारभ्यते।** (काव्यालङ्कारसूत्र ५–१)। च्युतसंस्कृति जैसा काव्य-दोष तो व्याक-करण ज्ञान पर ही निर्भर है। साथ ही व्याकरण के समान ही यहाँ अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना आदि वृत्तियों का विचार किया जाता है। वस्तुतः व्याकरण-प्रतिपा-दित शब्दों की सुचारु प्रयोगविधि अलङ्कारशास्त्र में निरूपित है तभी तो विद्वानों का कथन है 'व्याकरणशास्त्रस्यैव पुच्छभूतमिदं शास्त्रम्' अतएव व्याकरणशास्त्र साहित्य-शास्त्र का अत्यन्त सहायक है, यह निर्विवाद है।

(ख) **अलङ्कार शास्त्र और तर्कशास्त्र**— तर्कशास्त्र प्रमाणशास्त्र है। इसमें शब्द की अभिधा आदि वृत्तियों पर भी विचार किया गया है। इन विषयों पर साहित्य-शास्त्र भी विस्तारपूर्वक विचार करता है; अभिधावृत्तिमातृका, शब्द-व्यापार विचार आदि में तो इन पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। 'ध्वनि' के विवेचन में भी तर्कशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है; क्योंकि शंकुक आदि आचार्य रस को अनुमान का ही

विषय मानते हैं तथा व्यक्तिविवेककार आदि ने व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार आदि के विवेचन मे तर्कशास्त्रप्रसिद्ध अन्वयव्यतिरेक का आश्रय लिया गया है तथा अनुमान और काव्यलिङ्ग जैसे अलङ्कार तर्कशास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं।

(ग) अलङ्कारशास्त्र और पूर्वमीमांसा—पूर्वमीमांसा शब्द, वाक्य आदि का विवेचन करने वाला शास्त्र है। अलङ्कारशास्त्र के भट्टलोल्लट आदि कतिपय आचार्य मीमांसा मतानुयायी ही है अतः इस शास्त्र पर मीमांसाशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। काव्यप्रकाश में शब्द के प्रकारचतुष्टय का निरूपण करके मीमांसकाभिमत 'जातिरेव' का भी निरूपण किया गया है। इसी प्रकार तात्पर्य नामक मीमांसकों की शब्दवृत्ति का उल्लेख करते हुए 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। प्रसङ्गवशात् मीमासा के कतिपय न्याय—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' आदि का प्रयोग तथा 'श्रुतिलिङ्ग०' इत्यादि बलीयस्त्वबोधक नियम और कुमारिल तथा प्रभाकर की अर्थापत्ति का उल्लेख भी काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण आदि मे मिलता है। अतएव पूर्वमीमांसाशास्त्र के साथ भी साहित्यशास्त्र का पर्याप्त सम्बन्ध है।

(घ) अलङ्कारशास्त्र और मनोविज्ञान—अलङ्कारशास्त्र का मनोविज्ञान से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय पुरातत्त्व में मनोविज्ञान पृथक् शास्त्र के रूप में विकसित नहीं हुआ, दर्शनशास्त्र आदि में ही इसकी कुछ मान्यताओं एवं तत्त्वो का यत्र-तत्र विश्लेषण कर दिया गया है किन्तु आधुनिक युग में यह शास्त्र अत्यन्त समृद्ध हो चला है। यह मनोविज्ञान अलङ्कारशास्त्र मे अपना एक विशेष स्थान रखता है। रस-विवेचन का तो यह आधार ही है। स्थायीभाव और संचारीभाव आदि के रूप में साहित्यमनीषियों ने स्वाभाविक तथा नैमित्तिक मानसिक वृत्तियो का सूक्ष्म विवेचन किया है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिये मनोविज्ञान का आंशिक ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है।

(ङ) अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध—उपर्युक्त शास्त्रो के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का भी अलङ्कारशास्त्र पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे—रस-विवेचन में सांख्य तथा वेदान्त के सिद्धान्तो की झलक है। यहाँ चमत्कारचन्द्रिका, मन्दारचम्पू तथा रसगङ्गाधर आदि ने उपनिषद् के उद्धरण ('रसो वै सः' आदि) दिये हैं। इसी प्रकार दोष-निर्णय के प्रकरण में योगशास्त्र, कामशास्त्र तथा अर्थशास्त्र इत्यादि की मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में यह अलङ्कारशास्त्र विविध विद्याओं से गहन सम्बन्ध रखता है। इसके सम्यक् अवबोध के लिये विविध शास्त्रों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

५. अलङ्कारशास्त्र का आविर्भाव—

यद्यपि अलङ्कार-शास्त्र का उद्भव बहुत बाद में हुआ, जैसा कि अग्रिम पृष्ठों में विचार किया जायेगा, तथापि काव्य तथा काव्योत्कर्षक अलङ्कार आदि धर्मों का

अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयोग किया जाता था। भारतीय आर्य भाषा के आदि ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में भी अनेक स्थलों पर अलङ्कारों का चमत्कार परिलक्षित होता है। अनेक ऋचाओं में अलङ्कृत काव्यमय भाषा में उच्चकोटि के काव्य का दर्शन होता है; जैसे 'उषा-स्तुति' सम्बन्धी निम्न मन्त्र में ही—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥ ऋ० १.१२४.६॥

इस मन्त्र में उपमा का चमत्कार है। निरुक्त में उपमा के उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। उपमा के समान ही अतिशयोक्ति, व्यतिरेक तथा उत्प्रेक्षा आदि विविध अलङ्कार वेदों में दृष्टिगोचर होते हैं (देखिये P. V. Kane-History of Sanskrit Poetics. पृ० ३१४, ३१५)। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में भी काव्यत्व एवं अलङ्कार आदि के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

तदनन्तर रामायण और महाभारत में तो उच्चकोटि का काव्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि में इन महाकाव्यों के उदाहरण भी दिये गए हैं (गृध्रगोमायुसंवाद आदि)। यद्यपि महाभारत को अनेक विद्वान् काव्य की अपेक्षा धर्मशास्त्र अथवा पुराणेतिहास की कोटि में रखना उचित समझते हैं तथापि रामायण एक उच्चकोटि का काव्य है, इसमें सन्देह नहीं। आचार्य यास्क के निरुक्त तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुशीलन से यह भी विदित होता है, कि उस समय काव्यों का पर्याप्त विकास हो चुका था। राजशेखर का कथन है कि स्वयं पाणिनि ने 'जाम्बवतीजय' नामक एक काव्य की रचना की थी। वार्तिक तथा महाभाष्य में तो वासवदत्ता, सुमनोत्तरा आदि आख्यायिकाओं; कंसवध, बालिबन्ध आदि नाटकों का उल्लेख भी किया गया है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से भी विदित होता है कि बुद्धकाल पर्यन्त भारतीय साहित्य के विविध अङ्गों का पर्याप्त विकास हो चुका था।

साहित्य का विकास हो जाने पर साहित्यिक विवेचन की ओर विद्वानों का ध्यान जाना स्वाभाविक है; क्योंकि साहित्य-निधि के समृद्ध हो जाने पर उसकी परख करने के लिये लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ ही करता है। ये लक्षण-ग्रन्थ ही कवियों की स्वच्छन्द विहारिणी कल्पना को मर्यादा में रखते हैं। ये उपलब्ध काव्य-कृतियों के आधार पर ही आविर्भूत होते हैं तथापि भावी साहित्यकारों के निर्देशक होते हैं और उनका यथेष्ट नियन्त्रण भी करते हैं। फलतः तत्कालीन समृद्ध साहित्य ने लक्षण-ग्रन्थों को प्रोत्साहित किया तथा काव्य के विविध अङ्गों का विवेचन होने लगा, काव्य के स्वरूप, भेद तथा गुण-दोषों पर विचार किया जाने लगा। बस, साहित्य-सर्जन की धारा दो मार्गों में प्रवाहित होने लगी—निर्माण तथा समीक्षा। एक ओर तो प्रतिभाशाली कविगण उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण करने में तत्पर रहे और दूसरी ओर विवेकशील विद्वान् साहित्य के स्वरूप

का विवेचन करते हुए उसकी समीक्षा करने लगे। यही साहित्यशास्त्र के आविर्भाव की कहानी है।

६. अलङ्कारशास्त्र का इतिवृत - संक्षेप में संस्कृत साहित्य-शास्त्र का इतिहास तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) प्रथम युग—भामहाचार्य (७०० ई०) से पूर्व; आरम्भ का समय।

(२) द्वितीय युग—मम्मट (१०५०–११०० ई०) से पूर्व; स्वतन्त्र उद्भावना का समय।

(३) तृतीय युग—(मम्मट के अनन्तर) सामञ्जस्य तथा समन्वय का समय।

साहित्यशास्त्र का प्रारम्भिक युग

अलङ्कारशास्त्र की उत्पत्ति किस समय हुई यह निर्णय करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। इसके विषय में विविध प्रवाद हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी है। इसी प्रकार राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार शङ्कर भगवान् ने इस शास्त्र की शिक्षा ब्रह्मा को दी थी। ब्रह्मा ने अन्य ऋषियों को इसका उपदेश किया। तब इस शास्त्र का १८ अधिकरणों में विभाजन किया गया और प्रत्येक अधिकरण का एक एक आचार्य द्वारा निरूपण किया गया—

'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः; आनुप्रासिकं प्रचेतायनः; यमो यमकानि; चित्रं चित्राङ्गदः; शब्दश्लेषं शेषः; वास्तवं पुलस्त्यः; औपम्यमौपकायनः; अतिशयं पाराशरः; अर्थश्लेषमुतथ्यः उभयालङ्कारिकं कुबेरः; वैनोदिकं कामदेवः; रूपकनिरूपणीयं भरतः; रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः; दोषाधिकारिकं धिषणः; गुणौपादानिकमुपमन्युः; औपनिषदिकं कुचुमारः इति।' (काव्यमीमांसा, कविरहस्यम् अ० १)

इस कथन की प्रामाणिकता विवाद-ग्रस्त है। आज इन रचनाओं का यत्किञ्चित् अंश 'भरत का नाट्यशास्त्र' आदि ही उपलब्ध है। अन्य रचनाएँ तो बहुत समय पूर्व ही काल के गर्भ में विलीन हो चुकी होंगी। राजशेखर ने भी उनके उच्छेद की ओर संकेत किया है—'इत्यङ्कारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिच्चिच्छिदे।' उपर्युक्त आचार्यों में से सुवर्णनाभ और कुचुमार के नाम कामसूत्र (१.१.१३–१७) में भी उपलब्ध होते हैं। नन्दिकेश्वर का उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने भी किया है। इसी प्रकार सङ्गीतरत्नाकर में भी साहित्यशास्त्र के आचार्यों में नन्दिकेश्वर[1] का नाम लिया गया है। काव्यादर्श की टीका 'हृदयंगमा' के अनुसार काश्यप और वररुचि आदि ने काव्यादर्श से पूर्व लक्षणशास्त्रों की रचना की थी—पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य। काव्यादर्श की अन्य टीका 'श्रुतानुपालिनी' में भी काश्यप, ब्रह्मदत्त और नन्दिस्वामी का उल्लेख किया गया है। यद्यपि उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं तथापि इन प्रमाणों से यह विदित होता है कि भारत में साहित्यशास्त्र का उदय अत्यन्त प्राचीन काल में हो चुका था। कतिपय अन्य प्रमाणों से भी इस बात की पुष्टि होती है—

निघण्टु (१.१३) में ऋग्वेद से १२ उदाहरण चुनकर उन्हें 'उपमा' बतलाया

---

१. नन्दिकेश्वर का 'अभिनय दर्पण', के० एल० मुखोपाध्याय कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है।

गया था जैसे—'इदमिव इदं यथा' अग्निर्न इत्यादि। इसकी व्याख्या करते समय निरुक्तकार यास्कमुनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य का उपमा-लक्षण उद्धृत किया है, जो अत्यन्त वैज्ञानिक है—अर्थात् यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। यास्क ने पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा का भेद भी स्पष्ट किया है—लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते (३. १८)। इसके पश्चात् पाणिनि आचार्य ने भी उपमित, उपमान आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि पाणिनि से पूर्व ही उपमा के चार अङ्गों का विवेचन किया जा चुका था। आचार्य पाणिनि ने शिलालि और कृशाश्व के द्वारा निर्मित नट-सूत्रों का भी निर्देश किया है। इसी प्रकार वेदान्त-सूत्रों में भी उपमा (३. २. १८) तथा रूपक (१. ४. १) अलङ्कारों का नामनिर्देश किया गया है। अलङ्कारशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों से पूर्वकालीन अश्वघोष, कालिदास आदि के काव्यों में भी साहित्यिक लक्षणों का व्यवस्थित प्रयोग परिलक्षित होता है। इससे यह मानना पड़ता है कि उस समय तक अनेक अलङ्कारों के स्वरूप आदि का विवेचन किया जा चुका था। साथ ही रुद्रदामन् (१५० ई०) के शिलालेख से भी विदित होता है कि उस समय तक काव्य के गद्य और पद्य दो भेद माने जाने लगे थे, इन दोनों का अलङ्कृत होना आवश्यक समझा जाता था। स्फुट, मधुर कान्त आदि काव्य-गुणों का भी निर्देश हो चुका था, जिनका कि आगे चलकर 'काव्यादर्श' में निरूपण किया गया है। इसी प्रकार नासिक के शिलालेख में भी, जो रुद्रदामन् (जूनागढ) के शिलालेख से पूर्वकालीन है, अनेक आलङ्कारिक संकेत प्राप्त होते हैं। इनसे अर्वाचीन हरिषेणकृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति (चतुर्थ शताब्दी) आदि तो इस बात के ही स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस समय से बहुत पूर्व ही साहित्यशास्त्र का व्यवस्थित विवेचन हो चुका था।

अब विचारणीय यह है कि अलङ्कारशास्त्र की सर्वप्रथम व्यवस्थित रचना कौनसी है? कुछ विद्वानों का मत है कि अग्निपुराण ही अलङ्कारशास्त्र का प्रथम लक्षण-ग्रन्थ है। किन्तु यह विचारणीय ही है।

(१) अग्निपुराण—

काव्यप्रकाशादर्श के लेखक महेश्वर का कथन है कि भरतमुनि ने अग्निपुराण के आधार पर साहित्यशास्त्र का कारिकाओं में प्रणयन किया। काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध। इसी प्रकार कुछ अन्य टीकाकारों ने भी वह्निपुराण को अलङ्कारशास्त्र का प्रथम स्रोत स्वीकार किया है। किन्तु अग्निपुराण की प्राचीनता में विद्वानों को सन्देह है। कुछ विद्वान् तो उसे दशम तथा एकादश शताब्दी की रचना मानते हैं। अलङ्कारशास्त्र के किसी प्राचीन आचार्य ने अग्निपुराण का उल्लेख भी नहीं किया, अर्वाचीन आचार्य (१४ शताब्दी) विश्वनाथ ने ही स्पष्ट रूप से अग्निपुराण का नाम-निर्देश किया है। प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने भरत के नाट्यशास्त्र का ही बार बार उल्लेख किया है अतः वही अलङ्कार शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है।

अग्निपुराण एक विश्वकोष है। इसमें ऐसे अनेक विषयों का विवेचन है,

जिनमें मध्यकालीन भारत के लोग रुचि रखते थे। इसमें कुछ साहित्यिक विषयों का भी विवेचन किया गया है। इसके कतिपय अध्यायों में काव्य-शास्त्रविषयक विवेचन भी है; जैसे—अध्याय ३३६ में काव्यलक्षण तथा काव्यभेद (संस्कृत और प्राकृत, गद्य, पद्य तथा मिश्र) तथा कथा, आख्यायिका और महाकाव्य का स्वरूप निरूपण किया गया है। अध्याय ३३७ में रूपक पर विचार किया गया है तथा ३३८ में रस, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव आदि के निरूपण के साथ-साथ नायक और नायिका के गुणों का वर्णन है। ३३९ में पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी नामक चार रीतियाँ एवं भारती, सात्वती कैशिकी तथा आरभटी नामक चार वृत्तियों का विवरण है। अध्याय ३४०, ३४१ में विविध प्रकार के अङ्गचालन एवं अभिनय का, ३४२ से ३४४ तक अलङ्कारों का तथा ३४५-३४६ में काव्य के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार काव्यशास्त्र विषयक ३६२ श्लोक इन अध्यायों में हैं। किन्तु इनमें अनेक श्लोक नाट्यशास्त्र से लिये गये प्रतीत होते हैं। अग्निपुराण के अलङ्कार—विवेचन पर काव्यादर्श तथा भामह के अलङ्कार-निरूपण का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसा भी आभास मिलता है कि ध्वन्यालोक में प्रतिष्ठित ध्वनि-सिद्धान्त से भी अग्निपुराण परिचित है। इन कारणों से विद्वज्जन अग्निपुराण को अलङ्कारशास्त्र की प्रथम कृति स्वीकार नहीं करते (देखिये P. V. Kane H S P. पृ० ५-१०)

(२) नाट्यशास्त्र साहित्य शास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र ही माना जाता है। इसके रचनाकाल का ठीक निश्चय नहीं किया जा सका है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह एक काल की रचना नहीं, अपितु शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का फल है। म० हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों के मत में आचार्य भरत का समय ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी है। प्रो० कीथ के मतानुसार नाट्यशास्त्र का समय ईसा की तृतीय शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का समय २०० ई० पूर्व से ३०० ईस्वी तक के मध्य में दोलायमान है। बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाणों से भी इसके कालनिर्धारण में थोड़ी ही सहायता मिलती है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक में भरतमुनि का स्पष्ट निर्देश किया है—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः॥ (अङ्क २)

इससे प्रतीत होता है कि कालिदास से पूर्व ही नाट्याचार्य भरत एक पौराणिक व्यक्तित्व धारण कर चुके थे; किन्तु कालिदास का समय भी अभी अनिर्धारित ही है। नाट्यशास्त्र के अन्तः साक्ष्य से भी उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। उसमें ऐन्द्रव्याकरण तथा यास्क के उद्धरण तो हैं किन्तु पाणिनिव्याकरण के नहीं। उसकी भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली भी प्राचीनता को प्रकट करती है।

अलङ्कार शास्त्र के सभी आचार्यों ने भरतमुनि का आदर के साथ स्मरण किया है। आचार्य मम्मट ने रस-सूत्र को उद्धृत करते हुए उनका नाम निर्देश किया

गया था, जैसे—'इदमिव इदं यथा' अग्निर्न इत्यादि। इसकी व्याख्या करते समय निरुक्तकार यास्कमुनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य का उपमा-लक्षण उद्धृत किया है, जो अत्यन्त वैज्ञानिक है—अर्थात् यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। यास्क ने पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा का भेद भी स्पष्ट किया है—लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते (३. १८)। इसके पश्चात् पाणिनि आचार्य ने भी उपमित, उपमान आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि पाणिनि से पूर्व ही उपमा के चार अङ्गों का विवेचन किया जा चुका था। आचार्य पाणिनि ने शिलालि और कृशाश्व के द्वारा निर्मित नट-सूत्रों का भी निर्देश किया है। इसी प्रकार वेदान्त-सूत्रों में भी उपमा (३. २. १८) तथा रूपक (१. ४. १) अलङ्कारों का नामनिर्देश किया गया है। अलङ्कारशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों से पूर्वकालीन अश्वघोष, कालिदास आदि के काव्यों में भी साहित्यिक लक्षणों का व्यवस्थित प्रयोग परिलक्षित होता है। इससे यह मानना पड़ता है कि उस समय तक अनेक अलङ्कारों के स्वरूप आदि का विवेचन किया जा चुका था। साथ ही रुद्रदामन् (१५० ई०) के शिलालेख से भी विदित होता है कि उस समय तक काव्य के गद्य और पद्य दो भेद माने जाने लगे थे, इन दोनों का अलङ्कृत होना आवश्यक समझा जाता था। स्फुट, मधुर कान्त आदि काव्य-गुणों का भी निर्देश हो चुका था, जिनका कि आगे चलकर 'काव्यादर्श' में निरूपण किया गया है। इसी प्रकार नासिक के शिलालेख में भी, जो रुद्रदामन् (जूनागढ) के शिलालेख से पूर्वकालीन है, अनेक आलङ्कारिक संकेत प्राप्त होते हैं। इनसे अर्वाचीन हरिषेणकृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति (चतुर्थ शताब्दी) आदि तो इस बात के ही स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस समय से बहुत पूर्व ही साहित्यशास्त्र का व्यवस्थित विवेचन हो चुका था।

अब विचारणीय यह है कि अलङ्कारशास्त्र की सर्वप्रथम व्यवस्थित रचना कौनसी है ? कुछ विद्वानों का मत है कि अग्निपुराण ही अलङ्कारशास्त्र का प्रथम लक्षण-ग्रन्थ है। किन्तु यह विचारणीय ही है।

(१) अग्निपुराण—

काव्यप्रकाशादर्श के लेखक महेश्वर का कथन है कि भरतमुनि ने अग्निपुराण के आधार पर साहित्यशास्त्र का कारिकाओं में प्रणयन किया। काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध। इसी प्रकार कुछ अन्य टीकाकारों ने भी वह्निपुराण को अलङ्कारशास्त्र का प्रथम स्रोत स्वीकार किया है। किन्तु अग्निपुराण की प्राचीनता में विद्वानों को सन्देह है। कुछ विद्वान् तो उसे दशम तथा एकादश शताब्दी की रचना मानते हैं। अलङ्कारशास्त्र के किसी प्राचीन आचार्य ने अग्निपुराण का उल्लेख भी नहीं किया, अर्वाचीन आचार्य (१४ शताब्दी) विश्वनाथ ने ही स्पष्ट रूप से अग्निपुराण का नाम-निर्देश किया है। प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने भरत के नाट्यशास्त्र का ही बार बार उल्लेख किया है अतः वही अलङ्कार शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है।

अग्निपुराण एक विश्वकोष है। इसमें ऐसे अनेक विषयों का विवेचन है,

जिनमें मध्यकालीन भारत के लोग रुचि रखते थे। इसमें कुछ साहित्यिक विषयों का भी विवेचन किया गया है। इसके कतिपय अध्यायों में काव्य-शास्त्रविषयक विवेचन भी है; जैसे—अध्याय ३३६ में काव्यलक्षण तथा काव्यभेद (संस्कृत और प्राकृत, गद्य, पद्य तथा मिश्र) तथा कथा, आख्यायिका और महाकाव्य का स्वरूप निरूपण किया गया है। अध्याय ३३७ में रूपक पर विचार किया गया है तथा ३३८ मे रस, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव आदि के निरूपण के साथ-साथ नायक और नायिका के गुणों का वर्णन है। ३३९ में पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी नामक चार रीतियों एवं भारती, सात्वती कैशिकी तथा आरभटी नामक चार वृत्तियों का विवरण है। अध्याय ३४०, ३४१ में विविध प्रकार के अङ्गचालन एवं अभिनय का, ३४२ से ३४४ तक अलङ्कारों का तथा ३४५-३४६ में काव्य के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार काव्यशास्त्र विषयक ३६२ श्लोक इन अध्यायों में हैं। किन्तु इनमें अनेक श्लोक नाट्यशास्त्र से लिये गये प्रतीत होते हैं। अग्निपुराण के अलङ्कार—विवेचन पर काव्यादर्श तथा भामह के अलङ्कार-निरूपण का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसा भी आभास मिलता है कि ध्वन्यालोक में प्रतिष्ठित ध्वनि-सिद्धान्त से भी अग्निपुराण परिचित है। इन कारणों से विद्वज्जन अग्निपुराण को अलङ्कारशास्त्र की प्रथम कृति स्वीकार नहीं करते (देखिये P. V. Kane H S P. पृ० ५-१०)

(२) नाट्यशास्त्र साहित्य शास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र ही माना जाता है। इसके रचनाकाल का ठीक निश्चय नहीं किया जा सका है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह एक काल की रचना नहीं, अपितु शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का फल है। म० हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों के मत में आचार्य भरत का समय ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी है। प्रो० कीथ के मतानुसार नाट्यशास्त्र का समय ईसा की तृतीय शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का समय २०० ई० पूर्व से ३०० ईस्वी तक के मध्य में दोलायमान है। बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाणों से भी इसके कालनिर्धारण में थोड़ी ही सहायता मिलती है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक में भरतमुनि का स्पष्ट निर्देश किया है—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता महतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः॥ (अङ्क १)

इससे प्रतीत होता है कि कालिदास से पूर्व ही नाट्याचार्य भरत एक पौराणिक व्यक्तित्व धारण कर चुके थे; किन्तु कालिदास का समय भी अभी अनिर्धारित ही है। नाट्यशास्त्र के अन्तः साक्ष्य से भी उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। उसमें ऐन्द्रव्याकरण तथा यास्क के उद्धरण तो हैं किन्तु पाणिनिव्याकरण के नहीं। उसकी भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली भी प्राचीनता को प्रकट करती है।

अलङ्कार शास्त्र के सभी आचार्यों ने भरतमुनि का आदर के साथ स्मरण किया है। आचार्य मम्मट ने रस-सूत्र को उद्धृत करते हुए उनका नाम नि-

है। नाट्यशास्त्र की उपलब्ध पुस्तकों में ३६ या ३७ अध्याय हैं। अभिनव भारती के अनुसार इसमे ३६ अध्याय ही हैं—'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं' विवृण्वन्। किन्तु अभिनवगुप्त ने ३७वें अध्याय पर भी 'अभिनवभारती' नामक व्याख्या लिखी है। नाट्यशास्त्र में लगभग ५००० श्लोक हैं तथा कुछ गद्य भाग भी हैं।

नाट्यशास्त्र के तीन अंश हैं—(१) गद्य-भाग—यह सूत्र तथा भाष्य के रूप में है जिसकी शैली यास्क के निरुक्त की शैली के समान है; जैसे—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। को वा दृष्टान्त इति चेत् उच्यते। *यथा नाना व्यञ्जनौषधि*···रसत्वमाप्नुवन्ति। ऋषय ऊचुः। रस इति कः पदार्थः। अत्रोच्यते, आस्वाद्यत्वात्। (नाट्यशास्त्र अ० ६)। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह सूत्र-भाष्य रूप अंश ही इस ग्रन्थ का मूलभाग है, अन्य अंश कालान्तर में जोड़े गये हैं। (२) सूत्रविवरणस्वभावा कारिका—सूत्र-भाष्य के अभिप्राय को विस्तारपूर्वक समझाने के लिए अनेक कारिकाएं हैं, जिनमें विविध शङ्काओं का समाधान भी किया गया है (३) *अन्य श्लोक, जो तीन प्रकार के हैं—(i)* **आनुवंश्य श्लोक**—भरत नाट्यशास्त्र में १५ श्लोक तथा १६ आर्या छन्द ऐसे हैं, जिनका इस नाम से उल्लेख किया गया है। अभिनवभारती (६·३५) से ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यविषयक कुछ मन्तव्य गुरुशिष्यपरम्परा से प्रचलित थे, उनका ही 'अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः' इत्यादि रूप से नाट्यशास्त्र में सग्रह कर दिया गया है। (ii) **सूत्रानुविद्ध श्लोक**—अनेक पद्यों को 'सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः' इत्यादि प्रकार से उद्धृत किया गया है। इनमें सूत्र का भाव सरलता से प्रकट किया गया है। अभिनवभारती के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि ये कारिकाएँ भरत-रचित ही हैं। (iii) **पूर्वाचार्यों की कारिकाएँ**-'भवन्ति चात्र श्लोकाः' अथवा 'अत्रार्ये भवतः' इत्यादि रूप से भी लगभग १०० पद्य उद्धृत किये गये हैं। अभिनवभारती के अनुसार ये पद्य प्राचीन आचार्यों के है, जिन्हे भरतमुनि ने उद्धृत कर दिया है—ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः' (अ० ६)

नाट्यशास्त्र मे विविध ललित कलाओं का निरूपण किया गया है। इसका *मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'नाट्य' ही है। प्रारम्भ में नाटक की उत्पत्ति तथा रङ्गमञ्च* आदि का विशद विवेचन किया गया है। आगे चलकर अभिनय के विविध प्रकारों तथा रूपक के अङ्गों का यथास्थान विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। सङ्गीत वाद्य तथा स्वर ताल (२८-३२) आदि का भी वर्णन किया गया है। अभिनय तथा सङ्गीत के अतिरिक्त भावी अलङ्कारशास्त्र के विविध अङ्गों का निरूपण भी नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरतमुनि रस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में विभावादि से रसनिष्पत्ति का वर्णन किया है तथा, रसों के वर्ण तथा देवता आदि का उल्लेख किया है। सप्तम अध्याय में स्थायीभाव विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का विशद विवेचन किया है। षोडश अध्याय में छन्दों तथा सप्तदश में चार—उपमा, रूपक दीपक और यमक—अलङ्कारों तथा दस काव्यदोषों एवं दश काव्य-गुणों का निरूपण किया है।

भरत की यह कृति नाट्य-शास्त्र का अनूठा ग्रन्थ है। यह भारतीय अलङ्कारशास्त्र का आदि स्रोत है। इस नाट्यशास्त्र पर यथासमय अनेक टीकाएं लिखी जाती रही थीं। सम्भवतः नाट्यशास्त्र पर कोई वार्तिक ग्रन्थ भी लिखा गया था, जिसके लेखक श्रीहर्ष थे। इसी प्रकार महाराज नान्यदेवकृत भरतभाष्य का भी उल्लेख किया जाता है। इनके अतिरिक्त अभिनवभारती में राहुलकृत कारिका, मातृगुप्त तथा कीर्तिधर की टीका आदि के मत उद्धृत किये गये हैं। उद्भट, लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक आदि ने भी नाट्यशास्त्र की व्याख्या की थी। इन सभी के मतों को अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है। इनमें से अधिकतर टीकाएं उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान टीकाओं में तो अभिनवभारती ही नाट्यशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है।

(३) प्रारम्भिक युग के अन्य आचार्य—(i) मेधावी–भामह ने दो स्थलों पर मेधावी का उल्लेख किया है। कुछ आचार्यों के अनुसार मेधाविरुद्र (रुद्रट) यह पूर्ण नाम है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी 'मेधाविरुद्र' का उल्लेख मिलता है; किन्तु उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। (ii) बौद्ध विद्वान् अश्वघोष, असङ्ग, वसुबन्धु तथा धर्मकीर्ति आदि ने भी अलङ्कार शास्त्र पर रचनाएं की थीं, जिनके विषय में विद्वानों में वैमत्य है। (iii) विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी नाट्य तथा अलङ्कारविषयक पर्याप्त सामग्री है। विद्वानों का कथन है कि इसमें नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया गया है। (v) भट्टिकाव्य—इस काव्य के चार काण्ड हैं जिनमें से तृतीय काण्ड (प्रसन्नकाण्ड) में ३८ अलङ्कारों तथा माधुर्य गुण के उदाहरण दिये गये हैं। भट्टिकाव्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यहाँ भामह या दण्डी का अनुसरण नहीं किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भट्टि का काल भामह से पूर्व ही है।

द्वितीय युग (७०० ई० से १०५० तक)

(१) भामह–भामहाचार्य अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उनका 'काव्यालङ्कार' ही अलङ्कार-शास्त्र की प्रथम स्वतन्त्र तथा व्यवस्थित रचना है। बहुत समय तक अलङ्कार शास्त्र तथा भामह का नाम-निर्देश ही किया जाता रहा; किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में 'काव्यालङ्कार' का प्रकाशन हुआ और अलङ्कार शास्त्र का यह प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध हो सका। भामह के जीवन आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। केवल 'काव्यलङ्कार' के अन्तिम पद्य से इतना ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम 'रक्रिलगोमिन्' था। इस नाम के अनुसार यह भी अनुमान किया जाता है कि भामह बौद्ध थे; किन्तु इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। यह माना जाता है कि भामह काश्मीरदेशीय थे।

भामह का समय विवाद का विषय रहा है। 'दण्डी और भामह में कौन पूर्ववर्ती है' इस विषय पर भी विद्वानों में विवाद रहा है। अनेक विद्वानों ने प्रबलतर प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भामह ही दण्डी के पूर्ववर्ती हैं।

फिर भी भामह के समय का सम्यक् निर्धारण कठिन ही है। कुछ विद्वानों का कथन है कि भामह ने प्रत्यक्ष का लक्षण बौद्धाचार्य दिङ्नाग (४२०-५००) के अनुसार दिया है धर्मकीर्ति (लगभग ६५०) के अनुसार नहीं अतएव इन दोनों के मध्य में ही भामह का समय मानना चाहिए। श्रीयुत काणेमहोदय का कथन है—It has **already been shown from other evidence that भामह could not have flourished earlier than 700 A. D. (H S P. पृ० १२०)।**

'काव्यालङ्कार' भामह को अमरता प्रदान करने वाला ग्रन्थ है। इसमें ६ परिच्छेद हैं तथा ४०० पद्य हैं; प्रायः सभी अनुष्टुभ् छन्द हैं। प्रथम परिच्छेद में 'सर्व' को नमस्कार करने के पश्चात् काव्य के प्रयोजन, स्वरूप तथा भेदों का विवेचन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद के पूर्व भाग में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज गुणों का तथा द्वितीय परिच्छेद के उत्तर भाग एवं तृतीय परिच्छेद में अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद मे एकादश काव्य-दोषों का निर्देश करके उनमें से दस का विस्तृत विवेचन किया गया है। पञ्चमपरिच्छेद में प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त तथा प्रमाण आदि के स्वरूप का विवेचन करते हुए न्यायविरोधी (ग्यारहवें) दोष का विशद वर्णन किया गया है और षष्ठ परिच्छेद में शब्द-शुद्धि (सौशब्द्य) का विचार किया गया है।

काव्यालङ्कार पर उद्भट की भामहवृत्ति या भामहविवरण नामक टीका थी, जो उपलब्ध नहीं है; प्रतिहारेन्दुराज आदि ने उसका उल्लेख किया है। भामहाचार्य का नाम प्राचीनतर आचार्य के रूप में स्मरण किया गया है। ध्वन्यालोक में भामह का दो बार (१—१३ तथा ३—३७) उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोकलोचन में उनका लक्षणकार के रूप मे निर्देश किया है। काव्यप्रकाशकार ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए 'रूपकादिरलङ्कारः' (उल्लास ६) तथा 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति.' (उल्लास १०, विशेष अलङ्कार) इत्यादि भामह-ग्रन्थ का उद्धरण दिया है। भामह की साहित्यशास्त्र को मुख्य देन यह है—(i) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहते हुए शब्दार्थयुगल के सामञ्जस्य को काव्य मानना (ii) भरतप्रतिपादित दस काव्यगुणों का माधुर्य, ओज तथा प्रसाद तीन गुणों में अन्तर्भाव करना (iii) अलङ्कारों का व्यवस्थित विवेचन तथा वक्रोक्ति को अलङ्कारों का बीज स्वीकार करना। इस प्रकार भामह प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने भारतीय अलङ्कारशास्त्र का विशुद्ध शास्त्रीय विवेचन किया है।

(२) दण्डी—आचार्य दण्डी कुछ अंशों में रीति-सम्प्रदाय के उद्भावक हैं और आंशिक रूप में अलङ्कार-सम्प्रदाय के पोषक भी। 'अवन्तिसुन्दरी' कथा के आधार पर ये महाकवि 'भारवि' के प्रपौत्र थे और पल्लवनरेश की राजसभा में सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे; किन्तु भारवि और दण्डी के इस सम्बन्ध को अब सर्वसम्मत नही माना जाता, अपितु भारवि के मित्र दामोदर को इनका प्रपितामह माना जाता है। इनकी रचनाओं से यह प्रतीत होता है कि ये दाक्षिणात्य थे। यद्यपि दण्डी का समय निश्चित नहीं है तथापि विद्वानों ने इनकी पूर्वसीमा में शूद्रक तथा बाणभट्ट को निर्धारित किया है क्योंकि 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' यह मृच्छकटिक का पद्य

काव्यादर्श में उद्धृत किया गया है तथा इनकी रचना में बाणभट्ट के भावों की छाया भी परिलक्षित होती है। प्रो० पाठक (Indian Antiquary 1952) का विचार है कि दण्डी वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि (६५०) से अर्वाचीन हैं। डा० वेलवल्कर ने भी दण्डी का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध स्वीकार किया है। नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का नामोल्लेख प्राप्त होता है अतः उनकी अन्तिम सीमा नवम शताब्दी के पश्चात् नहीं हो सकती। यद्यपि मैक्समूलर, वेबर, मैक्डानल इत्यादि विद्वानों के मतानुसार दण्डी का समय षष्ठ शताब्दी है तथापि नवीन विवेचना के अनुसार सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध ही दण्डी का समय माना जाता है।

दण्डी की तीन रचनाएं हैं—दशकुमार चरित, छन्दोविचिति तथा काव्यादर्श। 'काव्यादर्श' अलङ्कार शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें ४ परिच्छेद हैं तथा श्लोक संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, वैदर्भी तथा गौडी दो रीतियाँ, दसगुण तथा प्रतिभा, श्रुत और अभियोग (सतत अभ्यास) नामक तीन काव्य-हेतुओं का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में ३५ अलङ्कारों का सोदाहरण निरूपण किया गया है। तृतीय परिच्छेद में यमक चित्रबन्ध तथा प्रहेलिका के १६ प्रकारों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है, तथा चतुर्थ परिच्छेद में दोषों का विवेचन किया गया है। काव्यादर्श पण्डित समाज में विशेष प्रिय रहा है। इसकी शैली ललित और प्रवाहपूर्ण है। भामह के काव्यलङ्कार में तार्किक तथा विचारात्मक शैली है। काव्यादर्श के अनुवाद कई भाषाओं [कन्नडभाषा में-'कविराज मार्ग' सिंघली में सिय-बस-लकर (स्वभावालङ्कार) तथा तिब्बती में भी] में उपलब्ध हैं। दण्डी की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(i) उनके अनुसार गद्य के दोनों प्रकार कथा और अख्यायिका में कोई वास्तविक भेद नहीं होता (यद्यपि भामह के अनुसार दोनों का स्पष्ट भेद है)। (ii) उन्होंने दस गुणों का विवेचन किया, जबकि भामह ने गुणत्रय में ही उनका समावेश कर दिया था। (iii) वैदर्भी और गौडी रीति का स्पष्ट भेद किया। इस प्रकार उन्होंने रीति-सम्प्रदाय का मार्ग प्रशस्त कर दिया, यद्यपि उन्हें किसी विशेष साम्प्रदाय में बाँधना कठिन है; क्योंकि उन्होंने गुण तथा अलङ्कारों का भी विशद विवेचन किया है।

(३) भट्टोदभट—राजतरङ्गिणी के अनुसार उद्भट काश्मीर के राजा जयापीड़ की राजसभा के सभापति थे। वे अलङ्कार-सम्प्रदाय के पोषक थे। उनका समय प्रायः निश्चित सा ही है; क्योंकि उन्होंने भामह के काव्यालङ्कार पर भामह-वृत्ति नामक टीका लिखी है तथा ध्वन्यालोककार (नवीं शताब्दी) ने अनेक बार उद्भट का आदर-पूर्वक उल्लेख किया है। अतएव उद्भट का समय आठवीं शताब्दी के लगभग है। उनका जयापीड़ की राजसभा में होना भी इसी का समर्थन करता है।

उद्भट की तीन रचनाओं का उल्लेख मिलता है—(१) भामहविवरण (२) कुमारसम्भव काव्य (जो कविकुलगुरु कालिदास के कुमारसम्भव के समान ही था, जिसके अलङ्कारविषयक उदाहरण उपलब्ध हैं) (३) अलङ्कारसारसंग्रह।

मम्मट के प्रतीप और समासोक्ति के साथ जिनकी पृथक्-२ समानता है। समस्त अर्थालङ्कारों को उपमा-प्रपञ्च के रूप में स्वीकार करना। (४) कविसमय के अनुसार अथवा अर्थविशेष-बोधकता के कारण कुछ शब्दों की शुद्धता का प्रतिपादन। इसके अतिरिक्त 'दोष' आदि के विषय में भी वामन की कुछ निजी मान्यतायें हैं, जिनका अर्वाचीन आचार्यों ने यथावसर उल्लेख एवं खण्डन किया है। काव्यप्रकाश में भी यत्र-तत्र ऐसे स्थल हैं।

(५) रुद्रट का काव्यालङ्कार—रुद्रट की जीवनी आदि का अधिक परिचय नहीं मिलता। सम्भवतः ये काश्मीर के निवासी थे। इन्होंने किसी आचार्य का नाम-निर्देश नहीं किया फिर भी इनके समय का निर्धारण करना अधिक कठिन नहीं है; क्योंकि इनका अलङ्कार विवेचन भामह, दण्डी और उद्भट की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है; अतएव यह निश्चित ही है कि ये उनसे अर्वाचीन हैं। साथ ही दशम शताब्दी के राजशेखर आदि आचार्यों ने इनके अनेकशः उद्धरण दिये हैं। अभिनवगुप्त तथा मम्मट (उल्लास ६) ने भी रुद्रट का उल्लेख किया है। अतः रुद्रट का समय ९०० ई० के लगभग ही है। सम्भवतः ये ध्वनिकार (८२५-८७५) के समकालीन हैं।

रुद्रट का काव्यालङ्कार एक विस्तृत ग्रन्थ है। यह भी कहा जाता है कि 'शृङ्गारतिलक' नामक ग्रन्थ भी रुद्रट का ही है; किन्तु इसकी पुष्टि में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। काव्यालङ्कार पर नमिसाधु की प्राचीन टीका है। इसमें १६ अध्याय हैं और ७३४ पद्य। साहित्यशास्त्र का व्यापकरूप से विवेचन करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य प्रतीत होता है। इसी हेतु इसमें काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, वृत्ति, भाषा, चित्रबन्ध, अर्थालङ्कार, नायक तथा नायिका के भेद, रस तथा कथा आख्यायिका आदि का विशद विवेचन किया गया है।

रुद्रट अलङ्कार-सम्प्रदाय के पोषक हैं, यद्यपि उन्होंने भरत के रस-सिद्धान्त की महत्ता भी स्वीकार की है—'तस्मात्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्'। रुद्रट ने सर्वप्रथम अलङ्कारों का वैज्ञानिक रूप से विभाजन किया। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—इन चार मूल तत्त्वों को अलङ्कार-विभाजन का आधार बनाया। भामह और उद्भट आदि के अभिमत कुछ अलङ्कारों की उन्होंने नवीन व्याख्या की, कुछ नवीन नाम रक्खे। उन्होंने कुछ नवीन अलङ्कारों की भी उद्भावना की। बाद के आचार्यों ने उनके मन्तव्य की समीक्षा की है। मम्मट ने भी कई स्थलों पर रुद्रट से मत-भेद प्रकट किया है। जैसे—रुद्रट का व्याजश्लेष भामह और मम्मट की व्याजोक्ति है; रुद्रट का 'जाति' अलङ्कार ही दण्डी तथा मम्मट की स्वभावोक्ति है। इसी प्रकार रुद्रट के 'हेतु' नामक अलङ्कार को मम्मट ने पृथक् नहीं माना।

संक्षेप में श्री काणे महोदय के अनुसार रुद्रट की विशेष देन यह है—(i) अलङ्कारों का वैज्ञानिक विभाजन (ii) 'प्रेयस्' नामक दशम रस की मान्यता (iii) रीति को विशेष महत्त्व न देना (iv) गुण-निरूपण के प्रति उपेक्षा (v) 'भाव' नामक अलङ्कार की स्वीकृति; जिसमें व्यञ्जना-सिद्धान्त का बीज निहित है।

(६) आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक—आचार्य आनन्दवर्धन का नाम साहित्य-शास्त्र में अमर है। 'ध्वन्यालोक' उनकी उज्ज्वल कीर्ति को सदा आलोकित करता रहेगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने उन्हें साहित्यशास्त्र का मार्ग-व्यवस्थापक कहा है—"ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्। ध्वनिकार के जीवनवृत्त के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। उनके ग्रन्थ देवीशतक (श्लोक १०१) से केवल इतना संकेत मिलता है कि उनके पिता का नाम 'नोण' था। राजतरङ्गिणी के अनुसार वे काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८३) की सभा के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अन्य प्रमाणों से भी इसी समय की पुष्टि होती है। एक ओर तो आनन्दवर्धन ने उद्भट (८०० ई०) का मत उद्धृत किया है और दूसरी ओर राजशेखर (९००-९२५) ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है; अतएव आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० के आस-पास ही है।

ध्वन्यालोक के अतिरिक्त अर्जुनचरित, विषमबाणलीला, देवीशतक तथा तत्त्वालोक भी आनन्दवर्धन की रचनाएं हैं। इनमें से प्रथम तीनों के उदाहरण ध्वन्यालोक में मिलते हैं। 'तत्त्वालोक' एक दर्शन-ग्रन्थ है। आनन्दवर्धन की विमल कीर्ति विशेषतः ध्वन्यालोक पर आधारित है। ध्वन्यालोक के तीन अंश हैं—(१) कारिका, जिनकी संख्या १२९ है। (२) वृत्ति अर्थात् कारिकाओं की गद्यमय व्याख्या। (३) उदाहरण, जिनमें से अधिकांश प्राचीन काव्यों से उद्धृत किये गये हैं; परन्तु कुछ आनन्दवर्धन के अपने भी हैं। कारिका और वृत्ति के रचयिता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्रचलित धारणा के अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनों के रचयिता आनन्दवर्धन ही है। प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों से भी यही प्रतीत होता है। किन्तु लोचनकार अभिनव-गुप्त ने 'मूलग्रन्थकृत' (कारिकाकार) और 'ग्रन्थकृत' (वृत्तिकार) शब्दों का पृथक् २ प्रयोग किया है, जिसके आधार पर प्रो० जेकोबी, कीथ तथा काणे आदि का मत है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों भिन्न २ हैं। यह भी कहा जाता है कि कारिकाकार का नाम 'सहृदय' (सहृदयमनः प्रीतये) है और वृत्तिकार आनन्द-वर्धन हैं— सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्। डा० सत्कारन ने इस भेद-सिद्धान्त का खण्डन किया है। ध्वन्यालोक की अन्तिम कारिका से यही विदित होता है कि आनन्दवर्धन ही दोनों के रचयिता हैं।—

सत्काव्यतत्त्वविषयस्फुरितप्रसुप्तकल्पं मनःसु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

इस प्रकार यह विषय विवादग्रस्त ही है कि कारिका तथा वृत्ति के रचयिता भिन्न २ है अथवा एक ही (विशेष देखिये P. V. Kane, H S P. पृष्ठ १५९-१६०)

ध्वन्यालोक भारतीय साहित्य शास्त्र में नवयुगप्रवर्तक ग्रन्थ है। इसमें ग्रन्थकार की मौलिक उद्भावना, सूक्ष्म विवेचनशक्ति और मननशीलता का परिचय मिलता

है। इसकी शैली प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा रोचक है। इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनिविरोधी विविध दृष्टिकोणों (अभाववाद, भक्तिवाद और अनिर्वचनीयवाद) का उल्लेख करके उनका निराकरण किया गया है तथा ध्वनि के स्वरूप की स्थापना की गई है। द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के प्रकारों का विशद विवेचन किया गया है तथा चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का निरूपण है।

आनन्दवर्धन ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। यद्यपि उनका मुख्य उद्देश्य ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन था तथापि उन्होंने साहित्यशास्त्र को अनेक नवीन सिद्धान्त प्रदान किये हैं-(i) अभिधा लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना नामक शब्द-व्यापार की स्थापना; जैसा कि काव्यप्रकाशदर्पण में विश्वनाथ ने कहा है—'इति काव्यपुरुषावतारस्य निखिलशास्त्रतत्त्ववेदिनः श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यस्य (ध्वनिग्रन्थकारस्य) पृथग्व्यञ्जनव्यापारस्थापनम्' (ii) काव्य में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता का निरूपण। (iii) समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि का स्वरूप विवेचन। (iv) व्यङ्ग्य अर्थ के आधार पर काव्य का (ध्वनिकाव्य, गुणीभूत-व्यङ्ग्य आदि) भेद-विवेचन तथा ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेद। (v) रस, भाव तथा रसाभास आदि का विवेक और रस तथा रसवत् अलङ्कार आदि का भेद-प्रदर्शन। (vi) गुण और अलङ्कारों का भेद-प्रतिपादन, गुणों का रस से सहज सम्बन्ध किन्तु संघटना का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। (vii) रसपरिपाक का विवेचन, रसों के विरोधाविरोध तथा रस-दोषों की ओर भी संकेत। (viii) चित्रकाव्य का संक्षिप्त विवेचन तथा उसकी अप्राङ्गनीयता का निरूपण।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक में ध्वनि रूप काव्य की आत्मा का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया गया है। आचार्य मम्मट की विशद काव्य-विवेचना का आधार अधिकांश में ध्वन्यालोक ही है जैसा कि प्रस्तुत व्याख्या में यथावसर निरूपित किया गया है। ध्वन्यालोक की अभिनवगुप्तकृत लोचन व्याख्या (सहृदयालोकलोचन या ध्वन्यालोकलोचन ही) विशेष प्रसिद्ध है; यद्यपि लोचन से पूर्व 'चन्द्रिका' नामक कोई अन्य व्याख्या भी विद्यमान थी। अभिनवगुप्त ने उसका उल्लेख करते हुए अनेक स्थलों पर मत-भेद प्रकट किया है।

(७) राजशेखर की काव्यमीमांसा—इसमें साहित्यशास्त्र के रस, अलङ्कार आदि विविध विषयों का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया गया, अपितु कवि तथा आचार्यों का उल्लेख काव्य-स्वरूप, कविकर्त्तव्य तथा कवि-समय आदि का विशद वर्णन किया गया है। वस्तुतः यह कवियों का मार्ग-निर्देशक ग्रन्थ है। अलङ्कारशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से काव्यमीमांसा का पर्याप्त महत्त्व है।

(८) मुकुलभट्ट की अभिधावृत्तिमातृका—मुकुलभट्ट भट्टकल्लट के पुत्र थे। राजतरङ्गिणी के अनुसार भट्टकल्लट अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के राज्यकाल में थे। अभिधावृत्तिमातृका नामक ग्रन्थ में १५ कारिकाएं हैं, जिन पर स्वलिखित वृत्ति है। इस ग्रन्थ में मुख्य और लाक्षणिक शब्दों का विस्तार से विवेचन किया गया है। लक्षणा के विवेचन में काव्यप्रकाशकार ने भी अभिधावृत्तिमातृका' का

आश्रय लिया है। यत्र-तत्र मुकुलभट्ट का खण्डन भी काव्यप्रकाश में किया गया है। 'काव्यप्रकाश-संकेत, में माणिक्यचन्द्र ने अनेक बार अभिधावृत्तिमातृका को उद्धृत किया है। मुकुलभट्ट प्रतिहारेन्दुराज के गुरु थे।

(९) भट्टनायक का हृदयदर्पण—रससूत्र के व्याख्याकारों में भट्टनायक का मुख्य स्थान है। अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने भट्टनायक के मत का उल्लेख किया है। साहित्यशास्त्र के अन्य लेखकों ने भी भट्टनायक का मत उद्धृत किया है। हृदयदर्पण उनकी रचना कही जाती है, जो अनुपलब्ध है। भट्टनायक का समय ध्वनिकार के अनन्तर तथा अभिनवगुप्त से पूर्व है; क्योंकि उन्होंने बतलाया है कि—ध्वनि का तात्पर्य है—रस (रसध्वनि) और ध्वनिकार का वस्तुध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि मानना उचित नहीं है। रस-निष्पत्ति के विषय में भट्टनायक का 'भुक्तिवाद; भी अपना विशेष स्थान रखता है। (देखिये पृष्ठ १११-११३)।

(१०) कुन्तक का वक्रोक्तिजीवित – कुन्तक काश्मीर के निवासी थे। वे अभिनवगुप्त के समकालीन ही हैं। उनका एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' है जो अधूरा ही प्राप्त हुआ है। इसके तीन अंश है—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्यलक्षण तथा कव्यप्रयोजन आदि का विचार किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वर्णविन्यासवक्रता अर्थात् अनुप्रास तथा यमक आदि का निरूपण है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवैचित्र्यवक्रता (वस्तुवक्रता) अर्थात् अनूठे ढंग से अर्थालङ्कारों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ उन्मेष में प्रकरण वक्रता है, जिसमें ध्वनि आदि के उदाहरण दिये गये हैं।

कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। वे वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण मानते हैं 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'। 'वक्रोक्तिजीवित; एक महत्वपूर्ण रचना है। उसमें मौलिकता है तथा गम्भीर विवेचन भी। कुन्तक ने भामह, दण्डी, उद्भट तथा आनन्दवर्धन को उद्धृत किया है तथा यथावसर उनकी आलोचना भी की है। उन्होंने वक्रोक्ति के आधार पर ही अलङ्कारों का निरूपण किया है, ध्वनि या व्यङ्ग्य की मान्यता का विरोध किया है और वक्रोक्ति में ही इसका समावेश किया है—उपचार-वक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। (विशेष देखिये वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का निरूपण)। काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर तथा माणिक्यचन्द्र ने कई स्थलों पर कुन्तक की कारिकाएँ उद्धृत की हैं; किन्तु मम्मट ने कुन्तक का उल्लेख नहीं किया।

(११) अभिनवगुप्त—मध्यकालीन साहित्य-सेवियों में अभिनवगुप्त का स्थान अत्यन्त ऊंचा है। 'परात्रिंशिका' की टीका के अन्त में तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी, के अन्त में अभिनवगुप्त ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। वे काश्मीर के निवासी थे। उनका समय दशम शताब्दी के लगभग निर्धारित किया गया है। अभिनवगुप्त शिव के भक्त थे और उन्होने अनेक आचार्यों के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की थी। उनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता अनूठी थी। फलतः उन्होने विविध विषयों पर रचनाएं की। उनका 'तन्त्रालोक' तन्त्रशास्त्रविषयक उत्कृष्ट ग्रन्थ

है। कुछ स्तोत्र जैसे 'भैरवस्तव' आदि भी उन्होंने लिखे। काश्मीर के शैवदर्शन (प्रत्यभिज्ञाशास्त्र) पर उन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' नामक वृत्ति लिखी। उनके अलङ्कार शास्त्र के गुरु भट्ट इन्दुराज थे तथा नाट्यशास्त्र के गुरु थे—'काव्य-कौतुक' नामक ग्रन्थ के लेखक भट्टतौत। अभिनगुप्त ने 'काव्यकौतुक' पर भी कोई व्याख्या लिखी थी। आज साहित्य शास्त्र में उनके दो ग्रन्थरत्न ही विशेष विख्यात हैं। एक है—ध्वन्यालोक की टीका 'ध्वन्यालोकलोचन' और दूसरा है—भरतनाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती'।

अभिनवगुप्त की दोनों रचनाएं साहित्यशास्त्र के दो प्रमुख सम्प्रदायों (रस तथा ध्वनि) की प्रामाणिक व्याख्याएं हैं। उत्तरकाल के प्रायः सभी उच्चकोटि के लेखकों ने रस और ध्वनि के विवेचन में अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है। काव्यप्रकाशकार ने रससिद्धान्त के निरूपण में अभिनवगुप्त का अत्यन्त सम्मान के साथ उल्लेख किया है - इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर काव्यप्रकाश में ध्वन्यालोकलोचन की छाया स्पष्टतया झलकती है, जिसका यथावसर प्रस्तुत व्याख्या में निर्देश किया गया है। कहीं २ तो मम्मट तथा अभिनव-गुप्त की विषय-प्रतिपादन-शैली तथा भाषा में भी आश्चर्यजनक साम्य है। सम्भवतः इसी आधार पर यह किवदन्ती भी है कि अभिनवगुप्त और मम्मट एक ही हैं।

(१२) धनञ्जय का दशरूपक—धनञ्जय नाट्य-विषय के लेखक हैं। उन्होंने अपने पिता तथा आश्रयदाता का उल्लेख अपने ग्रन्थ के अन्त में किया है। धनञ्जय तथा उनके भाई धनिक दोनों परमारवंशीय राजा मुञ्ज (९७४–९४ ई०) की राजसभा के सम्मानित कवि थे। धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी तथा 'काव्य–निर्णय' नामक एक अलङ्कार–ग्रन्थ की भी रचना की। यह 'काव्य–निर्णय' नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

दशरूपक में नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षेप से वर्णन किया गया है। इसमें चार 'प्रकाश' हैं तथा ३०० कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं पर धनिक की 'अवलोक' नामक वृत्ति है, जो गद्य में है। इस वृत्ति में उदाहरणस्वरूप कई काव्यों तथा नाटकों के पद्य उद्धृत किये गये हैं। प्रथम प्रकाश में रूपकों का वर्णन तथा वस्तु के अङ्गों का वर्णन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-वर्णन; तृतीय में रूपक के भेद तथा लक्षणों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ प्रकाश में रस की विवेचना है।

दशरूपककार का प्रमुख उद्देश्य वस्तु, नेता और रस का विश्लेषण है। पी० वी० काणे का मत है कि रस-निष्पत्ति के विषय में वे भट्टनायक के अनुयायी हैं अर्थात् वे भावकत्ववादी (भुक्तिवादी) हैं, (H S P. पृ० २४६), प्रो० कीथ का विचार है कि अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त ही दशरूपक का अभिमत है (सं० नाटक पृ० ३४२)। वस्तुतः रस के विषय में उनका एक विशिष्ट मत प्रतीत होता है। वे ध्वनिवाद का खण्डन करते हैं और व्यञ्जना को तात्पर्य वृत्ति से भिन्न नहीं मानते—तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः। अतः रस व्यङ्ग्य न होकर काव्य का तात्पर्यार्थ ही है। विभावादि भावक हैं और रस भाव्यमान—'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः।'—धनिक। उन्होंने नाट्यरस में शान्त रस का भी विरोध किया

है—शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। इस काव्यविवेचन की दृष्टि से दशरूपक का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१३) महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे। उनका पूरा नाम राजानक महिमभट्ट था। उनका समय एकादश शताब्दी के लगभग माना जाता है। 'व्यक्तिविवेक' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस पर एक अधूरी टीका भी उपलब्ध हुई है। इस ग्रन्थ में तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में ध्वनि के (यत्रार्थः शब्दो वा' ध्वन्या० १·१३) लक्षण को उद्धृत करके उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। द्वितीय विमर्श में 'अनौचित्य' का विवेचन है। यह अनौचित्य दो प्रकार का है अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग अनौचित्य से तात्पर्य है विभाव अनुभाव आदि विषयक दोष; और बहिरङ्ग अनौचित्य का अभिप्राय है—विधेयाविमर्श आदि (पांच) दोष। तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के लगभग चालीस उदाहरणों में यह दिखलाया गया है कि ये वस्तुतः अनुमान के ही विषय हैं।

व्यक्तिविवेककार का मुख्य उद्देश्य ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करना है—'अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्। व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥' उनके मतानुसार दो प्रकार का अर्थ है—वाच्य तथा अनुमेय। अनुमेय अर्थ तीन प्रकार का है—वस्तु, अलङ्कार तथा रस। वस्तु और अलङ्कार वाच्य भी हो सकते हैं; किन्तु रस अनुमेय ही है।

इस प्रकार समस्त ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है—यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति। विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते ··· तदेवं सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमः श्रेयानिति। उत्तरकालीन ध्वनि मार्ग के आचार्यों द्वारा महिमभट्ट की कठोर आलोचना की गई है। टीकाकारों का मत है कि काव्य-प्रकाश, पञ्चम उल्लास के 'ननु वाच्यादसम्बद्धं०' इत्यादि अवतरण में आचार्य मम्मट ने व्यक्ति-विवेककार का ही खण्डन किया है। इसका तात्पर्य व्यक्तिविवेक के निम्न अवतरण से अत्यधिक साम्य रखता है—केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपञ्चानन-व्यापारस्तत्रोपात्त स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्।' (पृ० ११३)। यह भी प्रतीत होता है कि काव्य-प्रकाशकार ने दोषों के विवेचन में व्यक्तिविवेक का पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया है किन्तु मम्मट ने महिमभट्ट या व्यक्तिविवेक का कहीं नामोल्लेख नहीं किया।

(१४) भोजराज—भोजराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। उनके नाम से अनेक रचनायें प्रसिद्ध हैं। वे रामायणचम्पू आदि काव्य ग्रन्थों के भी रचयिता माने जाते हैं। धर्मशास्त्र, वैद्यक और योगशास्त्र पर भी उनके ग्रन्थ हैं। इस प्रकार ८४ ग्रन्थों के लेखकों के रूप में भोजराज विख्यात हैं। विद्वानों का कथन है कि इनमें से कुछ ग्रन्थ भोजराज के आश्रित पण्डितों तथा कवियों द्वारा लिखे गये होंगे। अलङ्कारशास्त्र में उनके दो ग्रन्थ हैं—'सरस्वतीकण्ठाभरण' और

है। कुछ स्तोत्र जैसे 'भैरवस्तव' आदि भी उन्होंने लिखे। काश्मीर के शैवदर्शन (प्रत्यभिज्ञाशास्त्र) पर उन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' नामक वृत्ति लिखी। उनके अलङ्कार शास्त्र के गुरु भट्ट इन्दुराज थे तथा नाट्यशास्त्र के गुरु थे—'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ के लेखक भट्टतौत। अभिनगुप्त ने 'काव्यकौतुक' पर भी कोई व्याख्या लिखी थी। आज साहित्य शास्त्र में उनके दो ग्रन्थरत्न ही विशेष विख्यात हैं। एक है—ध्वन्यालोक की टीका 'ध्वन्यालोकलोचन' और दूसरा है—भरतनाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती'।

अभिनवगुप्त की दोनों रचनाएं साहित्यशास्त्र के दो प्रमुख सम्प्रदायों (रस तथा ध्वनि) की प्रामाणिक व्याख्याएँ है। उत्तरकाल के प्रायः सभी उच्चकोटि के लेखकों ने रस और ध्वनि के विवेचन में अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है। काव्यप्रकाशकार ने रससिद्धान्त के निरूपण मे अभिनवगुप्त का अत्यन्त सम्मान के साथ उल्लेख किया है - इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर काव्यप्रकाश में ध्वन्यालोकलोचन की छाया स्पष्टतया झलकती है, जिसका यथावसर प्रस्तुत व्याख्या मे निर्देश किया गया है। कही २ तो मम्मट तथा अभिनवगुप्त की विषय-प्रतिपादन-शैली तथा भाषा में भी आश्चर्यजनक साम्य है। सम्भवतः इसी आधार पर यह किंवदन्ती भी है कि अभिनवगुप्त और मम्मट एक ही हैं।

(१२) धनञ्जय का दशरूपक—धनञ्जय नाट्य-विषय के लेखक हैं। उन्होंने अपने पिता तथा आश्रयदाता का उल्लेख अपने ग्रन्थ के अन्त में किया है। धनञ्जय तथा उनके भाई धनिक दोनों परमारवंशीय राजा मुञ्ज (९७४–९४ ई०) की राजसभा के सम्मानित कवि थे। धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी तथा 'काव्य–निर्णय' नामक एक अलङ्कार-ग्रन्थ की भी रचना की। यह 'काव्य–निर्णय' नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

दशरूपक में नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षेप से वर्णन किया गया है। इसमें चार 'प्रकाश' हैं तथा ३०० कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं पर धनिक की 'अवलोक' नामक वृत्ति है, जो गद्य में है। इस वृत्ति में उदाहरणस्वरूप कई काव्यों तथा नाटकों के पद्य उद्धृत किये गये हैं। प्रथम प्रकाश में रूपकों का वर्णन तथा वस्तु के अङ्गों का वर्णन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-वर्णन; तृतीय में रूपक के भेद तथा लक्षणों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ प्रकाश मे रस की विवेचना है।

दशरूपककार का प्रमुख उद्देश्य वस्तु, नेता और रस का विश्लेषण है। पी० वी० काणे का मत है कि रस-निष्पत्ति के विषय में वे भट्टनायक के अनुयायी हैं अर्थात् वे भावकत्ववादी (भुक्तिवादी) हैं, (H S P. पृ० २४६), प्रो० कीथ का विचार है कि अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त ही दशरूपक का अभिमत है (सं० नाटक पृ० ३४२)। वस्तुतः रस के विषय में उनका एक विशिष्ट मत प्रतीत होता है। वे ध्वनिवाद का खण्डन करते है और व्यञ्जना को तात्पर्य वृत्ति से भिन्न नही मानते—तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः। अतः रस व्यङ्ग्य न होकर काव्य का तात्पर्यार्थ ही है। विभावादि भावक हैं और रस भाव्यमान–'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादय.'—धनिक। उन्होंने नाट्यरस में शान्त रस का भी विरोध किया

है—शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दृश्य काव्यविवेचन की दृष्टि से दशरूपक का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१३) महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे। उनका पूरा नाम राजानक महिमभट्ट था। उनका समय एकादश शताब्दी के लगभग माना जाता है। 'व्यक्तिविवेक' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस पर एक अधूरी टीका भी उपलब्ध हुई है। इस ग्रन्थ मे तीन विमर्श है। प्रथम विमर्श में ध्वनि के (यत्रार्थः शब्दो वा' ध्वन्या० १·१३) लक्षण को उद्धृत करके उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। द्वितीय विमर्श में 'अनौचित्य' का विवेचन है। यह अनौचित्य दो प्रकार का है अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग अनौचित्य से तात्पर्य है विभाव अनुभाव आदि विषयक दोष; और बहिरङ्ग अनौचित्य का अभिप्राय है—विधेयाविमर्श आदि (पांच) दोष। तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के लगभग चालीस उदाहरणों में यह दिखलाया गया है कि ये वस्तुतः अनुमान के ही विषय हैं।

व्यक्तिविवेककार का मुख्य उद्देश्य ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करना है—'अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्। व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥' उनके मतानुसार दो प्रकार का अर्थ है—वाच्य तथा अनुमेय। अनुमेय अर्थ तीन प्रकार का है—वस्तु, अलङ्कार तथा रस। वस्तु और अलङ्कार वाच्य भी हो सकते हैं; किन्तु रस अनुमेय ही है।

इस प्रकार समस्त ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है—यऽपि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति। विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते ··· तदेवं सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमः श्रेयानिति। उत्तरकालीन ध्वनि मार्ग के आचार्यों द्वारा महिमभट्ट की कठोर आलोचना की गई है। टीकाकारों का मत है कि काव्य-प्रकाश, पञ्चम उल्लास के 'ननु वाच्यादसम्बद्धं०' इत्यादि अवतरण मे आचार्य मम्मट ने व्यक्ति-विवेककार का ही खण्डन किया है। इसका तात्पर्य व्यक्तिविवेक के निम्न अवतरण से अत्यधिक साम्य रखता है—केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपञ्चानन-व्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्।' (पृ० ११३)। यह भी प्रतीत होता है कि काव्य-प्रकाशकार ने दोषो के विवेचन में व्यक्तिविवेक का पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया है किन्तु मम्मट ने महिमभट्ट या व्यक्तिविवेक का कही नामोल्लेख नही किया।

(१४) भोजराज—भोजराज का समय ग्यारहवी शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। उनके नाम से अनेक रचनायें प्रसिद्ध हैं। वे रामायणचम्पू आदि काव्य ग्रन्थों के भी रचयिता माने जाते हैं। धर्मशास्त्र, वैद्यक और योगशास्त्र पर भी उनके ग्रन्थ हैं। इस प्रकार ८४ ग्रन्थों के लेखकों के रूप में भोजराज विख्यात है। विद्वानों का कथन है कि इनमें से कुछ ग्रन्थ भोजराज के आश्रित पण्डितों तथा कवियों द्वारा लिखे गये होगे। अलङ्कारशास्त्र में उनके दो ग्रन्थ हैं—'सरस्वतीकण्ठाभरण' और

है। कुछ स्तोत्र जैसे 'भैरवस्तव' आदि भी उन्होंने लिखे। काश्मीर के शैवदर्शन (प्रत्यभिज्ञाशास्त्र) पर उन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' नामक वृत्ति लिखी। उनके अलङ्कार शास्त्र के गुरु भट्ट इन्दुराज थे तथा नाट्यशास्त्र के गुरु थे—'काव्य-कौतुक' नामक ग्रन्थ के लेखक भट्टतौत। अभिनवगुप्त ने 'काव्यकौतुक' पर भी कोई व्याख्या लिखी थी। आज साहित्य शास्त्र में उनके दो ग्रन्थरत्न ही विशेष विख्यात हैं। एक है—ध्वन्यालोक की टीका 'ध्वन्यालोकलोचन' और दूसरा है—भरतनाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती'।

अभिनवगुप्त की दोनों रचनाएं साहित्यशास्त्र के दो प्रमुख सम्प्रदायों (रस तथा ध्वनि) की प्रामाणिक व्याख्याएँ हैं। उत्तरकाल के प्रायः सभी उच्चकोटि के लेखकों ने रस और ध्वनि के विवेचन में अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है। काव्यप्रकाशकार ने रससिद्धान्त के निरूपण में अभिनवगुप्त का अत्यन्त सम्मान के साथ उल्लेख किया है - इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर काव्यप्रकाश में ध्वन्यालोकलोचन की छाया स्पष्टतया झलकती है, जिसका यथावसर प्रस्तुत व्याख्या मे निर्देश किया गया है। कहीं २ तो मम्मट तथा अभिनव-गुप्त की विषय-प्रतिपादन-शैली तथा भाषा में भी आश्चर्यजनक साम्य है। सम्भवतः इसी आधार पर यह किंवदन्ती भी है कि अभिनवगुप्त और मम्मट एक ही हैं।

(१२) धनञ्जय का दशरूपक—धनञ्जय नाट्य-विषय के लेखक हैं। उन्होंने अपने पिता तथा आश्रयदाता का उल्लेख अपने ग्रन्थ के अन्त में किया है। धनञ्जय तथा उनके भाई धनिक दोनों परमारवंशीय राजा मुञ्ज (९७४-९४ ई०) की राजसभा के सम्मानित कवि थे। धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी तथा 'काव्य-निर्णय' नामक एक अलङ्कार-ग्रन्थ की भी रचना की। यह 'काव्य-निर्णय' नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

दशरूपक में नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षेप से वर्णन किया गया है। इसमें चार 'प्रकाश' हैं तथा ३०० कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं पर धनिक की 'अवलोक' नामक वृत्ति है, जो गद्य में है। इस वृत्ति मे उदाहरणस्वरूप कई काव्यों तथा नाटकों के पद्य उद्धृत किये गये हैं। प्रथम प्रकाश में रूपकों का वर्णन तथा वस्तु के अङ्गों का वर्णन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-वर्णन; तृतीय में रूपक के भेद तथा लक्षणों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ प्रकाश में रस की विवेचना है।

दशरूपककार का प्रमुख उद्देश्य वस्तु, नेता और रस का विश्लेषण है। प्रो० पी० वी० काणे का मत है कि रस-निष्पत्ति के विषय में वे भट्टनायक के अनुयायी हैं अर्थात् वे भावकत्ववादी (भुक्तिवादी) हैं, (H S P. पृ० २४६)। प्रो० कीथ का विचार है कि अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त ही दशरूपक का अभिमत है (सं० नाटक पृ० ३४२)। वस्तुतः रस के विषय में उनका एक विशिष्ट मत प्रतीत होता है। वे ध्वनिवाद का खण्डन करते हैं और व्यञ्जना को तात्पर्य वृत्ति से भिन्न नहीं मानते—तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः। अतः रस व्यङ्ग्य न होकर काव्य का तात्पर्यार्थ ही है। विभावादि भावक हैं और रस भाव्यमान—'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः'—धनिक। उन्होंने नाट्यरस में शान्त रस का भी विरोध किया

है—शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य । इस काव्यविवेचन की दृष्टि से दशरूपक का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

(१३) महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे । उनका पूरा नाम राजानक महिमभट्ट था । उनका समय एकादश शताब्दी के लगभग माना जाता है । 'व्यक्तिविवेक' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस पर एक अधूरी टीका भी उपलब्ध हुई है । इस ग्रन्थ मे तीन विमर्श हैं । प्रथम विमर्श में ध्वनि के (यत्रार्थः शब्दो वा' ध्वन्या० १·१३) लक्षण को उद्धृत करके उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया गया है । द्वितीय विमर्श में 'अनौचित्य' का विवेचन है । यह अनौचित्य दो प्रकार का है अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग । अन्तरङ्ग अनौचित्य से तात्पर्य है विभाव अनुभाव आदि विषयक दोष; और वहिरङ्ग अनौचित्य का अभिप्राय है—विधेयाविमर्श आदि (पांच) दोष । तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के लगभग चालीस उदाहरणों मे यह दिखलाया गया है कि ये वस्तुतः अनुमान के ही विषय है ।

व्यक्तिविवेककार का मुख्य उद्देश्य ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करना है–'अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् । व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥' उनके मतानुसार दो प्रकार का अर्थ है—वाच्य तथा अनुमेय । अनुमेय अर्थ तीन प्रकार का है—वस्तु, अलङ्कार तथा रस । वस्तु और अलङ्कार वाच्य भी हो सकते हैं; किन्तु रस अनुमेय ही है ।

इस प्रकार समस्त ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है—याऽपि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते ··· तदेवं सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमः श्रेयानिति । उत्तरकालीन ध्वनि मार्ग के आचार्यों द्वारा महिमभट्ट की कठोर आलोचना की गई है । टीकाकारों का मत है कि काव्य-प्रकाश, पञ्चम उल्लास के 'ननु वाच्यादसम्बद्धं०' इत्यादि अवतरण में आचार्य मम्मट ने व्यक्ति-विवेककार का ही खण्डन किया है । इसका तात्पर्य व्यक्तिविवेक के निम्न अवतरण से अत्यधिक साम्य रखता है—केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेनं दृप्तपञ्चानन-व्यापारस्तत्रोपात्त स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात् ।' (पृ० ११३) । यह भी प्रतीत होता है कि काव्य-प्रकाशकार ने दोषों के विवेचन में व्यक्तिविवेक का पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया है किन्तु मम्मट ने महिमभट्ट या व्यक्तिविवेक का कहीं नामोल्लेख नहीं किया ।

(१४) भोजराज—भोजराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है । उनके नाम से अनेक रचनायें प्रसिद्ध हैं । वे रामायणचम्पू आदि काव्य ग्रन्थों के भी रचयिता माने जाते हैं । धर्मशास्त्र, वैद्यक और योगशास्त्र पर भी उनके ग्रन्थ हैं । इस प्रकार ८४ ग्रन्थों के लेखकों के रूप में भोजराज विख्यात हैं । विद्वानों का कथन है कि इनमे से कुछ ग्रन्थ भोजराज के आश्रित पण्डितों तथा कवियों द्वारा लिखे गये होंगे । अलङ्कारशास्त्र में उनके दो ग्रन्थ हैं—'सरस्वतीकण्ठाभरण' और

'शृङ्गारप्रकाश'। इनमें से सरस्वतीकण्ठाभरण अधिक लोक-प्रिय रहा है। इसमें ५ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण, १६ पददोष, १६ वाक्यदोष और १६ अर्थदोष तथा २४ शब्दगुणों का निरूपण किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कारों का, तृतीय में २४ अर्थालङ्कारों का, चतुर्थ में २४ उभयालङ्कारों का तथा पञ्चम परिच्छेद में रस भाव आदि का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में ६४३ कारिकाएं हैं, जिनमें से कुछ काव्यादर्श ध्वन्यालोक तथा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत की गई हैं। दूसरा ग्रन्थ 'शृङ्गारप्रकाश' एक विशालकाय ग्रन्थ है। यह विद्वत्समाज में अधिक प्रसिद्ध नहीं है। इसमें ३६ अध्याय हैं। इसमें रस तथा नाट्य का विस्तार से विवेचन किया गया है।

भोजराज के कतिपय मन्तव्य बिल्कुल अनूठे हैं—

(i) प्रत्येक दोष गुण आदि को नियत संख्या १६, २४ आदि में व्यवस्थित करना। (ii) उपमा, अपह्नुति तथा समासोक्ति जैसे अलङ्कारो को उभयालङ्कार मानना। (iii) 'रीतियों का शब्दालङ्कारो मे अन्तर्भाव तथा ६ रीतियों (वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया, मागधी) का निरूपण। (iv) मीमांसा के ६ प्रमाणों को अर्थालङ्कार के अन्तर्गत रखना (v) एकमात्र शृङ्गार को रस मानकर अन्य रसों को उसका विकार मानना तथा आठ रसों का निरूपण इत्यादि। उत्तरकालीन आचार्यों ने भोज के मन्तव्यों का उल्लेख किया है तथा आलोचना भी की है। काव्यप्रकाशसंकेत (टीका) के लेखक माणिक्यचन्द्र ने कतिपय स्थलों पर भोज तथा कण्ठाभरण का उल्लेख किया है, किन्तु काव्यप्रकाश मे उनका कोई उद्धरण परिलक्षित नही होता। केवल उदात्तालङ्कार के उदाहरण में 'भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्' यह निर्देश अवश्य मिलता है।

(१५) क्षेमेन्द्र की औचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र काश्मीर के निवासी थे। उनका समय प्रायः निश्चित सा ही है। औचित्यविचारचर्चा नामक ग्रन्थ के अन्त में 'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपते: काले किलायं कृतः' यह उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार 'कविकण्ठाभरण' के अन्त में भी। काश्मीर-नरेश अनन्तराज का समय १०२८ से १०६३ ई० है। साथ ही क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त (दशम शताब्दी का अन्तिम समय) के शिष्य थे। अतः क्षेमेन्द्र का समय ९९० से १०६६ ई० के बीच मानना उचित प्रतीत होता है। क्षेमेन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। जैसे 'भारतमञ्जरी', 'बृहत्कथामञ्जरी', 'सुवृत्ततिलक' इत्यादि। 'सुवृत्ततिलक' छन्दशास्त्रविषयक ग्रन्थ है, जिसमे छन्दों का रोचक शैली में विवेचन किया गया है। औचित्यविचारचर्चा और 'कविकण्ठाभरण' उनकी साहित्यशास्त्र विषयक रचनायें हैं। औचित्यविचारचर्चा में औचित्य की विशद विवेचना की गई है (देखिये, आगे औचित्य सम्प्रदाय का निरूपण)। इसमें क्षेमेन्द्रकृत कारिकायें तथा वृत्ति हैं तथा विविध ग्रन्थों से उद्धृत अनेक उदाहरण हैं। 'कविकण्ठाभरण' में पांच सन्धि (अनुच्छेद) तथा ५५ कारिकायें हैं। इसमें कवि तथा काव्य के बाह्य साधनों का विवेचन किया गया है। क्षेमेन्द्र के अनेक मौलिक सिद्धान्त हैं। वे अलङ्कारशास्त्र में 'औचित्य-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक हैं।

काव्यप्रकाश में क्षेमेन्द्र का उल्लेख नहीं किया गया।

इस प्रकार एकादश शताब्दी के मध्य तक अलङ्कारशास्त्र में अनेक नवीन मार्ग अपनाए गये। कतिपय सम्प्रदायों अथवा वादों का आविर्भाव हुआ; खण्डन-मण्डन का ही युग रहा। यद्यपि ध्वनिकार तथा औचित्य-प्रवर्तक आचार्यों ने साहित्यशास्त्र को समन्वित मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया तथापि उनका दृष्टिकोण भी काव्य के विशेषतत्त्व (ध्वनि या औचित्य) की ओर ही अधिक रहा। मानो समन्वय के मार्ग का उद्घाटन किसी विशिष्ट प्रतिभा की प्रतीक्षा कर रहा था।

तृतीय युग (सामञ्जस्य तथा समन्वय का समय)

१. मम्मट और उनका काव्यप्रकाश—एकादश शताब्दी के उत्तरार्ध मे भारतीय साहित्य गगन मे आचार्य मम्मट के रूप में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र का उदय हुआ। दुर्भाग्य से मम्मट के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही होती। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने जनश्रुति के आधार पर कुछ बातें अवश्य लिखी हैं। (i) 'निदर्शन' नामक टीका से विदित होता है कि मम्मट काश्मीर निवासी थे और शैवमतानुयायी थे। 'मम्मट' इस नाम से भी उनका काश्मीरिक होना प्रकट होता है। 'चिकु' पद काश्मीर आदि की भाषा में ही अश्लीलार्थक हैं—इस प्रकार के उदाहरण मम्मट का काश्मीरिक होना सूचित करते हैं। (ii) काव्यप्रकाश की 'सुधासागर' टीका में भीमसेनदीक्षित (१७ वीं शताब्दी) ने मम्मट के विषय में यह उल्लेख किया है कि मम्मट काश्मीरदेशीय थे, वे जैयट के पुत्र थे और उन्होंने काशी में आकर विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था। महाभाष्य-प्रदीप व्याख्या के रचयिता कैयट तथा चतुर्वेदभाष्यकार उवट (औवट) ये दोनों मम्मट के कनिष्ठ भ्राता थे। किन्तु इस कथन की प्रामाणिकता निसन्दिग्ध नहीं, क्योंकि उवट ने स्वयं ही यह उल्लेख किया है कि वे (उवट) आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र थे—आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना। (iii) यह भी अनुश्रुति है कि आचार्य मम्मट नैषधीयचरित के रचयिता श्री हर्ष के मामा थे।

मम्मट का अध्ययन उच्चकोटि का था। ऐसा प्रतीत होता है कि वे व्याकरण शास्त्र मे विशेष रुचि रखते थे। उन्होंने यत्र-तत्र महाभाष्य तथा वाक्यपदीय को उद्धृत किया है। महाभाष्य के अनुसार शब्दों की 'चतुष्टयी' प्रवृत्ति को स्वीकार किया है। उपमा का विभाजन व्याकरणशास्त्र के आधार पर किया है। अनेक स्थलों पर व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे असङ्गति अलङ्कार में—अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः' तथा विभावना अलङ्कार में 'क्रिया' शब्द का हेतु के अर्थ में प्रयोग। साथ ही मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' (निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित) नामक ग्रन्थ में शब्द-वृत्ति का गम्भीर विवेचन किया है।

मम्मट का समय—यह तो निश्चित ही है कि आचार्य मम्मट का आविर्भाव उस युग में हुआ, जबकि (११-१२ शताब्दी) काश्मीर में एक नवीन साहित्यिक-चेतना का स्फुरण हो रहा था, किन्तु मम्मट के समय का नियतरूप से निर्धारण नहीं किया जा सका है। उन्होंने अपने समय आदि का कहीं उल्लेख नहीं किया।

केवल अन्तः साक्ष्य और बाह्य प्रमाणों के आधार पर उनका समय निर्धारित किया जाता है। उन्होंने अभिनवगुप्त (जो कि १०१५ ई० तक विद्यमान थे) तथा नवसाहसाङ्कचरित (निर्माणकाल लगभग १००५) को उद्धृत किया है; उदात्त अलङ्कार के उदाहरण में भोजराज का भी उल्लेख किया है—यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् । विद्वानों का मत है कि भोजराज का राज्यकाल १०५४ ई० से आगे नहीं जा सकता। इससे प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश का निर्माणकाल १०५० ई० से पहले नहीं है। यही काव्यप्रकाश की पूर्व सीमा है। इसकी अपर सीमा ११४३ ई० से आगे नहीं मानी जा सकती। कारण यह है कि हेमचन्द्र सूरि ने लगभग ११४३ ई० में काव्यानुशासन लिखा है तथा उसमें मम्मट का स्पष्टतया उल्लेख किया है। माणिक्यचन्द्र ने सम्वत् १२१६ तदनुसार सन् ११५६-६० ई० में काव्यप्रकाशसंकेत नामक टीका लिखी है। इससे यह विदित होता है कि द्वादश शताब्दी के आरम्भ से पूर्व ही मम्मट के काव्यप्रकाश की ख्याति का प्रसार हो चुका था और यह साहित्यशास्त्र में पठन-पाठन का विषय हो गया था। इसलिये काव्यप्रकाश का निर्माण ११०० ई० पर्यन्त अवश्य हो चुका होगा। इसका निर्माण-काल १०५० और ११०० ई० के मध्य में ही होना चाहिये तथा मम्मट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग ही माना जाता है।

काव्यप्रकाश—काव्यप्रकाश भारतीय अलङ्कारशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। साहित्यशास्त्र में शताब्दियों से प्रवाहित होने वाली विविध धाराओं से अनुप्राणित होने वाला यह पवित्र गङ्गा-प्रवाह है। उत्तरकालीन समस्त सिद्धान्तों का यह मूलस्रोत है। वेदान्त दर्शन में जो शारीरक भाष्य का महत्त्व है, व्याकरणशास्त्र में जो महाभाष्य का अनुपम स्थान है, वही साहित्यशास्त्र में मम्मट के काव्यप्रकाश का है। इसी हेतु काव्यप्रकाश साहित्यशास्त्र का 'आकार' ग्रन्थ है। उत्तरकालीन विद्वानों ने काव्यप्रकाश तथा मम्मट का अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया है। सुधासागरकार भीमसेनदीक्षित ने उन्हें 'वाग्देवतावतार' बतलाया है।

यह प्रसिद्धि है कि मम्मट ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त काव्यप्रकाश की रचना की थी। अग्रिम अंश को अलकसूरि या अल्लटसूरि ने पूर्ण किया। काव्यप्रकाश के सर्वप्रथम व्याख्याकार माणिक्यचन्द्र ने भी लिखा है—'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितः'। इसीप्रकार काव्यप्रकाश के अन्तिम श्लोक की व्याख्या में अनेक टीकाकारों ने इसी कथन की पुष्टि की है। 'निदर्शन' नामक टीका के लेखक राजानकानन्द ने तो स्पष्टतया ही उल्लेख किया है। अमरुशतक के टीकाकार अर्जुनदेव के विचारानुसार तो समस्त काव्यप्रकाश की रचना मम्मट और अलक (अल्लट) ने मिलकर की थी—यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां प्रसादे वर्तस्व'। इसके आधार पर अनेक अनुमान किये जाते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि काव्यप्रकाश की रचना में 'अलकसूरि' का भी सहयोग था। अन्य विद्वानों (Dr. H. R. Divakar आदि) का मत है कि कारिका भाग मम्मटकृत है और काव्यप्रकाश-वृत्ति अलकसूरि विरचित है।

काव्यप्रकाश के तीन अंश हैं—१. कारिका २. वृत्ति और ३. उदाहरण। कारिकाओं की संख्या १४२ है इन कारिकाओं का २१२ सूत्रों में विभाजन किया जाता है। काव्यप्रकाश की अनेक टीकाओं (काव्यप्रकाशादर्श' सुधासागर, प्रदीप, उद्योत तथा प्रभा आदि) में इनका 'सूत्र' नाम से व्यवहार किया गया है। उन पर गद्यवृत्ति है तथा लगभग छः सौ (६००) पद्य उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ व्याख्याकारों का कथन है कि ये कारिकाएँ भरतमुनि-निर्मित हैं तथा मम्मट ने केवल इन कारिकाओं पर वृत्ति ही लिखी थी। जैसा कि 'साहित्यकौमुदी' के अन्त में विद्याभूषण का कथन है—मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्। वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्। इसी प्रकार अन्य कई व्याख्याकारों का भी मत है। इन मतों का आधार यह है—(i) काव्यप्रकाश की कुछ कारिकाएँ नाट्यशास्त्र से उद्धृत की गई है जैसे—शृङ्गारहास्य''' स्मृताः' 'रतिर्हासश्च', निर्वेदग्लानि''''''नामत.' (चतुर्थ उल्लास)। (ii) प्रथम कारिका के उपोद्घात में कारिकाकार का अन्यपुरुष में स्मरण किया गया है—ग्रन्थकृत् परामृशति। (iii) कारिका तथा वृत्ति में कहीं-कहीं मतभेद दृष्टिगोचर होता है; जैसे रूपक के लक्षण में (१० उल्लास)—समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा'। इस कारिका पर वृत्ति है—बहुवचनमविवक्षितम्। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही होते तो यह मतभेद न होता।

दूसरे व्याख्याकार इन युक्तियों का खण्डन करते हुए अनेक युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि कारिका तथा वृत्ति दोनों आचार्य मम्मट ही की रचनाएँ हैं। उनके कथन का निष्कर्ष यह है—(i, मम्मट ने कहीं यह नहीं कहा कि वे अन्यनिर्मित कारिकाओं पर वृत्ति लिख रहे है। वृत्ति में पृथक् रूप में कोई मङ्गल भी नहीं किया गया। (ii) कारणान्यथ कार्याणि० इत्यादि कारिका (चतुर्थ उल्लास) के अर्थ की पुष्टि के लिये 'उक्तं हि भरतेन-विभावानुभाव०' इत्यादि को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है। भला, भरत की उक्ति की प्रामाणिकता के लिये उनकी अन्य उक्ति का कथन कैसे सङ्गत हो सकता है? (iii) 'साङ्गमेतन्निरङ्गं तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्' इस कारिका में 'पूर्ववत्' शब्द के द्वारा मालोपमा का निर्देश किया गया है; किन्तु मालोपमा तो वृत्ति मे निरूपित की गई है, कारिका में नहीं। इससे स्पष्ट है कि कारिका तथा वृत्ति एक ही आचार्य की कृति है। अन्य प्रमाणों से भी इसी मत की पुष्टि होती है— (v) काव्यप्रकाश के किसी प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र, जयन्त, सरस्वतीतीर्थ, सोमेश्वर आदि ने कारिकाकार और वृत्तिकार में कोई भेद नहीं किया। प्रत्युत 'दुरितशान्तये ग्रन्थकृत् संस्तौति नियतिकृतेति' प्रदीपकार के इस कथन की व्याख्या करते समय उद्योतकर का कथन है—ग्रन्थकृत् मम्मटः, वस्तुतः यहाँ मम्मट ने संस्कृत लेखकों की पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने आपको अन्यपुरुष में प्रकट किया है (मि० प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परोपदेशेन ब्रुवते—मेधातिथि, मनु० १.४) (v) हेमचन्द्र ने भी अपने काव्यानुशासन में कारिकाकार के रूप में मम्मट का ही उल्लेख किया है—'यथाह मम्मटः अगूढमपरस्याङ्गः'। इसी प्रकार काव्यप्रकाश के

अनेक टीकाकारों तथा अन्य उत्तरकालीन आचार्यों के ग्रन्थों से यही विदित होता है कि कारिका तथा वृत्ति दोनो आचार्य मम्मट की कृति हैं।

यह अवश्य है कि मम्मट ने उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य सामग्री भी कहीं अविकलरूप से तथा कही आंशिक परिवर्तन करके काव्यप्रकाश मे समाविष्ट कर दी है; जैसे—'शृङ्गारहास्य०' 'रतिर्हासश्च' इत्यादि भरतमुनि की कारिकाएँ अविकलरूप में गृहीत की गई हैं; 'निर्वेदग्लानि० इत्यादि मे आंशिक परिवर्तन (प्रयान्ति रसरूपतां के स्थान पर 'समाख्यातास्तु नामतः') कर दिया गया है। इसी प्रकार सप्तम उल्लास मे 'कर्णावतंसादिपदे' इत्यादि वामनाचार्य के सूत्र तथा वृत्ति से लिया गया है। अन्य कई स्थानों मे अभिनवगुप्त तथा वामन आदि की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है।

काव्यप्रकाश में दस उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण तथा काव्यभेद (उत्तम, मध्यम, अधम काव्य) का निरूपण है। द्वितीय में वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक शब्दों एवं वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों का वर्णन है। तृतीय में वाच्य आदि अर्थ किस प्रकार व्यञ्जक होते हैं यह निरूपित किया गया है। चतुर्थ में–ध्वनि (उत्तम काव्य के अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य दो भेदों तथा उसके प्रभेदों का निरूपण करते हुए रस-सिद्धान्त का विशद विवेचन किया गया है। पञ्चम में–गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यमकाव्य) का वर्णन करते हुए व्यञ्जना की सिद्धि की गई है। षष्ठ में चित्रकाव्य (अधमकाव्य); सप्तम में दोषों का विवेचन किया गया है। अष्टम उल्लास में गुण तथा अलङ्कारों का भेद निरूपित करके माधुर्य, ओज तथा प्रसाद तीन गुणों का निर्णय किया गया है। नवम में शब्दालङ्कार तथा दशम उल्लास में अर्थालङ्कारों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार काव्यप्रकाश में साहित्यशास्त्र के प्रायः समस्त विषयों का विशद विवेचन किया गया है; केवल नाट्य' विषय पर विचार नहीं किया गया।

काव्यप्रकाश का आधार—काव्यप्रकाश एक अलङ्कारशास्त्र का समन्वयात्मक ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन आचार्यों की उपलब्ध सामग्री का यथावश्यक उपयोग किया गया है। उसकी युक्तियुक्त समीक्षा भी की गई है तथा एक सामञ्जस्यपूर्ण मान्यता निर्धारित करने का सफल प्रयास किया गया है। जिन प्राचीन आचार्यों अथवा ग्रन्थों का नाम-निर्देश करते हुए उनके मत अथवा वचन को काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है वे ये हैं—भरत, महाभाष्यकार, लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, वाक्यपदीय, उद्भट, रुद्रट, ध्वनिकार तथा अभिनवगुप्त। भामह तथा वामन को उद्धृत करते हुए भी उनका नामोल्लेख नहीं किया गया। कालिदास, मयूर, बाण तथा हर्ष आदि कवियों का प्रसङ्गवशात् निर्देश अवश्य किया गया है; किन्तु किसी कवि की कृति को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते समय कवि का नामोल्लेख नहीं किया गया। प्रायः निम्नलिखित कवियों या काव्यों की कृतियों को उद्धृत किया गया है—कालिदास, भवभूति, अमरुशतक, कर्पूरमञ्जरी, कुट्टनीमत, चण्डीशतक, नवसाहसाङ्कचरित, नागानन्द, बालरामायण, भट्टि, भर्तृहरि, भल्लट, भास, माघ, रत्नावली,

राघवानन्द, विज्जका, विद्धशालभञ्जिका, विष्णुपुराण, वेणीसंहार, हयग्रीववध, हरविजय (मि०, श्रीकाणेमहोदय पृ० २५६)।

मम्मट की काव्य-विवेचना का आधार मुख्यतया भरत, ध्वनिकार, उद्भट, भामह, वामन, रुद्रट तथा अभिनवगुप्त की रचनाएँ हैं। मम्मट ने उनके प्रति समादर भी प्रकट किया है, किन्तु अवसर के अनुसार उनकी स्पष्ट आलोचना करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया। उदाहरणार्थ (i) ध्वन्यालोक का पर्याप्त मात्रा में अनुसरण करते हुए भी मम्मट ने सप्तम उल्लास के अन्त में 'सत्यं मनोरमा०' इत्यादि में ध्वनिकार की आलोचना की है। (ii) श्लेष के प्रकरण (उल्लास ९) में भट्टोद्भट की आलोचना की गई है। (iii) यद्यपि मम्मट ने रुद्रट का कुछ अंश (लगभग ३० पद्य) स्वीकृत किया है, उनके अलङ्कार निरूपण पर रुद्रट का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है तथापि कई स्थलों पर रुद्रट की आलोचना भी की है; जैसे— समुच्चय अलङ्कार के विवेचन में– 'व्यधिकरणे' इति 'एकस्मिन् देशे' इति न वाच्यम्, इसी प्रकार हेतु अलङ्कार की मान्यता के खण्डन में भी कुछ व्याख्याकारों के अनुसार रुद्रट की ओर ही संकेत है। अनुमान अलङ्कार के निरूपण में 'साध्यसाधनयोः''' 'दर्शितम्' में भी रुद्रट की आलोचना की गई है। (iv) काव्यप्रकाश में भामह की रूपकादि०' इत्यादि तीन कारिकाएँ षष्ठ उल्लास में तथा 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति०' इत्यादि कारिका 'विशेष' अलङ्कार के निरूपण के समय (दशम उल्लास में, प्रमाण रूप में उद्धृत की गई हैं तथापि कई स्थलों पर भामह की आलोचना भी है; जैसे 'श्रव्यत्वं पुनरोजः प्रसादयोरपि' (अष्टम उल्लास) इत्यादि में भामह की इस मान्यता के निराकरण की ओर ही संकेत है—'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते। (v) काव्यप्रकाश में वामन के काव्यालङ्कारसूत्र की कतिपय उक्तियों को आत्मसात् कर लिया गया है; जैसे—शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः (प्रथमउल्लास) इत्यादि उक्ति में और 'कर्णावतंसादि०' (सप्तम उल्लास) इत्यादि में काव्यालङ्कारसूत्र की भाषा तथा भावों की छाप है; तथापि कई स्थलों पर वामन की कठोर आलोचना भी की गई है; जैसे—गुण और अलङ्कारों के भेद विवेचन में तथा दश गुणों के खण्डन में (vi) व्यञ्जना का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है' महिम-भट्ट की इस स्थापना का खण्डन 'ननु 'वाच्यादसम्बद्ध''' इत्यादि अवतरण (पञ्चम उल्लास) में किया गया है।

इसके अतिरिक्त कुछ टीकाकारों तथा आलोचकों की यह भी धारणा है कि 'रुय्यक' (अलङ्कारसर्वस्वकार) का भी बहुत अधिक प्रभाव काव्यप्रकाश में परिलक्षित होता है। उनके मतानुसार काव्यप्रकाश में कई स्थलों पर रुय्यक के मत की आलोचना की गई है; किन्तु अन्य विद्वान् रुय्यक पर ही मम्मट का प्रभाव मानते हैं। रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र तथा भोज आदि यद्यपि मम्मट से पूर्ववर्ती माने जाते हैं; किन्तु उनके मतों का स्पष्टतया ग्रहण या निराकरण काव्यप्रकाश में परिलक्षित नहीं होता। जिन आचार्यों के मतों का ग्रहण या निराकरण काव्यप्रकाश में माना जाता है उनका व्याख्या में यथास्थान दिग्दर्शन कराया गया है।

काव्यप्रकाश की टीकाएँ तथा टीकाकार—काव्यप्रकाश की लेखन शैली सूत्रात्मक है'। यह ग्रन्थ अत्यन्त गम्भीर, सारगर्भित तथा पाण्डित्यपूर्ण है। अतः इसके उद्भवकाल से ही समझने समझाने का प्रयास किया जाता रहा है फिर भी यह दुर्गम ही बना है। काव्यप्रकाश के एक प्राचीन टीकाकार महेश्वर भट्टाचार्य का कथन भी है—'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

काव्यप्रकाश की अनेक टीकाओं का यत्र-तत्र उल्लेख किया जाता है। इनमें से कुछ उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित भी हुई हैं। उपलब्ध टीकाओं में से सबसे प्राचीन टीका। (१) 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक है। इसके लेखक गुजरात देश के एक जैन विद्वान् माणिक्यचन्द्र हैं। जिन्होंने स्वयं ही इसका रचनाकाल विक्रम सं० १२१६ (११५९-६० ई०) लिखा है—

रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (१२१६) मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य सङ्केतोऽयं समर्थितः॥

इस टीका में किसी प्राचीन टीका या टीकाकार का स्पष्ट रूप में नामोल्लेख नहीं किया गया तथापि यह सम्भव है कि इससे पूर्व कोई और टीका भी लिखी गई हो। (२) 'बालचित्तानुरञ्जनी' इसके लेखक सरस्वतीतीर्थ हैं। जिन्होंने 'स्मृतिदर्पण' 'तर्करत्न' और 'तर्करत्नदीपिका' आदि ग्रन्थ भी लिखे थे। उन्होंने भी किसी टीकाकार के मत को उद्धृत नहीं किया। उनका समय द्वादश शताब्दी माना जाता है। (३) 'काव्यप्रकाशदीपिका' (दीपिका) जिसके रचयिता एक गुजराती विद्वान् जयन्त थे। उनका समय चतुर्दश शताब्दी है जैसा कि उन्होंने टीका के अन्त में स्वयं ही निर्देश किया है—'संवत् १३५० वर्षे ज्येष्ठवदि ३ रवौ पुरोहित श्रीजयन्तभट्टेन ······विरचितेयं काव्यप्रकाशदीपिका (४) 'सकेत या काव्यादर्श' जिसके प्रणेता सोमेश्वर हैं जिनका कोई विशेष इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होता। (५) काव्यप्रकाशदर्पण—'जिसके रचयिता साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज हैं। उनका समय तेरहवीं चौदहवी शताब्दी माना जाता है। (६) 'विस्तारिका—इसके रचयिता परमानन्द चक्रवर्ती भट्टाचार्य थे, जो एक बङ्गदेशीय नैयायिक थे। उनका समय १४ वीं शताब्दी के आस पास ही है। (७) 'निदर्शन या सारसमुच्चय'—इसके लेखक काश्मीर के आनन्द कवि (१५ वीं शताब्दी) थे। (८) 'सारबोधिनी' इसके लेखक श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य (१५ वी शताब्दी) थे। इनकी लेखन शैली सरल तथा सुबोध प्रतीत होती है। (९) 'काव्यप्रदीप'—यह टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी हेतु आगे चलकर इसकी व्याख्या के रूप में 'प्रभा तथा उद्योत' नामक टीकाएँ लिखी गई थी। इसके लेखक मिथिलावासी पण्डित गोविन्दठक्कुर (१६-१७ शताब्दी) थे। उन्होंने काव्यप्रदीप के प्रारम्भ तथा समाप्ति में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। वस्तुतः उन्हीं के शब्दों में यह टीका अनुपम है—परशीलयन्तु सन्तो मनसा सन्तोषशीलेन। इममद्भुतं प्रदीपं प्रकाशमपि यः प्रकाशयति॥ (१०) आदर्श—इसके रचयिता बङ्गदेशीय विद्वान् महेश्वरभट्टाचार्य (१७ वीं शताब्दी) थे। श्री झलकीकर वामनाचार्य का मत है—इयं हि आदर्शाख्यटीका नातीव समीचीना।

(११) काव्यप्रकाश टीका–इसके लेखक कमलाकरभट्ट (१७ वीं शताब्दी) थे, जो मीमांसा के विद्वान् एक महाराष्ट्री ब्राह्मण थे और जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने अपने 'निर्णयसिन्धु' नामक ग्रन्थ के अन्त में अपने समय की ओर संकेत किया है। (१२) 'नरसिंहमनीषा'—इसके लेखक नरसिंहठक्कुर थे। सम्भवतः वे प्रदीपकार गोविन्दठक्कुर के वंशज थे। उनकी टीका (नरसिंहमनीषा) अपूर्णरूप में ही उपलब्ध होती है। (१३) उदाहरणचन्द्रिका—इसके रचयिता वैद्यनाथ थे। जो एक नैयायिक विद्वान् थे। उन्होंने टीका समाप्ति का समय सं० १७४० लिखा है। वे वैद्यनाथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ग्रन्थ के लेखक विद्यानाथ से अर्वाचीन हैं। (१४) 'सुधासागर'—इसके रचयिता भीमसेनदीक्षित थे। जो विशेषकर वैयाकरण थे। उनका समय १८ वीं शताब्दी है। उन्होंने अपनी टीका के आरम्भ में तथा समाप्ति में अपने वंश तथा देशकाल आदि का स्पष्ट परिचय दिया है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त बालबोधिनी-टीकाकर झलकीकर वामनाचार्य ने राघवकृत अवचूरि टिप्पणी तथा महेन्द्रकृत 'तात्पर्यविवरण' नामक टिप्पणी आदि काव्यप्रकाश की टीकाओं का उल्लेख किया है। साथ ही 'प्रदीप' नामक टीका पर लिखी गई उद्योत और प्रभा नामक टीकायें भी काव्यप्रकाश की व्याख्या में विशेष रूप से सहायक हैं। उद्योत टीका के रचयिता महावैयाकरण नागेशभट्ट हैं। जो नव्यव्याकरण के अद्वितीय आचार्य हैं तथा विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। उनकी उद्योत टीका काव्यप्रकाश के गूढार्थ को प्रकट करने वाली है।

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त काव्यप्रकाश पर अन्य भी अनेक टीकायें की गई थी जिनका यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त टीकाओं में माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, सरस्वतीर्थ तथा जयन्त की प्राचीन टीकायें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। रुचक का 'काव्यप्रकाशसंकेत' भी एक उपयोगी टीका है तथा गोविन्दठक्कुर की 'प्रदीप' व्याख्या विशेष विद्वत्तापूर्ण है। इन विविध टीकाओं से काव्यप्रकाश की लोकप्रियता एवं महत्ता प्रकट होती है। आधुनिक काल में उपलब्ध १६ टीकाओं का सार-संग्रह करके झलकीकर वामनाचार्य ने बालबोधिनी' नामक टीका की रचना की है, जो आज विद्वानों तथा विद्यार्थियों का समान रूप से उपकार करती है। हरिशंकर शर्मा की 'नागेश्वरी' नामक सरल संक्षिप्त टीका भी काव्यप्रकाश के अध्ययन में विशेष सहायक है।

(२) रुय्यक का अलङ्कारसर्वस्व—रुय्यक काश्मीरी थे। प्रायः विद्वानों ने उनको मम्मट से अर्वाचीन ही माना है:—उनका समय १२ वीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है; किन्तु काव्यप्रकाश की टीकाओं के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-प्रकाश में यत्र तत्र रुय्यक की मान्यताओं का खण्डन किया गया है जैसे—'शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैः' (काव्य-प्रकाश नवम उल्लास में श्लेष-निरूपण)—इस पंक्ति की व्याख्या में टीकाकारों ने 'अन्यैः' का अर्थ—'अलङ्कारसर्वस्वकारादिभिः किया है। दूसरी ओर काणेमहोदय का कथन है कि रुय्यक ने काव्य-प्रकाश को उद्धृत किया है तथा उसकी आलो-

प्रदान की । उनका समय १७ वी शताब्दी का मध्यभाग है । उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे थे जिनमें रसगङ्गाधर, चित्रमीमांसाखण्डन अलङ्कारशास्त्र पर हैं, मनोरमाकुचमर्दिनी व्याकरण पर तथा सुधालहरी आदि (पांच) और जगदाभरण, आसफविलास, प्राणाभरण, भामिनीविलास तथा यमुनावर्णनचम्पू आदि काव्यग्रन्थ हैं। जगन्नाथ एक उच्चकोटि के कवि तथा समालोचक थे। उनका संस्कृत भाषा पर अद्भुत अधिकार था । उनका रसगङ्गाधर एक विशिष्ट शैली का ग्रन्थ है। उन्होंने किसी वस्तु का प्रथमतः लक्षण किया है फिर उसका स्वनिर्मित उदाहरण देते हुए विशद व्याख्यान किया है तदनन्तर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के दृष्टिकोण की समीक्षा की है। वे प्रतिभाशाली कवि थे और गम्भीर विद्वान् तथा सूक्ष्म विवेचक भी थे । उनकी तर्कशक्ति अनूठी थी । फलतः उनकी आलोचना में न्याय का अधिक अंश विद्यमान है। उनकी लेखन शैली प्रौढ़ है तथा विचार मौलिक हैं। उनका ग्रन्थ अधूरा ही उपलब्ध है । ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, अलङ्कारसर्वस्व तथा साहित्यदर्पण इत्यादि सभी की उन्होंने समीक्षा की है । उनके अनुसार काव्य का लक्षण है—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । उन्होंने 'प्रतिभा' को ही एकमात्र काव्य का हेतु माना है। काव्य के चार भेद किये हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम । रस, ध्वनि तथा अलङ्कारों का भी विशद विवेचन किया है। 'रसगङ्गाधर' अलङ्कारशास्त्र का एक विलक्षण ग्रन्थ है । इसमें नव्यन्याय की विषय-विवेचन शैली का प्रयोग किया गया है। इसमें काव्यप्रकाश के काव्यलक्षण आदि की आलोचना की गई है तथापि काव्यप्रकाश के समान उच्च सम्मान को यह ग्रन्थ नहीं प्राप्त कर सका ।

पण्डितराज के पश्चात् भी समय समय पर संस्कृत साहित्यशास्त्र में अनेक ग्रन्थों की रचना होती रही है। जिनमें आशाधरभट्ट (१८ वी शती) के अलङ्कारदीपिका आदि तीन ग्रन्थ और विश्वेश्वर पण्डित के अलङ्कारकौस्तुभ आदि पांच ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार संस्कृत भाषा का साहित्यशास्त्र अत्यन्त समृद्ध है। आधुनिक आलोचनाशास्त्र से यह नितान्त भिन्न है तथापि आधुनिक आलोचना के अनेक अङ्ग इसमें दृष्टिगोचर होते हैं। इसका अपना पृथक् स्वरूप है तथा महत्त्व भी। विश्व के आलोचनाशास्त्र में इसका विशिष्ट स्थान है ।

७. अलङ्कारशास्त्र के सम्प्रदाय और मम्मट की देन

ऊपर के विवेचन से विदित होता कि भारतीय अलङ्कार शास्त्र में अनेक मत या वाद प्रचलित रहे जो अलङ्कार शास्त्र के सम्प्रदाय कहलाते हैं। अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उद्भव पर विचार किया गया है। इनके आविर्भाव का मूल हेतु काव्य का स्वरूप ही है। काव्य को आत्मा क्या है ? इस समस्या पर विचार करते २ विविध आचार्य भिन्न २ परिणामों पर पहुँचे। किसी

ने अलङ्कार को ही काव्य की आत्मा समझा, किसी ने रीति को, किसी ने ध्वनि को, कोई रसपर्यन्त प्रतीति को पहुंच सका। इस प्रकार एक अभिन्न काव्यस्वरूप ही भिन्न २ आचार्यों के दृष्टिभेद से नाना रूपों में भासित होने लगा और अलङ्कार शास्त्र के निम्नलिखित मुख्य सम्प्रदाय हो गये—

(१) **रससम्प्रदाय**—उपलब्ध साहित्य में रस-सिद्धान्त के सबसे प्राचीन व्याख्याकार भरतमुनि ही है। उन्होंने नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्यायों में रस तथा भावों का विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि उनके पूर्व ही रस-सिद्धान्त का आविर्भाव हो चुका था। राजशेखर का कथन है कि नन्दिकेश्वर ही रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक थे। नाट्यशास्त्र मे रस का विशद विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र का कथन है—**न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।** रसविषयक मूलसूत्र है **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।** इस सूत्र की विविध व्याख्याएँ उत्तर काल में होती रही हैं। साथ ही अलङ्कारवादी तथा रीतिवादी आचार्य भी किसी न किसी रूप से काव्य में रस की सत्ता को स्वीकार करते रहे हैं। यह रस-सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक आधार पर विकसित हुआ है। इसमें मन की मूलभूत प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है और उनके सहायक भावों पर भी। इसका विवेचन साहित्य के वैज्ञानिक अनुशीलन में भी महत्त्वपूर्ण योग प्रदान कर सकता है।

रसनिष्पत्तिसूत्र के चार प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं—लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। काव्यप्रकाशकार ने रसनिरूपण में इनके मतों का विशद विवेचन किया है। इनके क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद—ये चार रसविषयकवाद प्रसिद्ध हैं। इनमें से अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ही मम्मट आदि आचार्यों को अभिमत है। रसगङ्गाधर के अनुसार रसविषयक आठ वाद हैं।

रस की संख्या के विषय में भी मतभेद हैं। भरत और धनञ्जय के मतानुसार नाट्य में आठ ही रस हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और रौद्र। उनके अनुसार नवम रस 'शान्त' की नाट्य में पुष्टि नहीं होती। काव्य-प्रकाशकार के मतानुसार काव्य-नाट्य सभी में 'शान्त' रस भी होता है। ध्वनिकार ने महाभारत में शान्त रस की प्रधानता मानी है। अभिनवगुप्त का कथन है कि मोक्ष का साधन होने के कारण शान्तरस ही प्रमुख रस है—**शान्तप्राय एवास्वादः।** रुद्रट ने 'प्रेयान्' नामक दशम रस की कल्पना की थी। अभिनवगुप्त से पूर्व कुछ आचार्य स्नेह, भक्ति आदि को भी पृथक् रस मानते थे। आचार्य मम्मट ने उनका भाव में ही समावेश किया है—**रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः।** साहित्यदर्पणकार ने वात्सल्य को पृथक् रस ही माना है।

इस प्रकार भरतमुनि से लेकर रसगङ्गाधर तक रस की विस्तृत विवेचना होती रही है। यद्यपि सभी 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहने वाले नहीं हैं, तथापि प्रायः सभी अलङ्कार सम्प्रदायों ने रस की महत्ता को स्वीकार किया है। रससिद्धान्त के विस्तृत अध्ययन के लिए—नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, दशरूपक, अभिनवभारती, ध्वन्यालोक-लोचन, साहित्यदर्पण, रसतरङ्गिणी तथा रसगङ्गाधर आदि विशेष उपयोगी हैं।

आचार्य मम्मट ने भी रस का विशद विवेचन किया है तथा काव्यस्वरूप में रस का साक्षात् निर्देश न करते हुए भी रस को काव्य का प्रधान तत्त्व माना है।

(२) अलङ्कारसम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामहाचार्य माने जाते हैं। किन्तु अलङ्कारों का विकास धीरे धीरे हुआ था। भरतमुनि ने यमक, उपमा, रूपक और दीपक इन चार अलङ्कारो का निर्देश किया था। भामह, दण्डी, उद्भट तथा भोज आदि आचार्यों ने अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन किया और आगे चलकर कुवलयानन्द में अलङ्कारों की संख्या १२५ तक पहुँच गई। अलङ्कारों के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर होता गया। रुद्रट ने अलङ्कारो के विभाग के लिए चार (औपम्य, वास्तव, अतिशय तथा श्लेष) मूल आधार भी निर्धारित किये। फिर विद्याधर (एकावली में) ने भी अलंङ्कारों की युक्तिपूर्ण विवेचन की।

अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुसार अलङ्कार ही काव्य में प्रधान है यह काव्यता का प्रयोजक है—तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् (अलङ्कार-सर्वस्व पृ० ३, ७)। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि इस सम्प्रदाय मे रस अथवा ध्वनि आदि का कोई महत्त्व नही स्वीकार किया गया। दण्डी ने 'रसवत्' अलङ्कार का निरूपण किया था तथा आठ रसों का भी उल्लेख किया था—इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। उद्भट ने भी रसवत् अलङ्कार का निरूपण करते हुए स्थायी भाव, विभाव तथा सञ्चारी भावों की ओर संकेत किया था। रसगङ्गाधरकार का कथन है कि प्राचीन आलङ्कारिकों ने ध्वनि (व्यङ्ग्य) आदि को भी अप्रत्यक्षरूप में स्वीकृत किया था; क्योंकि समासोक्ति, व्याजोक्ति, पर्यायोक्ति तथा वक्रोक्ति आदि अलङ्कारों का निरूपण करते हुए उन्होंने प्रतीयमान धर्म को अनायास ही स्वीकार कर लिया था, जैसे—यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः सा समासोक्तिः (भामह २ ७६)। इसी प्रकार गुणों को भी इस सम्प्रदाय ने स्वीकार किया था। किन्तु इस सम्प्रदाय के अनुसार अलङ्कार ही काव्यनिर्वाहक धर्म था, रस आदि नही; अतः यहाँ रस आदि को अलङ्कार का उपकारक (अङ्ग) मात्र बना दिया गया था अथवा रस आदि को एक प्रकार का अलङ्कार ही मान लिया गया था।

अलङ्कारसम्प्रदाय के मुख्य आचार्य भामह तथा उद्भट हैं, दण्डी ने भी रीति के साथ २ अलङ्कार की महत्ता स्वीकार की है। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराज आदि भी इस मत के विशेष समर्थक हैं। आचार्य मम्मट ने अलङ्कार को भी काव्यत्व का प्रयोजक माना है; किन्तु सर्वत्र अलङ्कार की स्पष्ट प्रतीति (स्फुटता) को काव्यत्व के लिये अनिवार्य नहीं माना—अनलङ्कृती पुनः क्वापि से यही प्रकट होता है।

(३) रीतिसम्प्रदाय—नाट्यशास्त्र में ही 'रीति' के बीज विद्यमान हैं तथा दण्डी ने भी रीति के स्वरूप तथा वैदर्भी और गौडी आदि के भेद का प्रतिपादन किया है; किन्तु रीतिसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन ही माने जाते हैं। इस मत के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है। गुणविशिष्ट रचना का नाम रीति है। अतएव इसमें गुणों का सर्वाधिक महत्त्व है, इसी से रीतिसम्प्रदाय को गुण-सम्प्रदाय

भी कहा जाता है। वामन ने वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली इन तीन रीतियों का विशद विवेचन किया और गुण तथा अलङ्कारों का भेद स्पष्ट किया। उन्होंने शब्द तथा अर्थ के दस २ गुणों का भी निरूपण किया। साथ ही यह भी बतलाया कि वैदर्भी रीति में सभी दस गुण होते हैं, गौडी के लिये ओज और कान्ति तथा पाञ्चाली के लिए माधुर्य और प्रसाद गुण ही आवश्यक हैं-समग्रगुणा वैदर्भी, ओजः-कान्तिमती गौडीया, माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। वामन के अनुसार गुण का तात्पर्य 'काव्यशोभाकारक धर्म' है। इस प्रकार काव्यशोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को रीति करते हैं।

रीति शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—गति, मार्ग या प्रस्थान। वामन के उपरान्त इसका भिन्न २ प्रकार से स्वरूप-निरूपण किया गया है। रुद्रट ने वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली तथा लाटीया—इन चारों रीतियों का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धनाचार्य की पदसंघटना भी रीति का ही परिष्कृत रूप है जो रस आदि को व्यक्त करती है—व्यनक्ति सा रसादीन् (ध्व० ३·५)। राजशेखर के अनुसार वचन-विन्यास का क्रम ही रीति है—वचनविन्यासक्रमो रीतिः। भोजराज के अनुसार रीति का अर्थ है—*कवि-गमन मार्ग और रीति शब्द गत्यर्थक रीङ् धातु से बना है।* उन्होने ६ रीतियाँ मानी हैं— वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया और मागधी। आगे चलकर विश्वनाथ कविराज ने रीति का विशद विवेचन किया है। उन्होंने ध्वनिकार की प्रेरणा प्राप्त करके रीति का एक समन्वित लक्षण प्रस्तुत किया है। 'पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत् ।उपकर्त्री रसादीनाम्—(सा० ६—१)। उनके अनुसार चार रीतियाँ हैं— वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली, लाटिका तथा। सारांश यह है कि काव्य के विशेष मार्ग या पद्धतियाँ ही रीति कहलाती है विदर्भ आदि प्रदेशों में उनका विशेष प्रयोग होने के कारण उन्हीं प्रदेशों के नाम पर ये प्रसिद्ध हो गई हैं।

रीति और प्रवृत्ति आदि में अन्तर—

रीति तथा प्रवृत्ति—भरत मुनि ने भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियों का वर्णन किया है और इन्हें नाट्य की जननी कहा है—वृत्तयो नाट्यमातरः। साथ ही यह भी बतलाया है कि कैशिकी वृत्ति-शृङ्गार और हास्य मे, सात्वती—वीर, रौद्र और अद्भुत मे; आरभटी—भयानक, वीभत्स और रौद्र में तथा भारती—करुण और अद्भुत मे होती है। ये वृत्तियाँ नाट्यवृत्ति नाम से भी प्रसिद्ध हैं वस्तुतः नायक आदि का मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार नाट्य में वृत्ति कहलाता है (दश० २·४७)। प्रवृत्ति इससे भिन्न है (दश० २·६३)। इसके द्वारा नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार आदि प्रकट हुआ करते हैं—पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। किन्तु रीति केवल विशिष्ट पदरचना का नाम है अतएव प्रवृत्ति और रीति का भेद स्पष्ट ही है।

रीति और वृत्ति—उद्भट ने परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या (कोमला)—इन तीन वृत्तियों का निरूपण किया था। आचार्य मम्मट ने वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग में इनका उल्लेख किया है तथा यह भी बतलाया है कि इन तीनों को ही वामन आदि ने वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चली रीति कहा है—एतास्तिस्रो वृत्तयो वामना-

तीनां मते वैदर्भी-गौडी-पाञ्चालाख्या रीतयो मताः (काव्य० ६, अनुप्रास)। मम्मट के अनुसार वृत्ति का अर्थ है—नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार—वृत्तिनियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः (काव्य० ६)। संक्षेप में उद्भट के मतानुसार ये वृत्तियाँ वर्ण-व्यवहार मात्र हैं। रुद्रट इन्हें शब्दव्यवहाररूप वृत्ति मानते हैं। आनन्दवर्धन के मतानुसार रसानुकूल वाचक-व्यवहार ही वृत्ति है तथा आचार्य मम्मट रसानुकूल वर्ण-व्यवहार को ही वृत्ति मानते हैं। रीति और वृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आचार्यों के तीन मत हैं—(i) वर्ण-व्यवहार या रसानुकूल वर्ण-विन्यास रूपी वृत्तियाँ रीतियों से भिन्न हैं—कुछ आचार्यों ने इसकी ओर संकेत मात्र किया है। (ii) वृत्ति और रीति एक ही है—आचार्य मम्मट का यही स्पष्ट मत है तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने भी दोनों शब्दों का समान रूप से व्यवहार किया है—(iii) वृत्तियाँ रीति के अङ्ग हैं—आचार्य वामन तथा विश्वनाथ कविराज की यही मान्यता प्रतीत होती है (मि०, हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र की भूमिका पृ० ५४)।

राजशेखर के अनुसार प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति तीनों का अन्तर इस प्रकार है—तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः; विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः; वचनविन्यासक्रमो रीतिः (काव्यमीमांसा, ३) आचार्य मम्मट ने वृत्ति या रीति का विस्तृत विवेचन नहीं किया किन्तु गुणों या अलङ्कारों के द्वारा परम्परया उनका समन्वय कर लिया है।

आधुनिक आलोचनाशास्त्र में जो शैली या काव्य-शैली कही जाती है वह भी रीति से कुछ अंशों में भिन्न ही है। अभिव्यञ्जना की रीति का नाम ही शैली है, वह विचारों का परिधान है, प्रतिपाद्य विचारों के अनुकूल वाक्य, शब्द एवं वर्णों के विन्यास की योजना है।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—साहित्य में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। अलङ्कार शास्त्र में भी भामह तथा दण्डी के समय से ही वक्रोक्ति का महत्त्व समझा जाता रहा है। भामह का विचार था कि वक्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग काव्य का अलङ्कार होता है—वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः (काव्यलङ्कार १·३६)। अभिनवगुप्त ने भामह का उद्धरण देते हुए वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है—शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्; अर्थात् लोकोत्तर रूप से शब्द अर्थ की अवस्थिति ही शब्द तथा अर्थ की वक्रता है। भामहाचार्य ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय मानकर इसे समस्त अलङ्कारों की जीवनदायिनी बतलाया है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

मम्मट ने भामह की इस उक्ति को उद्धृत किया है और व्यापक रूप में इसकी प्रामाणिकता को स्वीकृत किया है। आचार्य दण्डी ने दो प्रकार की उक्ति मानी है—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति· भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। अतः उनके मतानुसार स्वाभाविक कथन से भिन्न (श्लेष से पुष्ट) अनूठा कथन वक्रोक्ति है। वामन और रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक अलङ्कार ही माना था

जिसका आगे चलकर मम्मट, रुय्यक तथा हेमचन्द्र आदि ने अनुसरण किया। किन्तु आचार्य कुन्तक ने भामह तथा दण्डी के आधार पर ही अपनी अनूठी प्रतिभा के बल से वक्रोक्ति के एक नवीन स्वरूप की स्थापना की। उन्होंने वक्रोक्ति का स्वरूप बतलाया—'वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः (वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते) वृत्ति में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है–वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। वैदग्ध्यं कविकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः। इस प्रकार वक्रोक्ति का अभिप्राय है–कविकौशल पर आश्रित जनसाधारण से विलक्षण प्रकार का कथन। कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा या जीवन बतलाया है। यह वक्रोक्ति मुख्य रूप से पाँच प्रकार की होती है (१) वर्णवक्रता, (२) पदवक्रता, (३) वाक्यवक्रता, (४) अर्थवक्रता, (५) प्रबन्धवक्रता।'

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुसार ध्वनि और व्यङ्ग्य का समावेश वक्रोक्ति में ही हो जाता है; जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार ने वक्रोक्तिकार के दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए निरूपित किया है—उपचारवक्रताभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। वक्रोक्तिजीवितकार ने वैचित्र्यवक्रता आदि के अन्तर्गत यह भी निर्देश किया है कि उचित रस तथा भाव आदि की योजना के द्वारा काव्य में किस प्रकार चारुता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकरण में विप्रलम्भ तथा करुण आदि के उदाहरण भी दिये गये हैं तथा यह भी निर्धारित किया गया है कि 'रसवत् प्रेयस्' इत्यादि अलङ्कार नहीं, अपि तु अलङ्कार्य हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार माधुर्य, प्रसाद और ओज आदि गुणों का तथा अलङ्कारों का भी वक्रोक्ति में ही अन्तर्भाव किया गया है—वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो विद्यते यः सहस्रधा। यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति।' संक्षेप में यह वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। इस विशेष प्रकार के कविव्यापार के द्वारा ही सहृदयजन काव्य का आस्वादन करते हैं।

(५) ध्वनिसम्प्रदाय—'ध्वनि' की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से मिली थी। काव्यशास्त्र में ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य हैं; किन्तु ध्वनिवाद की उद्भावना उससे पूर्व ही हो चुकी थी, जैसा कि ध्वनिकार ने ही निर्देश किया है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्व.। ध्वनिकार से पूर्व आलङ्कारिकों आदि ने भी पर्याय, समासोक्ति आदि अलङ्कारों के निरूपण में एक प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया था। अभिनवगुप्त ने उद्भट और वामन आदि को ध्वनि में साक्षी माना है। ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि का विरोध भी होता रहा था। ध्वनिकार ने तीन प्रकार के ध्वनि-विरोधियों का निर्देश किया है—१. अभाववादी जो ध्वनि का अभाव मानते रहे। २. भक्तिवादी, जो ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करते रहे। ३. अनिर्वचनीयतावादी, जो ध्वनि का अनुभव करते हुए भी उसकी व्याख्या असम्भव मानते रहे। इन विरोधों का परिहार करते हुए आनन्दवर्धन ने अपनी अनुपम प्रतिभा के आधार पर ध्वनिवाद की स्थापना की। उन्होंने साहित्यशास्त्र में एक सूक्ष्म सिद्धान्त का आविर्भाव किया। किन्तु समय-समय पर ध्वनिवाद का प्रबल विरोध किया गया; अनेक आचार्यों ने व्यञ्जनावाद का निषेध किया। भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व

नामक काव्य की दो शक्तियाँ मानकर चारु अर्थ का भावन तथा रस का आस्वादन उन्हीं के द्वारा माना। दशरूपककार धनञ्जय तथा धनिक ने व्यङ्ग्य अर्थ का तात्पर्य में ही अन्तर्भाव किया और व्यञ्जना वृत्ति का निषेध किया। फिर अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की मान्यता को छिन्न-भिन्न कर दिया। किन्तु वक्रोक्तिकार कुन्तक तथा व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने ध्वनि की स्थापना का प्रबल विरोध किया। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना, महिमभट्ट ने व्यञ्जना का अनुमान में ही अन्तर्भाव किया, व्यङ्ग्यार्थ को अनुमेय बतलाया। आचार्य मम्मट ने समस्त विरोधों का खण्डन करके सुचारुरूप से व्यञ्जना की स्थापना की और यह व्यञ्जनावाद साहित्य के क्षेत्र में अमर हो गया।

ध्वनि-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त का पोषक है। इसका आधार ही यह है कि जो रस काव्य की आत्मा कहा गया है वह वाच्य नहीं होता अपितु व्यङ्ग्य (ध्वनित) ही हुआ करता है—सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनैव (ध्वन्यालोक)। ध्वनिकार (ध्वनि० ४·५) ने रसादिरूप वस्तु को ही कवि का लक्ष्य माना है—व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि। रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वनिकार ने व्यङ्ग्यार्थ के वस्तु, अलङ्कार और रसादि—ये तीन प्रकार माने हैं। रसादि में भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि का भी समावेश है, जैसा कि ध्वनि की व्याख्या में आचार्य मम्मट ने विवेचन किया है। यद्यपि ध्वनिकार ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' यह स्थापना की है; किन्तु इसके द्वारा रसरूप काव्यात्मा में ही उनका तात्पर्य है जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट ही कहा है—तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।

यह ध्वनि क्या है? ध्वनिकार के मतानुसार वह काव्यविशेष ध्वनि है जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस (परम) अर्थ को व्यक्त करते हैं। वह प्रतीयमान अर्थ विलक्षण ही होता है जो रमणियों के लावण्य आदि के समान महाकवियों की वाणी में भासित होता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ (ध्वनि० १·४)

इस ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुए ध्वनिकार ने गुण, अलङ्कार तथा पदसंघटना रूप रीति आदि का भी विवेचन किया है और ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित किया है। ध्वनि शब्द अत्यन्त व्यापक है। लोचनकार के अनुसार इसके पांच अर्थ हैं - यथोक्तप्रकार इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्। शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च। अर्थात् (i) शब्दध्वनि—जो ध्वनित करता है—ध्वनति यः सः व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः। (ii) अर्थध्वनि—जो ध्वनित करता या कराता है—ध्वनति ध्वनयति वा य सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः। (iii) व्यङ्ग्य अर्थ - जो ध्वनित किया जाता है—ध्वन्यते इति ध्वनिः अर्थात् रसादि, वस्तु तथा अलङ्कार रूप अर्थ।

(iv) शब्दार्थ-व्यापार, जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है—ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः, अर्थात् व्यञ्जना-व्यापार। (v) ध्वनिकाव्य—जिसमें वस्तु, अलङ्कार तथा रसादि ध्वनित होते हैं—ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः अर्थात् ध्वनिप्रधान काव्य। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त विविध अलङ्कार-सम्प्रदायों के समन्वय की ओर संकेत करता है। इस दिशा में ध्वन्यालोक से काव्यप्रकाशकार को महती प्रेरणा मिली है।

(५) औचित्य सम्प्रदाय—औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र माने जाते हैं। किन्तु अन्य सम्प्रदायों की भाँति औचित्यवाद का जन्म भी इसके प्रतिष्ठापक के जन्म से बहुत पूर्व ही हो चुका था। नाट्यशास्त्र (२३, ६९) में वेशभूषा आदि के औचित्य का निर्देश किया गया था—

> अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
> मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट ही घोषित किया था कि रस का परमरहस्य यह औचित्य ही है और औचित्य का अभाव ही रस-भङ्ग का हेतु है—

> अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (ध्वनि० वृत्ति, कारिका ३·१४)

आनन्दवर्धन ने इस औचित्य की विशद व्याख्या की थी। किन्तु क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में इसे काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार किया और इसे रस का जीवन (प्राण) बतलाया—

> औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

'औचित्य' का क्या अभिप्राय है? इसका विवेचन करते हुए क्षेमेन्द्र ने बतलाया है—उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ (कारिका ७) अर्थात् जो जिसके अनुकूल है वही उचित कहलाता है और आचार्यजन 'उचित' के भाव को ही औचित्य कहा करते हैं। औचित्यविचार-चर्चा में पद, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन देश तथा काल आदि के औचित्य का विचार किया गया है और उसके उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। समन्वित काव्य-विवेचना में क्षेमेन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

क्षेमेन्द्र या 'औचित्यविचारचर्चा' को आचार्य मम्मट ने कहीं उद्धृत नहीं किया। सम्भवतः आचार्य मम्मट के समय तक इस सम्प्रदाय ने विशेष ख्याति न प्राप्त की होगी। किन्तु औचित्य की ओर मम्मट का ध्यान अवश्य गया था और उन्होंने रस-दोष विवेचन के प्रसङ्ग (सप्तम उल्लास) में ध्वन्यालोक की 'अनौचित्यादृते, (३.१४) उक्ति को उद्धृत भी किया है।

साहित्यशास्त्र को आचार्य मम्मट की देन

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त अलङ्कार सम्प्रदायों में से किसी एक का अनुसरण नहीं किया, यद्यपि उन्हें ध्वनिवाद के प्रचारक तथा समर्थक के रूप में स्मरण किया जाता है। उनके काव्यप्रकाश में आरम्भ से अन्त तक ध्वनितत्त्व का ही आधार ग्रहण किया गया है। ध्वनिकार ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर जिस सार्व-

भीम ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी, अभिनवगुप्त ने जिसका रस आदि के साथ सुन्दर सामञ्जस्य किया था और अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सम्प्रदाय में जिसका समन्वित रूप प्रस्तुत किया था, उस ध्वनितत्त्व को आचार्य मम्मट ने काव्य की उत्तमता का प्रयोजक माना है। फिर भी वे केवल ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं मानते। उन्होंने विविध काव्य-वादों में एक समन्वित मार्ग का उद्घाटन किया है। काव्य की वास्तविक आत्मा की अनुभूति कराने का प्रयास किया है। वस्तुतः 'काव्य' किसी वाद-विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता। विविध काव्य-सम्प्रदायों के आचार्यों ने काव्य के एक एक पहलू का निरूपण किया था। उन्होंने तत्त्वदर्शी मनीषी की भाँति काव्य के व्यापक स्वरूप पर दृष्टिपात नहीं किया। आचार्य मम्मट ने काव्य के क्षेत्र में समन्वय का यह महान् कार्य किया है।

अलङ्कारशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने काव्य के अलङ्कार, रचना-सौन्दर्य आदि का ही मुख्य रूप से विवेचन किया था। आचार्य दण्डी ने इस विवेचन को कुछ अधिक विस्तृत बनाया। रीतिवादी आचार्य वामन ने अलङ्कार का अर्थ व्यापक कर दिया—सौन्दर्यमलङ्कारः, गुणों की प्रधानता मानी; इसी प्रकार रुद्रट आदि आलङ्कारिकों ने काव्य का कुछ और अधिक विशद विवेचन किया। किन्तु अलङ्कारवादी और रीतिवादी आचार्य काव्य के बहिरङ्ग का ही निरूपण करते रहे उनका ध्यान काव्य की कलात्मकता की ओर ही रहा। उन्होंने काव्यानुभूति अथवा रस की ओर ध्यान न दिया। उधर रस-सम्प्रदाय में एक विशेष प्रकार के आनन्द को ही कविता का सर्वस्व मान लिया गया और विचार तथा कल्पना तत्त्व की ओर से उदासीनता दिखलाई गई। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और काव्य का सामञ्जस्य-पूर्ण विश्लेषण करने का प्रयास किया, किन्तु ध्वनिसम्प्रदाय का भी मुख्य लक्ष्य ध्वनिनिरूपण ही बना रहा—'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्' (ध्वनि० १, १)। वक्रोक्तिसम्प्रदाय ने ध्वनि, रस तथा अलङ्कार आदि को समन्वित करते हुए भी उक्ति-वैचित्र्य' को ही अपने समक्ष रक्खा। क्षेमेन्द्र ने समस्त काव्याङ्गों के औचित्य की ओर ध्यान दिया; किन्तु वह भी इस नवीन प्रस्थान के उद्भावक मात्र होकर रह गये। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा न कर सके।

आचार्य मम्मट ने काव्य के बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग, दोनों पक्षों की ओर ध्यान दिया। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के एकाङ्गी काव्य-लक्षणों को समन्वित करके एक सर्वाङ्गपूर्ण काव्य-लक्षण का निरूपण किया। ऐसा लक्षण कि जिसमें कविता-कामिनी का शरीर शब्द और अर्थ के रूप में प्रकट हो रहा है, उसकी आत्मा सगुणौ द्वारा अभिव्यक्त हो रही है; अदोषौ के द्वारा उसके बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग की निर्दोषता झलक रही है और यथासम्भव उचित अलङ्कारों की योजना से उसका लावण्य प्रस्फुटित हो रहा है। सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन लक्षणों की अपेक्षा मम्मट का काव्य-लक्षण (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि) अधिक व्यापक है। यह सर्वग्राही है। काव्यकला तथा सहृदयानुभूति दोनों का संग्रह इसमें हो जाता है। इसमें काव्य के समस्त अङ्ग परिलक्षित होते हैं। यदि 'काव्य' का स्वरूप शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है; यदि कविता की कोई परिभाषा हो सकती है

अथ

काव्यप्रकाशः

प्रभाख्यहिन्दीव्याख्यासहितः

अथ प्रथम उल्लासः

[काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूप-निर्णयात्मकः]

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

वाग्देवतावतार मम्मट का काव्यप्रकाश काव्य-विवेचना का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'काव्य-प्रकाश' शब्द का अर्थ है—काव्य का प्रकाश। यहाँ काव्य के विविध अङ्गों पर विशद प्रकाश डाला गया है। विषय-वस्तु का विभाजन उल्लासों में किया गया है। उल्लास अर्थात् प्रकाश की एक झलक (Flash)—परिच्छेद या अध्याय। प्रत्येक उल्लास में काव्य के किसी विशेष अङ्ग का विवेचन है। मङ्गल श्लोक से आरम्भ करके प्रथम उल्लास में काव्य के प्रयोजन, कारण तथा स्वरूप का निर्णय किया जा रहा है।

अनुवाद—ग्रन्थ (काव्यप्रकाश) के आरम्भ में ग्रन्थकार (आचार्य मम्मट) विघ्नों (आरब्ध कार्य के प्रतिबन्धकों) के विनाश के लिये यथोचित (प्रतिपाद्य विषय अर्थात् काव्य-विवेचना के अनुरूप) इष्ट-देवता (कवि भारती) का स्मरण करते हैं अर्थात् उसकी स्तुति करते हैं।

[निर्मितिम् आदधती कवेः भारती जयति—यह प्रधानवाक्य है, शेष द्वितीयान्त 'निर्मिति' के विशेषण हैं] जो (कविवाणी) नियति (अदृष्ट आदि) विरचित नियमों से रहित, केवल आनन्दमयी (ह्लादेन एकमयी=ह्लादमात्रप्रचुरा या ह्लादमात्र-स्वभावा, कविभारती से अन्य (समवायी आदि कारण) की अधीनता से विमुक्त, (शृङ्गारादि) नवरसों से रमणीय काव्यसृष्टि को प्रकट करती है, वह कवि की वाग्देवी सबसे उत्कृष्ट है (मैं ग्रन्थकार उसकी स्तुति करता हूँ) ॥१॥

प्रभा—(१) संस्कृत-वाङ्मय में 'ग्रन्थ' शब्द का विशेष अर्थ होता है। जिस संदर्भ या वाक्यकदम्बक में पाँच अङ्ग होते हैं, वह ग्रन्थ कहलाता है। वे पाँच अङ्ग ये हैं—

दोषों का सुन्दर सामञ्जस्य और उनका वैज्ञानिक विभाजन, (xii) अलङ्कारों का रस तथा ध्वनि के साथ समन्वय, (xiii) प्राचीन मतों की समीक्षा करते हुए अलङ्कारों का विशद विवेचन; उद्भट, रुद्रट आदि की अनेक अलङ्कारविषयक मान्यताओं का परिष्कार (xiv) शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार की मान्यता का आधार–निर्णय। (xv) प्राचीनोक्त-अलङ्कार दोषों का सामान्य दोषों में अन्तर्भाव।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि मम्मट का दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है। काव्यालोचना के क्षेत्र में उन्होंने व्यवस्था स्थापित की है। अलङ्कारशास्त्र में नवीन मार्गों के उद्भावक भामह, वामन और आनन्दवर्धन, कुन्तक और क्षेमेन्द्र की श्रेणी में वे नहीं हैं। उनका एक अनूठा मार्ग है, वे अलङ्कारशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने साहित्य-जगत् के विविध वादों को सदा के लिये समाप्तप्रायः कर दिया और विविध समीक्षाशैलियों का सुन्दर समन्वय किया है। उन्होंने ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है जो युग-युग तक सर्वमान्य रहेगा। वस्तुतः आचार्य मम्मट वाग्देवतावतार हैं।

—:o:—

अथ

काव्यप्रकाशः

प्रभाख्यहिन्दीव्याख्यासहितः

अथ प्रथम उल्लासः

[काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूप-निर्णयात्मकः]

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

वाग्देवतावतार मम्मट का काव्यप्रकाश काव्य-विवेचना का एक प्रामाणिक न्थ है। 'काव्य-प्रकाश' शब्द का अर्थ है—काव्य का प्रकाश। यहाँ काव्य के विविध अङ्गों पर विशद प्रकाश डाला गया है। विषय-वस्तु का विभाजन उल्लासों में किया गया है। उल्लास अर्थात् प्रकाश की एक झलक (Flash)—परिच्छेद या ध्याय। प्रत्येक उल्लास में काव्य के किसी विशेष अङ्ग का विवेचन है। मङ्गल लोक से आरम्भ करके प्रथम उल्लास में काव्य के प्रयोजन, कारण तथा स्वरूप का नर्णय किया जा रहा है।

अनुवाद—ग्रन्थ (काव्यप्रकाश) के आरम्भ में ग्रन्थकार (आचार्य मम्मट) विघ्नों (आरब्ध कार्य के प्रतिबन्धकों) के विनाश के लिये यथोचित (प्रतिपाद्य विषय अर्थात् काव्य-विवेचना के अनुरूप) इष्ट-देवता (कवि भारती) का स्मरण करते हैं अर्थात् उसकी स्तुति करते हैं)।

[निर्मितिम् आदधती कवेः भारती जयति—यह प्रधानवाक्य है, शेष द्वितीयान्त निर्मिति' के विशेषण हैं] जो (कविवाणी) नियति (अदृष्ट आदि) विरचित नियमों से रहित, केवल आनन्दमयी (ह्लादेन एकमयी=ह्लादमात्रप्रचुरा या ह्लादमात्र-स्वभावा, कविभारती से अन्य (समवायी आदि कारण) की अधीनता से विमुक्त, (शृङ्गारादि) नवरसों से रमणीय काव्यसृष्टि को प्रकट करती है, वह कवि की वाग्देवी सबसे उत्कृष्ट है (मैं ग्रन्थकार उसकी स्तुति करता हूँ) ॥१॥

प्रभा—(१) संस्कृत-वाङ्मय में 'ग्रन्थ' शब्द का विशेष अर्थ होता है। जिस संदर्भ या वाक्यकदम्बक में पांच अङ्ग होते हैं, वह ग्रन्थ कहलाता है। वे पांच अङ्ग ये हैं—

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादान-कर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः तादृशी ब्रह्मणो निर्मिति-

---

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

यहाँ 'विशय' शब्द का अर्थ सन्देह है । प्रस्तुत ग्रन्थ में इन अङ्गों की सुन्दर योजना की गई है । यहाँ काव्य के स्वरूप, हेतु तथा प्रकार आदि अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है । ये ही इसके प्रतिपाद्य विषय हैं । इनके विवेचन में अनेक स्थलों पर एक ही विषय में विभिन्न मन्तव्य उपस्थित हो जाते हैं जिससे संशय हो जाना स्वाभाविक ही है । यहाँ पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा यथास्थान निर्णय का भी निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने विशद विवेचन किया है । 'आरम्भ' शब्द का अर्थ (लक्षणा द्वारा)—'आरम्भ करने से पूर्व' है; क्योंकि मङ्गलाचरण के अनन्तर ही ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है । अतिशीघ्र विघ्नों का विनाश ही लक्षणा का प्रयोजन है ।

विघ्नविघातायेति—इस पद में तादर्थ्य में चतुर्थी है । कार्यसिद्धि के प्रतिबन्धक जो अदृष्ट हैं उन्हें विघ्न कहते हैं । ग्रन्थकृत्—मम्मट (द्र०, विषयप्रवेश) । ज्ञानार्थक या स्पर्शार्थक 'परामृशति' प्रकृत में स्तुत्यर्थक (To invoke) है, क्योंकि मङ्गल श्लोक के जयति पद से यही ध्वनित हो रहा है ।

(२) ग्रन्थकार 'नियति' आदि कारिका द्वारा कविभारतीस्तवनरूप मङ्गलाचरण करते हैं । मङ्गलाचरण करना शिष्टाचार परम्परा प्राप्त है जैसा कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है 'मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च सिद्धार्थाः यथा स्युः' ।

यहाँ पर कवि-भारती की स्तुति की गई है । भारती की स्तुति ही मङ्गल का स्वरूप है । कवि-भारती=कविवाणी । उसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है । कविवाणी तथा सरस्वती (अधिष्ठेय और अधिष्ठात्री) में अभेद मानकर दोनों की स्तुति में ग्रन्थकार का तात्पर्य है । आचार्य मम्मट ने कवि-भारती की स्तुति करते हुए इन पंक्तियों में काव्य के अलौकिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है । लोकोत्तर-वर्णनानिपुण कवि की कृति ही काव्य है, यह वैविध्य विधाता की सृष्टि से विलक्षण है, प्रकृतिकृत नियमों से नहीं बंधी, कार्यकारणभाव की शृङ्खलाओं में नहीं जकड़ी । केवल आनन्दमयी रचना है । नव रसों से रमणीय है तथा सहृदय-हृदयाह्लादक है । इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है; क्योंकि कवि-भारती की निर्मिति के उत्कर्ष-वर्णन-द्वारा यहाँ कविभारती (उपमेय) का चतुर्मुख विधाता की सृष्टि (उपमान) से उत्कर्ष व्यक्त होता है ।

अनुवाद—विधाता की सृष्टि तो ऐसी है जिसका स्वरूप (अदृष्ट या प्रकृति

निर्माणम्। एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः, अत एव जयति, जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ॥

नियम रूपी) नियति की शक्ति से नियत है, जिसका स्वभाव सुख दुःख तथा मोहात्मक है, जो परमाणु आदि समवायिकारण तथा कर्म आदि सहकारिकारण के अधीन है, जिसमें ६ रस (मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, लवण और तिक्त) हैं, किन्तु उन रसों के द्वारा (तैः=रसैः) भी वह (सृष्टि) हृदय को सदा प्रिय लगने वाली ही नहीं है (क्योंकि कटु आदि रस अरुचिकर भी होते हैं)।

कवि-वाणी की सृष्टि तो इस (विधाता की सृष्टि) से विलक्षण है। इसीलिये यह (विधाता की सृष्टि से) उत्कृष्ट है। 'जयति' इस शब्द के अर्थ (उत्कृष्टता) से नमस्कार अभिव्यक्त होता है। [आक्षिप्यते व्यज्यते; व्यञ्जना द्वारा नमस्कार का बोध होता है।] अतएव मैं (ग्रन्थकार) उस (कवि भारती) के प्रति प्रणत हूँ। उसे प्रणाम करता हूँ, यह अर्थ प्राप्त होता है।

प्रभा—मङ्गलाचरण की इस कारिका में कविवाङ्निर्मिति अर्थात् काव्य को विधाता की सृष्टि से उत्कृष्ट दिखाया गया है। इस उत्कृष्टता के चार हेतु हैं:—

(१) नियतिकृतनियमरहिताः—कविकृति नियतिकृत नियमो से रहित है। यह उसकी प्रथम विलक्षणता है, विधाता की यह सृष्टि अदृष्ट, नियामकशक्ति अथवा प्रकृति (नियति) के नियमों (The Laws of nature) से नियन्त्रित होती है। यहाँ प्रकृति के नियमों या अदृष्ट के विधान के अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता है। जैसे—पुष्पों में सुगन्ध होती है या धार्मिक विश्वासों के अनुसार इस शरीर को त्याग कर ही स्वर्ग-प्राप्ति होती है, किन्तु काव्य-जगत् की सृष्टि इससे विलक्षण है। यह नियति के अटल नियमों से बंधी हुई नही, यहाँ कार्य-कारण भाव का कठोर नियन्त्रण नही। यहाँ तो मुख से भी सौरभ हो सकता है, यश भी सौरभ का रूप धारण कर सकता है (मुरभिमुखः अथवा यशः सौरभ)। कवियों के इस अनूठे संसार में इसी शरीर से स्वर्ग-प्राप्ति भी सम्भव है—स्वर्ग-प्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी'। कहा भी है—
अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

अत एव कविकृति नियतिकृतनियमरहिता है।

(२) ह्लादैकमयीः—कविकृति केवल आनन्दमयी है,—सुख-दुःख-मोहात्मक नहीं। विधाता की सृष्टि सुख-दुःख-मोहात्मक प्रकृति की विकृति है, अतः—वह सुख-दुःख-मोह रूप है। कवि की विलक्षण रचना में दुःख और मोह का तो लेश भी नहीं, वह केवल आनन्दात्मक है, आह्लाद प्रदान करने वाली है। कविता का मुख्य प्रयोजन ही एक विलक्षण आनन्द की प्राप्ति कराना है। यद्यपि काव्य में शोक, भय

तथा जुगुप्सा आदि प्रतिकूल मनोभावों का वर्णन भी किया जाता है तथापि काव्य की इस तपोभूमि में आकर विविध विरोधी भाव भी रसात्मक हो जाते हैं, ये करुण भयानक और बीभत्स आदि रसों के रूप में परिणत होकर विलक्षण आनन्द का आस्वादन कराते हैं। अतएव आचार्य मम्मट ने कवि-सृष्टि को 'ह्लादैकमयी'—केवल आनन्दात्मक अथवा आनन्द-प्रचुरा बतलाया है।

(३) अनन्यपरतन्त्रा:—कवि-कृति अन्य कारणों के अधीन नहीं। विधाता की सृष्टि समवायी, असमवायी तथा निमित्त तीन प्रकार के कारणों के अधीन है; किन्तु कवि की सृष्टि इससे विलक्षण है, वह किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रखती, वह तो कवि की स्वतन्त्र आनन्दवृत्ति का प्रोद्भास मात्र है, प्रतिभा का प्रोच्छलन मात्र है—'आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना'। कवि-प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास ये ही काव्य-स्फुरण के एक मात्र हेतु हैं। वह शब्द और अर्थ आदि के अधीन नहीं, अपितु शब्दादि ही कवि-प्रतिभा का अनुसरण करते हैं। अतएव कविवाक् अनन्यपरतन्त्रा है। जैसा कि प्रदीपकार ने कहा है—

"कवेस्तत्प्रतिभायाश्च अन्यो य आत्मनः (भारत्या.) परः तदायत्तत्वरहिताम्" इति॥

(३) नवरसरुचिरा:—कवि-कृति नव रसों से मनोहर है। विधाता की सृष्टि में ६ रस हैं—मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, लवण और तिक्त। ये ६ रस सर्वदा और सर्वथा मनोरम ही नहीं होते; क्योंकि कटु रस प्रतिकूल भी होता है तथा मधुर आदि भी सदा अनुकूल एवं रुचिकर नहीं हुआ करते। अतएव ब्रह्मा की सृष्टि इन रसों द्वारा सर्वथा मनोरम ही नहीं होती। कविकृति इनसे विलक्षण है। प्रथम तो कवि-कृति में शृङ्गार, वीर, करुण आदि नव-रस होते हैं। द्वितीय ये सभी रस सदा रुचिर एवं आनन्दप्रद हुआ करते हैं। काव्य-जगत् में रस का अभिप्राय ही है—एक विलक्षण आनन्द। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि वस्तुतः सहृदयों के हृदय में ही रस की अनुभूति होती है, कविकृति में रस नहीं रहते। वह तो केवल किसी स्थायी भाव को व्यक्त करने वाले विभाव आदि का वर्णन करके सहृदयों को रस का आस्वादन कराती है। अतः कविकृति को 'नवरसरुचिरा' कहना औपचारिक ही है।

कवि-भारती द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि से विलक्षण एक अलौकिक सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। इसी हेतु कवि की वाणी उससे उत्कृष्ट है। अतएव आचार्य मम्मट काव्य-प्रकाश के प्रारम्भ में उसको प्रणाम करते हैं।

टिप्पणी:—(i) नियति—व्याख्याकारों ने नियति शब्द के कई अर्थ किये हैं, जैसे—असाधारण धर्म, अदृष्ट, नियामक शक्ति, प्रकृति इत्यादि। सौरभ आदि धर्मों को नियत करने के कारण असाधारण धर्म 'कमलत्व' आदि 'नियति' कहलाता है और तत्कृत नियम है—जहाँ कमलत्व है वहाँ सौरभविशेष होता है। कवि-कृति तद्रहिता है। 'नियति' शब्द का 'भाग्य' या 'दैव' आदि अर्थ भी लोक-प्रसिद्ध ही

है। स्वर्गादि का निमित्त (कर्मों से उत्पन्न संस्कारविशेष) 'अदृष्ट' ही नियति है। कुछ व्याख्याकारों का विचार है कि आचार्य मम्मट काश्मीरिक थे और काश्मीर के शैवदर्शन से पूर्णतया परिचित भी, अतः यहाँ 'नियति' शब्द शैवदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। शैव-दर्शन के ३६ तत्वों में से 'नियति, भी एक है। वहाँ इसका अर्थ 'माया का कार्य' है तथा यह संसार के कार्य-कारण-भाव के नियमन का सामर्थ्य रखती है—नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्य-मण्डले (अभिनवगुप्त तन्त्रालोक ६·२०२)। साथ ही यह प्राणियों के भोक्तृत्व में भी सहायक है। सांख्य के अनुसार प्रकृति की नियामक शक्ति ही नियति है जो प्रकृति से अभिन्न ही है, अतः नियतिकृत नियम = प्रकृति के नियम 'Laws of nature' (डा० गङ्गानाथ झा।

(ii) सुख-दु.ख-मोह-स्वभावा—आचार्य मम्मट ने सांख्य के अनुसार विधाता की सृष्टि को सुख-दुःख-मोह-स्वभावा कहा है। यह सृष्टि प्रकृति का परिणाम या विकार (कार्य) है। प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों वाली है। सत्त्व या सत्त्वगुण सुख स्वभाव वाला है, रजोगुण दु.ख स्वभाव वाला और तमोगुण मोह स्वभाव वाला है। मोह का अर्थ भ्रान्ति है। कार्य या परिणाम में कारण के गुण अन्वित होते हैं इसी से यह सृष्टि सुख-दुःख-मोह-स्वभावा है। (सुखदुःखमोहाः स्वभावाः यस्याः तादृशी अथवा सुखदुःमोहानां स्वस्यां भाव उत्पत्तिः यस्यां तादृशी)।

(iii) परमाण्वादि—प्रदीपकार ने इस पद का अर्थ किया है—"परमाण्वादि यत् समवायिकारणं तदीयश्च यः स्पन्दस्तत्प्रभृतिसहकारिपरतन्त्रा" 'तत्प्रभृति' इति निमित्तसंग्रहः। इस प्रकार समवायी, असमवायी तथा निमित्त तीनों कारणों का ग्रहण होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मम्मट ने 'सहकारिकारण' शब्द का अप्रधान कारण अर्थात् उपादान-भिन्न सभी कारणों के लिये प्रयोग किया है। 'परमाण्वादि' में आदि शब्द मत-वैविध्य को प्रकट करता है; जैसे कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार परमाणु ही सृष्टि के उपादान या समवायी कारण हैं; सांख्य-योग के अनुसार प्रकृति उपादान कारण है, इसी प्रकार उपादान कारण के विषय में विविध मत हैं। 'कर्म' का अर्थ है—उत्क्षेपण आदि न्याय-वैशेषिक निरूपित पाँच कर्म या स्पन्दरूप से एक कर्म; अथवा कर्मोत्पन्न अदृष्ट; अथवा मीमांसा के अनुसार विहित निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न 'अपूर्व'। 'आदि' शब्द से गृहीत न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वरेच्छा आदि (निमित्त)—ये (असमवायी तथा निमित्तरूप) सहकारी कारण हैं।

(iv) नवरसाः यस्यां सा नवरसा, सा चासौ रुचिरा च—इति (बहुव्रीहि गर्भ कर्मधारय) अथवा— नवसंख्याकाः रसाः नवरसाः तैः रुचिरा—इति (तृतीया समास)।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।२।।

अनुवाद – इस ग्रन्थ में (इह) जो प्रतिपाद्य विषय (काव्य) है वह प्रयोजन-सहित है यह (काव्यं यशसे आदि कारिका में) बतलाते हैं—

काव्य (रचना) यश (प्राप्ति) के लिये, धन-अर्जन के लिये, व्यवहार ज्ञान के लिये अमङ्गल के विनाश या निवारण के लिये (शिवात् मङ्गलात् इतरद् अमङ्गलं तस्य क्षतये), तुरन्त ही परमानन्द (की प्राप्ति) के लिये (परा उत्कृष्टा निर्वृतिः आनन्दः तस्मै) तथा प्रियतमा के समान उपदेश देने के लिये (होता है) ।।२।।

प्रभा:—यहाँ यशसे (यश के लिये) आदि में तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति है, जैसे—मुक्तये हरिं भजति । अर्थकृत्—"अर्थस्य करणम् अर्जनम्" अर्थकृत् तस्मै (धन प्राप्ति के लिये) इस अर्थ में कृ धातु से क्विप् प्रत्यय (सम्पदादिभ्यः क्विप्, वार्तिक, सू० ३·३·७८) होता है । इसी प्रकार "व्यवहारस्य वेदनं ज्ञानमिति" व्यवहार-वित् तस्मै व्यवहारविदे (व्यवहार ज्ञान के लिये) तथा 'उपदेशस्य योजनम् उपदेशयुज् तस्मै उपदेशयुजे (उपदेश प्रदान के लिये) ।

टिप्पणी—प्राचीन काल से ही भारत के मनीषियों ने काव्य या साहित्य के प्रयोजन पर विचार किया है । "यहाँ कला कला के लिये" (Art for Art's Sake) की बात को नहीं माना गया और न आधुनिक उपयोगितावाद को ही काव्य-भूमि में प्रतिष्ठित किया गया है अपितु काव्य के दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयो-जन माने गये हैं । नाट्य या काव्य के प्रयोजन पर सर्वप्रथम भरत मुनि ने (ई० पू० शताब्दी) में विचार किया था । उनका कथन है—

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् । विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् । विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

अर्थात् नाट्य कला का प्रयोजन है—लोक का मनोरञ्जन एवं शोकाक्रान्त तथा परिश्रान्त जनों को विश्रान्ति प्रदान करना । भरत मुनि के पश्चात् ज्यों ज्यों साहित्यिक विवेचना का विकास होने लगा त्यों त्यों काव्य के प्रयोजन का भी विशद विवेचन किया गया । आलङ्कारिक आचार्य भामह के अनुसार—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च । करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।

अर्थात् सत्काव्य का अनुशीलन (१) धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्टय एवं कलाओं में निपुणता (२) यशः प्राप्ति तथा (३) प्रीति का कारण है ।

आचार्य भामह के पश्चात् रीतिवादी आचार्य वामन ने काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा— काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् (काव्या-लङ्कारसूत्रवृत्तिः १·१·५)

"कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्,"

अर्थात् सत्काव्य के दो प्रयोजन हैं—१. दृष्ट २. अदृष्ट। दृष्ट प्रयोजन है—प्रीति और अदृष्ट प्रयोजन है—कीर्ति। टीकाकारों के अनुसार यहां पर दो प्रकार की प्रीति विवक्षित है एक तो काव्य-श्रवण के अनन्तर सहृदयों के हृदय में होने वाला आनन्द और दूसरी इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहार से उत्पन्न होने वाला सुख। यहाँ कीर्ति को स्वर्ग का साधन माना गया है—"कीर्ति स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चित की।" इसी से कीर्ति को अदृष्ट प्रयोजन कहा गया है।

तदनन्तर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने भी 'प्रीति' को ही काव्य का प्रयोजन बतलाया—तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूम् (ध्वन्यालोक १:१) किन्तु ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनवगुप्त की 'प्रीति' की व्याख्या रीतिवादी आचार्यों की व्याख्या से भिन्न है। यह तो उस विलक्षण आनन्द का नाम है जो सहृदयों के हृदय की अनुभूति का विषय है, अथवा रसावादी आचार्य जिसे रसास्वादन या रसानुभूति कहते हैं। तभी तो आचार्य भोजराज की "कीर्ति प्रीतिं च विन्दति" (सरस्वती कण्ठाभरण १:४), इस उक्ति की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार रत्नेश्वर ने 'प्रीति' का इस प्रकार विवेचन किया है—"प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थसमुत्थः आनन्दः"। ध्वनिवादियों द्वारा प्रतिपादित काव्य के इस मुख्य प्रयोजन को बाद के आचार्यों ने अपना आदर्श वाक्य सा बना लिया। नवीन वक्रोक्तिवाद का उद्घाटन करते हुए भी आचार्य कुन्तक ने काव्य का यही प्रयोजन बतलाया—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।
(वक्रोक्तिजीवित १.४)

आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजन विषयक विभिन्नवादों का समन्वित रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। अपने से पूर्व समस्त आचार्यों (अलङ्कारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, वक्रोक्तिवादी तथा रसवादी) के मत का ही समन्वय उन्होंने नहीं किया अपितु काव्य को केवल कला का चमत्कार मानने वालों अथवा केवल मनोविनोद का साधन समझने वालों अथवा अर्थशास्त्र के उपयोगितावाद की कसौटी पर कसने वालों के समक्ष भी एक 'समन्वयदृष्टि' प्रस्तुत कर दी एवं "काव्यं यशसे" इत्यादि कारिका में काव्य के ६ प्रयोजनों का निरूपण किया।

अनुवाद—[यत्काव्यं यशः—धनम्—आचारपरिज्ञानम्—अनर्थनिवारणम्—आनन्दम् उपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोति—यह अन्वय है] जो काव्य (१) कालिदास आदि के समान यश (प्राप्ति), (२) श्री हर्ष इत्यादि से धावक आदि (कवियों) के समान धन (प्राप्ति), (३) राजा आदि के उचित आचार-व्यवहार (राजादिगतः राजविषयकः समुचिताचारः) का ज्ञान, (४) सूर्य आदि (की पूजा) से मयूर आदि कवियों के समान अमङ्गल का निवारण करता है।

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्य-:

प्रभा—'काव्यं यशसे' आदि कारिका तथा इसकी वृत्ति में आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया है। उनके अनुसार काव्य के ६ प्रयोजन हैं—

(१) काव्यं यशसे—काव्य यश के लिये होता है। काव्य निर्माण से कवि की कीर्ति का प्रसार होता है। कविकुलगुरु कालिदास ने काव्य द्वारा ही कीर्ति प्राप्त की थी। इसी प्रकार दण्डी, भारवि तथा बाण आदि ने काव्य द्वारा स्वकीर्ति का प्रसार किया था। यद्यपि कालिदास आदि ने काव्य-द्वारा धन भी प्राप्त किया; इसी प्रकार धावक आदि ने यश भी प्राप्त किया तथापि प्रधानता की दृष्टि से यहाँ पर नामनिर्देश किया गया है अर्थात् कालिदास के काव्य ने प्रधानतया उनकी कीर्ति का विस्तार किया।

(२) अर्थकृते—काव्य धन प्राप्ति के लिये होता है। कविजन काव्य-रचना करके धनोपार्जन करते रहे हैं। भोजप्रबन्ध में ऐसी अनेक कथाएँ संकलित हैं। हिन्दी-साहित्य का रीति-युग भी इसके लिये प्रसिद्ध ही है। यह भी लोक-प्रसिद्धि है कि धावक नामक कवि ने महाराज हर्ष के नाम से 'रत्नावली' नाटिका लिखी और पुष्कल धन-राशि प्राप्त की। वस्तुतः मध्य युग में अर्थ-प्राप्ति काव्य का विशेष प्रयोजन हो गया था।

(३) व्यवहारविदे—काव्य व्यवहार-ज्ञान के लिये होता है। रामायणादि महाकाव्यों के अनुशीलन से सहृदयों को राजा आदि के ही नहीं (आदि पद से गृहीत) मन्त्री, गुरु आदि तथा पिता-पुत्र, माता-पुत्र और भाई-भाई आदि के उचित आचार का ज्ञान होता है। राजा आदि के व्यवहारों का काव्य द्वारा सहज में ही ज्ञान होना सम्भव है, इतिहास आदि के द्वारा यह इतना सुलभ नहीं।

(४) शिवेतरक्षतये—शिव का अर्थ है, कल्याण या मङ्गल। शिव से भिन्न (इतर) शिवेतर=अमङ्गल। काव्य अमङ्गल निवारण के लिये होता है। यहाँ मम्मट ने मयूर कवि की कथा की ओर संकेत किया है। यह कवि हर्षवर्द्धन की राजसभा का रत्न था। परम्परा (मेरुतुङ्ग की प्रबन्ध चिन्तामणि आदि) के अनुसार महाकवि बाण इनका भगिनीपति एवं मित्र था। दैवात् बाण की पत्नी के शाप से इन्हें कुष्ठ रोग हो गया। कुष्ठरोगाक्रान्त मयूर कवि ने सूर्य भगवान् की स्तुति में सौ श्लोकों का एक काव्य रचा। उससे प्रसन्न होकर सूर्य ने उनके शरीर को नीरोग कर दिया। मयूर कवि का काव्य 'मयूरशतकम्' या 'सूर्यशतकम्' नाम से प्रसिद्ध है।

अनुवाद—(५) तथा जो (काव्य) उस (अपूर्व) आनन्द को उत्पन्न करता है जो (आनन्द) काव्य के (यश आदि) समस्त प्रयोजनों में मुख्य (मौलिभूत) है और काव्य-श्रवण के अनन्तर (तत्क्षण) ही रसास्वादन से आविर्भूत होता है एवं जिसमें अन्य सब पदार्थ (वेद्यान्तर=दूसरी जानने योग्य वस्तुएँ) विगलित अर्थात् तिरोहित

वत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥

हो जाते हैं। (६) और जो (काव्य) राजा या स्वामी के समान शब्द हैं प्रधान जिनमें ऐसे वेद आदि शास्त्रों से तथा मित्र के समान अर्थ में तात्पर्य रखने वाले पुराण तथा इतिहासों से विलक्षण है; क्योंकि रस के सहायक (अङ्गभूत) व्यापार (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोजन या व्यञ्जना) में तत्पर (प्रवण) होने के कारण उसमें शब्द और अर्थ दोनों की गौणता (गुणभाव) है. लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि की कृति वह (काव्य) प्रिया के समान सरसता उत्पन्न करके (श्रोता या पाठक को) अपने विषय की ओर अभिमुख करके 'राम के समान वर्तना चाहिये रावण के नहीं' इत्यादि उपदेश (इन ६ प्रयोजनों में से) यथायोग कवि तथा सहृदय के लिये करता है। उस काव्य के विषय में (तत्र) सब प्रकार से (निर्माण तथा आस्वाद में) प्रयत्न करना चाहिये।

प्रभा-(५) सद्यः परनिर्वृतये—काव्य तुरन्त (पढ़ने के साथ) ही आनन्द का अनुभव कराने के लिये है। ग्रन्थकार ने स्वयं 'सकल—आनन्दं' वाक्यांश द्वारा इसकी व्याख्या की है। यहां पर एक विलक्षण आनन्द को ही परनिर्वृति अर्थात् उत्कृष्ट आनन्द कहा गया है। आचार्य मम्मट के अनुसार इस अलौकिक आनन्द की अनुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। यह ऐसा प्रयोजन है जो अन्य समस्त प्रयोजनों में शीर्षण्य है। यह आनन्द रसास्वादन से निष्पन्न होता है तथा रसास्वादन रूप ही है। टीकाकारों के अनुसार 'रसास्वादन' इत्यादि का अर्थ है—रस= स्थायीभाव (रस्यते आस्वाद्यते), रसास्वादन=स्थायी भाव का विभावानुभाव सञ्चारी भावों से संयोजन, इस संयोजन के अनन्तर ही (अविलम्बेन) वह आनन्द, जो रसास्वादन रूप है निष्पन्न हो जाता है। यही सद्यः परनिर्वृति है। इस अलौकिक आनन्दाभूति के समय रसयिता को अन्य ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान नहीं रहता। तभी तो इस आनन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। समाधिस्थ योगी को जैसा आनन्द होता है वैसा ही काव्य-रसास्वादन का विलक्षण आनन्द है।

(६) कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे—काव्य प्रियतमा के समान उपदेश प्रदान करने के लिये है। ग्रन्थकार ने प्रभुसम्मित······'उपदेशं करोति' इस अवतरण में इसकी व्याख्या की है। अभिप्राय यह है कि किसी कार्य को करने के लिये प्रायः (क) प्रभुतुल्य, (ख) मित्र-तुल्य तथा (ग) कान्ता-तुल्य उपदेशों से बाह्य प्रेरणा मिला करती है। (क) वेद शास्त्रों का उपदेश राजा या स्वामी की आज्ञा के समान

है, उसमें शब्द अर्थात् शासन की प्रधानता है। जिस प्रकार कोई स्वामी सेवक को "तुम ऐसा करो" यह आदेश देकर किसी कार्य में नियुक्त कर देता है, उसी प्रकार वेद शास्त्र भी ज्योतिष्टोमादि इष्टसाधन में, श्येनयागादि अनिष्टसाधन में तथा विशेषफल रहित सन्ध्यावन्दनादि में मनुष्य को प्रवृत्त कर देते हैं। (ख) पुराण इतिहासादि का उपदेश मित्र के तुल्य है। जिस प्रकार कोई मित्र भली भांति प्रयोजन को समझाकर किसी कार्य के लिये प्रेरणा देता है इसी प्रकार पुराणेतिहासादि भी। (ग) तृतीय उपदेश कान्ता–तुल्य होता है। जिस प्रकार कोई प्रियतमा सरसता के साथ अपने पति को अपनी बात सुनाने के लिये अभिमुख करके किसी कार्य के लिये प्रेरणा देती है उसी प्रकार काव्य भी श्रोता को रसमग्न करके जीवनोपयोगी शिक्षा की ओर संकेत कर देता है। अतः काव्य का उपदेश कान्ता–सम्मित उपदेश है।

काव्य का उपदेश वेद शास्त्र तथा पुराणेतिहास आदि से विलक्षण है। क्यों ? बात यह है कि वह रस-योजना में तत्पर रहता है और उसमें वेद के समान शब्द की या पुराणेतिहास के समान अर्थ की प्रधानता नहीं होती अपितु उसमें शब्द और अर्थ दोनों गौण हुआ करते हैं तथा रस की प्रधानता रहती है; अर्थात् रस आदि की अभिव्यक्ति में सहायक जो विभाव आदि की योजना है अथवा जो व्यञ्जना रूप काव्य का व्यापार है, उसी में काव्य तत्पर रहता है। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि वह अलौकिक वर्णना में निपुण कवि की कृति है, उसमें किसी भाव का वर्णन ऐसा चमत्कारपूर्ण एवं सरसरूप से किया जाता है कि श्रोता या पाठक अनायास ही काव्य-प्रतिपाद्य विषय की ओर आकर्षित हो जाते हैं और उसमें रसमग्न होकर अनजाने में ही काव्य द्वारा अभिव्यक्त उपदेश को ग्रहण कर लेते हैं। The poet does not merely show the way, but giveth so sweet a prospect into the way, as will entice any man to inter into it. Sidney (Apology for poetry)—म० मङ्गानाथ झा द्वारा उद्धृत। इसी से काव्य का उपदेश प्रिया-तुल्य है। संक्षेप में वेद शास्त्रों के उपदेशों में शासिता का भाव है, उनमें सत्य का नग्न रूप है। पुराणेतिहास के उपदेशों में मित्रों के समान हित-बुद्धि है, सत्य के साथ हित्त्व की भावना का योग है; पर काव्य का उपदेश कान्ता के मधुर वचनों के समान सरस भी है उसमें सौन्दर्य है, हृदयग्राहिता है, उसमें 'सत्यं शिवं सुन्दर' का सामञ्जस्य है।

यथायोगं करोति—आचार्य मम्मट के विचार में काव्य के ६ प्रयोजनों में से कुछ का कवि के साथ सम्बन्ध है, कुछ का सहृदय सामाजिक के साथ और कुछ का दोनों के साथ। इनकी यथायोग्य सम्बन्ध-योजना को उन्होंने टीकाकारों की कल्पना के लिये ही छोड़ दिया है। व्याख्याकारों ने इस पर विचार करके विविध मत प्रस्तुत किये हैं। म० वामनाचार्य के मतानुसार यश, अर्थ तथा अनर्थ-निवारण का कवि में ही सम्बन्ध है, व्यवहार-ज्ञान तथा उपदेश का सहृदय में ही तथा परनिर्वृति का भी सहृदय से ही (रसास्वादनरूपो कोऽपि सहृदयानामपि [illegible] नहीं

सिद्धान्त मत प्रतीत होता है। तथापि विचारणीय है कि संस्कृत साहित्य के अनेक स्तोत्र काव्य पाठकों के द्वारा अनर्थ-निवारण के हेतु पढ़े जाते हैं, फिर क्या अनर्थ निवारण का सामान्यतः भी पाठक या सामाजिक से सम्बन्ध नहीं मानना चाहिये ? साथ ही कुछ विद्वानों का विचार है कि इन समस्त प्रयोजनो का कवि तथा सहृदय दोनो के साथ सम्बन्ध है। तो क्या व्यवहार-ज्ञान एवं उपदेश अथवा रसास्वादन का कवि से भी सम्बन्ध हो सकता है ?

जहाँ तक व्यवहार-ज्ञान की बात है कवि को अपने ही काव्य से व्यवहार-ज्ञान हुआ करता है, यह बात समझ में नहीं आती; क्योंकि काव्य तो कवि के विचार तथा भावों की अभिव्यञ्जना है। उपदेश के विषय में भी वही बात है। हाँ, संकल्पित विचारों एवं भावित भावों का हृदय पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, अतः कवि भी स्वकृति में ग्रथित विचारों से प्रभावित हो सकता है। किन्तु यह प्रभाव सामाजिक के उपदेश-ग्रहण से भिन्न प्रकार का होगा, इसमें सन्देह नही। फिर इसे उपदेश-ग्रहण की कोटि में रखा भी जा सकता है या नही, यह विचारणीय है।

कवि को रसानुभूति होती है या नही ? यह अत्यन्त विवादग्रस्त विषय रहा है। इस विषय में स्पष्ट दो मत हैं—प्रथम यह है कि रसास्वादन सहृदयों को ही होता है, कवि को नहीं। द्वितीय यह है कि रस-योजना में रसास्वादन या रसचर्वणा भी निहित है अतएव रस-योजना में तत्पर कविगण रसास्वादन भी करते ही हैं। दोनों मतों के समन्वयार्थ यह बात कही जाती है कि रसास्वादन काल में कवि भी सहृदय कोटि में आ जाता है। एक बात अवश्य है कि यदि सामाजिक के समान कवि को भी स्वकाव्य से रसानुभूति होती ही है तो दोनों की आनन्दानुभूति में एक विशेष अन्तर होता है, *दोनो भिन्न प्रकार की स्थितियाँ हैं तथा पृथक्-पृथक्* विचारणीय भी। वस्तुतः तो कवि का आनन्द सहृदय की रसानुभूति से विलक्षण ही है, जिसे मनीषियों ने 'स्वान्तः सुख' कहा है।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन अत्यन्त व्यापक हैं। इनमें उत्तम, मध्यम तथा अधम सभी प्रकार के काव्य-प्रयोजनों का समावेश हो जाता है। मम्मट ने काव्य का मुख्य (पारमार्थिक) प्रयोजन आनन्दानुभूति (परनिर्वृति) को स्वीकार किया है। किन्तु साहित्य तो जीवन की व्याख्या है तथा उसे जीवन से पृथक् नही किया जा सकता, अतएव सरसोपदेश भी काव्य का एक आवश्यक प्रयोजन माना जाता है तथा आचार्य मम्मट ने इसे मौलिभूत प्रयोजन के साथ समन्वित कर दिया है। उन्होने रस-योजना मे तत्पर काव्य के उपदेश के रूप में इसका निरूपण किया है। इस प्रकार मम्मट का दृष्टिकोण पाश्चात्य समीक्षकों के साथ एक अद्भुत साम्य रखता है—

To teach, to please, there are the poets aim, or at once to profit and to amuse. Horace—Ars poetica. (म० गङ्गानाथ झा द्वारा उद्धृत)

(ii) प्रायः सभी भारतीय साहित्य-समीक्षकों ने 'परम लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्टय' को साहित्य का प्रयोजन माना है। मम्मट से पूर्व भामह और कुन्तक ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया था; आचार्य वामन ने प्रीति में इसका समावेश किया था तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने कीर्ति आदि के समान आनन्द में ही इसका समावेश कर दिया था :—

"कवेस्तावत् कीर्त्याऽपि प्रीतिरेव सम्पाद्या। ...... श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।" (ध्वन्यालोकलोचन)

मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ कविराज आदि ने 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि, काव्यादेव'—यह स्पष्ट ही कहा है। फिर आचार्य मम्मट ने 'चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति' का काव्य-प्रयोजन के रूप में उल्लेख क्यों नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद शास्त्र तथा पुराणेतिहास से विलक्षण काव्य के शास्त्रोपदेश आदि में ही आचार्य मम्मट ने चतुर्वर्ग की प्राप्ति का समावेश कर लिया है। मम्मट ने जिस 'आनन्द' को काव्य का मौलिभूत प्रयोजन बतलाया है वह तो काव्य पठन या श्रवण के अनन्तर होने वाला रसात्मक आनन्द ही है, उसका स्वरूप प्राचीन आचार्यों की प्रीति के समान व्यापक नहीं अतः मम्मट के अनुसार वामन या अभिनवगुप्त के समान प्रीति (आनन्द) के भीतर 'चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति' का समावेश नहीं किया जा सकता, यह स्पष्ट ही है।

(iii) आचार्य मम्मट ने प्रायः सभी प्राचीन मतों का समन्वय कर दिया है। उनके काव्य प्रयोजनों के अन्तर्गत कीर्ति और प्रीति ही नहीं, कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञान के लिये शास्त्रोपदेश भी है। साथ ही उन्होंने यशःप्राप्ति, धन-लाभ और व्यावहारिक ज्ञान जैसे लौकिक प्रयोजनों को भी नहीं भुलाया है और अमङ्गल निवारण के धार्मिक दृष्टि-कोण को भी ध्यान में रखा है। काव्य-सम्बन्धी आधुनिक दृष्टि-कोण के विवेचन में भी मम्मट का काव्य-प्रयोजन-विचार महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है। संक्षेप में इसमें धर्मार्थकामादि जीवन का उपयोगितावादी दृष्टिकोण है, कर्तव्य-बोधन आदि आदर्शवादी दृष्टिकोण है, तथा शिवेतर क्षति के रूप में धार्मिक और विगलित-आनन्द-प्राप्ति के रूप में मनोरञ्जन, कलावाद एवं रसवादी दृष्टिकोण भी विद्यमान है।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

अनुवाद—इस प्रकार काव्य का प्रयोजन बतलाकर उसका (उद्भव एवं स्फुरण का) हेतु बतलाते हैं :—

(काव्य-रचना की) शक्ति, लोक (जीवन), शास्त्र तथा काव्य इत्यादि के निरीक्षण एवं अनुशीलन से होने वाली निपुणता (व्युत्पत्ति) और काव्यज्ञों (कवि एवं समीक्षकों) से शिक्षा प्राप्त करके अभ्यास करना—यह (तीनों मिलकर) उसके उद्भव का कारण है ॥३॥

टिप्पणी—कवि की विलक्षण कृति इस काव्य का उद्भव कैसे होता है ? कवि के व्यक्तित्व में कौनसी विशेष बात होती है, जिससे सहृदयों को आह्लादित करने वाले काव्य का स्फुरण हो जाता है। इन बातों पर विचार करके विवेचकों ने कवि के काव्यमय व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। आधुनिक आलोचक भी कविता-समीक्षा के लिये उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक समझते हैं।

भारतीय साहित्य-समीक्षकों में आलङ्कारिक भामह ने काव्य-हेतु का निम्न प्रकार से विवेचन किया था—

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ॥
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥ (काव्यालङ्कार २·५)

इस कथन से यह विदित होता है कि भामहाचार्य के विचार में प्रतिभा ही काव्य के उद्भव का मुख्य हेतु है, अन्य शब्दार्थ-ज्ञान इत्यादि हेतु तो अवश्य हैं, किन्तु सहायक मात्र हैं।

आचार्य दण्डी ने काव्य-हेतु-विवेचना को और भी परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया था—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥

इसके पश्चात् रीतिवादी आचार्य वामन ने भी—

'लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि'। (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति; १.३.१)

इस प्रकार काव्य-हेतु के रूप में तीन बातों का उल्लेख किया। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने भी काव्य के हेतु का यत्र तत्र उल्लेख किया है—'अनेन आनन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः'। ४·१

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।

राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' से यह भी विदित होता है कि 'मङ्गल' नामक कोई आचार्य 'अभ्यास' को काव्य का मुख्य हेतु मानते रहे।

आचार्य मम्मट ने काव्य-हेतु-विवेचन में सभी प्राचीन मतों का सार ग्रहण किया है और शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास को समुदित रूप से काव्य का हेतु बतलाया है। मम्मट के हेतु-विवेक पर आचार्य दण्डी के हेतु-विवेचन का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि दण्डी के (प्रतिभा, श्रुत और अभियोग) शब्द अवश्य ही मम्मट से भिन्न हैं। दण्डी ने भी तीनों को सम्मिलित रूप से ही काव्य का हेतु बतलाया था। साथ ही रुद्रट के काव्य-हेतु-विवेचन का भी काव्यप्रकाश पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य रुद्रट ने भी शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु बतलाया था—

'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः'।

अनुवाद—(१) शक्ति अर्थात् कवित्व का मूल कारण (बीजरूप) एक विशेष प्रकार का (स्वाभाविक) संस्कार; जिसके बिना काव्य का प्रादुर्भाव अथवा प्रसार नहीं हो सकता और यदि प्रादुर्भाव हो भी जावे तो वह (काव्य) उपहास का विषय होगा। (२) निपुणता=लोक अर्थात् जड़ चेतन रूप जगत् के व्यवहार, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण शब्दकोश, (नृत्यसंगीतादि) कला, पुरुषार्थ-चतुष्टय हाथी-घोड़े, तलवार आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों और महाकवियों के काव्यों तथा (यहाँ) 'आदि' शब्द द्वारा गृहीत इतिहासादि के अनुशीलन से होने वाली (काव्यविषयक) व्युत्पत्ति (निपुणता)। (३) जो काव्य-रचना तथा विवेचना करना जानते हैं (काव्यज्ञ) उनके उपदेश (शिक्षा) के अनुसार काव्य-निर्माण और शब्द-योजना (अथवा समीक्षा) में [illegible], अथवा (अभ्यास)—ये तीनों सम्मि-
लित रूप से न कि पृथक्-[illegible] हैं; (हेतु) न

शक्ति क्या है ? मम्मट के अनुसार कवित्व का मूलकारण (बीजरूप) एक विशेष प्रकार का संस्कार ही शक्ति है। अर्थात् कवि में एक सहज शक्ति होती है, जिसके कारण कवि-हृदय में कविता के भावों का प्रोद्भास होना रहता है। यह शक्ति जन-साधारण की अपेक्षा विलक्षण होती है, एक दिव्य-दृष्टि होती है। प्राचीन एवं अर्वाचीन समालोचकों द्वारा कथित 'प्रतिभा' का मम्मट ने शक्ति' नाम से उल्लेख किया है। यह काव्य की रचना का ही कारण नहीं है अपितु प्रतिभा में चमत्कार से ही कोई काव्य सहृदयजनों का आदरभाजन होता है। यदि किसी कवि में प्रतिभा नहीं है और वह हठात् काव्य-निर्माण कर लेता है, तो उसका काव्य उपहासास्पद ही होता है, सहृदयजन उसका आदर नहीं करते।

(२) निपुणता:—लोकवृत्त शास्त्र तथा काव्यादि के निरीक्षण एवं अनुशीलन से जो निपुणता प्राप्त होती है, वह भी काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष का हेतु है। 'निपुणता' शब्द का ही अर्थ ग्रन्थकार ने 'व्युत्पत्ति' किया है। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के विषय में भली-भाँति ज्ञान होना तथा रसादिविषयक दृढतर संस्कार हो जाना ही व्युत्पत्ति है अथवा पाण्डित्य को भी व्युत्पत्ति कहते हैं। जब प्रतिभाशाली कवि चराचर जगत् के व्यवहारों का निरीक्षण करता है तो उसे अनुभूति प्राप्त होती है। पिङ्गलादि छन्दःशास्त्र, पाणिनीय आदि व्याकरण, शब्द-कोश, नृत्यगीतादि ६४ कलाओं, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, गर्गादि अथवा कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र, वात्स्यायनादिकृत कामशास्त्र, न्याय आदि मोक्षशास्त्र तथा हाथी-घोड़ा आदि सम्बन्धी ग्रन्थ और धनुर्वेद के ग्रन्थ आदि (शास्त्रों) के अनुशीलन से विविध विद्याओं का ज्ञान एवं पाण्डित्य प्राप्त होता है। वाल्मीकि आदि कवियों के काव्यों के अध्ययन से रसादिविषयक संस्कार दृढ़ हो जाता है तथा काव्य-शैली आदि का सम्यक् बोध हो जाता है और रुचि भी परिष्कृत हो जाती है। ऐसा कवि इतिहासादि ग्रन्थों से आख्यानादि का आधार ग्रहण करके काव्य का निर्माण करता है, तो उसका काव्य उत्कृष्ट होता है। संक्षेप में लोकवृत्त-निरीक्षण, शास्त्रों का अनुशीलन, काव्य का आस्वादन तथा इतिहासादि के विमर्श से जो अनुभूति तथा पाण्डित्य प्राप्त होता है वही व्युत्पत्ति या निपुणता कही गई है।

(३) अभ्यास:—काव्यों से शिक्षा प्राप्त करके अभ्यास करना भी काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष का हेतु है। कारिका में काव्यज्ञ उनको कहा गया है, जो काव्य-रचना करना जानते हैं अथवा काव्य की आलोचना करते हैं। ऐसे सहृदयजनों से शिक्षा अथवा निर्देश-प्राप्त करके प्रतिभाशाली कवि बार-बार काव्य का निर्माण करता है तथा शब्दादि की सुन्दर योजना करता है, यही अभ्यास कहलाता है। यहाँ काव्यज्ञ का अर्थ है—कवि तथा समालोचक।

इति हेतुस्तदुद्भवे—कारिका के इस अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य मम्मट स्पष्ट करते हैं कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीनों मिलकर (समुदिताः)

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न्न तु हेतवः।

राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा से यह भी विदित होता है कि 'मङ्गल' नामक कोई आचार्य 'अभ्यास' को काव्य का मुख्य हेतु मानते रहे।

आचार्य मम्मट ने काव्य-हेतु-विवेचन में सभी प्राचीन मतों का सार ग्रहण किया है और शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास को समुदित रूप से काव्य का हेतु बतलाया है। मम्मट के हेतु-विवेक पर आचार्य दण्डी के हेतु-विवेचन का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि दण्डी के (प्रतिभा, श्रुत और अभियोग) शब्द अवश्य ही मम्मट से भिन्न हैं। दण्डी ने भी तीनों को सम्मिलित रूप से ही काव्य का हेतु बतलाया था। साथ ही रुद्रट के काव्य-हेतु-विवेचन का भी काव्यप्रकाश पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य रुद्रट ने भी शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सम्मिलित रूप में काव्य का हेतु बतलाया था—

'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः'।

अनुवाद—(१) शक्ति अर्थात् कवित्व का मूल कारण (बीजरूप) एक विशेष प्रकार का (स्वाभाविक) संस्कार; जिसके बिना काव्य का प्रादुर्भाव अथवा प्रसार नहीं हो सकता और यदि प्रादुर्भाव हो भी जाये तो वह (काव्य) उपहास का विषय होगा। (२) निपुणता=लोक अर्थात् जड़ चेतन रूप जगत् के व्यवहार, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण शब्दकोश, (नृत्यसंगीतादि) कला, पुरुषार्थ-चतुष्टय हाथी-घोड़े, तलवार आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों और महाकवियों के काव्यों तथा (यहाँ) 'आदि' शब्द द्वारा गृहीत इतिहासादि के अनुशीलन से होने वाली (काव्यविषयक) व्युत्पत्ति (निपुणता)। (३) जो काव्य-रचना तथा विवेचना करना जानते हैं (काव्यज्ञ) उनके उपदेश (शिक्षा) के अनुसार काव्य-निर्माण और शब्द-योजना (अथवा रसयोजना) में बार-बार लगना (अभ्यास)—ये तीनों सम्मिलित रूप से न कि पृथक्-पृथक् काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष के हेतु हैं (हेतुः) न कि काव्य-उद्भव के ये तीन पृथक्-पृथक् कारण हैं (हेतवः)।

प्रभाः—शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों सम्मिलित रूप में काव्य के स्फुरण का हेतु होते हैं। इन तीनों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

(१) शक्ति :—मम्मट ने काव्य-हेतु में शक्ति को प्रथम स्थान दिया है। यह

शक्ति क्या है ? मम्मट के अनुसार कवित्व का मूलकारण (बीजरूप) एक विशेष प्रकार का संस्कार ही शक्ति है। अर्थात् कवि में एक सहज शक्ति होती है, जिसके कारण कवि-हृदय में कविता के भावों का प्रोद्भास होता रहता है। यह शक्ति जन-साधारण की अपेक्षा विलक्षण होती है, एक दिव्य-दृष्टि होती है। प्राचीन एवं अर्वाचीन समालोचकों द्वारा कथित 'प्रतिभा' का मम्मट ने शक्ति' नाम से उल्लेख किया है। यह काव्य की रचना का ही कारण नहीं है अपितु प्रतिभा मे चमत्कार से ही कोई काव्य सहृदयजनों का आदरभाजन होता है। यदि किसी कवि में प्रतिभा नहीं है और वह हठात् काव्य-निर्माण कर लेता है, तो उसका काव्य उपहासास्पद ही होता है, सहृदयजन उसका आदर नही करते।

(२) निपुणता:—लोकवृत्त शास्त्र तथा काव्यादि के निरीक्षण एवं अनुशीलन से जो निपुणता प्राप्त होती है, वह भी काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष का हेतु है। 'निपुणता' शब्द का ही अर्थ ग्रन्थकार ने 'व्युत्पत्ति' किया है। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के विषय में भली-भांति ज्ञान होना तथा रसादिविषयक दृढ़तर सस्कार हो जाना ही व्युत्पत्ति है अथवा पाण्डित्य को भी व्युत्पत्ति कहते हैं। जब प्रतिभाशाली कवि चराचर जगत् के व्यवहारो का निरीक्षण करता है तो उसे अनुभूति प्राप्त होती है। पिङ्गलादि छन्दशास्त्र, पाणिनीय आदि व्याकरण, शब्द-कोश, नृत्यगीतादि ६४ कलाओं, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, गर्गादि अथवा कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र, वात्स्यायनादिकृत कामशास्त्र, न्याय आदि मोक्षशास्त्र तथा हाथी-घोड़ा आदि सम्बन्धी ग्रन्थ और धनुर्वेद के ग्रन्थ आदि (शास्त्रों) के अनुशीलन से विविध विद्याओं का ज्ञान एवं पाण्डित्य प्राप्त होता है। वाल्मीकि आदि कवियों के काव्यों के अध्ययन से रसादिविषयक संस्कार दृढ़ हो जाता है तथा काव्य-शैली आदि का सम्यक् बोध हो जाता है और रुचि भी परिष्कृत हो जाती है। ऐसा कवि इतिहासादि ग्रन्थों से आख्यानादि का आधार ग्रहण करके काव्य का निर्माण करता है, तो उसका काव्य उत्कृष्ट होता है। संक्षेप में लोकवृत्त-निरीक्षण, शास्त्रों का अनुशीलन, काव्य का आस्वादन तथा इतिहासादि के विमर्श से जो अनुभूति तथा पाण्डित्य प्राप्त होता है वही व्युत्पत्ति या निपुणता कही गई है।

(३) अभ्यास:—काव्यों से शिक्षा प्राप्त करके अभ्यास करना भी काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष का हेतु है। कारिका में काव्यज्ञ उनको कहा गया है, जो काव्य-रचना करना जानते हैं अथवा काव्य की आलोचना करते हैं। ऐसे सहृदयजनों से शिक्षा अथवा निर्देश प्राप्त करके प्रतिभाशाली कवि बार-बार काव्य का निर्माण करता है तथा शब्दादि की सुन्दर योजना करता है, यही अभ्यास कहलाता है। यहाँ काव्यज्ञ का अर्थ है—कवि तथा समालोचक।

इति हेतुस्तदुद्भवे—कारिका के इस अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य मम्मट स्पष्ट करते है कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीनों मिलकर (समुदिताः)

काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष का हेतु है अर्थात् इनकी कारणता दण्डचक्रादि न्याय से है—जिस प्रकार दण्ड चक्र आदि सभी मिलकर घट-निर्माण करते हैं, इसी प्रकार शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों परस्पर-सापेक्ष हो कर ही काव्योद्भव के हेतु हैं; अलग अलग (व्यस्ताः) नहीं। अतः इनकी कारणता तृणारणिमणि न्याय से नहीं है—जिस प्रकार तिनकों से अरणि और मणि की अपेक्षा किये बिना ही आग जलाई जाती थी और अरणि नामक काष्ठ-विशेष से भी तथा सूर्यकान्त मणियों की सहायता से भी स्वतन्त्र रूप से आग जलाई जाती थी, वे तीनों अलग अलग अग्नि जलाने के कारण माने जाते हैं, इस प्रकार यहाँ शक्ति, निपुणता और अभ्यास पृथक् पृथक् काव्योद्भव के कारण नहीं। ये तीनों मिल कर एक कारण बनाते हैं। अतएव 'हेतु' इस एकवचन का प्रयोग इनके लिये किया गया है, 'हेतवः' इस बहुवचन का नहीं। अभिप्राय यह है कि चाहे काव्य की उत्पत्ति इनमें से एक २ हेतु से भी हो जाये किन्तु उत्कृष्ट काव्य की उत्पत्ति के लिये तीनों का साथ-साथ होना अनिवार्य है (उद्भव=उत्कृष्ट उत्पत्ति)।

टिप्पणीः—(क) उपर्युक्त व्याख्या से प्रतीत होता है कि मम्मट ने 'शक्ति' शब्द का प्रयोग प्रतिभा के पर्याय रूप में किया है पहले आनन्दवर्द्धनाचार्य तथा अभिनवगुप्त ने भी शक्ति और प्रतिभा में एकरूपता स्वीकार की थी—

शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्। (ध्वन्यालोकलोचन)

उन्होंने प्रतिभा को काव्य का बीजरूप ही नहीं माना था अपितु अपूर्व वस्तु का निर्माण करने वाली एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा कहा था। ऐसी प्रज्ञा जो सर्वदा नूतन निर्माण में समर्थ होती है। "प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा"। मम्मट के प्रतिभाविषयक मन्तव्य पर जहाँ ध्वनिवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है वहाँ रीतिवादी वामन का प्रभाव भी स्पष्ट है। यद्यपि वामन ने प्रतिभा का मुख्य रूप से उल्लेख नहीं किया 'प्रकीर्ण' में ही उसका समावेश किया है तथापि मम्मट की शक्ति की व्याख्या काव्यालङ्कार सूत्र की छाया सी लगती है—कवित्व-बीजं प्रतिभानम्। कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्, यस्मात् विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वाऽवहास्यायतनं स्यात्।

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १·३·१६)

इन प्राचीन आचार्यों से प्रभावित होकर भी मम्मट ने 'शक्ति' को नवीन रूप में प्रकट किया है। मम्मट के पूर्ववर्ती राजशेखर ने शक्ति के दो कार्य माने थे—प्रतिभा और व्युत्पत्ति; अर्थात् प्रतिभा और शक्ति को एक रूप न मानकर भिन्न माना था—"शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी" (काव्यमीमांसा ४) मम्मट ने इस शक्ति और प्रतिभा के भेद को न मानकर शक्ति और प्रतिभा को एक रूप में निरूपित किया प्रतिभा के दो भेदों को भी अमान्य ठहराया तथा ध्वनिवादियों के साथ रीतिवादियों का समन्वय कर दिया।

(ख) निपुणता या व्युत्पत्ति की व्याख्या में भी मम्मट की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का दर्शन होता है। वामनाचार्य ने विद्या को काव्य का अङ्ग माना है और लोकवृत्त-ज्ञान तथा शास्त्रों के परिज्ञान को काव्य-रचना के लिये आवश्यक बतलाया है। उन्होंने छन्द आदि का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। अलङ्कारवादी आचार्य रुद्रट ने भी व्युत्पत्ति का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥ (काव्यालङ्कार १·१८)

इस प्रकार रुद्रट ने वामन के लोकवृत्त-ज्ञान, तथा विद्या इत्यादि को व्युत्पत्ति में समन्वित कर दिया। तदनन्तर ध्वनिवादियों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा-स्फुरण के साधन के रूप में प्रस्तुत किया—

शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्।
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगि समस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् ॥
(ध्वन्यालोकलोचन ३)

यहाँ "तदुपयोगि" शब्द का ग्रहण किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि प्रतिभा के स्फुरण में सहायक तथा वस्तु-विमर्श से उत्पन्न निपुणता को ही ध्वनिवादी 'व्युत्पत्ति' कहते हैं। आचार्य मम्मट के 'व्युत्पत्ति' के स्वरूप में इन सभी मतो का सार समन्वित है। लोकवृत्त-निरीक्षण, शास्त्रो के अवेक्षण और काव्यो के अनुशीलन से उत्पन्न होने वाली निपुणता ही व्युत्पत्ति है। यह व्युत्पत्ति काव्य के उद्भव में प्रतिभा की सहायक है। यह निपुणता कवि की कृतियों मे स्पष्ट झलका करती है।

(ग) अभ्यास—मम्मट के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने अभ्यास के विविध स्वरूप उपस्थित किये थे। भामह के अनुसार अभ्यास का स्वरूप है—

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यसमादरः ॥
(काव्यालङ्कार १·१०)

वामन ने 'अभियोग' अर्थात् काव्य-रचना का अभ्यास, वृद्धसेवा और पदन्यास एवं वाक्यविन्यास का अभ्यास (अवेक्षण) आदि के रूप में अभ्यास को समुपस्थित किया था। राजशेखर ने—'अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते' (काव्यमीमांसा), इस प्रकार से निरन्तर अभ्यास को काव्य-रचना का हेतु बतलाया था। ध्वनिवादी अभिनवगुप्त ने भी सहृदय शब्द की व्याख्या करते हुए अभ्यास का स्वरूप इस प्रकार दिखलाया था—'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः'। (ध्वन्यालोकलोचन १·१)।

इन सभी का समन्वित रूप मम्मटकृत अभ्यास की व्याख्या में उपलब्ध

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ॥

होता है। उनकी व्याख्या वामन तथा रुद्रट के अभ्यास-निरूपण से प्रभावित सी प्रतीत होती है।

अनुवाद—इस प्रकार इस (काव्य) के कारण को बतलाकर (ग्रन्थकार) उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं।

[शब्दार्थौ तत् (काव्यम्)—यह अन्वय है] ऐसे शब्द और अर्थ काव्य हैं जो (काव्यत्व-विघातक) दोषों से रहित हैं, (माधुर्यादि) गुणों से युक्त हैं और चाहे कहीं (स्फुट) अलङ्कार रहित भी हैं। (१)

[अलङ्कृतिः अलङ्कारः, नास्ति अलङ्कृतिः ययोः तौ (शब्दार्थौ) अनलङ्कृती अर्थात् ऐसे शब्द और अर्थ जिनमें अलङ्कार-योजना न हो]।

टिप्पणी—मम्मट के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अनेक आचार्यों ने काव्य-स्वरूप पर विचार किया है। अलङ्कारवाद के प्रवर्तक भामह का लक्षण है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ में विशेष प्रकार का सहभाव है; अलङ्कार योजना के द्वारा उनका सौन्दर्य बढ़ गया है, ऐसे विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। दण्डी के मत में 'अलङ्कृत शब्दार्थयुगल' ही काव्य का स्वरूप है। उनके अनुसार काव्य का लक्षण है—'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली।' रीतिवादी आचार्य वामन ने अलङ्कारवादियों के लक्षण को कुछ अधिक सूक्ष्म बनाने का प्रयास किया है—

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् (१·१·१)—काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते (वृत्ति)। सौन्दर्यमलङ्कारः (१·१·२)

इस प्रकार वामन ने अलङ्कार का अर्थ 'सौन्दर्य' किया। इसी सौन्दर्य के कारण काव्य उपादेय होता है, तथा वास्तव में माधुर्यादि गुण और सौन्दर्य से अलङ्कृत शब्द और अर्थ ही काव्य है, केवल शब्द और अर्थ के लिए काव्य शब्द का व्यवहार गौण है, यह भी बतलाया।

ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि विशेष रूप से काव्य की आत्मा की ओर रही। काव्य के शरीर रूप से प्रसिद्ध शब्द और अर्थ की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया। ध्वनिकार के "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" अथवा 'सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्' आदि के द्वारा काव्य की आत्मा ध्वनि, आह्लाद अथवा रस की ओर आलोचकों का ध्यान गया। किन्तु यह लक्षण भी विशेषतया सामाजिक की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण रहा। काव्य का ऐसा स्वरूप इसके द्वारा प्रस्तुत न किया जा सका जो सर्वाङ्गीण हो।

राजशेखर ने काव्यपुरुष की कल्पना करके काव्य-स्वरूप में शब्द, अर्थ, गुण,

दोषगुणालङ्काराः वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥१॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता ॥

रस और अलङ्कार सभी का सामञ्जस्य करने का प्रयास किया। वक्रोक्तिकार कुन्तक ने भी यद्यपि 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' यह मानते हुए 'विदग्धभङ्गिभणिति' को ही काव्य बतलाया तथापि काव्य-स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसके सभी अङ्गों की ओर ध्यान दिया। तदनन्तर काव्य-लक्षण में समन्वय की ओर प्रवृत्ति बढ़ती रही। एक ओर भोजराज ने काव्य का यह स्वरूप बतलाया—

अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण)

दूसरी ओर क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राण कहा—

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

इन सभी लक्षणों का समन्वित रूप आचार्य मम्मट के काव्य-स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'. मम्मट के पश्चात् साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहते हुए मम्मट के काव्यलक्षण में दोष दिखलाये तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने (रस-गङ्गाधर में) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस प्रकार से काव्यस्वरूप का विवेचन किया; किन्तु मम्मट के लक्षण की व्यापकता उनमें नहीं मिलती।

अनुवाद—(काव्य कहे जाने वाले शब्द और अर्थ के) दोष, गुण और अलङ्कारों का निरूपण आगे (सप्तम उल्लास में दोष, अष्टम में गुण तथा नवम और दशम में अलङ्कार) किया जावेगा। (अनलङ्कृती पुनः क्वापि में) क्वापि अर्थात् 'कहीं पर' ऐसा कहने से (अभिप्राय यह है) प्रायः सर्वत्र अलङ्कृत शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं; किन्तु यदि कहीं पर स्फुट (स्पष्ट) अलङ्कार न भी हो तो वहाँ (अदोषता और सगुणता होने पर) काव्यत्व की हानि नहीं होती। जैसे—"यद्यपि मेरा प्रियतम वही है जिसने मेरे कौमार्य का हरण किया; ये वे ही चैत्र की रात्रियाँ हैं, विकसित मालती की सुगन्ध वाली, कदम्ब नामक वृक्षों से बहने वाली उन्मादक (प्रौढाः-रत्युद्दीपकाः) हवाएँ भी वही हैं (जो पहले थीं) और मैं (अस्मि='अहम्' अर्थ में अव्यय) भी वही हूँ, (कोई दूसरी नहीं) तथापि वहाँ नर्मदा के तट पर (रेवारोधसि) वेत्रलता के नीचे सुरत हेतु (गमनादि) व्यापार सम्बन्धी लीला

(वेशरचना आदि) सम्पादन (लीला-विधौ) के लिए मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है।"

इस पद्य में कोई स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाला (स्फुट) अलङ्कार नहीं है और (विप्रलम्भशृङ्गार) रस की प्रधानता होने के कारण यह यहाँ अलङ्कार नहीं है (अर्थात् रसवत् आदि अलङ्कार भी यहाँ नहीं है)॥

प्रभाः—काव्य का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य मम्मट ने उस शब्दार्थ-युगल को काव्य कहा है जो दोष-रहित हो तथा गुणसहित हो और जो अलङ्कारों से अलङ्कृत हो, किन्तु यदि कहीं स्पष्ट अलङ्कार न भी हों तो भी काव्यत्व की क्षति नहीं होती है। इस प्रकार काव्य के लक्षण में चार अंश हैं। (१) शब्दार्थौ तत् (काव्यम्) कीदृशौ ? (कैसे शब्द और अर्थ काव्य हैं) ? (२) अदोषौ (३) सगुणौ (४) अनलङ्कृती पुनः क्वापि। यहाँ पर अदोषौ, सगुणौ तथा अनलङ्कृती पुनः क्वापि—ये तीन शब्दार्थों के विशेषण हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने प्रत्येक पद की व्याख्या विस्तार से की है।

(१) शब्दार्थौ ततः—शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य हैं। इस कथन में शब्द और अर्थ के विशिष्ट साहित्य (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) की ओर संकेत है। इसके द्वारा सामान्य वाङ्मय इतिहासादि से साहित्य या काव्य को पृथक् किया जाता रहा है। प्राचीन विवेचकों की यह भी मान्यता रही है कि शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है—काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। अतः यहाँ विशिष्ट प्रकार के शब्दार्थ-युगल को ही काव्य कहा गया है। सहृदयाह्लादकारिता अथवा रसव्यञ्जकता आदि शब्दार्थयुगल में ही है तथा काव्यं श्रुतं, काव्यं पठितं एवं काव्यं बुद्धम् इत्यादि व्यवहार से भी शब्दार्थयुगल काव्य कहलाता है, यह बात स्पष्ट ही है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ का यह आक्षेप कि शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं है, भी अयुक्त ही है। वस्तुतः नागेशभट्ट आदि रसगङ्गाधर के टीकाकारों ने ही उनके आक्षेपों का निराकरण कर दिया है।

(२) अदोषौः—यह शब्दार्थ-युगल का विशेषण है। दोषरहित शब्दार्थ-युगल ही काव्य पद का अधिकारी है। किन्तु संसार में सर्वथा दोषरहित तो कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए भाव यह है कि काव्यत्व के विघातक जो च्युतसंस्कृति आदि दोष हैं वे नहीं होने चाहियें। आचार्य मम्मट के विचार में दोष रसादि के अपकर्षक या विघातक होते हैं, गुणों का अभाव मात्र ही दोष नहीं हैं। इसी हेतु 'सगुणौ' से पृथक् 'अदोषौ' पद दिया गया है। अभिप्राय यह है कि यदि कोई कविकृति सहृदयों के हृदय को आह्लादित करती है किन्तु उसमें कोई शास्त्रोक्त दोष भी है पर यह दोष काव्यत्व का विघातक नहीं तो उसके काव्य होने में कोई सन्देह नहीं। अतः मम्मट के इस लक्षण में अदोषता का वही अभिप्राय है जो प्राचीन आचार्यों ने निम्न शब्दों में निरूपित किया है—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता। दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

अर्थात् जिस प्रकार कीटानुविद्ध रत्न भी रत्न ही है इसी प्रकार जिस शब्दार्थ-युगल में रसादि की स्पष्ट योजना है उसमें यदि कोई दोष भी हो तो भी वह काव्य ही है।

(३) सगुणौ:—(i) सगुणता भी शब्दार्थयुगल का विशेषण है। माधुर्य ओज और प्रसाद नामक गुणों से विशिष्ट दोषरहित शब्दार्थयुगल काव्य हैं, गुणरहित शब्दार्थयुगल काव्य नहीं। यद्यपि मम्मट के मत मे गुण रसनिष्ठ है, (ये रसस्याङ्गिनो धर्माः) तथापि परम्परा से ये शब्द और अर्थ के भी धर्म कहे जाते हैं, क्योंकि रस की अभिव्यञ्जना शब्द और अर्थ द्वारा ही होती है। मम्मट ने कहा भी है—गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता (सूत्र ६५) अर्थात् माधुर्यादि गुणों को गौणरूप से शब्दार्थनिष्ठ माना जाता है। इस प्रकार यहाँ गुण शब्द गुणाभिव्यञ्जक अर्थ में है; अर्थात् गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ। अतएव नीरस काव्य में भी यह लक्षण घटित हो जाता है (उद्योत), क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ नीरस काव्य में भी रह सकते हैं; किन्तु उसमें रस का अभाव होने के कारण माधुर्य आदि गुणों का होना तो सम्भव नही है (रसाभावे गुणाभावात्)। (ii) सगुणता विशेषण से शब्दार्थसाहित्य रूप काव्य की सहृदयाह्लादकता अथवा रसाभिव्यञ्जकता भी प्रकट होती है। अतः रसवादियों एवं ध्वनिवादियों के काव्य-स्वरूप का भी इसमें समन्वय हो जाता है। साथ ही सगुणता औपचारिक रूप में मध्यम तथा अधम काव्य में भी विद्यमान रहती है; क्योंकि उनके लिए भी यह मधुर है तथा यह ओजस्वी है इत्यादि गौण व्यवहार हुआ करता है अतः मध्यम और अधम काव्य भी इससे लक्षित हो जाते हैं। यदि 'सगुणौ' के स्थान पर 'सरसता' या 'रसवत्ता' को विशेषण बनाया जाये तो वह भी औपचारिक ही होगा, क्योंकि रसानुभूति तो सहृदयों के हृदय में होती है, काव्य तो केवल उसका प्रयोजक है अर्थात् शब्दार्थयुगल या वाक्य को रसवत् कहना उपचारमात्र ही प्रतीत होता है। साथ ही जिन काव्यों में वस्तु तथा अलङ्कार की प्रधानता है, उनमें रसात्मकता का लक्षण अव्याप्त है। मम्मट का 'सगुणौ' विशेषण ही इसके लिये उपयुक्त है।

(४) अनलङ्कृती पुनः क्वापिः—टीकाकारों का विचार है कि अनलङ्कृती शब्द में नञ् ईषदर्थक (अल्पतावोधक) है, इस अल्पता का अर्थ है—अस्फुटता। अतः जिन्हें काव्य कहा जाता है ऐसे शब्दार्थ प्रायः अलङ्कार युक्त होते हैं; किन्तु यदि कहीं पर स्फुट अलङ्कार की प्रतीति न होती हो तो भी शब्दार्थसाहित्य में अदोषता एवं सगुणता के रहने के कारण काव्यत्व स्वीकार करना पड़ता है—यह तात्पर्य है। 'सालङ्कारौ' मात्र कहने से यह तात्पर्य प्रकट नही होता अतः मम्मट ने अलङ्कारसहितौ या सालङ्कारौ पद का प्रयोग नही किया। भाव यह है कि अलङ्कारों की स्फुटता काव्यत्व के लिये अनिवार्य नही। कहीं-कहीं अलङ्कारों के स्फुट न होने पर भी काव्य होता ही है; किन्तु स्फुट तथा अस्फुट दोनों प्रकार के अलङ्कार से शून्य शब्दार्थयुगल मम्मट के मत मे काव्य नहीं होता। स्फुट अलङ्कार-रहित काव्य का उदाहरण है—'यः कौमारहरः' इत्यादि।

अत्र स्फुटो न'''अलङ्कारताः—शिलाभट्टारिका नामक काश्मीरी कवयित्री के "यः कौमारहरः" आदि उदाहरण में एक नायिका की मनोदशा का वर्णन किया गया है। उसकी प्रियतम के प्रति नित्य नवीन उत्कण्ठा का वर्णन है। यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। मम्मट के विचार मे यहाँ किसी अलङ्कार की स्फुट प्रतीति नही होती फिर भी यह उत्तम काव्य है। कविराज विश्वनाथ ने यहाँ विभावना और विशेषोक्ति मूलक सन्देह संकर की स्फुट प्रतीति मानी है, किन्तु काव्यप्रकाश की प्रदीप तथा उद्योत टीकाओं ने विश्वनाथ के मत का स्पष्टतया खण्डन किया है।

भाव यह है:—कारण का अभाव होने पर भी कार्योत्पत्ति का वर्णन विभावना है। वर तथा अन्य उपकरणों की अनुपभुक्ति (=उपभोग न करना) उत्कण्ठा का कारण है। उस कारण (अनुपभुक्ति) के न होने पर भी उत्कण्ठा के होने का वर्णन किया गया है, अतः विभावना है। किञ्च, कारण के होने पर भी कार्य के अभाव का वर्णन विशेषोक्ति है। यहाँ उपभुक्तता (उपभोग कर लेना) अनुत्कण्ठा का कारण है। उस उपभुक्तता के होने पर भी अनुत्कण्ठा नही होती, अतः विशेषोक्ति है। किन्तु ये दोनों ही अलङ्कार यहाँ स्फुट नही। यहाँ 'न' शब्द के द्वारा ('चेतोऽनुत्कण्ठितं न' इत्यादि) कारण या कार्य का अभाव नही बतलाया गया, अपितु उनकी *अर्थतः (आर्थी) प्रतीति हो रही है। इस प्रकार यहाँ विभावना और विशेषोक्ति* अस्फुट हैं तथा उनके अस्फुट होने के कारण उनके आधार पर होने वाला सन्देह संकर भी अस्फुट है (मि० बाल०)।

यहाँ अलङ्कारवादियों की ओर से यह शङ्का होती है कि विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रतीति होने से इस पद्य मे 'रसवत्' नामक अलङ्कार तो स्पष्ट है ही फिर यह अलङ्कार-रहित कैसे है ? इसके उत्तर में मम्मट का यही कहना है कि जहाँ रस की प्रधानता होती है वहाँ रसवत् अलङ्कार नही होता और यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस की प्रधानता है अतः रसवत् अलङ्कार नही हो सकता। यहाँ उनके मत के अनुसार ही शङ्का तथा समाधान किया गया है। आचार्य मम्मट ने तो 'रसवत्' अलङ्कार की अलङ्कारों मे गणना ही नहीं की।

इस प्रकार काव्य का लक्षण है—काव्यत्व विघातक दोषों से रहित, गुणों के अभिव्यञ्जक, स्फुट या अस्फुट अलङ्कारों से युक्त शब्दार्थयुगल काव्य है। इसका लक्ष्य चार प्रकार का काव्य होगा—१. सरस स्फुटालङ्कार सहित; २. सरस अस्फुट अलङ्कार सहित; ३. नीरस स्फुटालङ्कार सहित; ४. नीरस अस्फुट अलङ्कार सहित। यहाँ शब्दार्थयुगल की अदोषता, गुणाभिव्यञ्जकता तथा अलङ्कारयुक्तता तीनों ही काव्यत्व के लिये अनिवार्य हैं।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट के काव्य-स्वरूप-विचार पर अनेक आचार्यों ने आक्षेप किये हैं। इन आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होने इस लक्षण के सभी पदों पर आक्षेप किये हैं। उनका कहना है कि यदि सर्वथा दोष रहित को काव्य कहा जाय तो *"न्यक्कारो ह्ययमेव"* इत्यादि ध्वनि काव्य में 'विधेयाविमर्श' दोष है अतः यह भी काव्य के क्षेत्र से निकल जायेगा; किन्तु ध्वनि-तत्त्व के पोषक आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे ध्वनि के सुन्दर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यदि 'अदोषौ' का अर्थ है—'ईषद्दोषौ' अर्थात् 'अल्पदोषयुक्त शब्दार्थयुगल' तब तो कहने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि कीटानुविद्धरत्नवत्

तद्भेदान् क्रमेणाह—

(२) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

रसादियुक्त काव्य श्रुतिकटुता आदि दोष होने पर भी काव्य ही है। दर्पणकार के इन आक्षेपों का टीकाकारों ने विस्तार से उत्तर दिया है। संक्षेप में उनके अनुसार 'अदोषौ' का अभिप्राय है कि काव्यत्व के विघातक दोषों से रहित शब्दार्थयुगल काव्य है. किन्तु विधेयाविमर्श दोष उक्त पद्य में काव्यत्व का विघातक नहीं है। और, 'अदोषौ का 'ईषद्दोषौ' अर्थ मम्मट को अभिप्रेत ही नहीं है अतः दर्पणकार का आक्षेप निरर्थक है।

साहित्यदर्पणकार "सगुणौ" पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि गुण तो रस के धर्म हैं फिर इन्हें शब्दार्थ के धर्म कहना उचित नहीं और यदि "सगुणौ" का अर्थ "गुणाभिव्यञ्जकौ" भी माना जाये तो भी यह विशेषण असंगत है; क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य में उत्कर्षाधायक है, उसके स्वरूपाधायक नहीं। दर्पणकार के इस आक्षेप का उत्तर यही दिया गया है कि काव्य का स्वरूप भी गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ की अपेक्षा करता है।

"अनलङ्कृती पुनः क्वापि" पर आक्षेप करते हुए दर्पणकार ने कहा है कि अलङ्कृत शब्दार्थ काव्य में उत्कर्ष उत्पन्न करते हैं, वे उसके स्वरूप के अङ्ग नहीं हैं। वस्तुतः काव्य का सार है चमत्कार, अलङ्कार भी चमत्कार के हेतु हैं अतएव काव्य स्वरूप के अङ्ग हैं, ही। फिर भी इस पद से मम्मट ने अलङ्कारों की गौणता की ओर अवश्य सङ्केत किया है। इस प्रकार इस विशेषण से मम्मट के काव्य-लक्षण में काव्य-कला तथा काव्य-रस के महत्त्व का समन्वय भी हो जाता है तथा अलङ्कार शास्त्र की काव्य-सम्बन्धी विशेषताओं का संग्रह हो जाता है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मम्मट का काव्य-लक्षण सामाजिक तथा कवि दोनों की दृष्टि से पूर्ण है, कृति और अनुभूति दोनों से सम्बन्ध रखने वाला है। इसमें प्राचीन मतों का समन्वित रूप है। अलङ्कारवादी, रीतिवादी 'वक्रोक्तिकार 'ध्वनिवादी सभी सम्प्रदायों के काव्यलक्षण इसमें आ मिलते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण के "निर्दोषं गुणवत्" आदि काव्य-स्वरूप के साथ इसका अत्यधिक साम्य है। दर्पणकार या पण्डितराज जगन्नाथ ने इसकी कटु आलोचना अवश्य की है, किन्तु वे इससे अधिक व्यापक और सर्वग्राह्य काव्य-लक्षण न दे सके। वस्तुतः तो काव्य का स्वरूप अलौकिक है, काव्य तो लोकोत्तर-वर्णना-निपुण कवि-कर्म है। उसे लक्षण या परिभाषा के पिंजरे में कैसे बांधा जा सकता है।

अनुवाद—उस (काव्य) के भेदों को क्रमशः कहते हैं :—

[वाच्याद् व्यङ्ग्ये अतिशयिनि इदं (काव्यं) उत्तमं (तदेव) बुधैः ध्वनिः कथितः—यह अन्वय है।]

यह (काव्य) वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) के बढ़ जाने पर अर्थात् अधिक चमत्कार-जनक होने पर उत्तम (काव्य) होता है। उसे ही पण्डितों (काव्य-मर्मज्ञों) ने 'ध्वनि' कहा है। (२)

इदमिति काव्यं बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

टिप्पणी:—काव्य के भेद प्रभेदों पर प्राचीनकाल से ही विचार किया जाता रहा है भामहाचार्य ने काव्य के दो भेद किये थे-गद्य काव्य और पद्य काव्य। उन्होंने वृत्तबन्ध और अवृत्तबन्ध दो प्रकार की रचना की दृष्टि से ये भेद किये थे। रीतिवादी आचार्य वामन ने भी काव्य के इन दो प्रकारों का निरूपण करके (काव्यं गद्यं पद्यञ्च, काव्यालङ्कारसूत्र १·३·२१) गद्य और पद्य के भी रचना के अनुसार अनेक प्रभेद किये। उन्होंने प्राचीन आचार्यों की "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" यह उक्ति देकर गद्य को प्राथमिकता दी तथा गद्य-पद्य रूप काव्य के दो भेद किये प्रबन्ध तथा मुक्तक—तदनिबद्धं निबद्धञ्च (१·३·२७)। उन्होने प्रबन्ध काव्यों में दस प्रकार के रूपक नाटकादि को श्रेष्ठ बतलाते हुए कहा—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः (१·३·३०)। आचार्य दण्डी ने 'गद्य' और 'पद्य' नामक दो काव्य-भेदों में 'मिश्र' नामक तीसरा भेद और जोड़ दिया। दण्डी ने गद्य-पद्य-मिश्रित नाटकों का काव्य में अन्तर्भाव करने के लिये 'मिश्र' नामक काव्य-भेद की उद्भावना की, यद्यपि प्राचीन काल में ही भरत मुनि नाटक को 'काव्य' बतला चुके थे।

भामह और दण्डी ने भाषा के आधार पर भी काव्य के तीन भेद किये—१. संस्कृत काव्य, २. प्राकृत काव्य, ३. अपभ्रंश काव्य,। रुद्रट ने इनमें ३ प्रकार और जोड़ दिये—४. मागध काव्य, ५. पैशाच काव्य और ६, शौरसेन काव्य। इसी प्रकार अलङ्कार और रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य के अन्य भी भेद प्रभेद किये, जिनमें महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, चम्पू तथा नाटक, प्रकरण आदि विविध रूपकों का उल्लेख किया था।

ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य के इस भेद प्रभेद की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया तथापि आचार्य आनन्दवर्धन ने प्राचीन आचार्यों के अभिमत अनेक काव्य-भेदों का उल्लेख किया है।

"यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धः, अभिनेयार्थम् आख्यायिकाकथे इत्येवमादयः।" (३७)

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्य के दो भेद तथा उनसे भिन्न को काव्याभास कहते हुए तीन भेद किये हैं—१. ध्वनि २. गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा ३. चित्र—गुणप्रधानाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते (ध्वन्यालोक ३·४२)। उनका अनुसरण करके मम्मट ने भी उपर्युक्त तीन भेद करते हुए उनका उत्तम, मध्यम तथा अवर काव्य के रूप में निर्देश किया है। मम्मट ने व्यञ्जना के आधार पर ही काव्य के उत्तमादि भेद किये हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

अनुवाद— (कारिका में) 'इदम्' शब्द का अभिप्राय 'काव्य' है। 'बुधै:' (=विद्वानों ने) का अभिप्राय यह है कि वैयाकरणों ने प्रधानभूत (मुख्य) स्फोट रूप जो व्यङ्ग्य (प्रकाश्य) उसके व्यञ्जक (प्रकट करने वाले 'घट' आदि) शब्द के लिए 'ध्वनि' इस शब्द का व्यवहार (प्रयोग) किया है। इसलिए (ततः=तस्मात्) उन (वैयाकरणों) के मत का अनुसरण करने वाले अन्यों (ध्वनिवादियों) ने भी वाच्य (मुख्य) अर्थ को दबा देने (न्यग्भावित) वाले व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जना में समर्थ शब्दार्थयुगल के लिये 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार किया।

प्रभा—साहित्य जगत् में ध्वनिवादियों ने 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार वैयाकरणों का अनुसरण करके किया है। बात यह कि जिन घ्+अ+ट्+अ (घट) आदि वर्णों का मुख से उच्चारण किया जाता है और श्रोत्र द्वारा श्रवण किया जाता है ये नाद या ध्वनि कहलाते हैं। ये ध्वनियां आशुतर विनाशी हैं इस लिये अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद और पदों के समुदाय रूप वाक्य का निर्माण नहीं हो सकता। फिर अर्थ-बोध होना असम्भव है। इस लिये वैयाकरणों ने घ्+अ+ट्+अ आदि वर्णों के अतिरिक्त बुद्धि में स्थित एक स्फोट नाम का नित्य शब्द माना है। ये ध्वनियां उस स्फोट को व्यक्त करती है (ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः) और स्फोट रूप शब्दात्मा (शब्दब्रह्म) अर्थ को प्रकट करता है (स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः)।

मम्मट के अनुसार काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द का अर्थ है—व्यङ्ग्य-प्रधान शब्दार्थयुगल रूप काव्य।

(१) जिस प्रकार वैयाकरण प्रधानभूत स्फोट की अभिव्यक्ति करने वाले (वर्णों) को ध्वनि कहते हैं इसी प्रकार साहित्य-मर्मज्ञ अपने साक्षात् अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा प्रधानभूत किसी व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना करने वाले शब्दार्थयुगल रूप काव्य को ध्वनि कहते हैं। (ध्वनति इति ध्वनिः)। अथवा (२) जिस काव्य में वाच्यार्थ की प्रधानता होती है वहां शब्द और अर्थ अपने मुख्य स्वरूप को प्रकट करते हैं किन्तु जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती है वहां व्यङ्ग्यार्थ मुख्य (वाच्य) अर्थ को दबा देता है और अधिक चमत्कारकारी होता है ऐसे काव्य को 'ध्वनि' कहते हैं, (ध्वन्यते व्यज्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः)। वैयाकरणों का अनुसरण करके साहित्य के विवेचकों (ध्वनिवादियों) ने व्यञ्जना-प्रधान काव्य के लिये ध्वनि शब्द का प्रयोग किया था। इसी से आचार्य मम्मट ने व्यङ्ग्यप्रधान उत्तम काव्य को ध्वनि कहा है। व्यञ्जना-प्रधान होने के कारण ही मम्मट ने इसे उत्तम काव्य कहा है।

टिप्पणी:—(१) आचार्य मम्मट का काव्य-भेद निरूपण ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन का अनुसरण करता है। यहाँ ध्वन्यालोक ग्रन्थ के आधार पर ही का स्वरूप दिखलाया गया है। ध्वनिकार का कथन है—

यथा—

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ (ध्वन्यालोक १·१३)

अर्थात् जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने (वाच्य) अर्थ को गौण करके (न्यग्भावित) उस (व्यङ्ग्य रूप) विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है। ध्वनिकार के भाव को मम्मट ने विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है।

(२) व्यञ्जनाप्रधान काव्य के लिये ध्वनि शब्द का व्यवहार वैयाकरणों का अनुसरण करके किया गया है, यह बात भी पहले आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त कारिका में 'सूरिभिः' की व्याख्या करते हुए कही थी—"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस् तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचक-संमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।"
(ध्वन्यालोक १·१३)

इससे स्पष्ट है कि काव्य के क्षेत्र में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन के पूर्वकाल से ही चला आ रहा था। आनन्दवर्धन ने तो ध्वनि-विषयक सुव्यवस्थित ग्रन्थ का निर्माण किया था; अतः काव्यप्रकाश वृत्ति में स्थित "अन्यैः" पद का अभिप्राय वही है जो आनन्दवर्धन के 'सूरिभिः' पद का है। इस लिये टीकाकारों ने जो "अन्यैः=आनन्दवर्धनाचार्यप्रभृतिभिः" यह अर्थ किया है, वह सङ्गत नहीं। इसी प्रकार कारिका का 'बुधैः' शब्द भी आनन्दवर्धन के 'सूरिभिः' पद के अर्थ में ही है। इसका अन्वय वृत्ति में 'अन्यैः' शब्द के साथ करना ही उचित है। 'बुधैः' का अर्थ 'वैयाकरणैः' नहीं।

(३) ध्वन्यालोक के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द के पाँच अभिप्राय ग्रहण किये हैं—१. वाच्य (ध्वनति इति ध्वनिः) २. वाचक (ध्वनति इति ध्वनिः) ३. व्यङ्ग्यार्थ (ध्वन्यते इति ध्वनिः); ४. व्यञ्जना व्यापार (ध्वननं ध्वनिः) ५. ध्वनि काव्य (ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः)। आचार्य मम्मट ने तो ध्वन्यालोक के ध्वनि-काव्य-लक्षण का सारांश मात्र ही यहाँ प्रस्तुत किया है।

अनुवाद—(उत्तम काव्य का उदाहरण है) जैसे—हे झूठ बोलने वाली (मुझ जैसे) प्रियजन की पीड़ा को न समझने वाली दूती, तू तो यहाँ से बावड़ी पर स्नान करने गई थी, न कि उस अधम (नायक) के पास; क्योंकि तेरे स्तनों के कोर का चन्दन पूर्णतया छूट गया, तेरे अधर की लालिमा साफ हो गई, निर्मृष्टः

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२॥
अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाऽधमपदेन व्यज्यते ।

रागः यस्य), तेरे नयनों के कोने काजलशून्य हो गये और यह पतली, काया अथवा कृश शरीर (तन्वी तनुः) पुलकित हो गया है ।

यहाँ पर "उस (नायक) के पास ही तू रमण करने के लिए गई थी" यह मुख्यतया अधम शब्द से व्यङ्ग्य अर्थ निकलता है (व्यज्यते) ।

प्रभा—'निःशेषच्युतचन्दनम्'—इत्यादि पद्य को आचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है । प्रस्तुत पद्य मे कोई विदग्धा नायिका अपनी दूती के अनुचित व्यवहार पर उसे ताड़ना दे रही है कि तू बावड़ी पर स्नान करने गई थी, उस अधम के समीप नहीं गई । यह (निषेधरूप) इसका वाच्यार्थ है । स्नान की दशा का ही शब्दों द्वारा वर्णन किया गया है; किन्तु वक्ता, बोद्धा तथा अवसर-विशेष के अनुसार इस काव्य का यह अर्थ निकलता है—"वापी पर स्नान करने का तो बहाना है तू तो उस अधम के साथ रमण करने गई थी ।" यही (विधिरूप) इसका व्यङ्ग्य अर्थ है । यह अर्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी है । अतः यह ध्वनिकाव्य है । ध्वनि-काव्य की मुख्य विशेषता ही यह है कि उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है । अधम पद का वाच्यार्थ है—दुःखदायक कर्म करने वाला (दुःखप्रयोजककर्मशील) किन्तु यहाँ विशेष वक्ता और बोद्धा के होने से अधम शब्द का व्यङ्ग्यार्थ 'अन्य नायिका-सम्भोग द्वारा वेदना उत्पन्न करने वाला' हो जाता है अतः प्रधानरूप से 'अधम' शब्द ही व्यञ्जक है । उसके साथ मिलकर 'चन्दन-च्यवन' आदि पद भी रमण दशा के द्योतक होते है ।

टिप्पणी—(१) साहित्यदर्पणकार के अनुसार यहाँ विपरीतलक्षणा द्वारा अभीष्ट अर्थ की व्यञ्जना होती है । अतः अर्थक्रम यह है—(i) वाच्यार्थ है—वापीगमनं तदन्तिके न गमनं च, (ii) लक्ष्यार्थ है—वाप्यां न गमनं तदन्तिके च गमनम् और (iii) व्यङ्ग्यार्थ है—तद्रमणम् ।

किन्तु मम्मट के अनुसार यहाँ विपरीतलक्षणा नहीं (प्रदीप) । तदनुसार यहाँ दो ही अर्थ हैं । वाच्यार्थ है—(i) वापीगमनं तदन्तिके च न गमनम् और (ii) व्यङ्ग्यार्थ है—तदन्तिकमेव रन्तुं गमनम् ।

(२) प्राधान्येन अधमपदेन व्यज्यते—यहाँ 'प्राधान्येन' (मुख्य रूप से) इस शब्द का 'अधमपदेन' के साथ अन्वय है । भाव यह है कि 'रमण के लिये गई'—यह अर्थ मुख्यरूप से अधम शब्द के द्वारा व्यक्त होता है । चन्दन-च्यवन आदि तो जिस प्रकार रमण के द्वारा हो सकते हैं, उसी प्रकार स्नान के द्वारा भी । अतः वे अधमपद के बिना स्वतन्त्र रूप से 'रमण' के व्यञ्जक नहीं; किन्तु 'अधम' शब्द स्वतन्त्र रूप से इस अर्थ का व्यञ्जक है । यही इसकी प्रधानता है ।

(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥३॥

अत्र वञ्जुलतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ॥

अनुवाद—व्यङ्ग्य अर्थ के (व्यङ्ग्ये) वैसा अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारक न होने पर (अतादृशि) तो मध्यम काव्य होता है। इसे ही (काव्यतत्वज्ञों ने) गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा है। (३)

(कारिका में) अतादृशि (वैसा न होने पर) का अभिप्राय है—वाच्यार्थ से बढ़कर न होने पर। जैसे—(मध्यम काव्य का उदाहरण)

"नवीन अशोक अथवा वेतस (वञ्जुल) की मञ्जरी से सुशोभित (सनाथ) हाथ वाले, ग्राम के उस युवक को बार-बार देखती हुई युवती के मुख की कान्ति (छाया) अत्यन्त मलिन हो रही थी।"

यहाँ पर "वञ्जुल लतागृह में (मिलन का) जिसने संकेत दिया था वह तुम नहीं आई" यह व्यङ्ग्यार्थ गौण हो (दब) गया है, क्योंकि इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ (मुख की कान्ति का मलिन हो जाना) ही अधिक चमत्कारक है।

प्रभा—आचार्य मम्मट ने ऐसे काव्य को मध्यम काव्य कहा है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ होता तो है किन्तु वह वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं होता। वाच्यार्थ से दबा रहता है, गौण होता है। वाच्यार्थ ही उसकी अपेक्षा सहृदयों को अधिक आनन्द प्रदान करता है। व्यङ्ग्यार्थ के गौण हो जाने के कारण यह काव्य व्यङ्ग्यप्रधान ध्वनि काव्य से निम्न कोटि का माना गया है; क्योंकि ध्वनिवादियों ने व्यञ्जना को ही काव्य की उत्तमता का प्रयोजक माना है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इस काव्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नाम से ही पुकारा था। मम्मट ने इसकी संज्ञा 'मध्यम काव्य' कर दी। इस प्रकार उत्तम अर्थात् ध्वनि काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता है, मध्यम अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में व्यङ्ग्यार्थ गौण हो जाता है और वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है।

'ग्रामतरुणम् आदि' उदाहरण को आचार्य रुद्रट ने भावालङ्कार के उदाहरण के रूप में अपने "काव्यालङ्कार" ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। इस पद्य का व्यङ्ग्यार्थ सहृदयों के हृदय को इतना आह्लादित नहीं करता जितना कि 'मुखच्छायामालिन्यरूप' वाच्यार्थ। भाव यह है कि यहाँ विप्रलम्भाभास (शृङ्गार) आस्वादनीय है तथा 'सङ्केतभङ्ग' जो व्यङ्ग्यार्थ है वह मुखमालिन्यरूप वाच्यार्थ (अनुभाव) के द्वारा ही विप्रलम्भाभास

का पोषक है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। अतः व्यङ्ग्य-अर्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण हो गया है, इसी से गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट ने 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' यह नाम तथा इसका स्वरूप ध्वन्यालोक के आधार पर ही दिखाया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का स्वरूप है—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥ (ध्वन्यालोक ३·३५)

(ii) ध्वन्यालोककार की दृष्टि में भी ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता का ही अन्तर है, जैसा कि कहा भी है—"व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्य तु गुणभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्य-प्रभेदः प्रकल्प्यते।" (ध्वन्यालोक ३·३५ वृत्ति) तथा दूसरे स्थल पर भी यही भाव संक्षेपतः प्रकट किया है—व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसञ्ज्ञितः काव्यप्रकारः, गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता।" (ध्वन्यालोक ३·४२ वृत्ति)

(ii) ध्वनि को उत्तम काव्य और गुणीभूतव्यङ्ग्य को मध्यम काव्य कहना आचार्य मम्मट की निजी उद्भावना है। ध्वनिकार ने ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य को काव्य का पृथक् २ प्रकार माना है, वे प्रतीयमान अर्थ को ही सहृदयों के हृदय का आह्लादकारी बतलाते हैं। साथ ही गुणीभूतव्यङ्ग्य को उन्होंने "ध्वनिनिष्यन्द रूप" अर्थात् ध्वनि का ही एक प्रवाह—"ध्वनेः निष्यन्दः ध्वनिनिष्यन्दः स एव रूपं यस्य तादृशः" (अर्थात् ध्वनि के एक प्रवाह के समान) बतलाया है—"तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्विभावनीयम्।" (ध्वन्यालोक ३·३७) इसका अभिप्राय यही है कि ध्वनि का स्थान प्रथम है, गुणीभूतव्यङ्ग्य का द्वितीय। ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाना—"काव्यस्यात्मा ध्वनिः" और गुणीभूतव्यङ्ग्य को काव्य का एक अन्य दिखाई देने वाला प्रकार—प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते" कहना भी इस बात की पुष्टि करता है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि की अपेक्षा निम्न कोटि का काव्य है। ध्वन्यालोक की पूर्वापर सङ्गति से भी यही विदित होता है, अतः मम्मट की उत्तम, मध्यम आदि कल्पना का बीज ध्वन्यालोक में ही उपलब्ध है, किन्तु इससे गुणीभूतव्यङ्ग्य की रमणीयता में सन्देह नहीं हो सकता।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गलानिमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥५॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूप—
विशेषनिर्णयो नाम प्रथम उल्लासः ॥

अन्य तीर्थों से विशेषता दिखाने के कारण व्यतिरेक अलङ्कार भी व्यङ्ग्य हो सकता है तथापि वह व्यङ्ग्य अस्फुटतर है तथा उसमें कवि का तात्पर्य नहीं प्रतीत होता। कवि का तात्पर्य तो अनुप्रास का चमत्कार दिखलाने में है। यहाँ शब्द की झंकार एवं अनुप्रास-प्रचुरता तथा दीर्घ समासादि शब्द-चमत्कार में व्यङ्ग्य अर्थ तिरोहित हो जाता है। कवि ने 'छ' वर्ण के प्रचुर प्रयोग से उछलते हुये जल का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है तथा महर्षिहर्ष, आह्निकाह्वाय दार, दरी और मन्द-मन्द आदि में अनुप्रास का चमत्कार दिखाने के लिये ही कवि प्रयास करता दिखलाई देता है।

अनुवाद—(शत्रुओं के) मान-मर्दन करने वाले जिस (दैत्यराज हयग्रीव) को अपने राजप्रासाद (मन्दिर) से बिना किसी उद्देश्य के (यों ही, इच्छानुसार) ही निकला हुआ सुनकर घबराहट के साथ इन्द्र ने जिसकी अर्गला गिरादी है ऐसी अमरावती (मानों) भय के कारण आँखें बन्द की हुई सी प्रतीत होती है।

प्रभा :— 'विनिर्गतम्' इत्यादि अर्थचित्र का उदाहरण है। यह काश्मीरिक मेण्ठकवि प्रणीत 'हयग्रीववध नाटक' से उद्धृत किया गया है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यहाँ हयग्रीव का वीर रस व्यङ्ग्य है, उसी के विभावादि की इस काव्य में योजना की गई है तथापि कवि का तात्पर्य विशेषरूप से उत्प्रेक्षा अलङ्कार में ही है। यह द्वार बन्द की हुई अमरावती में भय से निमीलित नेत्रों वाली नायिका की संभावना करता है और यही उत्प्रेक्षा विशेष चमत्कारक है। व्याख्याकार नरसिंह ठक्कर का विचार है कि हयग्रीव इस नाटक का प्रतिनायक है अतः उसका वीर रस यहाँ व्यङ्ग्य नहीं हो सकता। यहाँ काव्य का चमत्कार उत्प्रेक्षा नामक अर्थालङ्कार के ही आश्रित है और कोई भी स्फुटतया प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ यहाँ नहीं अतएव यह अर्थचित्र या वाच्यचित्र ही कहा गया है।

इस प्रकार काव्यप्रकाश के इस प्रथम उल्लास में काव्य का प्रयोजन, काव्य का कारण तथा काव्य का स्वरूप दिखलाया गया है।

इति प्रथम उल्लासः

अथ द्वितीय उल्लासः

[शब्दार्थस्वरूपनिर्णयात्मकः]

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ॥

अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

(६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

आचार्य मम्मट ने ऐसे शब्दार्थयुगल को काव्य कहा है जो दोषरहित गुणसहित तथा प्रायः अलङ्कृत भी होते हैं (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि) । इस लक्षण में शब्द तथा अर्थ विशेष्य हैं, अन्य पद इनके विशेषण हैं; अतः यहाँ क्रमशः पहले शब्द का और फिर अर्थ का स्वरूप बतलाया जा रहा है। प्रसिद्ध होने के कारण यहां शब्द का लक्षण नही दिया गया, अपितु शब्दों के प्रकार का ही कथन किया गया है।

अनुवाद—(अब ग्रन्थकार) क्रमशः शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को बतलाते हैं—

यहाँ (काव्य में) १. वाचक, २. लाक्षणिक और ३. व्यञ्जक—(यह) तीन प्रकार का शब्द होता है।

(कारिका में) 'अत्र' (यहाँ) का अभिप्राय है—काव्य में। इन (वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों) का स्वरूप (आगे) कहा जायेगा। (५)

वाच्य आदि उन (वाचक आदि शब्दों) के (तदर्थाः=तेषां शब्दानाम् अर्थाः) अर्थ होते हैं (कारिका में वाच्यादि का अभिप्राय है)—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ। (६)

प्रभा—काव्य भूमि में तीन प्रकार के शब्द होते हैं:—वाचक (Expressive) लक्षक (लाक्षणिक Indicative) तथा व्यञ्जक (Suggestive)। उनके अर्थ होते हैं—वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य।

यह कहा जा सकता है कि किसी शब्द का एक (१) मुख्य अर्थ होता है जैसे 'गौ' शब्द का अर्थ है एक सास्ना (=गल कम्बल) आदि वाला पशुविशेष। गौ शब्द से इसी अर्थ (वस्तु) की सामान्यतः प्रतीति होती है। इस मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ expessed) को प्रकट करने वाला 'गौ' आदि शब्द वाचक कहलाता है। इस मुख्य अर्थ के अतिरिक्त शब्द से अन्य अर्थ भी प्रकट होते हैं; जैसे—(२) 'कुर्सी' का आदेश है (चेयर का आर्डर है) यहाँ कुर्सी आदेश नही दे सकती अतः 'कुर्सी'

(७)—तात्पर्योऽर्थोऽपि केषुचित् ॥६॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।

शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के अर्थ में आया है। मुख्यार्थ से सम्बद्ध इस अर्थ को शब्द का लक्ष्यार्थ (Indicated) कहते हैं और जिस शब्द से यह प्रकट होता है उसे लाक्षणिक या लक्षक शब्द कहते हैं। (३) इसी प्रकार "सायंकाल हो गया" इस वाक्य से अनेक श्रोता अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार अतिरिक्त अर्थ भी ग्रहण करते हैं। कोई समझता है पूजा का समय हो गया, कोई कहता है—"भ्रमण का समय हो गया।" इस अतिरिक्त (Additional) अर्थ को ही शब्दों का व्यङ्ग्य (Suggested) अर्थ कहते हैं और जिस शब्द से यह अर्थ अभिव्यक्त होता है उसे व्यञ्जक शब्द कहते हैं। इन तीन प्रकार के अर्थों को प्रकट करने वाली शब्द की तीन वृत्तियाँ (शक्ति, व्यापार) मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

टिप्पणी—शब्द किस प्रकार अर्थ को प्रकट करता है इस बात पर विचार करके विद्वानों ने शब्द की वृत्तियों (व्यापार) का विवेचन किया है। व्याकरण, मीमांसा और न्याय-वैशेषिक तथा योग आदि में शब्द-वृत्ति पर पर्याप्त विचार किया गया है। उनकी मान्यताएँ पृथक् २ हैं। प्रायः अभिधा, लक्षणा नामक वृत्तियों को सभी ने स्वीकार किया है। मीमांसक तात्पर्य वृत्ति को भी मानते हैं। कुछ वैयाकरणों ने बड़े विस्तार से व्यञ्जना वृत्ति का भी निरूपण किया है। साहित्य के क्षेत्र में उद्भट, रुद्रट, राजशेखर तथा वामन आदि ने पहले भी शब्द-वृत्ति पर कुछ विचार किया था; किन्तु वे प्रायः अभिधा और लक्षणा पर ही विचार करते रहे। आगे चलकर ध्वनि के उद्भव के साथ व्यञ्जनावृत्ति का विवेचन साहित्य शास्त्र में होने लगा। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। सभी मतों का सार-संग्रह करते हुए मम्मट ने साहित्य के क्षेत्र में शब्द की तीन वृत्तियाँ स्वीकार की हैं—१. अभिधा, २. लक्षणा, ३. व्यञ्जना। इसी से तीन प्रकार के शब्दों तथा तीन प्रकार के अर्थों का भी विवेचन किया है।

अनुवाद—किन्हीं (अर्थात् अभिहितान्वयवादियों) के मत में (केषुचित्=केषाञ्चित्, षष्ठी के अर्थ में सप्तमी अथवा केषुचित् मतेषु) 'तात्पर्यार्थ' (purport-sense) भी एक अर्थ है।

अभिहितान्वयवादियों (कुमारिलभट्ट के मतानुयायी मीमांसकों) का मत है कि आकांक्षा (पदों की पारस्परिक अपेक्षा), योग्यता (पदों की पारस्परिक अन्वय-योग्यता) और सन्निधि (पदों की एकबुद्ध्युपारूढता) के कारण, जिनका स्वरूप

आगे ('जात्यादिर्जातिरेव वा' कारिका ८ में) बतलाया जायेगा, उन पदार्थों का अन्वय अर्थात् परस्पर सम्बन्ध होने पर एक तात्पर्य रूप अर्थ प्रकट होता है (समुल्लसति); जो कि वाच्यार्थ आदि से विलक्षण आकार का है (विशेषवपुः=विलक्षण शरीर वाला), वाक्य में आये हुए पदों का अर्थ नहीं है (अपदार्थः) अपितु (तात्पर्य वृत्ति से प्रकटित) वाक्य का अर्थ है।

अन्विताभिधानवादी (गुरु प्रभाकर भट्ट) का मत है (अन्विताभिधानवादिनः मतम् इत्यनुषञ्जनीयम्) कि जो वाक्य का अर्थ है, वह वाच्य-अर्थ (अर्थात् वाच्यार्थ के अन्तर्गत) ही है। (७)

प्रभा—जो शब्द अभिधा, लक्षणा अथवा व्यञ्जना वृत्ति से किसी अर्थ को प्रकट करता है, वही सार्थक पद है (शक्तं पदम्)। शब्द का अर्थ जाति, गुण, क्रिया इत्यादि होता है, जिसका विवेचन ग्रन्थकार ने १० वें सूत्र में किया है। सार्थक शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं; (पदसमूहो वाक्यम्)। किन्तु केवल शब्दों का समूहमात्र सम्यक् अर्थबोध में समर्थ नहीं होता अपि तु आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि होने पर ही शब्दों का परस्पर (उचित रूप से) अन्वय होता है और तभी सम्यक् अर्थ-बोध होता है। इन आकांक्षा आदि के स्वरूप का अनेक आचार्यों ने प्रतिपादन किया है। व्याकरण, न्याय तथा साहित्य शास्त्र आदि में इनका स्पष्ट विवेचन किया गया है।

आकांक्षा—सम्यक् अर्थ-बोध के लिए यह आवश्यक है कि पदों में पारस्परिक आकांक्षा हो। (पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा-तर्कसंग्रह) जब वक्ता किसी पद का उच्चारण करता है अथवा श्रोता उसका श्रवण करता है तो एक (गाम् आदि) के बाद दूसरे पद (आनय आदि) की विवक्षा या जिज्ञासा होती है। यह अर्थबोधन या अर्थबोध सम्बन्धी आकांक्षा वास्तव में मानव-हृदय में होती है किन्तु 'एक शब्द का दूसरे के बिना अन्वय-बोध कराने का असामर्थ्य' शब्दों की पारस्परिक आकांक्षा कही जाती है; जैसे - 'जलेन सिञ्चति' यहाँ 'जलेन' शब्द के श्रवणानन्तर यह आकांक्षा होती है—किं करोति ?' और केवल 'सिञ्चति' पद श्रवणानन्तर आकांक्षा होती है—'कः' ? अथवा 'केन ?' अतः यहाँ दोनों पद एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं और ये साकांक्ष हैं तथा इनसे सम्यक् अर्थबोध होता है। आकांक्षा के बिना शब्द-समुदाय प्रामाणिक नहीं अर्थात् उससे सम्यक् अर्थ बोध नहीं होता; जैसे—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती' इत्यादि पदसमूह से कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता।

योग्यता—सम्यक् अर्थ बोध के लिए पदों में एक दूसरे से अन्वय की योग्यता होनी चाहिए। योग्यता का अर्थ है—पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा न होना' (अर्थाबाधो योग्यता); जैसे—'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'जल' पद के अर्थ में अर्थात् जलरूप वस्तु में सींचने की योग्यता

है इसी हेतु इस वाक्य से सम्यक् अर्थ-बोध होता है। 'योग्यता' के बिना कोई शब्द-समुदाय अप्रामाणिक है, वह सम्यक् अर्थ-बोध नहीं कराता; जैसे 'अग्निना सिञ्चति' यह प्रमाण नहीं, क्योंकि अग्नि का कार्य जलाना, पकाना आदि है उसका (सींचना) से सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः अग्नि और सिञ्चन के पारस्परिक सम्बन्ध में बाधा पड़ती है।

सन्निधि—'साकांक्ष पदों का एक बुद्धि का विषय होना' सन्निधि या आसत्ति कही जाती है। साकांक्ष पदों की सन्निधि के लिए उनके बीच में अर्थबोध में बाधा डालने वाले अन्य पदों का न होना तथा उन पदों का अविलम्ब उच्चारण करना—ये दो बातें आवश्यक हैं; जैसे—'जलेन सिञ्चति' ये दोनों पद पारस्परिक सान्निध्य होने पर ही सम्यक् अर्थबोध कराते हैं। 'सन्निधि' के बिना पद-समुदाय अप्रामाणिक है, वह सम्यक् अर्थबोध नहीं कराता; जैसे 'पर्वतः खादति अग्निमान् देवदत्तः' यहाँ पर्वतः—अग्निमान् के बीच में अर्थबोध में बाधा डालने वाले पद 'खादति' का प्रयोग है अतः सन्निधिरहित होने से यह शब्द-समुदाय सम्यक् अर्थबोधक नहीं। इसी प्रकार यदि कोई 'गाम्' कहने के घण्टों या दिनों पश्चात् 'आनय' शब्द का उच्चारण करे तो यह शब्द-समुदाय सन्निधि रहित होने से ठीक अर्थबोध न करा सकेगा।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि युक्त शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं उसी से पूर्ण अर्थ-बोध होता है। अब विचारणीय यह है कि यह वाक्य से प्रतीत होने वाला अर्थ (१) शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थों का समूहमात्र होता है अथवा (२) शब्दों के अर्थ से भिन्न कोई नवीन अर्थ होता है ? इस विषय में मीमांसक आचार्य कुमारिल भट्ट का मत है कि शब्दों के अर्थ से भिन्न एक नवीन अर्थ वाक्यार्थ के रूप में प्रकट हुआ करता है। इसका क्रम यह है कि पद अपनी अभिधा आदि वृत्ति से किन्हीं अर्थों को क्रमशः प्रकट कर देते हैं। उसके बाद उन अर्थों का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है अर्थात् शब्दों द्वारा अभिहित (Expressed) अर्थों का बाद में अन्वय (परस्पर सम्बन्ध) होता है (अभिहितानाम् अन्वयः)। इस विचार या वाद (तत्सम्बन्धी वादः अभिहितान्वयवादः) को मानने के कारण कुमारिल भट्ट के अनुयायी 'अभिहितान्वयवादी' कहे जाते हैं। इनके मत में पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध अथवा अन्वय या संसर्ग वाक्य का अर्थ है। वह पदार्थों से विशेष प्रकार का है, अतः पदों के द्वारा यह प्रकट नहीं हो सकता। उसे प्रकट करने के लिये एक विशेष शक्ति या वृत्ति की उद्भावना करनी चाहिए। वही 'तात्पर्य वृत्ति' है; फलतः तात्पर्यवृत्ति से वाक्यार्थ का बोध होता है और यह वृत्ति अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक शब्द की तीन वृत्तियों से भिन्न वृत्ति है।

किन्तु प्रभाकर (मीमांसक) का मत है कि पदों से परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले पृथक्-पृथक् अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु परस्पर-सम्बद्ध अर्थात् अन्वित

अर्थ की ही प्रतीति होती है इस प्रकार शब्द अन्वित अर्थ का ही कथन करते हैं (अन्वितानाम् अभिधानम्)। इस वाद को मानने के कारण प्रभाकर अन्विताभिधान-वादी कहे जाते हैं। इस मत के अनुसार वाक्य का अर्थ भी वाच्यार्थ ही है, वह पदसमुदायरूप वाक्य का साक्षात् अर्थ है; तात्पर्यवृत्ति से प्रकट होने वाला कोई आगन्तुक अर्थ नहीं, जैसा कि कुमारिल ने कल्पित किया है। इसी से इनके मतानुसार तात्पर्यवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं।

टिप्पणी—(i) अभिहितान्वयवादी—काव्यप्रदीप आदि के अनुसार न्याय-वैशेषिक तथा कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक अभिहितान्वयवादी हैं। वस्तुतः इस मत के समर्थकों में कुमारिल भट्ट के अनुयायी ही विशेष प्रसिद्ध हैं। उनका विचार है कि पदों में केवल पदार्थबोधन की ही शक्ति है। पदार्थों के अन्वय अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करने का सामर्थ्य शब्दों में नहीं होता। अन्वय या संसर्ग रूप अर्थ तो तात्पर्यार्थ है, वह वाच्य अर्थ से विलक्षण प्रकार का होता है और आकांक्षा आदि से युक्त शब्दों का सम्बन्ध हो जाने पर भासित हुआ करता है। वह पदों का अर्थ नहीं अपि तु पदार्थ से पृथक् है और वाक्य का अर्थ है। जिस प्रकार वाच्यार्थ को प्रकट करने के लिए अभिधा शक्ति मानी जाती है किन्तु इसी से लक्ष्यार्थ का भी बोध नहीं हो जाता अतः लक्ष्यार्थ को प्रकट करने के लिए लक्षणा नाम की द्वितीय शब्दवृत्ति की कल्पना करनी पड़ी है, इसी प्रकार तात्पर्यार्थ को प्रकट करने के लिए तात्पर्यवृत्ति नामक एक और शब्द-वृत्ति माननी चाहिये। बात यह है कि वृत्ति के बिना अर्थ बोध हो ही नहीं सकता। अतः वाक्य का अर्थ जो संसर्ग (=अन्वय) है उसको प्रकट करने के लिए तात्पर्य नामक वृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी और वाच्यार्थ के समान तात्पर्यार्थ भी होता है, यह मानना पड़ेगा। उदाहरणार्थ 'घटं करोति' (घड़ा बनाता है) यहाँ 'घट' शब्द से घटरूप वस्तु का बोध होता है 'अम्' प्रत्यय से कर्मत्व का और 'करोति' क्रिया से कृति (करना या बनाना) का। किन्तु यह कर्मत्व घटवृत्ति है अर्थात् 'घट' 'करना' का कर्म है। यह अर्थ (वृत्तिता) तो आकांक्षादि के कारण 'घटम्' और 'करोति' का अन्वय हो जाने पर तात्पर्यवृत्ति से ही भासित होता है। तभी 'घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिः' यह बोध होता है। अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यही है—पहले पदार्थ-बोध होता है तब वाक्यार्थ बोध होता है। पदों के शुद्ध अर्थ में ही व्यवहारादि से संकेतग्रह होता है। इसी हेतु सर्वथा नवीन वाक्य में भी वाक्यार्थ-प्रतीति हो जाती है। अतः वाक्य का प्रत्येक शब्द अपने-अपने अर्थ का अभिधान करता है और आकांक्षादि के कारण उन अर्थों का परस्पर अन्वय हो जाता है तथा तात्पर्य नामक वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ-बोध हो जाता है।

(ii) अन्विताभिधानवादी प्रभाकर का विचार है कि अलग-अलग अर्थ, जो कि परस्पर सम्बद्ध नहीं, प्रकट हो ही नहीं सकते। जैसे—'वह पढ़ता है' इस साधारण वाक्य में 'वह' का अर्थबोध उद्देश्य रूप 'कोई व्यक्ति' के आकार में होता

(८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ॥

है और 'पढ़ता है' का विधेयरूप 'पढ़ना क्रिया' के आकार में। यहाँ पृथक्-पृथक् शब्दों का अर्थ-बोध होने के अनन्तर उनका अन्वय होता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः शक्तिग्रह या संकेतग्रह भी अन्वित अर्थ में ही हुआ करता है, जैसे—पिता आदि (उत्तम वृद्ध) ने बड़े भाई आदि (मध्यमवृद्ध) से कहा 'देवदत्त गामानय'—'(देवदत्त गाय लाओ)। इस वाक्य को समीप बैठे बालक ने सुना और देखा कि उनका बड़ा भाई (देवदत्त) सास्नादिमान् एक विशेष प्रकार के पशु को लाया है तो बालक ने अनुमान कर लिया कि 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य का 'इस सास्नादिमान् पशु को लाने' में अभिप्राय था। इसके बाद वह बालक पिता के यह कहने पर कि 'गां नय' (गाय को ले जाओ), 'अश्वमाहर' (घोड़े को लाओ) देवदत्त को गाय ले जाते हुये देखता है, तो इतरान्वित 'गाम्' आदि के अर्थ का ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार व्यवहार से जो शक्तिग्रह होता है वह केवल पदार्थ में नहीं होता अपि तु अन्वित पदार्थ में ही होता है अर्थात् 'गाम्' आदि का क्रियान्वित कारक पद में शक्तिग्रह होता है तथा 'आनय' आदि का कारकान्वित क्रियापद में शक्तिग्रह होता है। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि सामान्यतः क्रियामात्र से अन्वित कारक आदि में ही शक्तिग्रह होता है किसी विशेष 'आनयन' आदि क्रिया से अन्वित में नहीं। जब अन्वित में ही शक्तिग्रह होता है तो वाक्य-श्रवणानन्तर अन्वितार्थ की प्रतीति हो जाना सम्भव ही है अतः अन्वय या संसर्ग बोध के लिये तात्पर्य नामक वृत्ति की कल्पना अनावश्यक है। यह कहा जा सकता है कि प्रभाकर के मत में वाक्य अखण्डार्थबोधक है, वास्तविक इकाई (unit) है। उसमें से कृत्रिम रूप से या व्यावहारिक दृष्टि से शब्दों को पृथक् कर लिया जाता है।

(iii) यहाँ विचारणीय यह है कि आचार्य मम्मट को इन दोनों मतों में से कौन सा अभिप्रेत है? व्याख्याकारों का विचार है कि 'अभिहितान्वयवाद' ही मम्मट को अभीष्ट है। उन्होंने तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार किया है; क्योंकि ये कई स्थलों पर इसका उल्लेख करते हैं; जैसे—अभिधातात्पर्यलक्षणाख्यो व्यापारान्तरेण गम्यः (सूत्र ३१), अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीयः (उ० ५)। वस्तुतः यह स्पष्ट ही है कि मम्मट ने अपनी दृष्टि से तीन प्रकार के शब्द और अर्थ का पहिले निर्देश कर दिया है। यह तो अन्यों का (केषुचित्) मत दिखलाया है। अतः तात्पर्य नामक कोई पृथक् अर्थ मम्मट को अभीष्ट नहीं। ऊपर उद्धृत सन्दर्भों में उन्होंने तात्पर्य वृत्ति का उल्लेख यह प्रकट करने के लिये ही किया है कि तात्पर्य वृत्ति मानने पर भी व्यञ्जना को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।

अनुवाद—प्रायः (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्यादि) समस्त अर्थों की भी व्यञ्जकता (किसी अर्थ की व्यञ्जना करना) अभीष्ट है। (८)

तत्र वाच्यस्य यथा—

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाई ॥६॥
(मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥६॥

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते।

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥७॥
(साधयन्ती सखि, सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया ॥७॥

प्रभा—आचार्य मम्मट ने तीन प्रकार के शब्दों का निर्देश किया है और उनमें 'व्यञ्जक' शब्द भी बतलाया है। इस प्रकार शब्दों में व्यञ्जकता है, यह स्पष्ट ही है। यह व्यञ्जकता अर्थों में भी होती है, यहाँ यही बतलाया गया है। वाच्यादि तीन प्रकार के अर्थों का ऊपर निर्देश किया गया है। इन सभी अर्थों में यथासंभव किसी अन्य (चमत्कारपूर्ण) अर्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य होता है। यह सामर्थ्य सर्वत्र नहीं होता अपितु वक्ता, श्रोता और अवसर के अनुसार हुआ करता है—अतएव कारिका में 'प्रायशः' कहा गया है। कारिका में 'अपि' शब्द का अन्वय अर्थानां के साथ है—(अर्थानामपि); जिसका अभिप्राय यह है कि शब्दों के साथ-साथ अर्थों में भी व्यञ्जकता होती है (प्रदीप)। मतान्तर (उद्योतकर) के अनुसार 'अपि' शब्द का अन्वय व्यञ्जकता के साथ है (व्यञ्जकत्वमपि)। भाव यह है कि वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ किसी अन्य अर्थ की व्यञ्जना का कार्य भी करते हैं और तब भी वे अपने वाच्य आदि रूपों को नहीं छोड़ते।

अनुवाद—उन (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य अर्थों) में वाच्य अर्थ की व्यञ्जकता जैसे—हे माता, तुमने ही बतलाया है (साधितम्) कि आज घर में (इन्धन, शाकादि) सामग्री नहीं है, तो तू ही बता कि क्या करना चाहिये? (अथवा क्या कुछ न करना चाहिये?) क्योंकि दिन तो इसी प्रकार स्थिर रहने वाला नहीं है ॥६॥

यहाँ (कहने वाली) स्वच्छन्द विहार की अभिलाषिणी है—यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है।

प्रभा—उद्धृत श्लोक में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ वक्तृवैशिष्ट्य के कारण (अर्थात् किसी स्वैरविहारिणी नायिका की यह उक्ति है, इस हेतु) श्रोता को यह प्रतीति हो जाती है कि कहने वाली स्वच्छन्द-विहार के लिये जाना चाहती है।

अनुवाद—लक्ष्य अर्थ की व्यञ्जकता; जैसे—'हे सखि, मेरे लिए (उस) सुन्दर (सुभग) नायक को मनाती हुई तुम प्रति क्षण दुःखी हुई हो। सद्भाव और

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम्। तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम्।

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्ति व्व ॥ ८ ॥
(पश्य निश्चलनिस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥ ८ ॥

अत्र निस्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं तेन च जनरहितत्वम्, अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित् कञ्चित् प्रत्युच्यते। अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

स्नेह में करने योग्य उचित कार्य (सद्भावस्नेहयोः करणीयं कार्यं सदृशम् उचितम्) ही तुमने किया है [अथवा सद्भाव और स्नेह से जो करना चाहिये वैसा ही (सद्भावस्नेहाभ्यां यत् करणीयं तेन सदृशम्) कार्य तुमने किया है] ॥७॥

यहाँ पर "मेरे प्रिय के साथ रमण करने वाली तुमने (मेरे साथ) शत्रुता का व्यवहार किया है" यह लक्ष्य है और इस लक्ष्य द्वारा व्यङ्ग्य है—यह प्रकट करना कि कामुक पति (तथा सखी भी) अपराधयुक्त है।

प्रभा—(i) *यहाँ लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। प्रिय को मनाने के लिये प्रेषित, किन्तु उसके साथ रमण करके आई हुई सखी के प्रति किसी नायिका की यह उक्ति है; अतः बोद्धव्य-वैशिष्ट्य (श्रोता की विशिष्टता) के कारण सहृदय जनों को यह (व्यङ्ग्यार्थ) प्रतीति होती है कि यह नायिका कामुक पति तथा सखी के अपराध को प्रकट कर रही है। अपनी सखी के अपराध को भाँप लेने वाली नायिका की इस उक्ति में सद्भाव तथा स्नेहरूपी (मित्रता) मुख्यार्थ का बाध हो जाता है अतः विपरीत अर्थ लक्षित होने लगता है। 'सदृशम्' का लक्ष्यार्थ 'विसदृशम्' (अनुचित), 'सद्भावे' का लक्ष्यार्थ 'स्वकृते' और 'दूत्याऽसि' का लक्ष्यार्थ 'दुष्टाऽसि' होता है। इस प्रकार मेरे प्रिय के साथ रमण करके तूने शत्रुता का आचरण किया है; यह लक्ष्यार्थ प्राप्त होता है और इसके द्वारा उपर्युक्त चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।*

(ii) यहाँ यह द्रष्टव्य है कि लक्ष्य अर्थ के साथ-साथ व्यङ्ग्य अर्थ भी प्रकट हो रहा है (व्यञ्जकत्वमपि)।

अनुवाद—व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जकता, जैसे—

'प्रिय देखो कमलिनी (बिसिनी), के पत्र पर बैठी यह बलाका (बगुली न चलती है (निश्चल), न हिलती है (निस्पन्दा) और ऐसी शोभायमान है मानों स्वच्छ नीलम (नीलमणि) के पात्र पर शंखशुक्ति हो' ॥८॥

यहाँ पर निस्पन्दता (वाच्यार्थ) से विश्वस्तता (अथवा निर्भयता) व्यङ्ग्य है और निर्भयता से निर्जनता व्यङ्ग्य है; अतएव किसी (नायिका) के द्वारा किसी

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

(८) साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥७॥

इहागृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स वाचकः।—

(संकेत स्थान के इच्छुक नायक) के प्रति व्यञ्जना द्वारा यह द्योतित किया जा रहा है (उच्यते=व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते) कि यह संकेत स्थान है। (विप्रलम्भशृङ्गार में, व्यङ्ग्य यह है) अथवा "तुम झूठ बोलते हो, तुम यहाँ नहीं आये थे" यह (बलाका की निर्भयता के द्वारा प्रतीत होने वाले जन-सञ्चार के अभाव रूप व्यङ्ग्य से) अभिव्यक्त हो रहा है।

प्रभा—(१) 'उग्र' शब्द प्राकृत में 'पश्य' के अर्थ मे अव्यय है। निश्चल-निस्पन्दा—'निश्चला चासौ निस्पन्दा च' इस प्रकार दोनों विशेषणों का कर्मधारय समास होता है जैसे—शीतोष्णं जलम्'। शङ्खशुक्ति का अर्थ प्रायः टीकाकारों ने 'सीपी के आकार का शङ्खनिर्मित पात्र' किया है। वस्तुतः जैसे—'मुक्ताशुक्ति' आदि शब्द एक विशेष वस्तु को प्रकट करते हैं उसी प्रकार शङ्खशुक्ति भी शङ्खरूप में परिणत होने से पूर्व का प्रकृतिजन्य शङ्ख रूप ही है। बलाका से उसी की समानता दिखलाना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

(२) यह हालकवि की गाथासप्तशती का पद्य है। इसमें बलाका की निश्चलता का वर्णन करके उसकी निर्भयता को व्यक्त किया गया है और निर्भयता रूप व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा उस स्थान की निर्जनता अभिव्यक्त होती है। प्रसङ्ग अथवा विशेष अवसर के कारण इस निर्जनता की प्रतीति द्वारा सहृदय-जन दो प्रकार का अर्थ समझ लेते हैं—(१) संयोगपक्ष में कोई नायिका उपनायक से कहती है कि यह निर्जन स्थान है अतः यही उचित संकेत स्थल है। (२) विप्रलम्भ पक्ष मे जब नायक कहता है कि तुम यहाँ नहीं आईं, मैं तो यहाँ आया था; तब नायिका व्यञ्जना द्वारा प्रकट करती है कि बलाका की निर्भयता से यहाँ मनुष्य के आगमन का अभाव द्योतित हो रहा है अतः झूठ बोलते हो, तुम यहाँ नहीं आये थे।

टीकाकारों के विचार में इस स्थल पर निर्जनता ही व्यङ्ग्यार्थ से अभिव्यक्त होने वाला दूसरा व्यङ्ग्यार्थ है। इस निर्जनता रूप व्यङ्ग्यार्थ के उपर्युक्त दो प्रकार के फलितार्थ हैं। वस्तुतः ये फलितार्थ ही सहृदयों के हृदयाह्लादक हैं। फिर क्या इन्हें तृतीय कोटि का व्यङ्ग्य माना जाये ? यह चिन्तनीय है।

अनुवाद—वाचक (लक्षक तथा व्यञ्जक) आदि शब्दों का क्रमशः स्वरूप बतलाते हैं :—जो शब्द साक्षात् संकेत किये गये अर्थ का बोध कराता है, वह वाचक शब्द कहलाता है।

इस लोकव्यवहार में (इह) जिस (शब्द) का संकेतग्रह नहीं हुआ उस शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती अतः संकेतग्रह है सहायक जिसका (संकेतः संकेतग्रहः

सहायः यस्य तादृशः) ऐसा शब्द ही किसी विशेष अर्थ का बोध कराता है। इस हेतु जिस शब्द का (यस्य) जिस अर्थ या वस्तु में (यत्र) बिना व्यवधान के (साक्षात् रूप से) संकेत-ग्रहण किया जाता है वह (शब्द) उस (अर्थ) का वाचक कहलाता है। (६)

प्रभा—वाचक शब्द किसे कहते हैं ? उसका क्या स्वरूप है ? यह स्पष्ट करते हुए मम्मट ने बतलाया है कि सांसारिक व्यवहार में जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत-ग्रहण किया जाता है उस अर्थ की ही प्रतीति उस शब्द से होती है। यदि संकेत-ग्रहण न हो तो शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। यह संकेत क्या है ? 'इस शब्द का यह अर्थ है' अथवा 'इस अर्थ का प्रतिपादक यह शब्द है' (अस्मात् शब्दाद् अयमर्थो बोद्धव्यः) इस प्रकार की सामाजिक मान्यता ही संकेत है। जो व्यक्ति किसी शब्द के विषय में इस संकेत या मान्यता से अपरिचित होते हैं वे उसका अर्थ-बोध नहीं कर सकते। यह संकेत दो प्रकार का हो सकता है, एक साक्षात् रूप में और दूसरा व्यवहित रूप में (परम्परया), जैसे—वट (बड़) एक वृक्ष का नाम है वृक्ष रूप अर्थ में 'वट' शब्द का साक्षात् रूप से संकेत है। किन्तु जिस ग्राम में कोई विशाल वट-वृक्ष है उसे भी यदि वट ग्राम (वटो ग्रामः) या बड़-गाँव कहा जाता है तो यह परम्परया संकेत है, अर्थात् ग्राम में 'वट' शब्द का साक्षात् रूप से संकेत नहीं। जब किसी शब्द का साक्षात् रूप से किसी अर्थ में संकेत होता है तो वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है। ऊपर के उदाहरण में 'वट' शब्द वट वृक्ष रूप अर्थ का वाचक है, वट ग्राम रूप अर्थ का नहीं।

टिप्पणी—शब्द से अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है ? इस विषय पर व्याकरण तथा न्याय-वैशेषिक आदि में विस्तार से विचार किया गया है। शक्तिग्रह या संकेतग्रह की सहायता से ही कोई शब्द किसी अर्थ का बोध करा सकता है अन्यथा नहीं, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इस संकेत को 'शक्ति' तथा 'समय' नाम से भी दर्शाया गया है। यह संकेत क्या है ? वाच्य-वाचक भाव की नियामक एक मान्यता ही समय या संकेत है [कः पुनरयं समयः ? अभिधानाभिधेयनियमनियोगः। न्यायवार्तिक २, १·५६] इस समय या संकेत के ग्रहण का स्वरूप दो प्रकार का हो सकता है:—(१) 'गो' शब्द का वाच्य यह सास्नादिमान् अर्थ है" अथवा "इस सास्नादिमान् अर्थ को गो कहते हैं।" प्राचीन नैयायिकों के अनुसार ईश्वरेच्छारूप संकेत ही शक्ति है किन्तु नवीनों के अनुसार किसी के द्वारा भी किया हुआ संकेत (संकेत मात्र) शक्ति है। जिस शब्द का किसी अर्थ में साक्षात् रूप से शक्तिग्रह या संकेतग्रह होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है। वास्तव में शब्द एक ऐसा प्रतीक है जो किसी अर्थ को साक्षात् रूप में प्रकट करता है और उसी का वाचक कहलाता है, वह अर्थ इसका वाच्य कहा जाता है।

(१०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाऽप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः।

अनुवाद—जिस अर्थ में संकेत किया जाता है वह चार प्रकार का है—जाति आदि (अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा) अथवा केवल (एक ही प्रकार का) जाति रूप ही है। (१०)

प्रभा—जिस अर्थ में किसी पद का सङ्केत किया गया है वह सङ्केतित अर्थ कहलाता है। शब्द का यह सङ्केतित अर्थ किस रूप मे होता है ? अर्थात् शब्द का संकेत द्रव्य या व्यक्ति में होता है अथवा जाति में, इस विषय में न्यायादि में विस्तार से विवेचन किया गया है, और पदार्थ क्या है ? इस सम्बन्ध मे विविध मत प्रस्तुत किये गये हैं। किन्हीं (नव्य नैयायिक) के मत में व्यक्ति (द्रव्य) ही पदार्थ है, व्यक्ति में ही पद का संकेत-ग्रह होता है। मीमांसक की दृष्टि में समस्त पदों का संकेत-ग्रह वस्तु के सामान्यरूप अर्थात् जाति में ही होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जाति-विशिष्ट व्यक्ति पदार्थ है। बौद्धमत में 'अपोह' ही शब्दार्थ है। आचार्य मम्मट ने सभी मतों का प्रसङ्गानुसार आगे उल्लेख किया है। प्रस्तुत कारिका में उन्होने दो मतों का ही निर्देश किया है १ सङ्केतितः चतुर्भेदः जात्यादिः। २. जातिरेव वा।

जैसा कि ग्रन्थाकार आगे स्वयं ही निरूपण करेंगे सङ्केतित अर्थ चार प्रकार का है—यह पद-वैज्ञानिक वैयाकरणों का मत है। ये चार प्रकार हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। इसलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने चार प्रकार के शब्द माने है १. जाति शब्द—वे शब्द हैं जो जाति या सामान्य के अभिधायक हैं। जैसे—गो शब्द गोत्व जाति का बोध कराता है। २. गुण शब्द—वे शब्द हैं जो गुणों के वाचक है, जैसे 'शुक्ल' आदि शब्द। ३. क्रिया शब्द—वे शब्द है जो क्रिया का बोध कराते हैं। ये दो प्रकार के हैं क्रिया की साध्यावस्था को कहने वाले तिङन्त शब्द 'पचति' आदि और क्रिया की सिद्धावस्था को बतलाने वाले घञन्त आदि शब्द जैसे पाकः (पच्+घञ्) ४. यदृच्छा शब्द—वे शब्द हैं जो इच्छानुसार किसी व्यक्ति के नाम के रूप मे प्रयुक्त किये जाते हैं; जैसे किसी बैल का नाम 'डित्थ' रख लिया अथवा किसी बालक का नाम 'पप्पू' रख लिया। इस प्रकार के सञ्ज्ञा शब्द व्यक्ति का बोध कराते हैं। वैयाकरणों के अनुसार इस सङ्केतित अर्थ का चतुर्विध विभाग दिखलाकर आचार्य मम्मट ने विकल्प रूप से मीमांसक का मत प्रकट किया है 'जातिरेव वा'—अथवा जाति ही एक संकेतित अर्थ है।'

अनुवाद—यद्यपि (दूध देना आदि) प्रयोजनीय कार्य (अर्थक्रिया-अर्थस्य प्रयोजनस्य क्रिया) करने के कारण (ग्रहणादि के निमित्त) प्रवृत्ति तथा (त्याग के

निमित्त) निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही है तथापि व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण तथा व्यभिचार (दोष के प्रसङ्ग) के कारण व्यक्ति में संकेत करना (मानना) उचित नहीं है—इस हेतु से (इति) और (यदि प्रत्येक शब्द का अर्थ व्यक्ति होगा तो) डित्थ (इस संज्ञा वाला) शुक्ल (रंग का) बैल (जातिवाचक) चलता है (क्रिया) इत्यादि शब्दों के अर्थ का भेद (विषयविभागः) नहीं होगा (क्योंकि सभी एक व्यक्ति के वाचक होंगे) इस हेतु से भी (इति च) उस व्यक्ति की उपाधि (धर्म या विशेषण जात्यादि) में ही सङ्केतग्रह होता है।

प्रभा—आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दों का संकेतग्रह व्यक्ति रूप अर्थ में ही होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति से हमारे जीवन के व्यवहार सिद्ध होते हैं। गौ व्यक्ति ही दूध देना आदि प्रयोजनों को पूर्ण करने वाली है (अर्थक्रियाकारी है) तथा दूध दोहने आदि के लिये गौ व्यक्ति में ही देवदत्त आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है और सींगों की चोट (शृङ्गाघात) से बचने के लिये गौ व्यक्ति से निवृत्ति देखी जाती है। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही है। जीवन का व्यवहार व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। व्यवहार द्वारा ही प्रथम संकेतग्रह भी होता है इसीलिये 'व्यक्ति' ही पदार्थ है यह शंका होती है।

'तथापि' इत्यादि से ग्रन्थकार इसका समाधान करते हैं कि व्यक्ति में सङ्केत-ग्रह मानने में तीन बाधायें हैं—(१) आनन्त्य (२) व्यभिचार (३) विषयविभागा-प्राप्ति। अतः व्यक्ति में सङ्केतग्रह न मानकर उपाधि में ही सङ्केतग्रह मानना उचित है। अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति में सङ्केतग्रह माना जाये तो दो विकल्प हो सकते हैं:—१. क्या समस्त व्यक्तियों में सङ्केत-ग्रहण के पश्चात् व्यवहार का निर्वाह होता है अथवा २. किसी एक व्यक्ति में संकेतग्रह के पश्चात् ही व्यवहार का निर्वाह हो जाता है। यदि इनमें से प्रथम विकल्प माना जाये तो कठिनाई यह है कि व्यक्ति तो अनन्त हैं, वे एक साथ एक देश में उपस्थित नहीं हो सकते; अतः उनमें सङ्केतग्रह हो ही नहीं सकता (आनन्त्य)। द्वितीय विकल्प को मानें तो आपत्ति यह है कि जिस व्यक्ति में संकेत-ग्रह हुआ है उससे भिन्न व्यक्ति की उस शब्द से प्रतीति न होगी और यदि होगी तो संकेतित अर्थ का ही शब्द से बोध होता है' यह नियम भङ्ग हो जायेगा और फिर तो गो शब्द से अश्व की प्रतीति भी होने लगेगी, यह अनियम अर्थात् व्यभिचार दोष होगा। इन आनन्त्य और व्यभिचार नामक दो बाधाओं के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह हो ही नहीं सकता।

यदि किसी प्रकार व्यक्ति में संकेतग्रह मान भी लिया जावे तो पद के विभिन्न अर्थों का भेद प्रकट न हो सकेगा; क्योंकि तब तो "गौःशुक्लः चलो डित्थः" अर्थात् 'डित्थ नामक सफेद बैल जा रहा है' इस वाक्य में 'गौः का अर्थ गोत्वरूप जातिमान्, 'शुक्ल' का अर्थ शुक्लत्वरूप गुणवान्, 'चलः' का अर्थ 'चलनरूप क्रियावान्' और 'डित्थः' का अर्थ डित्थसंज्ञावान् होगा। एक गौरूप व्यक्ति ही इन चारों शब्दों का

अर्थ होगा; क्योंकि व्यक्तिवादी के मत में व्यक्ति ही इन चारों का प्रवृत्तिनिमित्त है और यह गोव्यक्ति एक ही है अतः विषय-विभाग न होगा। तब तो ये चारों शब्द पर्याय हो जायेंगे और इनका साथ २ प्रयोग भी न हुआ करेगा; जैसे 'घटः कलशः' का सहप्रयोग नहीं होता।

इन तीनों दोषों के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह न मानकर व्यक्ति की जो चार प्रकार की उपाधि अर्थात् विशेषण या विशेष धर्म (जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा) हैं, उसमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये। इस प्रकार 'जाति' इत्यादि भिन्न २ प्रवृत्ति निमित्त होने से इन शब्दों का सह प्रयोग उचित ही है। जहाँ तक व्यवहार-निर्वाह की बात है, उपाधि-शक्तिवाद में शब्द से गोत्व आदि जाति का बोध होता है और जाति व्यक्ति के बिना रह नहीं सकती अथवा उसका लाना आदि नहीं हो सकता, इस हेतु आक्षेप से व्यक्ति में व्यवहार का निर्वाह हो जाता है।

टिप्पणी:—(i) अर्थक्रियाकारिता—यहाँ पर 'अर्थ' शब्द का अभिप्राय 'प्रयोजन' (कार्य) है प्रत्येक वस्तु किसी प्रयोजन को सिद्ध करती है जैसे गाय दुग्ध प्रदान करती है, घड़ा जलाहरणरूप कार्य का सम्पादन करता है। यही इन वस्तुओं की अर्थक्रिया है; अर्थाय क्रिया अर्थक्रिया अथवा अर्थस्य क्रिया अर्थक्रिया। जलाहरण रूपा क्रिया ही घट की अर्थक्रिया है। अर्थक्रिया करोति इति अर्थक्रियाकारी तस्य भावः अर्थक्रियाकारिता—अर्थ + क्रिया + √कृ + णिनि + तल्। इस प्रकार-वस्तुओं का किसी कार्य को करने का सामर्थ्य ही अर्थक्रियाकारिता कहा जाता है। यह बौद्ध दर्शन की भूमि में विशेष प्रसिद्ध शब्द है।

(ii) प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्याः—जब हम किसी अर्थ का प्रमाण द्वारा ग्रहण करते हैं तो उसके प्रति तीन प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है—ग्रहण, त्याग तथा उपेक्षा (उपादान-हान तथा उपेक्षा) जिस वस्तु को हम ग्रहण करना चाहते हैं उसको लेने के लिए प्रवृत्त होते हैं। वस्तु को ग्रहण करने की चेष्टा ही प्रवृत्ति कहलाती है। जिस वस्तु को हम हानिकर समझते हैं उसे त्यागने की चेष्टा करते हैं तथा जिसके प्रति उपेक्षा बुद्धि होती है उसके प्रति उदासीन रहते हैं। इन वस्तुओं से हम निवृत्त होते हैं, प्रतिषिद्ध या द्विष्ट एवं उपेक्षित वस्तुओं से बचना ही निवृत्ति है। यह प्रवृत्ति तथा निवृत्ति व्यक्ति के प्रति ही हो सकती है जाति अर्थात् गोत्व आदि में नहीं।

(iii) उपाधिः—एक या अनेक वस्तुओं के ऐसे धर्म को उपाधि कहते हैं जो उन्हें दूसरी वस्तुओं से भिन्न भी करता है। यह विशेषण या विशेष धर्म कहा जा सकता है, दूसरी वस्तुओं से पार्थक्य प्रकट करने के कारण यह भेदक या व्यवच्छेदक धर्म भी है। जाति (सामान्य) गुण, क्रिया और संज्ञा सभी उपाधि के अन्तर्गत हैं, अतः 'गोत्व' आदि जाति की अपेक्षा उपाधि एक व्यापक बुद्धि है।

निमित्त) निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही है तथापि व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण तथा व्यभिचार (दोष के प्रसङ्ग) के कारण व्यक्ति में संकेत करना (मानना) उचित नहीं है—इस हेतु से (इति) और (यदि प्रत्येक शब्द का अर्थ व्यक्ति होगा तो) डित्थ (इस संज्ञा वाला) शुक्ल (रंग का) बैल (जातिवाचक) चलता है (क्रिया) इत्यादि शब्दों के अर्थ का भेद (विषयविभागः) नहीं होगा (क्योंकि सभी एक व्यक्ति के वाचक होंगे) इस हेतु से भी (इति च) उस व्यक्ति की उपाधि (धर्म या विशेषण जात्यादि) में ही सङ्केतग्रह होता है।

प्रभा—आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दों का संकेतग्रह व्यक्ति रूप अर्थ में ही होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति से हमारे जीवन के व्यवहार सिद्ध होते हैं। गौ व्यक्ति ही दूध देना आदि प्रयोजनों को पूर्ण करने वाली है (अर्थक्रियाकारी है), तथा दूध दोहने आदि के लिये गो व्यक्ति में ही देवदत्त आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है और सींगों की चोट (शृङ्गाघात) से बचने के लिये गो व्यक्ति से निवृत्ति देखी जाती है। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही है। जीवन का व्यवहार व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। व्यवहार द्वारा ही प्रथम संकेतग्रह भी होता है इसीलिये 'व्यक्ति' ही पदार्थ है यह शंका होती है।

'तथापि' इत्यादि से ग्रन्थकार इसका समाधान करते हैं कि व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानने में तीन बाधायें हैं—(१) आनन्त्य (२) व्यभिचार (३) विषयविभागाप्राप्ति। *अतः व्यक्ति में सङ्केतग्रह न मानकर उपाधि में ही सङ्केतग्रह मानना* उचित है। अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति में सङ्केतग्रह माना जाये तो दो विकल्प हो सकते हैं :—१. क्या समस्त व्यक्तियों में सङ्केत-ग्रहण के पश्चात् व्यवहार का निर्वाह होता है अथवा २. किसी एक व्यक्ति में संकेतग्रह के पश्चात् ही व्यवहार का निर्वाह हो जाता है। यदि इनमें से प्रथम विकल्प माना जावे तो कठिनाई यह है कि व्यक्ति तो अनन्त हैं, वे एक साथ एक देश में उपस्थित नहीं हो सकते; अतः उनमें सङ्केतग्रह हो ही नहीं सकता (आनन्त्य)। द्वितीय विकल्प को मानें तो आपत्ति यह है कि जिस व्यक्ति में सङ्केत-ग्रह हुआ है उससे भिन्न व्यक्ति की उस शब्द से प्रतीति न होगी और यदि होगी तो 'सङ्केतित अर्थ का ही शब्द से बोध होता है' यह नियम भङ्ग हो जायेगा और फिर तो गो शब्द से अश्व की प्रतीति भी होने लगेगी, यह अनियम अर्थात् व्यभिचार दोष होगा। इन आनन्त्य और व्यभिचार नामक दो बाधाओं के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह हो ही नहीं सकता।

यदि किसी प्रकार व्यक्ति में संकेतग्रह मान भी लिया जावे तो पद के विभिन्न अर्थों का भेद प्रकट न हो सकेगा; क्योंकि तब तो "गौःशुक्लः चलो डित्थः" अर्थात् डित्थ नामक सफ़ेद बैल जा रहा है' इस वाक्य में 'गौः' का अर्थ गोत्वरूप जातिमान्, 'शुक्ल' का अर्थ शुक्लत्वरूप गुणवान्, 'चलः' का अर्थ 'चलनरूप क्रियावान्' और 'डित्थः' का अर्थ डित्थसंज्ञावान् होगा। एक गोरूप व्यक्ति ही इन चारों शब्दों का

अर्थ होगा; क्योंकि व्यक्तिवादी के मत में व्यक्ति ही इन चारों का प्रवृत्तिनिमित्त है और वह गोव्यक्ति एक ही है अतः विषय-विभाग न होगा। तब तो ये चारों शब्द पर्याय हो जायेंगे और इनका साथ २ प्रयोग भी न हुआ करेगा; जैसे 'घटः कलशः' का सहप्रयोग नहीं होता।

इन तीनों दोषों के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह न मानकर व्यक्ति की जो चार प्रकार की उपाधि अर्थात् विशेषण या विशेष धर्म (जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा) हैं, उसमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये। इस प्रकार 'जाति' इत्यादि भिन्न २ प्रवृत्ति निमित्त होने से इन शब्दों का सह प्रयोग उचित ही है। जहाँ तक व्यवहार-निर्वाह की बात है, उपाधि-शक्तिवाद में शब्द से गोत्व आदि जाति का बोध होता है और जाति व्यक्ति के बिना रह नहीं सकती अथवा उसका लाना आदि नहीं हो सकता, इस हेतु आक्षेप से व्यक्ति में व्यवहार का निर्वाह हो जाता है।

टिप्पणी:—(i) अर्थक्रियाकारिता—यहाँ पर 'अर्थ' शब्द का अभिप्राय 'प्रयोजन' (कार्य) है प्रत्येक वस्तु किसी प्रयोजन को सिद्ध करती है जैसे गाय दुग्ध प्रदान करती है, घड़ा जलाहरणरूप कार्य का सम्पादन करता है। यही इन वस्तुओं की अर्थक्रिया है; अर्थात् क्रिया अर्थक्रियां अथवा अर्थस्य क्रिया अर्थक्रिया। जलाहरण रूपा क्रिया ही घट की अर्थक्रिया है। अर्थक्रिया करोति इति अर्थक्रियाकारी तस्य भावः अर्थक्रियाकारिता—अर्थ+क्रिया+√कृ+णिनि+तल्। इस प्रकार-वस्तुओं का किसी कार्य को करने का सामर्थ्य ही अर्थक्रियाकारिता कहा जाता है। यह बौद्ध दर्शन की भूमि में विशेष प्रसिद्ध शब्द है।

(ii) प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या:—जब हम किसी अर्थ का प्रमाण द्वारा ग्रहण करते हैं तो उसके प्रति तीन प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है—ग्रहण, त्याग तथा उपेक्षा (उपादान-हान तथा उपेक्षा) जिस वस्तु को हम ग्रहण करना चाहते हैं उसको लेने के लिए प्रवृत्त होते हैं। वस्तु को ग्रहण करने की चेष्टा ही प्रवृत्ति कहलाती है। जिस वस्तु को हम हानिकर समझते हैं उसे त्यागने की चेष्टा करते हैं तथा जिसके प्रति उपेक्षा बुद्धि होती है उसके प्रति उदासीन रहते हैं। इन वस्तुओं से हम निवृत्त होते हैं, प्रतिषिद्ध या द्विष्ट एवं उपेक्षित वस्तुओं से बचना ही निवृत्ति है। यह प्रवृत्ति तथा निवृत्ति व्यक्ति के प्रति ही हो सकती है जाति अर्थात् गोत्व आदि में नहीं।

(iii) उपाधि:—एक या अनेक वस्तुओं के ऐसे धर्म को उपाधि कहते हैं जो उन्हें दूसरी वस्तुओं से भिन्न भी करता है। यह विशेषण या विशेष धर्म कहा जा सकता है, दूसरी वस्तुओं से पार्थक्य प्रकट करने के कारण यह भेदक या व्यवच्छेदक धर्म भी है। जाति (सामान्य) गुण, क्रिया और संज्ञा सभी उपाधि के अन्तर्गत हैं, अतः 'गोत्व' आदि जाति की अपेक्षा उपाधि एक व्यापक बुद्धि है।

गौ है यदि ऐसा न होता तो चित्र लिखित गौ की आकृति भी वस्तुतः गौ कहलाती। अतः वस्तु को स्वरूप देने वाला 'गोत्व' 'घटत्व' आदि धर्म ही जाति कहलाता है। वाक्यपदीय की उक्ति से भी यही अर्थ प्रतीत होता है—कोई गौ अपने स्वरूप से—व्यक्तिगतरूप से—'गौ' नहीं (अथवा गौ शब्द के व्यवहार का विषय नहीं) यदि ऐसा होता तो घट आदि भी गौ हो जाते। और, गौ अपने रूप से (स्वतः ही) अगौ नहीं (अथवा 'यह गाय नहीं' इस व्यवहार का विषय नहीं), किन्तु बात यह है कि उसमें गोत्व का सम्बन्ध है अर्थात् उसमें समवाय सम्बन्ध से गोत्व रहता है इसलिए वह गौ है, पदार्थ का स्वरूप उसकी जाति के कारण ही होता है। अथवा गोत्व आदि जाति के ज्ञान से ही उसमें 'गौ' शब्द का व्यवहार होता है। यह जाति वस्तुधर्म होने के कारण यादृच्छिक [कल्पित] संज्ञा से भिन्न है, सिद्ध धर्म होने से साध्यरूप क्रिया से भिन्न है तथा वस्तु का प्राणप्रद धर्म होने से विशेष प्रतीति के हेतुमात्र गुण से भिन्न है।

गुण (विशेषाधानहेतुः)—द्वितीय उपाधि गुण है, जो वस्तु का सिद्ध धर्म है और किसी वस्तु में विशेष प्रतीति का हेतु है। गोत्व जाति वाली दो या अधिक गौ व्यक्तियों में 'कृष्णा गौः,' शुक्ला गौः' इत्यादि रूप से कृष्ण और शुक्ल आदि गुणों के द्वारा ही भेद की प्रतीति होती है, अतः गुण सजातीय वस्तुओं को एक दूसरे से पृथक् करने वाले हैं, सजातीय-व्यावर्तक हैं। जाति या सामान्य तो वस्तु का स्वरूपाधायक है और गुण वस्तु में विशेषता उत्पन्न करने वाला है। यही दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

क्रिया (पूर्वापरीभूतावयवः)—वस्तु की तृतीय उपाधि क्रियारूप है। यह वस्तु का धर्म तो है किन्तु साध्यावस्था में है, अभी उत्पाद्य है। इसका एक अंश पहले होता है दूसरा बाद में हो रहा है, तीसरा होने वाला है, जैसे—भात बनाने के लिए चूल्हे पर पात्र रखना [अधिश्रयण], वहाँ ताप लगना और फिर पात्र को उतारना [अवतारण] आदि विभिन्न क्रियाएँ हैं। उनका बुद्धिगत समुदाय ही पाचन क्रिया कहलाती है। अतः क्रिया के अवयव क्रम से घटित होते हैं उसके अवयव पूर्वापरीभूत हैं—पहले और बाद में होने वाले हैं। क्रिया अपनी साध्यरूपता के कारण ही जाति तथा गुण से भिन्न है, क्योंकि ये दोनों तो वस्तु के सिद्ध धर्म हैं।

यदृच्छा—वस्तु की चतुर्थ उपाधि है—यदृच्छा। यथार्थ में यह वस्तु का धर्म नहीं, अपि तु व्यवहार के लिये कल्पित संज्ञा मात्र है इसी से यह वस्तु के धर्म जाति, गुण तथा क्रिया से भिन्न है। कोई वक्ता (वृषभ आदि का पालक) अपने बैल का नाम 'डित्थ' रख लेता है। पिता अपने पुत्र का नाम 'देवदत्त' आदि रख लेता है। ये नाम अथवा संज्ञायें यादृच्छिक हैं, वक्ता की स्वेच्छा से होने वाली हैं। जिसका नामकरण किया जाता है, उस व्यक्ति में वक्ता स्वेच्छा से उपाधि के रूप में देवदत्त आदि शब्द को स्थापित या कल्पित कर लेता है। इस यदृच्छा शब्द को संज्ञाशब्द या द्रव्यशब्द भी कहते हैं।

परमाण्वादीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्।

यह शब्द क्या है ? इसका स्वरूप 'डित्थादि······स्वरूप तक' की पंक्तियों में बतलाया गया है—हम जब ड्+इ+त्+थ्+अ आदि क्षणिक वर्णों को सुनते हैं तो अन्तिम वर्ण 'अ' के साथ पूर्व वर्णों (ड् इ आदि) के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों की सहायता से स्फोटरूप 'डित्थ' शब्द का स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। उसमें वर्णों के क्रम का ज्ञान नहीं होता किन्तु एक पद का अनुभव होता है।

टिप्पणी—(i)—यहां भाष्यकार के 'गुण शब्द के द्वारा' अभावादि वाचक शब्दों का भी ग्रहण होता है। वास्तव में यहां जाति, क्रिया और संज्ञा शब्दों से भिन्न सभी शब्द गुणवाची हैं—संज्ञाजातिक्रियाशब्दान् हित्वाऽन्ये गुणवाचिनः।' 'वोतो गुणवचनात्' सूत्र पर तत्त्वबोधिनी।

(ii) वाक्यपदीय—यह भर्तृहरि (सप्तम शताब्दी) का व्याकरण-शास्त्र-विषयक ग्रन्थ है। इसके तीन भाग हैं—(१) ब्रह्म या आगम काण्ड, (२) वाक्य काण्ड, (३) पद या प्रकीर्ण काण्ड।

(iii) लब्धसत्ताकम्—जात्या प्राप्तव्यवहारयोग्यताकम्। भाव यह है कि गोत्व आदि जाति के द्वारा गोपिण्ड में गौ कहलाने की योग्यता आती है। इस प्रकार सभी गायों में गो व्यवहार होने पर शुक्ल आदि गुण एक गौ को दूसरी कृष्णा आदि गौ से विशिष्ट (भिन्न) दिखलाते हैं। यहां 'वैशेषिक' के उस मन्तव्य की ओर भी संकेत है जिसके अनुसार प्रथम क्षण में जातियुक्त द्रव्य उत्पन्न होता है। उस क्षण में वह गुणरहित (निर्गुण) रहता है और द्वितीय क्षण में गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रथम क्षण में सत्ता (स्वरूप) को प्राप्त कर लेने वाली वस्तु में ही गुण विशिष्टता उत्पन्न करते हैं।

अनुवाद—(वैशेषिक शास्त्र में) गुणों के मध्य में परमाणु आदि का पाठ होने के कारण उन्हें (परमाणु आदि को) पारिभाषिक रूप से गुण कहा जाता है (वस्तुतः परमाणु आदि जाति शब्द ही है)।

प्रभा—वैशेषिक शास्त्र में परमाणु शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है—एक तो पृथ्वी आदि चार भूतों के उस सब से छोटे कण के लिये जिसका आगे विभाग नहीं हो सकता, जैसे पृथ्वीपरमाणु, जलपरमाणु आदि। यह परमाणु वैशेषिक के अनुसार एक द्रव्य है। इसमें परमाणुत्व रूप जाति के कारण ही परमाणु शब्द का व्यवहार होगा। दूसरे, सबसे छोटे परिमाण को परमाणु परिमाण कहते हैं अर्थात् परमाणु का परिमाण (=परमाणुत्व=पारिमण्डल्य) भी परमाणु कहा जाता है। वह वैशेषिक की दृष्टि से गुण है। अतः वहां परमाणु शब्द गुणवाचक होगा। इसी प्रकार आदि शब्द (परमाण्वादीनाम्) से संगृहीत परममहत्, विभुत्वा आदि के विषय में भी शङ्का हो सकती है। आत्मा तथा आकाश आदि को वैशेषिक में

गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।

हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादि-

---

परममहत् परिमाण वाला कहा गया है अर्थात् सबसे बड़ा परिमाण परममहत् है। वैशेषिक की दृष्टि से यह गुण है अतः परममहत् शब्द भी गुणवाचक होगा।

इस शङ्का के समाधान के लिये ग्रन्थकार ने 'परमाण्वादीनां''''''गुणत्वम्।, इत्यादि कहा है। जिसका भाव यह है कि परमाणुत्व आदि प्राणप्रद धर्म है, अतः परमाणु आदि शब्द वास्तव में जातिवाचक ही है। वैशेषिक शास्त्र में जो परिमाण नामक गुण के अन्तर्गत इनकी गणना की है, वह इन्हें पारिभाषिक गुण नाम दिया गया है, अर्थात् वह भाक्त (औपचारिक) प्रयोग है। उससे इनके जातिवाचक शब्द होने में कोई अन्तर नहीं आता।

अनुवाद—(भिन्न-भिन्न पदार्थों में विद्यमान) गुण, क्रिया तथा यदृच्छात्मक संज्ञाओं के वास्तव में (स्वरूपतः) एक रूप होने पर भी आश्रय के भेद से (उनमें) भेद सा प्रतीत होता है, जैसे एक ही मुख खड्ग, दर्पण तथा तैल आदि आलम्बन भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है।

प्रभा—यहाँ गुणरूप, क्रियारूप और संज्ञारूप उपाधियों को संकेत का विषय माना गया है। किन्तु भिन्न-२ वस्तुओं में शुक्लादि रूप भिन्न २ हैं; जैसे शङ्ख दूध और चीनी के शुक्लवर्ण भिन्न २ हैं, तब इनमें संकेत मानना कैसे सम्भव है? ये शुक्लादि विविध व्यक्ति ही हैं, इनमें संकेत मानने से वही आनन्त्य और व्यभिचार दोष होगा जो व्यक्ति में संकेत मानने में बाधक है। इसके समाधान रूप में ग्रन्थकार 'गुण'''आलम्बनभेदात्' इत्यादि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सब शुक्ल पदार्थों—शङ्ख, दूध तथा चीनी आदि में रहने वाला शुक्ल गुण एक ही है, उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं। केवल आश्रय के भेद से ही भिन्न २ पदार्थों में रहने वाले 'शुक्ल' में भिन्नता सी प्रतीत हो रही है, जैसे एक ही मुख को जब तलवार में, दर्पण में अथवा तैल में देखा जाता है तो वह प्रतिबिम्ब के आधारों की भिन्नता के कारण अपरिवर्तित होते हुए भी भिन्न सा प्रतीत होने लगता है। जब शुक्लादि सर्वत्र एकरूप ही है तो इनको उपाधि मानकर संकेत ग्रहण में कोई आपत्ति नहीं।

अनुवाद—(मीमांसक का मत है कि) हिम, दुग्ध तथा शङ्ख आदि में रहने वाले शुक्लादि गुण वस्तुतः भिन्न-भिन्न हैं। उन भिन्न-भिन्न शुक्ल गुणों में जिसके कारण (यद्वशेन) यह शुक्ल है, 'यह भी शुक्ल है' इस प्रकार का समान शब्दव्यवहार (अभिधान) और प्रतीति उत्पन्न होती है, वह शुक्लत्व आदि सामान्य या जाति है। इसी प्रकार गुड़ और चावल आदि की (भिन्न-भिन्न) पाकक्रिया में पाकत्व आदि

शब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

सामान्य है। और इसी प्रकार बालक, वृद्ध तथा शुक आदि के द्वारा उच्चारित, (अतएव भिन्न-भिन्न) 'डित्थ' आदि शब्दों में - अथवा प्रतिक्षण बदलते हुए (बाल्यकाल, यौवन आदि में परिवर्तित होते हुए अथवा प्रतिक्षण वृद्धिह्रासयुक्त) 'डित्थ' आदि व्यक्तियों में—डित्थत्व आदि सामान्य है। इस हेतु समस्त शब्दों का संकेत-विषय (प्रवृत्तिनिमित्त) जाति ही है—ऐसा कोई (मीमांसक) कहते हैं।

प्रभा—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा ये चार उपाधियाँ हैं जिनमें शब्द का संकेत किया जाता है। शुक्लादि गुण भिन्न भिन्न आधारों में भी वस्तुतः एक ही हैं अतः उनको उपाधि मानकर संकेतग्रह किया जाना सम्भव है। इस बात को मीमांसक स्वीकार नहीं करते। आचार्य मम्मट ने 'जातिरेव वा' कारिकांश से उन्हीं के मत का निर्देश किया है। उनका कथन है कि हिम, दुग्ध तथा शङ्ख आदि में रहने वाला शुक्ल गुण भिन्न भिन्न है और उसे एक मानकर सामान्य उपाधि नहीं कहा जा सकता तथ. उसमें संकेतग्रहण सम्भव ही नहीं है। अतः भिन्न भिन्न शुक्ल गुणों में रहने वाली शुक्लत्व जाति माननी चाहिये। उस शुक्लत्व जाति में ही संकेतग्रह होता है, इसलिये कोई आपत्ति नहीं। इस प्रकार गुड़ तथा चावल आदि की पाकक्रिया भिन्न भिन्न हैं किन्तु उनमें पाकत्व जाति तो है। संज्ञा शब्दों में भी सामान्य रहती ही है; जैसे—बालक, वृद्ध और शुक आदि के बोले हुए 'राम राम' शब्द भिन्न भिन्न हैं, उनमें ही रामत्व जाति है। अथवा यदि समान्य या जाति अर्थ का ही धर्म है तो जिस पिण्ड का नाम डित्थ आदि रखा जाता है वह पिण्ड बाल्य, यौवन तथा वृद्धत्व में भिन्न भिन्न है या कहिये कि शरीर तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अतः एक प्रतीत होने हुए भी क्षण २ में भिन्न ही है; इसीलिये डित्थ संज्ञक व्यक्तियों में 'डित्थत्व नामक सामान्य रहती है। इस प्रकार 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' इस लक्षण वाली सामान्य है जो गुण, क्रिया तथा संज्ञा के विषय में सर्वत्र विद्यमान है और सामान्य या जाति ही शब्दों की प्रवृति का निमित्त है।

टिप्पणी—मीमांसक के मतानुसार जाति ही पदार्थ है। प्रत्येक शब्द जाति या सामान्य का ही वाचक है। 'गामानय' इत्यादि मे 'गाम्' का अर्थ 'गोत्व' ही होता है किन्तु जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है। अतः व्यक्ति का आनयनादि होता है। जाति से व्यक्ति का आक्षेप कैसे हो जाता है, यह १३ सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जायेगा।

अनुवाद—जाति-विशिष्ट व्यक्ति (तद्वान्=जातिमान्) अथवा अपोह (अतद्व्यावृत्ति) ही शब्दार्थ है यह किन्हीं (क्रमशः प्राचीन नैयायिक और बौद्ध) ने कहा है। इनका ग्रन्थ विस्तार के भय से तथा प्रस्तुत विषय में उपयोग न होने के कारण यहाँ विवेचन नहीं किया (न साधकबाधकदर्शनेन दर्शितम्)।

गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।

हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादि-

---

परममहत् परिमाण वाला कहा गया है अर्थात् सबसे बड़ा परिमाण परममहत् है। वैशेषिक की दृष्टि से यह गुण है अतः परममहत् शब्द भी गुणवाचक होगा।

इस शङ्का के समाधान के लिये ग्रन्थकार ने 'परमाण्वादीनां''''''गुणत्वम्', इत्यादि कहा है। जिसका भाव यह है कि परमाणुत्व आदि प्राणप्रद धर्म है, अतः परमाणु आदि शब्द वास्तव में जातिवाचक ही हैं। वैशेषिक शास्त्र में जो परिमाण नामक गुण के अन्तर्गत इनकी गणना की है, वह इन्हें पारिभाषिक गुण नाम दिया गया है, अर्थात् वह भाक्त (औपचारिक) प्रयोग है। उससे इनके जातिवाचक शब्द होने में कोई अन्तर नहीं आता।

अनुवाद—(भिन्न-भिन्न पदार्थों में विद्यमान) गुण, क्रिया तथा यदृच्छात्मक संज्ञाओं के वास्तव में (स्वरूपतः) एक रूप होने पर भी आश्रय के भेद से (उनमें) भेद सा प्रतीत होता है, जैसे एक ही मुख खड्ग, दर्पण तथा तैल आदि आलम्बन भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है।

प्रभा—यहाँ गुणरूप, क्रियारूप और संज्ञारूप उपाधियों को संकेत का विषय माना गया है। किन्तु भिन्न-२ वस्तुओं में शुक्लादि रूप भिन्न २ हैं; जैसे शङ्ख, दूध और चीनी के शुक्लवर्ण भिन्न २ हैं, तब इनमें संकेत मानना कैसे सम्भव है? ये शुक्लादि विविध व्यक्ति ही हैं, इनमें संकेत मानने से वही आनन्त्य और व्यभिचार दोष होगा जो व्यक्ति में संकेत मानने में बाधक है। इसके समाधान रूप में ग्रन्थकार 'गुण'''आलम्बनभेदात्' इत्यादि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सब शुक्ल पदार्थों—शङ्ख, दूध तथा चीनी आदि में रहने वाला शुक्ल गुण एक ही है, उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं। केवल आश्रय के भेद से ही भिन्न २ पदार्थों में रहने वाले 'शुक्ल' में भिन्नता सी प्रतीत हो रही है, जैसे एक ही मुख को जब तलवार में, दर्पण में अथवा तैल में देखा जाता है तो वह प्रतिबिम्ब के आधारों की भिन्नता के कारण अपरिवर्तित होते हुए भी भिन्न सा प्रतीत होने लगता है। जब शुक्लादि सर्वत्र एकरूप ही हैं तो इनको उपाधि मानकर संकेत ग्रहण में कोई आपत्ति नहीं।

अनुवाद—*(मीमांसक का मत है कि) हिम, दुग्ध तथा शङ्ख आदि में रहने* वाले शुक्लादि गुण वस्तुतः भिन्न-भिन्न हैं। उन भिन्न-भिन्न शुक्ल गुणों में जिसके कारण (यद्वशेन) यह शुक्ल है, 'वह भी शुक्ल है' इस प्रकार का समान शब्दव्यवहार (अभिधान) और प्रतीति उत्पन्न होती है, यह शुक्लत्व आदि सामान्य या जाति है। इसी प्रकार गुड़ और चावल आदि की (भिन्न-भिन्न) पाकक्रिया में पाकत्व आदि

शब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।

तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्।

सामान्य है। और इसी प्रकार बालक, वृद्ध तथा शुक आदि के द्वारा उच्चारित, (अतएव भिन्न-भिन्न) 'डित्थ' आदि शब्दों में - अथवा प्रतिक्षण बदलते हुए (बाल्य-काल, यौवन आदि में परिवर्तित होते हुए अथवा प्रतिक्षण वृद्धिह्रासयुक्त) 'डित्थ' आदि व्यक्तियों में—डित्थत्व आदि सामान्य है। इस हेतु समस्त शब्दों का संकेत-विषय (प्रवृत्तिनिमित्त) जाति ही है—ऐसा कोई (मीमांसक) कहते हैं।

प्रभा—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा ये चार उपाधियाँ हैं जिनमें शब्द का संकेत किया जाता है। शुक्लादि गुण भिन्न भिन्न आधारों में भी वस्तुतः एक ही हैं अतः उनको उपाधि मानकर सकेतग्रह किया जाना सम्भव है। इस बात को मीमांसक स्वीकार नही करते। आचार्य मम्मट ने 'जातिरेव वा' कारिकांश से उन्हीं के मत का निर्देश किया है। उनका कथन है कि हिम, दुग्ध तथा शङ्ख आदि में रहने वाला शुक्ल गुण भिन्न भिन्न है और उसे एक मानकर सामान्य उपाधि नहीं कहा जा सकता तथ. उसमें सकेतग्रहण सम्भव ही नही है। अतः भिन्न भिन्न शुक्ल गुणों में रहने वाली शुक्लत्व जाति माननी चाहिये। उस शुक्लत्व जाति में ही संकेतग्रह होता है, इसलिये कोई आपत्ति नही। इस प्रकार गुड तथा चावल आदि की पाकक्रिया भिन्न भिन्न है किन्तु उनमें पाकत्व जाति तो है। संज्ञा शब्दों में भी सामान्य रहती ही है; जैसे—बालक, वृद्ध और शुक आदि के बोले हुए 'राम राम' शब्द भिन्न भिन्न हैं, उनमें ही रामत्व जाति है। अथवा यदि समान्य या जाति अर्थ का ही धर्म है तो जिस पिण्ड का नाम डित्थ आदि रखा जाता है वह पिण्ड बाल्य, यौवन तथा वृद्धत्व में भिन्न भिन्न है या कहिये कि शरीर तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अतः एक प्रतीत होते हुए भी क्षण २ मे भिन्न ही है; इसीलिये डित्थ संज्ञक व्यक्तियों में 'डित्थत्व नामक सामान्य रहती है। इस प्रकार 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' इस लक्षण वाली सामान्य है जो गुण, क्रिया तथा सज्ञा के विषय में सर्वत्र विद्यमान है और सामान्य या जाति ही शब्दों की प्रवृति का निमित्त है।

टिप्पणी—मीमांसक के मतानुसार जाति ही पदार्थ है। प्रत्येक शब्द जाति या सामान्य का ही वाचक है। 'गामानय' इत्यादि में 'गाम्' का अर्थ 'गोत्व' ही होता है किन्तु जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है। अतः व्यक्ति का आनयनादि होता है। जाति से व्यक्ति का आक्षेप कैसे हो जाता है, यह १२ सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जायेगा।

अनुवाद—जाति-विशिष्ट व्यक्ति (तद्वान्=जातिमान्) अथवा अपोह (अतद्व्यावृत्ति) ही शब्दार्थ है यह किन्हीं (क्रमश. प्राचीन नैयायिक और बौद्ध) ने कहा है। इनका ग्रन्थ विस्तार के भय से तथा प्रस्तुत विषय में उपयोग न होने के कारण यहाँ विवेचन नहीं किया (न साधकबाधकदर्शनेन दर्शितम्)।

प्रभाः—(१) तद्वान्—प्राचीन नैयायिकों का विचार है कि न व्यक्ति में शब्द की शक्ति है, न जाति मात्र में; क्योंकि यदि व्यक्ति में शक्ति या संकेत माना जाये तो आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष आते हैं और जाति में शक्ति मानी जाये तो व्यक्ति की प्रतीति नहीं हो सकती, इसलिए जाति-विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति है तथा व्यक्ति विशेष को न लेकर सामान्य रूप से जातिमान् ही शब्द का अर्थ है।

(२) अपोहः—बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि व्यक्ति या जाति शब्दार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति में तो आनन्त्यादि दोष सर्वसम्मत ही हैं और जाति या सामान्य नामक जो भावपदार्थ नैयायिक आदि ने माना है एक तो वह नित्य हो ही नहीं सकता; क्योंकि समस्त वस्तु ही क्षणिक हैं, दूसरे गो व्यक्तियों के अतिरिक्त ऐसे किसी गोत्व नामक भाव पदार्थ की बाह्य जगत् में प्रतीति नहीं होती जो समस्त गो व्यक्तियों में समान रूप से रहता हो। जब समान्य या जाति का अभाव ही है तो उसमें शक्तिग्रह कैसे हो सकता है ? फिर पदार्थ क्या है ? सङ्केतग्रह का विषय क्या है ? अपोह अर्थात् अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ ही सङ्केत का विषय है। जब हम गो शब्द का प्रयोग करते हैं तो गौ के अतिरिक्त (अगौ) समस्त पदार्थों की व्यावृत्ति हो जाती है। 'यह गौ है' इसका अर्थ होता है कि समस्त गोभिन्न अर्थ अर्थात् अश्वादि से यह भिन्न है। ये गोभिन्न (अगौ) अर्थ ही अतद् (वह अर्थात गौ नहीं) हैं। गौ शब्द से इन सब को हटा दिया जाता है यही है अगोव्यावृत्ति अथवा अतद्व्यावृत्ति; इसे ही कहते हैं—अपोह, और यही है शब्द के सङ्केत का विषय या प्रवृत्तिनिमित्त। यह अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ वस्तुतः निषेधात्मक है, भावात्मक नहीं, इसे भ्रान्ति से बाह्य जगत् में विद्यमान भाव पदार्थ मान लिया गया है।

टिप्पणी—सङ्केतित अर्थ क्या है ? इस विषय में आचार्य मम्मट ने निम्न मत प्रस्तुत किये हैं:—(१) महाभाष्यकार—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा—ये चार उपाधियाँ सङ्केतित अर्थ हैं। (२) मीमांसक—केवल जाति, (३) प्राचीन नैयायिक—जाति-विशिष्ट व्यक्ति, (४) बौद्ध—अपोह। इनके अतिरिक्त केवल व्यक्तिवाद का भी उल्लेख किया गया है, जो नव्य नैयायिक का मत है।

इनमें से मम्मट का अभिमत कौन सा मत है ? इस पर व्याख्याकारों ने विचार किया है। नरसिंहठक्कुर के अनुसार व्यक्ति पक्ष ही विचारसह है (तस्माद् व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः)। भ. वामन ने महाभाष्यकार के मत को ही मम्मट का अभिप्रेत बतलाया है। जिसका आधार ये युक्तियाँ हैं—मम्मट ने (१) प्रथम उल्लास में "बुधैः वैयाकरणैः···तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि"—इस कथन द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि अलङ्कारिक आचार्य सामान्यतः व्याकरण के मन्तव्यों का अनुसरण करते हैं। (२)महाभाष्यकार के जात्यादिवाद का विस्तार से विवेचन किया है तथा उसमें सम्भावित आक्षेपों का निराकरण भी किया है। (३) दशम

(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः। अस्येति शब्दस्य।

उल्लास में जाति आदि चार पदार्थ के आधार पर विरोध अलङ्कार के दस भेद किये हैं। (४) जातिवाद की व्याख्या के अन्त में 'इत्यन्ये' तथा जातिविशिष्टवाद और अपोहवाद के साथ 'कैश्चिदुक्तः' आदि शब्दों का प्रयोग किया है; किन्तु जात्यादिवाद के अन्त में नहीं। (५) अपने शब्द-व्यापार-विचार नामक ग्रन्थ में स्पष्ट ही जात्यादिवाद की स्थापना की है। वस्तुतः महाभाष्यकारोक्त मत में ही आचार्य मम्मट का स्वरस है; किन्तु यहाँ मम्मट के मत को निर्धारित करने के लिये युक्तियों की आवश्यकता नहीं। मम्मट ने तो 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिः' इस कारिका में स्वमत का निर्देश करके उसकी विस्तार से व्याख्या की है तथा स्वकथित चतुर्विध प्रवृत्तिनिमित्त में भाष्यकार की सम्मति दिखलाई है।

अनुवाद—वह (साक्षात् सङ्केतित) अर्थ ही मुख्य अर्थ (कहा जाता) है। उस साक्षात् सङ्केतित अर्थ के विषय में (तत्रेति विषय सप्तमी) इस (शब्द) का जो मुख्य व्यापार या वृत्ति है वह अभिधा कहलाती है। (कारिका में) सः (वह) का अभिप्राय है—साक्षात् सङ्केतित और अस्य (इसका) का अभिप्राय है—शब्द का। (११)

प्रभा:—(१)कुछ विवेचकों का विचार था कि वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ के समान चतुर्थ अर्थ भी है जिसे मुख्य अर्थ कहते हैं। आचार्य मम्मट ने उनका समाधान करते हुए बतलाया है कि वह साक्षात्संकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ कहलाता है। प्रथम प्रकट होने के कारण ही वह मुख्य अर्थ है जैसा कि कहा भी है—"शब्दव्यापारात् योऽर्थोऽव्यवधानेन गम्यते सोऽर्थो मुख्यः स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते तथा सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थेभ्यः पूर्वमवगम्यते तस्मात् मुखमिव मुख्यः इति 'शाखादिभ्यो यः (५·३·१०३)' इति पाणिनिसूत्रेण यप्रत्ययः।"

(२)साक्षात्संकेतित अर्थ में जो शब्द का किसी प्रकार की बाधा आदि के बिना मुख्य व्यापार है, वही अभिधावृत्ति कहलाती है। इसे शक्ति कहते भी कहते हैं। शक्ति और संकेत शब्दों का भी कहीं कहीं समान रूप से व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः दोनों में भेद है 'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये' (अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः) इस प्रकार की मान्यता ही संकेत है। यह संकेत शक्ति का ग्राहक है। शक्ति या अभिधा वह व्यापार (वृत्ति) है, जिससे साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है यथा गो शब्द का सास्नादिमान् अर्थ में सङ्केतग्रह होने के पश्चात् गो शब्द से सङ्केतित गोरूप अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का जनक, शब्द का व्यापार अभिधा या शक्ति कहलाता है। अतः 'शक्ति' सङ्केत नहीं अपितु सङ्केत ग्राह्य है—

(१२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

'सङ्केतग्राह्यं' शक्त्याख्यपदार्थान्तरमभिधा'। कहीं-कहीं अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों को ही शब्दशक्ति (या शक्ति) कहा गया है (तिस्रः शब्दस्य शक्तयः सा० द० २·३) वहाँ 'शक्ति' शब्द 'वृत्ति' शब्द का समानार्थक है।

अनुवाद—मुख्य अर्थ का बाध होने पर और उस (मुख्यार्थ) के साथ सम्बन्ध (योग) होने पर प्रसिद्धि (रूढि) से या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा (यत् यथेत्यर्थकमव्ययम्) अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह (शब्द में) कल्पित (आरोपित) वृत्ति या व्यापार (क्रिया) लक्षणा है। (१२)

प्रभा—वाचक शब्द के निरूपण के पश्चात् लाक्षणिक शब्द का स्वरूप बतलाना है अतएव प्रथम लक्षणा का स्वरूप दिखाते हैं। शब्द के जिस व्यापार द्वारा मुख्य से भिन्न अर्थ लक्षित होता है वह लक्षणा वृत्ति कहलाती है (अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणा) यही लक्षणा का स्वरूप है, परिभाषा या लक्षण है। अभिधा वृत्ति से इसका भेद प्रकट करने के लिये 'आरोपिता क्रिया' ये शब्द जोड़े गये हैं।

इन शब्दों का वृत्ति में शब्दव्यापारः (=क्रिया) सान्तरार्थनिष्ठः (=आरोपिता)—यह अर्थ किया गया है। अधिकांश टीकाकारों के अनुसार इसका भाव यह है कि लक्षणा एक ऐसा व्यापार है जो साक्षात् रूप से वाच्यार्थ में रहता है; किन्तु परस्पर सम्बन्ध से शब्द में रहता है। उदाहरणार्थ "गङ्गायां घोषः" में 'गङ्गा' शब्द से अभिधा वृत्ति द्वारा 'गङ्गाप्रवाहः' अर्थ का बोध होता है। यही वाच्यार्थ है जो 'गङ्गातट' को लक्षित करता है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ (गङ्गातट) के बोधन का व्यापार वस्तुतः वाच्यार्थ (गङ्गाप्रवाह) में है, तथापि वाच्यार्थ के धर्म (व्यापार) का शब्द में आरोप कर लिया जाता है तथा शब्द को लाक्षणिक कहा जाता है अतः लक्षणा शब्द का आरोपित (Superimposed) व्यापार है।

इस व्याख्या के लिये 'सान्तरार्थनिष्ठ' शब्द की व्युत्पत्ति में क्लिष्ट कल्पनाएं भी की गई हैं। किन्तु काव्य-प्रकाश की पद-योजना एवं (माणिक्यचन्द्र आदि की) प्राचीन टीकाओं से यह अर्थ दूर चला गया प्रतीत होता है। वस्तुतः अभिधा शब्द का मुख्य व्यापार है, उसकी लोक प्रसिद्ध शक्ति है वह साक्षात् सङ्केतित अर्थ का बोध कराती है। किन्तु कभी कभी मुख्यार्थ का बाध तथा उससे सम्बन्ध होने पर रुढि या प्रयोजन के आधार पर शब्द में एक अमुख्य व्यापार की कल्पना कर ली जाती है। वह शब्द का साक्षात् (मुख्य) व्यापार नहीं होता; क्योंकि यह शब्द का सान्तरार्थनिष्ठ व्यापार है। शब्द प्रथमतः मुख्य अर्थ का बोध कराता है और उसके बोधन में बाधित होकर अन्य (लक्ष्य) अर्थ का बोध कराता है। लक्ष्य-अर्थ-सान्तर= अन्तर या व्यवधान सहित=व्यवहित है; क्योंकि मुख्यार्थ बाध आदि होने पर शब्द से

उसका बोध होता है। अतः व्यवहित अर्थ (=लक्ष्य-अर्थ) का बोध कराने वाले व्यापार को शब्द का आरोपित व्यापार कहा गया है। इस प्रकार शब्द के मुख्य एवं लोक प्रसिद्ध व्यापार (अभिधा) की तुलना में लक्ष्यार्थ कल्पित या आरोपित शब्द व्यापार है। सान्तरार्थनिष्ठः=अन्तर व्यवधान तेन सह वर्तते इति सान्तरः (मुख्यार्थबाधादुपस्थितया) व्यवहितो योऽर्थः लक्ष्यरूपः, तन्निष्ठः=तद्विषयकः (तद्बोधकः) इत्यर्थः।

मुख्यार्थबाध—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग (तद्योग) तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन ये तीन समुदित रूप से लक्षणा के हेतु हैं। जैसा कि ग्रन्थकार ने २५ सूत्र की व्याख्या में स्वयं ही कहा है—"मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः"। किन्हीं के मत में मुख्यार्थबाध का अभिप्राय यह है कि शब्द का जो वाच्यार्थ है वह अनुपपन्न हो जाये (अन्वयानुपपत्ति)। किन्तु यह अर्थ मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि में लक्षणा न होगी; क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ है—'कौओं से दही की रक्षा करना'—इस अर्थ में अन्वय बन ही रहा है, अन्वयानुपपत्ति नहीं। फिर भी यहाँ 'काक' शब्द की दध्युपघातक में लक्षणा मानी जाती है तथा इस वाक्य का यह अभिप्राय (तात्पर्य) माना जाता है—"कौवे, कुत्ते आदि जो दध्युपघातक (दही को बिगाड़ने वाले) हैं उनसे दही की रक्षा करना"। इस लिये 'मुख्यार्थबाध' का अर्थ अन्वयानुपपत्ति नहीं, अपि तु तात्पर्यानुपपत्ति करना चाहिये (मि०, नागेशभट्ट, परमलघुमञ्जूषा)। तात्पर्य न बन सकना या तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का मूल कारण है, यह लक्षणाबीज कहा गया है—'तात्पर्यानुपपत्तिः लक्षणाबीजम्'।

मुख्यार्थयोग—शब्द से जिस अन्य अर्थात् अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उसका मुख्य अर्थ से सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध सामीप्य आदि किसी प्रकार का हो सकता है।

रूढितोऽथ प्रयोजनात्—कहीं रूढि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण शब्द से अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है और कहीं किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रख कर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर नरसिंहठक्कुर आदि व्याख्याकारों का मत है कि यहाँ मम्मट को 'रूढिलक्षणा और प्रयोजनलक्षणा' दो भेद करना अभीष्ट है; किन्तु अन्य व्याख्याकार इससे सहमत नहीं। यह भी द्रष्टव्य है कि रूढि अथवा प्रयोजन लक्षणा का मुख्य हेतु है, इसी से लक्ष्यार्थ का निर्धारण होता है अन्यथा मुख्यार्थ-बाध होने पर मुख्य-अर्थ से सम्बद्ध किसी भी अर्थ में लक्षणा होने लगे। 'गङ्गायां घोषः' आदि में घोष शब्द की मेंढक आदि में ही क्यों न लक्षणा हो जाय ?

टिप्पणी :—(i) लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग तो मानव ने भाषा ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में ही करना आरम्भ कर दिया होगा किन्तु 'लक्षणावृत्ति' का अन्वेषण भी अत्यन्त प्राचीन है। विश्व के प्रथम भाषा-वैज्ञानिक निरुक्तकार यास्क

ने ब्राह्मण ग्रन्थों में 'भाक्त' प्रयोगों का उल्लेख किया है—'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति'। यह 'भक्ति' या गौणवृत्ति ही आगे चलकर लक्षणा के रूप में विकसित हुई। मीमांसा सूत्रों तथा गौतम के न्याय सूत्रों में भी लक्षणा के बीज मिलते हैं। कालान्तर में न्यायादि दर्शन तथा व्याकरण में इसका अधिकाधिक विवेचन होने लगा। प्राचीन अलङ्कारिकों में उद्भट ने 'गुणवृत्ति' के नाम से एक वृत्ति का उल्लेख किया था। आचार्य वामन के समय तक लक्षणा का पर्याप्त विवेचन हो चुका था, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में गौण तथा लाक्षणिक अर्थ को भिन्न भिन्न रूप में बतलाया गया है साथ ही लक्षणा अनेक निमित्तों से होती है यह दिखलाते हुए—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (४-३-८) यह कहा गया है। ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने भक्ति, गुणवृत्ति आदि शब्दों द्वारा लक्षणा का उल्लेख किया है और लक्षणा के द्वारा 'ध्वनि' व्यङ्ग्य नहीं है—यह दिखलाया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने लक्षणा का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है—"मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः ... (ध्वन्यालोकलोचन उद्योत, १)। मम्मट के लक्षणा के स्वरूप-विवेचन में प्राचीन मतों का प्रभाव है और एक वैज्ञानिक विवेचन भी। प्राचीनों की अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति आदि को आचार्य मम्मट ने 'मुख्यार्थबाध' में संकलित कर दिया, 'सहचरण' (न्यायसूत्र २-२-६१) इत्यादि को तथा प्राचीन अलङ्कारिकों के—

> अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
> वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

इत्यादि ५ निमित्तों को तद्योगे (मुख्ययोगे) में समन्वित कर दिया और लक्षणा के विविध रूपों को ग्रहण करने के लिये 'रूढितोऽथ प्रयोजनात्' यह तृतीय पद लक्षणा के हेतु में सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार यह लक्षणा का एक सर्वांगीण लक्षण निष्पन्न हो गया और बाद के विश्वनाथ कविराज जैसे साहित्य-विवेचकों को भी मम्मट के इस लक्षण की छाया ही देनी पड़ी—

> मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
> रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ (साहित्यदर्पण २, ५)

(ii) आरोपिता—(अर्पिता सा० द०)—मम्मट ने लक्षणा को आरोपित (कल्पित) वृत्ति कहा है। यह कल्पित वृत्ति है इसका क्या अभिप्राय है? मीमांसक के मतानुसार 'अभिधा' शब्द की स्वाभाविक शक्ति है लक्षणा 'अस्वाभाविक' है यही अर्थ है। प्राचीन नैयायिक के अनुसार शक्ति या अभिधा ईश्वरेच्छा से उद्भावित है, किन्तु लक्षणा मनुष्यकल्पित है—यही भाव है। अन्यमतों के अनुसार 'अभिधा' साक्षात् संकेतित अर्थ को कहती है अतः सर्व-सिद्ध शब्दवृत्ति है शब्द का मुख्य व्यापार है; किन्तु लक्षणा अमुख्य अर्थ को कहती है, अतः आरोपिता या कल्पिता वृत्ति है।

कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद्, गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवाद्, मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्यो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।—

अनुवाद—'कर्म में कुशल है' इत्यादि (वाक्य) में कुशग्रहण आदि का सम्बन्ध न होने से (अथवा कुशग्रहण सम्बन्धी योग्यता न होने से), गङ्गा पर घोसियों की वस्ती (घोष) है, इत्यादि (वाक्य) में गङ्गा (प्रवाह) आदि, घोष आदि का आधार नहीं हो सकते, इस कारण (कुशाग्रहण एवं प्रवाहरूप) मुख्यार्थ का बाध हो जाता है (बाधे-बाध होने पर); विवेकशीलता (जो कुशग्राहक तथा चतुर दोनों में है) एवं (गंगा का तट के साथ) समीपता रूप सम्बन्ध है (सम्बन्धे-सम्बन्ध होने पर)। ('कर्मणि कुशल.' में रूढि अर्थात् प्रसिद्धि से तथा ('गंगायां घोष.' में) 'गंगा तट पर घोष है' इत्यादि कथन से जिन पवित्रतादि गुणों की वैसी (विशेषरूपेण) प्रतीति नहीं होती थी, उन (पवित्रतादि) गुणों की वैसी (विशेषरूपेण) प्रतीति कराने रूप प्रयोजन से—जो मुख्यार्थ से उपलक्षित (मुख्येनेति इत्थंभूतलक्षणे तृतीया) अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यवहित अर्थात् असाक्षात् अर्थ में रहने वाला (सान्तरार्थनिष्ठः—सान्तरो व्यवहितो योऽर्थः तन्निष्ठः तद्विषयकः, कल्पित आरोपित) शब्द-व्यापार ही लक्षणा है।

प्रभा—लक्षणा के हेतु में—१. मुख्यार्थबाध २. मुख्यार्थयोग तो सभी लक्ष्यार्थों में समान हैं किन्तु कहीं तो रूढिहेतुक लक्षणा होती है, कहीं प्रयोजनहेतुक, अतः इस विषय में विभाग है। इसी से ग्रन्थकार ने साथ २ दो उदाहरण दिये हैं। 'कर्मणि कुशलः' यह रूढि के कारण होने वाली लक्षणा का उदाहरण है। यहाँ लक्षणा की परिभाषा (लक्षण) इस प्रकार घटित होती है—कुशल शब्द का साक्षात् (मुख्य) अर्थ है—कुश या दर्भ नामक घास को लाने वाला (कुशान् दर्भान् लाति इति) 'कर्म में कुशल है' यहाँ कुश-ग्राहक रूप अर्थ सङ्गत नहीं होता। इस मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। इस असङ्गति का निराकरण करने के लिये यह शब्द 'दक्ष' या 'चतुर' रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करता है। कैसे? कुशा के पत्ते बड़े तीक्ष्ण होते हैं। वे लाने वाले के हाथ आदि को काट देते हैं अतः 'कुशोत्पाटन' या कुशानयन' के लिए एक विवेकशीलता की आवश्यकता है। वैसी ही विवेकशीलता किसी कार्य को भली-भाँति करने के लिये भी अपेक्षित है। यही 'साधर्म्य' सम्बन्ध है। फिर दक्ष या चतुर अर्थ ही क्यों हो जाता है? क्योंकि लोक में 'कुशल' शब्द का 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ प्रसिद्ध (रूढ़) है। इस प्रकार 'कर्मणि कुशलः' में कुशल शब्द की 'दक्ष' अर्थ में लक्षणा होती है।

**(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥**

गङ्गायां घोष :—यह दूसरा उदाहरण प्रयोजनवती लक्षणा का है। तथा हि—'गङ्गायां घोषः' का सीधा सा अर्थ है-'गङ्गा पर घोष अर्थात् घोसियों की बस्ती है'। किन्तु गङ्गा शब्द का मुख्य अर्थ है जलधारा या प्रवाह और उस पर घोष ग्राम हो नहीं सकता या कहिये कि वह घोष का आधार नहीं हो सकता; अतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है तथा यहाँ प्रयोजन के कारण गङ्गा से सम्बद्ध तट में लक्षणा मानी जाती है—गङ्गातट गङ्गा की धारा के समीप है अतः गङ्गा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध है। 'गङ्गा' शब्द से गङ्गा-तट का लक्षणा-द्वारा बोध कराने में प्रयोजन यह है कि इससे शीतता, पावनता आदि की प्रतीति होती है; क्योंकि गङ्गा में शीतता, पावनता है। यदि 'गङ्गा-तटे घोषः' अर्थात् 'गङ्गातीर पर घोष है' ऐसा वाक्य-प्रयोग किया जाय तो शीतता-पावनतादि की वैसी प्रतीति नहीं होगी, गङ्गा से दूर भी तो गङ्गातीर पर 'घोष' हो सकता है। जहा गङ्गा की शीतता-पावनतादि का कोई सम्बन्ध न हो। अतएव 'गङ्गायां घोषः' आदि में गङ्गाशब्द की गङ्गा-तीर में लक्षणा होती है।

टिप्पणी :—(i) साहित्यदर्पणकार ने रूढि लक्षणा के 'कर्मणि कुशलः' उदाहरण को अयुक्त बतलाया है। उनका कथन है कि 'कुशल' शब्द लाक्षणिक नहीं अपितु वाचक है। यद्यपि इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कुश-ग्राहक है तथापि इसका मुख्य अर्थ तो दक्ष या निपुण ही है। शब्द के दो प्रकार के अर्थ हैं-एक व्युत्पत्ति से प्राप्त होने वाला-व्युत्पत्तिलभ्य (etymological) और दूसरा व्यवहार से प्राप्त होने वाला प्रवृत्तिम्य (current)। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मुख्य नहीं होता अपितु प्रवृत्तिलभ्य अर्थ मुख्य हुआ करता है। यदि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही मुख्य माना जायेगा तो 'गौःशेते' इत्यादि में भी लक्षणा होने लगेगी; क्योंकि 'गच्छति इति गौः' (गमेर्डोः) इस प्रकार गो शब्द की व्युत्पत्ति होती है और गौ के सोते समय इस शब्द का प्रयोग बाधित हो जायेगा (साहित्यदर्पण २.५)। वस्तुतः आचार्य मम्मट ने जो 'कुशल' शब्द में लक्षणा मानी है इसमें एक परम्परा का अनुसरण किया गया है। उनसे पूर्व कुमारिलभट्ट ने यहां लक्षणा मानी थी तथा बाद में अनेक आचार्य कुशल, मण्डप आदि शब्दों में लक्षणा मानते रहे। इस दृष्टिकोण से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही मुख्य होता है (ii) तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च—उस प्रकार से प्रतीति कराने रूप प्रयोजन से। यहाँ 'तथा' की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है। फलतः (क) तथा=विशेषतः, अर्थात् शैत्य-पावनत्वादि की तीर में प्रतीति कराना, अथवा (ख) जिस प्रकार गङ्गा में शैत्य—पावनत्वादि हैं उसी प्रकार तीर में प्रतीति कराना, अथवा (ग) शैत्य-पावनत्वादि के अतिशय की तीर में (किन्च घोष में भी) प्रतीति कराना—प्रयोजन है।

अनुवाद—अपनी (अर्थात् शक्य या मुख्य अर्थ की) अन्वयसिद्धि के लिये दूसरे (अमुख्य) अर्थ को उपस्थित करना उपादान (कहलाता) है तथा दूसरे (अशक्य) (तीरादि) के लिये अपने (शब्दार्थ, प्रवाहादि) को समर्पित कर देना या त्यागना लक्षण (कहलाता) है। इस प्रकार उपादान और लक्षण रूप से (इति) वह दो प्रकार की (उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा) शुद्धा लक्षणा ही कही गई है। (१३)

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्धयर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषाः आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा। गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या

प्रभा—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि आदि के विवेचन के लिये ग्रन्थकार ने लक्षणा के भेदों का निरूपण किया है। सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद है शुद्धा और गौणी। शुद्धा लक्षणा के भी दो भेद हैं—१. उपादानलक्षणा तथा २. लक्षण-लक्षणा। उपादानलक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अपने मुख्यार्थ की सङ्गति के लिये स्वसम्बद्ध किसी अन्य अर्थ को प्रस्तुत कर लेता है जैसे—कुन्ताः प्रविशन्ति। लक्षणलक्षणा वहाँ होती है, जहाँ कोई शब्द अन्य अर्थ के लिये अपने अर्थ का त्याग कर देता है; जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि।

यहाँ आचार्य मम्मट ने उपादान तथा लक्षण का स्वरूप बतलाकर इन दोनों के निमित्त से होने वाली दो प्रकार की शुद्धा लक्षणा का निरूपण किया है। (१) उपादान का अर्थ है ग्रहण अतः उपादानलक्षणा में कोई शब्द अपने अर्थ का त्याग न करता हुआ तात्पर्य सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ को प्रस्तुत कर देता है। इस अभिप्राय से 'प्रदीपकार' ने कहा है—'स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानम्' इसी से वैयाकरणों ने इसे 'अजहल्लक्षणा' या अजहत्स्वार्था वृत्ति' कहा है। साहित्यदर्पण कार ने इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के हेतु कहा है—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा॥ (साहित्यदर्पण २·६)

(२) लक्षण का अर्थ है—दूसरे का उपलक्षण (परस्योपलक्षणम्) अथवा दूसरे अर्थ के लिये स्वार्थ का परित्याग (परार्थं स्वसमर्पणम्)। लक्षण-लक्षणा में कोई शब्द अपने अर्थ को त्यागकर अन्य अर्थ का उपलक्षक मात्र हो जाता है। इसी से 'प्रदीपकार' ने कहा है—'स्वार्थपरित्यागेन परार्थोपस्थापनं लक्षणम्'। यही जहत्स्वार्था वृत्ति या जहल्लक्षणा भी कहलाती है। साहित्यदर्पणकार ने इस भाव को निम्न प्रकार से दिखाया है—

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा॥ (साहित्यदर्पण २·७)

अनुवाद—(उपादानलक्षणा का उदाहरण) 'भाले आ रहे हैं' 'लाठियाँ आ रही हैं' इत्यादि वाक्यों में (प्रवेशन क्रिया में अन्ययानुपपत्ति के कारण) 'कुन्त' आदि के द्वारा अपने प्रवेश की सिद्धि के लिये अपने अर्थों से सम्बद्ध (कुन्त-धारी तथा यष्टिधारी) पुरुषों का ग्रहण किया जाता है। इस हेतु (ततः) स्वार्थ को न छोड़कर परार्थ ग्रहण करने के कारण (उपादानेन) यह उपादानलक्षणा है।

(मीमांसकनिर्दिष्ट उपादानलक्षणा का उदाहरण) 'गौरनुबन्ध्यः' अर्थात् गौ का आलम्भन करना चाहिये' इत्यादि (वाक्यों) में वेद-विहित (श्रुतिचोदितम्)

व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्ति-विशेषणे' इति न्यायात्—इत्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्ति-राक्षिप्यते; यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च।

पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

आलम्भन मेरा (गोत्व जाति का) कैसे सम्भव है ? इस (मुख्यार्थबाध) हेतु से (इति) गोत्वरूप जाति के द्वारा गोव्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है, (गोव्यक्ति को) शब्द से (अभिधा द्वारा) नहीं कहा जाता; क्योंकि यह न्याय अर्थात् नियम है कि विशेषण (गोत्वादि) के बोध कराने में जिसकी शक्ति क्षीण हो गई है वह अभिधा विशेष को स्पर्श नहीं करती अर्थात् विशेष्य या व्यक्ति को नहीं कह सकती, (गच्छेत् यायात् स्पृशेत्-भ. वामन)।

(खण्डन) यह उपादानलक्षणा का उदाहरण तो नहीं देना चाहिये; क्योंकि यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है; अथवा यह रूढ़ि भी नहीं है। यहाँ तो जाति द्वारा व्यक्ति का अनुमान कर लिया जाता है (आक्षिप्यते); क्योंकि जाति व्यक्ति के बिना नहीं रहती ('व्यक्त्यविनाभावी' व्यक्तिं विना न भवति इति) है। जैसे—'क्रियताम्' (किया जाय) यहाँ पर कर्ता (भवता आदि), 'कुरु' (करो) यहाँ पर कर्म (कार्यम्) आदि; 'प्रविश' प्रविष्ट हो, यहाँ गृहम् (घर में), 'पिण्डीम्' (चूरमा) यहाँ भक्षय (खाओ) आदि का आक्षेप होता है।

'देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी मोटा है, यहाँ पर रात्रि में खाना लक्षणा द्वारा नहीं प्रतीत होता; क्योंकि रात्रि-भोजन (तस्य) की प्रतीति श्रुतार्था-पत्ति या अर्थापत्ति का विषय है।

प्रभा—आचार्य मम्मट उपादानलक्षणा का उदाहरण देते हैं—'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' आदि। कुन्त या यष्टि में प्रवेशन-कार्य सम्भव नहीं; क्योंकि प्रविष्ट होना चेतन का धर्म है अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। कुन्त आदि शब्द अपने अर्थ की सङ्गति के लिये अपने से सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं। 'कुन्त' का अर्थ कुन्तधारी पुरुष हो जाता है। यह 'कुन्त' शब्द अपने अर्थ को रखते हुए परार्थ का भी ग्रहण कर लेता है अतः यहाँ उपादान-लक्षणा है। कुन्तों की अधिकता का बोध कराना ही इसका प्रयोजन है। 'छत्रिणो यान्ति', 'काकेभ्यः दधि रक्ष्यताम्' आदि भी इसके उदाहरण हैं।

'गौरनुबन्ध्यः'—मीमांसक लोग 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादि स्थलों पर उपादान लक्षणा मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि 'गो' शब्द का साक्षात् अर्थ गोत्व (जाति) है और जब वेद में गौ के आलम्भन का विधान किया गया है तो गोत्व जाति यह सोचती है कि वेद में विहित यह आलम्भन मेरा कैसे हो सकता है ? तब अपने अर्थ

की सङ्गति के लिये लक्षणा द्वारा गो व्यक्ति को प्रस्तुत कर देती है। यदि कहो कि अभिधावृत्ति से ही यहाँ 'गो' शब्द गो-व्यक्ति का बोध क्यों नहीं करा देता, तो इसका उत्तर यही है कि 'गो' शब्द प्रथमतः अभिधावृत्ति में विशेषण अर्थात् गोत्व का बोध कराता है। 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिविशेष्ये चोपजायते' यह न्याय भी है। इस प्रकार अभिधा की शक्ति विशेषण के बोध में ही समाप्त हो जाती है और अभिधा विशेष्य (व्यक्ति) का बोध नहीं करा सकती। जैसा कि 'विशेष्यम्०' इत्यादि न्याय भी है। अतः यहाँ उपादानलक्षणा है।

आचार्य मम्मट कहते हैं कि यहाँ उपादानलक्षणा नहीं हो सकती। यह ठीक है कि यहाँ मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थ से सम्बन्ध (तद्योग) है किन्तु लक्षणा रूढि या प्रयोजन से होती है; इनमें से कोई एक (अन्यतर) लक्षणा का अनिवार्य हेतु है। यहाँ पर रूढि है न प्रयोजन। वस्तुतः यहाँ पर जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है; क्योंकि जाति (गोत्वादि) व्यक्ति के बिना नहीं रहती अतः उसका आक्षेप कर लेती है। इस प्रकार नित्यप्रति के जीवन में भी या तो अर्थ का आक्षेप होता है, जैसे 'क्रियताम्' के द्वारा सम्मुख स्थित कर्ता का; अथवा शब्द का आक्षेप होता है, जैसे 'प्रविश' के द्वारा 'गृहम्' आदि शब्द का।

इसी प्रकार कुछ मीमांसकों ने 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि स्थल में उपादान लक्षणा द्वारा रात्रि-भोजन की प्रतीति मानी है। आचार्य मम्मट का कथन है कि यहाँ 'रात्रि-भोजन' की प्रतीति लक्षणा से नहीं होती; अपितु कुमारिल के मत में श्रुतार्थापत्ति से और प्रभाकर के मत में अर्थापत्ति मात्र से रात्रि-भोजन की प्रतीति होती है।

टिप्पणी—(i) "गौरनुबन्ध्यः'—गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः" इत्यादि श्रुति है, जिसके द्वारा ज्योतिष्टोम याग में गौ के अनुबन्धन (आलम्भन, हनन) का विधान किया गया है। इसमें गौ शब्द को मण्डनमिश्र ने उपादानलक्षणा के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ उसी का खण्डन आचार्य मम्मट ने किया है, यह भ० वामन का मत है। अन्य मतानुसार यहाँ मुकुलभट्ट की इस मान्यता का खण्डन है—"तस्योदाहरणं गौरनुबन्ध्य इति।...जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधन-भावं न प्रतिपद्यते इति शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। तेनासौ लाक्षणिकी।" अभिधावृत्तिमातृका।

नह्यत्र प्रयोजनमस्ति—लक्षणा का प्रयोजन होता है—मुख्य अर्थ में रहने वाले किसी विशेष गुण या धर्म (attribute) की प्रतीति कराना; जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा शब्द के मुख्य अर्थ (जलप्रवाह) में रहने वाले शैत्य-पावनत्व आदि धर्मों की प्रतीति कराना लक्षणा का प्रयोजन है किन्तु 'गो' शब्द की गोव्यक्ति में लक्षणा मानने में तो कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि 'गो' शब्द का मुख्यार्थ गोत्व जाति है और उस (गोत्व) में कोई भी धर्म या गुण नहीं रह सकता (वैशेषिक आदि के अनुसार सामान्य अर्थात् जाति, समवाय और विशेष नामक पदार्थों में कोई अन्य धर्म नहीं रहता)।

न वा रूढिरियम्—रूढि लक्षणा वहाँ होती है जहाँ (१) कोई शब्द

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।

अपने मुख्य अर्थ में भाषा में प्रचलित हो, (२) जब वह दूसरे (लक्ष्य) अर्थ में रूढ हो जाये तो अपने मुख्य अर्थ को छोड़ दे; जैसे 'कुशल' आदि शब्द हैं किन्तु 'गो' शब्द का गोत्व जाति के अर्थ में कभी भाषा में प्रचलन नहीं रहा और जब यह शब्द गोव्यक्ति का बोधक होता है तब भी अपने 'गोत्वजाति' रूप मुख्य अर्थ को बिल्कुल छोड़ नहीं देता; क्योंकि गोव्यक्ति में गोत्वजाति रहती ही है इस प्रकार यहाँ रूढि लक्षणा नहीं हो सकती ।

(ii) 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' आदि में भी मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा मानी है । उसका खण्डन आचार्य मम्मट ने यहाँ किया है । अथवा स्वमत की पुष्टि के लिये अर्थापत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण ही यहाँ दिखलाया गया है ।

(iii) श्रुतार्थापत्ति और अर्थापत्ति—

मीमांसक के मतानुसार अर्थापत्ति एक पृथक् प्रमाण है । इसका साधन है अन्यथानुपपत्ति अर्थात् जहाँ किसी बात को माने बिना (अन्यथा) कोई प्रत्यक्षसिद्ध बात नहीं बन पाती, अनुपपन्न या असङ्गत रहती है; ऐसे स्थल पर उस पूर्व बात को अर्थापत्ति द्वारा अनुमित या कल्पित कर लिया जाता है; जैसे दिन में न खाने वाले देवदत्त का मोटापन रात्रि-भोजन की कल्पना के बिना नहीं बनता अतः अर्थापत्ति द्वारा 'रात्री-भोजन' का आक्षेप हो जाता है ।

अर्थापत्ति के विषय में दो मत हैं (१) श्रुतार्थापत्ति—कुमारिल भट्ट का मत है कि 'श्रुत' अर्थात् शब्द अनुपपन्न होकर अन्य शब्द की कल्पना करता है और उस शब्द या वाक्य से अर्थ-बोध होता है; जैसे 'द्वारम्' यह शब्द 'पिधेहि' क्रियापद की कल्पना करता है । यही पदाध्याहार कहलाता है—श्रुतात् शब्दात् अर्थस्य आपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः । इसके अनुसार उपर्युक्त वाक्य में 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द की कल्पना होती है । (२) अर्थापत्ति (अर्थार्थापत्ति)— प्रभाकर (गुरु) के मतानुसार दृष्ट या श्रुत अर्थ अनुपपन्न होकर अन्य-अर्थ की कल्पना करता है (अर्थादर्थस्यापत्तिः) यही अर्थापत्ति है । इसे अर्थाध्याहार भी कहते हैं जैसे—'द्वारम्' शब्द का अर्थ 'पिधेहि' अर्थ (क्रिया) की कल्पना करता है । गुरु मत के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में 'रात्रि भोजन' रूप अर्थ का आक्षेप होता है शब्द का नहीं ।

अनुवाद—'गंगायां घोषः' यहां पर गंगा तट घोसियों की बस्ती [घोष] का आधार है, इस बात की सिद्धि के लिए गंगा शब्द अपने [प्रवाह रूप] अर्थ को त्याग देता है । इस प्रकार स्वार्थ समर्पणरूप लक्षण से उपलक्षित यह लक्षण-लक्षणा है ।

प्रभा—लक्षणलक्षणा का उदाहरण है—'गङ्गायां घोषः' अर्थात् 'गङ्गा घोसियों की बस्ती है ।' यहाँ 'गङ्गा' शब्द तटरूप अर्थ का बोध कराने के लिये अपने वाच्य अर्थ प्रवाह को छोड़ देता है और तटरूप अर्थ का बोध कराता है । अतः यहाँ 'परार्थं स्वसमर्पणम्' अर्थात् दूसरे अर्थ के लिये स्वार्थ

'उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यं तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

का परित्याग किया गया है—यही लक्षण' कहलाता है। इस प्रकार के लक्षण से उपलक्षित लक्षणा ही लक्षण-लक्षणा होती है अतः यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

अनुवाद—यह (उपर्युक्त) दोनों प्रकार की (उपादानलक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा) लक्षणा शुद्धा कहलाती है; क्योंकि ये दोनों उपचार अर्थात् सादृश्याख्य सम्बन्ध से मिश्रित नहीं है।

(मुकुलभट्ट के मत का खण्डन) शुद्धा लक्षणा के इन दोनों रूपों में (अनयोः) लक्ष्य (तीरादि) और लक्षक (गंगा आदि) में परस्पर भेद-प्रतीति रूप उदासीनता नहीं है। जब गंगा आदि शब्दों के द्वारा तट आदि का बोध होता है तो (शक्य) और लक्ष्य अर्थात् प्रवाह तथा तट की) अभेद प्रतीति होने पर ही (तत्त्वं गंगात्वम् अथवा अभेदं) शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजन जो वक्ता को कहना अभीष्ट है (प्रतिपादयितुमिष्टस्य), उसकी प्रतीति (सम्प्रत्यय) होती है गंगा से सम्बन्ध मात्र की प्रतीति होने पर तो 'गंगातटे घोषः' (गंगा के तट पर घोसियों की बस्ती है) इस प्रकार मुख्य अर्थात् वाचक शब्द के प्रयोग से लक्षणा के प्रयोग का क्या अन्तर रह जायेगा ?

प्रभा—आचार्य मम्मट ने आगे लक्षणा के दो भेद दिखलाये हैं—१. शुद्धा और २. गौणी। शुद्धा और गौणी लक्षणा में किस आधार पर परस्पर भेद है ? इसका विवेचन करते हुए मम्मट कहते हैं कि जहाँ उपचार का मिश्रण होता है वह गौणी लक्षणा है और जहाँ उपचार का मिश्रण नहीं होता वह शुद्धालक्षणा है। यहां उपचार का अर्थ है—सादृश्यमूलक गौण प्रयोग (जैसे 'पुरुषसिंह' यहाँ शौर्य शौर्यादि गुणों के सादृश्य के कारण सिंह शब्द की शौर्यादिगुणयुक्त में लक्षणा होती है)। मुकुलभट्ट ने शुद्धा और गौणी लक्षणा का भेद दिखलाते हुए कहा है—'गौर्वाहीकः' इत्यादि गौणी लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सादृश्य रूप सम्बन्ध से अभेद प्रतीत होता है; किन्तु शुद्धा लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का भेद प्रतीत होता है। यही भेद-प्रतीतिरूप ताटस्थ्य है, जिसे उदासीनता या औदासीन्य भी कहते हैं; और यह उदासीनता ही शुद्धा लक्षणा का गौणी से भेदक है। इस प्रकार मुकुलभट्ट के मत में 'गङ्गायां घोषः' आदि में गङ्गा तथा तट का परस्पर भेद बना रहता है, दोनों अलग अलग प्रतीत होते हैं किन्तु 'गौर्वाहीकः', आदि में अभेद-प्रतीति होती है। भेद प्रतीति को ही ताटस्थ्य कहते हैं।

आचार्य मम्मट इस मत का खण्डन करते हैं वे कहते हैं कि 'गङ्गायां घोषः' इस शुद्ध लक्षणा में गङ्गा के मुख्यार्थ 'प्रवाह' और लक्ष्यार्थ 'तट' में भेद (ताटस्थ्य) की प्रतीति नहीं होती; अपि तु गङ्गा का तट से अभेद प्रतीत होता है अर्थात तट की

(१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते, सा लक्षणा सारोपा।

(१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ॥११॥

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।

गङ्गात्व (तत्त्व) के रूप में प्रतीति होती है और तभी शीतत्व, पावनत्वादि की तट में प्रतीति होती है। शीतलता आदि का बोध कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है। यदि यहाँ गङ्गा और तट में अभेद-प्रतीति न होती और तट (लक्ष्यार्थ) का प्रवाह (मुख्यार्थ) से केवल सामीप्य सम्बन्ध ही प्रतीत होता अथवा केवल तीर की प्रतीति होती तो 'गङ्गायां घोषः' का वही अर्थ होता जो 'गङ्गातटे घोषः' का है। तब इस लक्षणा के प्रयोग मे कोई विशेषता न होती। अतएव मुकुलभट्ट का यह मत कि जहाँ अभेद-प्रतीति हो वहाँ गौणी लक्षणा और जहाँ भेद-प्रतीति हो वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है, उचित नहीं।

टिप्पणी—उपचार शब्द के दो अर्थ हैं (१) किसी सम्बन्ध के कारण किसी वस्तु का उसके अवाचक शब्द द्वारा व्यवहार, जैसा कि न्यायवार्तिक में कहा है— निमित्ताद् अतद्भावेऽपि तदुपचारः (२) प्रदीपकार के अनुसार—'उपचारश्च सादृश्य-सम्बन्धेन प्रवृत्तिः सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नयोर्भेदप्रतीतिस्थगनं वा'। न्यायवार्तिक का अर्थ सामान्य है, किन्तु प्रदीपकार का अर्थ पारिभाषिक है। मुकुलभट्ट ने दोनों को क्रमशः शुद्धोपचार' तथा 'गौणोपचार' कहा था। काव्यप्रकाश में यहाँ प्रदीपोक्त

को क्रमशः शुद्धोपचार तथा 'गौणोपचार' कहा था। काव्यप्रकाश में यहाँ प्रदीपोक्त

'उपचार' शब्द का ही ग्रहण किया गया है। साहित्यदर्पणकार ने भी यही मत स्वीकार किया है—"पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा। उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।', (साहित्यदर्पण २.६)

अनुवाद—जिस लक्षणा में (यत्र) विषयी (आरोप्यमाण 'गौ' आदि) और विषय (आरोप का विषय 'वाहीक' आदि) दोनों अपने-अपने रूप में (तथा=स्वरूपेण) कहे जाते हैं वह एक (अन्या) सारोपा लक्षणा है।

जहाँ आरोप्यमाण (गौ आदि) और आरोप के विषय (वाहीक आदि) का भेद छिपाया नहीं जाता (अनपह्नुतभेदौ—नहीं छिपाया गया है भेद जिनका), उन दोनों का समानाधिकरणरूप में निर्देश किया जाता है वह सारोपा लक्षणा है। (१४)

जहाँ विषयी (गौ आदि) के द्वारा अन्य अर्थात् आरोप के विषय (वाहीक आदि) को अपने भीतर लीन कर लिया जाता है, वह साध्यवसानिका लक्षणा होती है।

(कारिका में) विषयिणा=आरोप्यमाण (गौ आदि) के द्वारा अन्यस्मिन्= आरोप के विषय (वाहीक आदि) के अन्तः कृते सति=निगीर्ण किये जाने (निगलने) पर साध्यवसाना लक्षणा होती है। (१५)

प्रभा—आचार्य मम्मट ने लक्षणा के प्रथम दो भेद किये—उपादानलक्षणा और लक्षण-लक्षणा। इन दोनों भेदों को उन्होंने शुद्ध लक्षणा कहा। तदनन्तर यहाँ पर लक्षणा के दो भेद आरोप तथा अध्यवसान की दृष्टि से किये—सारोपा और साध्यवसाना। यहाँ आरोप का अर्थ है—विषय (वाहीक आदि) और विषयी (गो आदि) को पृथक् २ प्रस्तुत करना (विषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यासः-प्रदीप)। आरोपसहित होने से यह लक्षणा 'सारोपा' है, जैसे-गौर्वाहीकः। यहाँ आरोप्यमाण गो और आरोपविषय वाहीक दोनों कहे गये है। अध्यवसान का अर्थ है—'विषयी के द्वारा विषय को छिपा लेना' (विषयिणा विषयतिरोभावः—प्रदीप)। अध्यवसान सहित होने से यह लक्षणा साध्यवसाना है, जैसे—गौरयम्। यहाँ गौ रूप विषयी के द्वारा विषय अर्थात् वाहीक का तिरोभाव या निगरण हो गया है; दोनों का भेद छिपा कर अभेद दिखलाया गया है।

टिप्पणी—(i) प्रदीपकार के मतानुसार 'अन्या तु' का अभिप्राय है—"अन्य अर्थात् गौणी आरोपाध्यवसानाभ्यां भिद्यते न तु उपादानलक्षणाभ्यामिति तु शब्दार्थः।"

(ii) कारिका के 'तथा' शब्द का तात्पर्य है—'अनपह्नुतभेदो', अपने ही रूप में।

(iii) विषयी = आरोप्यमाण = लक्षक = उपमान (गौ आदि)
विषय = आरोप का विषय = लक्ष्य = उपमेय (वाहीक आदि)

(iv) कुछ आचार्य गौणी नाम की पृथक् शब्दवृत्ति मानते थे; जैसे आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाण गुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।

इसी प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज ने भी कहा है—शब्दो हि मुख्यगौणीलक्षणाभिरर्थविशेषप्रतिपत्तिनिमित्तं भवति।" ऐसे मतों का प्रतिवाद करने के लिए आचार्य मम्मट गौणी वृत्ति को लक्षणा में अन्तर्भूत करते हुए यहाँ लक्षणा के सारोपा आदि भेदों का निरूपण करते हैं। ध्वनिवादियों ने गौणी वृत्ति का लक्षणा वृत्ति में ही अन्तर्भाव किया है।

(v) मम्मट के आरोप और अध्यवसान के विवेचन पर मुकुलभट्ट का प्रभाव परिलक्षित होता है। मुकुलभट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में लिखा है—'**यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः।' यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्।**' मम्मट के सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा के स्वरूपनिरूपण का विश्वनाथ कविराज पर स्पष्ट प्रभाव है—

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्।
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका॥ (२·८)

(१६) भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीक' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च।

अनुवाद—लक्षणा के ये दोनों (सारोपा और साध्यवसाना नामक) भेद सादृश्यरूप सम्बन्ध से हों तो गौणी तथा अन्य सम्बन्धों (जन्यजनकभाव आदि) से हों तो शुद्ध लक्षणा समझनी चाहिये। (१६)

ये दोनों सारोपा और साध्यवसाना नामक सादृश्य के कारण होने वाले (लक्षणा के) भेद क्रमशः 'गौर्वाहीक.' (वाहीक बैल है) यहां पर तथा 'गौरयम्' (यह तो बैल है) यहां पर हैं।

प्रभा—'सारोपा और साध्यवसाना' इन दोनों लक्षणाओं के भी दो दो प्रकार होते हैं जैसे—'सारोपा' दो प्रकार की है—१. गौणी सारोपा २. शुद्धा सरोपा। साध्यवसाना भी दो प्रकार की है—१. गौणी साध्यवसाना २. शुद्धा साध्यवसाना।

इस प्रकार 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' लक्षणा दोनों के गौण तथा शुद्ध दो दो भेद होते हैं। जहां सादृश्य सम्बन्ध के कारण लक्षणा होती है वहां तो 'गौणी सारोपा' तथा गौणी 'साध्यवसाना' कही जाती है और जहां सादृश्य के अतिरिक्त कोई और सम्बन्ध नियामक रहता है वहां शुद्धा सारोपा और 'शुद्धा साध्यवसाना' होती है।

गौणी सारोपा का उदाहरण है—'गौर्वाहीकः'। वाहीक शब्द का अर्थ है—१. वाहीक (वाल्हीक) नामक देशविशेष में रहने वाला अथवा २. असभ्य या असंस्कृत व्यक्ति, (वहिर्भवो वाहीकः शास्त्रीयाचाराद् बहिर्भूतः इत्यर्थः)। 'वाहीक बैल है', यहां जो बैल और वाहीक का सामानाधिकरण्य कहा गया है, वह असम्भव है; अतः मूर्खता आदि गुणों के सादृश्य के कारण 'गौ' शब्द की वाहीक (जाड्यादि-विशिष्ट) में लक्षणा हो जाती है। इसी प्रकार गौणी साध्यवसाना का उदाहरण है 'गौरयम्'।

शुद्धा सारोपा (आयुर्घृतम्) शुद्धा साध्यवसाना (आयुरेवेदम्) के उदाहरण आगे प्रदर्शित किये जाएंगे।

टिप्पणी (i) सामानाधिकरण्य—जब समान विभक्ति वाले दो (या अधिक) पदों का एक ही वस्तु (अधिकरण=आधार=अभिधेय) के लिये प्रयोग किया जाता है तो वे पद समानाधिकरण कहलाते हैं (समानम् अधिकरणं ययोः ते समानाधिकरणे)। समानाधिकरण के भाव को सामानाधिकरण्य (समानाधिकरण+ष्यञ्) कहते हैं। 'गौर्वाहीकः' में 'गौः' और 'वाहीकः' दोनों पद समान विभक्ति वाले हैं, दोनों एक ही व्यक्ति (वाहीक) के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अतः ये दोनों समानाधिकरण हैं अथवा इनका सामानाधिकरण्य से निर्देश किया गया है।

अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणाः जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणाः अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

(ii) यहाँ पर आचार्य मम्मट ने यह भी स्पष्ट रूप से संकेत कर दिया है कि 'गौणी' में लक्षणा के समान ही मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि या प्रयोजन–ये तीनों हेतु होते हैं; अतः इसका लक्षणा में अन्तर्भाव करना युक्तियुक्त ही है; उदाहरणार्थ गौर्वाहीकः में अभिधा द्वारा उक्त गो और वाहीक के तादात्म्य का बाध हो जाता है, जडता आदि साधारण गुणों से युक्त होना ही मुख्यार्थ (गो) और लक्ष्यार्थ (वाहीक) का सम्बन्ध है और दोनों में एकरूपता की प्रतीति ही प्रयोजन है, जिसे विस्तार से आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

अनुवाद—(गौर्वाहीक आदि में लक्ष्यक्रमविषयक मतभेद है) १. कुछ आचार्यों का मत है (केचित्) कि गौर्वाहीकः इत्यादि स्थल में (अत्र) शब्द (स्व=गो आदि) के अर्थ (गोत्वादि) के साथ-साथ एक व्यक्ति में रहने वाले (स्वस्य गोशब्दस्य अर्थेन गोत्वजात्या एकस्मिन्नर्थे व्यक्तिरूपे सह चरन्तीति तादृशाः) जाड्यमान्द्यादि गुणों का लक्षणा द्वारा बोध होता है और वे लक्षणा द्वारा प्रतीत होकर भी (अपि) अभिधावृत्ति से परार्थ अर्थात् वाहीक का बोध कराने के लिये गो शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) हो जाते हैं।

(२) दूसरे कहते हैं कि गोत्व (स्वार्थ=स्व अर्थात् गो शब्द का अर्थ) के साथ (एक व्यक्ति में) रहने वाले (जाड्यमान्द्यादि) गुणों के सादृश्य अथवा अभिन्नता के कारण (अभेदेन=साजात्येन) वाहीक में रहने वाले (जाड्यमान्द्यादि) में ही लक्षणा होती है। वाहीक रूप परार्थ (गुणी) का भी अभिधा वृत्ति द्वारा बोध नहीं कराया जाता।

(३) अन्य (स्वीय) जनों का मत है कि साधारण गुण (जाड्यमान्द्यादि) का आश्रय होने के कारण परार्थ अर्थात् वाहीक का ही लक्षणा द्वारा बोध होता है।

प्रभा:—'गौर्वाहीकः आदि में लक्षणा कैसे कार्य करती है? इस का विवेचन करते हुए आचार्य मम्मट ने 'यहाँ लक्ष्यार्थ क्या है? एतद्विषयक तीन मतों का उल्लेख किया है।

(१) गो शब्दात्-अभिधया गोत्वम्, (तस्य बाधे) लक्षणया स्वार्थसहचरिताः गुणाः (गोगताः जाड्यादयः), पुनः अभिधया वाहीकः।

प्रथम मतानुसार गो शब्द से अभिधा द्वारा गोत्व का बोध होता है उसका बाध होने पर स्वार्थ (गोत्व) के साथ एक व्यक्ति में रहने वाले जो जाड्यमान्द्यादि गुण हैं उनका लक्षणा द्वारा बोध होता है अर्थात् जाड्यमान्द्यादि गुण लक्ष्य हैं। और लक्षणा

द्वारा बोधित जाड्यमान्द्यादि को प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् शक्यतावच्छेदक मानकर 'गो' शब्द अभिधावृत्ति द्वारा जाड्यादियुक्त वाहिक का बोध कराता है। यही परार्थ है। इस प्रकार 'गो' शब्द का वाहीक के साथ अभेदान्वय हो जाता है और लक्षणा तथा अभिधा दोनों वृत्तियों द्वारा यह वाक्यार्थ हो जाता है—"जाड्यवदभिन्नो वाहीकः" अर्थात् जाड्यादि-गुणविशिष्ट से अभिन्न वाहीक है।

मम्मट ने केचित् (कोई) शब्द द्वारा इस मत में अरुचि दिखलाई है। बात यह है एक तो गो शब्द का वाहीक में संकेत न होने के कारण वह अभिधावृत्ति से वाहीक का बोध नहीं करा सकता; दूसरे जाड्यादि गुण तो लक्ष्य है वे शक्य नहीं; अतः वे शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं हो सकते। शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त तो वाच्यार्थ ही हुआ करता है। तीसरे अभिधावृत्ति गो शब्द से गोत्व अर्थ का बोध कराने के पश्चात् समाप्त हो जाती है और वाहीक का बोध कराने के लिए पुनर्जीवित नहीं होगी।

(२) अतः द्वितीय मत दिखलाते हैं—गोशब्दात् अभिधया गोत्वम् (तस्य बाधे) लक्षणया गोगतजाड्यादि-सजातीयाः गुणाः (वाहीकगताः जाड्यादयः), आक्षेपेण अनुमानेन वा वाहीकः।

गोत्व आदि (स्वार्थ) के साथ रहने वाले जो जाड्यमान्द्यादि गुण हैं उनसे अभिन्न अथवा उनके सजातीय ही वाहीक में रहने वाले जाड्यादि गुण हैं। उन गुणों का ही लक्षणा द्वारा बोध होता है, गुणी (जाड्यादिविशिष्ट) का नहीं। क्योंकि उसका बोध तो वाहीक शब्द से आक्षेप द्वारा ही हो जाना सम्भव है। इस मत के अनुसार वाहीकगत जाड्यादि गुण लक्ष्य हैं। तब यह वाक्यार्थ होता है–'गोगतजाड्यसजातीयजाड्यवान् वाहीकः' अर्थात् गौ में रहने वाले जाड्यादि के सजातीय जाड्यादि वाला वाहीक है।

'अन्ये' (दूसरे) कहकर इस मत में अरुचि दिखलाई गई है। बात यह है कि यदि जाड्यादि गुणों में लक्षणा होगी तो इनका गुणी या धर्मी वाहीक के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। लक्षणा मानकर भी अनुमान मानना उचित नहीं।

(३) इसी हेतु तृतीय मत दिखलाते हैं—गोशब्दात्-अभिधया गोत्वम्, (तस्य बाधे) लक्षणया साधारणगुणाश्रयतया वाहीकः।

जाड्यादि गुण गौ और वाहीक दोनों में रहने वाले हैं अतः ये साधारण गुण हैं, सामान्यधर्म हैं। इनका आश्रय है–वाहीक। इसी हेतु वाहीक में 'गो' शब्द की लक्षणा हो जाती है। जाड्यादि साधारण गुणों को रखना ही इस लक्षणा का आधार है, यही मुख्यार्थयोग है। इस मत के अनुसार परार्थ अर्थात् जाड्यादि-गुणविशिष्ट वाहीक अर्थ में गो शब्द की लक्षणा होती है। इस प्रकार 'गो' तथा 'वाहीक' दोनों शब्द एक ही अर्थ का बोध कराते हैं और 'जाड्यादिगुणविशिष्टो वाहीकः' अर्थात् जाड्यादि गुण से विशिष्ट वाहीक है, यह वाक्यार्थ बोध हो जाता है।

व्याख्याकारों का मत है कि यह तृतीय मत मम्मट का स्वकीय मत है।

उक्तञ्चान्यत्र—(मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे)

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥' इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्याद् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धे-र्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

अपरे शब्द का प्रयोग ही इसका सूचक है (न परे अपरे स्वीया इत्यर्थः, इत्यस्मन्मतमिति भावः—वामन) ।

टिप्पणी:—(i) शक्यतावच्छेदक—जिस अर्थ में शब्द की शक्ति होती है, वह शक्यार्थ कहलाता है जैसे गो शब्द की शक्ति है गोत्व में, अतः गोत्व या गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति शक्यार्थ है । वह शक्यार्थ जिस रूप से होता है वही शक्यतावच्छेदक कहलाता है अर्थात् शक्य का धर्म या उपाधि ही शक्यतावच्छेदक है । यदि शक्यार्थ गोत्व (मीमांसक के अनुसार) है तो शक्यतावच्छेदक 'गोत्वत्व' होगा और यदि शक्यार्थ गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति (न्यायानुसार) है तो शक्यतावच्छेदक 'गोत्व' होगा । शक्यतावच्छेदक ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त होता है जैसे गोत्व ही गो शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है ।

(ii) 'गौर्वाहीकः, आदि में लक्ष्य क्या है ? एतद्विषयक तीनों मतों का साहित्यदर्पणकार ने भी प्रायः इसी प्रकार विवेचन किया है तथा तृतीय मत को स्वाभिमत दिखलाते हुए स्पष्ट रूप में लिखा है—''तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धाद् वाहीकार्थं लक्षयति ।'' (साहित्यदर्पण २.९)

अनुवाद—अन्यत्र (तन्त्रवार्तिक में) कहा भी है ''अभिधावृत्ति से बोध्य (अभिधेय) अर्थात् वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले (अविनाभूत पदार्थ की प्रतीति ही लक्षणा कही जाती है; किन्तु लक्षणा द्वारा बोधित (लक्ष्यमाण) गुणों के योग से होने वाली (अर्थ की प्रतीति कराने वाली) शब्द-वृत्ति को गौणी वृत्ति मानना इष्ट है ।

यहाँ (उपर्युक्त कारिका में) अविनाभाव का अभिप्राय सम्बन्ध मात्र है, व्याप्ति अथवा नान्तरीयकता नहीं (अन्तरा=बिना, तत्रभवः अन्तरीयः, न अन्तरीयः नान्तरीयः अर्थात् अविनाभावी—जिसके बिना जो न होता हो; तस्य भावः नान्तरीयकत्वम् अर्थात् व्याप्ति) यदि व्याप्ति रूप अर्थ लिया जाये तो 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादि में लक्षणा नहीं हो सकती । और, अविनाभाव या व्याप्ति सम्बन्ध होने पर तो आक्षेप (अनुमान या अर्थापत्ति) द्वारा ही तात्पर्य-सिद्धि हो जायेगी, अतः लक्षणा का कोई उपयोग न होगा, यह (स्वसिद्धये० इत्यादि कारिका की व्याख्या में) कहा जा चुका है ।

प्रभाः—'गौर्वाहीकः' इत्यादि में साधारण गुणों के आश्रय से जाड्यादि-विशिष्ट (परार्थ) में लक्षणा होती है। इस स्वमत की पुष्टि के हेतु आचार्य मम्मट ने कुमारिलभट्ट की 'अभिधेयादि' उक्ति को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है इस उक्ति में लक्षणा तथा गौणी वृत्ति का स्वरूप संक्षेप में दिखलाया गया है। इसका भाव यह है—कि जहाँ वाच्यार्थ से सम्बद्ध पदार्थ की प्रतीति होती है वहाँ लक्षणा होती है जैसे 'गङ्गायां घोषः' में वाच्यार्थ प्रवाह से सम्बद्ध तट आदि की प्रतीति लक्षणा है। जहाँ लक्ष्यार्थ के (विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाले) जाड्य आदि गुणों के सम्बन्ध से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ गौणी वृत्ति है। जैसे—'गौर्वाहीकः' में जाड्यादिगुणविशिष्ट में लक्षणा है। यहाँ जाड्यादि की लक्ष्यार्थ के विशेषण के रूप में प्रतीति होती है। इन गुणों के सम्बन्ध से 'गो' शब्द वाहीक पदार्थ को उपस्थित करता है इसी से यहाँ गौणी वृत्ति है।

तन्त्रवार्तिक की कारिका में अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणा' यह कहा गया है। आचार्य मम्मट बतलाते हैं कि यहाँ अविनाभाव का अर्थ सम्बन्ध मात्र है। दार्शनिक भाषा में अविनाभाव का अर्थ होता है—व्याप्ति। एक के बिना दूसरे का न होना ही 'अविनाभाव' है जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं होता। अविनाभाव का ही समानार्थक शब्द 'नान्तरीयकत्व' है (येन विना यन्न भवति तन्नान्तरीयकम्)। लक्षणा के लिये सम्बन्धमात्र ही अपेक्षित होता है व्याप्ति जैसा विशेष सम्बन्ध नहीं। मीमांसकों को भी यही अभीष्ट है। यदि व्याप्ति रूप सम्बन्ध द्वारा अन्य पदार्थ की प्रतीति हुआ करती तो 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में जो मञ्च शब्द की मञ्चस्थ पुरुषों में लक्षणा होती है, वह न होती क्योंकि मञ्च का मञ्चस्थ व्यक्तियों के साथ अविनाभाव या व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि यदि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अविनाभाव सम्बन्ध माना जायेगा तो अनुमान या अर्थापत्ति द्वारा ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो जायेगी फिर लक्षणावृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है?

टिप्पणी—तन्त्रवार्तिक—जैमिनि के पूर्वमीमांसा सूत्रों पर शाबरभाष्य (शबर स्वामी का भाष्य) है। कुमारिल भट्ट ने शाबरभाष्य की टीका तीन ग्रन्थों द्वारा की है। मीमांसा के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद जो तर्कपाद कहलाता है, उसके शाबरभाष्य पर 'श्लोकवार्तिक' नामक ग्रन्थ है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक के शाबरभाष्य पर 'तन्त्रवार्तिक' नामक ग्रन्थ है, जो गद्य तथा पद्य में है। यहाँ उसी से 'अभिधेयाविना०' इत्यादि कारिका ली गई है। शाबरभाष्य के शेष भाग पर कुमारिल ने संक्षिप्त टिप्पणियाँ की है जो 'टुप्टीका' कहलाती हैं।

(ii) 'लक्ष्यमाणगुणैः योगात्'—पद की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है (द्र०, भ० वामन)। उनमें यह व्याख्या मम्मट को अभिमत प्रतीत होती है—लक्ष्यमाणस्य=वाहीकस्य, गुणैः=गोवाहीकसाधारणैः जाड्यादिभिः, योगात्

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि।

सम्बन्धात् या वृत्तिः=गोशब्दस्य वाहीकार्थोपस्थापकता नाम शब्दव्यापारः तस्याः गौणता इष्टा; अर्थात् लक्ष्य अर्थ वाहीक के जो गौ और वाहीक में रहने वाले (जाड्य आदि) साधारण गुण हैं, उनके सम्बन्ध से गोशब्द का वाहीक अर्थ को प्रकट कराने वाला व्यापार गौणी वृत्ति कहलाता है।

अनुवाद—(शुद्ध सारोपा तथा साध्यवसाना) 'घृत आयु है' यह आयु ही है' इत्यादि स्थलों पर सादृश्य से भिन्न कार्यकारणभाव आदि दूसरे प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, तथा इनमें कार्यकारणभाव आदि रूप सादृश्य-भिन्न सम्बन्ध के कारण से (कार्यकारणभावादि) लक्षणं स्वरूपं यस्य तथाभूतः सादृश्यातिरिक्तः सम्बन्धः पूर्वो हेतुभूतो ययोस्ते) ही आरोप ('आयुर्घृतम्' में) तथा अध्यवसान (आयुरेवेदम्' में) होते हैं।

प्रभा—सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा जहाँ सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध के कारण होती हैं वहाँ ये शुद्धा लक्षणा कहलाती है। उनके उदाहरण क्रमशः ये हैं— 'आयुर्घृतम्' अर्थात् 'घृत आयु है' यह शुद्धा सारोपा का उदाहरण है। यहाँ 'घृत' कारण या जनक है और 'आयुः' कार्य या जन्य है। यहाँ किसी प्रकार का सादृश्य नहीं, कार्यकारणभाव सम्बन्ध से ही आयु शब्द की घृत में लक्षणा होती है और 'आयुरभिन्नं घृतम्' अर्थात् 'आयु से अभिन्न घृत है' यह वाक्यार्थ हो जाता है। यहाँ विषयी (आरोप्यमाण) आयु तथा विषय (आरोपाश्रय) घृत दोनों को अपने रूप में कहा गया है अतः यहाँ शुद्धा सारोपा लक्षणा है।

'आयुरेवेदम्'—यह शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है। यहाँ 'इदं' शब्द सामने उपस्थित घृत आदि के लिये आया है। सादृश्यातिरिक्त कार्यकारणभाव से आयु शब्द लाक्षणिक है। 'आयुरभिन्नमिदम् अर्थात् 'आयु से अभिन्न यह है' इस प्रकार वाक्यार्थ बोध होता है। यहाँ आरोप्यमाण (विषयी) 'आयु' के द्वारा आरोपाश्रय (विषय) घृत को निगीर्ण कर लिया गया है अर्थात् दोनों का भेद तिरोहित हो गया है अतः यहाँ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा है।

यहाँ 'इदम्' (=यह) शब्द सामने उपस्थित वस्तु के रूप में घृत को कहता है, घृत के रूप में नहीं। इसलिये यहाँ आरोप के विषय का पृथक् निर्देश नहीं है अपि तु उसका निगरण हुआ है तथा साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा है। इसका सन्दिग्ध उदाहरण है—घृत पीने वाले को देखकर यह कहना—'आयुः पिबति'। यही बात 'गौरयम्' आदि साध्यावसाना गौणी के उदाहरण में भी है।

अनुवादः—[आरोप तथा अध्यवसान के प्रयोजन] यहाँ पर (चारों उदाहरणों में गौणी के दो (गौणी सारोपा तथा गौणी साध्यवसाना) भेदों में से 'गौर्वाहीकः'

आदि (सारोपा) में (गौ तथा वाहीक का परस्पर) भेद होने पर भी एकरूपता (तद्रूपता) की प्रतीति कराना लक्षणा का प्रयोजन है और 'गौरयम्' आदि (साध्यवसाना) में गौ और वाहीक के भेद-ज्ञान के बिना (सर्वथा) अभेद की प्रतीति कराना प्रयोजन है। शुद्धा के दो (शुद्धा सारोपा और शुद्धा गौणी) भेदों में तो 'आयुर्घृतम्' आदि (सारोपा) में अन्य (दुग्धादि) की अपेक्षा विलक्षणरूप से कार्य (आयुर्वृद्धि आदि) करने की (कार्यकारित्व) और 'आयुरेवेदम्' आदि (साध्यवसाना) में नियम से (बिना व्यभिचार के) कार्य (आयुर्वृद्धि आदि) करने की प्रतीति कराना प्रयोजन हैं।

प्रभा—सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा गौणी और शुद्धा के भेद से दो दो प्रकार की कही गई हैं। ये चारों भेद प्रयोजनवती लक्षणा के अन्तर्गत आते हैं इनमें रूढिलक्षणा नहीं होती। चारों के क्या क्या प्रयोजन होते हैं यही उपर्युक्त 'अत्र गौणभेदयोः' इत्यादि अवतरण में बतलाया गया है। संक्षेप में—गौणी सारोपा का प्रयोजन है–भिन्न २ भासित होने वाले विषयी तथा विषय में एकरूपता अर्थात् तादात्म्य की प्रतीति कराना, जैसे 'गौर्वाहीकः' में गौ और वाहीक पृथक् २ प्रतीत होते हैं किन्तु सादृश्य की महिमा से लक्षणा द्वारा गौ और वाहीक में तादात्म्य या एकरूपता की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार गौणी साध्यवसाना का प्रयोजन है—विषयी तथा विषय में अभेद की प्रतीति कराना, जैसे—'गौरयम्' में दोनों की पृथक् प्रतीति नहीं होती; क्योंकि यहां वाहीक पद का प्रयोग नहीं किया गया; और लक्षणा द्वारा दोनों में पूर्णरूप से अभेद की प्रतीति हो जाती है।

शुद्धा के दोनों भेदों का प्रयोजन इस प्रकार है कि—शुद्धा सारोपा तो अन्य की अपेक्षा विलक्षण कार्य करने की शक्ति आदि का बोध कराती है, जैसे आयुर्घृतम्' कहने से यह प्रतीति होती है कि घृत में आयु बढ़ाने की शक्ति दूध आदि की अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार शुद्धा साध्यवसाना का प्रयोजन है—अव्यभिचार अर्थात् नियम से कार्य करने की शक्ति आदि की प्रतीति कराना, जैसे 'आयुरेवेदम्' कहने से यह प्रतीत होता है कि घृत निश्चित रूप से (अनिवार्य रूप से) आयु को बढ़ाने वाला है।

टिप्पणी—यहां प्रश्न यह है कि मम्मट ने ऊपर (सूत्र १३, 'अनयोः न''' सादृश्यम्'-वृत्ति) यह स्थापना की है—"शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों उपादान और लक्षणलक्षणा में भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अभेद की प्रतीति हुआ करती है।" फिर यहां केवल गौणी लक्षणा का ही अभेद-प्रतीति प्रयोजन क्यों बतलाया है? शुद्धा का क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः गौणी और शुद्धा दोनों में ही वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के अभेद की प्रतीति हुआ करती है तथापि अन्तर यह है कि गौणी में तो केवल मात्र अभेद की प्रतीति ही प्रयोजन होता है; किन्तु शुद्धा में अभेद की प्रतीति होने पर विलक्षण-कार्य कारित्व आदि अन्य प्रयोजनों की भी प्रतीति होती है। यहां तो मम्मट ने प्रत्येक लक्षणा के प्रकार का मुख्य प्रयोजन ही बतलाया है। (मि०, प्रदीप पा० १०)

क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा-इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावाद्, यथा राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावाद्, यथा-अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्याद्, यथा-अतक्षा तक्षा।

अनुवाद—(अन्य सम्बन्धों से होने वाली लक्षणा) कहीं तादर्थ्य (तस्मै इदं तदर्थम् तस्य भावः तादर्थ्यम् अर्थात् उपकार्योपकारक भाव) सम्बन्ध से लक्षणा (उपचारः) होती है, जैसे इन्द्र (की पूजा) के लिये जो खम्भा है उसे 'स्थूणा इन्द्रः' या 'इन्द्रः इयम्' कहा जाता है। कहीं सेवक और स्वामी (स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध से लक्षणा होती है, जैसे राजकीय पुरुष को 'पुरुषः राजा' या राजाऽयम्'। कहीं अंश तथा समग्रवस्तु (अवयव-अवयविभाव) रूप सम्बन्ध से लक्षणा होती है, जैसे—अग्रहस्तः' यहाँ पर अग्र-भाग मात्र में हस्त शब्द का प्रयोग होता है। कहीं उसका कार्य करने रूप (तत्कर्मकारित्वात्) सम्बन्ध के कारण लक्षणा होती है, जैसे—जो बढ़ई नहीं (अतक्षा) उसे (बढ़ई का कार्य करने के कारण) बढ़ई (तक्षा) कहा जाता है।

प्रभा – 'सम्बन्धान्तरतस्तथा' इत्यादि में आचार्य मम्मट ने बतलाया है कि जहाँ सादृश्याख्य सम्बन्ध के कारण सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा होती है वहाँ वह गौणी है जहाँ अन्य सम्बन्ध के कारण होती है वहाँ शुद्धा है। अन्य सम्बन्ध (सम्बन्धान्तर) के अन्तर्गत कार्यकारणभावादि अनेक सम्बन्ध हैं। जिनमें से कार्यकारणभाव सम्बन्ध के उदाहरण 'आयुर्घृतम्' आदि दिये जा चुके हैं। कार्यकारणभाव सम्बन्ध के अतिरिक्त (सादृश्य-भिन्न) अन्य सम्बन्धों से होने वाली लक्षणा के कुछ उदाहरण 'क्वचित्' इत्यादि अवतरण में दिखलाये जा रहे हैं। ये समस्त लक्षणाएँ शुद्धा लक्षणा के अन्तर्गत आती हैं। इनके भी सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से दो दो प्रकार के उदाहरण हो सकते हैं। जैसे तादर्थ्य से होने वाली लक्षणा में 'स्थूणा इन्द्रः' यह शुद्धा सारोपा का उदाहरण होगा, 'इन्द्र इयम्' अथवा 'इन्द्र एवेयम्' यह साध्यवसाना उदाहरण होगा। यहाँ इन्द्र शब्द लाक्षणिक है। यह (स्थूणा) इष्ट प्रदान करने वाली है—इस बात की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है। किसी राजकर्मचारी 'अमात्य' आदि को 'राजपुरुषोऽयं राजा' (सारोपा) अथवा 'राजाऽयम्' (साध्यवसाना) कहना भी स्वस्वामिभावसम्बन्ध से होने वाली लक्षणा है। यहाँ इसकी आज्ञा नहीं लांघनी चाहिये-यह प्रयोजन व्यङ्ग्य है। 'अग्रहस्तः' (अथवा हस्तः) इत्यादि में 'अग्रं च तत् हस्तश्चेति अग्रहस्तः' यह कर्मधारय समास है। यहाँ 'अग्र' अवयव है तथा हस्त अवयवी। हस्त शब्द की अवयवावयविभावसम्बन्ध से अग्रमात्र में लक्षणा होती है। हस्ताग्र में बल की अधिकता की प्रतीति कराना ही प्रयोजन (व्यङ्ग्य) है। तक्षा—कोई व्यक्ति बढ़ई न हो [अतक्षा] वह बढ़ई के कार्य में निपुण हो तो उसका 'पुरुषोऽयं तक्षा' अथवा 'अयं तक्षा' इस प्रकार से निर्देश किया जाता है यहाँ उस (तक्षन्-बढ़ई) का काम करने के कारण प्रयुक्त हुआ 'तक्षा' शब्द लाक्षणिक है। उसके कार्य की निपुणता को प्रकट करना रूप प्रयोजन ही

— (१७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२) ॥

आद्यभेदाभ्यां सह ।

व्यङ्ग्य है। इस प्रकार सादृश्यातिरिक्त अनेक सम्बन्धों से होने वाली शुद्धा लक्षणा होती है।

टिप्पणी—(i) यहाँ आचार्य मम्मट ने 'उपचार' शब्द का लक्षणा या गौण व्यवहार के अर्थ में प्रयोग किया है। वस्तुतः उपचार शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ही है–'अतच्छब्दस्य तच्छब्देनाभिधानमुपचारः'। उसी अर्थ में यहाँ इस शब्द का प्रयोग किया गया है। 'तादर्थ्य' इत्यादि सम्बन्धों से होने वाली लक्षणा प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है गौतम के न्यायसूत्र (२-२-६१) में इसका उल्लेख है।

अनुवाद—उक्त प्रकार से (तेन) लक्षणा छः प्रकार की है।

पूर्वोक्त (आद्य) दो भेदों (उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा) के साथ मिलकर (लक्षणा के) ६ प्रकार होते हैं। (१७)

प्रभा—यहाँ लक्षणा का उपसंहार करते हुए आचार्य मम्मट ने बतलाया है कि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर लक्षणा ६ प्रकार की है। ये ६ प्रकार कौन से हैं इस विषय में व्याख्याकारों के विभिन्न मत हैं। ऊपर के ग्रन्थ के आधार पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि १. शुद्धा सारोपा, २. शुद्धा साध्यवसाना, ३. गौणी सारोपा, ४. गौणी साध्यवसाना, ये चार अभी प्रतिपादित भेद तथा ५. उपादान-लक्षणा और लक्षणलक्षणा ये दो पूर्व प्रतिपादित भेद सब मिलकर छः प्रकार की लक्षणा है। जिसमें चार प्रकार शुद्धा लक्षणा के हैं और दो गौणी लक्षणा के हैं।

संक्षेप में मम्मटकृत ६ भेद इस प्रकार हैं:—

लक्षणा
- शुद्धा
  - उपादान (कुन्ताः प्रविशन्ति)
  - लक्षण (गङ्गायां घोषः)
  - सारोपा (आयुर्घृतम्)
  - साध्यवसाना (आयुः एवम्)
- गौणी
  - सारोपा (गौर्वाहीकः)
  - साध्यवसाना (गौरयम्)
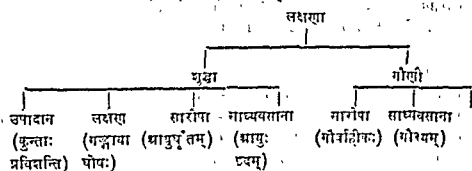
मम्मट का यह विभाजन वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसमें भिन्न भिन्न भेदों का संकर हो जाता है। उदाहरणार्थ 'आयुर्घृतम्'—'आयुरेवेदम्' जो क्रमशः शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना के उदाहरण दिये गये हैं, वे लक्षण-लक्षणा के भी उदाहरण हो सकते हैं। कारण यह है कि इनमें 'आयुः' शब्द अपने वाच्यार्थ को बिल्कुल छोड़ देता है। इसलिये प्रदीप आदि टीका के अनुसार लक्षणा के छः भेद वास्तव में इस प्रकार हैं:—प्रथमतः लक्षणा के दो भेद हैं—

१. शुद्धा, २. गौणी। फिर शुद्धा के दो भेद हैं—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा। उपादानलक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा भी दो दो प्रकार की हैं, सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार शुद्धा के चार भेद हैं। और गौणी के दो भेद हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना। संक्षेप में लक्षणा के ये ६ भेद इस प्रकार हैं—

लक्षणा
- शुद्धा
  - उपादानलक्षणा
    - १ सारोपा उपादानलक्षणा (कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति)
    - २ साध्यवसाना उपादानलक्षणा (कुन्ताः प्रविशन्ति)
  - लक्षणलक्षणा
    - ३ सारोपा लक्षणलक्षणा (आयुर्घृतम्)
    - ४ साध्यवसाना लक्षणलक्षणा (आयुरेवेदम्, गङ्गायां घोषः)
- गौणी
  - ५ सारोपा (गौर्वाहीकः)
  - ६ साध्यवसाना (गौरयम्)
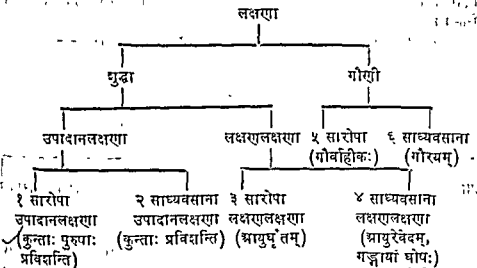
यह विभाजन भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं। कारण यह है कि (i) काव्य प्रकाश के निरूपण से यह प्रकट नहीं होता कि उपादान और लक्षणलक्षणा ये दोनों लक्षणा के अवान्तर भेद हैं और इनके सारोपा तथा साध्यवसाना दो भेद हुआ करते हैं। सम्भवतः प्रदीपकार इत्यादि ने पूर्वोक्त दोष का निराकरण करने के लिये ही यह विभाजन कर दिया है। (ii) ऐसा विभाजन करने पर भी गौणी के भेदों के साथ लक्षण-लक्षणा का सांकर्य बना ही रहता है; क्योंकि 'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' ये लक्षण-लक्षणा के भी उदाहरण हो सकते हैं तब तो 'शुद्धैव सा द्विधा' (सूत्र १३)—यह कथन भी सङ्गत नहीं होता। (iii) इस प्रकार गौणी और शुद्धा का भी पृथक् विभाजन नहीं रह पाता। फलतः काव्यप्रकाश के लक्षणा-विभाजन को वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता तथापि यह सादा और सरल है तथा व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी है; क्योंकि प्रयोजनवती लक्षणा के प्रायः सभी उदाहरणों को इन ६ भेदों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है।

टिप्पणी—(i) यद्यपि लक्षणा के रूढा और प्रयोजनवती—ये भी दो विभाग माने जाते हैं, अतः 'लक्षणा तेन षड्विधा' यह उक्ति सङ्गत नहीं प्रतीत होती तथापि प्रयोजनवती लक्षणा ६ प्रकार की है—यह अभिप्राय है इसलिये कोई दोष नहीं; ऐसा नरसिंहठक्कुरादि टीकाकारों का मत है। वस्तुतः तो 'रूढितोऽथ प्रयोजनात्' में आचार्य मम्मट ने लक्षणा के हेतु का निर्देश किया है, लक्षणा का विभाग नहीं दिखलाया। रूढिकृत भेद का तो आगे १८ वें सूत्र में निरूपण किया जा रहा है अतः यहाँ पर ६ भेदों का परिगणन युक्तियुक्त ही है।

(ii) यहाँ पर लक्षणा के भेदों का विवेचन काव्य-भेद निरूपण में उपयोगी होने के कारण विशेष रूप से किया गया है, जैसे कि उपादानलक्षणा अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि में उपयोगिनी है इसी प्रकार अन्य लक्षणा-भेदों के विषय में भी है। इस विवेचन में आचार्य मम्मट की दृष्टि विशेषतः लक्षणामूलक व्यञ्जना के प्रतिपादन की ओर रही है। इसी हेतु मुकुलभट्ट आदि के लक्षणा-विभाग को उन्होंने युक्ति-युक्त नहीं माना है।

मुकुलभट्ट के अनुसार भी लक्षणा के ६ भेद हैं जो इस प्रकार हैं—
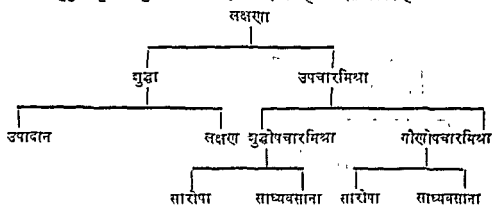
(iii) समालोचकों का विचार है कि विश्वनाथ का लक्षणा-विभाजन (सा० द० २) अधिक व्यवस्थित है। विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद किये हैं (द्र०, आगे सू० २१ टि०)। फिर भी उस विभाजन में यह दोष है कि वह सैद्धान्तिक अधिक है, व्यवहारिक कम। उसमें ऐसे ऐसे उदाहरण दिये गये हैं जिनका भाषा में प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता (गजेन्द्रगडकर)।

(iv) अर्वाचीन आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगङ्गाधर में प्रायः मम्मटकृत लक्षणा-विभाजन को ही अपनाया है:—
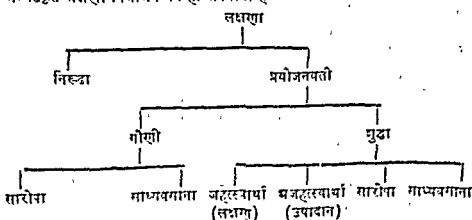
यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ काव्यप्रकाश-निर्दिष्ट विभाजन अपनाया गया है; प्रदीप आदि का विभाजन नहीं। किन्तु यहाँ उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था और लक्षण-लक्षणा को जहत्स्वार्था कहा गया है।

सा च

(१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ॥

(१९) तच्च गूढमगूढं वा—

तच्चेति व्यङ्ग्यम् ।

अनुवाद:—और यह लक्षणा — रूढि या प्रसिद्धि होने पर व्यङ्ग्य अर्थ से रहित होती है तथा प्रयोजन होने पर व्यङ्ग्य के अर्थ से युक्त होती है ।

क्योंकि (हि) प्रयोजन तो व्यञ्जना के व्यापार द्वारा ही बोध्य है (व्यञ्जनरूपो यो व्यापार: तद्गम्यम्) । (१८)

वह व्यङ्ग्य अर्थ सहृदयमात्रवेद्य (गूढ=छिपा हुआ) अथवा जनसाधारणवेद्य (अगूढ=प्रकट) होता है ।

(कारिका में) 'तत् च' का अभिप्राय है—व्यङ्ग्य अर्थ । (१९)

प्रभा—आचार्य मम्मट ने प्रथमतः लक्षणा के उपाधिकृत छः भेदों का प्रतिपादन किया । यहाँ पर 'सा च' इत्यादि द्वारा लक्षणा के व्यञ्जना की दृष्टि से होने वाले तीन भेदो का निरूपण करते हैं । व्यञ्जना की दृष्टि से लक्षणा दो प्रकार की है—१. अव्यङ्ग्या तथा २. सव्यङ्ग्या । रूढि के हेतु से होने वाली लक्षणा अव्यङ्ग्या है । वहाँ प्रसिद्धिमात्र के कारण लक्षणा हो जाती है । 'कर्मणि कुशलः' आदि में कोई प्रयोजन तो व्यङ्ग्य होता नहीं । प्रयोजन के हेतु से होने वाली लक्षणा व्यङ्ग्य सहित या सव्यङ्ग्या होती है । प्रयोजन की अभिव्यक्ति व्यञ्जना द्वारा ही होती है । अभिधा या लक्षणावृत्ति से प्रयोजन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । इसी से प्रयोजनवती लक्षणा सर्वत्र व्यङ्ग्य सहित ही होती है, जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में 'शीतलता' आदि की प्रतीति कराना प्रयोजन है उसका व्यञ्जना व्यापार से ही बोध होता है । वस्तुतः प्रयोजन-प्रतीति व्यङ्ग्यार्थ का ही एक नाम है (तथा च प्रयोजनव्यङ्ग्ययोरेकार्थत्वात्—बालबोधिनी) ।

सव्यङ्ग्या लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का होता है—एक तो गूढ व्यङ्ग्य और दूसरा अगूढ व्यङ्ग्य । कहीं तो व्यञ्जना से प्रतीत होने वाला यह अर्थ इतना गूढ—गहरा या गम्भीर होता है कि केवल सहृदय जन ही इसका आनन्द ले सकते हैं । कहीं यह व्यङ्ग्यार्थ अगूढ या प्रकट रूप से प्रतीत होने वाला होता है तथा काव्य-वासना से जिनकी बुद्धि परिष्कृत नहीं हुई है ऐसे जन भी उसको समझ लेते हैं । इस प्रकार यह सव्यङ्ग्या लक्षणा दो प्रकार की हो जाती है—१. गूढव्यङ्ग्या और २. अगूढव्यङ्ग्या ।

गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥६॥

अनुवाद:—गूढव्यङ्ग्य (यहां है), जैसे — 'अहो (बत) इस चन्द्रमुखी (सुन्दरी) के शरीर में (अभिनव) यौवन का आविर्भाव (तरुणिमा+उद्गमः) हो रहा है (मोदते=स्फीतो भवति)। देखो, इसका मुख ऐसा है, जिसमें मुसकान खिली है (विकसितं स्मितं यत्र तादृशम्), इसकी दृष्टि (प्रेक्षितम्) ऐसी है जिसने वक्रता या बांकेपन को अपने वश में कर लिया है (वशितः वक्रिमा येन तथाभूतम्), इसकी चाल ऐसी है जिसमें (विविध) हाव-भाव छलक रहे हैं (समुच्छलिताः विभ्रमाः हावविशेषाः यस्याम्, तथाभूता), इसकी बुद्धि ऐसी है जिसने समस्त सीमाएं छोड़ दी हैं (अपास्ता त्यक्ता संस्था नियतविषयवर्तित्वं यया तादृशी), इसका वक्षस्थल ऐसा है जिसमें कली के समान स्तन खिल उठे हैं (मुकुलितौ मुकुलाकारौ ईषदुन्नतौ वा स्तनौ यत्र) इसके जघन अवयवों के दृढ़ गठन के कारण (असंबन्धेन) विलक्षण रतियोग्य (उद्धुरम्) हो रहे हैं। (इस प्रकार स्मित आदि से तारुण्य अभिव्यक्त हो रहा है, यह भाव है)' ॥ ६॥

प्रभा—यह गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण है। कोई युवक किसी नवयौवना तरुणी को देखकर यह कह रहा है।

यहां (१) स्मित में पुष्प का धर्म अर्थात् विकास बाधित हो जाता है तथा उस (विकास) की हास्योन्मुखता में लक्षणा होती है—(पुष्प के समान) सौरभ आदि व्यङ्ग्य हैं। (२) दृष्टि में चेतन धर्म वशीकरण का बाध होने के कारण स्वाधीनता' में लक्षणा होती है तथा 'युक्तानुराग' व्यङ्ग्य है। (३) विभ्रम में मूर्तद्रव जलादि का उच्छलन रूप धर्म बाधित होने के कारण 'प्रचुरता' (बाहुल्य) की लक्षणा से बोध होता है, तथा 'सकलमनोहारिता' व्यङ्ग्य है। (४) मति में चेतन के धर्म मर्यादा-त्याग (संस्था) का बाध होने के कारण 'अधीरता में लक्षणा होती है। पहले मुग्धावस्था में गुरुजनों के सान्निध्य में बुद्धि मर्यादा को स्वीकार करती थी किन्तु यौवन के प्रस्फुटित होने पर वह मुग्धता तथा मर्यादा का भाव जाते रहे—इस प्रकार 'अनुराग की अधिकता' का व्यञ्जना द्वारा बोध होता है। (५) स्तनों में मुकुलित होना रूप पुष्प के धर्म का बाध हो जाता है अतः 'काठिन्य' की लक्षणा से प्रतीति होती है तथा 'आलीङ्गनयोग्यता' व्यङ्ग्य है। (६) जघन में चेतन के धर्म उद्धुरता (स्फूर्ति) का बाध होने के कारण 'विलक्षण रतियोग्यता में लक्षणा होती है तथा 'रमणीयता' व्यङ्ग्य है। (७) यौवनोद्गम में चेतन के धर्म 'मोद' का बाध होने के कारण 'उत्कर्ष' लक्षित होता है तथा 'स्पृहणीयता' व्यङ्ग्य है। यहाँ

अगूढे यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति।

—(२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥१३॥

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च।

तद्भूर्लाक्षणिकः—

शब्द इति सम्बध्यते, तद्भूस्तदाश्रयः।

सर्वत्र प्रयोजनवती लक्षणा है तथा कुछ न कुछ व्यङ्ग्यार्थ विद्यमान है किन्तु काव्य-वासना से परिपक्व बुद्धि वाले सहृदय जन ही उस व्यङ्ग्य का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं अतः 'यहाँ 'गूढव्यङ्ग्य' है और यह गूढव्यङ्ग्या लक्षणा का उदाहरण है।

अनुवादः—अगूढव्यङ्ग्य (यहाँ है), जैसे—

'अज्ञानी जन भी (जडा अपि) लक्ष्मी के सम्बन्ध (परिचय) से विदग्ध (चतुर-प्रगल्भ) जनों के व्यवहारों (चरित्र=चाल ढाल) के ज्ञाता हो जाते हैं। यौवन का मद ही रमणी जनों को रतिविलास (ललितम् सिखला देता है ॥१०॥

यहाँ 'उपदिशति' यह पद अगूढव्यङ्ग्य है।

प्रभा—यह अगूढव्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर 'उपदिशति' (सीख देना) यह चेतन का धर्म है अतः यौवन मद में इसका होना सम्भव नहीं तथा इससे केवल 'प्रकट करना' अर्थ लक्षित होता है। 'बिना प्रयास के ही रतिविलास का ज्ञान हो जाता है, यह व्यङ्ग्य अर्थ है। यह व्यङ्ग्य इतना स्पष्ट (अगूढ) है कि सहृदय जनों के समान अन्य जन भी सहज ही इसे समझ सकते हैं। अतएव यह अगूढ-व्यङ्ग्या लक्षणा का उदाहरण है।

अनुवादः—इस कारण (तत्—तस्मात्) यह लक्षणा तीन प्रकार की कही गई है—१. अव्यङ्ग्या २. गूढव्यङ्ग्या और ३. अगूढव्यङ्ग्या। (२०)

उस लक्षणा का आश्रय (तद्भू) शब्द लाक्षणिक कहलाता है।

यहाँ 'लाक्षणिक' से शब्द का सम्बन्ध है। 'तद्भू' का अर्थ है—उसका आश्रय। (२१)

व्याख्या—आचार्य मम्मट ने प्रथमतः लक्षणा के दो भेद किये—१. उपादान लक्षणा २. लक्षणलक्षणा। ये दोनों भेद शुद्धा लक्षणा के अन्तर्गत हैं यह भी बतलाया। फिर अन्य दृष्टि से सारोपा और साध्यवसाना दो प्रकार की लक्षणा बतलाई। इन दोनों के शुद्धा और गौणी के भेद से दो-दो भेद होकर चार प्रकार हुए तथा लक्षण के ६ भेद हो गये—'लक्षणा तेन षड्विधा'। किन्तु काव्य की उत्कृष्टता तो व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता पर निर्भर है; अतः व्यङ्ग्य की दृष्टि से भी लक्षणा पर विचार किया और उसके तीन भेद किये—अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या

तथा अगूढव्यङ्ग्या। जिनका विवेचन १६ सूत्र की व्याख्या में किया जा चुका है।
अब विचारणीय यह है कि इस प्रकार मम्मट के मतानुसार लक्षणा के कितने भेद होते हैं ? प्रदीपकार के अनुसार उपाधि के कारण लक्षणा में पूर्वोक्त छः भेद हैं तथा व्यञ्जना की दृष्टि से यहाँ कहे गये ३ भेद हैं; किन्तु नरसिंहठक्कुरादि के मतानुसार मम्मट ने 'व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ, सहिता तु प्रयोजने' में क्रमशः निरूढा तथा प्रयोजनवती का लक्षण किया है। इससे पूर्व प्रयोजनवती के ६ भेदों का निरूपण किया है किन्तु निरूढा का कोई भेद नहीं बतलाया। इस प्रकार व्यङ्ग्यरहित रूढिलक्षणा एक प्रकार की है तथा पूर्वोक्त षड्विधा प्रयोजनवती व्यङ्ग्यरहित रूढिलक्षणा एक प्रकार की है तथा पूर्वोक्त षड्विधा प्रयोजनवती लक्षणा गूढव्यङ्ग्य और अगूढव्यङ्ग्य रूप से दो दो प्रकार की है अर्थात् १२ प्रकार की है, कुल मिलाकर १३ प्रकार की लक्षणा होती है।

वस्तुतः, 'गा च' से आरम्भ करके 'तदेषा कथिता त्रिधा' तक के लक्षणा-विवेचन पर आचार्य मम्मट ने विशेष बल दिया है। यहाँ व्यञ्जना की दृष्टि से ही लक्षणा के विभाग किये गये हैं तथा काव्य-विवेचन की दृष्टि से यही विभाग विशेषकर उपयोगी है। इसी हेतु लक्षणा के अवान्तर भेदों की ओर ध्यान न देते हुए यहाँ 'तदेषा कथिता त्रिधा' इस प्रकार से लक्षणा के भेद-विवेचन का उपसंहार किया गया है।

तद्भूर्लाक्षणिकः—उस लक्षणा का आश्रय जो शब्द है वह लाक्षणिक शब्द कहलाता है 'स्याद् वाचको लाक्षणिकः' इस प्रकार (५ सूत्र में) शब्द के वाचक आदि भेदत्रय का द्वितीय उल्लास के आरम्भ में निर्देश किया गया था। उसी प्रसङ्ग में यहाँ लाक्षणिक' शब्द बतलाया गया है अतः यहीं से 'शब्द' का यहाँ सम्बन्ध होता है। विभिन्न भेदों वाली उस लक्षणा का आश्रय होने वाला' शब्द ही लाक्षणिक है अर्थात् लक्ष्यार्थ का बोधक शब्द लाक्षणिक कहलाता है।

टिप्पणी—लक्षणा के भेद-प्रभेद अनेक आचार्यों ने किये हैं। साहित्यशास्त्र, न्याय तथा व्याकरणशास्त्र आदि में भिन्न २ प्रकार से लक्षणा-विभाग का विवेचन किया गया है। मम्मट से पूर्व भी कई आचार्यों ने इस पर विचार किया था। मम्मट के बाद के आचार्यों ने भी इसका विशद विवेचन किया है। साहित्य-दर्पणकार ने लक्षणा के प्रथम तो ४० भेद किये हैं—तदेवं लक्षणा-भेदाश्चत्वारिंशन् मता बुधैः (साहित्य-दर्पण २·११)। ये ४० भेद हैं—८ प्रकार की रूढलक्षणा +३२ प्रकार की प्रयोजनवती। फिर पदगत और वाक्यगतरूप से दो-दो भेद होकर ८० भेद होते हैं। संक्षेप में कविराज विश्वनाथ का लक्षणा-विभाग इस प्रकार है—
प्रथमतः लक्षणा के दो प्रकार हैं—१. रूढलक्षणा २. प्रयोजनवती=२
इनमें से प्रत्येक के दो भेद होते हैं—उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा=२×२ या ४
इनमें से भी प्रत्येक के दो भेद होते हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना=४×२ या ८
इनमें से भी प्रत्येक के दो भेद होते हैं— शुद्धा और गौणी=८×२ या १६

—(२२) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

कुत इत्याह—

(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।।१४।।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।

इस प्रकार १६ भेदों में ८ भेद रूढलक्षणा के तथा ८ प्रयोजनवती के हैं।
प्रयोजनवती के ८ भेदों के भी २ प्रकार होते हैं—गूढव्यङ्ग्या तथा अगूढव्यङ्ग्या
=८×२ या १६

प्रयोजनवती के १६ प्रकारों के फिर दो दो भेद होते हैं—धर्मगत, धर्मिगत
=१६×२ या ३२

अतएव ८ रूढलक्षणा+३२ प्रयोजनवती लक्षणा=४० लक्षणा के भेद हैं।
इनमें ४० के भी दो दो भेद होते हैं—पदगत और वाक्यगत=४०×२ या ८०

अनुवादः—उस लाक्षणिक शब्द में (तत्र) जो व्यङ्ग्य को प्रकट करने वाला व्यापार है (व्यङ्ग्यप्रकाशानुकूलः) वह व्यञ्जनस्वरूप ही है। (२२)

ऐसा क्यों ? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं—

जिस (शैत्य पावनत्वादि) प्रयोजन की प्रतीति को उत्पन्न करने के लिये (आधातुम्) लक्षणा का आश्रय लिया जाता है (समुपास्यते), इस फल-प्रतीति में जो कि एक मात्र लाक्षणिक शब्द का ही विषय है, व्यञ्जना के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नहीं।

प्रयोजन की प्रतीति कराने की इच्छा से जहाँ (गङ्गायां घोषः-इत्यादि में) लक्षणा द्वारा शब्द-प्रयोग किया जाता है, वहाँ अन्य (अनुमानादि) द्वारा उस प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती अपितु उसी शब्द के द्वारा होती है और इस प्रयोजन प्रतीति के विषय में (अत्र) व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता। (२३)

प्रभा—वाचक और लाक्षणिक शब्द का निरूपण करने के पश्चात् व्यञ्जक शब्द का निरूपण करना है तथा उसके लिये व्यञ्जना का स्वरूप बतलाना है। यह व्यञ्जना शाब्दी तथा आर्थी दो प्रकार की होती है। शाब्दी व्यञ्जना भी दो प्रकार की है—अभिधामूला तथा लक्षणामूला। यद्यपि अभिधा मुख्य वृत्ति है, लक्षणा का भी वह आश्रय है अतः पहिले अभिधामूला व्यञ्जना का विवेचन करना चाहिये तथापि 'तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः' इत्यादि द्वारा ग्रन्थकार प्रथमतः लक्षणामूला व्यञ्जना का प्रतिपादन करते हैं।

तथा हि—

(२४) नाभिधा समयाभावात्

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः।

इसका कारण है—(१) लक्षणामूला व्यञ्जना अधिक प्रसिद्ध है, (२) यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग चल रहा है तथा (३) प्रयोजन की प्रतीति कैसे होती है, यह जाने बिना सव्यङ्ग्या या प्रयोजनवती लक्षणा का विवेचन पूर्ण नहीं होता। 'यस्य' इत्यादि का भाव यह है कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग इस हेतु किया जाता है कि उनसे शीतत्वपावनत्वादि किसी प्रयोजन की प्रतीति हो सके। यह प्रयोजन कहीं गूढव्यङ्ग्य के रूप में तथा कहीं अगूढव्यङ्ग्य के रूप में प्रकट होता है। किन्तु इसकी लाक्षणिक शब्द द्वारा ही सर्वत्र प्रतीति होती है। कोई अनुमान आदि अन्य प्रमाण इसकी प्रतीति कराने वाला नहीं है। यह लाक्षणिक शब्द व्यञ्जना नामक व्यापार द्वारा ही प्रयोजन या फल की प्रतीति कराता है; अतः लक्षणामूलक व्यञ्जना की स्वीकृति अनिवार्य है।

टिप्पणी—(i) यद्यपि वैयाकरणों से प्रेरणा पाकर साहित्य शास्त्र में व्यञ्जना वृत्ति की उद्भावना पहिले ही हो चुकी थी तथापि आनन्दवर्धन ने इसकी भली भांति स्थापना की। फिर भी अनेक आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया; जैसे मुकुलभट्ट, भट्टनायक, कुन्तक, धनञ्जय तथा महिमभट्ट आदि आचार्य इसका विरोध करते रहे। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ इत्यादि आचार्य इसके प्रबल समर्थक हैं। यहाँ मम्मट ने लक्षणा और अभिधा से भेद दिखाते हुए व्यञ्जना वृत्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का विशद विवेचन किया है तथा पञ्चम उल्लास में विरोधियों के आक्षेपों का निराकरण करके सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर व्यञ्जना का समर्थन किया है।

(ii) विश्वनाथ कविराज ने भी प्रायः इन्हीं शब्दों में लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण किया :—

> लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
>
> यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया॥ (साहित्यदर्पण २·१५)

अनुवाद:—समय अर्थात् सङ्केत न होने के कारण (प्रयोजन की प्रतीति में) अभिधा नामक शब्द-व्यापार (समर्थ) नहीं है 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों पर तट आदि में जो पवित्रता आदि धर्म (प्रयोजन रूप में) प्रतीत होते हैं, उनमें गङ्गादि शब्द को सङ्केत नहीं किया गया है। (२४)

प्रभा—प्रयोजन की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जना नामक व्यापार ही है; क्योंकि अभिधा, जो शब्द की मुख्य वृत्ति है, उसके द्वारा प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती। अभिधा, वृत्ति द्वारा उसी अर्थ की प्रतीति होती है जिसमें शब्द का

(२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१५॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

तथा च—

(२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र बाधः। न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः। नापि प्रयोजने। लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्। नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

संकेत होता है। किन्तु जब 'गङ्गायां घोषः' आदि का प्रयोग किया जाता है तो लक्षणा द्वारा गङ्गा शब्द तट का बोध कराता है तथा तट मे शीतलता और पवित्रता आदि की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन माना जाता है। इन शीतलता आदि की प्रतीति अभिधा वृत्ति द्वारा नही हो सकती; क्योंकि गङ्गादि शब्द के ये सङ्केतित अर्थ नही हैं। जब ये सङ्केतित अर्थ नहीं है तो अभिधा वृत्ति द्वारा इनका बोध कैसे संभव है ?

अनुवाद—हेतु के न रहने से (प्रयोजन की प्रतीति में) लक्षणा भी (समर्थ) नहीं है। मुख्यार्थ-बाध आदि (मुख्यार्थयोग तथा रूढि या प्रयोजन) लक्षणा के तीन हेतु हैं। (२५)

जैसे कि—यहाँ लक्ष्य (तीरादि) मुख्यार्थ नहीं, (तीरादि लक्ष्यार्थ में) यहाँ (घोषादि का आश्रय होना रूप) अर्थ का बाध भी नहीं है। तीरादि अर्थ का (पावनत्व आदि) फल के साथ साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है। और, इस (शीतत्वादि प्रयोजन की लक्षणा) में अन्य कोई प्रयोजन भी नहीं है; तथा गङ्गा आदि शब्द (प्रयोजन के प्रतिपादन में) असमर्थ (स्खलद्गतिः= प्रच्युतसामर्थ्यः) भी नहीं है।

जैसे गङ्गा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में बाधित होकर लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है उसी प्रकार यदि तट में भी बाधित होता तो प्रयोजन का लक्षणा द्वारा बोध कराता। किन्तु (प्रथम तो) तट मुख्यार्थ नहीं, न तट रूप अर्थ में बाध ही है; गङ्गा शब्द के (लक्ष्य) अर्थ तट का पावनत्वादि (यदि उन्हें लक्ष्य माना जाय) लक्ष्यार्थों से सम्बन्ध भी नहीं है; और प्रयोजन को लक्ष्य मानने में कोई और प्रयोजन भी नहीं है तथा जैसे गङ्गा शब्द (मुख्यार्थबाधादि के बिना) तट अर्थ के प्रतिपादन में असमर्थ है उसी प्रकार प्रयोजन का प्रतिपादन करने में असमर्थ नहीं है। (२६)

प्रश्न—लक्षणा-वृत्ति के द्वारा भी प्रयोजन की प्रतीति नही हो सकती क्योंकि इसमें दो विकल्प हो सकते है (१) एक लक्षणा से तीर आदि की प्रतीति होने पर

तथा हि—

(२४) नाभिधा समयाभावात्

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः।

इसका कारण है—(१) लक्षणामूला व्यञ्जना अधिक प्रसिद्ध है, (२) यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग चल रहा है तथा (३) प्रयोजन की प्रतीति कैसे होती है, यह जाने बिना सव्यङ्ग्या या प्रयोजनवती लक्षणा का विवेचन पूर्ण नहीं होता। 'यस्य' इत्यादि का भाव यह है कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग इस हेतु किया जाता है कि उनसे शीतत्वपावनत्वादि किसी प्रयोजन की प्रतीति हो सके। यह प्रयोजन कहीं गूढव्यङ्ग्य के रूप में तथा कहीं अगूढव्यङ्ग्य के रूप में प्रकट होता है। किन्तु इसकी लाक्षणिक शब्द द्वारा ही सर्वत्र प्रतीति होती है। कोई अनुमान आदि अन्य प्रमाण इसकी प्रतीति कराने वाला नहीं है। यह लाक्षणिक शब्द व्यञ्जना नामक व्यापार द्वारा ही प्रयोजन या फल की प्रतीति कराता है; अतः लक्षणामूलक व्यञ्जना की स्वीकृति अनिवार्य है।

टिप्पणी—(i) यद्यपि वैयाकरणों से प्रेरणा पाकर साहित्य शास्त्र में व्यञ्जना वृत्ति की उद्भावना पहिले ही हो चुकी थी तथापि आनन्दवर्धन ने इसकी भली भांति स्थापना की। फिर भी अनेक आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया; जैसे मुकुलभट्ट, भट्टनायक, कुन्तक, धनञ्जय तथा महिमभट्ट आदि आचार्य इसका विरोध करते रहे। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ इत्यादि आचार्य इसके प्रबल समर्थक हैं। यहाँ मम्मट ने लक्षणा और अभिधा से भेद दिखलाते हुए व्यञ्जना वृत्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का विशद विवेचन किया है तथा पञ्चम उल्लास में विरोधियों के आक्षेपों का निराकरण करके सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर व्यञ्जना का समर्थन किया है।

(ii) विश्वनाथ कविराज ने भी प्रायः इन्हीं शब्दों में लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण किया :—

'लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।

यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥ (साहित्यदर्पण २·१५)'

अनुवाद—समय अर्थात् सङ्केत न होने के कारण (प्रयोजन की प्रतीति में) अभिधा नामक शब्द-व्यापार (समर्थ) नहीं है 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों पर तट आदि में जो पवित्रता आदि धर्म (प्रयोजन रूप में) प्रतीत होते हैं, उनमें गङ्गादि शब्द का सङ्केत नहीं किया गया है। (२४)

प्रश्न—प्रयोजन की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जना नामक व्यापार ही है; क्योंकि अभिधा, जो शब्द की मुख्य वृत्ति है, उसके द्वारा प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती। अभिधा, वृत्ति द्वारा उसी अर्थ की प्रतीति होती है जिसमें शब्द का

(२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१५॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

तथा च—

(२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र बाधः। न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः। नापि प्रयोजने। लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्। नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

संकेत होता है। किन्तु जब 'गङ्गायां घोषः' आदि का प्रयोग किया जाता है तो लक्षणा द्वारा गङ्गा शब्द तट का बोध कराता है तथा तट में शीतलता और पवित्रता आदि की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन माना जाता है। इन शीतलता आदि की प्रतीति अभिधा वृत्ति द्वारा नहीं हो सकती; क्योंकि गङ्गादि शब्द के ये सङ्केतित अर्थ नहीं हैं। जब ये सङ्केतित अर्थ नहीं है तो अभिधा वृत्ति द्वारा इनका बोध कैसे संभव है ?

अनुवाद— हेतु के न रहने से (प्रयोजन की प्रतीति में) लक्षणा भी (समर्थ) नहीं है। मुख्यार्थ-बाध आदि (मुख्यार्थयोग तथा रूढि या प्रयोजन) लक्षणा के तीन हेतु हैं। (२५)

जैसे कि—यहाँ लक्ष्य (तीरादि) मुख्यार्थ नहीं, (तीरादि लक्ष्यार्थ में) यहाँ (घोषादि का आश्रय होना रूप) अर्थ का बाध भी नहीं है। तीरादि अर्थ का (पावनत्व आदि) फल के साथ साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है। और, इस (शीतत्वादि प्रयोजन की लक्षणा) में अन्य कोई प्रयोजन भी नहीं है; तथा गङ्गा आदि शब्द (प्रयोजन के प्रतिपादन में) असमर्थ (स्खलद्गतिः = प्रच्युतसामर्थ्यः) भी नहीं है।

जैसे गङ्गा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में बाधित होकर लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है उसी प्रकार यदि तट में भी बाधित होता तो प्रयोजन का लक्षणा द्वारा बोध कराता। किन्तु (प्रथम तो) तट मुख्यार्थ नहीं, न तट रूप अर्थ में बाध ही है; गङ्गा शब्द के (लक्ष्य) अर्थ तट का पावनत्वादि (यदि उन्हें लक्ष्य माना जाय) लक्ष्यार्थों से सम्बन्ध भी नहीं है; और प्रयोजन को लक्ष्य मानने में कोई और प्रयोजन भी नहीं है तथा जैसे गङ्गा शब्द (मुख्यार्थबाधादि के बिना) तट अर्थ के प्रतिपादन में असमर्थ है उसी प्रकार प्रयोजन का प्रतिपादन करने में असमर्थ नहीं है। (२६)

प्रभा—लक्षणा-वृत्ति के द्वारा भी प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि इसमें दो विकल्प हो सकते हैं (१) एक लक्षणा से तीर आदि की प्रतीति होने पर

(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

द्वितीय लक्षणा से प्रयोजन की प्रतीति होती है (द्वितीय लक्षणावादी) अथवा (२) एक ही लक्षणा से प्रयोजन-विशिष्ट तीर आदि की प्रतीति हो जाती है (विशिष्ट लक्षणावादी)। इनमें से प्रथम मत ठीक नहीं। कारण यह है कि लक्षणा के तीन हेतु हैं—१. मुख्यार्थबाध २. मुख्यार्थयोग तथा ३. रूढि या प्रयोजन। यहाँ ये तीनों हेतु नहीं हैं, अतः शीतत्वपावनत्वादि प्रयोजन लक्ष्य नहीं हो सकते। ये तीनों हेतु यहाँ नहीं हैं यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्रथम हेतु मुख्यार्थबाध है। जिस प्रकार गङ्गा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में बाधित होकर तट रूप अर्थ का लक्षणा द्वारा बोध कराता है; इसी प्रकार यदि तीरादि घोषादि का आधार न हो सकता तो तीरादि अर्थ में भी वह बाधित हो जाता तथा शीतत्वपावनत्वादि में लक्षणा हो जाया करती। किन्तु यहाँ मुख्यार्थ-बाध नहीं है; क्योंकि प्रथम तो तीर गङ्गा का मुख्यार्थ ही नहीं है, यदि 'तीर' को मुख्यार्थ भी मान लें तो तीर रूप अर्थ में कोई बाधा भी नहीं है। लक्षणा का द्वितीय हेतु है–मुख्यार्थ से साक्षात्सम्बन्ध। यदि पावनत्वादि को लक्ष्य माना जाये तो गङ्गा शब्द के लक्ष्यार्थ 'तीर' से उनका साक्षात् सम्बन्ध होना चाहिये किन्तु यहाँ पावनत्वादि का तटरूप अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। पावनत्वादि का साक्षात् सम्बन्ध तो गङ्गा-प्रवाह से है लक्षणा का तृतीय हेतु है–रूढि अथवा प्रयोजन। स्पष्ट ही है कि यहाँ रूढि नहीं हो सकती। रही प्रयोजन की बात अर्थात् यदि पावनत्वादि प्रयोजन को लक्ष्य माना जाय तो उसका कोई अन्य प्रयोजन मानना पड़ेगा। वह प्रयोजन यहाँ नहीं है।

यदि कोई कहे कि मुख्यार्थबाध आदि हेतुत्रय के बिना ही यहाँ लक्षणा क्यों न मान ली जाये ? तो उत्तर है—न च शब्दः स्खलद्गतिः—नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुम् असमर्थः। जैसे गङ्गा शब्द तटादि का साक्षात् बोध कराने में असमर्थ होकर लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है इसी प्रकार यदि प्रयोजन के प्रतिपादन में भी असमर्थ होता तो प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना जा सकता था। किन्तु गङ्गा शब्द पावनत्वादि की प्रतीति में सर्वथा असमर्थ (स्खलद्गतिः—क्षीण हो रही है गति अर्थात् अर्थ बोधन सामर्थ्य जिसकी) नहीं अपि तु इसी शब्द से प्रयोजन की प्रतीति हो जाती है। अतएव प्रयोजन में लक्षणा नहीं हो सकती, 'अभिधा' का न हो सकना पहले ही दिखलाया जा चुका है, इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति हेतु व्यञ्जना नामक शब्द-व्यापार को ही स्वीकार करना पड़ता है।

अनुवादः—प्रयोजन को लक्ष्य मानने पर भी (एवमपि) अनवस्था (दोष) होगी जो (अनवस्था) मूल का ही विनाश करने वाली है।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत्। (२७)

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा, तत्किं व्यञ्जनयेत्याह—

(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥

(सूत्र में) 'एवमपि' का अभिप्राय है—यदि प्रयोजन भी लक्ष्य है तो वह (प्रयोजन भी अन्य प्रयोजन (अन्यत् प्रयोजनं प्रयोजनान्तरम् तेन) से लक्ष्य होगा, वह (अन्य प्रयोजन भी) किसी तीसरे प्रयोजन रूप हेतु से इस प्रकार प्रयोजन शृङ्खला में लक्षणा मानने पर (इति) अनवस्था हो जायेगी जो प्रस्तुत तीरादि अथवा पावनत्वादि की भी अप्रतीति कराने वाली (अप्रतीतिकृत्) होगी। (२७)

प्रभा - इतना होने पर भी यदि कोई कहे कि प्रयोजन तो लक्ष्य ही है और उसमें लक्षणा मानने के लिये अन्य प्रयोजन भी हो सकता है; जैसे तीरनिष्ठ पावनत्वादि को लक्ष्य मानने मे घोषनिष्ठ पावनत्वादि प्रयोजन व्यङ्ग्य है तब तो इस प्रकार प्रयोजन का भी दूसरा प्रयोजन होगा और दूसरे प्रयोजन का भी कोई और प्रयोजन होगा तथा इस प्रयोजन परम्परा की कहीं समाप्ति न हो सकेगी और अनवस्था हो जायेगी। यह अनवस्था पावनत्वादि प्रयोजन की अथवा लक्षणा द्वारा तट की प्रतीति भी न होने देगी अर्थात् मूल का ही विनाश कर देगी। यद्यपि बीजांकुर परम्परा के समान जो अनवस्था होती है वह दोष नहीं समझी जाती तथापि जो अनवस्था मूलक्षयकारिणी होती है वह तो दोष है ही (मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था च दूषणम्।

इस प्रकार द्वितीयलक्षणावादी के मत का निराकरण करने के लिये दो युक्तियाँ दिखलाई—(i) मुख्यार्थबाध आदि का अभाव और (ii) अनवस्था दोष। अब विशिष्टलक्षणावादी के मत को प्रस्तुत करके उसका निराकरण करते हैं—

अनुवादः—(शङ्का या प्रश्न होता है; 'ननु प्रश्ने, विरोधोक्तौ वा' कि [गङ्गायां घोषः आदि में] पावनत्वादि धर्म-युक्त ही 'तट' लक्षित होता है, और 'गङ्गायास्तटे घोषः [अर्थात् गङ्गा के तट पर घोसियों की बस्ती है] की अपेक्षा अधिक अर्थ की प्रतीति कराना [लक्षणा का] प्रयोजन है; इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट [पावनत्वादिविशिष्ट तट] में लक्षणा होती है, तो व्यञ्जना से क्या [लाभ]

इस पर ग्रन्थकार कहते हैं [इत्याह] कि पावनत्वादि प्रयोजन सहित तट को लक्ष्य मानना उचित नहीं। (२८) क्यों? इसका उत्तर है—

कुत इत्याह—

(२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं च प्रकटता संवित्तिर्वा ।

(३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

—(३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥१६॥

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

जैसे ('हि शब्द प्रसिद्धयर्थक है) ज्ञान का विषय ज्ञान से अन्य होता है और फल या प्रयोजन भी (ज्ञान से) अन्य कहा गया है (उदाहृतम्),

प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय नीलादि है और फल (मीमांसक के मत में) ज्ञातता अथवा (नैयायिक के मत में) अनुव्यवसाय है । (२९)

इस युक्ति से (एवम्) प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा नहीं होती ।

विशिष्टे लक्षणा नैवम्, यह स्पष्ट ही है-('व्याख्यातम्' का यही भाव है) (३०)

किन्तु विशेष धर्म (पावनत्वादि) तो लक्षणा द्वारा बोधित तट आदि में (लक्षिते) प्रतीत होते हैं । (३१)

तट आदि में जो पावनत्व आदि विशेष धर्म प्रतीत होते हैं अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा के अतिरिक्त किसी अन्य वृत्ति (शब्द-व्यापार के द्वारा उनका बोध होना चाहिये (गम्याः); और व्यञ्जन, ध्वनन अथवा द्योतन आदि (किसी भी) शब्द की वाच्य वह वृत्ति अवश्य माननी चाहिये । (३०)

प्रभा—व्यञ्जना से ही पावनत्वादि की प्रतीति होती है—इस मत का विरोध करने के हेतु शंका हो सकती है कि प्रयोजनविशिष्ट अर्थ में ही लक्षणा होती है । इस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में पावनत्वविशिष्ट तट लक्ष्य है । लक्षणा का प्रयोजन है—'गङ्गायास्तटे घोषः' इस वाक्य से प्रकट होने वाले अर्थ की अपेक्षा एक विशेष प्रकार के अर्थ की प्रतीति कराना । अतः पावनत्वादि विशिष्ट तट में लक्षणा मानने से ही काम चल सकता है तो फिर व्यञ्जना की क्या आवश्यकता है ?

आचार्य मम्मट इस शङ्का का समाधान 'प्रयोजनेन'''नैवम्' अवतरण द्वारा करते हैं । इनमें हेतु यह है—'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलम् अन्यद् उदाहृतम्" अर्थात् विशिष्टलक्षणा मानने में ज्ञान-सम्बन्धी सामान्य नियम (general rule) का विरोध होता है । कैसे ?

ज्ञान का विवेचन करने वाले विद्वानों ने ज्ञान के विषय तथा फल को भिन्न भिन्न ही स्वीकार किया है । उदाहरणार्थ मीमांसक के मतानुसार—'अयं घटः' इस

प्रकार प्रत्यक्ष रूप से घट-ज्ञान हो जाने के पश्चात् 'ज्ञातो घटः' अथवा 'मया घटो ज्ञातः' यह प्रतीति होती है। इस प्रकार की प्रतीति तभी हो सकती है जबकि ज्ञान द्वारा घट में कोई विशेषता उत्पन्न कर दी जाय। यह विशेषता (ज्ञान द्वारा उत्पन्न किया हुआ फल) एक विशेष धर्म या गुण है जिसे मीमांसक प्रकटता या ज्ञातता (menifestedness or apprehendedness) नाम से पुकारता है। नैयायिक के मतानुसार—'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् 'घटमहं जानामि' यह प्रतीति होती है, जिसे 'अनुव्यवसाय' (Apperception) कहा जाता है। जो ज्ञाता में रहता है, घट आदि में नहीं। आचार्य मम्मट ने इसे ही 'संवित्ति' कहा है। यह अनुव्यवसाय या संवित्ति प्रत्यक्ष ज्ञान का फल है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय घट या नील आदि है और फल है—ज्ञातता या संवित्ति।

ज्ञान-सम्बन्धी इस नियम से दो भाव निकलते हैं—(१) ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल परस्पर भिन्न होते हैं तथा (२) ज्ञान-विषय और ज्ञान-फल दोनों ही ज्ञान से भिन्न होते हैं। इन दोनों के आधार पर 'ज्ञानस्य उदाहृतम्' आदि पंक्ति की दो व्याख्याएँ की जाती हैं:—

(१) प्रथम व्याख्या—इस व्याख्या का आधार है—'ज्ञानस्य०' इत्यादि का यथाश्रुत अर्थ। ज्ञानस्य विषयः अन्यः, फलं च अन्यत्=ज्ञानविषयात् ज्ञानफलम् अन्यत् अर्थात ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल परस्पर भिन्न होते हैं। जैसे—

ज्ञान—घटज्ञान या नीलज्ञान
ज्ञान-विषय—घट या नील आदि वस्तु
ज्ञान-फल—(कुमारिल मीमांसक) प्रकटता; (नैयायिकादि) संवित्ति।
किन्तु पावनत्वादिविशिष्ट तट में लक्षणा मानने पर—
ज्ञान— पावनत्वादिविशिष्टतटज्ञान
ज्ञान-विषय—पावनत्वादिविशिष्ट तट
ज्ञान-फल—पावनत्वादि।

यहाँ ज्ञान-विषय और ज्ञान-फल में भेद नहीं है; क्योंकि ज्ञानफल (पावनत्वादि) भी ज्ञान के विषय (पावनत्वादि-विशिष्ट तट) के अन्तर्गत ही है। इस प्रकार ज्ञान-सम्बन्धी सामान्य नियम का विरोध होता है।

इस पर पूर्वपक्षी विशिष्टलक्षणावादी की ओर से यह तर्क दिया जाता है—लक्षणा का फल या प्रयोजन पावनत्वादि नहीं अपि तु पावनत्वादि-प्रतीति (पावनत्व आदि का ज्ञान) है। 'प्रत्यक्षादेः···संवित्तिर्वा' इत्यादि कथन से भी यही सिद्ध होता है कि जो ज्ञान-जन्य होता है वही ज्ञान का फल होता है; ज्ञान-जन्य-प्रतीति का विषय फल नहीं हुआ करता। जब हम नील (या घट) को देखते हैं तो नील ज्ञान (या घटज्ञान) फल प्रकटता या संवित्ति होता है जो कि ज्ञान-जन्य (ज्ञान से

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तमभिधामूलं त्वाह—

(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१६॥

उत्पन्न होने वाला है) । फिर तो विशिष्टलक्षणा मानने पर ज्ञान-सम्बन्धी सामान्य नियम का विरोध कैसे होगा ? क्योंकि—

ज्ञान—पावनत्वादि विशिष्टतट-ज्ञान
ज्ञानविषय—पावनत्वादि विशिष्ट तट
ज्ञानफल—पावनत्वादि प्रतीति (ज्ञान)

यहाँ ज्ञान का विषय अवश्य ही ज्ञान के फल से भिन्न है ।

इस पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये 'ज्ञानस्य'···उदाहृतम्' की निम्नलिखित व्याख्या करनी चाहिये ।

(२) द्वितीय व्याख्या—'ज्ञानात् ज्ञानविषयः अन्यः; ज्ञानात् ज्ञानफलं च अन्यत्; अर्थात् ज्ञान से ज्ञान का विषय भिन्न होता है और ज्ञान से ज्ञान का फल भी भिन्न होता है । किन्तु विशिष्ट लक्षणा मानने पर यह भेद नहीं बनता; जैसे कि—

ज्ञान—पावनत्वादिविशिष्टतट ज्ञान
ज्ञानविषय पावनत्वादिविशिष्ट तट
ज्ञानफल—पावनत्वादि ज्ञान ।

यहाँ ज्ञान का फल जो 'पावनत्वादिज्ञान' है उसका ज्ञान के स्वरूप पावनत्वादिविशिष्टतटज्ञान में ही अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि विशेषण का ज्ञान हुए विना विशेष्य या विशिष्ट का ज्ञान नहीं हुआ करता (नागृहीतविशेषणा बुद्धिः विशेष्ये चोपजायते) । इस प्रकार यहाँ ज्ञान तथा ज्ञान-फल में कोई भेद नहीं रहता तथा विशिष्ट लक्षणा मानने में ज्ञान-सम्बन्धी सामान्य नियम का विरोध होता है । फलतःविशिष्ट में लक्षणा मानना युक्तिसङ्गत नहीं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रयोजन की प्रतीति न अभिधा से हो सकती है न तात्पर्य नामक मीमांसकाभिमत वृत्ति द्वारा और लक्षणा द्वारा भी इसका बोध नहीं हो सकता । अतः इसकी प्रतीति के लिये अभिधा, तात्पर्य और लक्षणावृत्ति से अतिरिक्त कोई और शब्द की वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है । शब्द के इसी व्यापार को *व्यञ्जना, द्योतन, ध्वनन या प्रत्यायन* और *सूचन* आदि कहा जाता है । इसकी स्वीकृति अनिवार्य है ।

अनुवादः—(अभिधामूलक व्यञ्जना) इस प्रकार लक्षणामूलक व्यञ्जना का कथन करके अब अभिधामूलक व्यञ्जना का निरूपण करते हैं

अनेक अर्थ वाले (अनेकार्थस्य) शब्द की संयोग, वियोग आदि के द्वारा वाचकता नियत हो जाने पर जो उसके वाच्यार्थ (सङ्केतित) से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतीति (धी) कराने वाला व्यापार (व्यापृतिः) है वह अञ्जन या व्यञ्जना कहलाता है ।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

प्रभा—लाक्षणिक शब्दों के समान ही वाचक शब्द भी व्यञ्जना द्वारा किसी विशेष अर्थ की प्रतीति कराते हैं। वाचक शब्दों द्वारा विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है "आचार्य मम्मट ने 'अनेकार्थस्येति' आदि कारिका में इसका निरूपण किया है। भाव यह है कि—वर्णों का समुदाय रूप जो पद या शब्द है उसकी कहीं कहीं अनेक अर्थों में शक्ति होती है। प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से उसके अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु प्रकरणादि के द्वारा जिस अर्थ में तात्पर्य ग्रहण होता है, वही अर्थ उपस्थित होता है; अन्य अर्थ नहीं। जब प्रकरण या संयोग, वियोग आदि से (जिनका आगे विवेचन किया जा रहा है) किसी शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण या नियन्त्रण हो जाता है तब भी कभी-कभी उस वाचक शब्द के द्वारा अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाया करती है। यद्यपि वस्तुतः वह अर्थ उस शब्द का वाच्यार्थ होता है तथापि संयोग आदि के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने के कारण अभिधा वृत्ति उसका बोध नहीं करा सकती। इसीलिए उसे अवाच्यार्थ कहा गया है। जो शब्द-व्यापार उस अर्थ को प्रकट करने में समर्थ है वही व्यञ्जनावृत्ति कही जाती है। यही अभिधामूला व्यञ्जना है।

टिप्पणी—(i) **लक्षणामूला व्यञ्जना**—वह व्यञ्जना है जो लक्षणा के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करती है (उद्योत)। जहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है वहाँ लक्षणामूला व्यञ्जना अवश्य होती है (अन्वय); क्योंकि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही हुआ करती है। जहाँ प्रयोजनवती लक्षणा नहीं होती वहाँ लक्षणामूला व्यञ्जना भी नहीं होती (व्यतिरेक)।

(ii) **अभिधामूला व्यञ्जना**—यह व्यञ्जना अभिधा के साथ अनिवार्य रूप से नहीं रहती। प्रत्येक वाचक शब्द व्यञ्जक नहीं होता अपितु किसी विशेष परिस्थिति में ही कोई वाचक शब्द व्यञ्जक हुआ करता है, जिसका कि 'अनेकार्थस्य' इत्यादि में वर्णन किया गया है। भाव यह है कि अभिधामूला व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ (१) किसी शब्द के दो या दो से अधिक वाच्यार्थ हों (२) संयोग आदि से नियन्त्रित होकर अभिधा वृत्ति उनमें से एक ही अर्थ का बोध कराती हो, दूसरे का नहीं। (३) फिर भी साथ साथ दूसरे (वाच्य) अर्थ की प्रतीति (व्यञ्जना) हो जाये। इस दूसरे अर्थ की व्यञ्जना अभिधा के आधार पर होती है अतः यह अभिधामूला व्यञ्जना कहलाती है।

अनुवाद:—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की निकटता, सामर्थ्य, योग्यता (औचिती), देश, काल व्यक्ति (लिङ्ग) तथा स्वर इत्यादि किसी शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय न होने पर विवक्षित-अर्थ (विशेष) के बोध का कारण होते हैं।

इत्युक्तदिशा सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथी। रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्तवीर्ययोः। स्थाणुं भज भवच्छिदे इति हरे। सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शम्भौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद्देशाद्राजनि। चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। मित्रं भातीति सुहृदि। मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

उक्त रीति से (क्रमशः उदाहरण हैं) —शङ्ख और चक्र से युक्त हरि यहाँ (संयोग से) तथा 'अशङ्खचक्रो हरिः' यहाँ (विभाग से) 'हरि' शब्द 'विष्णु' अर्थ में नियन्त्रित है। 'राम और लक्ष्मण' यहाँ (साहचर्य से) दोनों शब्द दशरथ-पुत्र में, 'उन दोनों की दशा (गतिः) राम और अर्जुन के समान है, यहाँ (विरोध के कारण) 'राम' शब्द परशुराम (भार्गव) तथा 'अर्जुन शब्द कार्तवीर्य में; संसार-छेदन के लिये स्थाणु को भजो यहाँ (अर्थ=प्रयोजन के द्वारा) स्थाणु 'शब्द' शिव में, 'देव सब जानते हैं यहाँ प्रकरण से 'देव' शब्द 'आप' के अर्थ में; 'मकरध्वज कुपित हो गया' यहाँ (कोप रूप लिङ्ग अर्थात् चिह्न से) मकरध्वज शब्द काम में, 'देव पुराराति का' यहाँ (पुराराति शब्द के सान्निध्य से) 'देव' शब्द शिव में; 'मधु से मतवाली कोयल' यहाँ (सामर्थ्य से) 'मधु' शब्द वसन्त में, 'प्रिया का मुख तुम्हारी रक्षा करे' यहाँ (औचित्य के कारण) 'मुख' शब्द सांमुख्य अर्थ में; 'यहाँ परमेश्वर शोभायमान है' यहाँ देश (विशेष) के कारण परमेश्वर शब्द राजा अर्थ में, 'चित्रभानु प्रकाशमान है, यहाँ (कालविशेष से) दिन में (चित्रभानु शब्द) सूर्य में तथा रात्री में अग्नि में; 'मित्रं भाति' यहाँ (नपुंसक लिंग होने से) मित्र शब्द सुहृद् अर्थ में तथा 'मित्रो भाति यहाँ (पुल्लिंग होने से) मित्र शब्द सूर्य अर्थ में नियन्त्रित होता है इसी प्रकार 'इन्द्रशत्रु' इत्यादि में वेदों में ही न कि काव्य में भी (उदात्तादि) स्वर विशेष प्रतीति कराने वाला होता है।

प्रभा—आचार्य मम्मट ने कारिका में बतलाया है कि संयोग इत्यादि अनेकार्थक पदों के वाच्यार्थ को निर्धारित करने वाले हैं। यहाँ पर भर्तृहरि (वाक्यपदीय २·३१७,३१८) की कारिका उद्धृत करते हुए संयोगादि का विवेचन किया गया है 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' का अभिप्राय यह है कि कुछ शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं ऐसे शब्दों के अर्थ में सन्देह (अनवच्छेद=अनिर्णय सन्देह) हो जाता है। जब शब्द के वाच्यार्थ का निश्चय नहीं होता तब संयोग आदि ही विवक्षित अर्थ का ज्ञान कराते हैं इसलिये संयोगादि अर्थनिर्णय के हेतु होते हैं जैसे—

(१) संयोग—संयोग का अर्थ है—प्रसिद्ध सम्बन्ध। यह संयोग वाचकता का

नियामक है; जैसे 'सशङ्खचक्रो हरिः' आदि में हरि शब्द अच्युत (विष्णु) का वाचक है। यद्यपि 'हरि' शब्द के यम, अनिल, शुक,कपि, सिंह आदि अनेक अर्थ होते हैं तथापि शङ्ख और चक्र का विष्णु भगवान् से सम्बन्ध प्रसिद्ध है इसी हेतु यहाँ हरि शब्द का वाच्यार्थ विष्णु है, यह निर्णय होता है।'

(२) विप्रयोग—विप्रयोग का अर्थ है—विभाग अथवा प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव। यद्यपि यह विप्रयोग संयोगपूर्वक ही होता है तथापि विभाग की प्रधानता होने के कारण इसका पृथक् उल्लेख किया गया है। 'अशङ्खचक्रो हरिः' आदि में विप्रयोग द्वारा यह निर्णय हो जाता है कि यहाँ अनेकार्थक हरि शब्द विष्णु का वाचक है। बात यह है कि जैसे शङ्ख, चक्र का संयोग विष्णु के साथ प्रसिद्ध है, उसी प्रकार इनका विप्रयोग भी विष्णु से ही सम्भव है।

(३) साहचर्य—एक कार्य में साथ साथ रहना, सदृश होना तथा स्वामी-भृत्य रूप से साथ रहना आदि साहचर्य के अर्थ हैं। साहचर्य के द्वारा "रामलक्ष्मणौ" यहाँ पर 'राम, तथा 'लक्ष्मण' पद से दशरथ पुत्र राम और लक्ष्मण का ग्रहण होता है। यद्यपि राम शब्द के बलराम, परशुराम, मनोज्ञ आदि अनेक अर्थ हैं तथा लक्ष्मण शब्द के भी सारस और दुर्योधनपुत्र आदि अनेक अर्थ हैं।

(४) विरोधिता—विरोधिता का अर्थ है-प्रसिद्ध वैर या साथ न रहना (सहानवस्थान)। विरोधिता के द्वारा 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इत्यादि स्थल पर 'राम, का वाच्यार्थ परशुराम तथा 'अर्जुन' का कार्त्तवीर्य (सहस्रबाहु) होता है परशुराम तथा कार्त्तवीर्य का वैर इतिहास पुराणादि में प्रसिद्ध ही है। सहानवस्थान रूप विरोधिता का उदाहरण है 'छायातपौ' छाया शब्द के कान्ति, छाँह आदि अनेक अर्थ हैं; किन्तु इस द्वन्द्वसमास में छाया का अर्थ अनातप होता है।

(५) अर्थ—अर्थ का तात्पर्य है-ऐसा फल जो अन्य प्रकार से साध्य न हो (अनन्यथासाध्य)। 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' यहाँ पर अर्थ अर्थात् फल की दृष्टि से स्थाणु का अर्थ 'शिव' होता है यद्यपि ठूंठ, शङ्कु, रुद्र आदि 'स्थाणु' शब्द के अनेक अर्थ हैं तथापि भव-बाधा हरण के लिये शिव का भजन ही हो सकता है अतएव यहाँ स्थाणु का अर्थ एकमात्र शिव ही होता है।

(६) प्रकरण—प्रकरण का अर्थ है वक्ता और श्रोता की बुद्धि में किसी बात का होना (वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता)। यदि राजा को सम्बोधित करके कोई कहता है कि 'सर्वं जानाति देवः' अर्थात् 'देव सब जानते हैं' तो यहाँ प्रकरण के कारण 'देव' शब्द का अर्थ 'आप' अर्थात् राजा ही होगा; क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों की बुद्धि में यही अर्थ विद्यमान है। देव शब्द के राजा, मेघ, सुर आदि अनेक अर्थ होते हैं तथापि प्रकरण अर्थ का नियामक हो जाता है। प्रकरण और अर्थ में भेद है—प्रकरण केवल बुद्धिस्थ (अशाब्द) है; किन्तु अर्थ या फल शब्दों द्वारा कहा जाता है।

(७) लिङ्ग- लिङ्ग का अर्थ है संयोग से भिन्न सम्बन्ध द्वारा दूसरे पक्ष की व्यावृत्ति कराने वाला धर्म (नागेश्वरी) अथवा असाधारण धर्म (चक्रवर्त्यादि)। इसका उदाहरण है—'कुपितो मकरध्वजः'। 'मकर (मगर) के आकार की ध्वजा है जिसकी (कामदेव) अथवा 'मकर ही है ध्वजा जिसकी' (समुद्र) इत्यादि विग्रह-वशात् मकरध्वज शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु समवाय सम्बन्ध से कोप, समुद्र आदि में नहीं रहता अतः कोपरूप लिङ्ग; चिह्न या असाधारण धर्म द्वारा मकरध्वज का अर्थ कामदेव है, यह निश्चय हो जाता है।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—इसका तात्पर्य है कि जहाँ अनेकार्थक शब्द के साथ किसी नियत अर्थ वाले शब्द का सामानाधिकरण्य होता है, वहाँ उस अनेकार्थक शब्द की वाचकता का निर्णय हो जाता है, जैसे—'देवस्य पुरारातेः' यहाँ देव शब्द के (राजा, मेघ आदि) अनेकार्थ हैं किन्तु 'त्रिपुराराति' अर्थात् त्रिपुर का शत्रु इस पद के साथ 'देव' शब्द का सामानाधिकरण्य है। राजा आदि तो त्रिपुराराति हो नहीं सकते अतः यह यहाँ पर केवल शिव का ही वाचक हो सकता है, इस प्रकार पुराराति शब्द की सन्निधि से यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ 'शिव' है यह निश्चित हो जाता है।

(९) सामर्थ्य—सामर्थ्य का अर्थ है—कारणता। 'मधुना मत्तः कोकिलः' इस वाक्य में 'मधु' शब्द है, जिसके वसन्त, मकरन्द, शहद, मद्य इत्यादि अनेक अर्थ हैं; किन्तु कोकिल को मतवाला करने का सामर्थ्य वसन्त के अतिरिक्त किसी में नहीं है. अतएव यहाँ पर 'मधु' शब्द का अर्थ 'वसन्त ऋतु' है यह निश्चय हो जाता है।

(१०) औचिती—औचिती का अर्थ है, औचित्य अथवा योग्यता। 'पातु वो दयितामुखम्' इत्यादि वाक्य में 'मुख' शब्द है, जिसके मुख, प्रारम्भ, साम्मुख्य में आदि अनेक अर्थ हैं; किन्तु प्रियतमा (दयिता) की अनुकूलता या साम्मुख्य में ही उत्कण्ठित प्रेमी के परित्राण (अथवा मनोरथ-साधन) की योग्यता है, अतएव यहाँ पर 'मुखम्' का अर्थ साम्मुख्य या अनुकूलता ही होता है।

(११) देश—देश-विदेश (नगर, ग्राम, आदि) के कारण किसी शब्द का अर्थ नियन्त्रित हो जाता है, जैसे 'भात्यत्र परमेश्वरः' इस वाक्य में 'परमेश्वर' शब्द है, जिसके विष्णु, शिव, राजा आदि अनेक अर्थ हैं; किन्तु राजधानी रूप देश-विदेश के कारण यहाँ 'परमेश्वर' शब्द का अर्थ राजा होता है।

(१२) काल—समय-विशेष (रात्रि, दिवस आदि) के कारण किसी शब्द का अर्थ-निर्णय होता है; जैसे—'चित्रभानुर्विभाति' यहाँ चित्रभानु शब्द है, जिसके 'चित्राः भानवः किरणाः यस्य' इस विग्रह से सूर्य, अग्नि आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; किन्तु यदि दिन में इस वाक्य का प्रयोग होता है तो चि[illegible] शब्द का अर्थ होता है—सूर्य। यदि रात्रि में इस वाक्य का प्रयोग होता [illegible] शब्द का अर्थ होता है—अग्नि।

(१३) व्यक्ति—से तात्पर्य है—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग आदि। इसके द्वारा भी अनेकार्थक शब्दों की वाचकता नियन्त्रित होती हैं, जैसे—'मित्रं भाति' अथवा 'मित्रो भाति' इन वाक्यों में मित्र शब्द का प्रयोग भिन्न २ लिङ्गों में किया गया है। कोशादि के अनुसार मित्र शब्द के सूर्य तथा सुहृद आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु यहाँ पर प्रथम वाक्य में नपुंसकलिङ्ग होने के कारण मित्र शब्द का अर्थ सुहृद होता है और द्वितीय वाक्य में पुंलिङ्ग होने के कारण 'मित्र' शब्द का अर्थ सूर्य होता है।

(१४) स्वर—स्वर का अभिप्राय है—उदात्त, अनुदात्त स्वरित आदि। स्वर के द्वारा केवल वेदों में ही अनेकार्थक शब्दों की वाचकता नियन्त्रित होती है, लोककाव्य में स्वर की अर्थ-नियामकता नहीं मानी जाती। इसका उदाहरण है—'इन्द्र-शत्रु:' इन्द्र-शत्रु शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे—(१) इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य (बहुव्रीहि) अर्थात् इन्द्र है नाशक जिसका वह व्यक्ति; (२) इन्द्रस्य शत्रुः (= शातयिता) (षष्ठी तत्पुरुष); अर्थात् इन्द्र का नाशक। समास की भिन्नता के कारण इसके स्वर में भी भेद हो जाता है—प्रथम विग्रह (बहुव्रीहि) में यह आद्युदात्त (बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्, पा० ६.२.१) होता है और द्वितीय विग्रह (षष्ठी तत्पुरुष) में अन्तोदात्त (समासस्य, पा० ६·१·२२३) होता है। इसी हेतु यहाँ पर स्वर के कारण अर्थ-निर्णय होता है।

वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्—आचार्य मम्मट का विचार है कि काव्यों में उदात्तादि स्वर अर्थनियामक नहीं होते। केवल वेद में ही स्वर अर्थ के नियामक होते हैं। इस मत पर आक्षेप करते हुए कुछ आलोचक कहते हैं कि उदात्तादि स्वर तथा काकुरूप स्वर काव्य में भी विशेषप्रतीतिकृत् होते है, जैसा कि उदात्तादि के विषय में भरत मुनि का कथन है।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः॥

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैर्वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः करुणवात्सल्यभयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयेत् (नाट्यशास्त्र १९·४३)

इस प्रकार उदात्तादिस्वर रसविशेष की प्रतीति में सहायक हैं तथा 'मथ्नामि कौरवशतम्' आदि उदाहरणों में काकु स्वर को भी विशेषार्थ का अभिव्यञ्जक माना गया है। आचार्य मम्मट के समर्थक विद्वान् इसका उत्तर देते हैं कि काव्य में उदात्तादि स्वर अथवा काकु आदि अभिधानियामक नहीं होते अपि तु केवल अर्थ विशेष के व्यञ्जक हुआ करते हैं। इसी हेतु काव्य में अनेकार्थक समस्तपदों में श्लेष माना जाता है; जैसा कि आचार्य मम्मट ने ११९ सूत्र की वृत्ति में कहा भी है 'काव्य-मार्गे स्वरो न गण्यते'। काकु भी अर्थव्यञ्जक ही होता है, जैसा कि प्रदीप-

आदिग्रहणात्—

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेतेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥११॥

[छाया-एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥]

इत्यादावभिनयादयः ।

कार का कथन है—काकुस्थले तु न नानार्थाभिधाननियमनं किन्त्वपदार्थस्यैव व्यञ्जनम् ।' अतः स्पष्ट ही है कि काव्य में स्वर अभिधानियामक नहीं होते ।

टिप्पणी—शक्तिग्रह-नियामक कारणों का विवेचन भारतीय वाङ्मय में प्राचीन समय से होता रहा है । व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य शास्त्र में सर्वप्रथम महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने इसका उल्लेख किया था । आचार्य भर्तृहरि ने 'संयोगो विप्रयोगश्च' आदि कारिका में प्रसिद्ध शक्ति-नियामक तत्त्वों का संग्रह कर दिया । आगे चलकर व्याकरणशास्त्र में इसका विशद विवेचन किया गया है । नागेश भट्ट ने लघुमञ्जूषा में शक्ति-नियामकता का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है ।

अनुवादः—(स्वरादयः में) 'आदि' शब्द के ग्रहण से — (यह नायिका) इतने ही दिनों में इतने से (ऐसे) स्तनों वाली (एतावन्मात्रौ स्तनौ यस्याः तादृशी) इतनी सी (ऐसी) नेत्र पुटों से युक्त तथा ऐसी अवस्था वाली हो गई है ॥ ११ ॥ इत्यादि में अभिनय आदि (अभिधा के नियामक होते हैं) ।

प्रभाः—भर्तृहरि की 'संयोगो विप्रयोगश्चेति' कारिका में 'स्वरादयः' कहा गया है । यहाँ 'आदि' शब्द से अभिनय तथा अपदेश इत्यादि का ग्रहण होता है । उपर्युक्त श्लोक अभिनय द्वारा अर्थ-निर्णय का उदाहरण है । इसके सन्दर्भ के विषय में दो मत हैः—चन्द्रिकाकार का मत है कि यहाँ किसी अनुराग-युक्त नायक के पूछने पर कोई दूती नायिका के सौन्दर्य का वर्णन कर रही है । उद्योतकार के मतानुसार यहाँ नायक के चिरप्रवास के कारण होने वाली नायिका की दशा का वर्णन किया गया है । दोनों प्रसङ्गों में वक्ता की अभिनय के अनुसार यथा-योग्य अर्थ-बोध होता है । हाथ आदि के अभिनय से अथवा नारिकेल, आमलक आदि पदार्थ के प्रति संकेत यहाँ स्तन आदि की विशालता अथवा लघुता का बोध होता है । कमलदल आदि के संकेत से नेत्रों के परिणाम का ज्ञान होता है. उच्चता तथा पुष्टि आदि के प्रदर्शन से नायिका की अवस्था का बोध होता है ।

इस प्रकार जो 'एतावत्' (इतना) शब्द (बड़ा, छोटा, ऊंचा, नीचा इत्यादि) अनेक अर्थों का बोध कराने में समर्थ है उसका अभिनय द्वारा अर्थ-निर्णय किया जाता है । 'अभिनयादयः' में आदि शब्द से 'अपदेश' का ग्रहण होता है (प्रदीप) ।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद्, अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः । यथा—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥१२॥

अपदेश का अर्थ है—विवक्षित अर्थ का हाथ आदि से निर्देश । 'इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीः । (कुमारसम्भव २·५५) में अपदेश के कारण नानार्थक 'इतः' शब्द की वाचकता 'वक्ता' में नियन्त्रित हो जाती है क्योंकि वह हाथ से अपनी ओर संकेत करता है ।

अनुवादः—उक्त प्रकार से (इत्थं) संयोग आदि द्वारा अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों का निवारण कर देने पर (तथा एक अर्थ का निश्चय कर देने पर) भी जो (वह) कहीं (वक्तृ-वैशिष्ट्यादि की सहायता से) अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, वहाँ (उस अर्थ की प्रतीति में) अभिधा नहीं क्योंकि उसका (संयोगादि द्वारा (नियन्त्रण हो जाता है; (लक्षणा के हेतु) मुख्यार्थबाध इत्यादि के न होने से (वहाँ) लक्षणा भी नहीं अपि तु अञ्जन अर्थात् व्यञ्जना नामक शब्द का व्यापार (वृत्ति) ही है ।

प्रभा—प्रस्तुत अवतरण में ग्रन्थकार ने 'अनेकार्थस्य शब्दस्य' आदि कारिका की व्याख्या करते हुए अभिधामूलक व्यञ्जना का स्वरूप-निरूपण किया है । जिन संयोग-विप्रयोग आदि की विशद व्याख्या की गई है वे अनेकार्थक शब्द की एकार्थवाचकता निर्धारित कर देते हैं तथा अन्य अर्थों का निवारण कर देते हैं । वह शब्द अभिधा द्वारा एक प्राकरणिक अर्थ का बोध कराते हुए भी श्रोता या वक्ता आदि की विशेषता के कारण अथवा कवि के शिल्प-कौशल द्वारा कहीं कहीं किसी अन्य अर्थ की प्रतीति करा देता है । इस विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द-व्यापार अभिधा नहीं होता; क्योंकि वहाँ संयोगादि द्वारा अभिधेय (वाच्य) अर्थ का निर्धारण किया जा चुका है । वह विशेष अर्थ लक्षणा वृत्ति द्वारा भी नहीं आ सकता, क्योंकि मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि या प्रयोजन रूप लक्षणा का हेतु यहाँ विद्यमान नहीं है । अतः इस विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाला जो शब्द का व्यापार है वह अञ्जन या व्यञ्जना (अञ्ज्यतेऽर्थविशेषःअनेनेति) कहलाता है ।

अनुवादः—जैसे (प्राकरणिक अर्थ, राजा के पक्ष में) जिसका अन्तःकरण शोभन है (भद्रः आत्मा यस्य), जिसका शरीर दूसरों के द्वारा अपराजेय है (दुरधिरोहा परैरनभिभवनीया तनुः यस्य); जिसकी महान् वंश में ख्याति है (विशाले वंशे उन्नतिः ख्यातिर्यस्य अथवा विशालवंशस्योन्नतिः यस्मात्), जिसने बाण चलाने का (दृढ़) अभ्यास किया है (कृतः शिलीमुखानां बाणानां संग्रहोभ्यासो येन), जिसका ज्ञान या गति अबाधित है (अनुपप्लवा अबाधिता गतिर्यस्य), ऐसे शत्रु निवारक (परवारण) जिस राजा का (यस्य) हाथ निरन्तर दान के (संकल्प) जल के द्वारा सींचे जाने से सुन्दर (दानस्य अम्बुजलसेकेन सुभगः) था ।

(प्रतीयजमान अर्थ, हाथी-पक्ष में) जिसकी जाति (भद्र मन्द आदि ८ गज जातियाँ हैं) भद्र है (भद्र जातीय) जिसके शरीर पर (अत्युच्च होने के कारण) चढ़ना कठिन है, जिसका पृष्ठदण्ड (वंश) अत्यन्त ऊंचा है, जिसने (स्वमदगन्ध के कारण भ्रमरों (शिलीमुख) को इकट्ठा (संग्रह) किया है, जिसकी चाल अनुद्धत या धीर है (अनुपप्लवा=अनुद्धता) ऐसे, जिस (यस्य) उत्कृष्ट गज का (परस्य उत्कृष्टस्य वारणस्य,-गजस्य) शुण्डादण्ड (कर) निरन्तर मद दान) जल के द्वारा सिक्त होने से सुन्दर था।

प्रभा—'*भद्रात्मन:*' इत्यादि अभिधामूलक शाब्दी व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर किसी राजा का वर्णन किया गया है। प्रकरण के अनुसार राजा के पक्ष में इसका उपर्युक्त प्रथम अर्थ होता है। कवि-कौशल के कारण तथा सहृदयों की प्रतिभा के द्वारा यहाँ गज-पक्ष में भी अर्थ-प्रतीति होती है। अतः राजा वाच्यार्थ है तथा गज प्रतीयमान अर्थ है। इस गज-विषयक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही होती है। बात यह है कि यहाँ पर अभिधा वृत्ति प्राकरणिक नृपसम्बन्धी अर्थ का बोध कराके शान्त हो जाती है, मुख्यार्थबाध आदि न होने से यहाँ लक्षणा हो ही नहीं सकती; तात्पर्यग्राहक प्रकरणादि के अभाव मे तात्पर्यवृत्ति द्वारा भी इस विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती अतः यह प्रतीयमान अर्थ व्यङ्ग्य ही है और इसकी बोधिका वृत्ति है—व्यञ्जना।

यहाँ श्लेष इत्यादि अलङ्कारो द्वारा ही दोनों अर्थों का बोध हो सकता है फिर इसके लिये व्यञ्जना मानने की क्या आवश्यकता है यह शङ्का भी निर्मूल है— क्योंकि श्लेष आदि से व्यञ्जनावृत्ति का क्षेत्र भिन्न है—जहाँ नानार्थक शब्दों का प्रयोग होने पर प्रकरणादि द्वारा एक साथ अनेक अर्थों में वक्ता का तात्पर्य गृहीत होता है वहाँ श्लेष माना जाता है, जहाँ क्रमेण अनेक अर्थों में वक्ता का तात्पर्य होता है वहाँ आवृत्ति होती है जैसे '*अक्षाः भज्यन्तां भुज्यन्तां दीव्यन्ताम्*'; किन्तु जहाँ एक अर्थ में ही वक्ता का तात्पर्य होता है वहाँ व्यञ्जना द्वारा ही अन्यार्थ का ग्रहण हुआ करता है। '*भद्रात्मन:*' उदाहरण में प्रकरण द्वारा एक-अर्थ में ही अभिधा नियन्त्रित हो गई है। अतः द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से होती है।

टिप्पणी (१) शब्द बिना वृत्ति के अर्थ-बोध नहीं कराता। वृत्ति का अर्थ है—*शब्दनिष्ठ व्यापार*। अभिधेय अर्थ का बोध कराने के लिए अभिधा वृत्ति मानी जाती है, लक्ष्यार्थ-बोध के लिये लक्षणावृत्ति। किन्तु कहीं २ लाक्षणिक तथा वाचक शब्द एक विशेष अर्थ की प्रतीति कराते है जो अर्थ लक्षणा या अभिधा का विषय नहीं हो सकता; जैसे—'*गङ्गायां घोषः*' इत्यादि में गङ्गा शब्द लक्षणा द्वारा तटरूप अर्थ का बोध कराने के साथ २ शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति भी कराता है, इसी प्रकार '*भद्रात्मन:*' इत्यादि उदाहरण में वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द से इस प्रकार की विशेष प्रतीति कराने वाला भी शब्द-

(३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः—

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः।

—(३४) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः॥ (२०)

तथेति व्यञ्जकः।

॥ इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः॥

व्यापार होना चाहिये वही व्यञ्जना नामक व्यापार है। कहा भी है— "व्यञ्जना च शक्तिलक्षणाद्यजन्यप्रतीतिजनकः पदादिगतो व्यापारः"।

(२) अभिधा और लक्षणा दोनों शब्द के व्यापार हैं, शब्दाश्रित हैं; अतएव तन्मूलक व्यञ्जना भी शब्दाश्रिता अर्थात् शाब्दी ही है, यह अभिप्राय है— (प्रदीप)।

अनुवाद—उस (तत्) व्यञ्जन से युक्त शब्द व्यञ्जक कहलाता है। (कारिका में) 'तद्युक्तः' शब्द का अभिप्राय है—व्यञ्जनयुक्त अर्थात् व्यञ्जना से युक्त। (३३)

क्योंकि (यत्-यस्मात् कारणात्) वह शब्द (सः) अपने अर्थ के व्यवधान से युक्त होता हुआ (अर्थस्य अन्तरेण व्यवधानेन युक्तः) व्यञ्जक होता है (तथा) अतएव काव्य में (तत्र) शब्द का सहकारी होने के कारण अर्थ को भी व्यञ्जक माना गया है।

(कारिका में) तथा शब्द का अभिप्राय है—व्यञ्जक (३४)

प्रभा—व्यञ्जक शब्द के निरूपण-हेतु आचार्य मम्मट व्यञ्जना की सिद्धि करके 'तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः' इस सूत्र द्वारा व्यञ्जक शब्द का स्वरूप बतलाते हैं। जो लाक्षणिक शब्दों में प्रयोजन की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जना नामक शब्द-व्यापार कहा गया है (तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः सूत्र २२) तथा जो "अवाच्यार्थ-धीकृद् व्यापृतिः अञ्जनम् (सूत्र २३) यहाँ पर अभिधा के नियमित हो जाने पर अवाच्य-अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जन व्यापार बतलाया गया है, उस व्यञ्जन व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक कहलाता है।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि जब केवल शब्द ही व्यञ्जक होता है तो शब्दार्थयुगल रूप काव्य को ध्वनि कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि वह तो व्यञ्जक नहीं है। 'यत्स' इत्यादि सूत्र द्वारा इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शब्द प्रथमतः अपने वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ का बोध कराता है तदनन्तर व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराता है अतः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराने में वह स्वकीय अर्थ से व्यवहित होता है (अर्थान्तरयुक्); अर्थात् उसका मुख्यार्थ आदि भी व्यङ्ग्यार्थ-बोधन में सहकारी होता है। इसी हेतु वाच्य-अर्थ भी प्रतीयमान अर्थ का व्यञ्जक माना जाता है। यहाँ शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक होता है उस शब्द का समानार्थक शब्द रख देने पर व्यञ्जना नहीं रहती (शब्दपरिवृत्त्यसहत्व)। अतएव यह शाब्दी व्यञ्जना कही जाती है।

टिप्पणी—(i) संक्षेप में अभिधा तथा लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना वृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है। वह व्यञ्जना दो प्रकार की है–शब्दनिष्ठा (शाब्दी) और अर्थनिष्ठा (आर्थी)। शाब्दी-व्यञ्जना भी दो प्रकार की है–लक्षणामूला और अभिधामूला। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार लक्षणामूला व्यञ्जना है। अनेकार्थक शब्दों में अभिधा के आधार पर होने वाली व्यञ्जना अभिधामूला है।

(ii) अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना आदि का पारस्परिक भेद यह है—(१) अभिधा शब्द की स्वतन्त्र वृत्ति है, यह अन्य वृत्ति पर आश्रित नहीं। लक्षणा वृत्ति अभिधा पर आश्रित है, वह मुख्यार्थ-बाध आदि हेतुओं पर आधारित है। साथ ही रूढि लक्षणा तो व्यञ्जना के बिना हो सकती है; किन्तु प्रयोजनवती लक्षणा में व्यञ्जना का व्यापार भी अनिवार्य है। शाब्दी व्यञ्जना अभिधा या लक्षणा पर आश्रित रहती है। किन्तु वर्ण (सूत्र ६१) चेष्टा (उदा० २२) आदि की व्यञ्जकता अभिधा या लक्षणा पर आश्रित नहीं होती।

(२) वाच्यार्थ शब्द का साक्षात अर्थ होता है। वाच्यार्थ का बाध होने पर ही लक्ष्यार्थ होता है अतः एक ही स्थल में वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों नहीं होते। किन्तु एक ही स्थल पर वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ साथ साथ हो सकते हैं।

(३) कोई शब्द केवल वाचक हो सकता है, केवल लक्षक (लाक्षणिक) हो सकता है किन्तु केवल व्यञ्जक नहीं। साथ ही एक ही शब्द एक स्थल पर वाचक तथा व्यञ्जक अथवा लाक्षणिक तथा व्यञ्जक हो सकता है; किन्तु वाचक तथा लाक्षणिक नहीं हो सकता।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में शब्द और अर्थ के स्वरूप का निर्णय करने वाला यह द्वितीय उल्लास समाप्त होता है।

॥ इति द्वितीय उल्लासः ॥

अथ तृतीय उल्लासः

[अर्थव्यञ्जकतानिर्णयात्मकः]

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्गचा। तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम्।

—(३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते।

कीदृशीत्याह—

(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्टयात्प्रतिभाजुषाम्।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः। काकुर्ध्वनेर्विकारः। प्रस्तावः प्रकरणम्। अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य व्यङ्ग्यात्मनः।

द्वितीय उल्लास मे अभिधा और लक्षणा से पृथक् व्यञ्जना का स्वरूप दिखलाकर उसके दो भेदों (शाब्दी और आर्थी) में से शाब्दी व्यञ्जना का निर्णय किया जा चुका है। साथ ही "सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते (सूत्र ८) में आर्थी व्यञ्जना की ओर संकेत भी किया गया है। प्रस्तुत उल्लास में आर्थी व्यञ्जना या अर्थव्यञ्जकता का निरूपण करते हैं।

अनुवादः—उन (वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों) के अर्थ पहले (पुरा) कहे जा चुके हैं (३५)

वे अर्थ हैं—वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य। उनके अर्थात् वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक शब्दों के।

(यहाँ पर) अर्थों (वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य) की व्यञ्जकता का निरूपण किया जाता है। (३६)

(वह अर्थव्यञ्जकता) कैसी है? यह बतलाते हैं—

[वक्त्रादीनां वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् अन्यार्थधीहेतुः यः अर्थस्य व्यापारः सा व्यक्तिः एव—यह अन्वय है]

वक्ता, बोद्धव्य (जिसे बोध कराना है), काकु (ध्वनि-विकार), तथा (वक्ता और बोद्धव्य से) भिन्न व्यक्ति की समीपता (अन्यसन्निधे.) एवं प्रकरण, देश, काल (वसन्त आदि) इनकी विशिष्टता या विलक्षणता के कारण प्रतिभायुक्त अर्थात् सहृदयजनों को (वाच्य, लक्ष्य से) अन्य अर्थ (व्यङ्ग्य) की प्रतीति का हेतुभूत जो अर्थ का व्यापार है, वह व्यञ्जना ही है।

(कारिका में) बोद्धव्य=प्रतिपाद्य (प्रतिपादयितुं योग्यः); जिसे बोध कराने के लिये कुछ कहा जाये। काकु अर्थात् ध्वनिविकार। प्रस्ताव अर्थात् प्रकरण। अर्थस्य अर्थात् वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्यरूप अर्थ का।

प्रभा - यह अर्थ-व्यञ्जना क्या है ? वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के अर्थ हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। इन वाच्य आदि अर्थों से भी वक्तृवैशिष्ट्य आदि के कारण सहृदयों को एक विशेष अर्थ की प्रतीति हो जाया करती है। उस विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाले ये अर्थ ही होते हैं। ये (वाच्य आदि) अर्थ जिस व्यापार द्वारा उस विशेष (प्रतीयमान) अर्थ की प्रतीति कराते हैं, वह अर्थ-व्यापार ही आर्थी व्यञ्जना है। संक्षेप में—वक्तृवैशिष्ट्य आदि के कारण सहृदयों को विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ-व्यापार ही आर्थी व्यञ्जना है।

यह विशेष अर्थ की प्रतीति प्रतिभा-सम्पन्नों को ही होती है। काव्य की भावना से जिनकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है, नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा जिन्हें मिली है; उन काव्य-रसिकों को ही विशेष अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। किन्तु उस प्रतीति में वक्तृवैशिष्ट्य आदि अलग २ या कई एक साथ (व्यस्त-समस्त रूप से) मिलकर सहकारी होते हैं। वक्ता, बोद्धव्य तथा प्रकरणादि की विलक्षणता के कारण ही यह विशेष अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। आचार्य मम्मट ने विशेषार्थ प्रतीति के निम्नाङ्कित कारण बतलाये हैं—

१. वक्ता, २. बोद्धव्य, ३. काकु, ४. वाक्य, ५. वाच्य, ६. अन्यसन्निधि, ७. प्रस्ताव, ८. देश, ९. काल, तथा चेष्टा-आदि की विशिष्टता।

'कालादेः' में आदि शब्द के द्वारा चेष्टा इत्यादि का ग्रहण होता है। इनमें से प्रत्येक की विलक्षणता कैसे होती है ? इसका (उदाहरण सहित) आगे विवेचन किया जा रहा है। इस उल्लास में दिये गये आर्थी व्यञ्जना के सभी उदाहरण उत्तम काव्य या ध्वनि के हैं।

टिप्पणी (i) वाक्यं च वाच्यं च वाक्यवाच्ये ताभ्यां सहितः अन्यसन्निधिः— यह विग्रह है। व्यक्तिः=व्यञ्जना; व्यज्यते अनया इति।

(ii) काव्य में दो प्रकार का अर्थ होता है १. आपातरमणीय, २. पर्यन्त-रमणीय। यह पर्यन्तरमणीय अर्थ ही सहृदयों को आनन्द देने वाला विशेष अर्थ है जो आर्थी व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्त हुआ करता है।

(iii) आचार्य मम्मट कविकृति तथा सहृदय-प्रतिभा दोनों को ही अर्थ-व्यञ्जकता का कारण मानते हैं। वक्तृवैशिष्ट्य आदि कविकर्मनिबद्ध ही होते हैं, तथा 'प्रतिभाजुषाम्' कहने से सहृदयमात्रवेद्य ही यह विशेष अर्थ होता है—यह प्रकट होता है।

(ii) आर्थी व्यञ्जना के विवेचन में विश्वनाथ कविराज ने बहुत कुछ आचार्य मम्मट का अनुसरण किया है (साहित्यदर्पण २·१६)। उन्होंने भी वक्तृवैशिष्ट्य

क्रमेणोदाहरति—

१. अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम्।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥१३॥
(अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि, त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥)

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते।

२. ओणिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तण सणीससिअम्।
मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुह्मी अहह परिहवइ ॥१४॥
(औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह! परिभवति ॥)

अत्र दूत्यारतत्कामुकोपभोगो व्यज्यते।

आदि को अर्थ-व्यञ्जकता का कारण माना है; किन्तु काव्यानुशीलन-प्रतिभा का उल्लेख नही किया।

अनुवादः—क्रमशः उदाहरण—

हे सखी, मैं बहुत बड़े जल के घड़े को लेकर शीघ्रता से आई हूँ, मैं श्रम के कारण प्रस्वेद जल तथा निश्वास से (चलने में) असमर्थ हूँ (श्रमात् यौ स्वेदसलिलनिःश्वासौ ताभ्यां निःसहा अक्षमा) अतः क्षण भर विश्राम करूँगी ॥१३॥

यहां पर (वक्तृ-वैशिष्ट्य से) चोरी से की गई रति का छिपाना प्रतीत होता है (गम्यते)।

प्रभा—यह वक्तृ-वैशिष्ट्य के कारण विशेष-अर्थ की प्रतीति का उदाहरण है। जल लाने के मार्ग में उपनायक से रति-क्रीड़ा करने वाली कोई नायिका अपनी सखी से कह रही है। यहाँ कहने वाली स्त्री (वक्तृ) विशाल घट को लाने का वर्णन करके अपनी थकावट को प्रकट करती है; यही वाच्यार्थ है। इसके द्वारा अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है। जो प्रतिभा-सम्पन्न सामाजिक यह जानते है कि यह कामिनी दुश्चरित्रा है, उन पर यह प्रकट हो जाता है कि यह अपनी थकावट का वर्णन करके चोरी से की गई रति-लीला को छिपा रही है।

अनुवाद—२. हे सखि, खेद है (अहह) कि मुझ अभागिनी के हेतु तुझे भी निःश्वाससहित नींद उचटना (औन्निद्र्यम्), दुर्बलता, चिन्ता तथा आलस्य पीडित कर रहे हैं ॥१४॥

यहाँ पर (बोद्धव्य-वैशिष्ट्य से) दूती का उस (नायिका) के नायक-द्वारा उपभोग व्यक्त हो रहा है।

प्रभा—यह बोद्धव्य-वैशिष्ट्य के कारण विशेष-अर्थ की प्रतीति का उदाहरण है। अपने पति से रति-क्रीड़ा करके आने वाली दूती को भांप कर कोई नायिका दूती से कह रही है। यहाँ बोद्धव्य दूती है जिसकी दुष्ट चेष्टाओं को पहले भी जाना

३. तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते । न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।

गया है, अतः बोद्धव्य-वैशिष्ट्य के कारण इस पद्य के वाच्यार्थ द्वारा सहृदयों को यह प्रकट (व्यङ्ग्य) हो रहा है कि यह नायिका अपने पति द्वारा इस दूती के उपभोग को प्रकट कर रही है ।

——अनुवाद—३. राजसभा में बैसी (तथाभूताम् अर्थात् रजास्वलावस्था में दुःशासन द्वारा जिसके वस्त्र और केश खींचे गये) पञ्चाल देश के राजा की पुत्री (द्रौपदी) को देखकर और वल्कलधारी हम लोगों का व्याधों के साथ वन में रहना (उषितम्) एवं राजा विराट् के गृह में अनुचित (पाचकादि) कार्य (आरम्भ) करते हुए गुप्त रूप से ठहरना देखकर (भी) गुरु अर्थात् युधिष्ठिर आज भी मुझ (भीम) खिन्न (विपण्ण) पर क्रोध करते हैं (भजति), कौरवों पर नहीं ? ॥१५॥

इस पद्य में काकु अर्थात् ध्वनि परिवर्तन से यह प्रकट किया जा रहा है कि मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं, अपि तु कौरवों पर क्रोध करना उचित है 'यहाँ पर काकु अर्थात् ध्वनि-विकार वाच्यार्थ की सिद्धि का साधन (अङ्ग) है, इसलिये यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य है (न कि ध्वनि)'—ऐसी शङ्का न करनी चाहिये (न शङ्क्यम्), क्योंकि काकु द्वारा प्रकट होने वाले प्रश्नमात्र से भी (काकोः व्यङ्ग्येन प्रश्नमात्रेणापि) वाच्यार्थ की परिसमाप्ति हो सकती है (विश्रान्तेः—वाच्यार्थस्य पर्यवसानात्) ।

प्रभा—यह काकु के वैशिष्ट्य के कारण विशेष-अर्थ की प्रतीति का उदाहरण है । भावावेश या उद्देश्य विशेष के कारण एक विशेष प्रकार की परिवर्तित ध्वनि काकु कहलाती है—'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' । उपर्युक्त (वेणीसंहार १·११ नाटक के) पद्य में भीमसेन सहदेव से कह रहे हैं कि गुरु अर्थात् युधिष्ठिर मुझ खिन्न के प्रति क्रोध करते हैं और आज भी कौरवों के प्रति क्रोध नहीं करते । यह वाच्यार्थ है । इस से काकु अर्थात् ध्वनि-विकार के कारण यह व्यञ्जना होती है कि मेरे प्रति क्रोध (खेद) करना उचित नहीं, अपि तु कौरवों के प्रति क्रोध करना उचित है ।

यहाँ पर यह सन्देह हो सकता है कि उपर्युक्त उदाहरण में ध्वनिकाव्य है अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य ? अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक है अथवा वाच्यार्थ का अङ्गरूप ही है । पूर्वपक्ष है कि यहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्य है, किन्तु आचार्य मम्मट का मत है कि ध्वनिकाव्य है ।

पूर्वपक्ष का आशय है – यहाँ पर काकु के बिना वाच्यार्थ की परिसमाप्ति (सिद्धि) ही नहीं होती; क्योंकि जो क्रोध का पात्र नहीं, उस भाई पर क्रोध करना और जो क्रोध के पात्र हैं, उन कौरवों पर क्रोध न करना–अयुक्त है। अतः वाच्यार्थ निष्पन्न नहीं होता। काकु द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होकर ही यहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि होती है। इसी हेतु यह काकु वाच्यार्थ को निष्पन्न कराने में सहायक मात्र है, वाच्यार्थ की सिद्धि का अङ्ग है—साधनमात्र है और काकु द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की यहाँ प्रधानता नहीं तथा यह काव्य (काक्वाक्षिप्त) गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

इस पर आचार्य मम्मट कहते हैं—'प्रश्नमात्रेणापि काकोः विश्रान्तेः'। इस वाक्य की व्याख्या दो प्रकार से की गई है— (१) काकोः व्यङ्ग्येन प्रश्नमात्रेणापि वाच्यार्थस्य विश्रान्ते :=काकु द्वारा प्रकट होने वाले प्रश्नमात्र से ही वाच्यार्थ निष्पन्न हो सकता है अतः काकु से व्यक्त विशेष अर्थ वाच्यसिद्धि का अङ्ग नहीं। भाव यह है कि यहाँ पर काकु दो कार्य कराती है—एक तो प्रश्न को उपस्थित करती है और दूसरे विशेष अर्थ की प्रतीति कराती है। काकु या ध्वनि परिवर्तन द्वारा 'कुरुषु न भजति ?' इस प्रकार के प्रश्न की उद्भावना करके ही यह वाक्यार्थ निष्पन्न हो जाता है— "क्या गुरु मुझ पर क्रोध करते हैं और कौरवों पर नहीं ?" इस प्रकार वाच्यार्थ निष्पन्न हो जाने पर काकु द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है—'गुरु को मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं, अपितु कौरवों पर क्रोध करना उचित है।' यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्य सिद्धि का अङ्ग नहीं, अपितु प्रधान है। यही व्यङ्ग्यार्थ सहृदयों के लिये अधिक हृदयाह्लादक है, वाच्यार्थ से बढ़कर है। इसलिये यह ध्वनि-काव्य है।

(२) नेति प्रश्नकाक्वापि वाक्यार्थप्रतीतिपर्यवसानात्; अर्थात् 'न' में स्थित काकु से ही वाक्यार्थ निष्पन्न हो जाने के कारण विशिष्ट काकु वाच्यार्थ की सिद्धि का अङ्ग नहीं। भाव यह है कि यहाँ दो स्थलों पर काकु हो सकती है। 'नाद्यापि कुरुषु' के 'न' (नञ्) मे काकु मानने पर भी प्रश्न की प्रतीति हो जायेगी तथा वाक्यार्थ निष्पन्न हो जायेगा। फिर यहाँ जो 'खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु'—इस समुदाय में विशिष्ट काकु है, उससे व्यक्त होने वाला उपर्युक्त अर्थ वाच्यसिद्धि के लिये आवश्यक नहीं तथा यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यसिद्धि का अङ्ग न होगा (प्रदीप)। यही अर्थ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि यह 'काकुवैशिष्ट्यात्' शब्द से साक्षात् रूप में प्रतीत होता है।

टिप्पणी—काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में मध्यमकाव्य या गुणीभूत-व्यङ्ग्य का विवेचन किया जायगा। इस गुणीभूतव्यङ्ग्य के ८ भेद हैं, जिनमें वाच्यसिद्धयङ्ग और काक्वाक्षिप्त नामक दो भेद भी हैं। वाच्यसिद्धयङ्ग वहाँ होता है जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि व्यङ्ग्यार्थ के अधीन होती है; किन्तु जब काकु के द्वारा आक्षिप्त या अनुमित व्यङ्ग्य वाच्यार्थ में होने वाले बाध को दूर करता है, काकु के बिना वाच्यार्थ ही नहीं बन सकता तो वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य होता,

४. तइआ मह गण्डत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी ॥१६॥
(तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न च सा दृष्टिः ॥)

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते।

५. उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी,
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः ॥१७॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम्।

है; जैसे 'मथ्नामि कौरवशतम्' इत्यादि उ० १३१ में है। वस्तुतः प्रस्तुत स्थल पर काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य होने की शङ्का है, वाच्यसिद्ध्यङ्ग की नहीं। अतः यह चिन्तनीय है कि यहाँ मम्मट ने स्पष्टतः 'काक्वाक्षिप्त का उल्लेख क्यों नहीं किया।'

अनुवादः—४. तब तो (जब यह कामिनी मेरे समीप थी) मेरे कपोल पर गड़ी हुई (निमग्नाम् अनिमेषतया लग्नाम्) दृष्टि को तुम अन्यत्र नहीं ले जाते थे। इस समय (उसके चले जाने पर) मैं वही हूँ, (मेरे) दोनों कपोल भी वे ही हैं, किन्तु यह दृष्टि नहीं' ॥१६॥

यहाँ पर व्यञ्जना द्वारा यह प्रकट होता है (व्यज्यते) कि मेरे कपोल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते हुए तो तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही (अन्यैव) थी किन्तु उसके चले जाने पर और ही (वैसी स्निग्धा तथा अनिमेषा नहीं) हो गई। अनूठी है (अहो), तुम्हारी यह प्रच्छन्नकामुकता (गुप्त प्रेम)।

प्रभा—यह वाक्यवैशिष्ट्य से होने वाली विशेषार्थ की प्रतीति का उदाहरण है। नायक के दृष्टि-भेद से 'उसका अन्य प्रियतमा के प्रति प्रच्छन्नानुराग है'—इस बात को जानने वाली नायिका की यह उक्ति है। यहाँ पर 'तदा' और 'इदानीम्' इन दोनों पदों द्वारा क्रमशः उपनायिका की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति प्रकट होती है। इन दोनों पदों के रूप में ही यहाँ वाक्य-वैशिष्ट्य है। यहाँ वाक्य-वैशिष्ट्य के कारण सहृदय जनों को वाच्यार्थ के द्वारा एक विशेष व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है, जो विशेष चमत्कारजनक है। उसी व्यङ्ग्यार्थ का 'अत्र......व्यज्यते' अवतरण द्वारा ग्रन्थकार ने निरूपण किया है।

अनुवादः—५. 'हे कृशाङ्गि (तन्वि), नर्मदा नदी (के तट) का यह ऊँचा प्रदेश हरे-भरे केलों की पंक्तियों की शोभा से अतिरमणीय है (सरसकदलीनां श्रेण्याः शोभया अतिशायी), इसमें लतागृहों की पुष्पसमृद्धि के कारण कामिनियों के (हृदय में) विशेष हाव (=विभ्रम=शृङ्गार से चित्त की चञ्चलता) अङ्कुरित हो जाते हैं (अङ्कुरितः प्रसन्नेवोत्पादितः) और इसमें सुरत में सहायक (रतिश्रमजन्य खेद को हरने वाली) ये हवाएँ चलती हैं, जिनके आगे-आगे अनवसर में कोप करने वाला (कलितः धृतः अकाण्डे अनवसरे कोपो येन तादृशः) कामदेव चला करता है ॥१७॥

६. णोल्लेइ अणह्मणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥१८॥
(नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥)
अत्र सन्ध्यासङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते।

यहाँ पर—(वाच्यवैशिष्ट्य से) यह व्यङ्ग्य है कि सुरत के लिये प्रवेश करो।

प्रभा—यह वाच्यवैशिष्ट्य के कारण होने वाली विशेष अर्थ की प्रतीति का उदाहरण है। कामुक अथवा दूती किसी नायिका के प्रति कहती है। यहाँ विशेषणों की विलक्षणता के कारण सहृदयजनों को एक विशेष व्यङ्ग्य रूप अर्थ की प्रतीति होती है। वह व्यङ्ग्यार्थ है—'सुरत के लिये प्रवेश करो' नायक का यह भाव। ('सुरतार्थं प्रविशेति यन्नायिकायाः प्रेरणं तत्सामाजिकान् प्रति व्यज्यते'—उद्योत)।

वाक्य-वैशिष्ट्य और वाच्य-वैशिष्ट्य में अन्तर है। पदो का समूह ही वाक्य है। जब वाक्य में 'तदा' इदानीम्' इत्यादि ऐसे पदो का प्रयोग किया जाता है जो विशेष परिस्थिति की व्यञ्जना करते हैं तो वाक्य-वैशिष्ट्य कहलाता है। किन्तु जब वाच्यार्थ के विशेषणो से प्रकरणोपयोगी अर्थों की व्यञ्जना होती है तो वाच्यार्थ-वैशिष्ट्य होता है। तदा मम० (उदा० १६) मे वाक्य-वैशिष्ट्य है, किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में नर्मदोद्देश' के विशेषण जो 'सरस०' और 'कुञ्जो०' इत्यादि हैं उनसे उस स्थान की रमणीयता और एकान्तता व्यक्त हो रही है। इसी प्रकार 'वाताः' के सुरत०' इत्यादि विशेषण से वायु की सुरत में अनुकूलता एव 'येपामग्रे०' से कामदेव की अपरिहार्यता आदि व्यक्त होते हैं।

अनुवाद—६. 'कठोर हृदय वाली सास मुझे घर के समस्त कार्यो में लगा दिया करती है (नुदति—प्रेरयति) यदि क्षण भर को अवकाश मिलता है तो सायंकाल ही' नहीं तो (या) मिलता ही नहीं' ॥१८॥

यहाँ पर—सन्ध्या का समय सङ्केतकाल है' यह (वक्ता तथा बोद्धव्य आदि से) भिन्न व्यक्ति (तटस्थ-उदासीन अर्थात् उपनायक) के प्रति कोई नायिका व्यञ्जना द्वारा प्रकट करती है।

प्रभा—यह अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य के कारण होने वाली अर्थव्यञ्जकता का उदाहरण है। गुरुजनो के बीच उपनायक से बात करने मे असमर्थ कोई नायिका सङ्केतकाल को प्रकट करने के लिये अपनी पड़ोसिन से सास की बुराई कर रही है। यहाँ वक्ता और बोद्धव्य आदि से भिन्न उपनायक ही तटस्थ व्यक्ति है। उसके सान्निध्य की विशिष्टता के कारण सहृदयजनों को वाच्यार्थ के द्वारा एक विशेष

७. सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमेअ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥१६॥
(श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि, सज्जय करणीयम् ॥)
अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।
८. अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अर्थ की प्रतीति होती है। वह विशेष अर्थ या व्यङ्ग्यार्थ है—सायंकाल ही मिलन का समय है'।

यहाँ पर भिन्न भिन्न शब्दों के वाच्यार्थ से निम्न प्रकार की अर्थ-व्यञ्जना होती है—'अनार्द्रमनाः' से थकावट के बहाने से भी अवकाश नहीं, 'सकले' से समस्त कार्य-व्यग्रता, 'श्वश्रू' से आज्ञा की अनतिक्रमणीयता तथा 'सन्ध्याकाले' से उसी समय अवसर है, इत्यादि।

अनुवाद—७. हे सखी, सुना जाता है कि तेरा प्रियतम आज पहर भर में ही आने वाला है इसलिये (तत्) तू यों ही क्यों बैठी है, जो करना है (करणीय) वह कर ले ॥११॥

यहाँ पर उपपति के प्रति अभिसरण के लिये उद्यत नायिका को कोई (सखी) रोक रही है कि यहाँ जाना उचित नहीं।

प्रभा—यह प्रकरण अथवा प्रस्ताव-वैशिष्ट्य के कारण होने वाली अर्थ-व्यञ्जकता का उदाहरण है। उपपति के निकट जाने को प्रस्तुत किसी नायिका से उसके पति के आगमन की बात सुनकर कोई सखी यह कह रही है। यहाँ पर अभिसरण के योग्य वेष-विन्यास आदि का प्रकरण है। "पति के आगमन की बात कहती हुई सखी अभिसरण का निषेध कर रही है"—यह प्रकरण-वैशिष्ट्य के कारण सहृदयजनों को प्रतीत हो जाता है। यही व्यङ्ग्यार्थ है जो प्रकरण-विलक्षणता के कारण वाच्यार्थ द्वारा प्रकट हो रहा है।

यहाँ पर—'अद्य' शब्द से 'आज ही' कालान्तर में नहीं, 'प्रहरमात्रेण' से—अविलम्ब, 'समागमिष्यति' से—सम्यक् पूर्ण काम होकर आने वाला है अतः तुरन्त ही फिर नहीं लौटेगा, 'श्रूयते' से अभी सुना है—इत्यादि अर्थों की व्यञ्जना होती है।

अनुवाद—८ 'अरी सखियों, तुम कहीं अन्यत्र पुष्प-चयन करो, इस स्थान पर मैं (अस्मि—अहम्, पुष्पचयन) करती हूं, क्योंकि मैं बहुत दूर तक घूमने में समर्थ नहीं हूं, मैं तुम्हारे (वः) हाथ जोड़ती हूं (अञ्जलिः रचितः), तुम प्रसन्न हो जाओ (कृपा करो) ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ॥

६. गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम्।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥२१॥
(गुरुजनपरवश प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिन्यहम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥)

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि तव न जानामि गतिमिति व्यज्यते।

यहाँ पर—(देश-वैशिष्ट्य से) 'यह एकान्त प्रदेश है इसलिए गुप्त वेषधारी मेरे उपपति को तुम भेज दो' (अभिसार्यतां—प्रेर्यताम्) यह विश्वसनीय (आश्वस्ता) सखी के प्रति किसी (नायिका) के द्वारा निवेदन किया जा रहा है।

प्रभा :—यह देशवैशिष्ट्य के कारण होने वाली अर्थ-व्यञ्जकता का उदाहरण है। अपने उपपति के साथ आई हुई प्रिय सखी (आश्वस्ता) को देखकर कोई नायिका अपनी सखियों से कह रही है। यहाँ पर सखियों को पुष्प-चयन के लिये अन्यत्र भेजकर एक स्थान को निर्जन बनाया गया है अतएव यहाँ देश-वैशिष्ट्य है। इस देश-वैशिष्ट्य के कारण सहृदयजनों को यह प्रतीति होती है कि 'कोई नायिका अपनी प्रिय सखी से गुप्त कामुक को इस विविक्त प्रदेश में भेजने की बात कह रही है"। यहाँ पर वाक्यार्थ का सम्बन्ध सामान्य सखियो से है और और व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध प्रिय सखी से ही।

यहाँ पर 'कुसुमावचायम्' इस शब्द से जहाँ तक पुष्प मिले दूर तक जाना, 'यूयम्' (बहुवचन) से भयादि का न होना। 'अत्र' से विजनता तथा 'अञ्जलिर्वः' से सब के लिये एक अञ्जलि प्रदान करने के कारण असामर्थ्य—इत्यादि व्यङ्ग्य है।

अनुवाद:—६. 'हे गुरुजनों के अधीन प्रियतम, मैं तुमसे क्या कहूं, मैं तो अभागिनी हूं। यदि तुम परदेश को जाते हो, तो जाओ, मुझे जो करना है (करणीयम्) उसे स्वयं ही सुन लोगे ॥२१॥

यहाँ पर (कालवैशिष्ट्य से) आज इस वसन्त ऋतु में यदि (परदेश) जाते हो तब मैं तो जीवित नहीं रहूंगी, तुम्हारी दशा को तो मैं नहीं जानती।', यह व्यञ्जना द्वारा प्रकट हो रहा है।

प्रभा:—यह काल-वैशिष्ट्य से होने वाली अर्थव्यञ्जकता का उदाहरण है। परदेश जाने के लिए उद्यत किसी नायक से नायिका कह रही है। यहाँ 'अद्य' शब्द

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः। तत्र चेष्टाया यथा—

> द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
> प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्।
> आनीतं पुरतः शिरोंशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने,
> वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते।

द्वारा उक्त वसन्त काल के वैशिष्ट्य' से सहृदयों को यह प्रतीति होती है—'प्रियतम मैं तो तुम पर ही आश्रित हूँ इस समय तुम्हारे जाने पर मैं जीवित न रहूँगी।'

यहाँ पर 'गुरुजनपरवश' शब्द से गमन की अनिवार्यता 'प्रिय' से दुःखोत्कटता, आदि की व्यञ्जना होती है।

अनुवादः—(कारिका में) आदि (कालादेः) शब्द के ग्रहण से चेष्टा आदि का ग्रहण होता है। उनमें से चेष्टा की अर्थव्यञ्जकता; जैसे—

'जब मैं द्वार के अत्यन्त निकट पहुँचा तो (सकल) सौन्दर्य की सार-भूत शोभा वाली (सौन्दर्यसारा श्रीः यस्याः), उस (नायिका) ने अपने दोनों उरुओं को फैलाकर (प्रोल्लास्य) फिर परस्पर मिला लिया (समासादितम्), शिर के आँचल को आगे (पुरतः) कर लिया, चञ्चल नेत्रों को नीचा कर लिया, उस समय (तत्र) (मुख मूँद कर) वचन का प्रसार रोक दिया (वाच. प्रसरणं निवारितम्) तब भुजलताओं को सिकोड़ लिया' ॥२२॥

यहाँ पर चेष्टा-द्वारा गुप्त प्रियतम के प्रति अपना विशेष अभिप्राय (आकूत-विशेषः) प्रकट किया जा रहा है।

प्रभाः—सूत्र मे 'कालादेः' में प्रयुक्त आदि शब्द के द्वारा चेष्टा आदि का ग्रहण होता है। 'द्वार' आदि चेष्टावैशिष्ट्य के कारण वाच्य द्वारा अर्थव्यञ्जकता का उदाहरण है। वेद बदलकर अपने सम्बन्ध में नायिका की विशेष चेष्टाओं को जानने वाला कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है। यहाँ पर नायिका की चेष्टाओं का वर्णन वाच्यार्थ है। उसके द्वारा सहृदयजनों को एक विशेष अर्थ की प्रतीति हो रही है। नायिका का विशेष अभिप्राय ही व्यङ्ग्यार्थ है, जो इस प्रकार है—'यह मेरे अनुराग हेतु आवे'। अथवा वह सम्भोग शृङ्गार के सञ्चारी भाव लज्जा के रूप में है अथवा आलिङ्गन-आदि विषयक है।

यहाँ पर उरुओं के परस्पर मिलाने से गाढस्पर्श' (स्पृष्टकम्), आगे वस्त्र करने से 'गुप्त रूप से आगमन', 'नेत्र-सञ्चार से सूर्यास्त का सङ्केत काल', मुख बन्द करने से 'शान्तिपूर्वक आगमन', भुजसङ्कोचन से 'आलिङ्गन' आदि ध्वनित होते हैं।

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते। वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन, अनेन क्रमेण लक्ष्य-व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम्।

(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति। न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः॥

॥ इति काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीयोल्लासः ॥३॥

अनुवाद—आकांक्षारहित (प्रत्येक का क्या उदाहरण है? इस प्रकार की जिज्ञासा-निवृत्तिपूर्वक) बोध कराने के लिये तथा अवकाश या अवसर होने के कारण पृथक् २ (पुनः पुनः) उदाहरण दिये गये हैं। वक्ता, बोद्धव्य आदि का परस्पर संयोग होने पर द्विकवैशिष्ट्य आदि के भेद से अर्थ-व्यञ्जकता का उदाहरण जान लेना चाहिये (उदाहार्यम्) तथा इसी क्रम से लक्ष्य और व्यङ्ग्य (अर्थों) की अर्थ-व्यञ्जकता के उदाहरण भी जान लेना चाहिये।

प्रभा—आर्थी व्यञ्जना के इन दस उदाहरणों में वाच्य अर्थ की व्यञ्जकता दिखलाई गई है। इसी प्रकार यह समझना चाहिये कि वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ भी किसी अन्य अर्थ के व्यञ्जक हुआ करते हैं।

अनुवाद—क्योंकि शब्द प्रमाण के द्वारा जाना हुआ (वाच्य-लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य) अर्थ ही व्यञ्जना द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है (व्यनक्ति) इसलिये (तत्-तस्मात्) अर्थ की व्यञ्जकता में शब्द की सहकारिता मानी जाती है ॥३८॥

'शब्द' इत्यादि का अभिप्राय है कि (शब्द से भिन्न) किसी और प्रमाण से जाना हुआ अर्थ व्यञ्जक नहीं होता।

प्रभा—आर्थी व्यञ्जना में वाच्यादि अर्थ ही प्रधानतया अन्य-अर्थ का व्यञ्जक होता है इसका अभिप्राय यह नहीं कि यहाँ शब्द की व्यञ्जकता होती ही नहीं। वस्तुतः शब्दार्थयुगल ही काव्य है और जब शब्द और अर्थ दोनों ही विशेष अर्थ की प्रतीति कराते हैं तभी कोई काव्य ध्वनि-काव्य कहलाता है। अतएव आचार्य मम्मट का कथन है कि अर्थ की व्यञ्जता में शब्द भी सहायक होता है; क्योंकि काव्य में जिस वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य रूप अर्थ के द्वारा कोई अर्थ व्यक्त होता है वह वाच्यादि अर्थ तो किसी शब्द द्वारा ही ज्ञेय है। वह शब्द प्रमाण से ही जाना जाता है, अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं। इसी लिये आर्थी व्यञ्जना में शब्द की भी सहकारिता मानी जाती है। यहाँ पर अर्थ प्रधानतया व्यञ्जक होता है तथा शब्द सहायक रूप में।

काव्य में शब्द-प्रमाण द्वारा ज्ञेय अर्थ (वाच्यादि) ही अन्य अर्थ के व्यञ्जक होते हैं। यदि कोई वस्तु अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से जानी जाती है तो वह व्यञ्जक नहीं होती। इसलिये अर्थ की व्ञ्जकता में शब्द की स्थिति अनिवार्य है।

इस प्रकार जहाँ शब्द (वाचक आदि) व्यञ्जक हैं वहाँ वे अर्थान्तरयुक्त होकर ही व्यञ्जक होते हैं और जहाँ वाच्यादि अर्थ व्यञ्जक हैं वहाँ वे शब्दों द्वारा ज्ञात होकर ही अन्य अर्थ के व्यञ्जक होते हैं, अतः शाब्दी तथा आर्थी दोनों प्रकार की व्यञ्जना में शब्दार्थयुगल ही अर्थ-विशेष की प्रतीति कराते हैं तथा ऐसे शब्दार्थ-युगल को ही ध्वनिकाव्य कहा जाता है।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट के 'परसोऽर्थान्तरयुक्' (२·२०) तथा 'शब्द प्रमाण-वेद्योऽर्थः' (३·२३) ये दोनों सूत्र क्रमशः शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ की सह-कारिता तथा आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता का प्रतिपादन करते हैं। इस मान्यता का आधार ध्वनिकार की यह (१·१३) उक्ति है—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ साहित्यदर्पण (२·१८) में इस मान्यता को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता

(ii) सारांश यह है कि (१) प्रयोजनवती लक्षणा के स्थल पर नियमित रूप से तथा अनेकार्थक शब्द के प्रयोग में विशेष परिस्थिति में ही शाब्दी व्यञ्जना होती है। वहाँ किसी शब्द का समानार्थक (पर्याय शब्द) रखने पर व्यञ्जना नहीं रहती (शब्दपरिवृत्त्यसहत्व) अतः वह शाब्दी या शब्दाश्रित है। (२) जब किसी शब्द द्वारा प्रथमतः वाच्य, लक्ष्य या व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होता है और फिर उस अर्थ से किसी व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है तब आर्थी व्यञ्जना हुआ करती है। यहाँ किसी शब्द का पर्याय रख देने पर भी व्यञ्जना बनी रहती है (शब्दपरिवृत्तिसहत्व)। (३) यद्यपि शब्द की व्यञ्जकता में अर्थ तथा अर्थ की व्यञ्जकता में शब्द भी सहकारी होता है तथापि किसी एक की प्रधानता के कारण ही शाब्दी या आर्थी व्यञ्जना कही जाती है—(प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति)।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में आर्थी व्यञ्जना का निर्णय करने वाला यह तृतीय उल्लास समाप्त होता है।

॥ इति तृतीय उल्लासः ॥

अथ चतुर्थ उल्लासः

[ध्वनिकाव्यनिरूपणात्मकः]

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथाऽपि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

[लक्षणामूलकं ध्वनिकाव्यम्]

(३९) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ। ध्वनि
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२४॥

इस (चतुर्थ) उल्लास में ध्वनिकाव्य के भेदों तथा अवान्तर भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है।

अनुवाद—यद्यपि शब्द और अर्थ का निर्णय कर लेने पर (के पश्चात्) दोष, गुण तथा अलङ्कारों का स्वरूप कहना चाहिये; तथापि धर्मी अर्थात् काव्य का (अवान्तर भेदों सहित) निरूपण किये जाने पर ही धर्मों (दोष, गुण तथा अलङ्कारों) की हेयता (दोषों की त्याज्यता) तथा ग्राह्यता (गुण तथा अलङ्कारों की उपादेयता) जानी जाती है इस लिये (ग्रन्थकार) प्रथम काव्य के भेदों को बतलाते हैं—जिसमें वाच्यार्थ अविवक्षित अर्थात् अनुपयुक्त (अन्वय के अयोग्य) होता है ऐसा जो (यः) ध्वनि काव्य है, उस ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ १. किसी अन्य (वाच्यलक्ष्यसाधारण) अर्थ में परिणत हो जाता है अथवा २. अत्यन्त तिरस्कृत होता है। [इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद हैं—१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य]

प्रभा—आचार्य मम्मट ने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस प्रकार काव्यलक्षण का निरूपण किया है। इस लक्षण मे शब्दार्थौ यह विशेष्यपद है, शेष तीन विशेषण हैं अतः प्रथमतः शब्दार्थयुगल के स्वरूप तथा भेदों का विवेचन किया है। उसके पश्चात् दोष, गुण, अलङ्कारों का निरूपण करना चाहिये, उनके निरूपण का ही यहाँ अवसर है। किन्तु दोष, गुण तथा अलङ्कार तो काव्य के धर्म हैं और काव्य धर्मी है। जब तक काव्य का अवान्तर भेदों सहित निरूपण न किया जाये धर्मों का विवेचन भली भाँति नहीं हो सकता तथा दोषों की हेयता और गुण आदि की उपादेयता का भी ठीक २ ज्ञान नहीं हो सकता। इसी हेतु यहाँ पहले काव्य के भेदों का निरूपण किया जा रहा है।

प्रथम उल्लास में काव्य के तीन भेद किये गये हैं—१. उत्तम (ध्वनि): २. मध्यम (गुणीभूतव्यङ्ग्य) और ३. अधम (चित्रकाव्य)। उनमें से यहाँ ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेदों का विवेचन किया जा रहा है। ध्वनि के प्रथमतः

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं
'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः ।

दो भेद होते हैं १. लक्षणामूलक अथवा अविवक्षितवाच्य, २. अभिधामूलक
विवक्षितान्यपरवाच्य,

प्रस्तुत कारिका में अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य का स्वरूप बतलाया
तथा उसके दो भेदों—क. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और ख. अत्यन्ततिरस्कृत
का निरूपण किया गया है, जो कारिका-वृत्ति की व्याख्या में स्पष्ट होगा ।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेदों में ध्वनिका
अनुसरण किया है । ध्वनिकार का कथन है—अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षित
विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन (ध्वन्यालोक १·१३ वृत्ति)

तथा— अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥ (ध्वन्यालोक (

साहित्यदर्पणकार ने भी ध्वनि के भेद-विवेचन में काव्य-प्रकाश की
का ही अनुसरण किया है, (देखिये, साहित्यदर्पण ४·२,३)

अनुवाद—लक्षणामूलक गूढव्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ही
वाच्यार्थ अविवक्षित होता है यह अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य है यह जानना च
(ज्ञेयः); क्योंकि (कारिका में) 'ध्वनौ' इस (पद) के द्वारा (पहिले प्रय
ध्वनिः' शब्द का) अनुवाद किया गया है ।

प्रभा—'लक्षणामूल' इत्यादि अवतरण में आचार्य मम्मट ने कारि
'अविवक्षितवाच्यो यः' अंश की व्याख्या की है । यहाँ अविवक्षितवाच्य ध्वनि
का संक्षेप में स्वरूप निर्देश किया गया है । अभिप्राय यह है कि 'अविवक्षितव
शब्द में ही इस ध्वनि का स्वरूप निहित है । इसमें वाच्यार्थ अविवक्षित म
तात्पर्य का अविषय हुआ करता है । वाच्यार्थ बाधित हो जाता है तथा लक्ष्यार्थ
बोध कराता हुआ किसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है । इसी से इस ध्वनि
लक्षणामूलक ध्वनि काव्य भी कहा जाता है । यहाँ जो व्यङ्ग्य रूप अर्थ होत
वह गूढ होता है—सहृदयमात्रसंवेद्य होता है । इसी व्यङ्ग्यार्थ की यहाँ प्रधानता
करती है अर्थात् यह लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण हुआ करता है ।
प्रकार अविवक्षितवाच्य-ध्वनि-काव्य में तीन विशेषतायें होती हैं,—(१). इ
लक्षणामूलक व्यङ्ग्य होता है; (२) जो व्यङ्ग्यार्थ होता है वह गूढ होता है, ग
नहीं । ३. व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती है वह लक्ष्यार्थ से अधिक चमत्का
होता है । 'अविवक्षितवाच्यो यः' इस कारिकांश से उपर्युक्त अर्थ इस प्रकार प्रस्तु
हुआ है—जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित होता है (अविवक्षितं वाच्यं यत्र) और लक्ष
मूलक गूढव्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ही यह अविवक्षित होता है ऐसा जो ध्व
[illegible]

१. यत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्। यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥२३॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ॥

है—'यः ध्वनिः' क्योंकि यत् और तत् शब्द परस्पर साकाङ्क्ष हैं तथा 'तत्र' के समानाधिकरण रूप मे 'ध्वनि' का सप्तम्यन्त 'ध्वनौ' प्रयुक्त किया गया है। अतः 'यः' के समानाधिकरण रूप में 'ध्वनिः' शब्द का अध्याहार स्वतः सिद्ध ही है।

टिप्पणी—(i) 'विवक्षित' शब्द का अर्थ 'अभिप्राय, तात्पर्य' आदि होता है; जैसा कि कहा गया है—

विवक्षितमभिप्रायः फलं भावः प्रयोजनम्। तात्पर्यमिति पर्यायशब्दा वाक्यार्थगोचरा.।

(ii) 'अनुवाद' का अर्थ है–जानी हुई बात को किसी उद्देश्य से पुनः कहना–प्राप्तस्य अनु पश्चात् कथन सप्रयोजनम्–अनुवादः (न्यायसूत्रवृत्ति २–१–६५)। यहाँ पर 'यः' के साथ ध्वनिशब्द आक्षेपसिद्ध है, अतः 'ध्वनौ' इस पद का 'तत्र' के समानाधिकरणरूप में पुनः प्रयोग किया गया है तथा अनुवादमात्र है।

अनुवाद—१. अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य में (तत्र) कहीं तो (क्वचित्) वाच्यार्थ (अपने रूप में) अनुपयुक्त (अविवक्षित या अनभिप्रेत) होने के कारण किसी अन्य अर्थ में (अर्थान्तरे—वाच्यलक्ष्यसाधारण अर्थ में) परिणत (संक्रमित) हो जाता है। (यह अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि काव्य है) जैसे—

'मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ (अस्मि=अहं, वच्मि) कि यहाँ पण्डितों का समुदाय उपस्थित है, इसलिये (तत्) तुम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर (आस्थाय=आलम्ब्य) यहाँ सावधानी से व्यवहार करना (स्थितिं विधेहि=सावधानवर्तनं कुरु) ॥२३॥

यहाँ पर कहना आदि (वच्मि) उपदेश रूप में परिणत होता है।

प्रभा—अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य वहाँ होता है, जहाँ व्यञ्जक रूप में आने वाला वाच्यार्थ अपने स्वरूप में (प्रकरण की दृष्टि से) अनुपयुक्त हो जाता है तथा अपने से भिन्न किसी अर्थ में (अर्थान्तरे) परिणत हो जाता है; किन्तु वह अन्य अर्थ ऐसा हुआ करता है जो वाच्य तथा लक्ष्य दोनों अर्थों से समान रूप से सम्बन्ध रखता है। संक्षेप में—व्यञ्जक रूप में स्थित मुख्यार्थ की स्वभिन्न किन्तु अपने ही विशेष रूप अर्थ (लक्ष्य) में परिणति ही अर्थान्तरसंक्रान्ति है। अथवा वाच्यार्थ का प्रकारान्तर से लक्ष्य हो जाना ही अर्थान्तरसंक्रान्ति है। ऐसा उपादान-लक्षणा के स्थल में ही होता है। जैसे—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहाँ वाच्य होते हुए भी 'काक' पद का अर्थ 'दध्युपघातक' रूप में लक्ष्य है।

२. क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम्। यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वदति।

अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण 'त्वामस्मि वच्मि' आदि सूक्ति है। विद्वानों की सभा में जाते हुए किसी व्यक्ति से उसके पिता या गुरु आदि का यह कथन है। यहां श्रोता को लक्ष्य करके वक्तव्य बात कही जा रही है, अतएव 'त्वाम्' (तुझको) अस्मि (अहं, मैं) वच्मि (कहता हूं), ऐसा कहना अनुपयुक्त है तथा ये पद अपने से भिन्न किन्तु अपने रूप विशेषभूत (स्वसम्बद्ध) अन्य अर्थ मे परिणत हो जाते हैं। 'त्वाम्' का लक्ष्य-अर्थ हो जाता है उपदेशयोग्य तुझको (उपदेश्यं त्वाम्), 'अस्मि' का 'यथार्थवक्ता मैं' (आप्तोऽस्म्), तथा 'वच्मि' का 'उपदेश करता हूँ' (उपदिशामि)। इस लक्ष्यार्थ के द्वारा हितकारिता व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार 'विदुषाम्' तथा 'आत्मीयां' अन्यार्थ में परिणत होकर—'अन्यथाचरण करने पर उपहसनीयता होगी' इस अर्थ की प्रतीति कराते हैं।

टिप्पणी—(i) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' आदि शब्द परिभाषिक से हो गये हैं। इनका व्युत्पत्तिकृत अर्थ इस प्रकार है—

(अर्थान्तरसंक्रमितश्चासौ वाच्यश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः तस्य (तत्सम्बन्धित्वेन) ध्वनिः। (कर्मधारयगर्भ-षष्ठीतत्पुरुषः) अथवा अर्थान्तरसंक्रमितं वाच्यमस्ति यस्य सोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, स चासौ ध्वनिश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः (बहुव्रीहिगर्भकर्मधारयः)

दर्पणकार ने 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है—यत्र स्वयमुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्।

(साहित्यदर्पण ४·३)

अनुवाद—(२. अत्यन्ततिरस्कृत)—कहीं-कहीं (वाच्यार्थ) उपयुक्त न होने के कारण अत्यन्ततिरस्कृत (अन्यार्थलक्षक) हो जाता है, जैसे—

'हे मित्र, आपने बहुत उपकार किया है, इस विषय में (तत्र) क्या कहा जाये; आपने तो केवल (परं-केवलम्) सज्जनता दिखलाई है (प्रथिता=प्रकटिता)। इसलिये (ततः) ऐसा ही करते हुए (विदधत्) सैकड़ों वर्षों (शरदां) तक सुखपूर्वक रहो' ॥२४॥

यह (बात) कोई विपरीत लक्षणा द्वारा अपकारी के प्रति कहता है।

प्रभा—अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य वहां होता है, जहां व्यञ्जक रूप में आने वाला वाच्यार्थ (प्रकरण की दृष्टि से) अपने स्वरूप से अनुपयुक्त हो जाता है तथा अपने अर्थ का सर्वथा त्याग करके अन्यार्थ का लक्षक मात्र हो

[अभिधामूलं ध्वनिकाव्यम्]

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

जाता है। यहाँ वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत इसीलिए कहा जाता है क्योंकि वह अपने स्वरूप का त्याग कर देता है और लक्ष्यार्थ के बोधन का उपाय मात्र बन जाता है। ऐसा उपादानलक्षणा से भिन्न लक्षणा के स्थल में ही होता है; जैसे 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' का अर्थ तीररूप अर्थ में परिणत हो जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि का उदाहरण है—'उपकृतम्' आदि। अनेक अपकारों द्वारा पीड़ित किसी व्यक्ति की अपने अपकारी के प्रति यह उक्ति है। प्रकरणादि से यहाँ पर बोद्धव्य (जिससे बात कही जा रही है) व्यक्ति का अपकारी होना ज्ञात है, अतः उसके उपकारादि की स्तुति रूप जो मुख्यार्थ है वह बाधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित करता है; जैसे—'उपकृतम्' शब्द लक्षणा द्वारा 'अपकृतम्' के अर्थ में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार सुजनता का दुर्जनता, 'सखे' का 'शत्रु' एवं 'सुखितम्' का 'दुखितम्' आदि लक्ष्यार्थ होते हैं। विपरीत लक्षणा द्वारा उपर्युक्त पद लक्ष्यार्थ बोधकमात्र रह जाते हैं तथा अपकार की अधिकता की (व्यञ्जना) द्वारा प्रतीति कराते हैं।

टिप्पणी—(i) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य शब्द का विवरण इस प्रकार है—अत्यन्ततिरस्कृतश्चासौ वाच्यश्चेति अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः, तस्य ध्वनिः। अथवा अत्यन्ततिरस्कृतं वाच्यं यत्र स ध्वनिः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिः।

दर्पणकार के अनुसार अत्यन्यतिरस्कृतवाच्य का विवरण है—

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम्। (सा० द० ४·३)

(ii) अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि काव्यों का पारस्परिक अन्तर—यद्यपि दोनों में वाच्यार्थ अविवक्षित होता है, वह लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता हुआ किसी व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त कराता है 'तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः' (ध्वन्यालोक २·१); तथापि दोनों में स्पष्ट अन्तर है। अर्थान्तरसंक्रमित में वाच्यार्थ अपने विशेष रूप में परिणत हो जाता है, वाच्य-लक्ष्यसाधारण अर्थ का बोध करता है अथवा कहिये कि स्वार्थ का सर्वथा त्याग न करता हुआ परार्थ का बोध कराता है। उपादानलक्षणा के स्थलों पर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य होता है। किन्तु अत्यन्ततिरस्कृत में वाच्यार्थ अपने स्वरूप का सर्वथा त्याग कर देता है तथा केवल लक्ष्यार्थ का बोधक होता है। उपादानलक्षणा से भिन्न लक्षणा के स्थलों पर अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य होता है।

अनुवाद—(ख. अभिधामूलक ध्वनि) जिस ध्वनि में (यत्र) वाच्यार्थ अपने स्वरूप से अन्वय-योग्य होता हुआ (विवक्षितम्) भी (च) अन्यपर अर्थात् व्यङ्ग्यार्थपरक (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होता है वह दूसरी अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है ॥४०॥

२. क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥
एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वदति ।

अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण 'त्वामस्मि वच्मि' आदि सूक्ति है । विद्वानों की सभा में जाते हुए किसी व्यक्ति से उसके पिता या गुरु आदि का यह कथन है । यहाँ श्रोता को लक्ष्य करके वक्तव्य बात कही जा रही है, अतएव 'त्वाम्' (तुझको) अस्मि (अहं, मैं) वच्मि (कहता हूँ), ऐसा कहना अनुपयुक्त है तथा ये पद अपने से भिन्न किन्तु अपने रूप विशेषभूत (स्वसम्बद्ध) अन्य अर्थ मे परिणत हो जाते हैं । 'त्वाम्' का लक्ष्य-अर्थ हो जाता है उपदेशयोग्य तुझको (उपदेश्यं त्वाम्), 'अस्मि' का 'यथार्थवक्ता मैं' (आप्तोऽम्), तथा 'वच्मि' का 'उपदेश करता हूँ' (उपदिशामि) । इस लक्ष्यार्थ के द्वारा हितकारिता व्यङ्ग्य है । इसी प्रकार 'विदुषाम्' तथा 'आत्मीयां' अन्यार्थ में परिणत होकर—'अन्यथाचरण करने पर उपहसनीयता होगी' इस अर्थ की प्रतीति कराते हैं ।

टिप्पणी—(i) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' आदि शब्द पारिभाषिक से हो गये हैं । इनका व्युत्पत्तिकृत अर्थ इस प्रकार है—

(अर्थान्तरसंक्रमितश्चासौ वाच्यश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः तस्य (तत्सम्बन्धित्वेन) ध्वनिः । (कर्मधारयगर्भ-षष्ठीतत्पुरुषः) अथवा अर्थान्तरसंक्रमितं वाच्यमस्ति यस्य सोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, स चासौ ध्वनिश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः (बहुव्रीहिगर्भकर्मधारयः)

दर्पणकार ने 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है—यत्र स्वयमुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपाऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम् ।

(साहित्यदर्पण ४·३)

अनुवाद—(२. अत्यन्ततिरस्कृत)—कहीं-कहीं (वाच्यार्थ) उपयुक्त न होने के कारण अत्यन्ततिरस्कृत (अन्यार्थलक्षक) हो जाता है जैसे—

'हे मित्र, आपने बहुत उपकार किया है, इस विषय में (तत्र) क्या कहा जाये; आपने तो केवल (परं-केवलम्) सज्जनता दिखलाई है (प्रथिता=प्रकटिता) । इसलिये (ततः) ऐसा ही करते हुए (विदधत्) सैकड़ों वर्षों (शरदां) तक सुखपूर्वक रहो' ॥२४॥

यह (बात) कोई विपरीत लक्षणा द्वारा अपकारी के प्रति कहता है ।

प्रभा—अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य वहाँ होता है, जहाँ व्यञ्जक रूप में आने वाला वाच्यार्थ (प्रकरण की दृष्टि से) अपने स्वरूप में अनुपयुक्त हो जाता है तथा अपने अर्थ का सर्वथा त्याग करके अन्यार्थ का लक्षक मात्र हो

तत्र—

[असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्यम्]

(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥२६॥

व्यञ्जक होते हैं—विभाव, अनुभाव आदि । विभावादी के द्वारा रसाभिव्यक्ति होती है (रसस्तैः) अतः वे हेतुरूप हैं । फिर यह स्पष्ट ही है कि विभावादि पूर्वकाल में होंगे तदनन्तर रस की अभिव्यक्ति होगी । अतएव वहाँ व्यञ्जक और व्यङ्ग्य का एक क्रम अवश्य होगा, पौर्वापर्य (पूर्व तथा अपर का भाव) होगा । किन्तु उस पौर्वापर्य का अनुभव नहीं होता । क्यों ? रसोद्रेक से सहृदय जनों का चित्त आप्लुत हो जाता है तथा अत्यन्त शीघ्रता से घटित होने वाले व्यञ्जक और व्यङ्ग्य में किसी क्रम का अनुभव नहीं कर पाता, ठीक इसी प्रकार, जैसे कि यदि किसी तीक्ष्ण सूचिका आदि से शत-शत कमल पत्रों को वेधा जाता है तो कौन पत्र पहले वेधा गया कौन बाद में इसका अनुभव नहीं होता । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत यही उपर्युक्त अर्थ निहित है—अलक्ष्यः अज्ञेयः व्यञ्जकेन=(वाच्येन अर्थात् विभावानुभावाद्यर्थेन सह) क्रमः पौर्वापर्यम् यस्य एवंभूतं व्यङ्ग्यं यस्मिन् तादृशः । यह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य अत्यन्त चमत्कारी होता है ग्रन्थकार ने 'कोऽपि' (कोई विलक्षण) शब्द द्वारा यह प्रकट किया है ।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का दूसरा भेद लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है । यहाँ पर व्यञ्जक और व्यङ्ग्य का क्रम स्पष्टतः लक्षित हुआ करता है ।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने यहाँ पर ध्वनिकार का ही अनुसरण किया है—

असंलक्ष्यक्रमोद्योत. क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ।। (ध्वन्यालोक २·२)

किन्तु ध्वनिकारकृत संज्ञा की स्पष्टतार्थकता यहाँ नहीं रही है। उनकी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्योत उद्योतन-व्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः—ध्वन्यालोकलोचन) संज्ञा में 'असंलक्ष्य' शब्द के प्रयोग से अधिक विषदता एवं अर्थ-स्फीतता है ।

दर्पणकार ने इस स्थल पर ध्वनिकार का कुछ अधिक अनुसरण किया है—

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः ।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा ।। (साहित्यदर्पण ४–४)

अनुवाद—[१. अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] उन (अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य) में (तत्र) रस (शृङ्गारादि) भाव (रति आदि), रसाभास तथा भावाभास भावशान्ति (व्यभिचारी आदि भावों की शान्ति)—इत्यादि अलक्ष्यक्रम (अक्रमः) होते हैं, जहाँ कि ये (रस इत्यादि) अलङ्कार्य अर्थात् प्रधान होने के कारण रसादिवद् आदि अलङ्कारों से भिन्न रूप में स्थित है ॥४२॥

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् ।

एष च ।

(४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

अलक्ष्येति न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते ।

(कारिका में) 'अन्यपरम्' अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ (अन्य) में निष्ठ ।

प्रभाः—'विवक्षितम्' इत्यादि सूत्र द्वारा आचार्य मम्मट ने विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि काव्य का स्वरूपनिर्देश किया है । इसमें वाच्यार्थ विवक्षित होता है, प्रकरण की दृष्टि से अन्वय योग्य होता है अथवा तात्पर्य का विषय तो रहता है; किन्तु वह अपने से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराने के हेतु अपने स्वरूप को गौण बना देता है; व्यङ्ग्यपरक हो जाता है । वहाँ व्यङ्ग्यार्थ ही पर्यन्तरमणीय होता है; वाच्यार्थ तो केवल उसकी प्रतीति का उपायमात्र होता है । अतएव वाच्यार्थ व्यङ्ग्यनिष्ठ अर्थात् व्यङ्ग्यरूप अर्थ में विश्रान्त हो जाया करता है; जैसा कि शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है—'विवक्षितम् अन्यपरं च वाच्यं यत्र' ।

जहाँ यह ध्वनि-भेद होता है वहाँ पर अभिधामूलक व्यङ्ग्य (अर्थ) की प्रधानता होती है । इसमें व्यङ्ग्य अर्थात् ध्वनि अभिधा के आधार पर होती है, या कहिये कि प्रथमतः अभिधावृत्ति द्वारा वाच्यार्थ-बोध होता है और तब अभिधामूलक व्यञ्जना द्वारा सुहृदयमात्रवेद्य एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति हुआ करती है । इसी से इस ध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि भी कहा जाता है ।

टिप्पणी—(i) वाच्यार्थ की 'विवक्षा' (तात्पर्य-विषयता) और अन्यपरता (व्यङ्ग्यनिष्ठता) में कोई विरोध नहीं, क्योंकि वह वाच्यार्थ व्यङ्ग्यपरक रूप से ही विवक्षित होता है अथवा वह अपने स्वरूप को छिपाता हुआ सा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में ही लगा रहता है—ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम् । अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात् को विरोधः (ध्वन्यालोकलोचन, उद्योत १) ।

अनुवाद—(अभिधामूलक ध्वनि काव्य के दो भेद) और यह (विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि) एक तो अनिर्वचनीय चमत्कारकारी (कोऽपि) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और दूसरी (पर) लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम होती है (४१)

असंलक्ष्यक्रम इसलिये कहा गया है (अलक्ष्येति) क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव ही रस नहीं है, किन्तु उनके द्वारा रस (अभिव्यक्त होता है); इस हेतु (इति) क्रम तो है; पर वह शीघ्रता के कारण परिलक्षित नहीं होता ।

प्रभाः—आचार्य मम्मट विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेद बतलाते हैं कि यह दो प्रकार की होती है—१. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा २. लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । प्रथम प्रकार में व्यञ्जक (वाच्यार्थ) और व्यङ्ग्यार्थ का क्रम परिलक्षित नहीं होता । जैसा कि ग्रन्थकार ने अभी स्पष्ट किया है, यहाँ रसादि ही व्यङ्ग्य होते हैं और उनके

तत्र—

[असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्यम्]

(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥२६॥

व्यञ्जक होते हैं—विभाव, अनुभाव आदि । विभावादी के द्वारा रसाभिव्यक्ति होती है (रसस्तैः) अतः वे हेतुरूप है । फिर यह स्पष्ट ही है कि विभावादि पूर्वकाल में होगे तदनन्तर रस की अभिव्यक्ति होगी । अतएव वहाँ व्यञ्जक और व्यङ्ग्य का एक क्रम अवश्य होगा, पौर्वापर्य (पूर्व तथा अपर का भाव) होगा । किन्तु उस पौर्वापर्य का अनुभव नहीं होता । क्यों ? रसोद्रेक से सहृदय जनों का चित्त आप्लुत हो जाता है तथा अत्यन्त शिघ्रता से घटित होने वाले व्यञ्जक और व्यङ्ग्य में किसी क्रम का अनुभव नहीं कर पाता, ठीक इसी प्रकार, जैसे कि यदि किसी तिक्ष्ण सूचिका आदि से शत-शत कमल पत्रों को वेधा जाता है तो कौन पत्र पहले वेधा गया कौन बाद में इसका अनुभव नही होता । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत ही उपर्युक्त अर्थ निहित है—अलक्ष्यः अज्ञेयः व्यञ्जकेन=(वाच्येन अर्थात् विभावानुभावाद्यर्थेन सह) क्रमः पौर्वापर्यम् यस्य एवंभूतं व्यङ्ग्यं यस्मिन् तादृशः । यह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य अत्यन्त चमत्कारी होता है ग्रन्थकार ने 'कोऽपि' (कोई विलक्षण) शब्द द्वारा यह प्रकट किया है ।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का दूसरा भेद लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है । यहाँ पर व्यञ्जक और व्यङ्ग्य का क्रम स्पष्टतः लक्षित हुआ करता है ।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने यहाँ पर ध्वनिकार का ही अनुसरण किया है—

असंलक्ष्यक्रमोद्योत· क्रमेण द्योतितः पर. ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ (ध्वन्यालोक २·२)

किन्तु ध्वनिकारकृत संज्ञा की स्पष्टतार्थकता यहां नहीं रही है। उनकी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्योत उद्योतन-व्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः—ध्वन्यालोकलोचन) संज्ञा मे 'असंलक्ष्य' शब्द के प्रयोग से अधिक विपदता एवं अर्थ-स्फीतता है ।

दर्पणकार ने इस स्थल पर ध्वनिकार का कुछ अधिक अनुसरण किया है—

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः ।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा ॥ (साहित्यदर्पण ४–४)

अनुवाद—[१. अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] उन (अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य) में (तत्र) रस (शृङ्गारादि) भाव (रति आदि), रसाभास तथा भावाभास भावशान्ति (व्यभिचारी आदि भावों की शान्ति)—इत्यादि अलक्ष्यक्रम (अक्रम.) होते हैं, जहाँ कि ये (रस इत्यादि) अलङ्कार्य अर्थात् प्रधान होने के कारण रसवित् आदि अलङ्कारों से भिन्न रूप में स्थित है ॥४२॥

आदिग्रहणाद् भावोदय—भावसन्धि—भावशबलत्वानि।
प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः, यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते।

(कारिका में) आदि (भावशान्त्यादि) शब्द के ग्रहण से भावसन्धि और भावशबलत्व (का ग्रहण होता है)।

जहाँ पर रस आदि प्रधान रूप से स्थित रहता है वहाँ (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में) वह अलङ्कार्य होता है, जैसा कि आगे उदाहरण दिया जायेगा। अन्य स्थलों पर तो जहाँ वाक्य का उद्देश्यभूत (वाक्यार्थ=वाक्योद्देश्ये) कोई अन्य अर्थ (रस, वस्तु आदि) प्रधान (अङ्गी) होता है तथा ये रस आदि अङ्गरूप (उत्कर्षक) होते हैं, उस गुणीभूतव्यङ्ग्य में—रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित आदि अलङ्कार होते हैं। उनका गुणीभूतव्यङ्ग्य के निरूपण में (पञ्चम उल्लास में) उदाहरण दिया जायेगा।

प्रभा—'रस' इत्यादि कारिका द्वारा आचार्य मम्मट ने विवक्षितान्यपर वाच्य (अभिधामूलक ध्वनि) के प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अवान्तर भेदों को दिखलाया है तथा रस और रसवद् अलङ्कार आदि के अन्तर को भी स्पष्ट किया है। अभिप्राय यह है—कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यङ्ग्य हुआ करते हैं वे हैं—१. रस, २. भाव, ३. रसाभास; ४. भावाभास, ५. भावशान्ति, तथा आदि शब्द से गृहीत, ६. भावोदय, ७. भावसन्धि और ८. भावशबलता। ये रसादि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में प्रधान रूप में स्थित होते हैं, ध्वनि की आत्मा होते हैं और अन्य समस्त गुण तथा अलङ्कार आदि इनकी ही चारुता के प्रयोजक होते हैं; अतएव ये रस आदि वहाँ पर अलङ्कार्य होते हैं। जैसा कि 'शून्यं वासगृहं' इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट होगा। सारांश यह है कि जहाँ रसादि प्रधान रूप से व्यङ्ग्य हैं, वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है किन्तु जहाँ पर ये अप्रधान रूप से रहा करते हैं, कोई अन्य अर्थ वाक्य का उद्देश्यभूत होता है—अङ्गी या प्रधान होता है; तथा ये (रस आदि) उसके अङ्ग होकर आते हैं अर्थात् उसके उत्कर्ष की वृद्धि के लिये प्रयुक्त होते हैं। वहाँ ये 'अलङ्कार्य' नहीं होते, अपितु अलङ्कार (उत्कर्षाधायक) रूप में आते हैं। ऐसा गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) में होता है। यहीं 'रसवद्' आदि अलङ्कारों का विषय है। जैसे 'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादि (११६ उदाहरण) में रसवत् अलङ्कार है; यहाँ प्रधान रस करुण है तथा शृङ्गार उसका अङ्ग होकर आता है—पोषक है अतः यहाँ शृङ्गार की दृष्टि से गुणीभूत-

तत्र रसस्वरूपमाह—

(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥२८॥

उक्तं हि भरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति'

व्यङ्ग्य काव्य है। इसी प्रकार 'भाव' आदि की अप्रधानता के विषय में भी समझना चाहिये। संक्षेप में—रस के अङ्ग होने पर रसवत्, भाव के अङ्ग होने पर प्रेय, रसाभास और भावाभास के अङ्ग होने पर ऊर्जस्वी; भावशान्ति के अङ्ग होने पर समाहित आदि अलङ्कार होते हैं। इनका उदाहरण सहित विशद विवेचन पञ्चमोल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकरण में किया जायेगा।

अनुवाद—उन (रसभावादि) में रस का स्वरूप-निरूपण करते हैं—

लोक में स्थायी रति (ललनादि विषयक प्रीति) आदि चित्तवृत्तिविशेष के जो कारण (ललनादि जनक कारण तथा चन्द्रोदय आदि परिपोषक कारण) तथा कार्य (रत्यादिजन्य कायिक वाचिक तथा मानसिक भेद से अनेक प्रकार के कटाक्ष, भ्रुजोत्क्षेप आदि) और सहकारी (रत्यादि के सहायक निर्वेद इत्यादि) भाव है; उनका यदि नाट्य तथा काव्य में वर्णन किया जाता है तो ये (रसज्ञों के द्वारा) क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। उन विभावादि के द्वारा (तैः) अथवा उनके सहित (सहृदयजनों के हृदय में) व्यञ्जना द्वारा व्यक्त किया हुआ (व्यक्त=आस्वाद्यतां प्राप्त) वह स्थायी भाव (रस सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा) रस कहा गया है।

भरतमुनि ने कहा भी है—विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

प्रभा—'कारणान्यथ' इत्यादि कारिकाओं मे आचार्य मम्मट ने रस का स्वरूप-विवेचन किया है तथा रस के कारणभूत जो विभावादि हैं उनका, लोक से विलक्षण स्वरूप भी बतलाया है। सामान्यतः रस का स्वरूप यह है—कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के संयोग से परिपुष्ट होकर रति आदि स्थायी भाव आस्वादन योग्य हो जाते हैं तथा रस कहलाते हैं। यह कहा जा सकता है कि मानव हृदय में स्नेह (रति) इत्यादि कुछ भाव (चित्तवृत्तिविशेष) अविच्छिन्नरूप से रहते हैं, वे सदा ही व्यक्त दशा में नहीं रहते किन्तु वासना रूप (संस्कार दशा) में सूक्ष्मरूपेण विराजमान रहते हैं। उन्हें ही साहित्य-मर्मज्ञों ने स्थायी भाव कहा है और उनका विविध प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है। इन स्नेह आदि भाव के उद्बोध का जो लोक में कारण होता है अर्थात् एक स्नेह (रति) आदि का उत्पादक

कारण रमणी आदि और दूसरा उसका परिपोषक कारण चन्द्रोदय आदि-वही लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि-कृति में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव कहा जाता है। (लोक में) प्रेम आदि का हृदय में आविर्भाव होने पर जो (स्थायी भाव के आश्रय में) भुजा फड़कना आदि चेष्टाएं होती हैं वे ही काव्य-भूमि में अनुभाव हैं तथा स्नेह (रति) आदि भाव के आविर्भाव में जो सहकारी कारण निर्वेद आदि होते हैं वे ही काव्य में व्यभिचारी या सञ्चारी भाव कहलाते हैं।

संक्षेप में रसास्वादन प्रकार यह है—सहृदय-जनों के हृदय में रति आदि भाव वासना रूप से सदा विद्यमान रहता है। आलम्बन विभाव के द्वारा वह स्थायी भाव आविर्भूत हो जाता है और उद्दीपन विभाव द्वारा प्रदीप्त हो जाता है। अनुभाव उसको प्रतीतियोग्य बना देते हैं। एवं व्यभिचारी भाव उनको परिपुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार इन सबके संयोग से स्थायी भाव व्यञ्जनावृत्ति द्वारा व्यक्त हो जाता है अर्थात् रसन-योग्य (आस्वादन योग्य) हो जाता है। रसवादियों ने उसी को रस कहा है।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिये भरतमुनि के विभावादि सूत्र को उद्धृत किया है। मम्मट के मत में इस सूत्र का उपर्युक्त ही तात्पर्य है।

टिप्पणी—(i) भारतीय साहित्य में रस सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है किन्तु आजकल प्रचलित रस-सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। भरतमुनि के 'विभाव०' इत्यादि सूत्र में रस-निष्पत्ति का स्वरूप-निरूपण किया गया है। इस सूत्र की अनेक आचार्यों द्वारा विभिन्न व्याख्यायें की गई हैं। काव्यप्रकाश में इसकी चार प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया गया है।

(ii) जैसा कि काव्यप्रकाशवृत्ति की अग्रिम व्याख्या से स्पष्ट होगा आचार्य मम्मट का रस-स्वरूप-विवेचन अभिनव गुप्त के आधार पर है। साहित्यदर्पणकार का कथन भी इन्हीं का अनुकरण करता है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्। (साहित्यदर्पण ३·१)

(iii) यद्यपि लोक की दृष्टि से ललनादि रति आदि भाव की उत्पत्ति के कारण हैं, प्रस्वेद तथा भुजोत्क्षेप आदि कार्य हैं और निर्वेद आदि सहकारी हैं तथापि रस-निष्पत्ति की दृष्टि से अर्थात् सामाजिक के हृदय में रसास्वादन के विचार से तो ये विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के लोकोत्तर रूप को धारण करके रसद्बोध के कारण ही होते हैं जैसा कि दर्पणकार ने कहा भी है—

कारण-कार्यसञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः॥ सा० द० ३·१४)

स्थायी तथा सञ्चारी भावों का विशद विवेचन आगे (पृष्ठ ४५, ४६)

विभाव—रति आदि स्थायी भावों को रस रूप में आस्वादनीय विभाव कहलाते हैं। वे दो प्रकार के हैं-आलम्बन और

एतद्विवृण्वते - विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

उद्दीपन। उदाहरणार्थ लोक मे दुष्यन्त के मन में शकुन्तला को देखकर रति भाव का प्रादुर्भाव होता है और उद्यान, चन्द्रिका आदि से उस रति भाव का उद्दीपन होता है अतः ये रति भाव के कारण हैं। इसी अधार पर काव्य-नाट्य में वर्णित शकुन्तला आदि शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव कहलाते हैं तथा उद्यान चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव। इनका यह (विभाव) नाम विभावन व्यापार के कारण होता है। ये सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायी भावों को विभावित करते हैं अर्थात् उनमें आस्वाद की योग्यता उत्पन्न करते हैं—यही विभावन व्यापार है। इसी प्रकार अन्य रसो के भी आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव समझने चाहियें। अनुभाव—अनु पश्चाद् भवन्ति इत्यनुभावाः। लोक में दुष्यन्त आदि के मन में रति आदि के भाव का उद्बोध होने के पश्चात् भुजोत्क्षेप (भुज फड़कना) आदि व्यापार होता है यह रति आदि भाव को सूचित करता है, रति आदि का कार्य रूप (फल) है। काव्य-नाट्य में वर्णित यही भुजाक्षेप आदि अनुभावन व्यापार के कारण अनुभाव कहलाता है। अनुभावन व्यापार का अभिप्राय है—सामाजिक की चित्तवृति को तन्मय करना, भाव में लीन करना। काव्य-नाट्य मे भुजोत्क्षेप आदि के वर्णन का परामर्श करके सामाजिक की चित्तवृत्ति रति आदि भाव में तन्मय हो जाती है अतः ये अनुभाव कहलाते हैं। ये सात्विक, कायिक और वाचिक भेद से कई प्रकार के होते हैं। सात्त्विक भाव आठ हैं—

स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यम् अश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः मताः॥

कटाक्ष, भुजोक्षेप आदि कायिक अनुभाव हैं तथा मधुर वचन आदि वाचिक। भिन्न २ रसों के अनुभावो का नाट्य-शास्त्र के सप्तम अध्याय में वर्णन किया गया है।

अनुवाद—[१. भट्टलोल्लट-रसोत्पत्ति] भट्टलोल्लट इत्यादि आचार्य इस (भरतमुनि के सूत्र) की (इस प्रकार) व्याख्या करते हैं (विवृण्वते)—विभाव अर्थात् ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों द्वारा जो 'रति' आदि भाव उत्पन्न हो जाता है; अनुभाव अर्थात् कटाक्ष, भुजफड़कना आदि कार्यों से प्रतीति के योग्य किया जाता है; व्यभिचारी भाव अर्थात् निर्वेद आदि सहकारियों द्वारा पुष्ट (उपचित) किया जाता है और साक्षात् रूप से (मुख्यया वृत्त्या) अनुकार्य (जिसका अनुकरण या अभिनय किया जाता है उस) राम आदि में रहता है, किन्तु नर्तक (नट) में भी रामादिरूपता का अनुभव होने के कारण वह (स्थायी) उसमें भी प्रतीत होता है, वही रस है।

कारण रमणी आदि और दूसरा उसका परिपोषक कारण चन्द्रोदय आदि-वही लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि-कृति में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव कहा जाता है। (लोक में) प्रेम आदि का हृदय में आविर्भाव होने पर जो (स्थायी भाव के आश्रय में) भुजा फड़कना आदि चेष्टाएँ होती हैं वे ही काव्य-भूमि में अनुभाव हैं तथा स्नेह (रति) आदि भाव के आविर्भाव में जो सहकारी कारण निर्वेद आदि होते हैं वे ही काव्य में व्यभिचारी या सञ्चारी भाव कहलाते हैं।

संक्षेप में रसास्वादन प्रकार यह है—सहृदय-जनों के हृदय में रति आदि भाव वासना रूप से सदा विद्यमान रहता है। आलम्बन विभाव के द्वारा वह स्थायी भाव आविर्भूत हो जाता है और उद्दीपन विभाव द्वारा प्रदीप्त हो जाता है। अनुभाव उसको प्रतीतियोग्य बना देते हैं। एवं व्यभिचारी भाव उनको परिपुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार इन सबके संयोग से स्थायी भाव व्यञ्जनावृत्ति द्वारा व्यक्त हो जाता है अर्थात् रसन-योग्य (आस्वादन योग्य) हो जाता है। रसवादियों ने उसी को रस कहा है।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिये भरतमुनि के विभावादि सूत्र को उद्धृत किया है। मम्मट के मत में इस सूत्र का उपर्युक्त ही तात्पर्य है।

टिप्पणी—(i) भारतीय साहित्य में रस सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है किन्तु आजकल प्रचलित रस-सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। भरतमुनि के 'विभाव०' इत्यादि सूत्र में रस-निष्पत्ति का स्वरूप-निरूपण किया गया है। इस सूत्र की अनेक आचार्यों द्वारा विभिन्न व्याख्यायें की गई हैं। काव्यप्रकाश में इसकी चार प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया गया है।

(ii) *जैसा कि काव्यप्रकाशवृत्ति की अग्रिम व्याख्या से स्पष्ट होगा* आचार्य मम्मट का रस-स्वरूप-विवेचन अभिनव गुप्त के आधार पर है। साहित्यदर्पणकार का कथन भी इन्हीं का अनुकरण करता है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥ (साहित्यदर्पण ३.१)

(iii) यद्यपि लोक की दृष्टि से ललनादि रति आदि भाव की उत्पत्ति के कारण हैं, प्रस्वेद तथा भुजोत्क्षेप आदि कार्य हैं और निर्वेद आदि सहकारी हैं तथापि रस-निष्पत्ति की दृष्टि से अर्थात् सामाजिक के हृदय में रसास्वादन के विचार से तो ये विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के लोकोत्तर रूप को धारण करके रसद्बोध के कारण ही होते हैं जैसा कि दर्पणकार ने कहा भी है—

कारण-कार्यसञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः॥ सा० द० ३.१४)

(iv) स्थायी तथा सञ्चारी भावों का विशद विवेचन आगे (सूत्र ४५, ४६) में किया जायेगा। विभाव—रति आदि स्थायी भावों को रस रूप में आस्वादनीय बनाने वाले मुख्य कारण विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के हैं-आलम्बन और

एतद्विवृण्वते - विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

उद्दीपन। उदाहरणार्थ लोक मे दुष्यन्त के मन में शकुन्तला को देखकर रति भाव का प्रादुर्भाव होता है और उद्यान, चन्द्रिका आदि से उस रति भाव का उद्दीपन होता है अतः ये रति भाव के कारण हैं। इसी आधार पर काव्य-नाट्य में वर्णित शकुन्तला आदि शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव कहलाते हैं तथा उद्यान चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव। इनका यह (विभाव) नाम विभावन व्यापार के कारण होता है। ये सामाजिक के हृदय मे वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायी भावों को विभावित करते हैं अर्थात् उनमे आस्वाद की योग्यता उत्पन्न करते हैं—यही विभावन व्यापार है। इसी प्रकार अन्य रसों के भी आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव समझने चाहियें। अनुभाव—अनु पश्चाद् भवन्ति इत्यनुभावाः। लोक मे दुष्यन्त आदि के मन में रति आदि के भाव का उद्बोध होने के पश्चात् भुजोत्क्षेप (भुज फड़कना) आदि व्यापार होता है यह रति आदि भाव को सूचित करता है, रति आदि का कार्य रूप (फल) है। काव्य-नाट्य में वर्णित यही भुजाक्षेप आदि अनुभावन व्यापार के कारण अनुभाव कहलाता है। अनुभावन व्यापार का अभिप्राय है—सामाजिक की चित्तवृत्ति को तन्मय करना, भाव में लीन करना। काव्य-नाट्य मे भुजोत्क्षेप आदि के वर्णन का परामर्श करके सामाजिक की चित्तवृत्ति रति आदि भाव मे तन्मय हो जाती है अतः ये अनुभाव कहलाते हैं। ये सात्त्विक, कायिक और वाचिक भेद से कई प्रकार के होते हैं। सात्त्विक भाव आठ है—

स्वेद. स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यम् अश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः मताः॥

कटाक्ष, भुजोक्षेप आदि कायिक अनुभाव हैं तथा मधुर वचन आदि वाचिक। भिन्न २ रसों के अनुभावों का नाट्य-शास्त्र के सप्तम अध्याय मे वर्णन किया गया है।

अनुवाद—[१. भट्टलोल्लट-रसोत्पत्ति] भट्टलोल्लट इत्यादि आचार्य इस (भरतमुनि के सूत्र) की (इस प्रकार) व्याख्या करते हैं। विवृण्वते)—विभाव अर्थात् ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों द्वारा जो 'रति' आदि भाव उत्पन्न हो जाता है; अनुभाव अर्थात् कटाक्ष, भुजफड़कना आदि कार्यों से प्रतीति के योग्य किया जाता है; व्यभिचारी भाव अर्थात् निर्वेद आदि सहकारियों द्वारा पुष्ट (उपचित) किया जाता है और साक्षात् रूप से (मुख्यया वृत्त्या) अनुकार्य (जिसका अनुकरण या अभिनय किया जाता है उस) राम आदि में रहता है, किन्तु नर्तक (नट) में भी रामादिरूपता का अनुभव होने के कारण वह (स्थायी) उसमें भी होता है, यही रस है।

प्रभा—भरतमुनि के "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः" इस सूत्र के व्याख्याकारों में भट्ट लोल्लट प्रथम हैं। उनकी व्याख्या में रस का अर्थ है—नायक-नायिका को अनुभूत होने वाला रत्यादि स्थायीभाव और निष्पत्ति का अर्थ है—उत्पत्ति। इसी हेतु यह मत 'रसोत्पत्तिवाद' कहा जाता है। यह मत मीमांसा-सिद्धान्त पर आधारित है। उनके मतानुसार ललना और उद्यानादि लौकिक सामग्री ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव हैं वे रामादिगत रत्यादि भाव के जनक एवं उद्बोधक हैं। रामादिगत भुजाक्षेप आदि ही अनुभाव हैं, जिनके द्वारा रत्यादि स्थायी भाव प्रतीति योग्य हो जाता है और निर्वेद आदि सहकारी रूप जो सञ्चारी भाव है; उनकी सहायता से पुष्ट हो जाता है। वह रसरूप स्थायी भाव मुख्यतया रामादि के हृदय में होता है; किन्तु जब राम के समान वेशभूषादि से सुसज्जित होकर कोई अभिनेता राम का अभिनय करता है तब सामाजिक जन उसमें ही रामत्व का आरोप कर लेते हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार रज्जु को सर्प समझने से भय उत्पन्न होता है इसी प्रकार रामादिगत रति नाट्यादि नैपुण्य के द्वारा नटादि में भासित होने लगती है तथा सहृदय सामाजिक के हृदय में एक विशेष चमत्कार का अनुभव कराती है और वही रस पदवी को धारण करती है।

टिप्पणी—(i) संक्षेप में भट्टलोल्लट के अनुसार यह सूत्रार्थ होता है—स्थायिनां विभावैः (कारणैः) संयोगात् (उत्पाद्योत्पादकभावरूपात्), अनुभावैः (कार्यैः) संयोगात् (गम्य-गमकभावरूपात्), व्यभिचारिभिः (सहकारिभिः) संयोगात् (पोष्यपोषकभावरूपात्) रसस्य निष्पत्तिः (क्रमेण-उत्पत्तिः, अभिव्यक्तिः पुष्टिश्च) भवति।

(ii) भट्टलोल्लट के मतानुसार स्थायी भाव और रस का अन्तर यही है कि विभाव, अनुभाव आदि द्वारा परिपुष्ट हुआ स्थायी भाव ही रस सञ्ज्ञक होता है; किन्तु वे दोनों साक्षात्रूप से अनुकार्य राम आदि में रहते हैं और अनुकर्ता नट आदि में उनका अनुभव हुआ करता है।

(iii) तद्रूपतानुसन्धानात्—नट के नाट्यनैपुण्य आदि द्वारा सामाजिकों को नट में रामत्व का आभास होने लगता है और वे नाटक आदि दर्शन से चमत्कृत हो जाया करते हैं। व्याख्याकारों ने अनुसन्धान शब्द के विविध अर्थ किये हैं:—
(१) नर्तके तत्काले रामत्वाभिमानाद् इति विवरणकारः, (२) रामत्वारोपाद् इति सारबोधिनीकारोद्योतकारादयः, (३) एकीभावरूपमनुसन्धानम् इति अभिनवगुप्तः।

(iv) भट्टलोल्लट आदि आचार्यों की व्याख्या में नायक-नायिका को अनुभूत होने वाले स्थायी भाव से भिन्न (काव्य-नाट्यादि द्वारा अभिव्यक्त) रस का विवेचन न हो सका। यहां लौकिक 'रति' आदि स्थायीभाव ही रस कहलाए। इसके अनुसार अनुकार्य 'राम' आदि में ही रस-निष्पत्ति होती है, सामाजिक में नहीं; अतः सामाजिक के हृदय में चमत्कार का अनुभव कैसे संभव हो सकता है? किञ्च इस प्रकार सामाजिक को होने वाली रस-प्रतीति भ्रान्तिमात्र होगी और काव्य आदि भ्रमोत्पादक होंगे अतः उपादेय न होंगे। वस्तुतः काव्य आदि से रसानुभूति होती है, यह सभी सहृदयों के अनुभव से सिद्ध होता है।

राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥२५॥
दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥२६॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगाद्' गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

अनुवाद—२. श्री शङ्कुक का मत है—'यह राम ही है' या 'यही राम है' इस प्रकार की (इति) सम्यक् प्रतीति; यह राम नहीं' इस ज्ञान से बाद में (औत्तरकालिके) बाध हो जाने पर 'यह राम है' इस प्रकार की मिथ्याप्रतीति, 'यह राम है या नहीं' ऐसी संशयप्रतीति तथा 'यह राम जैसा है' इस प्रकार की सादृश्य-प्रतीति (इन चार प्रकार के ज्ञानों) से विलक्षण प्रतीति द्वारा चित्रतुरगन्याय से नट में 'यह राम है' ऐसी प्रतीति हो जाती है (ग्राह्ये नटे-प्रतीतियोग्य नट में—'अनुमीयमानोऽपि' इससे अन्वय है)। और—

'सेयम्' इत्यादि (सम्भोगशृङ्गार) अथवा 'दैवाद्' इत्यादि (विप्रलम्भशृङ्गार) (अथवा अन्य रस सम्बन्धी) काव्य के अर्थ का साक्षात् अनुभव करने के कारण (अनुसन्धानबलात्) और स्वयं नट के ही द्वारा शिक्षा एवं उसके अभ्यास से सम्पादित (निर्वर्तित) अपने नाट्य कार्य से प्रकाशित कारण, कार्य तथा सहकारी के द्वारा—जो कि कृत्रिम होते हुए भी वैसे नहीं समझे जाते (तथानभिमन्यमानैः=कृत्रिमत्वेन अगृहीतैः) और विभावादि नाम से कहे जाते हैं (व्यपदेश्यैः)—व्याप्तिरूप (गम्यगमकभाव) सम्बन्ध से (नट में सामाजिकों द्वारा) 'रति' आदि भाव अनुमीयमान होता है। और, वह (स्थायी रति भाव आदि अनुमित होते हुए भी अनुमीयमानोऽपि) अपने सौन्दर्य के कारण (वस्तुतः रत्यादेः सौन्दर्यबलात्) आस्वाद-योग्य होने से (रसनीयत्वेन) अन्य अनुमीयमान वस्तु (धूम द्वारा अग्नि आदि) की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का होता है। वह (रति आदि भाव) नट में (तत्र) न होता हुआ भी (असन्नपि) उसमें स्थित प्रतीत होता है। (स्थायित्वेन संभाव्यमानः) तथा सामाजिकों की वासना द्वारा आस्वाद्यमान होकर (वही स्थायी) रस कहलाता है।

श्लोकानुवाद:—सेयमिति—यही यह (मेरी) प्राणेश्वरी मन से (अब) नेत्रों का विषय हो गई है (अर्थात् पहले मन में ही थी अब बाहर भी दिखाई दी है); जो मेरे अङ्गों में (के लिये) अमृत रस की वर्षा है, नेत्रों के लिये भरी पूरी कर्पूर (अञ्जन) की शलाका है, मेरे मनोरथों की मूर्तिमती सम्पत्ति है'।२५॥

दैवादिति—'दैवयोग से मैं आज उस चञ्चल और विशाल नेत्रों वाली (चपले आयते च नेत्रे यस्या, तादृशी तया) सुन्दरी से विलग हो गया हूं और सर्वत्र घूमने वाले घने मेघों से युक्त (अविरला निविडा विलोला सर्वत्र सञ्चारिणो जलदा यत्र) यह समय (वर्षाकाल) आ गया है ॥२६॥

प्रभा:—रस-सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार आचार्य शङ्कुक के मतानुसार विभाव आदि के द्वारा अनुमाप्य-अनुमापक रूप सम्बन्ध से (संयोगात्) स्थायी रूप रस की नट में अनुमिति (निष्पत्ति) होती है। इसी हेतु यह मत 'रसानुमितिवाद' कहलाता है। यह मत न्याय-सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक की रसानुभूति में चार सोपान कहे जा सकते हैं—

(१) नट में राम की प्रतीति—जिस प्रकार चित्राङ्कित अश्व में बालकों को 'यह घोड़ा है' ऐसी प्रतीति होती है उसी प्रकार सामाजिकों को नट में 'रामोऽयम्' यह प्रतीति हो जाती है। अतः नट में राम की प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है, जो कि दर्शनशास्त्र में मानी गई चार प्रकार की अर्थात् सम्यक्, मिथ्या, संशय और साइश्य प्रतीति से विलक्षण है। प्रकृत में सम्यक् प्रतीति का रूप होता—'राम एवायम्' अथवा 'अयमेव रामः'। मिथ्या प्रतीति तब होती जबकि प्रथम 'रामोऽयं' यह ज्ञान हो जाता और तदनन्तर 'न रामोऽयम्' इस ज्ञान से पूर्व ज्ञान का बाध होता। संशय ज्ञान यह होता—'रामो वा तद्भिन्नो वा'। तथा साइश्यज्ञान होता—'रामसदृशोऽयम्'। नट में होने वाली 'रामोऽयं' यह प्रतीति इस चारों प्रकार के ज्ञान से ही भिन्न है।

(२) कारण कार्य सहकारी में विभावादि व्यपदेश—नट शृङ्गारादि रस के काव्य का पाठ करता है और सहृदय सामाजिक उस काव्य के अर्थ की साक्षात् सी अनुभूति कर लेते हैं (अनुसन्धानं=कविविवक्षितार्थस्य साक्षादिव करणम्) तथा नट अपनी शिक्षा एवं अभ्यास-कौशल से अभिनय द्वारा नायकगत रति आदि भाव के कारण (नायिका आदि) कार्य (भुजाक्षेप आदि) सहकारी (निर्वेद आदि) को प्रकट करता है। वस्तुतः सभी कृत्रिम होते हैं, किन्तु सामाजिक उनको कृत्रिम नहीं समझते और काव्य तथा नाटक में उनको विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के नाम से व्यवहृत करते हैं।

(३) विभावादि द्वारा नट में स्थायी रति आदि का अनुमान—संयोग का अर्थ है—गम्यगमकभाव सम्बन्ध। गम्य अर्थात् साध्य और गमक अर्थात् साधक या हेतु। विभाव आदि के होने पर रति आदि भाव अवश्य होता है-इस प्रकार के व्याप्ति

रूप सम्बन्ध से विभावादि के द्वारा नट में रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है। यहाँ व्यतिरेकी हेतु है—यथा—'रामोऽयं सीताविषयकरतिमान्, सीतात्मकविभावादिसम्बन्धित्वात् सीताविषयककटाक्षादिमत्त्वाद् वा यन्नैवं तन्नैवं यथाऽयम्।

(४) सामाजिकों द्वारा रसचर्वणा—अविद्यमान रति आदि भाव का ही नट में अनुमान किया जाता है। यह अनुमीयमान रति आदि भाव सौन्दर्ययुक्त वस्तु होने से आस्वादनीय है, कलात्मक होने से अन्य अनुमित वस्तुओं की अपेक्षा विलक्षण होता हैं; इसी हेतु सामाजिकगण अपनी धारावाहिनी इच्छा (वासना)' के द्वारा इसका आस्वादन करते हैं। नटादि में अनुमित सामाजिक द्वारा आस्वाद्यमान रति आदि भाव ही रस है—यह अभिप्राय है।

इस मत का सारांश यह है—जैसे कुहरे से आच्छन्न प्रदेश में धूम की भ्रान्ति होने से धूम के साथ नियम से रहने वाली (व्यापक) अग्नि का अनुमान हो जाता है; इसी प्रकार नट द्वारा स्वकौशल से 'ये विभावादि मेरे हैं'; इस प्रकार प्रकटित, वस्तुतः अविद्यमान विभाव आदि से तन्नियत (व्यापक) रति आदि का अनुमान कर लिया जाता हैं। उसी नट में अनुमीयमान रति का अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों-द्वारा आस्वादन किया जाता है और वह रस रूप कही जाती है। अतएव शङ्कुक के मतानुसार रसानुमिति ही रसनिष्पत्ति है।

टिप्पणी—(i) श्री शङ्कुक के मत में सूत्र का सारांश यह है—'स्थायिनो विभावादिभिः संयोगात्-अनुमाप्यानुमापकभावरूपात् सम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिरनुमितिः'।

(ii) रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री शङ्कुक ने 'रसोत्पत्तिवाद' का खण्डन करके रसानुमितिवाद की स्थापना की थी। अभिनवगुप्ताचार्य ने अभिनव भारती में उनके मत का विशद विवेचन किया है।

(iii) राम एवायम्, अयमेव रामः—यह निश्चयात्मक ज्ञान अर्थात् सम्यक् प्रतीति का उदाहरण है। विवेचकों ने 'एव' शब्द के तीन अर्थ बतलाये हैं–(१) अयोगव्यवच्छेद (२) अन्ययोगव्यवच्छेद (३) अत्यन्तायोगव्यवच्छेद; जैसा कि कहा भी है—

अयोगमन्ययोगं च अत्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥

यहाँ पर 'अयं' विशेष्य अथवा उद्देश्य है तथा राम विशेषण या विधेय। 'राम एवायम्' में एव का अन्वय राम (विशेषण) से है तथा 'एव' का अर्थ है—अयोगव्यवच्छेद अर्थात् असम्बन्ध का निवारण। इस प्रकार वाक्य का अर्थ होगा—'यह राम से भिन्न नहीं है'। अयं' में रामत्व का असम्बन्ध नहीं है अपितु सम्बन्ध ही है—यह तात्पर्य होता है। 'अयमेव रामः' में एव का अन्वय 'अयम्' (विशेष्य) से है तथा एव का अर्थ है—अन्ययोग-व्यवच्छेद; अर्थात् 'अयम्' से भिन्न में रामत्व के सम्बन्ध का निवारण। तब वाक्य का अर्थ होगा—'यही राम है अन्य कोई नहीं' 'अयम्' से अन्य में रामत्व का सम्बन्ध नहीं है—यह तात्पर्य होता है।

रति आदि का साधारणीकरण हो जाता है और सहृदय जन भोजकत्व व्यापार के द्वारा उसका आस्वादन कर लेते हैं।

टिप्पणी—(i) भट्टनायक के मतानुसार रस-सूत्र का अर्थ है—"*विभावादिभिः संयोगात् भोज्यभोजकभावसम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिः।*" भट्टनायक के मत का विशद विवेचन आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन नाम्नी व्याख्या में किया है। आचार्य मम्मट ने यहाँ पर उसका सारांशमात्र ही दिया है।

(ii) भट्टनायक का मत है कि अन्य शब्दों में अर्थाभिधायकता नामक एक ही व्यापार होता है जो दो प्रकार का है—साक्षात् अर्थ को कहने वाला (अभिधा) और व्यवहित अर्थ को कहने वाला (लक्षणा)। किन्तु काव्य-नाट्य में *अर्थाभिधायकत्व*, भावकत्व तथा भोजकत्व नामक तीन व्यापार होते हैं। अधिकांश टीकाकारों ने 'भोगेन भुज्यते' का अर्थ—भोजकत्व नामक व्यापार से भोगा जाता है—यह किया है—*भोगेन भोजकत्वनामक-व्यापारेणेति उद्योतादयः।* आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या से भी ऐसा ही प्रतीत होता है—तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। *नात्राभिधायकत्वं वाच्यविषयं, भावकत्वं रसादिविषयं, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति* त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। (ध्वन्यालोक-लोचन)

सारबोधिनी आदि टीकाओं ने भोग का अर्थ 'साक्षात्कार' किया है। इस मत के अनुसार 'भोग' का अर्थ आस्वादन मात्र है। कोई भोजक नाम का विशेष व्यापार नहीं।

(iii) सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्व—भट्टनायक के अनुसार रस-भोग का स्वरूप यही है। 'संविद्विश्रान्ति' रस-भुक्ति का एक रूप है अर्थात् 'प्रकाश' की अनन्योन्मुखता। इसे ही शैव दर्शन में 'विमर्श' कहते हैं जिसका अर्थ है 'अहम्' आकारक प्रतीति या आत्मगात्र विश्रान्ति। (विमर्श-व्याख्या)

(iv) भट्टनायक की देन—भट्टनायक का मत यद्यपि आज सिद्धान्त मत नहीं माना जाता तथापि रस-सिद्धान्त में भट्टनायक की एक अपूर्व देन है। वह है—साधारणीकरण। काव्य आदि कलाओं का एक विलक्षण व्यापार साधारणीकरण (Universalization) कहलाता है। इसके द्वारा विभाव आदि सामान्य रूप में सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर रति आदि भाव का भी साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् रामादि सम्बन्धी रति भाव सामान्य रति रूप में (रतित्वरूपेण) सामाजिक के समक्ष उपस्थित होते हैं। इस साधारणीकरण का कारण काव्य की एक विशेष शक्ति है, जिसे भट्टनायक 'भावकत्व' व्यापार कहते हैं। भावकत्व = साधारणीकरण। प्रदीपकार के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है—सीता आदि की सामान्य कामिनी आदि के रूप में प्रतीति होना। वस्तुतः साधारणीकरण का भाव है—शृङ्गार आदि रस के आलम्बन विभाव आदि के रूप में सीता आदि की प्रतीति होना (उद्योत)। इस व्यापार के

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर्ममैवेते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते; न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते; इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्काल-

---

द्वारा साधारणीकृत 'रति' आदि स्थायी भाव का सुहृदयों द्वारा आस्वादन (भोग) किया जाता है। भट्टनायक के अनुसार सहृदयों के मन मे अविद्यमान ही रति आदि भाव का भावकत्व तथा भोजकत्व नामक व्यापारों द्वारा आस्वादन होता है। इस रसभोग का स्वरूप विलक्षण है। इस प्रकार भट्टनायक ने रस-भोग की अलौकिकता की ओर भी सकेत किया तथा रसाभिव्यक्तिवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

(V) भट्टनायक के द्वारा भी रस का सम्यक् विवेचन न हो सका। भावकत्व तथा भोजकत्व नामक व्यापारों की एक एक अनूठी कल्पना इसमें रही तथा सामाजिक में अविद्यमान रत्यादि भाव का ही आस्वादन बतलाया गया। किञ्च राम आदि के रतिभाव की सामाजिक को भावना नहीं हो सकती; क्योंकि सामाजिक ने उसका अनुभव नही किया। यदि व्यञ्जना द्वारा सामाजिक के हृदय में रति आदि की भावना मानें तब तो व्यञ्जना से ही रसास्वाद हो जायेगा, फिर भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की क्या आवश्यकता है?

अनुवाद—आचार्य अभिनवगुप्त का मत है—लोक (काव्य नाट्य से भिन्न स्थल) में प्रमदा (उद्यान कटाक्ष) आदि के द्वारा रति आदि (स्थायी) का अनुमान करने में निपुण सामाजिकों के हृदय में ('पाटववतां' का 'सामाजिकानां' से अन्वय है तथा तैः—प्रतीतैः का अभिव्यक्तः स्थायी आदि से अन्वय है) वासनारूप से स्थित रति आदि स्थायी भाव है, जो काव्य और नाट्य में उन्हीं (ऐसे प्रमदा आदि) के द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है (अभिव्यक्त)—जो कारणत्वादि रूप को छोड़कर विभावना (रसास्वाद-योग्यता का आविर्भाव कराना) आदि व्यापार करने के कारण अलौकिक विभाव (अनुभाव तथा व्यभिचारी) आदि शब्दों से व्यवहृत होते हैं तथा 'ये (विभाव आदि) मेरे ही हैं', 'ये शत्रु के ही हैं', 'ये उदासीन के ही हैं'—इस प्रकार से विशेष (व्यक्ति से) सम्बन्ध की स्वीकृति और 'ये मेरे नहीं हैं' (अथवा मुझ से सम्बन्ध नहीं रखते), 'मेरे शत्रु के नहीं हैं', 'उदासीन के नहीं हैं' इस प्रकार से विशेष सम्बन्ध का निषेध (परिहार); इन दोनों प्रकार की व्यवस्था का निश्चय न होने से (नियमानध्यवसायात्) सामान्यरूपेण प्रतीत होते हैं। यद्यपि यह स्थायी भाव एक सामाजिक के भीतर व्यक्तिगत प्रमाता के रूप में ही (नियतप्रमातृगतत्वेन), स्थित होता है तथापि साधारण उपायों के बल से [साधारणीकृत (generalised)

विगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशत् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

विभावादि उपायों से], उस समय सीमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने के कारण आविर्भूत हुआ है (उन्मिषित) अन्य ज्ञेय के सम्पर्क से रहित असीमित प्रमातृ-भाव जिसका ऐसे प्रमाता के द्वारा समस्त सहृदय-जनों को भासित (संवादभाजा= सम्मतिशालिना) होने वाले सामान्य रूप से अनुभूत होता है (गोचरीकृतः)। यह रति आदि अपने आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ भी आस्वादमात्र स्वरूप वाला (चर्व्यमाणता एकः प्राणः यस्य), विभाव आदि की स्थिति पर्यंत रहने वाला, पानक रस (विशेष वस्तु) के समान आस्वाद्यमान (चर्व्यमाणः), (साक्षात् रूप से) सामने प्रस्फुरित होता हुआ सा, हृदय में प्रवेश करता हुआ सा, *समस्त अङ्गों में व्याप्त होकर आलिङ्गन करता हुआ सा, अन्य (विभावादि से भिन्न)* सबको ढकता हुआ सा तथा ब्रह्मानुभव के आनन्द का सा अनुभव कराता हुआ अलौकिक चमत्कार करने वाला शृङ्गार आदि रस कहा जाता है।

प्रभा—रस-सूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार आचार्य-अभिनव गुप्त हैं। उनकी व्याख्या ही बाद के आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुई है। उनके मतानुसार-स्थायी भाव का विभाव आदि के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव रूप संयोग होने से रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी हेतू उनका मत रस-व्यक्तिवाद नाम से विश्रुत है। उनका मत ही वस्तुतः अलङ्कार शास्त्र का सिद्धान्त है। रस-प्रक्रिया यह है:—

(१) लोके-सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी—सामाजिक के हृदय में संस्कार रूप से, सूक्ष्मतया स्थित रति आदि स्थायी भाव होते हैं। जिनके हृदय में ये संस्कार जितने ही जागरूक होते हैं वे उतना ही अधिक रसास्वादन कर सकते हैं। किन्तु जिनके संस्कार नष्टप्रायः हो जाते हैं वे काव्य-नाट्य में रसास्वादन नहीं कर सकते। वासनारूप से स्थित स्थायीभाव भी उन्हीं सामाजिकों में सम्यक् अभिव्यक्त होता है, जिन्होंने लौकिक जीवन में ललना, उद्यान तथा कटाक्ष आदि के द्वारा रति आदि की बार-बार अनुमिति की है और उसमें निपुणता प्राप्त करली है, अर्थात् जो रसिक हैं, विरक्त नहीं हो गये हैं। इस प्रकार सहृदय सामाजिकों में ही (काव्य-नाट्य से) रत्यादि भाव की *(व्यञ्जना द्वारा) अभिव्यक्ति हुआ करती है* और सहृदयता के लिये सहज संस्कार (वासना एवं रत्यादि भावों को समझने की निपुणता आवश्यक है।

(२) काव्ये नाट्ये च तैरेव अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः साधारण्येन

प्रतीतः अभिव्यक्तः—काव्य-नाट्य में भी सहृदयों के हृदय में उन्हीं प्रमदा आदि के द्वारा रति आदि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हुआ करती है। किन्तु कला की अलौकिक शक्ति (अभिव्यञ्जना) द्वारा काव्य-नाट्य के क्षेत्र में ये प्रमदा आदि रत्यादि स्थायीभाव के कारण, कार्य और सहकारी नहीं कहे जाते अपि तु विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव नामक अलौकिक (काव्यात्मक) शब्दों द्वारा इनका व्यवहार किया जाता है। यहाँ पर ये विभाव आदि नाम सार्थक ही हैं; विभावना का अर्थ है—सूक्ष्म रत्यादि में आस्वादयोग्यता का आविर्भाव कराना (रत्यादीनाम् आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनं विभावनम्)। इसी व्यापार के कारण ललना आदि विभाव कहलाते हैं। इसी प्रकार रत्यादि भावों को अनुभव का विषय कराने वाले अनुभाव हैं (रत्यादीनाम् अनुभवविषयीकरणम् अनुभावनम्) तथा विशेष रूप से रत्यादि भावों का सञ्चारण करने वाले सञ्चारी या व्यभिचारी भाव हैं (रत्यादीनां सञ्चारणं व्यभिचारणम्)।

काव्य की इसी अलौकिक अभिव्यञ्जना शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। बात यह है कि लोक जीवन में तीन प्रकार की वस्तुएं हैं—कुछ अपनी है, कुछ शत्रु की ही हैं तथा कुछ तटस्थ या उदासीन की ही हैं। काव्य नाट्य में सहृदय जन विभावादि के साथ इन तीनों सम्बन्धों में से किसी एक का भी अनुभव नहीं करते। यदि उन्हें विभाव आदि स्वकीय प्रतीत होने लगे तो अन्य लोगों के समक्ष अपनी रति आदि को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव होगा, रसास्वाद नहीं। शत्रु सम्बन्धी विभावादि हैं, ऐसा अनुभव करने पर द्वेषभाव जागरित होगा तथा उन विभावादि को उदासीन-सम्बन्धी जानकर भी उपेक्षा ही हो सकती है। अतएव सम्बन्धविशेष की स्वीकृति का निश्चय नहीं हो पाता। इसी प्रकार सम्बन्धविशेष के परिहार का भी निश्चय नहीं होता, यदि ऐसा हो जाता तो ये विभावादि किसी के न रहते, गगनकुसुमवद् हो जाते। तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन में अनुभव होने वाले तीनों सम्बन्ध अर्थात् स्वकीयत्व, परकीयत्व और उपेक्षणीयत्व की स्वीकृति या निवृत्ति नहीं होती अपि तु काव्य-नाट्य में कला की अलौकिकता के कारण एक विलक्षण प्रतीति होती है अर्थात् सामान्यरूपेण 'यह कामिनी है'—इस प्रकार कामिनीत्वादि रूप से सीता आदि की प्रतीति हो जाया करती है अथवा केवल शृङ्गार आदि रस के आलम्बन विभाव आदि के रूप में सीता आदि की प्रतीति होती है। और इसी प्रतीति द्वारा सहृदयों के हृदय में रत्यादिभाव की अभिव्यक्ति हो जाया करती है।

(३) नियत ···· प्रमात्रा—गोचरीकृतः—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि प्रमाता के प्रत्येक अनुभव के साथ उसकी व्यक्तिगत भावना जुड़ी होती है; अतः सहृदय सामाजिक के हृदय में जो वासना रूप में स्थित रत्यादि भाव हैं वे व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखने वाले हैं तथा भिन्न-भिन्न रत्यादिभावों की कारण-सामग्री द्वारा ही उद्बुद्ध होने वाले हैं, इसलिये सामान्य रूप से प्रतीयमान विभावादि के

द्वारा भी रति आदि भावों की समस्त सहृदय जनों को साधारणतया प्रतीति कैसे हो सकती है ? इसका समाधान करते हुए से आचार्य मम्मट कहते हैं कि विभावादि जो रत्यादि की अभिव्यक्ति के उपाय हैं काव्य-नाट्य में उनका साधारणीकरण हो जाता है अतएव रसास्वादकाल (तत्काल) में प्रमाता भी नियत, सीमित अथवा परिमित नहीं रहता एवं उसके हृदय में एक ऐसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का उदय हो जाता है, जिसमें किसी अन्य ज्ञेय का सम्पर्क नहीं हुआ करता तथा वह अपरिमित-(असीम) प्रमाता हो जाता है और इस अपरिमित अवस्था में रति आदि की सामान्य रूप से प्रतीति होती है अ[illegible]
हो जाता है। रति आदि भाव के इस [illegible]
अनुभव किया करते हैं। (सकलमहृदयसंवादभाजा—सकलसहृदयानां संवाद मजति इति तेन; यह साधारण्येन का विशेषण है। इसका अर्थ है—समस्त सहृदयों की समान अनुभूति का विषय जो सामान्य रूप है उसके द्वारा)। कला की शक्ति के द्वारा प्रमाता या सामाजिक का व्यक्तित्व असीमित हो जाता है, अपरिमित हो जाता है। इसी से उसकी व्यक्तिगत भावना मिट जाती है और वह रति आदि भाव को सामान्यरूपेण अनुभव करता है।

(४) स्वाकार इव ···· चर्व्यमाणः—यद्यपि प्रमाता को यह अभिव्यक्त रति आदि भाव आस्वाद (रस) रूप में (अथवा स्वचिद्रूप में) तथा अपने से अभिन्न रूप में अनुभूत होता है (गोचरीकृतः) तथापि यह आस्वादन का विषय अर्थात् आस्वाद्यमान (चर्व्यमाण) कहा जाता है; क्योंकि जिस प्रकार ज्ञाता या ज्ञान को स्वयं प्रकाश मानने वाले के मत में अपना आकार ही ज्ञेय होता है उसी प्रकार प्रमाता से अभिन्न होने वाला आस्वाद भी आस्वादन का विषय होता है; अथवा जैसे योगाचार (विज्ञानवादी) बौद्ध दार्शनिक के मत में ज्ञान का आकार तथा उससे अभिन्न ही बाह्य वस्तु है तथापि वह ज्ञेय कही जाती है। इसी प्रकार अभिव्यक्त रत्यादि के आस्वादरूप या चिद्रूप होते हुये भी रस आस्वाद्यमान कहा जाता है। इस प्रकार अभिव्यक्त रति आदि भाव रस है। उस रस का स्वरूप केवल आस्वादन-मात्र ही है, वस्तुतः आस्वादन से भिन्न आस्वाद्य वहाँ नहीं होता। और, वह अस्वादन (चर्वणा) तभी तक होता है जब तक कि विभाव आदि रहते हैं। विभावादि के अभाव में उसका आस्वादन नहीं होता। किन्तु विभावादि की प्रतीति पृथक् रूप से नहीं होती अपि तु एक अखण्डात्मक रस की ही प्रतीति होती है; जैसे—इलायची, कालीमिर्च, मिश्री, केसर तथा कपूर आदि के मिश्रण से जो पानक या प्रपाणक नामक पेय पदार्थ बनता है उसका रस उन समस्त वस्तुओं से विलक्षण होता है इसी प्रकार विभावादि से विलक्षण अलौकिक रूप में ही रस का आस्वादन होता है।

पुर इव—शृङ्गारादिको रसः—काव्य-नाट्य के द्वारा आस्वाद्यमान रस विलक्षण होता है, यह चित्त की द्रुति तथा विस्तार करता है और उसे एक अनूठी

अवस्था में ले जाता है जिसे चमत्कारावस्था कह सकते हैं; अर्थात् यह लौकिक सुखों से विलक्षण एक अलौकिक आनन्द है। इसी हेतु सहृदय सामाजिक को इसकी अनुभूति करते समय ऐसा लगता है मानो वह रस साक्षात् रूप से सामने प्रस्फुरित हो रहा हो, हृदय मे प्रविष्ट सा हो रहा हो, प्रत्येक अङ्ग में अमृत का सिञ्चन कर रहा हो और अपने (रस के) अतिरिक्त अन्य समस्त संसार को आच्छादित सा कर रहा हो तथा ब्रह्मज्ञान का सा आनन्द अनुभव करा रहा हो।

अभिनवगुप्त के मत का सारांश यह है—सहृदयों के हृदय में रति आदि भाव संस्कार रूप से विद्यमान होते हैं वे सहृदय जन लोक मे ललना आदि (कारणों) के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण होते हैं। काव्य-नाट्य मे कारणत्वादि को त्याग कर वे ललनादि अलौकिक विभाव आदि का रूप धारण कर लेते हैं तथा काव्य की शक्ति से सामान्य विभाव आदि के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यञ्जना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहलाता है। यह स्थायी-भाव से विलक्षण है।

टिप्पणी—(i) अभिनवगुप्त के मतानुसार सूत्रार्थ यह है—"स्थायिनां विभावादिभिः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात् सम्बन्धात् (संयोगात्) रसस्य अभिव्यक्तिः निष्पत्तिः)"।

अभिनवगुप्त एक ओर ध्वन्यालोक (लोचन) के व्याख्याकार हैं तथा दूसरी ओर नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव-भारती नामक व्याख्या के लेखक। इसी से उन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय तथा रससिद्धान्त का सुन्दर समन्वय किया है। अतएव वे संयोगात् का अर्थ 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात्' करते हैं और 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति।

(ii) आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त के रसाभिव्यक्ति-विवेचन का सारार्थ ही संक्षेप में दिया है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन तथा अभिनव-भारती में रस-तत्त्व का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनके शब्दों में रस एक अलौकिक वस्तु है जो स्थायी भाव से विलक्षण है (स्थायिविलक्षण एव रसः), तथा 'चर्व्यमाणतैकसारः' है। अभिनव भारती के अनुसार सूत्रार्थ यह है—तेन विभावादिसंयोगात् रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।' (अभीनवभारती पृ० २८६)

(iii) रसचर्वणा की मम्मटोक्त प्रक्रिया का दर्पणकार ने (साहित्यदर्पण ३.२–११ में) विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार प्राक्तनी वासना भी रसास्वाद का हेतु है—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।
वासनाचेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः'। (साहित्यदर्पण ३.८)

स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेद्, न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्।

(iv) वासनात्मतया स्थितः स्थायी—जिस प्रकार काव्य-सृष्टि के हेतु कवि में प्रतीभा, निपुणता और अभ्यास अपेक्षित है इसी प्रकार काव्यादि द्वारा रस-चर्वणा के लिए सामाजिक के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादि का होना (सहज शक्ति) तथा लोक के प्रमदादि के द्वारा रत्यादि के अनुमान का अभ्यास एवं उससे अर्जित निपुणता आवश्यक है।

रस की अलौकिकता

अनुवाद—(१) वह रस (विभावादि का) कार्य नहीं; क्योंकि (यदि वह कार्य हो तो) विभावादि (जो कि निमित्तकारण हो सकते हैं) के नाश होने पर भी उस (रस) की स्थिति होने लगेगी। वह रस (विभावादि के द्वारा) ज्ञाप्य भी नहीं; क्योंकि वह (पहले ही) सिद्ध अर्थात् विद्यमान नहीं है, अपि तु विभावादि से व्यञ्जना द्वारा व्यक्त किया गया तथा आस्वादनीय है। यदि कोई कहे कि कारक (करने वाला) तथा ज्ञापक (बोध कराने वाला) से भिन्न (हेतु) कहाँ देखा गया है ? तो (उत्तर है कि) कहीं नहीं देखा गया और रस की अलौकिकता की सिद्धि में यह बात भूषण है, दूषण नहीं।

प्रभा—आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार वह रस विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त हुआ करता है अतएव विभावादि रसाभिव्यक्ति के हेतु हैं। किन्तु लोक में तो दो प्रकार के हेतु होते हैं—१. कारक २.ज्ञापक। जैसे—किसी घट की मिट्टी आदि उपादान कारण तथा कुम्भकार एवं दण्ड आदि निमित्त कारण (कारक हेतु) होते हैं, घट उनका कार्य होता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो विभावादि उसके (दण्ड आदि के समान) निमित्तकारण ही माने जा सकते हैं तब तो विभावादि के नष्ट हो जाने पर भी 'रस' स्थित रहना चाहिए; क्योंकि निमित्त कारण का नाश हो जाने पर भी कार्य स्थित रह सकता है जैसे दण्ड आदि का नाश हो जाने पर भी घटरूप कार्य की स्थिति बनी रहती है। किन्तु विभाव आदि के नष्ट हो जाने पर रस की प्रतीति नहीं हुआ करती। इसलिए रस विभावादि कार्य नहीं। तब क्या विभावादि रस के ज्ञापक हैं और रस ज्ञाप्य है ? नहीं, वह रस ज्ञाप्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि लोक मे जो 'घट' आदि वस्तुएं पहले से ही विद्यमान (सिद्ध) होती हैं, दीपक आदि उन्हीं के ज्ञापक हुआ करते हैं ; किन्तु रस तो विभावादि के पूर्व विद्यमान ही नहीं होता। अतएव रस न तो कार्य है न ही ज्ञाप्य अपि तु विभावादि रस की व्यञ्जना करते हैं, अभिव्यक्ति करते हैं। रस व्यङ्ग्य

चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादि-प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान-वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदन-विलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदन-गोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् ।

है तथा सहृदयों द्वारा इसका आस्वादन किया जाता है । कारक और ज्ञापक हेतु से भिन्न व्यञ्जक हेतु चाहे लोक में न हो; किन्तु काव्य-नाट्य में तो है । यही कला की विलक्षणता है, अलौकिकता है । यह रस अलौकिक तत्त्व है अतः यदि इसका हेतु अलौकिक है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अनुवाद--(२) क्योंकि (चर्वणा-विशिष्ट रति आदि स्थायी भाव ही रस है) चर्वणा अर्थात् आस्वादन की उत्पत्ति होने से उस (रस) की उत्पत्ति भी गौण रूप से कही जाती है (उपचरिता), इसी से रस को कार्य भी कहा जा सकता है (वस्तुतः यह कार्य नहीं) । वह रस—१. लौकिक प्रत्यक्षादि ज्ञान, २. प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा किये बिना (प्रमाणताटस्थ्य) ज्ञान प्राप्त करने वाले 'युञ्जान' संज्ञक (मित) योगियों के ज्ञान तथा ३. अन्य ज्ञेय के सम्पर्क से रहित, आत्ममात्र-विषयक 'युक्त' संज्ञक (परिमितेतर=मितयोगी से भिन्न) योगियों की अनुभूति से—विलक्षण अलौकिक स्वसंवेदन का विषय है, इसलिए ज्ञेय या ज्ञाप्य (प्रत्येय) भी कहा जा सकता है ।

प्रश्न—जब रस कार्य या ज्ञाप्य नहीं तो 'उत्पन्नो रसः' 'ज्ञाप्यो रसः' इत्यादि व्यवहार कैसे सम्भव है ? बात यह है कि जब आस्वादन या चर्वणा होती है तभी 'रस' की अभिव्यक्ति मानी जाती है और आस्वादन की उत्पत्ति या निष्पत्ति हुआ करती है । इसी हेतु 'रस उत्पन्न हुआ' इत्यादि गौण रूप से (औपचारिक) प्रयोग देखा जाता है । वस्तुतः रस कार्य नहीं, यह कहा जा चुका है । वह रस ज्ञाप्य नहीं है तथापि एक विशेष रूप में ज्ञाप्य या ज्ञेय कह दिया जा सकता है । हाँ, उसकी ज्ञाप्यता है लोकोत्तर ही । लोक में तीन प्रकार के ज्ञान होते हैं; जैसे प्रथम ज्ञान वह है जो जनसाधारण को प्रत्यक्ष आदि के द्वारा होता है । द्वितीय ज्ञान वह है जो साधना-निरत युञ्जान नामक योगियों को प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना ही सविकल्पक समाधि में हुआ करता है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है । वह योगज प्रत्यक्ष होता है, जिसमें लौकिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती । तृतीय ज्ञान वह है जो युक्त या सिद्ध नामक योगियों को निर्विकल्पक समाधि में होता है । उस ज्ञान में आत्मानुभूति मात्र होती है अन्य ज्ञेय वस्तु का सम्पर्क नहीं होता । किन्तु रस की अनुभूति इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है, वह अलौकिक ही है । रस तो स्वसंवेदन का विषय है, इसमें लौकिकज्ञान की भाँति किसी विषय का सम्पर्क नहीं, योगज-प्रत्यक्ष की भाँति साधन-निरपेक्षता नहीं (क्योंकि

तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

विभावादि से अभिव्यक्त रस का ही संवेदन होता है) तथा युक्त योगियों के ज्ञान जैसी आत्ममात्रविषयता नहीं, क्योंकि विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला रस स्वसंवेद्य है इसी हेतु उसमें एक लोकोत्तर ज्ञाप्यता है ही। अभिप्राय यह है कि रस मुख्य अर्थ में कार्य या ज्ञाप्य नहीं; किन्तु औपचारिक अर्थ में कार्य या ज्ञाप्य कहा जा सकता है।

अनुवाद—(३) उस (रस) का ग्रहण करने वाला ज्ञान (संवेदन) निर्विकल्पक नहीं है, क्योंकि उसमें विभावादि के सम्बन्ध (परामर्श) की प्रधानता रहती है। वह सविकल्पक भी नहीं; क्योंकि आस्वाद्यमान तथा अलौकिक आनन्द स्वरूप उस रस की स्वानुभूति मात्र से ही सिद्धि हो जाती है। उभयाभावस्वरूप (अर्थात् निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान दोनों से भिन्न होने वाले) रस-संवेदन में उभयात्मकता (अर्थात् निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान दोनों के स्वरूप को रखना) भी पहिले (कारक-ज्ञापक) की भाँति उसकी अलौकिकता को प्रकट करती है, विरोध को नहीं— यह श्रीयुत आचार्य अभिनवगुप्त (विवृण्वते) रस-सूत्र की व्याख्या करते हैं।

प्रभा—रस स्वसंवेदन का विषय है और संवेदन भी ज्ञान ही है। ज्ञान दो प्रकार का होता है:—१. निर्विकल्पक तथा २. सविकल्पक। निर्विकल्पक ज्ञान 'कुछ है' (किञ्चित्) इस प्रकार का होता है। वह अव्यक्त या अस्पष्ट सा रहता है। वस्तु के नाम, रूप (श्वेतादि) जाति (गोत्व आदि) की योजना उसमें नहीं रहती। उसमें विशेष्य-विशेषण आदि सम्बन्ध का बोध नहीं होता। इसके विपरीत सविकल्पक ज्ञान में नाम, जाति आदि का उल्लेख रहता है उसमें ज्ञाता-ज्ञेय आदि की स्पष्ट प्रतीति हुआ करती है; जैसे 'यह श्यामा गौ है' इत्यादि। रसानुभूति निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं; क्योंकि उसमें विभावादि का परामर्श अवश्यम्भावी है। जब विभावादि की स्पष्टतया प्रतीति के द्वारा रसानुभूति होती है तो वह निर्विकल्पक ज्ञान का ग्राह्य कैसे हो सकता है। वह रस सविकल्पक ज्ञान का विषय इसलिये नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रस तो आस्वाद रूप ही है, अलौकिक आनन्द स्वरूप ही है। संवेदन से भिन्न संवेद्य वस्तु कोई नहीं। आस्वादन और आस्वाद्य में भेद नहीं। अतएव वहाँ नाम जात्यादि के उल्लेख की सम्भावना ही नहीं।

इस प्रकार रसानुभूति निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न है,

अतः उभयाभाव स्वरूप है। इसी प्रकार वह उभयात्मक भी है; क्योंकि दो विरुद्ध वस्तुओं में से एक का अभाव द्वितीय का भावरूप होता है अतएव जब वह निर्विकल्पक नहीं तो वह सविकल्पक होगा तथा जब वह सविकल्पक नहीं तो निर्विकल्पक होगा। किन्तु इस प्रकार रसानुभूति का उभयाभावरूप होना विरोध को सूचित नहीं करता अपि तु रस की अलौकिकता को ही बतलाता है। जैसा कि कार्य और ज्ञाप्य के विषय में कहा गया है; बात यह है कि लौकिक वस्तु में विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते और रस में विरुद्ध धर्म युगपत् रहते हैं, जो कि अनुभव सिद्ध हैं, इससे यही प्रकट होता है कि वह रस कोई आलौकिक वस्तु है।

टिप्पणी:—श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः में श्री, आचार्य तथा पादाः आदि अत्यन्त सम्मानसूचक शब्दों के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त का मत ही आचार्य मम्मट का अभिमत है। वस्तुतः आचार्य अभिनवगुप्त ही रस-सिद्धान्त के रहस्य का उद्घाटन करने वाले हैं। उनके 'रसाभिव्यक्तिवाद' में ही रस-विवेचना का विकसित तथा मनोवैज्ञानिक रूप उपलब्ध होता हैं। रस-सिद्धान्त के लिये उनकी अपूर्व देन है। भट्टलोल्लट आदि (रसोत्पत्तिवादी) आचार्य नायक-सम्बन्धी स्थायी भाव को ही रस मानते रहे और उसकी नटगत भ्रान्ति द्वारा ही सामाजिक के हृदय में विशेष प्रकार के चमत्कार की कल्पना करते रहे। (रसानुमितिवादी) श्री शङ्कुक ने नटादि में अनुमित रत्यादिभाव का ही सामाजिक द्वारा आस्वादन मान लिया। (रसभुक्तिवादी) भट्टनायक ने रस की व्याख्या में अलौकिक तत्त्व की ओर ध्यान दिया, तथा कलाओं के द्वारा साधारणीकरण की एक अनूठी उद्भावना की। अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त का परिष्कृत स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। उनकी मुख्य देन है—

(i) विभावादि के साधारणीकरण की विशद व्याख्या—जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है।

(ii) कला के द्वारा प्रमाता के व्यक्तित्व का अपरिमित होना—भट्टनायक ने रत्यादि भाव के साधारणीकरण की ओर तो संकेत किया था, किन्तु उसमें सहृदय सामाजिक के अपरिमित होने तथा उसके व्यक्तिगत अनुभव के अपरिमित होने का उल्लेख नहीं था। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्यादि कलाओं के द्वारा प्रमाता की असीमता का उल्लेख किया। उनके अनुसार प्रमाता का परिमित प्रमातृभाव कला की शक्ति से अपरिमित हो जाता है अर्थात् सहृदय के स्वरूप का विकास हो जाता है, उसका आत्म-विस्तार हो जाता है और वह इसी अवस्था में स्वहृदय में वासनारूपी में स्थित विभावादि द्वारा अभिव्यक्त रत्यादि स्थायी भाव का आस्वादन करता है यही आस्वादन रस कहलाता है।

(iii) रस की अलौकिकता—यद्यपि रस की अलौकिकता का उल्लेख भट्टनायक ने कर दिया था। भट्टनायक ने 'रस को 'परब्रह्मास्वादसविध:' भी बतलाया

[मिलितविभावादिभ्यः रसाभिव्यक्तिः]

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुत-रौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीर-करुण-भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।

था, तथापि अभिनवगुप्त ने उसकी विलक्षणता और अलौकिकता पर विशेष बल दिया। उसकी अनुभूति का पुर इव परिस्फुरन्' आदि द्वारा) अनूठा स्वरूप बतलाया। उसे कार्य तथा ज्ञाप्य वस्तुओं से विलक्षण बतलाया तथा उसके ग्राहक स्व-संवेदन को निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञानों से विलक्षण ही निरूपित किया।

(IV) रसानुभूति की अलौकिकता—लोक या योगदर्शन आदि में प्रसिद्ध जो लौकिक ज्ञान, योगज प्रत्यक्ष तथा निर्विकल्प समाधि का आत्मसाक्षात्कार है, रसानुभूति उनसे विलक्षण है। जो निर्विकल्पक समाधि से भी परे वेदान्त का ब्रह्मसाक्षात्कार है, रसानुभूति उसके ही समान अलौकिक है किन्तु कुछ उससे विलक्षण भी है, क्योंकि रसानुभूति के समय विभावादि का परामर्श होता है।

(V) रसाभिव्यक्तिवाद की स्थापना—अभिनवगुप्त ने यह स्थापना की कि विभावादि द्वारा रस की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार उन्होंने ध्वनिवाद के साथ रस-सिद्धान्त का सुन्दर समन्वय किया। इसके लिए आचार्य अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम रति आदि भाव को सामाजिक के हृदय में वासना रूप में स्थित बतलाया। फिर व्यञ्जना या ध्वनन व्यापार द्वारा उसकी अभिव्यक्ति का निरूपण किया। भट्टनायक द्वारा कल्पित भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार को आचार्य अभिनवगुप्त ने व्यञ्जना के अन्दर समाविष्ट किया तथा रसाभिव्यक्तिवाद का विशद रूप निर्धारित किया।

(VI) आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त के इस समन्वित मार्ग का अनुसरण किया और साहित्य-शास्त्र के विविध वादों का सामञ्जस्य करते हुए उन्होंने एक सुदृढ साहित्यिक पद्धति का निर्माण किया। यत्र-तत्र विरोध करते हुए भी साहित्य-विवेचक उसी पद्धति पर आरूढ रहे।

विभाव आदि से समुदित रूप में रसाभिव्यक्ति

अनुवाद—व्याघ्रादि विभाव भयानक रस के समान वीर, अद्भुत तथा रौद्र रसों के भी (विभाव) होते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात इत्यादि अनुभाव शृङ्गारादि के समान करुण तथा भयानक रस के भी (अनुभाव) होते हैं तथा चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव शृङ्गार के समान वीर, करुण तथा भयानक रसों के भी (व्यभिचारी भाव) होते हैं—इसलिये विभावादि की पृथक्-पृथक् व्यञ्जकता कहना अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है; अतएव भरत-सूत्र (विभावादि०) में तथा स्वसूत्र (व्यक्तः स तैः) में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को मिलाकर (द्वन्द्व समास द्वारा तथा 'तैः' शब्द से) रस का कारण कहा गया है।

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः !
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे॥२७॥
इत्यादौ।

प्रभा—यहां पर शङ्का होती है कि भरत मुनि ने रस सूत्रों में तीनों (विभावादि) का द्वन्द्व समास द्वारा क्यों निर्देश किया है तथा काव्य-प्रकाश की कारिका में भी 'व्यक्तः सः तैः' यहां बहुवचन से ही क्यों निर्देश किया गया है; क्योंकि इससे तो यह प्रकट होता है कि ये तीनों मिलकर ही रस के व्यञ्जक होते हैं। आचार्य मम्मट 'व्याघ्रादि' अवतरण द्वारा इस शङ्का का समाधान करते हैं। भाव यह है कि कोई भी विभाव आदि किसी एक रस का ही विभाव आदि नहीं होता; जैसे—'व्याघ्र' भयानक रस का विभाव हो सकता है उसी प्रकार वीर रस का भी विभाव हो सकता है। यही दशा अनुभाव और व्यभिचारी भावों की है। वे किसी एक रस के साथ नियतसाहचर्य नहीं रखते अथवा किसी एक स्थायी के साथ ही उनका सम्बन्ध नहीं होता। तब यदि 'विभावेन संयोगात्' इत्यादि प्रकार से रसाभिव्यक्ति का कारण कहा जाता तो यह कथन व्यभिचार-युक्त हो जाता; क्योंकि कोई विभावादि नियमतः किसी एक रस की अभिव्यक्ति का कारण नहीं। जब मिलितों की कारणता कही गयी है तब कोई अनियमितता (व्यभिचार) नहीं होती। जैसे—बन्धुनाश आदि विभाव, अश्रुपातादि अनुभाव तथा चिन्तादि व्यभिचारी भाव से मिलकर करुण रस की ही अभिव्यक्ति होती है, अन्य रस की नहीं। इसलिए विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव तीनों को मिलित रूप में ही रसाभिव्यक्ति का हेतु कहा गया है।

अनुवाद—['वियद्' आदि उदाहरणों का 'यद्यपि' आदि अग्रिम ग्रन्थ से अन्वय है] अरी मुग्धे, प्रणाम करने में तत्पर (इस अपने) प्रियतम पर प्रसन्न हो जाओ; क्योंकि आकाश भ्रमर के समान श्याम सजल मेघों से युक्त है (अलिमलिनाम्बुगर्भाः मेघाः यत्र), मधुकर की गुञ्जार तथा कोकिलों की कूक (कूजित) से दिशाओं की शोभा (श्रीः) बढ़ रही है। पृथ्वी नवीन अङ्कुररूपी टांकियों को गोद में लिये हुए है (अभिनवाः अङ्कुरा एव अङ्के टङ्का यस्यां तादृशी)॥२७॥

इत्यादि स्थलों पर (केवल विभाव-वर्णन है)

प्रभा—मानिनी नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति का तात्पर्य (व्यङ्ग्यार्थ) है—ऊपर, सामने तथा नीचे उद्दीपक कारणों के उपस्थित रहने से मानभङ्ग अवश्यंभावी है अतः प्रियतम पर स्नेह दृष्टि डालो। यहाँ केवल प्रियतम रूप आलम्बन तथा 'मेघ' आदि उद्दीपन विभावों का वर्णन किया गया है।

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः, कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मीमभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तःकपोलः २८॥

इत्यादौ ।

> दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
> संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।
> मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
> चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥२९॥

इत्यादौ च ।

यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपा-ऽसूया-

अनुवाद—'इस मालती के ('अस्या. यह शब्द श्लोक के पूर्व है) अङ्ग मसले हुए (परिमृदित) मृणाली के समान मुरझाये हुए हैं; पारिवारिक जन (सखीसमूह) की प्रार्थनाओं के द्वारा इसकी कथञ्चित (आवश्यक) कार्यों में प्रवृत्ति होती है; तथा इसका नवीन काटे हुए हाथी दाँत के समान गौर वर्ण (अभिनवो यः करिदन्तच्छेदः तद्वत् कान्तः) कपोल निष्कलङ्क हिमकर की शोभा को धारण करता है (कलयति) ॥२८॥

इत्यादि स्थलों पर (केवल अनुभाव-वर्णना है)।

प्रभा—यह मालती-माधव का पद्य है। माधव अपने सखा मकरन्द के प्रति मालती का वर्णन कर रहा है। यहाँ केवल 'परिमृदित०' आदि अनुभावों के द्वारा मालती की कामसंतप्तता आदि का वर्णन किया गया है।

अनुवाद—'अहो, जिस प्रियतम से कोई अपराध हो गया है (जातम् आगः अपराधो यस्मात्) उसके प्रति मानिनी नायिका की (मानिन्याः) आँखें (चक्षुः) विचित्र व्यापार में कुशल हो गई हैं; क्योंकि दूर से देख कर (दृष्टे इति शेषः) उत्सुक हो गईं, समीप आने पर (लज्जा से) झुक गईं (विवलितम्-तिर्यक्कृतम् संकुचितं वा) उसके बोलने पर खिल उठीं (स्फारितम्), आलिङ्गन करने पर लाल हो गईं, आँचल पकड़ लेने पर कुछ भौंहे सिकोड़ लीं (अञ्चिता भ्रूलता येन), चरणों में प्रणाम करने पर (चरणयोः आनतिः प्रणामः तस्य व्यतिकरः समूहः यस्य तादृशे) अश्रुजल से पूर्ण दृष्टि वाली हो गईं ॥२९॥

इत्यादि स्थल में (केवल व्यभिचारी भाव की वर्णना है।)

प्रभा—यह अमरुशतक का पद्य है। मानिनी नायिका ने नायक को फटकार दिया, परन्तु नायक के पुनरागमन पर नायिका की नेत्र क्रिया विचित्र हो गई। यहाँ केवल औत्सुक्य, व्रीडा आदि व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया है।

अनुवाद—यद्यपि यहाँ पर (उपर्युक्त पद्यों में) (प्रथम में) केवल विभावों का (द्वितीय में) केवल अनुभावों का तथा (तृतीय में) औत्सुक्य, व्रीडा, हर्ष, कोप,

प्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाऽप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ।
तद्विशेषानाह्—

(४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥२६॥

असूया एवं प्रसाद आदि व्यभिचारी भावों का ही साक्षात् उल्लेख (स्थिति.) है, तथापि (यहां पर) इन की मुख्यता (असाधारणत्व) है इस हेतु से अन्यतमों (विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव) में से (शेष) दो की प्रतीति (आक्षेप) हो जाती है तथा (उनकी मिलितरूप में रसाभिव्यञ्जकता में) व्यभिचार नहीं होता ।

प्रभा—यहाँ पर यह शङ्का होती है कि 'वियद्' इत्यादि स्थलों पर केवल विभाव आदि के वर्णन से भी रसानुभूति होती है अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव सम्मिलित रूप में रसाभिव्यक्ति के कारण हैं यह नियम नहीं बनता, मिलितकारणता में व्यभिचार दोष आता है । आचार्य मम्मट 'तथापि' आदि अवतरण द्वारा इस शङ्का का समाधान करते हैं । बात यह है कि किसी-किसी स्थल पर केवल विभाव या केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी भाव का उल्लेख होता है, यह सत्य है; किन्तु वहाँ भी विभावादि तीनों मिलकर ही रसाभिव्यक्ति के हेतु होते हैं । जिसका निर्देश किया जाता है वह साक्षात् बोध्य या मुख्य होता है और वह शेष दो को उपस्थित (आक्षिप्त) कर देता है । अतएव विभावादि सम्मिलित रूप मे ही रस-निष्पत्ति के हेतु हैं ।

टिप्पणी "तदयं सिद्धान्तः—मिलितानामेव रसनिष्पत्तिहेतुत्वम्, यत्र तु एक एव निर्दिष्टः, तत्रापि तेनैवान्ययोः द्वयोराक्षेपेण रसनिष्पत्तिरिति ।"—बालबोधिनी । इस प्रकार रसाभिव्यक्ति में विभावादि की दण्डचक्रादिन्याय से संभूयकारणता है, तृणारणिमणिन्याय से पृथक् कारणता नहीं ।

अनुवाद—उस (रस के भेदों का वर्णन करते हैं)—

शृङ्गार, हास्य, करुण. रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नामक ये नाट्य अर्थात् अभिनयात्मक काव्य में आठ रस कहे गये हैं । (४४)

प्रभा—'शृङ्गार' इत्यादि नाट्य-शास्त्र की (अध्याय ६–१६) कारिका है । उसे ही आचार्य मम्मट ने अविकल रूप में उद्धृत कर दिया है । रस सामान्य का लक्षण ऊपर कहा जा चुका है । प्रत्येक रस के स्वरूप का यथास्थान निर्देश किया जायेगा । नाट्य अर्थात् अभिनयात्मक काव्य में आठ ही रस होते हैं; किन्तु श्रव्य या पाठ्यकाव्यों में शान्त रस नामक नवम रस भी होता है, यह अभिप्राय है । अवस्थानुकृति ही नाट्य है । उसमें शान्त रस की संभावना नहीं; क्योंकि शान्त रस का

स्वरूप तो सर्वविषयोपरति मात्र है और रोमाञ्चादि के बिना किसी भाव का अभिनय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त संगीत आदि का भी शान्त रस के साथ विरोध है। इसी हेतु दशरूपककार ने नाट्य में शान्त रस की पुष्टि का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ (दशरूपक ४-३५)

कुछ विद्वानों का विचार है—कि नाट्य में भी शान्त रस होता है। जैसे—नागानन्दादि नाटक में शान्त रस की प्रधानता है। शान्त-रस-विषयक गीतवाद्य का भी उसके साथ विरोध नहीं। आचार्य मम्मट ने नाट्य, काव्य दोनों के लिये सामान्यरूप से सर्वसम्मत आठ रसों का निरूपण किया है तथा 'शान्तोऽपि नवमो रसः स्मृतः' यहाँ नाट्य श्रव्य दोनों में ही शान्तरस की सत्ता स्वीकार की है।

टिप्पणी—(i) नाट्य-शास्त्र की इस कारिका में आठों रसों को इस क्रम से रखने का विशेष अभिप्राय है, जिसका स्पष्टीकरण अभिनव भारती (६·१६) में किया गया है।

(ii) कुछ आचार्यों ने भक्ति तथा वात्सल्य को भी पृथक् रस माना है। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वल-नील मणि' नामक ग्रन्थों में भक्ति रस का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। विश्वनाथ कविराज ने 'वत्सल रस' की स्वीकृति को मुनीन्द्र-सम्मत बतलाया है—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ (सा० द० ३·२५१)

आचार्य मम्मट की मान्यता है कि भक्ति आदि का 'भावध्वनि' में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उनकी मान्यता प्राचीन परम्परा से अनुप्राणित है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही कहा है—आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्'।

'काव्यानुशासनकार' आचार्य हेमचन्द्र का भी यही मत है—

'स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः। तुल्ययोः या परस्पररतिः स स्नेहः। अनुत्तमस्य उत्तमे रतिः प्रसक्तिः सैव भक्तिपदवाच्या। उत्तमस्य अनुत्तमे रतिः वात्सल्यम् एवमादौ च विषये भावस्यैवास्वाद्यत्वम्।

(iii) इन रसों में प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से विचार करके कुछ आचार्यों ने एक या अनेक मूल रसों की कल्पना की है। भवभूति ने करुण को ही मूलरस माना है—'एको रसः करुण एव' (उत्तर०) भोजराज का कथन है—'शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः' (शृङ्गारप्रकाश)—हम तो आस्वादनीय होने से एकमात्र शृङ्गार को ही रस कहते हैं। नारायण पण्डित ने 'चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः' (साहित्यदर्पण)—यह कहकर अद्भुत को ही मूलरस माना है। अभिनवगुप्त के अनुसार शान्तरस ही मूलरस है (?) (अभिनव भारती)। भरतमुनि

१. तत्र श्रृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाऽधरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते।

यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥३०॥

ने आठ रसों में से श्रृङ्गार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स को प्रधान रस माना है। इन चारों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है। सम्भवतः रसों का यह उत्पाद्य-उत्पादक भाव एवं प्राधान्य-अप्राधान्य व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर आश्रित है, विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर नहीं।

(iv) यहाँ एक शङ्का यह भी होती है कि रस तो आनन्दात्मक होते हैं फिर दुःखमय करुण आदि रस कैसे हो सकते हैं और यदि इन्हें सुखात्मक मान भी लिया जाय तो इनसे अश्रुपातादि नहीं होना चाहिये। इसका समाधान यही है कि काव्य-नाट्य में शोक के हेतु भी अलौकिक विभावादि रूपता को प्राप्त हो जाते हैं और वे आनन्द का ही अनुभव कराते हैं। यही बात बीभत्स तथा भयानक रस के विषय में भी है। *करुण रस के अभिनय को देखने आदि से जो अश्रुपात होता है* वह तो चित्त के द्रवित हो जाने के कारण ही होता है दुःख के कारण नहीं। जैसा कि दर्पणकार ने *(साहित्यदर्पण ३.५–७ में)* स्पष्ट किया है।

इसके विपरीत नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र, गुणचन्द्र ने समस्त रसों को दो भागों में विभक्त किया है—सुखात्मक तथा दुःखात्मक। उन्होंने श्रृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त रस को सुखात्मक माना है किन्तु करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक को दुःखात्मक माना है (नाट्यदर्पण पृ० १५६)। आ० विश्वेश्वर का कथन है कि अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक रस माना है, अर्थात् प्रत्येक रस में सुख और दुःख दोनों का समावेश रहता है (काव्यप्रकाश सू० ४४)। वस्तुतः यह कथन विचारणीय है।

अनुवाद—उन रसों में श्रृङ्गार रस के दो प्रकार हैं—सम्भोग तथा विप्रलम्भ। उनमें से प्रथम (आद्यः) नायक तथा नायिका के परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, परिचुम्बन, आदि की अनन्तता के कारण अगणित प्रकार का (अपरिच्छेद्य) है किन्तु एक सम्भोग ही गिना जाता है जैसे—

'शयनगृह को सूना देखकर धीरे से शय्या पर से थोड़ा उठकर, निद्रा के बहाने से पड़े हुए पति के मुख को बड़ी देर तक देखकर (निर्वर्ण्य) निःशङ्कतया (कपोल प्रान्तों का) चुम्बन किया तब प्रिय के कपोलस्थल को पुलक-युक्त (पुलकित) देखकर लज्जा से नम्रमुखी उस (मुग्धा) बाला का हंसते हुए प्रियतम ने चिरकाल तक चुम्बन किया' ॥३०॥

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥३१॥

तथा—'हे सुन्दर नेत्रों वाली, तुम तो चोली के विना ही मनोहारिणी शोभा (लक्ष्मी) धारण करती हो' प्रियतम के यह कहने पर तथा उस (चोली) की गांठ (खोलने के लिये) छूने पर (तस्या वीटिका ग्रन्थि तां संस्पृशि सति) शय्या के समीप (सटकर) बैठी हुई (निविष्टा) तथा मुसकराती हुई नायिका (सखी) के नेत्रों की उत्फुल्लता (उत्सव) से आनन्दित सखियाँ झूठी बात बना बनाकर धीरे धीरे चली गई' ॥३१॥

प्रभाः—(१) शृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति है—'शृङ्गस्य आगमनं (अरम्) हेतुर्यस्य स शृङ्गारो रसः ' 'शृङ्ग' शब्द अलङ्कार शास्त्र में कामोद्रेक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः) । रतिप्रकृतिक रस ही शृङ्गार रस है। मन के अनुकूल पदार्थों में सुखानुभूति ही रति कहलाती है (रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्) । शृङ्गार के आलम्बन विभाव नायक तथा नायिका होते हैं, उद्यान, चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव होते हैं; भ्रू विक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव होते हैं तथा लज्जा, हास इत्यादि व्यभिचारी भाव होते हैं ।

(२) परस्पर अनुरागयुक्त नायक-नायिका के दर्शन स्पर्शन आदि के वर्णन द्वारा जहाँ शृङ्गार रस की अनुभूति होती है, वह संयोगशृङ्गार रस है । इस पारस्परिक प्रेम में दर्शन, स्पर्शनादि असंख्य रतिकेलियाँ होती हैं अतएव उनके विचार से सम्भोग शृङ्गार अनन्त प्रकार का हो सकता है किन्तु इन सबको एक मानकर सम्भोगशृङ्गार ही कहा जाता है ।

सम्भोगशृङ्गार दो प्रकार का है—(क) नायिकारब्ध और (ख) नायकारब्ध । (क) 'शून्यं' इत्यादि नायिकारब्ध का उदाहरण है । यह अमरुशतक का पद्य है। इसमें प्रथम काम-विकार से युक्त मुग्धा नायिका द्वारा आरब्ध सम्भोग शृङ्गार का वर्णन किया गया है; क्योंकि साहित्य शास्त्र के अनुसार पहिले नारी के अनुराग का वर्णन ही उचित है । यहाँ पर नायक आलम्बन है, शून्यगृह, नायक-निद्रादि उद्दीपन है। मुख-दर्शन-चुम्बनादि अनुभाव है । लज्जाहास-हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं । रति स्थायीभाव है और सहृदय सामाजिक नायकविषयक नायिकानिष्ठ रति के उद्रेक का आस्वादन करते हैं ।

(ख) 'त्वं मुग्धाक्षि' इत्यादि नायकारब्ध सम्भोग शृङ्गार का उदाहरण है । यह भी अमरुशतक का पद्य है । गाढ आलिङ्गन में प्रवृत्त नायक की नायिका के प्रति

अप्रस्तुत—अभिलापविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधिः।—
क्रमेणोदाहरणम्—

(१) प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तः करणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥३२॥

उक्ति है। यहाँ मुग्धाक्षी आलम्बन है। नयन-सौन्दर्य-अङ्गशोभादि उद्दीपन हैं। आभापण-ग्रन्थिस्पर्शन आदि अनुभाव हैं। उत्कण्ठादि व्यभिचारी भाव हैं। रति स्थायीभाव है और सहृदय सामाजिक नायिकाविषयक नायकनिष्ठ रति के उद्रेक का आस्वादन करते हैं।

अनुवाद—दूसरा (विप्रलम्भ शृङ्गार) तो (१) अभिलाषा, (२) विरह, (३) ईर्ष्या, (४) प्रवास, (५) शाप—इन हेतुओं से होने के कारण पाँच प्रकार का होता है। उनके क्रमशः उदाहरण हैं:—

(१) 'उस मुग्धाक्षी (मालती) की प्रेम-पगी, अविचलित अनुराग (प्रणय) से युक्त (प्रणयं स्पृशन्तीति) तथा परिचय के कारण गाढ अनुराग से भरी स्वभाव से मधुर वे नाना (ताः ताः) चेष्टाएं (हाव-भावादि) मेरे प्रति होवें, जिन (चेष्टाओं) में मनोरथ से कल्पना कर लेने मात्र से भी (बिना अनुभव किये भी) क्षण भर बाह्येन्द्रियों के व्यापार को रोकने वाली, आनन्द से सान्द्र (घनीभूत) मन की तन्मयता (लयः) हो जाती है ॥३२॥

"प्रभाः—जहाँ नायक-नायिका में गाढ-अनुराग होता है किन्तु परस्पर मिलन नहीं हो पाता वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है—'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ'। (सा० दर्पण ३–१८७) तथा सम्भोगसुखास्वादलोभेन विशेषेण प्रलम्भ्यते आत्माऽत्रेति विप्रलम्भः। (काव्यानुशासन २–३०)।

अभिलाष इत्यादि में से प्रत्येक के साथ 'हेतुक' शब्द का अन्वय होता है अतः अभिलापहेतुक इत्यादि भेद से विप्रलम्भशृङ्गार ५ प्रकार का होता है—(१) अभिलाष का अर्थ है—पूर्वराग; उन दो व्यक्तियों का पारस्परिक प्रेम जिनको मिलन का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। यदि वे दोनों दूर देश में स्थित होते हैं तो भी यह विप्रलम्भ अभिलापहेतुक ही कहा जाता है, प्रवासहेतुक नहीं। (२) विरह का अर्थ है—मिलन के पश्चात् (क) दोनों में से एक के अनुराग-शून्य होने पर अथवा (ख) अनुराग होने पर भी दैववश या गुरुजनों से लज्जा आदि के कारण समीप रहने पर भी पुनः मिलन न होने पर। (३) ईर्ष्या शब्द उपलक्षणमात्र है, इससे मानहेतुक विप्रलम्भ लक्षित होता है। सपत्नी में अनुरक्त नायक के प्रति कोप (ईर्ष्या) से या प्रणय के कारण जो मान होता है उससे होने वाला विप्रलम्भ

(२) अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥३३॥
एषा विरहोत्कण्ठिता।

ईर्ष्याहेतुक कहा गया है। (४) प्रवास का अर्थ है—दो अनुरक्त व्यक्तियों का कार्य-वश भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहना। यद्यपि यह विरह का ही एक प्रकार है तथापि विरहोत्कण्ठिता और प्रोषितपतिका नायिका के भेद से इन दोनों में भेद कर दिया गया है। (५) शाप के कारण होने वाला विप्रलम्भ शापहेतुक है।

साहित्यदर्पणकार ने विप्रलम्भ के चार भेद माने हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणविप्रलम्भ। नायक आदि के मूच्छित हो जाने की अवस्था में करुण विप्रलम्भ होता है उसका मम्मट के विरहहेतुक में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है। मम्मट के अनुसार तो शाप, ईर्ष्या, प्रवास इन तीनों से भिन्न कारणों द्वारा जो मिलन के पश्चात् वियोग होता है वह सब विरहहेतुक ही है (मि०, प्रदीप, सू० ४४)।

'प्रेमार्द्राः' इत्यादि अभिलाषहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण है। यह मालतीमाधव (पञ्चमाङ्क) नाटक का पद्य है। माधव नामक नायक मालती के प्रति स्वाभिलाप प्रकट करके मन ही मन कह रहा है। यहाँ मालती आलम्बन है। उसके विलासों का स्मरण उद्दीपन है। इच्छा अनुभाव है। अभिलाषा द्वारा व्यङ्ग्य उत्कण्ठा व्यभिचारी भाव है, रति स्थायी भाव है।

प्रेम, प्रणय तथा राग शब्दों के अर्थ में अन्तर है। यह मेरा है मैं इसका हूँ' इस प्रकार का स्नेहभाव प्रेम है। प्रेम जब परस्पर अवलोकन आदि से दृढ़ हो जाता है तथा किसी एक के अनेक अपराध करने पर भी विचलित नहीं होता है तो प्रणय कहलाता है। अधिक परिचय के कारण आनन्दित करने में समर्थ प्रणय ही राग कहलाता है (उद्योत)।

अनुवाद—(२) "वे (नायक) कहीं दूसरे स्थान पर (दूसरी नायिका के यहाँ) चले जायँ, इसकी तो बात भी नहीं। उनका कोई वैसा मित्र भी नहीं (जिसके साथ वहाँ चले जायँ)। ऐसी भी बात नहीं है कि वे मुझे न चाहते हों (यो मां नेच्छति—यहाँ काकु है—इच्छत्येव यह भाव है) फिर भी आये नहीं, ओह! यह विधाता की कैसी गति है (प्रक्रमः-प्रारम्भः) है?" इस प्रकार अनल्प कल्पनाओं से ग्रसित हृदय वाली बाला शयनगृह के भीतर (निशान्तान्तरे) करवटें बदलती हुई (वृत्तः विवर्त्तनानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः यस्याः तादृशी) रात्रि में नींद नहीं लेने पाती ॥३३॥

यह विरहोत्कण्ठिता नामक नायिका है।

(३) सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥३४॥

(४) प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः
गन्तव्ये सति जीवित, प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३५॥

प्रभा—'अन्यत्र' इत्यादि विरहहेतुक 'विप्रलम्भ' शृङ्गार का उदाहरण है। यहाँ नायक के यथा समय उपस्थित न होने पर 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका की दशा का वर्णन किया गया है। इसमें अनागतपति आलम्बन है। अनागमन आदि उद्दीपन हैं। विवर्त्तनादि अनुभाव हैं। 'ह ह ह' इत्यादि से सूचित विस्मय व्यभिचारी भाव है। विरहोत्कण्ठिता नायिका का लक्षण है—

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः ।
तदनागमनदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता मता ॥

अनुवाद—(३) 'यह (मुग्धा) नायिका अपने पति के पहले अपराध के अवसर पर सखियों के कुछ सिखाये बिना (सख्येन=सौहार्देन उपदेशः सख्योपदेशः; मित्रतापूर्वक उपदेश) हाव-भावपूर्वक (भौंह आदि) अङ्गों को वक्र करना तथा वक्रोक्तियों द्वारा (भाव) प्रकट करना नहीं जानती। बिखरे हुए चञ्चल बालों से युक्त वह नायिका कमल जैसे नेत्रों को चारों ओर घुमाती हुई निर्मल कपोलों के मूल से ढलती हुई स्वच्छ आंसुओं द्वारा केवल रुदन कर रही है ॥३४॥

प्रभा—'सा' इत्यादि ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण है। यह अमरुशतक का पद्य है। इसमें कोई सखी किसी नवोढा के दुःख का वर्णन कर रही है। यहाँ पति आलम्बन है, अपराध उद्दीपन है, रोदन आदि अनुभाव हैं, उससे व्यङ्ग्य असूया व्यभिचारी भाव हैं तथा रति स्थायी भाव है। यहाँ पर अन्य नायिका में नायक की आसक्ति होने के कारण ईर्ष्या है।

अनुवाद—(४) 'अरे जीवन (जीवित), प्रियतम द्वारा जाने का निश्चित मन बना लेने पर (निश्चितं चेतो यस्य तथाभूते सति) समस्त सुहृद् (सर्वे) साथ ही चल दिये हैं, (देख तो) हाथों के कंगनों ने प्रस्थान कर दिया है, प्रिय के मित्र आंसू निरन्तर (अजस्र) निकल रहे हैं, धैर्य से तो क्षण भर भी न ठहरा गया और चित्त ने आगे जाने की ही ठान ली (व्यवसितम् उद्युक्तम्)। हे जीवन, तेरा जाना अवश्यम्भावी ही (गन्तव्य) है; फिर तु प्रियतम के इन सुहृदयों का सङ्ग (सार्थ) क्यों छोड़ रहा है ?'॥३५॥

(५) त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥३६॥
हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम् ।
२. आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥३७॥

प्रभा—'प्रस्थानम्' आदि प्रवासहेतुक 'विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण है—(अमरुशतक) । गुरुजनों के आदेश आदि से पति के परदेश जाते समय कोई नायिका अपने प्राणों को उलाहना दे रही है । यहाँ प्रियतम आलम्बन है, उसका प्रस्थानादि उद्दीपन हैं, हाथों की कृशता आदि अनुभाव हैं और कृशता द्वारा व्यङ्ग्य चिन्ता व्यभिचारी भाव है, रति स्थायी भाव है ।

अनुवाद—(५) 'हे प्रिये' प्रेम से कुपित तुझको गेरू आदि से शिला पर चित्रित करके (आलिख्य) ज्यों ही मैं (यक्ष) अपने आपको तेरे चरणों में नत करना चाहता हूं त्यों ही बार-बार बढ़ते हुए (उपचितैः—प्रवृद्धैः) आँसूओं से मेरी दृष्टि ढक (भर) जाती है । निर्दयी विधाता आलेख्य में (तस्मिन्) भी हम दोनों का (नौ) मिलन सहन नहीं करता ॥३६॥

प्रभा—'त्वाम्' इत्यादि शापहेतुक विप्रलम्भ का उदाहरण है । मेघदूत के इस पद्य में कुबेर के शाप द्वारा विरह-संतप्त यक्षराज स्वप्रिया को लक्ष्य करके मेघ से कह रहा है । यहाँ पर नायिका आलम्बन है, उसका प्रणयकोप उद्दीपन है, चरणों में पतनादि अनुभाव हैं तथा कृतान्त के प्रति 'असूया' व्यभिचारी भाव है, रति स्थायी भाव है ।

अनुवाद—हास्य आदि (रसों) के क्रमशः उदाहरण हैं:—

२. (हास्य) 'विष्णु शर्मा 'हाय, हाय मैं मर गया' यह कहकर रोता है; 'वेद मन्त्रों से पवित्र जल के विन्दुओं द्वारा (पृषतैः) प्रत्येक अवयव में (प्रतिपदं प्रतिस्थानम्) पवित्र किये हुए मेरे सिर पर वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को मुट्ठी बांध कर (आकुञ्च्य) ऐसा प्रहार किया है जिसमें तीव्र ध्वनि थी, तथा विस्तृत थू, थू शब्द था (प्रथितो विस्तारितः 'थूत्' इति शब्दः यत्र)' ॥३७॥

प्रभा—'आकुञ्च्य' आदि हास्यरस का उदाहरण है । हास्यरस हासप्रकृतिक होता है । हास्य-रस का स्थायी भाव 'हास' है । का हास अभिप्राय है—वाणी-वेश आदि की विकृतियों के द्वारा चित्त का विकास । जैसा कि कहा भी है—

वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते (साहित्यदर्पण ३.१७६)

३. हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधाः कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥३८॥

विकृत आकार तथा चेष्टादि वाला व्यक्ति हास्य रस का आलम्बन होता है, उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन होती है; नेत्र-सङ्कोच, मुस्कराना आदि अनुभाव होते हैं तथा निद्रा आलस्य आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।

प्रस्तुत उदाहरण में विष्णु शर्मा आलम्बन है, उसका रोदन उद्दीपन है, देखने-सुनने वालों का मुस्कराना या हंसना आदि अनुभाव है द्रष्टा की चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ पर सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासनारूप में विद्यमान 'हास' नामक स्थायीभाव विभावादि द्वारा व्यक्त होकर हास्य रस का आस्वादन कराता है।

अनुवाद—३. (करुण) "हा मातः, तुम शीघ्रता से कहाँ चली ? यह क्या ? हाय देवों, (धिक्कार तुम्हारी पूजा), (साधु ब्राह्मणों के) आशीर्वाद कहाँ हैं ? प्राणों को धिक्कार है। हाय ! तुम्हारे अङ्गों पर वज्र-तुल्य अग्नि (हुतवहः) गिर गई, नेत्र जल गये (आ अशुभ दर्शन से हमारे नेत्र जल गये)"—नगर की नारियों की इस प्रकार घरघराती हुई, मध्य में रुद्ध हुई करुण वाणियाँ (गिरः) चित्र लिखित व्यक्तियों को रुला देती है, भित्तियों को भी शतधा (विदीर्ण) कर रही हैं ॥३८॥

प्रभा—'हा मातः !' इत्यादि करुण रस का उदाहरण है। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। प्रिय वस्तु के नष्ट हो जाने से जो चित्त की व्याकुलता होती है, वही शोक कहलाता है—'इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्' (सा० द० ३.१७७) जिसके लिए शोक किया जाता है (शोच्य) वही आलम्बन होता है। उसकी दाह आदि अवस्था उद्दीपन है, दैवनिन्दा, क्रन्दन आदि अनुभाव हैं तथा मोह, व्याधि ग्लानि-विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं। प्रस्तुत उदाहरण में मृतक रानी आलम्बन है उसका दाह आदि उद्दीपन है, रुदन अनुभाव है; दैन्य ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ पर सहृदय सामाजिक में शोकप्रकृतिक करुण रस अभिव्यक्त होता है।

टिप्पणी—(१) करुण रस और विप्रलम्भ (शृङ्गार) में भेद है। क्योंकि दोनों के स्थायीभाव भिन्न २ (शोक-रति) हैं तथा विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है—

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः ॥ (सा० द० ३.२२६)

यह कहा जा सकता है कि वियोग दो प्रकार का होता है—१. अस्थायी और २. स्थायी। दो प्रेमियों का जो अस्थायी वियोग होता है वह विप्रलम्भ के

४. कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥३६॥

अन्तर्गत आता है। दोनों में से एक की मृत्यु हो जाने पर जो स्थायी वियोग होता है वह करुण के अन्तर्गत आता है। उसमें मिलन की आशा ही नहीं रहती।

संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे भी सन्दर्भ हैं जिनमें एक प्रेमी के परलोक चले जाने पर भी मिलन की आशा बनी रहती है, जैसे कादम्बरी के पुण्डरीक और महाश्वेता के वृत्तान्त में। विश्वनाथ ने ऐसे स्थलों पर करुणविप्रलम्भ नामक विप्रलम्भ शृङ्गार का भेद माना है (सा० द० ३.२०६)। वस्तुतः यहाँ आकाश वाणी से पूर्व करुण है, आकाश वाणी के पश्चात् मिलन की आशा होने पर रति भाव का उद्भव होने से विप्रलम्भ शृङ्गार होता है। फिर भी यह सन्दर्भ अवश्य ही दो जीवित प्रेमियों के वियोग से भिन्न है। अतः कहना न होगा कि एक के परलोक चले जाने पर भी उसी शरीर से पुनः मिलन की आशा होने पर करुणविप्रलम्भ होता है। यदि फिर मिलन की आशा न हो या अन्य शरीर में मिलन की आशा हो तो करुण रस ही होता है।

इसी प्रकार जहाँ वस्तुतः एक की मृत्यु न हुई हो किन्तु उसकी मृत्यु समझ ली जाये और मिलन की आशा ही समाप्त हो जाये, जैसे उत्तररामचरित के राम और सीता के वृत्तान्त में; वहाँ करुण रस ही होगा। फलतः उसी जन्म में पुनः मिलन की आशा का होना या न होना विप्रलम्भ और करुण का मुख्य भेदक तत्त्व है। मिलन की आशा से ही रति भाव का उद्भव होता है; वही विप्रलम्भ का स्थायी भाव है।

(ii) महाकवि भवभूति के मतानुसार करुणरस ही एक मात्ररस है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्, भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ॥

अनुवाद—४. (रौद्र) 'जिन मर्यादाहीन, नरपशु आप लोगों ने हथियार उठाकर यह (गुरु द्रोण का वधरूप) महापातक किया है, करने की सम्मति दी है, अथवा देखा है। यह मैं (अश्वत्थामा) नरकासुर-शत्रु अर्थात् कृष्ण सहित उन सभी भीम, अर्जुन (किरीट) आदि आप लोगों के रक्त (असृक्) चर्बी तथा मांस से दिशाओं को बलि प्रदान करता हूं ॥१६॥

प्रभा—'कृतम्' इत्यादि रौद्र रस का उदाहरण है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। विरोधियों के प्रति जो हृदय में तीक्ष्णता या प्रतिरोध की भावना है वही क्रोध कहलाता है—'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते' (सा० द० १७७)

५. क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥४०॥

इसका आलम्बन शत्रु होता है। शत्रु की चेष्टाएँ उद्दीपन होती हैं तथा भयङ्कर 'मारकाट' संग्राम के वातावरण में इसकी विशेषरूप से उद्दीप्ति होती है। भुजाएँ ठोकना, शस्त्रोत्क्षेपण, उग्रता, कम्प, मद, रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव हैं। मोह, अमर्ष आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

प्रस्तुत उदाहरण वेणीसंहार का एक पद्य है। यह गुरु द्रोण के वध के पश्चात् अर्जुन आदि के प्रति अश्वत्थामा की उक्ति है। यहाँ पर अर्जुनादि आलम्बन हैं। पिता की हत्या, शस्त्रधारण आदि उद्दीपन हैं, प्रतिज्ञा अनुभाव है। प्रतीयमान गर्व ही व्यभिचारी भाव है। सहृदय सामाजिक में क्रोधप्रकृतिक रौद्र रस अभिव्यक्त होता है।

अनुवाद—५· (वीर) 'हे क्षुद्र वानरों (हरयः), तुम भय को छोड़ दो, क्योंकि इन्द्र के हाथी (ऐरावत) के गण्डस्थल को चूर्णित (क्षुण्ण) करने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीरों पर गिरते हुए केवल (परम्) लज्जा धारण करते हैं। हे सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण, ठहरो, तुम मेरे क्रोध (रुषां) के पात्र नहीं हो, प्रसिद्ध ही है (ननु) कि मैं तो मेघनाद हूं। मैं तो उस राम को खोजता हूँ, जिसने अपनी भौंहों की थोड़ी सी वक्रता मात्र से जलनिधि को वश में (नियमितः=वशीकृतः) कर लिया था' ॥४०॥

प्रभा—'क्षुद्राः' इत्यादि वीर रस का उदाहरण है वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। कार्य करने में (आनन्दपूर्ण) स्थिर उद्योग का नाम उत्साह है—'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।' विजेतव्य आदि ही वीर रस का आलम्बन विभाव होता है, उसकी चेष्टाएं आदि उद्दीपन हैं युद्धादि की सामग्री अथवा अन्य सहायकों का अन्वेषण आदि अनुभाव हैं, धैर्य, मति, गर्व आदि व्यभिचारी भाव हैं।

प्रस्तुत उदाहरण हनुमन्नाटक से उद्धृत किया गया है। यह मेघनाद की वानरों आदि के प्रति उक्ति है यहाँ पर राम आलम्बन है, राम का समुद्र बाँधना उद्दीपन है, क्षुद्रों के प्रति उपेक्षाभाव तथा राम के प्रति स्पर्धा अनुभाव हैं। ऐरावत के मस्तक-भञ्जन की स्मृति तथा 'लज्जा दधति' से प्रतीयमान गर्व व्यभिचारी भाव हैं। सहृदय सामाजिक में उत्साहप्रकृतिक वीर रस की अभिव्यक्ति होती है।

टिप्पणी—(i) वीर रस के अनेक भेद किये गये हैं। दशरूपककार ने युद्ध-वीर दानवीर तथा दयावीर तीन भेद किये हैं। साहित्यदर्पणकार ने 'धर्मवीर' सहित चार भेद किये हैं। ऊपर का उदारण युद्धवीर का है। दानवीर बलि आदि, दयावीर जीमूतवाहन आदि तथा धर्मवीर युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों का

६. ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥४१॥
७. उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।

विचार है कि वीर रस युद्धवीर मे ही हैं, दान आदि का उत्साह तो भाव के अन्तर्गत आता है।

(ii) रौद्र तथा वीर रस का भेद स्पष्ट ही है। प्रथम तो दोनों के स्थायी भाव (क्रोध, उत्साह) ही भिन्न २ हैं, द्वितीय रौद्र रस में विवेक का अभाव रहता है, क्रोध, में विवेक कहां ? किन्तु वीर रस में विवेक स्पष्ट रूप में विद्यमान रहता है। 'रौद्र रस' मे मुख और नेत्रों की लालिमा का वर्णन होता है उसमें मोह और विस्मय होता है।

अनुवाद—६. (भयानक) 'हे सारथि, देखो अपने पीछे चलते हुए रथ पर बार-बार ग्रीवा घुमाकर सुन्दर दृष्टि डालता हुआ, बाण लगने के भय से अपने शरीर के पिछले भाग से अगले भाग में सिमटता हुआ, परिश्रम के कारण खुले हुए मुख से गिरती हुई अर्धचर्वित दर्भों को मार्ग में बिखेरता हुआ, यह (मृग) ऊँची छलांग मारने के कारण अधिकांश आकाश में ही (चल रहा है) भूमि पर तो थोड़ा सा चलता है ॥४१॥

प्रभा—'ग्रीवा' इत्यादि भयानक रस का उदाहरण है। भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' है। किसी भीषण वस्तु के कारण चित्त में जो विकलता हो जाती है वही चित्तवृत्ति भय कहलाती है—'रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्।' (सा० द० ३-१७८) जिससे भय उत्पन्न होता है वही इसका आलम्बन है; भीषण वस्तु की चेष्टाएं ही उद्दीपन हैं, वैवर्ण्य, गद्गद्स्वर स्वेद, रोमाञ्च, पलायन आदि अनुभाव हैं तथा शङ्का, संभ्रम, मरण आदि व्यभिचारी भाव हैं।

प्रस्तुत उदाहरण शकुन्तला नाटक मे उद्धृत किया गया है। यह राजा दुष्यन्त की सारथि के प्रति उक्ति है। इसमें मृग के भय का वर्णन किया गया है। यहां पीछे चलने वाला रथ या राजा आलम्बन है, शरपतन, उद्दीपन है ग्रीवाभङ्गादि अनुभाव हैं, श्रम आदि व्यभिचारी भाव हैं : सहृदय सामाजिक में भयप्रकृतिक भयानक रस की अभिव्यक्ति होती है।

अनुवाद:—७.—(बीभत्स) 'क्षुधा से पीड़ित (आर्त्त) सभी ओर ताकता हुआ, दांत निकाले हुये यह दरिद्र प्रेत (प्रेतेषु रङ्कः) पहले चर्म को (कृत्ति) उधेड़ उधेड़ कर तब (अथ) कन्धे (अंस) उत्मूल (स्फिक्) तथा जङ्घा के ऊपरी भाग (पृष्ठपिण्डी) आदि [illegible] के कारण पुष्कल (पृथुना महता उत्सेधेन उच्छ्रिततया भूयांसि) तीव्र दुर्गन्ध [illegible] मांस को खाकर (जग्ध्वा) अपनी गोद में

आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का—
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥४२॥
८. चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥४३॥

पड़े ग्रस्थि पञ्जर (करङ्क) में से ग्रस्थियों के ऊँचे नीचे भागों में (स्थपुटं) निम्नो-न्नतभागः) स्थित कच्चे मांस को (क्रव्यम्) धीरे २ (अव्यग्रम्-शनैर्यथा भवति तथा) खा रहा है' ॥४२॥

प्रभा—'उत्कृत्य' इत्यादि 'बीभत्स' रस का उदाहरण है। बीभत्स रस का स्थायीभाव जुगुप्सा है। किसी घृणास्पद वस्तु के दोषदर्शन से उत्पन्न होने वाला घृणा-भाव ही जुगुप्सा कहलाता है—'दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा' (सा० दर्पण ३·१७६)। दुर्गन्ध, मांस, रुधिर इत्यादि इसके आलम्बन हैं। उनमें कीड़े पड़ना आदि उद्दीपन हैं, थूकना, मुँह फेरना इत्यादि अनुभाव हैं तथा मोह, व्याधि, मरण आदि व्यभिचारी भाव है।

मालती-माधव के प्रस्तुत उदाहरण में माधव श्मशान में शवभोजी प्रेत को देखकर कह रहा है। यहाँ शव या प्रेतरङ्क ही आलम्बन हैं, शव को काटना मांस खाना आदि उद्दीपन हैं, दर्शक के थूकना, नाक सिकोड़ना इत्यादि अनुभाव हैं तथा उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। सहृदय सामाजिक मे जुगुप्साप्रकृतिक बीभत्स रस की अभिव्यक्ति होती है।

टिप्पणी—यद्यपि हास्य तथा बीभत्स रस-वर्णना में लौकिक हास एवं जुगुप्सा भाव के 'आश्रय' रूप किसी व्यक्ति का स्पष्ट वर्णन नहीं होता तथापि उस दृश्य को देखने वाले किसी व्यक्ति का अनुमान कर लिया जाता है अथवा उसके आक्षेप के बिना ही सामाजिक को रस-चर्वणा हो जाती है। इसका विषद-विवेचन रसगङ्गाधर में किया गया है।

अनुवाद—८. (अद्भुत) 'अहो (बत, हर्ष सूचक), यह महान् अवतार तो अद्भुत (चित्रं) है। यह कान्ति और कहाँ है? (लोकोत्तर है)। इसकी भङ्गिमा (गमन-उपवेशनादि) विलक्षण या अपूर्व ही है! धैर्य अलौकिक है। अहो! इसका प्रभाव, यह आकृति कोई विलक्षण ही है (काऽपि)! यह नवीन सृष्टि (सर्ग) है॥४३॥

प्रभा—'चित्रम्' इत्यादि अद्भुत रस का उदाहरण है। अद्भुत रस का स्थायीभाव 'विस्मय' है। विलक्षण वस्तुओं के दर्शन श्रवण आदि से जो चित्त का एक विकास सा होता है वही विस्मय कहलाता है—विविधेषु पदार्थेषु लोकसी-मातिवर्तिषु। विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः', (सा० द० ३·१८०)। इसका आलम्बन विलक्षण वस्तु है, उस वस्तु का गुण-वर्णन ही उद्दीपन है; स्वेद रोमाञ्च, नेत्र- विकास आदि अनुभाव हैं, वितर्क, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं।

नाट्य में सञ्चारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। ये भाव किसी स्थायी भाव में विचित्रता उत्पन्न करके चले जाते हैं, किसी रस के आस्वादन पर्यन्त नियत रूप से नहीं रहते। किसी रस के साथ इनका नियत सम्बन्ध भी नहीं होता। इनमें से कोई एक भी कई रसों का उपकारक हो सकता है। अतः अनियत होने के कारण भी ये व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इनकी संख्या ३३ है।

साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में इनके विशेष लक्षण और यथासम्भव उदाहरणादि दिखलाये गये हैं संक्षेप में इनके स्वरूप इस प्रकार हैं:—(१) निर्वेद—तत्त्वज्ञान या ईर्ष्यादि से अपने सम्बन्ध में तुच्छता का भाव। (२) ग्लानि—मनस्ताप आदि से उत्पन्न निरुत्साह। (३) शङ्का—दूसरे की क्रूरता आदि से अनर्थ-चिन्तन, (४) असूया—परगुणासहिष्णुता (५) मद—समोह तथा आनन्द का मिश्रण, (६) श्रम—यात्रा आदि से उत्पन्न ग्लानि का कारणरूप चित्तवृत्तिविशेष, (७) आलस्य—उद्योग में अरुचि, (८) दैन्य—दुर्गति आदि के कारण मन की ओजस्विता का नाश, (९) चिन्ता—हित की अप्राप्ति से होने वाला भाव, (१०) मोह—दुःखादि-चिन्तन से चित्त की शून्यता, (११) स्मृति—पूर्वानुभूत वस्तु-विषयक ज्ञान, (१२) धृति—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में इच्छा-निवृत्ति, (१३) व्रीडा—चित्त का सङ्कोच, (१४) चपलता—द्वेषादि के कारण चित्त की अस्थिरता, (१५) हर्ष—इष्ट-प्राप्ति आदि से मन की प्रसन्नता, (१६) आवेग—अनर्थ की अधिकता से मन की घबराहट, (१७) जाड्य—चिन्तादि के कारण कार्य में पटुता का अभाव, (१८) गर्व—धनादि के कारण होने वाला मद, (१९) विषाद—प्रारम्भ किये कार्य में असफलता के कारण उत्साहनाश, (२०) औत्सुक्य—वाञ्छित प्राप्ति में विलम्ब न सह सकना, (२१) निद्रा—श्रमादिवश इन्द्रियों की व्यापार-शून्यता, (२२) अपस्मार—अत्यन्त दुःख के कारण स्मृतिनाश, (२३) सुप्त—निद्रावस्था में विषय का अनुभव न होना, (२४) प्रबोध—निद्रा के पश्चात् चैतन्य प्राप्ति, (२५) अमर्ष—स्थिरतर कोप, (२६) अवहित्था—लज्जादि के कारण हर्ष आदि का गोपन, (२७) उग्रता—अपमान आदि के कारण चित्त की प्रचण्डता, (२८) मति—शास्त्रोपदेश आदि से अर्थ का निश्चय, (२९) व्याधि—विरहादिवश मनःसंताप, (३०) उन्माद—सन्निपात आदि से चित्त-विभ्रम, (३१) मरण—मूर्च्छा अथवा प्राणों का निष्क्रमण, (३२) त्रास—मनःक्षोभ, (३३) वितर्क—सन्देह में पड़कर विचार करना।

इन ३३ में से कौनसे किस रस के सञ्चारी होते हैं; इसका भी व्याख्याकारों ने परिगणन किया है (द्र० उद्योत) इनके अतिरिक्त स्थायी भाव भी कभी-कभी व्यभिचारी भाव हो जाया करते हैं जैसे—हास शृङ्गार और वीर में, रति हास्य करुण और शान्त में, क्रोध और वीर में, भय करुण और शृङ्गार में, जुगुप्सा भयानक और शान्त में, विस्मय प्रायः सभी रसों में तथा उत्साह रौद्र एवं हास्य में व्यभिचारी होता है (उद्योत)।

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थं तेन—

(४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥४४॥

अनुवाद—निर्वेद (स्वावमाननारूप या विषय-वैराग्यरूप होने से), प्रायः अमङ्गल रूप है, अतएव वह प्रारम्भ में ग्रहण करने योग्य (उपादेय) नहीं तथापि 'व्यभिचारीभाव होकर भी यह स्थायी भाव है' यह बतलाने के लिये उसका प्रथम ग्रहण किया गया है। [स्थायी तथा व्यभिचारी भावों के मध्य में पाठ होने के कारण वह उभयरूप है यह अभिप्राय है] इससे

(शृङ्गार आदि के अतिरिक्त) जिसका निर्वेद स्थायीभाव है वह 'शान्त' रस भी नवम रस है। (४७) जैसे—

'सर्प या हार में, फूलों की सेज या पाषाण में, मणि या मिट्टी के ढेले में बलवान् शत्रु या मित्र में, तिनके या स्त्रीसमूह (स्त्रैणम्) में—समान भाव (दृष्टि) रखते हुए किसी (अपवित्र) स्थान पर अथवा पवित्र वन में 'शिव शिव शिव' यह बोलते हुये (जीवन्मुक्त हो जाने से शिव शिव बोलना भी अनर्थक है, अतः 'प्रलपतः—अनर्थकं वदतः' का प्रयोग किया गया है) मेरे दिन व्यतीत होते हैं' ॥४४॥

प्रभा—(१) भरतसूत्रों में स्थायीभाव निरूपण के पश्चात् 'निर्वेद' इत्यादि व्यभिचारी भावों का निरूपण किया गया है। व्यभिचारी भावों में सर्वप्रथम 'निर्वेद' का उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि आचार्य भरत इसे स्थायी भावों में भी गिनना चाहते हैं; अन्यथा 'निर्वेद' को सर्वप्रथम क्यों रखते; क्योंकि 'अपने आपको तुच्छ समझना' या 'विषयों से वैराग्य भाव' ही 'निर्वेद है और यह संसारी जीवों के लिए तो अमङ्गल रूप ही है। 'अमङ्गलप्रायः' में 'प्रायः' शब्द का प्रयोग इस हेतु किया गया है, क्योंकि ईर्ष्यादि से उत्पन्न निर्वेद को अमङ्गल नहीं माना जाता।

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। इसे 'शम' भी कहते हैं। शम या निर्वेद का अभिप्राय है—'वैराग्यदशा मे आत्म-रति से होने वाला आनन्द—'शमो निरीहावस्थायामात्मविश्रामजं सुखम् (सा० द० ३.१८०)। मिथ्यात्व रूप से भाव्यमान जगत् ही शान्त रस का आलम्बन है, पवित्र आश्रम, तीर्थ, महापुरुष-सङ्ग आदि इसके उद्दीपन हैं, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं तथा स्मृति मति जीवदया आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

(२) 'अहौ' इत्यादि कश्मीरदेशस्य श्रीमदुत्पलराज का पद्य है। यह भर्तृहरि के वैराग्य शतक में भी विद्यमान है। वैराग्यशतक आदि में अन्य कवियों के पद्य

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥४६॥
एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

अञ्जितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।

प्रभा—'कण्ठ' इत्यादि देवविषयक रति का उदाहरण है। यह काश्मीरिक कवि श्रीमदुत्पलाचार्य-प्रणीत परमेश्वरस्तोत्रावलि से उद्धृत किया गया है। यहाँ पर महादेव आलम्बन है, 'ईश' पद प्रतिपाद्य ऐश्वर्य उद्दीपन है, स्तव अनुभाव है, धृति, स्मरण आदि व्यभिचारी भाव हैं तथा शिव विषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति होती है और सहृदय सामाजिक भाव-मग्न हो जाते हैं। यह 'रसध्वनि' नहीं मानी जाती; क्योंकि कान्ताविषयक रति से सहृदयों को जिस उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है उसकी देवादिविषयक रति से नहीं हुआ करती।

कान्ताविषयक अपुष्टा रति अथवा उद्बुद्धमात्र रति का उदाहरण कुमार-संभव का यह पद्य है:—

हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

अनुवाद—(मुनि विषयक रति भाव) 'हे मुने' आपका दर्शन शरीरधारियों की (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) तीनों कालों में योग्यता को व्यक्त करता है। (यह दर्शन) वर्तमान काल में पाप (अघं) को हर लेता है, आने वाले (एष्यतः) कल्याण का हेतु है, पहले (जन्म में) किये हुये शुभ कार्यों से (प्राप्त) हुआ है ॥४६॥

इस प्रकार अन्य (गुरु, विषयक रति आदि के) उदाहरण भी देख लेना चाहिये।

प्रभा—'हरित' इत्यादि मुनिविषयक रति का उदाहरण है। यह माघकाव्य के प्रथम सर्ग में नारद मुनि के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति है। श्रीकृष्ण के रति भाव का आलम्बन नारद मुनि हैं, दर्शनयोग्यता प्रकट करना उद्दीपन है। श्रीकृष्ण की यह उक्ति ही अनुभाव है और इसके द्वारा व्यङ्ग्य 'हर्ष' ही व्यभिचारी भाव है। श्रीकृष्ण मुनिविषयक रति-भाव जानने वाले सामाजिक के हृदय में भाव-निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार गुरुविषयक रति आदि के विषय में भी समझना चाहिए।

अनुवाद—(विभावादि के द्वारा) मुख्य रूप से अञ्जित व्यभिचारी का उदाहरण, जैसे 'हे भ्रातः, आज मैंने स्वप्न में अपनी प्रिया को कोप के कारण मुँह फेरे हुए देखा। 'मुझे हाथ से मत छुओ' ऐसा कहकर वह रोती हुई यह आगे (पुरः)

नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥४७॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

(४८)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

चलने लगी । जब तक रूठी हुई प्रिया का आलिंगन करके सैकड़ों मीठे वचनों (चाटु-मनौती) से मैं उसको मना भी न पाया था कि तब तक दुष्ट विधाता ने मुझे निद्रारहित कर दिया । मुझे ऐसा निश्चय है (जाने निश्चिनोमि) ॥४७॥

इस उदाहरण में विधाता के प्रति 'असूया' (अभिव्यक्त हो रही है) ।

प्रभा—'जाने' इत्यादि प्रधान रूप से वर्णित व्यभिचारी भाव का उदाहरण है । यह किसी कान्ता-वियुक्त की अपने मित्र के प्रति उक्ति है । यहाँ पर शठता के वर्णन रूप अनुभाव द्वारा नायक की विधाता के प्रति असूया प्रधानरूप से प्रतीत हो रही है । 'जाने', 'शठ' इत्यादि शब्दों से अपकारिता का निर्णय हो जाने के कारण 'असूया' का प्रकर्ष व्यक्त होता है । यहाँ विधि आलम्बन है, विधाता की दुर्जनता उद्दीपन है, उसे शठ कहना अनुभाव है । प्रधान रूप से व्यक्त किया हुआ 'असूया' नामक व्यभिचारी ही यहाँ 'भाव' पद वाच्य है । अतः यहाँ पर 'भाव ध्वनि' है ।

अनुवाद—अनुचित रूप में प्रवृत्त होने वाले रस तथा भाव ही रसाभास एवं भावाभास कहलाते हैं ।

[कारिका में] तदाभास का अभिप्राय है—रसाभास तथा भावाभास ।

प्रभा—भरतमुनिप्रभृति काव्य-नाट्य कोविदों ने रस तथा भाव आदि की अभिव्यञ्जना के हेतु कुछ नियम निर्धारित किये हैं । वे नियम शास्त्र-मर्यादा या लोक-मर्यादा को ध्यान में रखकर निश्चित किये गये हैं । इसी से मुनिपत्नीविषयक रति आदि का वर्णन प्रतिषिद्ध या वर्जित माना गया है । इसी प्रकार अन्य रसों में भी कुछ वर्णन प्रतिषिद्ध माने जाते हैं । यहाँ पर शास्त्र तथा लोक का उल्लंघन करने वाले प्रतिषिद्धविषयक वर्णन ही अनुचित रूप में प्रवृत्त होने वाले कहे गये हैं । जो रस या भाव अनुचित रूप में प्रवृत्त होते हैं, वे ही रसाभास या भावाभास कहलाते हैं । इस अनौचित्य का निश्चय सहृदयों के द्वारा ही किया जाता है । जहाँ सहृदयजनों के मतानुसार रसादि की अनुचित प्रवृत्ति है वहीं रसाभास आदि हो जाते हैं । जैसे—शृङ्गार में उपनायकादि विषयक रति-वर्णन रसाभास ही कहा जाता है । इसी प्रकार गुरु आदि को आलम्बन मानकर 'हास' या क्रोध का वर्णन हास्याभास या रौद्राभास होता है । ब्राह्मणवध आदि के प्रति उत्साह अथवा नीचपात्र-

तत्र रसाभासो यथा—

> स्तुमः कं वामाक्षि, क्षणमपि विना यं न रमसे
> विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे।
> सुलग्ने को जातः शशिमुखि, यमालिङ्गसि बलात्
> तपः श्रीः कस्यैषा मदननगरि, ध्यायसि तु यम् ॥४८॥

स्थ उत्साह वीर रस में, उत्तमपात्र गत भय का वर्णन भयानक में तथा नीच पात्र में शम का वर्णन शान्त में रसाभास होता है (सा० द० ३·२६२–२६५)।

टिप्पणी:—(i) वास्तव में भारतीय साहित्य के आदर्शवादी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ही रसाभास आदि की विवेचना की गई है। यहाँ 'काव्य काव्य के लिये' (Poetry for the sake of Poetry) को सिद्धान्त नहीं माना गया अपि तु 'काव्य जीवन के लिए है' (Poetry for the sake of life) अथवा काव्य जीवन के उत्कर्ष के लिए है' यह पुरुषार्थ-चतुष्टय का साधन है—यह सिद्धान्त माना गया है। इसी हेतु लोक तथा शास्त्र का अतिक्रमण करके प्रवृत्त होने वाले रसादि को अनौचित्य-प्रवृत्त कहा गया है तथा उन्हें 'रसाभास' आदि नाम दिया गया है।

(ii) कुछ साहित्याचार्यों के अनुसार पशु-पक्षिगत रत्यादि का वर्णन आभास-रूप ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-प्रकाशकार के अनुसार पशु-पक्षिगत रत्यादि वर्णन में भी रस-चर्वणा होती है, क्योंकि काव्य-प्रकाश वृत्ति में 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादि मृगविषयक भयानक रस का उदाहरण (४१) दिया गया है, तथा 'मित्र क्वापि गते' इत्यादि (३४४) में विप्रलम्भ शृङ्गार में भी तिर्यग्विषयक रति का उदाहरण दिया गया है।

(iii) रसास्वादन के पश्चात् ही रस के अनौचित्य का बोध होता है तथा तभी यह प्रतीति होती है कि यह रसाभास है अतएव यहाँ इस प्रकार रसभङ्ग नहीं हो जाता जिस प्रकार वाच्य-वाचक के अनौचित्य से हो जाता है। इसी से रस-दोषों में इसकी गणना नहीं होती।

अनुवाद—उन (रसाभास तथा भावाभास) में रसाभास (यह) है, जैसे—

'हे सुन्दर नेत्रों वाली, हम (उस) किस (भाग्यशाली) की प्रशंसा करें ? जिसके बिना तुम क्षण भर को भी प्रसन्न नहीं रहतीं। जिसे तुम खोजती हो, वह ऐसा कौन है जिसने संग्रामरूपी यज्ञ (मख) के सम्मुख (पूर्वजन्म में) प्राण समर्पित किये हैं (विलेभे=दत्तवान्) (तभी तो वह तुम्हारे द्वारा अन्वेषणरूपी स्वर्ग का अधिकारी हुआ, यह भाव है)। अरी चन्द्रमुखी, जिसे तुम बलात् आलिङ्गन करती हो वह सुमुहूर्त में उत्पन्न हुआ कौन (युवक) है ? अरी कामदेव की नगरी, जिसका तू ध्यान करती है, उस किसकी यह तपस्या से अर्जित सम्पत्ति (तपः श्री तपोजन्या सम्पत्तिः है' ॥४८॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः 'स्तुम' इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४६॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

यहाँ पर उस (सुन्दरी) के 'स्तुम.' इत्यादि से सम्बद्ध (अनुगत) (रमण—अन्वेषण आदि) बहुकामुकविषयक (बहुषु ये व्यापाराः) व्यापारों का ग्रहण (उपादान) उसकी अनेक कामुकविषयक अभिलाषा को व्यक्त करता है [अत्र तस्याः 'स्तुमः' इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादान (तस्या) अनेककामुकविषयमभिलाषं व्यनक्ति—यह अन्वय है]

प्रभा—स्तुमः इत्यादि किसी कामुक की वेश्या या परकीया के प्रति उक्ति है। इसमें नायिका के बहुकामुकविषयक रमण, अन्वेषण आदि व्यापारो का वर्णन किया गया है अतएव नायिका की अनेक कामुकविषयक अभिलाषा प्रकट होती है और यहा बहुनायक विषयक रति का वर्णन है । इसी से यह रत्याभास है ।

टिप्पणी—रत्याभास का परिगणन करते हुए साहित्यदर्पणकार ने निम्न उल्लेख किया है—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च । बहुनायकविषयायां तथानुभयनिष्ठायाम् ॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते । शृङ्गारेऽनौचित्यम्–[सा० द० ३·२६३]

अनुवाद—भावाभास (यहाँ है), जैसे—

'वह (सीता) तो ऐसी है, जिसका मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान है, जिसके नेत्र चञ्चल तथा दीर्घ हैं, जिसके अङ्गों में अभिनव यौवन (स्मेरम् ईषत्प्रकाशं नूतनम्) से विविध विलास (विभ्रम) तरंगित हो रहे हैं [स्मेरयौवनेन तरङ्गिताः विभ्रमाः येषु तथाभूतानि अङ्गानि यस्याः तादृशी] । तो मैं क्या करूं ? इस (सीता) में मित्रता किस प्रकार करूं ? उसकी (यह मेरा है इस प्रकार की) स्वीकृति के सम्बन्ध में (व्यतिकरे) कौनसा उपाय है ? अर्थात् कोई नहीं' ॥४६॥

यहाँ पर अनुचित रूप से प्रवृत्त होने वाला 'चिन्ता' नामक भाव है । इस प्रकार अन्यों (रसाभास तथा भावाभास) के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

प्रभा—'राका' इत्यादि भावाभास का उदाहरण है । यह सीता के प्रति रावण की उक्ति है । यहाँ 'चिन्ता' रूप व्यभिचारी भाव की प्रधानता है किन्तु यह चिन्ता अनुचित रूप से प्रवृत्त होने वाली है । इसके अनौचित्य के विषय में व्याख्याकारों के विभिन्न मत हैं । कुछ व्याख्याकारों का कथन है—'साहित्यशास्त्र की दृष्टि से औचित्य यह है कि पहले स्त्री के राग का वर्णन किया जाय तब पुरुष के राग

(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥३६॥

क्रमेणोदाहरणम्—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेपमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणाऽऽनतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमाष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥५०॥

अत्र कोपस्य ।

का; किन्तु यहाँ पर अनुरागरहित सीता में रावण के अनुराग का वर्णन किया गया है अतः यहाँ पर रतिभाव अनौचित्य-प्रवृत्त है और उसका व्यभिचारी भाव जो 'चिन्ता' है वह भी अनौचित्य प्रवृत्त है।' उद्योतकार के मतानुसार तो 'मैत्री क्वं विदधे' इस कथन से मैत्री का अभाव सिद्ध ही है अतः अननुरक्त सीता के प्रति यहाँ रतिभाव प्रकट किया गया है जो उभयनिष्ठ न होने के कारण अनुचित है तथा तद्विषयक 'चिन्ता' अनौचित्य-प्रवृत्त ही है।

अनुवाद—भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता (ये भावशान्त्यादि हैं) इनके क्रमशः उदाहरण आगे दिये जाते हैं—

प्रभा—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में (रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः) भावशान्ति आदि का उल्लेख किया गया है। ये भावशान्ति आदि चार हैं जो ऊपर की कारिका में बतलाये गये हैं व्यभिचारी भावों की चार दशाओं के कारण ही ये चतुर्विध माने गये हैं—उत्पत्तिसन्धिशबलत्वशान्तयो व्यभिचारिणाम्। दशाश्चतस्र एव स्युः।

अनुवाद——(भावशान्ति) उस (सपत्नी) के घने (सान्द्र) (चन्दन आदि) अनुलेपन वाले स्तनप्रदेश के गाढालिङ्गन (प्रश्लेष) के चिह्नों से युक्त अपने वक्षस्थल को मेरे चरणों पर प्रणाम करने के बहाने से *(चरणयोः आनतेः व्यतिकरः सम्बन्धः तद्व्याजेन)* क्यों छिपाते हो ? नायिका के यह कहने पर (इत्युक्ते) मैंने "वह (मुद्रा चिह्न) कहाँ है ?' यह कहकर (उदीर्य) सहसा उस चिह्न को मिटाने के लिये वेग से (रभसेन) उसका आलिङ्गन किया और उस कृशाङ्गी ने उस आलिङ्गन के सुख से उसको भुला दिया" ॥५०॥

यहाँ पर कोप (व्यभिचारी भाव) की शान्ति है।

प्रभा—'तस्याः' इत्यादि भाव शान्ति का उदाहरण है। यह अमरुशतक का पद्य है। कोई धृष्ट नायक अपनी खण्डिता नायिका के कोप तथा कोपशान्ति का वर्णन कर रहा है। यहाँ पर सामाजिक को जो रसास्वाद होता है उसमें कोपरूप भाव की शान्ति ही विशेष रूप से चमत्कारपूर्ण है।

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥५१॥

अत्रौत्सुक्यस्य ।

उत्सिक्तस्य तपः पराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्धयन्यतः ॥५२॥

अत्रावेगहर्षयोः ।

अनुवाद—(भावोदय) एक ही शय्या पर (पड़े हुये नायक के द्वारा) सपत्नी का नाम ग्रहण किये जाने पर 'मुग्धा (नायिका) तत्काल ही मानग्रहण से खिन्न हो गई तथा उसने चाटु वचन कहते हुए प्रियतम का भी क्रोधावेश (आवेगात्) 'यह सोया सा न हो जाय' इस प्रकार (उत्सुकता से) गर्दन को बहुत तिरछा करके (अमन्द वलिता वक्रिकृता ग्रीवा यत्र तद्यथा स्यात् तथा—क्रियाविशेषण) देखा' ॥५१॥

यहाँ पर औत्सुक्य (नामक भाव) का उदय है।

प्रभा—'एकस्मिन' इत्यादि भावोदय का उदाहरण है। यह अमरुशतक का पद्य है। यहाँ पर औत्सुक्य रूप व्यभिचारी भाव का उदय हृदय को चमत्कृत करता है। इसी से यह 'भावोदय' नामक ध्वनि का स्थल है। यद्यपि यहाँ कोपशान्ति भी है तथापि वह चमत्काराधायक नहीं; क्योंकि उसके अनुभावों की यहाँ वर्णना नहीं की गई।

अनुवाद—(भावसन्धि) 'गर्वयुक्त, तपस्या और पराक्रम के निधि परशुराम के आगमन से एक ओर तो सत्सङ्ग का प्रेम तथा विरोचित उत्साह का उद्रेक (वीरस्य रभसः उत्साहः तस्योत्फाल उद्रेकः) मुझको खींच रहा है और दूसरी ओर आनन्ददायक, बार २ चैतन्य को विषयान्तर से हटाने वाला, हरिचन्दन और इन्दु के समान शीतल तथा स्निग्ध (हरिचन्दनेन इन्दुना च समं शिशिरः चासौ स्निग्धः च) सीता का आलिङ्गन मुझे रोकता है' ॥५२॥

यहाँ पर आवेग तथा हर्ष की सन्धि है।

प्रभा—'उत्सिक्तस्य' इत्यादि भाव-सन्धि का उदाहरण है। यह महावीर चरित नाटक का पद्य है। यह परशुराम के आगमन पर राम की उक्ति है। यहाँ पर आवेग रूप व्यभिचारी पूर्वार्द्धगम्य है तथा हर्षरूप व्यभिचारी उत्तरार्द्धगम्य है। इन दोनों का एक साथ आस्वादन होता है, अतएव दोनों की मिलन रूप सन्धि होने से यहाँ भावसन्धि है।

क्वकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥५३॥
अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।
भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च ।

अनुवाद—(भावशबलता) 'कहाँ तो (मेरा) यह अनुचित कार्य (उर्वशी-प्रेम) और कहाँ चन्द्रमा (शशः लक्ष्म चिह्नं यस्य तस्य) का कुल । (क्या सम्भव हो कि) फिर भी वह दिखाई पड़े । हमारा शास्त्र-श्रवण(श्रुत) दोषों के निवारण के लिए ही तो है ? अहो ! क्रोध में भी उसका मुख सुन्दर था । पापहीन (अपगतं कल्मषं येभ्यः तादृशाः) तथा सदाचार में बुद्धि रखने वाले (कृते सदाचारे धीः येषां ते) क्या कहेंगे ? अरे वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ है । हे चित्त, तू स्वस्थता को प्राप्त हो (धैर्य धारण कर) । अरे, कौन भाग्यवान् युवक है जो उस सुन्दरी का अधर पान करेगा ?' ॥५३॥

यहाँ पर (क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्—में व्यङ्ग्य) वितर्क, (भूयोऽपि दृश्येत सा मया—में) औत्सुक्य, (दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतम्—में) मति, (कोपेऽपि कान्तं मुखम्—में) स्मरण, (किं वक्ष्यन्ति आदि में) शङ्का; (स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा—में) दैन्य,]चेतः स्वास्थ्यमुपैहि—में) धृति तथा [कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति-में] चिन्ता नामक [अनेक] भावों की शबलता है ।

भावस्थिति तो ऊपर कही गई है तथा उदाहरण भी दिया गया है ।

प्रभा—'क्वाकार्यं' इत्यादि भावशबलता का उदाहरण है–विक्रमोर्वशीय के इस पद्य में उर्वशी को देखकर राजा विक्रम कह रहे हैं । जहाँ प्रतीयमान उत्तरोत्तर भाव पूर्व पूर्व-भाव को उपमर्दित करके चमत्कार उत्पन्न करते है, वहाँ भावशबलता कही जाती है भाव सन्धि में केवल दो भावों का योग होता है किन्तु भावशबलता में दो से अधिक भावों का योग रहता है । यहाँ पर पूर्व २ वितर्क आदि भाव का उपमर्दन करके (बाधकर) उत्तरोत्तर औत्सुक्य आदि (प्रतीयमान) भाव सहृदय सामाजिकों में चमत्कारावायक होते हैं अतएव यह भावशबलता है । यहाँ वितर्क आदि ८ भावों की शबलता है ।

(२) भावस्थिति—यदि कोई शङ्का करे कि भाव शान्ति आदि के समान भावस्थिति भी भावों की एक अवस्था है वह पृथक क्यों नहीं कही गयी ? तो इसका समाधान यही है कि 'भाव शान्ति' आदि अवस्थाओं का अभाव ही भावस्थिति है अतः वह पूर्व निरूपित 'भाव' द्वारा ही गतार्थ हो गई । उसका निरूपण 'व्यभिचारी तथाञ्जितः' (सूत्र ४८) में किया गया है और उसका उदाहरण 'गौरराद्मुखी' इत्यादि दिया गया है ।

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥

ते भावशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।

['संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' काव्य-निरूपणम्]

(५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥३७॥

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

अनुवाद—रस के मुख्य होने पर भी ये (भावशान्ति आदि) कभी कभी प्रधानता (अङ्गित्व) को प्राप्त हो जाते हैं।

(कारिका में) ते अर्थात् भावशान्ति इत्यादि। 'अङ्गित्व' अर्थात् राजा के द्वारा किया जाता है अनुगमन जिसका ऐसे विवाह के लिए जाते हुए भृत्य के समान।

प्रभा—यहा पर यह शङ्का हो सकती है कि जहाँ व्यभिचारी भाव प्रधानतया व्यञ्जित माना जाता है वहाँ भी कोई मुख्य रस विद्यमान होता ही है फिर तो वह 'रसध्वनि' ही है वहाँ भावध्वनि आदि कैसे मानी जा सकती है; क्योंकि भाव आदि तो रस के अङ्ग हैं अतः ये सभी गौण हैं 'मुख्ये' इत्यादि अवतरण में आचार्य मम्मट ने इनका समाधान किया है। अभिप्राय यह है कि रस के मुख्य होने पर भी कभी भाव आदि की प्रधानतया विवक्षा होती है। अन्यत्र अङ्गरूप में स्थित रहने वाले भी ये भाव आदि वहां पर रस की अपेक्षा विशेष चमत्कारक होते हैं, अतएव इन्हें 'अङ्गी'(प्रधान) मानना पड़ता है। इनकी यह प्रधानता आपततः होती है वस्तुतः तो ये रस का ही उत्कर्ष बढाते हैं; जैसे—अपने विवाह के समय कोई राजभृत्य अलङ्कृत होकर अश्वादि पर जा रहा हो फिर राजा उसके पीछे हो, वहाँ पर दर्शकगण भृत्य को देखकर विस्मित हो जाते हैं और फिर राजा की प्रशंसा करते है कि यह कैसा अनुग्रहशील राजा है। वहाँ अन्ततः राजा का उत्कर्ष ही प्रकट होता है। अतएव भावध्वनि आदि में भी वस्तुतः रस का ही उत्कर्ष प्रकट होता है।

'भावशान्त्यादयः' में 'भावश्च शान्त्यादयश्च' यह द्वन्द समास है। भाव स्थिति तथा भावशान्ति आदि यह अर्थ होता है।

अनुवाद—अनुरणन (अनुस्वान) के समान लक्ष्य है क्रम जिसका ऐसे व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है (अनुस्वानाभः संलक्ष्यः क्रमः यस्य तस्य व्यङ्ग्यस्य स्थितिः यस्मिन् सः) वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है। वह ध्वनि शब्द, अर्थ तथा उभय (शब्द तथा अर्थ) की व्यञ्जना द्वारा उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार की कही गई हैः—

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः।

१ शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यङ्ग्य, २. अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप-व्यङ्ग्य तथा ३. उभयशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यङ्ग्य—इस भांति संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनि तीन प्रकार की है।

प्रभा—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण करने के पश्चात् आचार्य मम्मट 'अनुस्वान' इत्यादि कारिका द्वारा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के स्वरूप तथा प्रकारों का निर्देश करते है। अनुस्वान का अर्थ है—अनुरणन, घण्टा आदि बजाने के पश्चात् प्रधान शब्द की प्रतीति के अनन्तर जो हल्का सा शब्द निकला करता है वही अनुरणन कहलाता है। यहां मुख्य शब्द तथा अनुरणन का क्रम स्पष्टतः प्रतीत हुआ करता है। इसी प्रकार जिस 'ध्वनिकाव्य' में व्यञ्जक एवं व्यङ्ग्य का क्रम अर्थात् पौर्वापर्यभाव प्रतीत होता है, वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है।

यहां शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ (उभय) तीन प्रकार की व्यञ्जनाशक्ति द्वारा अनुरणरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसी हेतु यह संलक्ष्यक्रमध्वनि काव्य तीन प्रकार का माना गया है—

(१) शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य—इसमें शब्द (शाब्दी व्यञ्जना) के द्वारा वस्तु या अलङ्काररूप अनुरणनसदृशव्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसे शब्दशक्तिमूलक इस हेतु कहा जाता है कि जिस शब्द से जो व्यङ्ग्यार्थ प्रकट होता है उसके पर्याय शब्द द्वारा वह व्यङ्ग्यार्थ प्रकट नहीं होता अर्थात् शब्द-परिवर्तन से वह अर्थ नहीं निकलता इसमें 'शब्द परिवृत्त्यसहत्व' है। (शब्दशक्ति मूलत्वं च एतदेव, यत् तेनैव शब्देन तदर्थ-प्रतीतिर्न तु पर्यायान्तरेणापि-प्रदीप)। इसको 'शब्दशक्त्युद्भव' भी कहते हैं।

(२) अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य-इसमें अर्थ (आर्थी व्यञ्जना) के द्वारा अनुरणनसदृश व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसे अर्थशक्तिमूलक कहने का अभिप्राय यह है कि किसी शब्द के पर्याय द्वारा भी वही अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है अर्थात् पर्याय-प्रयोग करने पर भी वह व्यङ्ग्यार्थ बना रहता है, इसमें 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व' है।' इसे अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि भी कहते हैं।

(३) उभयशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य—जहाँ शब्द और अर्थ (शाब्दी तथा आर्थी व्यञ्जना) दोनों के द्वारा अनुरणन सदृश व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। यहां शब्द और अर्थ दोनों ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं अतः भिन्न भिन्न अंशों में परिवृत्त्यसह तथा परिवृत्तिसह दोनों प्रकार के शब्दों की प्रधानता रहती है।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट ने ध्वनि के प्रथम दो भेद किए:—
१. अविवक्षितवाच्य (लक्षणा-मूलक) और २. विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधा-

तत्र

(५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥३८॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥

वस्त्वेवेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम् । १. आद्यो यथा—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन ।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥५४॥

मूलक) । फिर अविवक्षितवाच्य के १. अर्थान्तर सङ्क्रमित तथा २. अत्यन्ततिरस्कृत—से दो भेद किये । विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो भेद किये—१. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा २, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का विवेचन ऊपर किया जा चुका है । यहाँ पर संलक्ष्यक्रम ध्वनि का निरूपण आरम्भ करते हैं ।

(ii) ध्वन्यालोक (२-२०) में संलक्ष्यक्रम ध्वनि का विवेचन इस प्रकार किया गया है ।

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ।

यहाँ ध्वन्यालोककार ने संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के दो ही भेद प्रदर्शित किये हैं । उभयमूलक ध्वनि का कोई निर्देश नहीं किया ।

(iii) संलक्ष्यक्रमध्वनि के निरूपण में विश्वनाथ कविराज ने आचार्य मम्मट के पथ का ही अनुसरण किया है—

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे ।
ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः । (सा० दर्पण ४-६)

अनुवाद—उन (विविध ध्वनियों) में जिस ध्वनि में अलङ्कार (उपमादि) अथवा वस्तु मात्र शब्दों द्वारा प्रधान रूप से अभिव्यक्त होते हैं वह शब्द की शक्ति से होने वाली (शब्दशक्त्युद्भव) ध्वनि (अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि भेद से) दो प्रकार की है । (३८)

(कारिका में) वस्त्वेव (वस्तु+एव) का अभिप्राय है—अलङ्काररहित वस्तु-मात्र ।

प्रभा—संलक्ष्यक्रम ध्वनि के उपर्युक्त तीन भेदों में से प्रथम अर्थात् शब्द-शक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद हैं—१. अलङ्कारध्वनि, २. वस्तुध्वनि । अलङ्कार ध्वनि में शाब्दी व्यञ्जना के द्वारा अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ होता है । वही सहृदयों के लिये विशेष चमत्कारजनक हुआ करता है । वस्तु ध्वनि में केवल वस्तु की ही शाब्दीव्य-ञ्जना द्वारा प्रतीति हुआ करती है । यद्यपि अलङ्कार भी 'वस्तु' के अन्तर्गत आ जाते हैं तथापि अलङ्काररूप व्यङ्ग्य और अलङ्कार-भिन्न व्यङ्ग्य (वस्तुमात्र) को गोवली-वर्दन्याय से पृथक्-पृथक् दिखलाया गया है ।

अनुवाद—आद्य (पहला) अर्थात् शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार ध्वनि का

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो, मधुरलीलः।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥५५॥

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः।

उदाहरण है—[प्रकरण प्राप्त राजपक्ष में] 'कठोर (जठर) और बलवत् (ऊर्जित) सिंहनाद करने वाले जिस राजा ने (देवेन) शत्रुसंहारक (काल) खड्ग की महती धारा रूप जल के विस्तार (अम्बु धाराजलं तस्य वाहः प्रसरणम्) को प्रसरता द्वारा अधिक करके (उल्लास्य) खड्गधारा की कान्तियों (जल-पानी) द्वारा त्रिभुवन में जगमगाते हुए अपने शत्रुओं के समस्त प्रताप को संग्राम में बुझा दिया (निर्वापितः)'।

[अप्राकरणिक इन्द्र पक्ष में] 'गम्भीर गर्जन करने वाले जिस इन्द्र (देव) ने त्रिभुवन में वर्षा सूचक [कालकरं-कृष्णरश्मिम् अथवा वर्षासूचकं कालं वर्षाकालं करोति प्रकटयति इति] नवीन मेघ को (वालाम्बुवाहम्) प्रकट करके जलपतन के कोलाहल बीच (रणे) मूसलाधार जल से जल के शत्रुओं अर्थात् सूर्य आदि का प्रकृष्ट (सकल) ताप शान्त कर दिया।' (यह व्यङ्ग्यार्थ है) ॥५४॥

यहाँ पर वाक्य के असम्बद्ध-अर्थ कथन का अवसर न आ जाय इस हेतु प्रकरण से प्राप्त (राजा) तथा प्रकरण से भिन्न (इन्द्र) में उपमानोपमेय भाव की कल्पना करनी होती है; अतएव यहाँ उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है।

प्रभा—'उल्लास्य' आदि पद में प्रकरण के द्वारा अभिधा-शक्ति राज-प्रताप के वर्णन में नियन्त्रित हो गई है फिर भी यहाँ एक अन्य (इन्द्र सम्बन्धी) अर्थ प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ प्राकरणिक राज-प्रताप-वर्णन वाच्यार्थ है तथा अप्राकरणिक इन्द्र-प्रताप-वर्णन व्यङ्ग्यार्थ है। यदि इन दोनों अर्थों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध न माना जाय तो वाक्य असम्बद्ध-अर्थ का अभिधायक होने लगेगा अथवा यह कहा जा सकता है कि जब 'करवालम् उल्लास्य' आदि कहने से ही प्राकरणिक अर्थ सम्पन्न हो सकता है तो उसमें 'काल' विशेषण निरर्थक हो जायेगा इसलिए वाक्य असम्बद्धार्थ का अभिधायक होगा। इस दोष के निवारण हेतु यहाँ पर राजा तथा इन्द्र में सादृश्य सम्बन्ध मानना उचित है। इसीलिए इस काव्य में प्रधान रूप से उपमालङ्कार ही व्यङ्ग्य है, यही अधिक चमत्कारक है। यह अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ शाब्दी व्यञ्जना का विषय है; क्योंकि यहाँ परिवृत्त्यसह शब्दों का प्रयोग किया गया है, यदि 'देवेन' के स्थान पर 'भूपेन' आदि का प्रयोग कर दिया जाय तो उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रकट न हो सकेगा।

अनुवाद—'हे राजन् (विभो), आप (दुष्टों पर) कठोर तथा (सज्जनों पर) मनोहर प्रताप वाले, शत्रुओं के संहारक (विधुराणां शत्रूणां निशेव निशा मरणं तत्कर्ता), मधुर चेष्टाओं वाले, मति अर्थात् बुद्धि और मान अर्थात् प्रमाण (

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद, प्रभो,
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥५६॥

अत्रापि विरोधाभासः।

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥५७॥

दोनों के) द्वारा तत्त्व (यथार्थ वस्तु) में व्यवहार (वृत्ति) रखने वाले, पग-पग पर स्वजनों (पक्ष) के मार्गदर्शक (अग्रणी) होकर शोभायमान हैं ॥५५॥

यहाँ पर एक एक पद के (तोड़कर) दो-दो पद बना लेने पर विरोधाभास अलङ्कार (शाब्दी व्यञ्जना द्वारा) व्यङ्ग्य है।

प्रभा—'तिग्म' इत्यादि सभङ्गपदमूलक विरोधाभास (अलङ्कारध्वनि). का उदाहरण है। यहाँ एक एक पद मानने पर प्राकरणिक अर्थ प्राप्त हो जाता है। प्रकरण आदि द्वारा अभिधाशक्ति राजविषयक (विरोधरहित) अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है; किन्तु सहृदयों को एक एक पद की दो दो पदों के रूप में प्रतीति होने से अप्राकरणिक विरोध का आभास भी होता है। जैसे—

'तिग्मरुचिः+अप्रतापः,—सूर्य होकर भी प्रताप रहित, 'विधुः+अनिशाकृत्'-चन्द्रमा भी रात्रिकारक नहीं, 'विभः+विभाति'—भा (दीप्ति) रहित होकर भी दिप्तिमान्, 'मधुः+अलीलः'—वसन्त भी लीलाशून्य, 'मतिमान्+अतत्त्ववृत्तिः'—बुद्धिमान् भी मिथ्यावस्तु में रुचि रखने वाला, 'प्रतिपत्+अपक्षाग्रणीः'—प्रतिपदा तिथि होकर भी पक्ष (पखवाड़ा) की आदिभूत नहीं।

यहाँ विरोधाभास शाब्दी व्यञ्जना द्वारा ध्वनित होने वाला अलङ्कार है अतएव यहाँ अलङ्कारध्वनि है।

अनुवाद—'हे (शत्रुओं के लिये) आनन्द के नाशक (हर्षं द्यति खण्डयति इति) तथा (मित्रों के लिये) आनन्ददायक (हर्षं ददाति इति) प्रभो, आप संग्राम से (समितः) प्राप्त उत्कर्षों द्वारा असीमित (अमित) हैं, दुष्टों के (असताम्) शत्रु हैं, उत्कृष्ट कीर्तियों से युक्त हैं (असि)' ॥५६॥

यहाँ पर भी विरोधाभास (प्रधान रूप से) व्यङ्ग्य है।

प्रभा—'अमितः' इत्यादि अभङ्गपदमूलक विरोधाभासालङ्कार ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर प्रकरणादि से अभिधाशक्ति उपर्युक्त अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है तथा पद-भङ्ग के बिना ही प्रतीत होने वाले द्वितीय अर्थ में विरोधाभास व्यङ्ग्य है। जैसे—परिमाणशून्य (अमितः) भी परिमाणसहित (समितः) हितरहित (अहितः) भी हितसहित (सहितः)।

यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ 'अपि च' आदि विरोधव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ विरोधाभास वाच्य होता है अन्यत्र व्यङ्ग्य होता है—'अपि शब्दादेर्विरोधव्यञ्जकस्य भावे वाच्यत्वम् तदभावे व्यङ्ग्यत्वमिति-प्रदीपः।

अनुवाद—'बिना (तूलिका आदि) उपकरण सामग्री के तथा बिना आधार

अत्र वाक्यस्यासम्यद्धार्थाभिधातकर्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो, मधुरलीलः।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥५५॥

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः।

उदाहरण है—[प्रकरण प्राप्त राजपक्ष में] 'कठोर (जठर) और बलवत् (ऊर्जित) सिंहनाद करने वाले जिस राजा ने (देवेन) शत्रुसंहारक (काल) खड्ग की महती धारा रूप जल के विस्तार (अम्बु धाराजलं तस्य वाहः प्रसरणम्) की प्रखरता द्वारा अधिक करके (उल्लास्य) खड्गधारा की कान्तियों (जल-पानी) द्वारा त्रिभुवन में जगमगाते हुए अपने शत्रुओं के समस्त प्रताप को संग्राम में बुझा दिया (निर्वापितः)'।

[अप्राकरणिक इन्द्र पक्ष में] 'गम्भीर गर्जन करने वाले जिस इन्द्र (देव) ने त्रिभुवन में वर्षा सूचक [कालकरं-कृष्णरश्मिम् अथवा वर्षासूचकं कालं वर्षाकालं करोति प्रकटयति इति] नवीन मेघ को (बालाम्बुवाहम्) प्रकट करके जलपतन के कोलाहल बीच (रणे) मूसलाधार जल से जल के शत्रुओं अर्थात् सूर्य आदि का प्रकृष्ट (सकल) ताप शान्त कर दिया।' (यह व्यङ्ग्यार्थ है) ॥५४॥

यहाँ पर वाक्य के असम्बद्ध-अर्थ कथन का अवसर न आ जाय इस हेतु प्रकरण से प्राप्त (राजा) तथा प्रकरण से भिन्न (इन्द्र) में उपमानोपमेय भाव की कल्पना करनी होती है; अतएव यहाँ उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है।

प्रभा—'उल्लास्य' आदि पद्य में प्रकरण के द्वारा अभिधा-शक्ति राज-प्रताप के वर्णन में नियन्त्रित हो गई है फिर भी यहाँ एक अन्य (इन्द्र सम्बन्धी) अर्थ प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ प्राकरणिक राज-प्रताप-वर्णन वाच्यार्थ है तथा अप्राकरणिक इन्द्र-प्रताप-वर्णन व्यङ्ग्यार्थ है। यदि इन दोनों अर्थों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध न माना जाय तो वाक्य असम्बद्ध-अर्थ का अभिधायक होने लगेगा अथवा यह कहा जा सकता है कि जब 'करवालम् उल्लास्य' आदि कहने से ही प्राकरणिक अर्थ समाप्त हो सकता है तो उसमें 'काल' विशेषण निरर्थक हो जायेगा इसलिए वाक्य असम्बद्धार्थ का अभिधायक होगा। इस दोष के निवारण हेतु यहाँ पर राजा तथा इन्द्र में सादृश्य सम्बन्ध मानना उचित है। इसीलिए इस काव्य में प्रधान रूप से उपमालङ्कार ही व्यङ्ग्य है, वही अधिक चमत्कारक है। यह अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ शाब्दी व्यञ्जना का विषय है; क्योंकि यहाँ परिवृत्त्यसह शब्दों का प्रयोग किया गया है, यदि 'देवेन' के स्थान पर 'भूपेन' आदि का प्रयोग कर दिया जाय तो उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रकट न हो सकेगा।

अनुवाद—'हे राजन् (विभो), आप (दुष्टों पर) कठोर तथा (सज्जनों पर) मनोहर प्रताप वाले, शत्रुओं के संहारक (विधुराणां- शत्रूणां निशेव निशा मरणं तत्कर्ता), मधुर चेष्टाओं वाले, मति अर्थात् बुद्धि और मान अर्थात् प्रमाण (इन

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद, प्रभो,
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥५६॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥५७॥

दोनों के) द्वारा तत्त्व (यथार्थ वस्तु) में व्यवहार (वृत्ति) रखने वाले, पग-पग पर स्वजनों (पक्ष) के मार्गदर्शक (अग्रणी) होकर शोभायमान हैं ॥५५॥

यहाँ पर एक एक पद के (तोड़कर) दो-दो पद बना लेने पर विरोधाभास अलङ्कार (शाब्दी व्यञ्जना द्वारा) व्यङ्ग्य है ।

प्रभा—'तिग्म' इत्यादि सभङ्गपदमूलक विरोधाभास (अलङ्कारध्वनि) का उदाहरण है । यहाँ एक एक पद मानने पर प्राकरणिक अर्थ प्राप्त हो जाता है । प्रकरण आदि द्वारा अभिधाशक्ति राजविषयक (विरोधरहित) अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है; किन्तु सहृदयों को एक एक पद की दो दो पदों के रूप में प्रतीति होने से अप्राकरणिक विरोध का आभास भी होता है । जैसे—

'तिग्मरुचिः+अप्रतापः,—सूर्य होकर भी प्रताप रहित, 'विधुः+अनिशाकृत्'-चन्द्रमा भी रात्रिकारक नहीं, 'विभः+विभाति'—भा (दीप्ति) रहित होकर भी दिप्तिमान्, 'मधुः+अलील:'—वसन्त भी लीलाशून्य, 'मतिमान्+अतत्त्ववृत्तिः'—बुद्धिमान् भी मिथ्यावस्तु में रुचि रखने वाला, 'प्रतिपत्+अपक्षाग्रणीः'—प्रतिपदा तिथि होकर भी पक्ष (पखवाड़ा) की आदिभूत नहीं ।

यहाँ विरोधाभास शाब्दी व्यञ्जना द्वारा ध्वनित होने वाला अलङ्कार है अतएव यहाँ अलङ्कारध्वनि है ।

अनुवाद—'हे (शत्रुओं के लिये) आनन्द के नाशक (हर्षं द्यति खण्डयति इति) तथा (मित्रों के लिये) आनन्ददायक (हर्षं ददाति इति) प्रभो, आप संग्राम से (समितः) प्राप्त उत्कर्षों द्वारा असीमित (अमित) हैं, दुष्टों के (असताम्) शत्रु हैं, उत्कृष्ट कीर्तियों से युक्त हैं (असि)' ॥५६॥

यहाँ पर भी विरोधाभास (प्रधान रूप से) व्यङ्ग्य है ।

प्रभा—'अमितः' इत्यादि अभङ्गपदमूलक विरोधाभासालङ्कार ध्वनि का उदाहरण है । यहाँ पर प्रकरणादि से अभिधाशक्ति उपर्युक्त अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है तथा पद-भङ्ग के बिना ही प्रतीत होने वाले द्वितीय अर्थ में विरोधाभास व्यङ्ग्य है । जैसे—परिमाणशून्य (अमितः) भी परिमाणसहित (समितः) हितरहित (अहितः) भी हितसहित (सहितः) ।

यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ 'अपि च' आदि विरोधव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ विरोधाभास वाच्य होता है अन्यत्र व्यङ्ग्य होता है—'अपि शब्दादेर्विरोधव्यञ्जकस्य भावे वाच्यत्वम् तदभावे व्यङ्ग्यत्वमिति-प्रदीपः ।

अनुवाद—'बिना (तूलिका आदि) उपकरण सामग्री के तथा बिना

अत्र व्यतिरेकः।

अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता।

के नानाकार (चित्रम्) संसार का निर्माण करने वाले उस (अनिर्वचनीय) चन्द्रमा की कला से श्लाघ्य त्रिशूलधर (शिव) के लिए प्रणाम है' ॥५७॥

यहाँ व्यतिरेक-अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

प्रभा—'निरुपादन' इत्यादि व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि का उदाहरण है। यह काश्मीरिक कवि नारायणभट्ट कृत स्तव-चिन्तामणि का पद्य है। यहाँ पर व्यञ्जना द्वारा 'चित्र' शब्द आलेख्य की प्रतीति कराता है तथा 'कला' शब्द आलेख्य क्रिया में कौशल की प्रतीति कराता है और मसि-तूलिका आदि उपकरणों द्वारा चित्रफलक पर चित्र रचना करने वाले कलाकारों की अपेक्षा महादेव का उत्कर्ष प्रतीत होने लगता है। यहाँ कलाकार उपमान है तथा शिव उपमेय है अतः उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष प्रकट होता है, इस प्रकार व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है यहाँ चित्र एवं कला शब्द परिवृत्त्यसह हैं; अतएव यह शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार ध्वनि है।

अनुवाद—'यद्यपि इन उदाहरणों में उपमारूप ध्वनि आदि अलङ्कार्य (अलङ्कृत किये जाने योग्य, ध्वनिरूप काव्य) हैं तथापि ब्राह्मणश्रमण न्याय से इन्हें उपमालङ्कार ध्वनि आदि (अलङ्काररूप) कहा गया है।

प्रभा—अलङ्कारध्वनि में जो उपमालङ्कार ध्वनि आदि के उदाहरण दिये गये हैं उनमें यह शङ्का हो सकती है कि इनमें (व्यङ्ग्य) उपमा आदि की प्रधानता है या नहीं ? यदि प्रधानता है तो ये अलङ्कार कैसे ? क्योंकि तब तो ये स्वयं ही ध्वनिरूप काव्य हैं, किसी अन्य को तो अलङ्कृत करते नहीं। यदि कहा जाय कि इनकी प्रधानता नहीं है तो यह काव्य ध्वनि कैसे होगा; क्योंकि यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता न होगी। आचार्य मम्मट ने 'अलङ्कार्य' आदि अवतरण में इस शङ्का का समाधान किया है। अभिप्राय यह है कि यहाँ पर 'उपमालङ्कार आदि' प्रधान रूप से व्यङ्ग्य हैं अतः ये ही ध्वनि रूप काव्य हैं; मुख्य रूप से सहृदयों के आह्लादक है। यहाँ ये अलङ्कार नहीं अपि तु अलङ्कार्य ही हैं। फिर भी इन्हें अलङ्कार कह दिया जाता है क्योंकि ये पहले (वाच्य दशा में) अलङ्कार थे, वाच्यार्थ की शोभा बढ़ाने वाले थे। लोक में भी इस प्रकार पूर्वकालिक निमित्त के आधार पर व्यवहार किया जाता है जैसे—कोई व्यक्ति पहले ब्राह्मण था किन्तु तत्पश्चात् बौद्धभिक्षु अर्थात् श्रमण हो गया तो जनसाधारण उसे 'ब्राह्मण श्रमण' कहता है यद्यपि बौद्ध-सन्यासी हो जाने पर वह ब्राह्मणत्वादि के वर्ण-भेद से मुक्त हो गया है। यही ब्राह्मण श्रमण न्याय कहलाता है।

वास्तविक बात तो यह है कि व्यङ्ग्यार्थ में वाच्यार्थ की अपेक्षा से ही प्रधानता अथवा अप्रधानता देखी जाती है, रस की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि अलङ्का-

२. वस्तुमात्रं—

पंथिण ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥५८॥
(पथिक, नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस ॥५८॥

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र, यस्मै त्वम्।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥५६॥

रादि व्यङ्ग्य होते हुए भी रस की अपेक्षा से तो गौण ही रहते हैं। अतः उपमालङ्कार ध्वनि आदि स्थलों पर भी उपमा आदि रस के अङ्ग ही होते हैं तथा उसको अलङ्कृत करने के कारण अलङ्कार ही हैं। किन्तु वे वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान हैं—(प्रदीप)।

अनुवाद—'हे पथिक, इस पाषाणमय (या मूर्खों के स्थान) ग्राम में अल्प (मनाक्) भी (चटाई आदि) बिछौना नहीं है, किन्तु यदि उठे हुये मेघों (या स्तनों) को देखकर यहां ठहरते हो तो ठहर जाओ' ॥५८॥

यहां पर व्यञ्जना द्वारा यह अर्थ निकलता है (व्यज्यते) कि यदि उपभोग के लिये समर्थ हो तो यहां ठहरो।

प्रभा—'पथिक' इत्यादि वस्तुमात्र ध्वनि का उदाहरण है। स्वयंदूति नायिका किसी पथिक से द्व्यर्थक शब्दों द्वारा अपना भाव प्रकट करती है। यहां वक्तृवैशिष्ट्य द्वारा इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है—मूर्खों (पत्थर) के इस ग्राम में कामशास्त्र (स्रस्तरं-शास्त्र) तनिक भी नहीं है उभरे स्तनों को देखकर यदि उपभोग समर्थ हो तो ठहरो। यहां पर अलङ्कार व्यङ्ग्य नहीं। अपि तु केवल वस्तुरूप व्यङ्ग्य है, अतः यहां वस्तुमात्र ध्वनि है।

अनुवाद—'हे राजन्, आप जिसके प्रति कुपित होते हैं उसको शनिग्रह (क्रूर ग्रह) और वज्र बलपूर्वक मारते हैं। जिस पर तो (पुनः) आप प्रसन्न होते हैं, वह (पुरुष आपके दिये हुए वैभव द्वारा उत्कृष्ट दाता (उदारः) तथा सानुकूल पत्नी वाला (अनुगता दारा यस्य तथाभूतः) हो जाता है' ॥५६॥

यहां पर—'विरुद्ध, होकर भी (शनि, अशनि) तुम्हारे अनुगमन के लिये एक कार्य करते हैं' यह अर्थ ध्वनित होता है।

प्रभा—'शनि' इत्यादि वस्तुमात्र ध्वनि का उदाहरण है। यहां पर पूर्वार्ध में व्यङ्ग्य यह है कि शनि तथा (न+शनि) अशनि परस्पर विरुद्ध हैं फिर भी राजा की आज्ञा का पालन करने के लिये एक (हननरूप) कार्य करते हैं इस प्रकार की वस्तुमात्र की व्यञ्जना होने से यह वस्तुध्वनि है। श्लोक के उत्तरार्ध में एक कार्य करने की प्रतीति नहीं होती अपि तु विरोध ध्वनित होता है अतः वहां पर **विरोधालङ्कार** व्यङ्ग्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि अलङ्कारध्वनि तथा **वस्तुध्वनि के**

क्रमेणोदाहरणम्।

[स्वतः सम्भविनोऽर्थस्य चत्वारो भेदाः]

१. अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥६०॥
(अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रिमः पुत्रि, धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥६०॥

अत्र ममैवोपभोग्यः इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते।

२. धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः, शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥६१॥

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः।

का हो जाता है। फिर उससे आने वाला व्यङ्ग्य अर्थ भी वस्तु या अलङ्कार रूप से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के १२ भेद हो जाते हैं—४ स्वतः सम्भवी + ४ कविप्रौढोक्तिसिद्ध + ४ कविनिबद्धप्रौढोक्ति सिद्ध।

अनुवाद—क्रम से उदाहरण हैं—

१. 'हे पुत्रि, (यह वर) आलसियों में श्रेष्ठ है, धूर्तों में अग्रगण्य है, धन-सम्पत्ति से पूर्ण है। यह कहने से (लज्जा के कारण) झुके अङ्गों वाली वह कुमारी प्रफुल्लित नेत्रों वाली हो गई ॥६०॥

यहाँ (स्वतः सिद्ध) वस्तु से 'मेरे ही उपभोग-योग्य है' यह वस्तु व्यक्त होती है।

प्रभा—स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के चार भेदों में से (१) वस्तु द्वारा वस्तु की व्यञ्जना का उदाहरण है— 'अलस' इत्यादि। इसके पूर्वार्ध में स्वयंवरा कुमारी के प्रति धात्री की उक्ति है उत्तरार्ध में कवि-वर्णना है। यहाँ पर 'अलसता' द्वारा प्रवास की अनिच्छा 'धूर्तता' द्वारा संभोग में अतृप्ति, धनसमृद्धिमत्ता के द्वारा कृपण तथा सुखी होने का निश्चय करके कुमारी के नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो जाते हैं तथा लोचनों की प्रफुल्लता रूप वस्तु स्वतःसिद्ध (लोकसिद्ध) बात है। इसके द्वारा सहृदय सामाजिकों के हृदय में इस वस्तुरूप अर्थ की अभिव्यक्ति होती है—'यह मेरे ही उपभोग के योग्य है'।

अनुवाद—२. 'अरी सखी, तू धन्य है जो प्रिय-सङ्गम के बीच में भी विश्वास युक्त (विस्रब्ध) सैकड़ों प्रिय-वचन कह लेती है, अरी सहेलियों, मैं तो (तुम्हारी) सौगन्ध खाती हूं (शपामि) जो प्रिय के द्वारा अपना हाथ नीवी की ओर डालते ही (अर्थात् मन में संकल्प करते ही) कुछ भी याद करती होऊं ॥६१॥

यहाँ पर 'तू अधन्य है मैं तो धन्य हूं' यह व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

३. दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट-
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥६२॥

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात्करिष्यते इति वस्तु ।

४. गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥६३॥

प्रभा—'धन्यासि' इत्यादि शार्ङ्गधरपद्धति के अनुसार विज्जिका नामक कवयित्री का पद्य है । यह (२) स्वतःसिद्ध वस्तु द्वारा अलङ्कार की व्यञ्जना का उदाहरण है। रतिविषयक वार्तालाप करने वाली सखियों में एक सखी दूसरी का उपहास करती हुई कह रही है। यहाँ पर वाच्यार्थ है—'सखी को सौभाग्य वाली कहना (धन्याऽसि)' यही स्वतः सम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ है । इसके द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है—'प्रिय-सङ्गम के समय तल्लीन होकर अधिक आनन्द भोगने वाली मैं तुमसे अधिक सौभाग्यशालिनी हूं । यही 'व्यतिरेकालङ्कार' रूप अर्थ है जो वस्तु द्वारा व्यङ्ग्य है ।

अनुवाद—३. 'जिस राजा के हाथ में स्थित उस कृपाण को युद्ध भूमि में (शत्रु के) वीरों ने क्रोध से अत्यन्त रक्तिम (कषाय) आभा वाले काली (दुर्गा) के कटाक्ष के समान देखा; जो (कृपाण) मदोन्मत्त गन्ध-गजों (विशेष प्रकार के हाथियों) के कपाट-सदृश कपोलों के (लोहमुद्गर जैसे) अग्रभाग (कूटम् अग्रभागः तदेव कूटं लोहमुद्गर इव) पर प्रहार करने के कारण दृढ़ (निघ्न) तथा गाढ रुधिर से रक्त (शोण) कान्ति (शोचि) वाला था ॥६२॥

यहाँ पर उपमा अलङ्कार के द्वारा 'समस्त शत्रु सेना का विनाश क्षण भर में ही कर देगा" यह वस्तु व्यक्त होती है ।

प्रभा:—'दर्प' इत्यादि (३) स्वतः सम्भवी अलङ्कार द्वारा वस्तु व्यञ्जना का उदाहरण है । यहाँ पर 'कालीकटाक्ष' के समान कृपाण को देखा' यह उपमा है । यह उपमालङ्कार ही स्वतः सम्भवी व्यञ्जक अर्थ है, क्योंकि सादृश्य लोक में भी विद्यमान है । इस उपमा द्वारा 'क्षण भर में समस्त शत्रु सेना का विनाश कर देगा' इस वस्तु रूप अर्थ का व्यञ्जना द्वारा बोध है । गन्ध-गज एक विशेष प्रकार का गज होता है जिसका लक्षण है—

स्वेदं मूत्रं पुरीषं च मज्जां चैव मतङ्गजाः ।
यस्याघ्राय विमाद्यन्ति तं विद्याद् गन्धहस्तिनम् ॥

अनुवाद—४. जिस राजा ने युद्ध में क्रोध से अपने ओठों को चबाकर (निर्दशन्) शत्रु नारियों के प्रवाल-पल्लव (विद्रुम-दल) सदृश ओठों को, उनके पति की तीव्र दन्त-क्षत-पीड़ा के संकट से छुड़ा दिया' ॥६३॥

अत्र विरोधालङ्कारेणाऽधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्ययोगिता। मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा च। एषूदाहरणेषु स्वतः सम्भवी व्यञ्जकः।

यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार के द्वारा 'ओष्ठ चबाने के समकाल में ही शत्रु मार दिये' यह तुल्ययोगिता तथा 'मेरी क्षति से भी अन्यों (शत्रु-नारियों) की क्षति दूर हो जाए' इस प्रकार की नृप-बुद्धि की उत्प्रेक्षा (संभावना) होने के कारण (उत्प्रेक्ष्यते इति=उत्प्रेक्षणात्) उत्प्रेक्षा-अलङ्कार भी व्यञ्जना द्वारा प्रकट होता है।

इन ('अलस०' से लेकर 'गाढ०' तक चार) उदाहरणों में स्वतः सम्भवी अर्थ व्यञ्जक है।

प्रभा—'गाढ' इत्यादि (४) स्वतः सम्भवी अलङ्कार द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर विरोधाभास अलङ्काररूप अर्थ व्यञ्जक है। 'जो अपने अधर को ही काटता है वह दूसरों के अधर को काटने से कैसे बचा सकता है? अथवा ओष्ठ-दशन द्वारा ओष्ठ-दशन की व्यथा का निवारण कैसे? यह विरोध प्रतीत होता है। यह विरोधाभास स्वतः सम्भवी अर्थ है। इसके द्वारा यह अर्थ ध्वनित होता है कि 'राजा ने ज्यों ओष्ठ काटे त्यों ही शत्रुओं का नाश कर दिया' इस प्रकार 'स्वाधरदशन' 'शत्रु व्यापदन' इन दोनों का एक काल में होना रूप एक धर्म से सम्बन्ध है अतः तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

यहाँ विरोधाभास अलङ्कार से यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि 'मानो राजा ने ऐसा सोचा कि चाहे मेरी क्षति हो जाये किन्तु शत्रु-नारियों की क्षति का निवारण हो। अतएव यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी व्यङ्ग्य है। इस प्रकार तुल्ययोगिता तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कार की संसृष्टि यहाँ व्यङ्ग्यार्थ है।

टिप्पणी—(i) प्रदीपकार के मतानुसार काव्यप्रकाश-वृत्तिस्थ 'विरोधालङ्कार' का अभिप्राय अतिशयोक्ति है तथा 'तुल्ययोगिता' का अभिप्राय समुच्चय है; क्योंकि प्रस्तुत उदाहरण में विरोधाभास तथा तुल्ययोगिता अलङ्कार नहीं हैं। साहित्यदर्पण-कार के मतानुसार भी यहाँ समुच्चयालङ्कार ही व्यङ्ग्य है—'अत्र स्वतः सम्भविना विरोधालङ्कारेणाधरो निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालङ्कारो व्यङ्ग्यः। किन्तु विवेचकों के अनुसार यथाश्रुत अर्थ ही युक्त है। इसका विशद विवेचन उद्योत तथा प्रभानामक टीका में किया गया है।

(ii) उपर्युक्त चारों उदाहरणों में स्वतः सम्भवी अर्थ ही व्यञ्जक है, जो कि क्रमशः इस प्रकार है:—

(१) 'अलस' इत्यादि में—स्वतः सिद्ध वस्तु से वस्तु की व्यञ्जना।
(२) 'धन्यासि' इत्यादि में—स्वतः सिद्ध वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना।
(३) 'दर्प' इत्यादि में—स्वतः सिद्ध अलङ्कार से वस्तु की व्यञ्जना।
(४) 'गाढ' इत्यादि में—स्वतः सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जना।

[कविप्रौढोक्तिसिद्धस्य चत्वारो भेदाः]

१. कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसम्मूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम्।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का-
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥६४॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते ।

२. केसेसु वलामोडिअ तेण अ समरम्मि जयसिरी गहिआ।
जह कन्दराहिँ विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥६५॥
(केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥६५॥

अनुवाद—१. कैलास की प्रमुख चोटी पर बांसुरी के रागविशेष (संमूर्छना) से देवाङ्गनाओं द्वारा गाई जाने वाली जिस (राजा) की कीर्ति को सुनकर, कोमल कमलनाल (चिपकने) की शङ्का हो जाने से (ऐरावत आदि आठ) दिग्गज नेत्रों के छोर तिरछे या चञ्चल (स्रस्त) करके अपने कानों के पास (पुलिन-तट) सूंड घुमाया करते हैं' ॥६४॥

यहाँ पर वस्तु (कवि प्रौढोक्तिसिद्ध—कीर्ति का कानों में प्रवेश तथा कमल-नाल की शङ्का से दिग्गजों द्वारा सूंड घुमाना रूप) से यह वस्तु ध्वनित होती है कि (येषाम्-इति) जिन (जड हाथी आदि) को (गीत आदि का) अर्थ-ज्ञान नहीं है, उनमें भी कमलनाल आदि (एवमादि) की बुद्धि उत्पन्न करके तुम्हारी कीर्ति चमत्कार उत्पन्न करती है।

प्रभा—'कैलासस्य' इत्यादि कविप्रौढोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ के चार भेदों में (१) वस्तु द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। इसमें किसी राजा की कीर्ति का वर्णन है यहाँ पर व्यञ्जक अर्थ है—राजा की कीर्ति का देवाङ्गनाओं द्वारा गाया जाना उसका दिग्गजों द्वारा सुना जाना तथा दिग्गजों द्वारा उसमें श्वेतता के कारण कमलनाल चिपकने की शङ्का होना। यह अर्थ लोक बाह्य है, कवि कल्पना प्रसूत है। इससे यह वस्तुरूप अर्थ व्यङ्ग्य है—'उस राजा की कीर्ति ने संवेदनाहीन जीवों मे भी संवेदना उत्पन्न कर दी'।

अनवाद—२. 'उस राजा ने युद्धक्षेत्र में जय-लक्ष्मी को बलपूर्वक केश पकड़ कर खींच लिया, तथा पर्वत कन्दराओं ने (अपने भीतर छिपे) शत्रुओं को (विधुराः) गाढ रूप से गले लिपटा लिया' ॥६५॥

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा । एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः । न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं सम्भाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च ।

३. गाढालिङ्गणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।
माणंसिणीए माणो पीलणभीअ व्व हिअआहिं ॥६६॥
(गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ॥६६॥
अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भत इति वस्तु ।

---

(१) यहां पर (राजा के द्वारा जयश्री के) केश-ग्रहण के वर्णन से जिनका काम उद्दीप्त हो गया है, वे कन्दराएं उस राजा के शत्रुओं को मानो गले लगाती हैं—यह उत्प्रेक्षा है । (२) एक ओर संग्राम में (उस राजा की) विजय देखकर उसके शत्रु भागकर गुफाओं में छिप जाते हैं—यह काव्यहेतु अलङ्कार है । (३) उसके शत्रु भाग कर नहीं गये अपि तु उस (राजा) से पराजय की आशङ्का करके कन्दराएं ही उनको नहीं छोड़ती हैं—यह अपह्नुति है ।

प्रभा—'केशेषु' इत्यादि (२) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु द्वारा अलङ्कार-*व्यञ्जना का उदाहरण है । यहाँ पर व्यञ्जक अर्थ है—शत्रुओं को कन्दराओं ने* गले लिपटा लिया' । यह कवि कल्पना प्रसूत वस्तु है—कवि प्रौढोक्ति मात्रसिद्ध वस्तु है । इसके द्वारा अलङ्काररूप अर्थ की अभिव्यक्ति होती है । यहां पर तीन अलङ्कार व्यङ्ग्य हो सकते हैं—(i) उत्प्रेक्षा, (ii) काव्यहेतु (काव्यलिङ्ग) और (iii) अपह्नुति । इन तीनों में से किसी भी अलङ्कार की व्यञ्जना हो सकती है अतः इन तीनों का 'सन्देहसङ्कर' है अथवा तीनों की व्यञ्जना होने के कारण एक व्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर है ।

अनुवाद—३. हर्ष या वेग (रभस) के साथ प्रियतम के गाढालिङ्गन के लिये उद्यत हो जाने पर मानों मनस्विनी नायिका का मान, दबाने से डरा हुआ सा, हृदय से शीघ्र ही (लघु) पूर्णतया चला गया' ॥६६॥

यहां पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार द्वारा 'प्रत्यालिङ्गन आदि वहाँ होने लगते हैं' यह वस्तु (ध्वनित होती है) ।

प्रभा—'गाढ' इत्यादि कवि प्रौढोक्तिसिद्ध (३) अलङ्कार द्वारा वस्तु व्यञ्जना का उदाहरण है । यह मानवती नायिकाविषयक किसी सखि की उक्ति है । यहाँ पर व्यञ्जक अर्थ है—मानों पीडन से भयभीत सा मान हृदय से शीघ्र निकल जाता है'' यह 'उत्प्रेक्षा' कवि प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध है । इसके द्वारा व्यङ्ग्यार्थ है 'मानिनी नायिका स्वयं आलिङ्गन आदि क्रीडाओं में रत हो जाती है, यह वस्तुरूप अर्थ ।

४. जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहवद्धविणिवेसा
दावेइ भुअणमंडलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥६७॥
(या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहवद्धविनिवेशा।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥६७॥

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिमीते इति व्यतिरेकः। एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः।

[कविनिवद्धप्रौढोक्तिसिद्धस्य चत्वारो भेदाः]

१. जे लङ्कागिरिमेहलासु खलिआ सम्भोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम्।
ते एह्विं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो-
जादा झत्ति चिसुत्तणे वि वहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥६८॥

अनुवाद—४. 'जो (काव्यरूपा) वाणी मानो बूढ़े ब्रह्मा का उपहास सा करती हुई कवि के मुख-कमल में निवास करके (बद्ध. रचितः विनिवेशः स्थितिर्यया) भुवनमण्डल को कुछ और (विलक्षण सा=अन्यदिव) ही दिखलाती है, उसकी जय हो' ॥६७॥

यहां पर (हसन्तीव आदि) उत्प्रेक्षा के द्वारा (कमलरूप) जड आसन पर न बैठी हुई सरस्वती ऐसे नवीन संसार का निर्माण करती है जिसका चमत्कार ही एक मात्र कारण या प्रयोजन है'। यह व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

इन चारों (उदाहरणों में) कविप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध अर्थ ही व्यञ्जक है।

प्रभा—(१) 'या' इत्यादि (४) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर 'हसन्तीव' इस उत्प्रेक्षा से 'चमत्कारैककारणत्व' यह अर्थ प्राप्त होता है। 'अन्यदिव' इस उत्प्रेक्षा से काव्य-जगत् की प्रतीक्षण नवीनता का बोध होता है तथा 'कविवदनादि' (कवि के मुख में स्थित) से 'अजडासनस्था' यह अर्थ प्राप्त होता है। यहाँ पर उत्प्रेक्षा रूप अर्थ व्यञ्जक है और वह कविप्रौढोक्ति सिद्ध है। उसके द्वारा व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

(२) उपर्युक्त चारों उदाहरणों में कविप्रौढोक्ति मात्र सिद्ध अर्थ ही व्यञ्जक है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

(१) 'कैलासस्य' इत्यादि में कविप्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु द्वारा वस्तु व्यञ्जना।
(२) 'केशेषु' इत्यादि में कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना।
(३) 'गाढ' इत्यादि में कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना।
(४) 'या' इत्यादि में कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना।

अनुवाद—१. 'जो वायु लङ्का के पर्वत की मेखलाओं पर गिर कर, सम्भोग से थकी हुई नागिनों के विशाल तथा ऊपर उठे हुए फणों की पंक्ति से निगले

(ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
तं इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो-
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ॥६८॥

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

२. सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥६६॥
(सखि, विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥६६॥

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना, प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा ।

के कारण क्षीणता (दरिद्रत्वम्) को प्राप्त हो गई थीं, वे इस समय मलय-पवन के रूप में विरहिणी नायिकाओं के श्वासों के सम्पर्क से युक्त होकर शीघ्र ही (झटिति) बाल्यावस्था में ही यौवन से पूर्ण सी होकर पुष्ट हो गई हैं' ॥६८॥

यहाँ पर 'निश्वासों के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त करके पवन क्या-क्या नहीं करतो है' । इस प्रकार वस्तु द्वारा वस्तु ध्वनित होती है ।

प्रभा—'ये' इत्यादि (३) कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है । कर्पूरमञ्जरी नामक नाटक में राजशेखर कवि-निबद्ध 'विचक्षणा' नामक (कर्पूरमञ्जरी की) सखी की कल्पना द्वारा प्रसूत यह अर्थ है । यहाँ पर वाच्यार्थ रूप वस्तु ही व्यञ्जक अर्थ है तथा निश्वासों द्वारा पुष्ट होकर मलयानिल के झोंके क्या क्या नहीं करते हैं ?' यह व्यङ्ग्य वस्तु है ।

अनुवाद—२. 'अरी सखि, (तेरे द्वारा विलाया गया) धैर्य मेरे मान को (तेरे संकट में मैं सहायक हूं इस प्रकार) आश्वासन देकर भी प्रिय-दर्शन से (मेरे) उत्कण्ठावश चञ्चल हो जाने के अवसर पर (क्षणे) 'मैंने यह कार्य सहसा कर दिया' यह कहता हुआ भाग गया ॥६६॥

यहाँ पर (वाच्यार्थ रूप) वस्तु द्वारा 'प्रार्थना न करने पर भी यह प्रसन्न हो गई'—यह (कारण बिना कार्योत्पत्ति रूप) विभावना अलङ्कार अथवा 'निश्चय ही प्रिय-दर्शन की सौभाग्यशक्ति को धैर्य सहन नहीं कर सकता (नहीं ठहर सकता')—यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

प्रभा—'सखि', इत्यादि (२) कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है ? 'क्यों मान छोड़ बैठी' यह कहने वाली सखी के प्रति

३. ओल्लोल्लकरअरअल्खएहिं तुह लोअरोसु मह दिएणं ।
रत्तंसुअं पआओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥७०॥
(आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥७०॥)

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्र-नखशतानि गोपायसि यावत्तवाहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

४. महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणणणकम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ॥७१॥
(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग, सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ॥७१॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति

किसी नायिका की यह उक्ति है । अचेतन 'धैर्य' में चेतन के धर्म 'अपसरण' का आरोप किया गया है अतः यह अर्थ कविनिबद्ध नायिका की प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध है । इसके द्वारा विभावनाऽलङ्कार अथवा उत्प्रेक्षाऽलङ्कार उपर्युक्त प्रकार से ध्वनित होते हैं ।

अनुवाद—३. 'हे प्रिय, मेरे ये नेत्र क्रोध से व्याप्त नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे शरीर में (अन्य नायिका द्वारा किये हुए) अत्यन्त आर्द्र (ताजे-ताजे) नख तथा दांत के व्रणों (क्षत) ने मेरे नेत्रों में यह रक्त-किरणों का प्रसाद अर्पित किया है' ॥७०॥

यहां पर "तुम्हारे नेत्र क्रुद्ध से क्यों हैं ?" इस (प्रश्न के उत्तर रूप) उत्तरालङ्कार द्वारा 'तुम केवल नवीन नख-क्षतों को ही नहीं छिपा रहे हो; किन्तु मैं उनकी प्रसाद-पात्र भी हुई हूँ' यह वस्तु ध्वनित होती है ।

प्रभा—'आर्द्रा' इत्यादि (३) कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है । प्रिय के शरीर में सपत्नी-कृत नखक्षतादि को देखकर कुपित होने वाली नायिका की प्रिय के प्रश्न के उत्तर में यह उक्ति है । प्रकृत वाक्यार्थ द्वारा—'तुम्हारे नेत्र क्यों कुपित हैं' ? इस प्रश्न का उन्नयन होता है । यहाँ कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध उत्तरालङ्कार रूप अर्थ ही व्यञ्जक है । उसके द्वारा उपर्युक्त वस्तु की व्यञ्जना होती है ।

अनुवाद—४. 'हे सौभाग्ययुक्त, यह (अकृत्रिम प्रेम वाली मेरी सखी) सहस्र (धूर्त) स्त्रियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में न समाती हुई (अमान्ती), अन्य कार्यों को छोड़कर प्रतिदिन स्वतः कृश शरीर को भी (किसी प्रकार तुम्हारे हृदय में प्रवेश पाने के लिये) और कृश कर रही है' ॥७१॥

यहां पर हेत्वलङ्कार (काव्यलिङ्ग) के द्वारा शरीर को कृश करने पर भी

विशेषोक्तिः। एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः। एवं द्वादश भेदाः॥

तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं पाती' यह विशेषोक्ति ध्वनित होती है। इन (चारों उदाहरणों) में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति से सिद्ध है स्वरूप (शरीर) जिसका ऐसा अर्थ ही व्यञ्जक है। इस प्रकार 'अर्थशक्तिमूलक के १२ भेद हैं'।

प्रभा—(१) 'महिला' इत्यादि (४) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार व्यञ्जना का उदाहरण है। विरह-कृश नायिका की दशा का नायक से वर्णन करती हुई सखी की यह उक्ति है। यहाँ पर कविनिबद्ध सखी की प्रौढोक्ति सिद्ध हेत्वलङ्कार रूप अर्थ व्यञ्जक है; हृदय में न समाने का हेतु है—उसका सहस्रों सुन्दरियों से भरा होना तथा कृश शरीर को कृशतर करने का हेतु है—प्रिय के हृदय में न समा सकना। ये दोनों कविनिबद्धवक्ता के कल्पना-प्रसूत हेतु हैं। इनके द्वारा विशेषोक्ति अलङ्कार की व्यञ्जना हो रही है अर्थात् शरीर को कृशतर करने पर भी (कारण होने पर भी) हृदय में स्थान नहीं पाती (कार्य का न होना) रूप विशेषोक्ति अलङ्कार यहाँ व्यङ्ग्यार्थ है।

(२) उपर्युक्त चारों उदाहरणों में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ ही व्यञ्जक है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

(१) 'ये' इत्यादि में कविनिबद्ध सखी की प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु-द्वारा वस्तु व्यञ्जना।

(२) 'सखी' इत्यादि में कविनिबद्धा नायिका की प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना।

(३) 'आर्द्रा' इत्यादि में कवि निबद्धा नायिका के प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना।

(४) 'महिला' इत्यादि में कविनिबद्ध सखी-प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना।

इस प्रकार कारिका ४० में निरूपित अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि के १२ भेदों का उदाहरण सहित निरूपण किया गया है।

टिप्पणी—ध्वन्यालोक में जो प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध व्यञ्जक अर्थ एक रूप में ही कहा गया था आचार्य मम्मट ने उसके दो प्रकार बतलाये—१. कविप्रौढोक्ति-सिद्ध २. कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध। इन दोनों के भेद का समर्थन करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—'न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अतः कवि-निबद्धप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारिणीति पृथक् प्रतिपादिता (सा० दर्पण ४·८)। अर्थात् कविप्रौढोक्ति से कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति अधिक [illegible] नायक आदि के समान कवि तो स्वयं अनुराग आदि से युक्त नहीं होता।

[उभयशक्तिमूलकध्वनिः]

(५५) शब्दार्थोभयभूरेकः—

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या।

अनुवाद—शब्द और अर्थ (उभयशक्तिमूलक ध्वनि) एक प्रकार की है। जैसे—(रात्रि पक्ष में अर्थ) 'उज्ज्वल रूप वाला चन्द्रमा जिसका भूषण है, जो काम (मन्मथ) को जगाने वाली है, जिसमें चञ्चल या अल्प (तरला) तारे हैं ऐसी श्यामा रात्रि किस व्यक्ति को आनन्दित नहीं करती ?

'(श्यामा नायिका पक्ष में) आलस्य रहित (अतन्द्रा) तथा कपूर (चन्द्र) नामक शिरोभूषण वाली, काम-भाव को जगाने वाली एवं जिसके नेत्रों के तारे चञ्चल हैं ऐसी श्यामा नायिका किस पुरुष को आनन्दित नहीं करती' ॥७२॥

यहाँ पर उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

प्रभा—(१) 'अतन्द्र' इत्यादि शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर उपर्युक्त रीति से अर्थद्वय की प्रतीति होती है। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा वाच्य वस्तु से उपमालङ्कार की व्यञ्जना होती है। श्यामा नायिका तथा रात्रि की उपमा प्रतीत होती है और वह उपमा 'श्यामा नायिका के समान रात्रि है' अथवा 'रात्रि के समान श्यामा नायिका है' इस रूप में है। शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि का यह एक ही प्रकार है, जहाँ वस्तु द्वारा अलङ्कार की व्यञ्जना होती है।

(२) यद्यपि शब्दशक्तिमूलक मे अर्थ तथा अर्थशक्तिमूलक मे शब्द भी व्यञ्जक होते हैं और इस प्रकार सर्वत्र उभयशक्तिमूलक ध्वनि होनी चाहिए तथापि गौण-प्रधानभाव की दृष्टि से तीन भेद किये गये हैं, अर्थात् जहाँ शब्द ही प्रधानरूप से व्यञ्जक होता है उसके बदलने पर व्यञ्जना नहीं होती वह शब्दपरिवृत्त्यसह ध्वनि शब्दशक्तिमूलक है। जहाँ शब्द बदलने पर भी व्यञ्जना होती है, वह शब्द परि-वृत्तिसह ध्वनि अर्थशक्तिमूलक है और जहाँ कुछ शब्द परिवृत्त्यसह और कुछ परि-वृत्तिसह होते है वहाँ उभयशक्तिमूलक ध्वनि है।

'अतन्द्र' इत्यादि उदाहरण में चन्द्र, तारका, तरल और श्यामा शब्दों का परिवर्तन करने पर ध्वनि ही नहीं रहती; किन्तु अतन्द्रा, आभरण, समुद्दीपित और मन्मथ के स्थान पर क्रमशः उनके पर्याय अनिद्रा, भूषण, समुत्तेजित और काम आदि का भी प्रयोग कर दिया जाय तो ध्वनि में कोई अन्तर नहीं होगा। इस प्रकार यह उभयशक्तिमूलक ध्वनि है।

विशेषोक्तिः। एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः। एवं द्वादश भेदाः॥

तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं पाती' यह विशेषोक्ति ध्वनित होती है। इन (चारों उदाहरणों) में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति से सिद्ध है स्वरूप (शरीर) जिसका ऐसा अर्थ ही व्यञ्जक है। इस प्रकार 'अर्थशक्तिमूलक के १२ भेद हैं'।

प्रभा—(१) 'महिला' इत्यादि (४) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार व्यञ्जना का उदाहरण है। विरह-कृश नायिका की दशा का नायक से वर्णन करती हुई सखी की यह उक्ति है। यहाँ पर कविनिबद्ध सखी की प्रौढोक्ति सिद्ध हेत्वलङ्कार रूप अर्थ व्यञ्जक है; हृदय में न समाने का हेतु है—उसका सहस्रों सुन्दरियों से भरा होना तथा कृश शरीर को कृशतर करने का हेतु है—प्रिय के हृदय में न समा सकना। ये दोनों कविनिबद्धवक्ता के कल्पना-प्रसूत हेतु हैं। इनके द्वारा विशेषोक्ति अलङ्कार की व्यञ्जना हो रही है अर्थात् शरीर को कृशतर करने पर भी (कारण होने पर भी) हृदय में स्थान नहीं पाती (कार्य का न होना) रूप विशेषोक्ति अलङ्कार यहाँ व्यङ्ग्यार्थ है।

(२) उपर्युक्त चारों उदाहरणों में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ ही व्यञ्जक है। संक्षेप के वह इस प्रकार है—

(१) 'से' इत्यादि में कविनिबद्ध सखी की प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु-द्वारा वस्तु व्यञ्जना।

(२) 'सखी' इत्यादि में कविनिबद्धा नायिका की प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना।

(३) 'आर्द्रा' इत्यादि में कवि निबद्धा नायिका के प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना।

(४) 'महिला' इत्यादि में कविनिबद्ध सखी-प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना।

इस प्रकार कारिका ४० में निरूपित अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि के १२ भेदों का उदाहरण सहित निरूपण किया गया है।

टिप्पणी—ध्वन्यालोक में जो प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध व्यञ्जक अर्थ एक रूप में ही कहा गया था आचार्य मम्मट ने उसके दो प्रकार बतलाये—१. कविप्रौढोक्ति-सिद्ध २. कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध। इन दोनों के भेद का समर्थन करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—'न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अतः कवि-निबद्धप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारिणीति पृथक् प्रतिपादिता (सा० दर्पण ४·८)। अर्थात् कविप्रौढोक्ति से कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति अधिक [illegible] आदि के समान कवि तो स्वयं अनुराग आदि से युक्त नहीं होता।

[उभयशक्तिमूलकध्वनिः]

(५५) शब्दार्थोभयभूरेकः—

यथा—

> अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
> तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

अनुवाद—शब्द और अर्थ (उभयशक्तिमूलक ध्वनि) एक प्रकार की है। जैसे—(रात्रि पक्ष में अर्थ) 'उज्ज्वल रूप वाला चन्द्रमा जिसका भूषण है, जो काम (मन्मथ) को जगाने वाली है, जिसमें चञ्चल या अल्प (तरला) तारे हैं ऐसी श्यामा रात्रि किस व्यक्ति को आनन्दित नहीं करती ?

'(श्यामा नायिका पक्ष में) आलस्य रहित (अतन्द्रा) तथा कर्पूर (चन्द्र) नामक शिरोभूषण वाली, काम-भाव को जगाने वाली एवं जिसके नेत्रों के तारे चञ्चल हैं ऐसी श्यामा नायिका किस पुरुष को आनन्दित नहीं करती' ॥७२॥

यहाँ पर उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

प्रभा—(१) 'अतन्द्र' इत्यादि शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर उपर्युक्त रीति से अर्थद्वय की प्रतीति होती है। *यहाँ शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा वाच्य वस्तु से उपमालङ्कार की व्यञ्जना होती* है। श्यामा नायिका तथा रात्रि की उपमा प्रतीत होती है और वह उपमा 'श्यामा नायिका के समान रात्रि है' अथवा 'रात्रि के समान श्यामा नायिका है' इस रूप में है। शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि का यह एक ही प्रकार है, जहाँ वस्तु द्वारा अलङ्कार की व्यञ्जना होती है।

(२) यद्यपि शब्दशक्तिमूलक में अर्थ तथा अर्थशक्तिमूलक में शब्द भी व्यञ्जक होते हैं और इस प्रकार सर्वत्र उभयशक्तिमूलक ध्वनि होनी चाहिए तथापि गौण-प्रधानभाव की दृष्टि से तीन भेद किये गये हैं, अर्थात् जहाँ शब्द ही प्रधानरूप से व्यञ्जक होता है उसके बदलने पर व्यञ्जना नहीं होती वह शब्दपरिवृत्त्यसह ध्वनि शब्दशक्तिमूलक है। जहाँ शब्द बदलने पर भी व्यञ्जना होती है, वह शब्द परिवृत्तिसह ध्वनि अर्थशक्तिमूलक है और जहाँ कुछ शब्द परिवृत्त्यसह और कुछ परिवृत्तिसह होते है वहाँ उभयशक्तिमूलक ध्वनि है।

'अतन्द्र' इत्यादि उदाहरण में चन्द्र, तारका, तरल और श्यामा शब्दों का *परिवर्तन करने पर ध्वनि ही नहीं रहती;* किन्तु अतन्द्रा, आभरण, समुद्दीपित और मन्मथ के स्थान पर क्रमशः उनके पर्याय अनिद्रा, भूषण, समुत्तेजित और काम आदि का भी प्रयोग कर दिया जाय तो ध्वनि में कोई अन्तर नहीं होगा। इस प्रकार यह उभयशक्तिमूलक ध्वनि है।

[ध्वनिप्रकारविवेचनम्]

—(५६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति ध्वनेः।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(५७) रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते।

अनन्तत्वादिति। तथा हि नव रसाः तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च, सम्भोगस्यापि परस्परावलोकनाऽऽलिङ्गन-चुम्बनादिकुसुमोच्चय-जल-केलि-सूर्यास्तमय-चन्द्रोदय-षड्ऋतुवर्णनादयो बहवो

अनुवाद—इसलिये (तत् तस्मात्) इस (ध्वनि) के १८ भेद होते हैं। (५६) (कारिका में) 'अस्य' का अभिप्राय है—ध्वनि के।

प्रभा—उपर्युक्त ध्वनि-प्रकारों की गणना करते हुए आचार्य मम्मट ने ध्वनि के १८ भेद बतलाए हैं, जैसे कि ध्वनि के प्रथमतः दो भेद होते हैं—१. लक्षणामूलक जिसे अविवक्षितवाच्य भी कहा जाता है, २. अभिधामूलक, जिसे विवक्षितान्यपरवाच्य भी कहा जाता है। फिर लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद होते है—

(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य =२

अभिधामूलक ध्वनि में (१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक प्रकार =१

तथा (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य १५ प्रकार को होती है जैसे—

(क) शब्दशक्तिमूलक—(१) वस्तु ध्वनि (२) अलङ्कार ध्वनि =२

(ख) अर्थशक्तिमूलक उपर्युक्त प्रकार से =१२

(ग) उभयशक्तिमूलक—वस्तु द्वारा अलङ्कारव्यञ्जना, केवल एक भेद =१

१८

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट की ध्वनि-भेद गणना अभिनवगुप्त की ध्वनि भेद गणना के आधार पर ही है। अन्तर केवल यही है कि उन्होंने (ध्वन्यालोक-लोचन २–३१) शब्दशक्तिमूलकध्वनि का केवल एक भेद माना है तथा शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि को पृथक् नहीं गिनाया। अतएव उनके अनुसार १६ भेद होते हैं (षोडश मुख्यभेदाः)।

(ii) साहित्यदर्पणकार ने ध्वनि भेद-गणना में मम्मट का ही अनुसरण किया है:—'तदष्टादशधा ध्वनिः'। (साहित्यदर्पण ४–६)

अनुवाद—(शङ्का होती है कि जब रस आदि के बहुत से भेद हैं तो ध्वनि के) १८ भेद कैसे? इसीलिये (इसका समाधान करने के लिये) ग्रन्थकार कहते हैं—रस आदि के अनन्त होने से उनका एक प्रकार (असंलक्ष्यक्रमध्वनि) ही गिना जाता है। (५७)

भेदाः। विप्रलम्भस्याऽभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि विभावा-नुभाव-व्यभिचारिवैचित्र्यं, तत्रापि नायकयोरुत्तम-मध्यमा-ऽधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देशकालाऽवस्थादिभेदा इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यं, का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

(५८) वाक्ये द्व्युत्थः—

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

—(५९) पदेऽप्यन्ये—

(कारिका मे) रसादि को 'अनन्त' कहने का अभिप्राय है कि—जो रस हैं, उनमें भी शृङ्गार के दो भेद हैं—(१) सम्भोग और (२) विप्रलम्भ । सम्भोग शृङ्गार के भी (नायक-नायिका का) एक दूसरे को देखना, आलिङ्गन, परिचुम्बन इत्यादि पुष्प-चयन, जल-क्रीड़ा, सूर्यास्त, चन्द्रोदय तथा षड्-ऋतु-वर्णन इत्यादि बहुत से भेद हैं । विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिलाष इत्यादि भेद ('अपरस्तु' आदि) से कहे गये हैं। उन दोनों (सम्भोग और विप्रलम्भ में भी विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के नाना प्रकार (वैचित्र्य) हैं । उस वैचित्र्य के होने पर भी (तत्रापि) नायक और नायिका के उत्तम, मध्यम तथा अधम स्वभाव भी विचित्रता के हेतु हैं । उसमें भी देश (कुञ्ज आदि), काल (वसन्त आदि), अवस्था (नवयौवन आदि) के भेद वैचित्र्य के हेतु होते हैं । इस प्रकार एक शृङ्गार रस की ही अनन्तता है (अगणित भेद हैं) तो अन्यों (वीर इत्यादि रस तथा भाव आदि) की क्या गणना ? इसलिए असंलक्ष्यक्रमतारूप (रस भावादि में) साधारण धर्म (सामान्य) को लेकर रसादिध्वनि का एक ही प्रकार गिना जाता है ।

प्रभा—(१) उपर्युक्त ध्वनि के १८ भेदों में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का एक ही प्रकार गिना गया है । अतएव यह शंका हो सकती है कि रस आदि के तो बहुत भेद हैं अतः असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भी अनेक भेद हो सकते है फिर उसे एक ही क्यों गिना गया है । इसी बात का समाधान 'रसादीनाम्' इत्यादि कारिका तथा उसकी वृत्ति मे किया गया है । ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि रस आदि के अनन्त भेद हैं किन्तु सभी में एक समानता है और वह है 'असंलक्ष्यक्रमता' इसी को उपाधि अथवा साधारण धर्म मानकर सभी रसादि-विषयक ध्वनियों को एक गिना जाता है । साहित्यदर्पणकार ने भी (सा० द० ४–५ में) यही बात कही है—

'तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते ।
एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥

अनुवाद—शब्दार्थोभयशक्तिमूलक (द्वाभ्यामुत्तिष्ठतीति द्व्युत्थ) ध्वनि वाक्य में ही होती है ।

(कारिका में) 'द्व्युत्थः' अर्थात् शब्दर्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि । (५८)

अन्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य आदि (१७) ध्वनि भेद पद (शब्द) में भी होते हैं । (५९)

अपिशब्दाद् वाक्येऽपि । एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पद-द्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्यापि भारती भासते ।

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

१. यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥७३॥

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्व-नियन्त्रणीयत्व-स्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः ।

२. खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम् ।
हिअअवअस्सवहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥७४॥
(खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथाऽपि धीराणाम् ।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥७४॥

'अपि' शब्द (के प्रयोग) से ये (१७ भेद) वाक्य में तो होते ही हैं (यह अभिप्राय है) जैसे एक अवयव (नासिकादि में स्थित आभूषण से कामिनी शोभायमान होती है, इसी प्रकार एक पद के द्वारा प्रकाश्य व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा वाक्य-व्यङ्ग्य काव्यरूपा वाणी (भारती) चमत्कारक होती है (भासते) ।

प्रभा—(१) भाव यह है कि जिस (वाक्यादि) के अन्तर्गत पद का व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारक होता है वह भी ध्वनिकाव्य है ।

(२) शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि के अतिरिक्त अन्य ध्वनियाँ पद तथा वाक्य में होती हैं अतः ध्वनि के कुल प्रकार (१७×२) +१=३५ हो जाते हैं ।

अनुवाद—उनमें (१७ प्रकार) की पदध्वनि के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

१. 'जिस (मनुष्य) के मित्र विश्वासपात्र (मित्र) हैं, तथा जिसके शत्रु पूर्णतया दमन के योग्य (शत्रु) हैं एवं दयापात्र वस्तुतः स्नेहपात्र ही हैं, वही मनुष्य शोभन जन्म वाला (जातः) है तथा वही (प्रशंसनीय रूप से) जीता है ॥७३॥

यहाँ पर द्वितीय मित्र, शत्रु तथा अनुकम्प शब्द (क्रमशः) आश्वस्त (विश्वास पात्र), नियन्त्रण (दमन) के योग्य और स्नेहपात्र रूप अर्थ में संक्रान्त (परिणत) हो जाते हैं ।

प्रभा—'यस्य' इत्यादि (१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) अर्थान्तर-संक्रमित 'पदगत' ध्वनि का उदाहरण है । यहाँ पर द्वितीय मित्रादि शब्द स्ववाच्यार्थ में अनुपयुक्त हैं, अतः 'आश्वस्तत्व' आदि अर्थ को लक्षित करते हैं । इससे नायक का उचित व्यवहार आदि व्यङ्ग्य है, जो उपादानलक्षणा का फल है । यहाँ पर प्रत्येक 'मित्र' आदि शब्द से नायक की 'स्थिरस्वभावता' व्यङ्ग्य है 'त्वामस्मि' (उदाहरण २३) में तो 'सावधान रहना' यह बात वाक्य द्वारा व्यङ्ग्य है । यही पदद्योत्य और वाक्यद्योत्य ध्वनि का अन्तर है ।

अनुवाद—२. 'यद्यपि धूर्तों के व्यवहार दुःखदायक दिखाई पड़ते हैं तथापि हृदय रूपी मित्र द्वारा अनुमोदित (हृदयमेव वयस्यो मित्रं तेन बहुमता अनुमोदिताः)

अत्र विमुह्यन्तीति ।

३. (क) लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥७५॥

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते । यथा वा—

३. (ख) मुग्धे, मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना ।
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥

धीर लोगों के उद्योग नहीं रुकते (विमुह्यन्ति)' ॥७४॥

यहां पर विमुह्यन्ति यह पद (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है) ।

प्रभा—'खल' इत्यादि (२) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) अत्यन्ततिरस्कृत ध्वनि का उदाहरण है। यहां पर अचेतन (व्यवसाय) में 'विमोह' का मुख्यार्थ 'किंकर्तव्य-विमूढता' नहीं बन सकता क्योंकि यह चेतन का धर्म है) अतएव 'विमोह' शब्द 'रुक जाना' (विराम) अर्थ को लक्षित करता है। इससे धीरों का इष्ट कार्य करना व्यङ्ग्य है, जो यहां लक्षण-लक्षणा का फल है।

यहां पर 'विमुह्यन्ति' यह पद ही व्यञ्जक है अतः व्यङ्ग्यार्थ पद-प्रकाश्य है किन्तु "उपकृतं बहु" इत्यादि (२४ उदाहरण) में वाक्य द्वारा व्यङ्ग्यार्थ द्योतित होता है। यही दोनों का भेद है।

अनुवाद—३ (क) 'वह (अनुभूत) सौन्दर्य, वह कान्ति, वह रूप (आकार अथवा रंग आदि) वह बोलने का ढंग (ये सब) तब तो अमृत के समान थे, किन्तु अब तो (उसके वियोग में उनका स्मरण होने पर) अत्यन्त पीड़ादायक ज्वर से प्रतीत होते हैं ॥७५॥

यहां पर 'तद्' (असौ, तदा, अधुना) आदि पदों द्वारा एकमात्र अनुभव के विषय (अवर्णनीय विशेषलावण्यादि) भावों की व्यञ्जना होती है।

प्रभा—'लावण्य' इत्यादि (३ क) पद-प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है। यहां पर वाक्य द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यक्ति होती है। अनुभवगोचर लावण्य आदि को 'तद्' आदि पद ध्वनित करते हैं तथा पद-व्यङ्ग्य अर्थों की ही यहां पर प्रधानता है; क्योंकि अनुभूत लावण्यादि का स्मरण विप्रलम्भ का पोषक है अतएव यहां ध्वनि पद-प्रकाश्य है।

अनुवाद—३. (ख) अरी मुग्धे, तू सीधेपन (मुग्धतया=यथोचित मान आदि का आचरण किये बिना) से ही समस्त (यौवन) समय को व्यतीत करना क्यों आरम्भ करती है? मान धारण कर, धीरज धर, प्रियतम के सम्बन्ध में सरलता को दूर कर दे।" सखी के द्वारा इस प्रकार बार-बार समझाई गई। उस भययुक्त मुख वाली (नायिका) ने यह उत्तर दिया—'सखी, धीरे से बोल नहीं तो मेरे हृदय में स्थित मेरा प्राणप्रिय सुन लेगा' ॥७६॥

अत्र भीताननेति । एतेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते । भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकन्न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

४. रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः ।
झटिति भ्रुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप, भीम ॥७७॥

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

यहाँ पर 'भीतानना' इस पद में (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) ध्वनि है । इससे 'धीरे-धीरे बोलने के विधान' का औचित्य प्रकट होता है ।

प्रभा—'मुग्धे' इत्यादि (३ ख) पद-व्यङ्ग्य असंलक्ष्यक्रमध्वनि का उदाहरण है । अमरुशतक के इस पद्य में सम्भोग शृङ्गार व्यङ्ग्य है । लावण्यम्' इत्यादि उदाहरण (७५) में तो विप्रलम्भ शृङ्गार व्यङ्ग्य है । इसी दृष्टि से इस ध्वनि-भेद के दो उदाहरण दिये गये हैं । 'भीतानना' शब्द द्वारा 'धीरे-धीरे बोलना ही ठीक है' यह प्रतीत होता है ।

यहाँ पर 'भीतानना' पद प्रधान रूप से व्यङ्ग्य है अतः यह पद-प्रकाश्य ध्वनि है । 'शून्यं वासगृहम्' (३० उदाहरण) इत्यादि में कोई एक पद प्रधान रूप से व्यञ्जक नहीं अतः वहाँ वाक्य-व्यङ्ग्य ध्वनि है ।

अनुवाद—भाव (भावाभास) आदि के पद-प्रकाश्य होने में विशेष चमत्कार (वैचित्र्य) नहीं है इसलिये यहां उनके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं ।

प्रभा—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के पद-प्रकाश्य रस-विषयक उदाहरण ऊपर दिये गये हैं; किन्तु ग्रन्थकार भावादि रूप पद-प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के उदाहरण नहीं दिखला रहे हैं इसका कारण यह है कि पद-व्यङ्ग्य भाव भावाभास आदि विशेष चमत्कारक नहीं हुआ करते ।

अनुवाद—४. हे भयङ्कर (भीम) राजन्, रक्त की धारा (विसर) से अलङ्कृत खड्गद्वारा भयानक तथा सुन्दर (क्रमशः शत्रु और मित्र के लिए) हैं भुजा रूपी परिघ (लौहदण्ड-अर्गला) जिसके और शीघ्र ही भ्रूभङ्ग से तरङ्गित (विटङ्कित) है ललाटफलक जिसका, ऐसे तुम शोभायमान हो ॥७७॥

यहाँ पर भीषण (नृप) का भीमसेन उपमान है । यह व्यङ्ग्य है ।

प्रभा—रुधिर इत्यादि (४) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पद-प्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में वस्तु द्वारा अलङ्कारव्यञ्जना का उदाहरण है । यहाँ [illegible]
विशेषण 'भीम' शब्द है उसका वाच्य अर्थ है—भीषण या [illegible]
पाण्डववीर भीमसेन (उपमानरूप में) [illegible] नृप तथा [illegible]
व्यङ्ग्य है । 'भीम' शब्द की महिमा ([illegible] व्यक्त होती
पद-प्रकाश्य ध्वनि है । ऊपर [illegible] उदाहरण)
वाक्य-व्यङ्ग्य है । यहाँ पर भीम पद [illegible]

५. भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥७८॥

काचित्सङ्केतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति ।

६. सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यन्तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥७९॥

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापदद्योत्यं व्यज्यते ।

अनुवाद—५. (वाच्यार्थ) 'स्वर्गादि भोग (भुक्ति) तथा मोक्ष का दिलाने वाला नियमपूर्वक (एकान्त) सम्यक् उपदेश करने में तत्पर जो श्रेष्ठ आगम (वेद-शास्त्र) है वह किस (विज्ञ) के हृदय में आनन्द का प्रवाह (निष्यन्द) नहीं करता ?' (व्यङ्ग्यार्थ) 'सुरतादि भोग तथा विरह दु:ख का त्याग (मुक्ति कराने वाला) संकेत स्थान (एकान्त) को भली भाँति बतलाने में तत्पर जो सुन्दर अर्थात् प्रियतम का आगमन है वह किस (रमणी) के हृदय में आनन्द का प्रवाह नहीं करता ?' ॥७८॥

कोई (नायिका) संकेत देने वाले उपनायक की ही इस प्रकार मुख्यवृत्ति से स्तुति करती है ।

प्रभा—'भुक्ति' इत्यादि (५) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पद-प्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में—वस्तु द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है । यह अन्यजनसन्निधि में उपनायक के आ जाने पर हर्ष प्रकट करने वाली नायिका की उक्ति है । यहाँ पर द्वितीय अर्थ मुख्य रूप से विवक्षित है किन्तु उसे छिपाने के लिये अप्राकरणिक कर दिया गया है और अप्रस्तुत अर्थ को प्राकरणिक बना दिया है । वह वाच्यार्थ (मुख्य) अप्राकरणिक होकर व्यङ्ग्य बन गया है—इसी हेतु 'मुख्यया वृत्त्या' का अभिप्राय है व्यञ्जनावृत्ति द्वारा (बालबोधिनी) । इस प्रकार 'सदागम' पद के द्वारा मुख्यरूप से उपपत्ति की स्तुतिरूप वस्तु ध्वनित होती है ।

यद्यपि यहाँ पर 'भुक्ति' 'मुक्ति' पद भी व्यञ्जक है किन्तु उनके बिना भी, प्रधानरूप से 'सदागम' पद ही व्यञ्जक है; अतः यहाँ पर पद-प्रकाश्य ध्वनि है 'पथिक' इत्यादि (५८ उदा०) में तो अनेक पदों से वस्तु-व्यञ्जना होती है अतएव वहाँ वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि है । यहाँ 'सदागम' पद परिवृत्त्यसह है अतः शब्दशक्तिमूलक ध्वनि है ।

अनुवाद—६. 'हे सखि, यद्यपि तुमने सन्ध्या समय स्नान किया, शरीर में चन्दन का लेपन कराया, प्रकाश का मणि अर्थात् सूर्य अस्ताचल के शिखर को चला गया (अर्थात् रात्रि हो गई) तब तुम्हारा यहाँ (कुञ्जादि युक्त प्रदेश में) निर्भयता-पूर्वक आगमन हुआ तथापि जिस सुकुमारता के कारण (येन) तुम ऐसी श्रान्त हो गई कि तुम्हारे नेत्रयुगल बिना बार २ बन्द हुए (अमीलनस्य व्यतिकरः पौनः पुन्येन प्रवृत्ति यत्र तादृशम्) ठहर (स्थातुं) नहीं सकते, तुम्हारी यह सुकुमारता अद्भुत है' ॥७९॥

यहाँ पर (वाच्यार्थ रूप) वस्तु द्वारा 'पर पुरुष से समागम (परिचय) करके

७. तद्प्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥८०॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥८१॥

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्ताह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं चाशेष-चयपदद्योत्ये अतिशयोक्ती ।

तुम थक गई' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है—जो कि 'अधुना' शब्द द्वारा प्रकाश्य है।

प्रभा—'सायम्' इत्यादि (६. अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि के द्वादश भेदों में से पद-प्रकाश्य स्वतः सिद्ध वस्तु द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। उपनायक से रतिक्रीड़ा करके थकावट को दूर करने के लिये स्नान आदि कर चुकने वाली सखी के प्रति विदग्धा सखी की यह उक्ति है। यहाँ पर स्वतः सम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ है—'ऐसी विचित्र सुकुमारता ! जिससे अब क्लान्त हो गई।' यह वाक्यार्थ रूप वस्तु लोक सिद्ध है। इसके द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ है—'पर पुरुष के समागम से तुम थक गई'।

इस व्यङ्ग्यार्थ के द्योतन में 'अधुना' शब्द की प्रधानता है—(अधुनैवायं क्लमः नान्यदा कदापि दृष्टः—इस रूप में) अतः यहाँ पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'क्लस' इत्यादि (६० उदाहरण) में तो ध्वनि वाक्य-व्यङ्ग्य ही है। अधुना के स्थान पर 'इदानीम्' आदि पद रख देने पर भी ध्वनि बनी रहेगी। अतः यहाँ अर्थशक्तिमूलक ध्वनि (शब्दपरिवृत्तिसह) है।

अनुवाद—७. (उन (श्रीकृष्ण) के वियोग (अप्राप्ति) से होने वाले महादुःख के कारण जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये थे, उनके ध्यान (चिन्ता) से होने वाले महान् आनन्द के द्वारा जिसका पुण्य-संचय क्षीण हो गया था, ऐसी कोई गोपी तो परब्रह्मस्वरूप संसार के उत्पादक (जगतः सूतिः उत्पत्तिः यस्मात्) श्रीकृष्ण का चिन्तन करती हुई प्राण-वायु रुक जाने से मोक्ष को प्राप्त हुई' ॥८०, ८१॥

यहाँ पर सहस्रों जन्मों में भोगने योग्य पाप और पुण्यों के फल विरह-वेदना तथा ध्यान के आनन्द द्वारा भोग लिये गये (अनुभूतानि)—यह कहा गया है। इस प्रकार 'अशेष' (समस्त) और 'चय' (समूह) शब्दों से व्यक्त होने वाली (दो) अतिशयोक्तियाँ हैं।

प्रभा—'तद्' इत्यादि (७) पद-प्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि में स्वतः सम्भवी वस्तु द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है। यह विष्णु पुराण के दो पद्यों का युग्मक है। यहाँ पर जन्मसहस्र में भोगने योग्य पापराशि के फल का भगवद्वियोग दुःख के साथ तादात्म्याध्यवसाय है जो 'अशेष' पद द्वारा द्योतित हो रहा है। इसी प्रकार जन्म जन्मान्तर में भोगने योग्य पुण्य-फल का भगवच्चिन्तन सुख के साथ तादात्म्याध्यवसाय है, जो 'चय' पद द्वारा द्योतित हो रहा है। अतएव

८. क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।
बत वीर, तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥८२॥

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्त्तते इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

९. तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महिसंमुहम् ॥८३॥
(तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥८३॥)

निगीर्याध्यवसान रूप अतिशयोक्तियाँ 'अशेष' तथा 'चय' पदों द्वारा ध्वनित होती है। इस व्यञ्जना में 'अशेष' और 'चय' शब्दों की प्रधानता के कारण यह पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'धन्यासि' (६१ उदाहरण) इत्यादि मे किसी पद की प्रधानता नही अतः वहाँ वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि है।

अनुवाद—८. 'अहो ! वीर, तुम्हारे प्रतिकूल (पराङ्मुख) हो जाने पर तुम्हारे शत्रुओं के (लिये) सभी प्रतिकूल हो गया है। 'क्षणदा' आनन्ददायिनी रात्रि 'अक्षणदा' आनन्द न देने वाली (क्षणमुत्सवं न ददाति इति) हो गई है। 'वन' भी 'अवन' अर्थात् रक्षक (अवति इति) हो गया तथा 'व्यसन' द्यूतादि 'अव्यसन' (अर्थात् मनोरञ्जन में असमर्थ अथवा अवीनाम् असनम्-भेड़ चराना) हो गये हैं' ॥८२

यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक (क्षणदा, अक्षणदा आदि) विरोध के उपपादक (अङ्ग) अर्थान्तरन्यास के द्वारा 'विधाता भी तुम्हारा अनुसरण करता है' यह वस्तु 'सर्व' पद से द्योतित होती है।

प्रभा—'क्षणदा' इत्यादि (८) पद-प्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि में—स्वतः सिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर अर्थान्तरन्यास-अलङ्काररूप अर्थ व्यञ्जक है। यह अर्थान्तरन्यास (शब्दशक्तिमूलक) 'क्षणदा' आदि के अक्षणदा हो जाने के उपपादक रूप में प्रस्तुत हुआ है अर्थात् जो क्षणदा है वह अक्षणदा कैसे हो जाती है ? क्योंकि आपके पराङ्मुख हो जाने पर शत्रुओं के लिये सब पराङ्मुख हो जाता है। यह अर्थान्तरन्यासरूप व्यञ्जक अर्थ स्वतः सम्भवी है। इसके द्वारा यह वस्तु ध्वनित होती है कि—'विधाता भी तुम्हारा अनुसरण करता है'।

इस व्यञ्जना में 'सर्व' पद की प्रधानता है, अतः यह पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'दर्पान्ध' इत्यादि (६२ उदाहरण) में तो ऐसा कोई पद नहीं है अतः वहाँ वाक्य ध्वनि है। यहाँ पर 'सर्व' शब्द के अनेक अर्थ नहीं अतः अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा ही वस्तु-व्यञ्जना मानी जाती है।

अनुवाद— . 'प्रातःकाल तुम्हारे प्रियतम का अधरोष्ठ मुरझाये हुए कमल-पत्र के समान था' इस बात को सुनकर नवढा-नायिका अपना मुख भूमि की ओर कर लेती है' ॥८३॥

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् ।

एषु स्वतः सम्भवी व्यञ्जकः ।

१०. राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ॥८४॥
(रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥८४॥)

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ।

यहाँ पर रूपक अलङ्कार द्वारा 'तूने इस (अधर) का बार बार ऐसा चुम्बन किया कि इसमें म्लानता आ गई' यह काव्यलिङ्ग अलङ्कार 'मिलाण' आदि पद से द्योतित होता है ।

इन (सायं आदि से लेकर 'तव' इत्यादि तक चार) उदाहरणों में स्वतः सम्भवी अर्थ व्यञ्जक है ।

प्रभा—'तव' इत्यादि (६) पद-प्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि में—स्वतः सिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है । यह किसी सखी की नवोढा नायिका के प्रति उक्ति है । यहाँ पर 'अधरः म्लानकमलदलम्' यह रूपक-अलङ्काररूप अर्थ व्यञ्जक है । यह स्वतः सम्भवी अर्थ ही है । इसके द्वारा ध्वनित होने वाला अर्थ है—काव्यलिङ्ग अलङ्कार । जिसका स्वरूप है—नायिका ने अधर का बार बार ऐसा चुम्बन किया कि उसमें म्लानता आ गई । यहाँ 'म्लानता' में 'परिचुम्बन' हेतु है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

यह व्यङ्ग्यार्थ (म्लानकमलदल) 'म्लान' आदि पद के द्वारा प्रधानरूप से द्योतित होता है अतः यहाँ व्यङ्ग्य पद-प्रकाश्य है । 'गाढकान्त' (६३ उदाहरण) इत्यादि में तो ध्वनि वाक्य-व्यङ्ग्य ही है । ऊपर के चारों उदाहरणों में वाक्य-ध्वनि के समान ही अर्थशक्तिमूलक (संलक्ष्यक्रम) स्वतः सिद्ध व्यञ्जक के पद-द्योत्य चार रूप समझने चाहिएँ ।

अनुवाद—१०. जो (कामदेव) चन्द्र-धवलित रात्रियों में सुकुमार (कुसुममय) धनुष को फटकार कर ही (बाणादि सन्धान करके नहीं) संसार में अपना एकच्छत्र राज्य करता है तथा गर्व के साथ विचरण करता है (विजृम्भमाणः अतिसाहङ्कारतया वर्तमानः)' ॥८४॥

यहाँ पर वस्तु द्वारा 'जिन कामी व्यक्तियों का राजा यह कामदेव (स्मरः) है, उनमें से कोई भी उसकी आज्ञा से विमुख नहीं होता । इस हेतु (इति) जागते हुए उपभोग में ही तत्पर रहकर उनके द्वारा रात्रि व्यतीत की जाती है ।' यह वस्तु 'भुअणरज्ज' पद से द्योतित (ध्वनित) होती है ।

११. निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्था: ॥८५॥

अत्र वस्तुना युगपदवस्था: परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोध:।

१२. वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥८६॥

प्रभा—'राजिपु' इत्यादि (९) (अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम) कविप्रौढोक्ति-सिद्ध ध्वनि के चार भेदों में से पद-प्रकाश्य वस्तु द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। यह मानिनी नायिका के प्रति सखी की उक्ति है, जिसका अभिप्राय है कि मान-निर्वाह कठिन है। यहाँ पर कविप्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है; जिसका स्वरूप है—'कामदेव चापस्फालन द्वारा संसार पर एकच्छत्र राज्य करता है'। यह अर्थ कवि-कल्पनामात्र प्रसूत है। इसके द्वारा ध्वनित होने वाला वस्तुरूप अर्थ यह है—'अपने राजा कामदेव के वश में हुए कामियों के द्वारा जागते हुए ही निशा व्यतीत कर दी जाती है।'

यह व्यङ्ग्यार्थ 'भुवनराज्य' पद द्वारा प्रधानरूप से द्योतित होता है अतः यहाँ पद-प्रकाश्य ध्वनि है। कैलासस्य (६४ उदाहरण) इत्यादि में तो ऐसा कोई पद नहीं अतः वहाँ वाक्य-व्यङ्ग्य ही ध्वनि है।

अनुवाद—११. 'कामदेव अभिनव यौवन की अवस्था में (अराले कुटिले वयसि) सुन्दरियों (सुदृशः शोभनदृशः) के नेत्रों में अपने तीक्ष्ण बाणों की बुद्धि से (अर्थात् नेत्रों को अपने तीक्ष्ण बाण समझकर) अपने बल को अर्पित कर देता है (लगा लेता है)। अतएव वह (अर्पितबला) दृष्टि जहाँ पड़ती है वहाँ—(हसित, रुदित आदि दश) काम की अवस्थाएं मिलकर (व्यतिकरम्-मिश्रीभावमेत्य) बार बार उत्पन्न हो जाती हैं (समुन्मिषन्ति)' ॥८५॥

यहाँ पर (व्यतिकरमेत्यावस्थाः समुन्मिषन्ति) इस वस्तु द्वारा 'परस्पर विरुद्ध (हसित-रुदित आदि) अवस्थाएं एक साथ प्रकट होती हैं' यह व्यतिकर शब्द द्वारा द्योतित होने वाला विरोधालङ्कार व्यङ्ग्य है।

प्रभा—'निशित' इत्यादि (११) कविप्रौढोक्तिसिद्ध पद-प्रकाश्य वस्तु-द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है; जिसका स्वरूप है—'नेत्ररूपी-बाण पर कामदेव का बलार्पण तथा उस बाण के पतन स्थान पर काम-दशाओं की उत्पत्ति'—यह सब कविप्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु है। इसके द्वारा विरोधालङ्कार व्यङ्ग्य है, जिसका स्वरूप है—'हसित-रुदित इत्यादि परस्पर विरुद्ध भी काम-दशाएं एक साथ प्रकट हो जाती हैं'।

यहाँ 'व्यतिकर' (एकसाथ मिलकर) शब्द प्रधानरूप से व्यङ्ग्य अर्थ को द्योतित करता है अतएव पदद्योत्य ध्वनि है। केलीषु (६५ उदाहरण) में तो ध्वनि वाक्य द्वारा ही द्योतित होती है।

(वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥८६॥)

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति ण चलइपदद्योत्यं वस्तु।

१३. सो मुद्धसामलङ्गो घम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो।
तीए खंघाहि वलं गहिअ सरो सुरअसङ्गरे जअइ ॥८७॥
(स मुग्धश्यामलाङ्गो घम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः।
तस्याः स्कन्धाद् वलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसङ्गरे जयति ॥८७॥)

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलापः कामुकोऽभूदिति खंधपदद्योत्या विभावना। एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः।

अनुवाद—१२. '(आलिङ्गन में बाधक होने के कारण) सन्ताप से पीड़ित (कदर्थित) हृदय द्वारा बार-बार हटाया हुआ भी उस (नायिका) का हार (मोतियों की माला) उन्नतस्तनरूपी मित्रों के निकट से नहीं हटता (स्तनभररूपवयस्यतः न चलति-इत्यर्थः-पञ्चम्यर्थे तृतीया अथवा स्तनभरस्य वयस्यत्वेन हेतुना न चलति इति; वयस्येन इति भावप्रधानो निर्देशः); क्योंकि यह (हार) विशुद्ध-जाति (के मुक्ताओं का अथवा शुद्ध जन्म वाला) है' ॥८६॥

यहां पर 'विशुद्ध जाति वाला' इस स्वरूप वाले काव्यलिङ्ग अलङ्कार द्वारा 'हार निरन्तर कांपता ही रहता है' इस 'न चलति' पद से द्योतित होने वाले वस्तु-रूप अर्थ की व्यञ्जना होती है।

प्रभा—'वार्यमाण' इत्यादि में (१२) पदप्रकाश्य कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। यहां पर कविप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध हेत्वलङ्कार अर्थात् काव्यलिङ्ग अलङ्कार व्यञ्जक अर्थ है; जिसका स्वरूप है—'विशुद्ध जाति वाला होने के कारण यह हार मित्र को नहीं छोड़ता' '(कुलीन व्यक्ति महान् सङ्कट में भी मित्र को कब छोड़ता है ?) यह बात कविप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध है; क्योंकि मुक्ता की शुद्धता में कुलीनता का अध्यवसाय करके उसे हेतु बनाया गया है। इस काव्यलिङ्ग अलङ्कार के द्वारा इस वस्तुरूप अर्थ की व्यञ्जना होती है कि—विपरीत रति में नायिका की माला निरन्तर हिलती-डुलती रहती है'

यहां पर 'न चलति' पद प्रधान रूप से इस व्यङ्ग्य अर्थ को द्योतित करता है। (यहां पद का अर्थ है—वाक्य-भिन्न सार्थक वर्णसमुदाय) अतः पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'गाढालिङ्गन' आदि (६६ उदाहरण) में तो ध्वनि वाक्य-प्रकाश्य है।

अनुवाद—१३. [किसी सुन्दरी का] वह केशपाश रूपी कामदेव—जो सुन्दर श्यामल शरीर वाला है, जिसने मनोहर [केशपाश रूपी] शरीर को फिर प्राप्त कर लिया है—उस [नायिका] के [स्कन्धावार अर्थात् सैन्य शिविर रूपी] कन्धे से बल (शक्ति तथा सेना) प्राप्त करके सुरतरूपी संग्राम में विजयी होता है' ॥८७॥

१४. णवपुण्णिमामिअङ्कस्स सुहअ को त्तं सि भणसु मह सच्चम् ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज ॥८८॥
(नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य सुभग, कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।
का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥८८॥)

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति णवे-त्यादि पओसेत्यादिपदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते ।

यहां पर रूपक के द्वारा—'बार-बार खींचे जाने से केशपाश नायिका के कन्धों पर ऐसे (सुन्दर रूप से) आ पहुचे हैं कि रति की समाप्ति पर भी कामुक व्यक्ति की अभिलाषा निवृत्त नहीं हुई" यह स्कन्ध पद से प्रकट होने वाला विभावना नामक अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

इन ('रात्रीपु' इत्यादि चार उदाहरणों) में ऐसा अर्थ व्यञ्जक है जिसका स्वरूप कविप्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध (निष्पन्न) होता है ।

प्रभा—'स' इत्यादि (१३) पद-प्रकाश्य कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है । यहाँ पर 'धम्मिल: (केशपाशः) एव स्मरः' तथा सुरत-सङ्गरे' ये दो रूपक हैं और 'स्कन्धात्' तथा 'बलम्' में श्लिष्ट-रूपक है । पद्य का भाव यह है—जैसे युद्ध से हटे हुए किसी व्यक्ति को उसका कोई मित्र अन्य सैन्यशिविर से सेना लेकर उसे प्रोत्साहित करता है इसी प्रकार इस नायिका का केशपाश जो साक्षात् कामदेव ही है उसके कन्धों से बल प्राप्त करके सुरतभोग से निवृत्त हुए मन को फिर से प्रोत्साहित करता है । यहाँ व्यञ्जक अर्थ अर्थात् रूपकालङ्कार कविप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध है । इसके द्वारा विभावना अलङ्कार की व्यञ्जना होती है; जिसका स्वरूप है—सुरताभोग में वार वार खींचे जाने से केशपाश इस प्रकार नायिका के कन्धों पर आ गये है कि रति से निवृत्त हुए भी कामुक व्यक्ति की अभिलाषा निवृत्त नही होती (रत्यनिष्पत्तिरूप अभिलाषहेतु के अभाव में भी अभिलाषा का उदय होना) ।

यहाँ पर रति-निष्पत्ति 'स्कन्ध' शब्द से द्योतित होती है; क्योंकि आकर्षण द्वारा केशपाश की स्कन्ध प्राप्ति प्रायः रति निष्पत्ति बिना नही होती अतएव यहाँ ध्वनि-पद-प्रकाश्य है । 'या स्थविरम्' (उदाहरण ६७) इत्यादि में तो ऐसा कोई एक पद नहीं अतएव वहाँ वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि है ।

वाक्यविषयक कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि में चार भेदों ने समान ही पद-प्रकाश्य चार भेद भी होते हैं जिनके ऊपर 'रात्रीपु' आदि से 'स' इत्यादि तक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं ।

अनुवाद—१४. हे सौभाग्यशाली (प्रियतम), तुम मुझे सच सच बताओ कि नवोदित पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुम कौन (सखा या भ्राता) हो ? और को प्रदोष रजनी के समान तुम्हारी ऐसी नायिका कौन है, जिसमें ... (सौभाग्य) भरा है ॥८८॥

१५. सहि णवणिहुवणसमरम्मि अङ्कवाली सहीए णिविडाए ।
हारो णिवारिओ विअ उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअम् ॥८६॥
(सखि, नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निविडया ।
हारो निवारित एवोच्छ्रियमाणस्ततः कथं रमितम् ॥८६॥)
अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत्, तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः कहंपदगम्यः ।

यहाँ पर (वाक्यार्थरूप) वस्तु द्वारा—'मेरी जैसी किसी अन्य नायिका में भी आप पहले अनुरक्त थे, फिर नहीं रहे' यह 'नव' आदि तथा 'प्रदोष' इत्यादि पद से द्योतित वस्तु व्यक्त होती है ।

प्रभा—'नव' इत्यादि (१४) पद प्रकाश्य (अर्थशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमध्वनि में) कविनिबद्ध प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध वस्तु द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। यह नायिका की किसी उपनायिका में अनुरक्त पति के प्रति उक्ति है । यहाँ पर कवि निबद्ध नायिका की प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है। प्रियतम का पूर्णिमा के चन्द्रमा के रूप में तथा अनुरागवती अन्य नायिका का प्रदोष रजनी के रूप में वर्णन नायिका की प्रौढोक्तिमात्र ही है । इस वस्तुरूप अर्थ द्वारा उपर्युक्त वस्तु की व्यञ्जना होती है ।

'नव' इत्यादि शब्द द्वारा—'प्रथम-अनुराग होना' तथा 'प्रदोष' इत्यादि शब्द द्वारा—'फिर अनुराग न रहना'—इन अर्थों की व्यञ्जना होती है अतः यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ प्रधानरूप से पद-प्रकाश्य है । 'ये लङ्का' इत्यादि (उदाहरण ६८) में कोई पद प्रधान नहीं अतः वहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाक्य-प्रकाश्य है ।

अनुवाद—१५. 'अरी सखि, नवीन सुरतरूपी संग्राम में वृद्ध या प्रगल्भ निविडया) आलिंगन (अङ्कपाली) रूप सखी ने बीच में पड़ने वाली (उच्छ्रियमाण) मुक्ता-माला को हटा दिया अथवा तोड़ दिया तब तूने कैसी रति-क्रीड़ा की ? (रमितम्-क्रीडितम्)' ॥८६॥

यहाँ पर वस्तु द्वारा—'हार तोड़ने के पश्चात् अवश्य ही विलक्षण (अन्यदेव) रति लीला हुई होगी, तो कहो वह कैसी थी' ? यह व्यतिरेक अलङ्कार 'कथं' शब्द द्वारा बोध्य है ।

प्रभा—'सखि' इत्यादि (१५) पद-प्रकाश्य कविनिबद्ध प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध वस्तु द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है । यह नवोढा के प्रति रसज्ञ सखी की उक्ति है । इसमें कविनिबद्ध रसज्ञ नायिका की प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है; जो उपर्युक्त पद्य का वाच्यार्थ रूप ही है । यहाँ पर पहले होने वाली रति लीला की अपेक्षा हार-टूटने के पश्चात् होने वाली रति-लीला का उत्कर्ष दिखाया गया है; अतएव (उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष रूप) व्यतिरेका-लङ्कार व्यङ्ग्य है ।

'कथं' शब्द विस्मय या जिज्ञासा का बोधक है, इसके द्वारा 'विलक्षणता',

१६. क-पविसन्ती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम्।
खंधे घेत्तूण घडं हाहा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किं ति ॥६०॥
(प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम्।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हाहा नष्ट इति रोदिषि सखि, किम् ॥६०॥
अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदाऽपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंतिपदद्योत्यम्।
यथा वा—
ख-विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम्।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥६१॥
(विश्रृङ्खलां त्वां सखि, दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम्।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥६१॥
अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेनेत्यपह्नुत्या वस्तु।

द्योतित होती है अतः व्यञ्जना में 'कथं' पद की प्रधानता है और यह पद-प्रकाश्य ध्वनि है'। 'सखि विरचय्य' इत्यादि (५६ उदाहरण) में ध्वनि वाक्यगत है।

अनुवाद—१६ क. 'अरी सखि, कन्धे पर (जल का) घड़ा लेकर घर के द्वार में घुसती हुई तू मुंह फेर कर मार्ग की ओर देखकर—'हाय घड़ा टूट गया' यह कहती हुई क्यों रोती है' ॥६०॥

यहाँ पर हेतु-अलङ्कार द्वारा—'सङ्केत स्थल को जाते हुए कामुक को देख कर यदि तू वहां जाना चाहती है, तो दूसरा घड़ा लेकर चली जा' यह वस्तु 'किमिति' पद से द्योतित होती है।

प्रभा—'प्रविशन्ति' इत्यादि (१६ क) पद-प्रकाश्य कविनिबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर 'रोदन' का हेतु घट-ध्वंस है तथा घट-ध्वंस का हेतु 'मुख फेर कर देखना' है अतएव हेत्वलङ्कार अर्थात् काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसके द्वारा उपर्युक्त वस्तु की व्यञ्जना होती है। इस व्यञ्जना में 'किमिति' पद की प्रधानता है अतः ध्वनि पद-प्रकाश्य है।

यहाँ पर कुछ विवेचकों के मतानुसार हेत्वलङ्कार स्वतः सम्भवी अर्थ है कविनिबद्धप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध नहीं, अतएव वृत्तिकार दूसरा उदाहरण देते हैं—'यथा वा' इत्यादि।

अनुवाद—१६ ख. 'अरी सखि, अत्यन्त भार से व्याकुल (विश्रृङ्खलाम्) तथा चञ्चल दृष्टि वाली तुझको देखकर घड़े ने (कुटेन) भारी तथा तुम्हारे लिये कष्टदायक समझकर (गुरुक इति) द्वार छूने के बहाने से अपने आपको गिराकर फोड़ दिया' ॥६१॥

१७. जोह्णाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउस्सुअमणा सा।
वुड्ढा वि णवोणव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥६२॥
(ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमना: सा।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥६२॥)

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलपसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवहूपदप्रकाश्यः।

यहाँ पर 'नदी-तट के घने लताकुञ्ज में सङ्केत करने वाले कामुक को प्राप्त न करके (लौटकर) घर प्रवेश करने के समय उसे पीछे से आया देखकर फिर नदी पर जाने के लिये द्वार को टक्कर के बहाने से व्याकुल हुई तुने जानकर घड़ा फोड़ दिया है'—यह मैंने जान लिया। तब तू क्यों धैर्य धारण नहीं करती (आश्वसिहि) तू अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये जा, मैं तेरी सास को सब समझा दूंगी'। यह वस्तु 'द्वार-स्पर्श के व्याज से' इस (पद द्योत्य) अपह्नुति अलङ्कार द्वारा अभिव्यक्त होती है।

प्रभा—'विश्रृङ्खलं' इत्यादि स्पष्टतया (१६ ख) पद-प्रकाश्य कविनिबद्ध प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर-अचेतन घट में अपने आपको नष्ट करना' रूप चेतना का आरोप किया है अतः (आरोप-मूलक) अपह्नुति अलङ्कार सखी की प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध है। इस अपह्नुति अलङ्कार रूप व्यञ्जक अर्थ द्वारा उपर्युक्त वस्तुरूप की व्यञ्जना होती है।

'द्वार-स्पर्श-व्याजेन' यह पद ही प्रधानरूप से उपर्युक्त अर्थ का व्यञ्जक है अतएव यहाँ ध्वनि पद-प्रकाश्य है। 'मार्द्रा' इत्यादि (उदाहरण ७०) में प्रधानरूप से व्यञ्जक कोई पद नहीं है वहाँ ध्वनि वाक्यगत है।

अनुवाद—१७ 'अहह, (खेद है) चन्द्रिका तथा मद्य के आस्वादन से ही जिसके हृदय में तारुण्य अर्थात् सुरत के लिये उमङ्ग आ गई है ऐसी वह (वृद्धा उपनायिका) क्योंकि परवधू है अतएव नवोढा के समान तुम्हारे हृदय को हरती है' ॥६२॥

यहाँ पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार द्वारा—'तुम हमको छोड़कर वृद्धा परनारी की कामना करते हो, यह तुम्हारा आचरण कहने योग्य नहीं'। यह आक्षेप (अलङ्कार) अभिव्यक्त होता है जो 'परवधू' पद से द्योतित है।

प्रभा—'ज्योत्स्ना' इत्यादि (१७) पद-प्रकाश्य कवि-निबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार द्वारा अलङ्कार-व्यञ्जना का उदाहरण है। यह वृद्धपरवधू में आसक्त नायक के प्रति किसी तरुणी की उक्ति है। यहाँ पर काव्यलिङ्ग व्यञ्जक अर्थ है, जिसका स्वरूप है—'परवधू होने के कारण यह तुम्हारे चित्त को हरती है' अथवा चन्द्रिका और मद्य द्वारा प्राप्त किया हुआ तारुण्य हृदय-हरण का हेतु है' यहाँ जो हेतु-वर्णन है वह कविनिबद्ध नायिका की प्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्न है, वास्तविक नहीं; क्योंकि परवधू भी यदि वृद्धा है तो हृदयहरण नहीं करती। इसका व्यङ्ग्य अर्थ आक्षेप-अलङ्कार

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः। वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम्। शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

—(६०) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥४२॥

है; क्योंकि 'तुम्हारा आचरण कहने योग्य नहीं' इसका अभिप्राय होता है—'ऐसा न किया करो' इस कहने योग्य वचन का निषेध।

'परवधू' शब्द ही उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ को प्रधानरूप से द्योतित करता है अतः यहाँ व्यङ्ग्य पद-प्रकाश्य है। 'महिला' इत्यादि (उदाहरण ७१) में तो ऐसा कोई एक पद-व्यञ्जक नहीं अतः वहाँ वाक्य-प्रकाश्य ध्वनि है।

अनुवाद—(पद-प्रकाश्य ध्वनि के) इन उदाहरणों में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ ही व्यञ्जक है। वाक्य द्वारा द्योतित (कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध) ध्वनि के उदाहरण पूर्व (६८–७१ उदाहरण) दिये जा चुके हैं।

शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि तो पद-प्रकाश्य होती ही नहीं इस प्रकार ध्वनि के ३५ भेद हो जाते हैं।

प्रभा—(१) यहाँ पर आचार्य मम्मट ने पद-प्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि के कविनिबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध चार भेदों का निगमन किया है जो ८९ से ९२ तक के उदाहरणों मे प्रदर्शित की गई है। इससे पूर्व ६८ से ७१ तक के उदाहरणों में वाक्य-प्रकाश्य भेदों का निरूपण किया जा चुका है। दोनों के भेद का यथा-स्थान निर्देश किया गया है।

(२) उपर्युक्त ध्वनि-भेदों की गणना करते हुए बतलाया गया है कि उभयशक्तिमूलक ध्वनि पद में नहीं होती केवल वाक्य मे (वाक्ये द्वयुत्थः, सूत्र ५८) ही होती है अतः वाक्य-प्रकाश्य १८ भेद + पदप्रकाश्य १७ भेद मिलकर कुल ३५ भेद होते हैं। संक्षेप में भेद-गणना का यह प्रकार है—

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—ये ३ भेद हैं। लक्ष्यक्रमध्वनि में शब्दशक्तिमूलक (वस्तु, अलङ्कार) के २ भेद तथा अर्थशक्तिमूलक के पूर्वोक्त १२ भेद कुल मिलाकर १७ भेद हो जाते हैं। ये १७ वाक्य तथा पदगत होने से १७ × २ = ३४ तथा उभयशक्तिमूलक का एक प्रकार मिलकर कुल ३५ भेद होते हैं।

अनुवाद—अर्थशक्तिमूलक ध्वनि (वाक्य और पद के अतिरिक्त) प्रबन्ध में अर्थात् प्रबन्ध-प्रकाश्य भी होती है।

टिप्पणी—(i) प्रबन्ध का अभिप्राय है—परस्पर सम्बद्ध अनेक वाक्यों का समुदाय। वह ग्रन्थरूप भी हो सकता है और अवान्तर प्रकरणरूप भी हो सकता है। यह प्रदीपकार का मत है। आचार्य अभिनवगुप्त का भी यही मत है—सङ्घटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः'। चक्रवर्ती के अनुसार वृत्त-स्थापक वाक्य ही प्रबन्ध है (वृत्त प्रत्यायकं वाक्यं प्रबन्धः)।

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ—

> अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
> कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥६३॥
> न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
> प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥६४॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

> अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
> गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥६५॥
> आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
> बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥६६॥

(ii) ध्वन्यालोककार ने भी ध्वनि को प्रबन्ध-प्रकाश्य माना था—
अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः । ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥
अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु द्योत्यते । ··· ··· यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ ।

मम्मट के परवर्ती कविराज विश्वनाथ ने भी इस विषय में मम्मट का अनुसरण किया है—'प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः (सा० द० ४.१०) । उन्होंने 'प्रबन्ध' का अर्थ किया है—महाकाव्य (प्रबन्धे महाकाव्ये) ।

(iii) इस प्रकार प्रबन्धविषयक अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के १२ भेदों को पूर्वोक्त ३५ ध्वनि भेदों में मिलाकर ३५+१२=४७ भेद होते हैं ।

अनुवाद—जैसे (महाभारत शान्ति पर्व के) 'गृध्रगोमायुसंवाद' इत्यादि में (प्रबन्ध-प्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है) ।

(गृध्र की उक्ति) 'हे मनुष्यों, गीध और सियारों से भरे हुए, बहुत से अस्थिपञ्जरों वाले—अतएव भयानक तथा समस्त प्राणियों के लिये भयङ्कर इस श्मशान में मत ठहरो' ॥६३॥

'अरे, इस संसार में मृत्यु को (कालधर्म) प्राप्त हुआ कोई व्यक्ति, चाहे वह किसी का प्रिय हो या शत्रु, फिर से जीवित नहीं होता; क्योंकि प्राणियों की गति ही ऐसी है (अर्थात् मरकर वे जीवित नहीं होते)' ॥६४॥

इस प्रकार दिन में (मांसभक्षण आदि की) सामर्थ्य रखने वाले (प्रभवतः) गृध्र का (मृत बालक के सम्बन्धी) पुरुषों के घर लौटाने के अभिप्राय से—यह वचन है ।

(गोमायु की उक्ति) 'अरे मूर्खो, तुम शङ्कारहित होकर इस बालक को, जिसकी कान्ति सुवर्ण-वर्ण के समान है, जिसने अभी यौवन प्राप्त नहीं किया, गीध के कहने से क्यों छोड़ते हो ?' ॥६५॥

'हे मूर्खो, अभी यह सूर्य स्थित है, इस समय (मृतक बालक के समीप ठहर कर) स्नेह प्रकट करो । यह सन्ध्याकाल (मुहूर्त) बहुत से (भूतबाधा आदि रूप)

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते। अन्ये त्वेकादशभेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः। अपिशब्दात्पदवाक्ययोः।

(६१) पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुंविअं जअइ ॥६७॥
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥६७॥]

विघ्नों वाला है अतः (इस मुहुर्त के चले जाने पर) सम्भवतः यह जीवित हो जाय' ॥६६॥

यह रात्रि में (मांस भक्षण में) समर्थ शृगाल का (मृतक सम्बन्धी) मनुष्यों के श्मशान न छोड़ने (व्यावृत्ति) के तात्पर्य वाला—वचन है। इस प्रकार यहाँ पर ध्वनि प्रबन्ध में ही अर्थव्यञ्जकता में समर्थ है।

(अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के) अन्य एकादश प्रकारों के ग्रन्थ-विस्तार के भय से उदाहरण नहीं दिये। उनका स्वयं लक्षणों से अनुसरण करना चाहिये। (कारिका में) अपि शब्द के प्रयोग से (अर्थशक्तिमूलक ध्वनि) पद और वाक्य में भी होती है।

प्रभा—गृध्रगोमायु-संवाद महाभारत के शान्ति पर्व के १५३ वें अध्याय में है। यहाँ पर प्रथम पद्यद्वयात्मक गृध्रवचनरूप प्रबन्ध में स्वतः सम्भवी वाच्यार्थरूप वस्तु द्वारा पुरुषविसर्जनरूप वस्तु की व्यञ्जना होती है। इसी प्रकार द्वितीय पद्यद्वयात्मक गोमायुवचनरूप प्रबन्ध में जनव्यावर्तनरूप वस्तु को व्यञ्जना होती है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रबन्ध द्वारा द्योतित होता है, किसी वाच्य या पद द्वारा नहीं। इसी से यह प्रबन्ध-प्रकाश्य ध्वनि है।

अनुवाद—१. पद (सुबन्त तथा तिङन्त) के एकदेश अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय तथा उपसर्ग में, २. रचना अर्थात् वैदर्भी आदि रीति में अथवा दीर्घ समास आदि शब्द-विन्यास में, और ३. विशेष प्रकार के अक्षरों (तथा 'अपि' शब्द से, ४. प्रबन्ध) में भी रसादि रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। (६१)

प्रकृति की व्यञ्जकता

अनुवाद—उनमें से प्रकृति द्वारा व्यञ्जकता, जैसे—(धातुरूप प्रकृति) 'रतिक्रीड़ा में महादेव जी द्वारा हृतवसना पार्वती ने (लज्जा से) अपने कर-पल्लव से जिन (महादेव) की दोनों आँखें मीच ली हैं उन महादेव जी का पार्वती द्वारा चुम्बित तृतीय नेत्र विजयी (सर्वोत्कृष्ट) है' ॥६७॥

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि। समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम्। यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥९८॥

अत्र पदानीति न तु द्वाराणि।

तिङ्सुपो यथा—

यहाँ पर (कवि ने) जयति ('जि' धातुरूप प्रकृति) का प्रयोग किया है 'शोभते' इत्यादि का नहीं। यहाँ नेत्र बन्द करने (स्थगन) का कार्य समान होने पर भी अलौकिक (चुम्बन रूप) व्यापार से जो इस (तृतीय नेत्र) का बन्द करना है उससे युक्त तृतीय नेत्र उत्कृष्ट है।

प्रभा:—'रति' इत्यादि धातुरूप पदैकदेश (प्रकृति) द्वारा सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यञ्जना का उदाहरण है। यह हाल कविकृत गाथासप्तशती का पद्य है। किसी सखी की नायिका के प्रति यह उक्ति है। यहाँ पर 'जयति' का प्रयोग करके विशिष्ट प्रकार से बन्द किये हुए (शिव के) तृतीय नेत्र की उत्कृष्टता अभिव्यक्त की गई है, चुम्बन से नेत्र का बन्द करना रसोत्कर्षक है। यदि यहाँ 'शोभते' का प्रयोग किया जाता तो वह उत्कृष्टता वाच्य हो जाती तथा सहृदयों के हृदय में रस की वैसी प्रतीति न होती।

अनुवाद—अथवा जैसे ('नाम' प्रकृति)—'वह यह प्रियतम शपथपूर्वक (नायिका के) चरणों में झुका तथा नायिका द्वारा शपथपूर्वक हटा दिया गया। (तब) उत्सुक (या खिन्न) हृदय वाला वह जब तक निवास-स्थान से दो-तीन पग भी न गया था कि तब तक प्रणामपूर्वक (कृतः प्रणामः यस्मिन् कर्मणि) दौड़कर हस्ताञ्जलि (पाणिसंपुटे प्रणामार्थं कृताञ्जलौ) में खुलती हुई नीवीग्रन्थि को पकड़ते हुए ('धृतः' का क्रियाविशेषण) उलटा (प्रत्युत) उसे पकड़ लिया। अहो, प्रेम की विचित्र गति है' ॥९८॥

यहाँ पर (कवि ने) 'पदानि' ('पद' प्रकृति) का प्रयोग किया है 'द्वाराणि' का नहीं।

प्रभा—'प्रेयान्' इत्यादि नाम (प्रातिपदिक) रूप पदैकदेश (प्रकृति) द्वारा सम्भोग शृङ्गार की व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर 'पद' शब्द से उत्कण्ठा का अतिशय अभिव्यक्त होता है, क्योंकि द्वार तक न जाने देकर दो तीन पग रखने से पूर्व ही पकड़ लिया। इस उत्कण्ठातिशय के द्वारा सम्भोग शृङ्गार की व्यञ्जना होती है।

प्रत्यय की व्यञ्जकता

अनुवाद—तिङ् (क्रिया सम्बन्धी प्रत्यय) तथा सुप् (संज्ञा सम्बन्धी प्रत्ययों की व्यञ्जकता का उदाहरण, जैसे—

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥६६॥

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम्। निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिडा सुपा च तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतत्वं द्योत्यते। यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।

(वसन्त में) प्रत्येक मार्ग में अंकुरों की शोभा शुक के चञ्चु के समान मनोहर है। प्रत्येक दिशा में लताओं (वीरुधां) का नृत्य कराने वाला वायु है, पुष्प के धनुष वाला कामदेव प्रत्येक मनुष्य पर शीघ्रता पूर्वक (द्राक्) बाणों को फेंक रहा है तथा प्रत्येक नगर में मानिनी नायिकाओं के मान (धारण) की चर्चा समाप्त हो गई है' ॥६६॥

यहां पर 'किरति' इस क्रिया पद में तिङ् प्रत्यय द्वारा (तिड) प्रक्षेपणरूप व्यापार (किरण) की साध्यता तथा 'निवृत्ता' इस पद में 'सुप् प्रत्यय द्वारा (सुपा) समाप्ति की सिद्धता एवं उस सिद्धता में भी (तत्रापि) 'क्त' प्रत्यय द्वारा अतीतता की व्यञ्जना की जा रही है।

प्रभा—'पथि पथि' इत्यादि सुप् तिङ् प्रत्यय रूप पदैकदेश द्वारा सम्भोग शृङ्गार की व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर 'किरति' का तिङ् प्रत्यय तथा 'निवृत्ता' का (प्रथमा का एकवचन) सुप् प्रत्यय और क्त प्रत्यय विशेष अर्थ के व्यञ्जक हैं। व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'वसन्तागमन के समय काम के बाण चलाने से पूर्व ही मानिनी नायिकाओं का मान-भङ्ग हो गया।' अभिप्राय यह है—बाण-प्रक्षेपण माननिवृत्ति का कारण है, वह निष्पन्न अथवा सिद्ध अवस्था में होकर ही कारण हो सकता है किन्तु उसे यहाँ 'ति' प्रत्यय द्वारा (किरति) 'साध्य' रूप में रखा गया है (अर्थात् काम ने बाण चलाये नहीं अपि तु चलाने जा रहा है)। माननिवृत्ति कार्य है, वह साध्य है किन्तु उसे 'निवृत्ता' इस पद से भूतार्थक 'क्त' प्रत्यय द्वारा तथा सुप् प्रत्यय द्वारा सिद्ध-अवस्था में दिखलाया गया है, (अर्थात् मान समाप्त हो चुका)। इस प्रकार यहाँ पर कारण तथा कार्य का पौर्वापर्य (पहले पीछे होना) बदल गया है और इस अतिशयोक्ति द्वारा माननिवृत्ति की शीघ्रता एवं वसन्त ऋतु की अत्यन्त उद्दीपकता की प्रतीति होती है, जो सम्भोग शृङ्गार के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति करती है।

अनुवाद—अथवा जैसे—'हे कठोर हृदय वाली, अब तो मान को छोड़ दे, (देख) तेरा प्राण-प्रिय नीचे झुक कर (अथवा सिर झुका कर) (नख से) भूमि को किरोदता हुआ बाहर बैठा है। जिन्होंने भोजन नहीं किया तथा निरन्तर रुदन से जिनकी आंखें फूल गईं (उच्छूने) ऐसी ये तेरी सखियां हैं, पञ्जर में स्थित शुकों

(तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तासां भणितीनां सुन्दर, ईदृशं जातमवसानम् ॥१०२॥)

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे, चेतः, प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ ॥१०३॥

अत्र प्रहासः।

प्रेम का और उन ('तू ही मेरा जीवन-सर्वस्व है' इत्यादि) उक्तियों का अब ऐसा परिणाम हुआ है' ॥१०२॥

यहाँ पर (बहुवचन से) गुणग्रहण आदि की विविधता (बहुत्व-बहुविधत्वम्) और (एक वचन से) प्रेम की एकरूपता (एकत्वम् एकविधत्वम्) का व्यञ्जना द्वारा बोध होता है।

प्रभा—'तेषाम्' इत्यादि—वचनरूप पदैकदेश के द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर 'गुणग्रहणानाम्' इत्यादि के बहुवचन द्वारा तथा 'प्रेम्णः' के एकवचन द्वारा यह व्यञ्जना होती है कि गुण ग्रहण इत्यादि प्रेम-हेतुओं के नाना विध होने पर भी प्रेम में एकरूपता ही बनी रही उसमें परिवर्तन न हुआ। इस व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा विप्रलम्भ का उत्कर्ष प्रतीत होता है।

अनुवाद—पुरुषव्यत्यय की (शान्त रस) व्यञ्जकता (का उदाहरण) जैसे—

चञ्चल नेत्रों वाली कामिनी में रुचि रखने वाले, हे मेरे मन, तू स्थिर प्रेम-युक्त उस (वैराग्य जनित) उत्कर्ष को (महिमानम्) छोड़कर मृग (एण) नयनी को देखकर क्यों नाचता है? क्या तू समझता है कि मैं इसके साथ विहार करूंगा। अरे (बत-खेद) तू इस बुरी या निन्दित (हताम्) आशा को छोड़ दे, क्योंकि इस संसार सागर में यह (मृगनयनी) तो तेरे गले में बांधी गई शिला (के समान) है ॥१०३॥

यहाँ (पुरुषव्यत्यय के द्वारा) प्रहास व्यक्त होता है।

प्रभा—"रे रे', इत्यादि पुरुष-व्यत्यय द्वारा शान्त-रस की व्यञ्जना का उदाहरण है। यह किसी शान्त पुरुष की अपने चित्त के प्रति उक्ति है। यहाँ पर 'अहं विहरिष्ये इति त्वं मन्यसे' के स्थान पर प्रहास में (प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च १/४/१०६) 'त्वं मन्ये अहं विहरिष्यसे' ऐसा प्रयोग कर दिया है। अर्थात् मध्यमपुरुष के स्थान पर उत्तम (मन्ये) और उत्तमपुरुष के स्थान पर मध्यम

पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दोर्वलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरः ।
ये क्ष्माशक्र, पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते ।

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रघनाध्वनि धीरधनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
दिवसेन तु नरप, भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपरम् ॥१०५॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

(विहरिष्यये) का प्रयोग किया है—यही पुरुषव्यत्यय है। इसके द्वारा प्रहास की व्यञ्जना होती है तथा शान्त रस का प्रकर्ष व्यक्त होता है।

अनुवाद—पूर्व निपात की (भाव) व्यञ्जकता (का उदाहरण), जैसे—

'हे पृथ्वी के इन्द्र (क्ष्माशक्र), जिन (राजाओं) के पास केवल भुजाओं (दोः) का ही बल है, वे दुर्बल ही माने गये हैं, उन पृथ्वीपतियों के द्वारा भी क्या कार्य हो सकता है जो केवल नीतिशास्त्र की रीति के आश्रित रहते हैं किन्तु जो पराक्रम और नीति (नय) दोनों को स्वीकार करके सुन्दर (कान्त) व्यवहार (क्रमः आचरण-क्रम.) करने वाले हैं वे त्रिभुवन में भी नहीं है, यदि होंगे तो दो या तीन तथापि केवल (परम्) आप जैसे प्रशस्त तो है ही नहीं' ॥१०४॥

यहाँ पर 'पराक्रम' की प्रधानता का बोध होता है।

प्रभा—'येषाम्' इत्यादि पूर्वनिपात द्वारा भाव-व्यञ्जना का उदाहरण है। यह किसी कवि को किसी राजा के प्रति उक्ति है। यहाँ पर 'पराक्रमनय' इस समस्त पद में 'नय' शब्द का पूर्व प्रयोग होना चाहिये था (अल्पाच्तरम् २/२/३४) किन्तु कवि ने 'अभ्यर्हितञ्च' वार्तिक के अनुसार 'पराक्रम' का पूर्वनिपात किया है। इससे 'पराक्रम' की प्रधानता व्यक्त होती है और पराक्रम को प्रधान रखते हुए नीति का स्वीकार करना राजा के उत्कर्ष को प्रकट करता है तथा नृपविषयक रति-भाव को पुष्ट करता है।

अनुवाद—विभक्तिविशेष की (भाव) व्यञ्जकता, जैसे—

'हे नृप (नरप) जो वीरों के धनुष की टङ्कार ध्वनि को धारण करता था ऐसे संग्राम-मार्ग (प्रधनं युद्धमेव अध्वा मार्ग) में तुम्हारे शत्रुओं ने दिन भर युद्ध किया (पर विजय प्राप्त नहीं की), किन्तु ब्रह्मा और सिद्धों के साधुवाद (वाहवाही) का पात्र होते हुए आपने तो एक दिन में ही युद्ध समाप्त कर दिया ॥१०५॥

यहाँ पर 'दिवसेन' इस शब्द में 'अपवर्ग' तृतीया है जो फलप्राप्ति को प्रकट करती है।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठाललितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥
अत्रानुकम्पावृत्तेः करूपतद्धितस्य ।
परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।

प्रभा:—'प्रधन' इत्यादि विभक्ति-विशेष (उपपदविभक्ति) द्वारा भाव-व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'दिवसम् अयोधि' तथा उत्तरार्द्ध में 'दिवसेन अयुद्ध' यह प्रयोग है। 'दिवसम्' में अत्यन्तसंयोग में द्वितीया विभक्ति है (पा० २/३/५), जिसका अर्थ है—दिन भर युद्ध किया पर फल प्राप्ति न हुई। किन्तु 'दिवसेन' में अपवर्ग-तृतीया विभक्ति है। अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति। फल-प्राप्ति द्योतन के लिये काल तथा मार्गवाची से अत्यन्त संयोग में तृतीया विभक्ति होती है (अपवर्गे तृतीया २/३/६)। अतएव तृतीया विभक्ति द्वारा युद्ध रूप क्रिया का फल विजय-प्राप्ति अभिव्यक्त होता है और उसके द्वारा राज-विषयक (रति) भावप्रकर्ष की व्यञ्जना होती है।

अनुवाद—(तद्धित की व्यञ्जकता) राजभवन के छज्जे (वलभी) की ऊंची खिड़की में स्थित मालती बार बार (पितृ-भवन के) निकट के राजमार्ग में घूमते हुए माधव को इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से देखकर, जैसे रति ने नवीन देह धारण किये हुए काम को देखा हो, प्रबल उत्कण्ठा से अत्यन्त खिन्न (लुलित-म्लान) एवं दयनीय अङ्गों से क्षीण हो रही है (ताम्यति-ग्लायति)'—यह है जो (यत्) (मालती की उपमाता) लवङ्गिका ने कहा है' ॥१०६॥

यहाँ पर अनुकम्पार्थक क' तद्धितप्रत्यय की (विप्रलम्भशृङ्गार) व्यञ्जकता है।

प्रभा—'भूयः' इत्यादि 'क' तद्धितरूप प्रकृति एकदेश द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर 'अङ्गकैः' में अनुकम्पा अर्थ में 'क' तद्धित प्रत्यय है (अनुकम्पायाम् ५/३/७६) इस 'क' प्रत्यय द्वारा अनुकम्पातिशय द्योतित होता है और उससे मालती के अङ्गों की सुकुमारता प्रकट होती है तथा सुकुमारता से दुःख-असहिष्णुता की अभिव्यक्ति होकर विप्रलम्भ का प्रकर्ष व्यङ्ग्य है।

उपसर्ग की व्यञ्जकता

अनुवाद—'(हे मित्र मकरन्द) कोई अद्भुत विकार (कामज भाव) मेरे अन्तःकरण को तरल कर रहा है तथा विरह सन्ताप उत्पन्न कर रहा है। कैसा है, वह विकार? जो इयत्ता (परिच्छेद-परिमाण) रहित है, समस्त (बाह्य, मानसिक

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥१०७॥
अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य ।
कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥१०८॥
अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य ।
रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।

तथा व्यञ्जक) शब्दों का अगोचर है अर्थात् जिसे कहा नहीं जा सकता; जो इस जन्म में कभी (अन्त समय) अनुभव का विषय नहीं हुआ तथा विवेक का नाश हो जाने से जिसमें महान् अज्ञानान्धकार बढ़ गया है और जो दुर्लङ्घ्य (गहन) हो गया है ॥१०७॥

यहां पर उपसर्ग रूप 'प्र' शब्द की विप्रलम्भशृङ्गार) व्यञ्जकता है।

प्रभा—'परिच्छेद' इत्यादि उपसर्ग (प्रकृति के एकदेश) द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना का उदाहरण है। मालतीमाधव नाटक के इस श्लोक में माधव अपने मित्र मकरन्द से अपनी अवस्था का वर्णन कर रहा है। यहां पर 'प्रध्वंसात्' पद में 'प्र' (उपसर्ग) प्रध्वंस रूप प्रकृति का एक देश है। उसके द्वारा विवेक का समूल नाश अर्थात् ध्वंसप्रकर्ष द्योतित होता है। उसके द्वारा मोह की अधिकता तथा मोहाधिक्य द्वारा रागातिशय एवं रागातिशय द्वारा माधव के विप्रलम्भशृङ्गार की पराकाष्ठा की (व्यञ्जना द्वारा) प्रतीति होती है।

निपात की व्यञ्जकता

अनुवाद—'हे राजन्, आपने गर्व की ओर (सम्मुख) मन किया और हमारे शत्रु नष्ट हो गये। ऐसा होने पर और क्या ? (अन्य शस्त्रग्रहणादि निष्फल हैं—यह भाव है)। (वैधर्म्य से दृष्टान्त है) अन्धकार तभी तक ठहरता है जब तक सूर्य उदयाचल के शिखर पर नहीं आता है' ॥१०८॥

यहाँ तुल्ययोगिता के द्योतक 'च' निपात की (वीर रस) व्यञ्जकता है।

प्रभा—'कृतम्' इत्यादि निपातरूप पदैकदेश द्वारा वीर-रस की व्यञ्जना का उदाहरण है। यह नृप के प्रति मन्त्री की उक्ति है। वृत्ति में 'तुल्ययोगिता' का अभिप्राय समुच्चयालङ्कार है। मन का गर्वाभिमुखीकरण तथा शत्रुविनाश दोनों का तुल्यकाल अर्थात् एककाल से सम्बन्ध होना (समुच्चय रूप) समुच्चयालङ्कार 'च' इस निपात द्वारा द्योतित होता है और समुच्चयालङ्कार से व्यञ्जना द्वारा वीर रस के प्रकर्ष की प्रतीति होती है।

अनेकपदैकदेश आदि की व्यञ्जकता

अनुवाद—'(हे राक्षसराज), यह राम अपनी वीरता के गुणों से (चौदह) भुवनों में बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, वैतालिक के समान यह वायु, (बालि-बध

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुतामेकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥१०६॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामप्रातिपदिकवचनानां, न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः, भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन न त्वभावमुखेनाभिधानस्य।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य । तरुणत्वे इति, धनुषः समीप इति, मौलौ वसतीति, त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अपि

में) एक बाण के आघात से उत्पन्न पंक्तिबद्ध विशाल (साल) ताल वृक्षों के छिद्रों से प्रकाशित (उद्गीर्ण) सप्त स्वरों (निषादादि). द्वारा जिनकी कीर्ति का गान करती हैं । यदि दिव्य ज्ञान वाले (देव) भी आप उनको नहीं जानते तो यह हमारे भाग्य की विपरीतता के कारण हो' ॥१०६॥

यहाँ पर 'असौ' इह सर्वनाम की, 'भुवन' इस प्रातिपदिक की, 'गुणैः' इस बहुवचन की (वीर रस) व्यञ्जकता है । तेरा नहीं, मेरा नहीं, अपि तु हमारा, समस्त राक्षसकुल के उपस्थापक (अथवा सूचक) इस (अस्मद्) की (सकलराक्षसकुल-क्षयव्यञ्जकता है) तथा 'भाग्यविपर्ययात्' यह सम्पत्ति की दुर्भाग्यरूप में परिणति कही गई है, भाग्य के अभाव रूप में नहीं; अतः भाग्यविपर्यय इस कथन की (भाग्य-परिवर्तन में) व्यञ्जकता है ।

प्रभा—'रामोऽसौ' इत्यादि बहुत से व्यञ्जकों द्वारा वीर रस की व्यञ्जना का उदाहरण है । यह राघवानन्द नाटक में रावण के प्रति विभीषण की उक्ति है । यहाँ पर सर्वनाम, प्रातिपदिक तथा बहुवचन आदि अनेक प्रकार के व्यञ्जक हैं और उन सब के द्वारा भिन्न भिन्न रूप में अनेक प्रकार के अर्थ ध्वनित होते हैं जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया गया है । ये समस्त ध्वनित अर्थ अन्ततः वीररस के व्यञ्जक होते हैं । अतएव यहाँ पर वीर रस अनेक व्यञ्जकों द्वारा व्यङ्ग्य कहा गया है ।

अनुवाद—'चकित मृग के समान चञ्चल नेत्रों वाली यह नायिका समस्त सुन्दरियों के ऊपर (मौलौ=शिरसि) अधिष्ठित है; क्योंकि यौवन (इसको) (कटाक्ष-विक्षेपादि) कलाओं को सिखा दे रहा है (शिक्षयति सति), इसका (निम्नतुन) भ्रूलताप्रभाग (गुरुरूप) कामदेव के धनुष के समीप (कला का) अध्ययन कर रहा है (अग्रे पठति सति) ॥११०॥

यहाँ पर इमनिच् प्रत्यय, अव्ययीभाव समास और कर्मभूत आधार के स्वरूप की (शृङ्गार) व्यञ्जकता है; क्योंकि (तरुणिमनि' की) 'तरुणत्वे' के तुल्य ('अनुमदनधनुः' की) 'धनुषः समीपे' के तुल्य और (मौलिम्' की) 'मौलौ वसति' के तुल्य अर्थात् 'इमनिच्' आदि की 'त्व' आदि के समान ही वाचकता है, फिर भी

कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्। वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूप-निरूपणे उदाहरिष्यते। अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु।

एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः।

(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्—

व्याख्याताः।

इमनिच् आदि के स्वरूप की कोई विशेषता अवश्य है जो चमत्काराधायक है। वह स्वरूप की विशेषता ही (या स्वरूप विशेष ही) व्यञ्जक हो जाता है।

प्रभा—'तरुणिमनि' इत्यादि इमनिच् प्रत्यय आदि की शृङ्गार-व्यञ्जकता का उदाहरण है। 'तरुणिमा' (इमनिच्) तथा 'तरुणत्व' (त्व) आदि शब्दों का संकेतित अर्थ समान ही है फिर भी इमनिच् आदि प्रत्ययों के प्रयोग द्वारा सहृदयों को एक विशेष माधुर्य का अनुभव होता है अतः इमनिच् आदि का स्वरूप ही यहाँ पर शृङ्गार रस का व्यञ्जक है। भाव यह है कि सुकुमार वर्ण वाले इमनिच् तद्धित द्वारा नवकोमल आयु की प्रतीति होती है 'तरुणत्व' का प्रयोग करने पर तो 'त्व' प्रत्यय की प्रौढ़ता के कारण आयु की प्रौढता झलकने लगेगी। इसी प्रकार 'अनुमदनधनुः' इस पूर्वपदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास मे उत्तरपद 'धनुष्' अप्रधान है। अतः भ्रूलता' के निरपेक्ष वशीकरण-सामर्थ्य की प्रतीति होती है तथा 'मौलिम्' इस कर्म विभक्ति द्वारा सकलललनामौलि में व्यापकता की प्रतीति होती है जिससे सौन्दर्यातिशय की अभिव्यञ्जना होती है। यदि 'मौलौ' इस सप्तम्यन्त का प्रयोग किया जाता तो एकदेश में भी आधारता का सम्भव होने से समस्त ललनाओं की मौलिभूत-इस प्रकार की व्याप्ति न होती।

अनुवाद—उपर्युक्त रीति से अन्य पदैकदेश आदि की व्यञ्जकता भी जाननी चाहिये। वर्ण तथा रचना (वैदर्भी) आदि की व्यञ्जकता के उदाहरण गुणस्वरूप-विवेचन के प्रकरण (अष्टम उल्लास) में दिये जायेंगे। ('वर्णेष्वपि' में) अपि शब्द (के प्रयोग) से नाटक आदि प्रबन्धों में भी (रसादि व्यङ्ग्य हैं) यह अभिप्राय है।

उक्त रीति से रसादि (अलक्ष्यक्रम ध्वनि) के (वाक्य तथा पदप्रकाश्य) पूर्व गिनाये गये भेदों सहित (वाक्य-पद-पदैकदेश-रचना वर्ण तथा प्रबन्धप्रकाश्य) ६ भेद होते हैं।

इस प्रकार ध्वनि के ५१ भेद होते है। ये भेद पूर्व गणना से व्याख्यात ही हैं।

प्रभा—सूत्र ६० में उक्त ध्वनि के ४७ भेदों में अलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि के (i) पदैकदेश (ii) वर्ण (iii) प्रबन्ध तथा (iv) रचना में होने वाले चार भेदों को सङ्कलित करके ५१ भेद होते हैं। संक्षेप में ५१ भेद गणना इस प्रकार है—

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥१०६॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामप्रातिपदिकवचनानां, न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः, भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन न त्वभावमुखेनाभिधानस्य ।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य । तरुणत्वे इति, धनुषः समीप इति, मौलौ वसतीति, त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति

में) एक बाण के आघात से उत्पन्न पंक्तिबद्ध विशाल (सात) ताल वृक्षों के छिद्रों से प्रकाशित (उद्गीर्ण) सप्त स्वरों (निषादादि) द्वारा जिनकी कीर्ति का गान करती है। यदि दिव्य ज्ञान वाले (देव) भी आप उनको नहीं जानते तो यह हमारे भाग्य की विपरीतता के कारण हो' ॥१०६॥

यहाँ पर 'असौ' इह सर्वनाम की, 'भुवन' इस प्रातिपदिक की, 'गुणैः' इस बहुवचन की (वीर रस) व्यञ्जकता है। तेरा नहीं, मेरा नहीं, अपि तु हमारा, समस्त राक्षसकुल के उपस्थापक (अथवा सूचक) इस (अस्मद्) की (सकलराक्षसकुल-क्षयव्यञ्जकता है) तथा 'भाग्यविपर्ययात्' यह सम्पत्ति की दुर्भाग्यरूप में परिणति कही गई है, भाग्य के अभाव रूप में नहीं; अतः भाग्यविपर्यय इस कथन की (भाग्य-परिवर्तन में) व्यञ्जकता है।

प्रभा—'रामोऽसौ' इत्यादि बहुत से व्यञ्जकों द्वारा वीर रस की व्यञ्जना का उदाहरण है। यह राघवानन्द नाटक में रावण के प्रति विभीषण की उक्ति है। यहाँ पर सर्वनाम, प्रातिपदिक तथा बहुवचन आदि अनेक प्रकार के व्यञ्जक हैं और उन सब के द्वारा भिन्न भिन्न रूप में अनेक प्रकार के अर्थ ध्वनित होते हैं जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया गया है। ये समस्त ध्वनित अर्थ अन्ततः वीररस के व्यञ्जक होते हैं। अतएव यहाँ पर वीर रस अनेक व्यञ्जकों द्वारा व्यङ्ग्य कहा गया है।

अनुवाद—'चकित मृग के समान चञ्चल नेत्रों वाली यह नायिका समस्त सुन्दरियों के ऊपर (मौलौ=शिरसि) अधिष्ठित है; जबकि यौवन (इसको) (कटाक्ष-विक्षेपादि) कलाओं की शिक्षा दे रहा है (शिक्षयति सति), उसका (शिष्यभूत) भ्रूलताग्रभाग (गुरुरूप) कामदेव के धनुष के समीप (कला का) अध्ययन कर रहा है (अग्रे पठति सति) ॥११०॥

यहाँ पर इमनिच् प्रत्यय, अव्ययीभाव समास और कर्मभूत आधार के स्वरूप को (शृङ्गार) व्यञ्जकता है; क्योंकि (तरुणिमनि' की) 'तरुणत्वे' के तुल्य. ('अनुमदनधनुः' की) 'धनुषः समीपे' के तुल्य और (मौलिम्' की) 'मौलौ वसति' के तुल्य अर्थात् 'इमनिच्' आदि की 'त्व' आदि के समान ही वाचकता है, फिर भी

कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्। वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते। अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु।

एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः।

(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्—

व्याख्याताः।

इमनिच् आदि के स्वरूप की कोई विशेषता अवश्य है जो चमत्काराधायक है। वह स्वरूप की विशेषता ही (या स्वरूप विशेष ही) व्यञ्जक हो जाता है।

प्रभा—'तरुणिमनि' इत्यादि इमनिच् प्रत्यय आदि की शृङ्गार-व्यञ्जकता का उदाहरण है। 'तरुणिमा' (इमनिच्) तथा 'तरुणत्व' (त्व) आदि शब्दों का संकेतित अर्थ समान ही है फिर भी इमनिच् आदि प्रत्ययों के प्रयोग द्वारा सहृदयों को एक विशेष माधुर्य का अनुभव होता है अतः इमनिच् आदि का स्वरूप ही यहाँ पर शृङ्गार रस का व्यञ्जक है। भाव यह है कि सुकुमार वर्ण वाले इमनिच् तद्धित द्वारा नवकोमल आयु की प्रतीति होती है 'तरुणत्व' का प्रयोग करने पर तो 'त्व' प्रत्यय की प्रौढ़ता के कारण आयु की प्रौढता झलकने लगेगी। इसी प्रकार 'अनुमदनधनुः' इस पूर्वपदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास में उत्तरपद 'धनुष्' अप्रधान है। अतः भ्रूलता' के निरपेक्ष वशीकरण-सामर्थ्य की प्रतीति होती है तथा 'मौलिम्' इस कर्म विभक्ति द्वारा सकलललनामौलि में व्यापकता की प्रतीति होती है जिससे सौन्दर्यातिशय की अभिव्यञ्जना होती है। यदि 'मौलौ' इस सप्तम्यन्त का प्रयोग किया जाता तो एकदेश में भी आधारता का सम्भव होने से समस्त ललनाओं की मौलिभूत-इस प्रकार की व्याप्ति न होती।

अनुवाद—उपर्युक्त रीति से अन्य पदैकदेश आदि की व्यञ्जकता भी जाननी चाहिये। वर्ण तथा रचना (वैदर्भी) आदि की व्यञ्जकता के उदाहरण गुणस्वरूप-विवेचन के प्रकरण (अष्टम उल्लास) में दिये जायेंगे। ('वर्णेष्वपि' में) अपि शब्द (के प्रयोग) से नाटक आदि प्रबन्धों में भी (रसादि व्यङ्ग्य हैं) यह अभिप्राय है।

उक्त रीति से रसादि (अलक्ष्यक्रम ध्वनि) के (वाक्य तथा पदप्रकाश्य) पूर्व गिनाये गये भेदों सहित (वाक्य-पद-पदैकदेश-रचना वर्ण तथा प्रबन्धप्रकाश्य), ६ भेद होते हैं।

इस प्रकार ध्वनि के ५१ भेद होते हैं। ये भेद पूर्व गणना से व्याख्यात ही हैं।

प्रभा—सूत्र ६० में उक्त ध्वनि के ४७ भेदों में अलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि के (i) पदैकदेश (ii) वर्ण (iii) प्रबन्ध तथा (iv) रचना में होने वाले चार भेदों को सङ्कलित करके ५१ भेद होते हैं। संक्षेप में ५१ भेद गणना इस प्रकार है—

(६३)—तेषां चान्योन्ययोजने ॥४३॥

सङ्करेण संसृष्टया चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद् भेदा भवन्ति यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयाऽऽस्पदत्वेन, अनुग्राह्यानुग्राहकतया, एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने ।

(६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४)—

शुद्धभेदैः सह ।

(६५) —शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥४४॥

---

(१) अविवक्षितवाच्यध्वनि—

(i) पद प्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, (ii) वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य २

(iii) पद प्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य, (iv) वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य २

(२) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि (क) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

(i) पद (ii) वाक्य (iii) पदैकदेश (iv) रचना (v) वर्ण (vi) प्रबन्ध-प्रकाश्य ६

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि (ख) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

(i) शब्दशक्तिमूलक पद प्रकाश्य वस्तु व्यङ्ग्य (ii) अलङ्कार रूप व्यङ्ग्य ध्वनि

(iii) „ वाक्यप्रकाश्य „ (iv) अलङ्कार रूप „ ४

अर्थशक्तिमूलक पद-प्रकाश्य ध्वनि १२

„ वाक्य प्रकाश्य „ १२

„ प्रबन्धक प्रकाश्य „ ११

शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि १

५१

अनुवाद—उन (५१) भेदों के तीन प्रकार के सङ्कर तथा एक प्रकार की संसृष्टि के परस्पर गुणन करने पर—'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः' भवन्ति (इस प्रकार अन्वय है)।

(ध्वनिकाव्य के) केवल (उपर्युक्त) शुद्ध ही ५१ भेद नहीं होते किन्तु (यावत्) उनके ५१ अपने प्रभेदों से तथा १. संशयास्पद रूप २. अनुग्राह्यानुग्राहकत्व और ३. एकव्यञ्जकानुवेश रूप—तीन प्रकार के सङ्कर से एवं परस्पर निरपेक्ष रूप एक प्रकार की संसृष्टि से—इस प्रकार से गुणा करने पर—

वेद (४) ख (०) अब्धि (४) वियत् (०) और चन्द्र (१) अर्थात् १०४०४ भेद हो जाते हैं। (अङ्कानां वामतो गतिः)।

शुद्ध (इक्यावन) भेदों के साथ मिलकर शर (५) इषु (५) युग (४) ख (०) और इन्दु (१) अर्थात् १०४५५ भेद हो जाते हैं।

प्रभा—उपर्युक्त ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों में से प्रत्येक के ५१ प्रभेद हो सकते हैं अतएव ५१×५१=२६०१ ध्वनिभेद हो जाते हैं। इन भेदों में से प्रत्येक के चार चार भेद हो सकते हैं—तीन प्रकार के सङ्कर द्वारा तथा एक प्रकार की संसृष्टि द्वारा। इस प्रकार २६०१×४=१०४०४ भेद होते हैं। ध्वनि या अलङ्कारों का मेल दो प्रकार से होता है—१. सङ्कर २. संसृष्टि। जहां पर एक भेद का दूसरे के साथ साक्षात् या परम्परा से किसी प्रकार भी सापेक्ष सम्बन्ध होता है वहां सङ्कर कहलाता है अर्थात् (नीरक्षीरवत्) अन्योन्य सापेक्ष मिश्रण को सङ्कर कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—(i) संशयास्पद रूप अथवा सन्देह सङ्कर—जहां दो व्यङ्ग्यों में से किसी एक के विषय में 'यह या यह' (अयम् अयं वा) इस प्रकार का सन्देह होता है। (ii) अनुग्राह्यानुग्राहकरूप सङ्कर—जहां दो व्यङ्ग्यों में परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव होता है और (iii) एकव्यञ्जकानुप्रवेश रूप सङ्कर—जहां दो व्यङ्ग्यार्थ एक व्यञ्जक द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं। २-संसृष्टि—जहां दो व्यङ्ग्य परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्ररूप से पृथक् पृथक् होते हैं, वहां संसृष्टि होती है; अर्थात् (तिलतण्डुलवत्) परस्पर निरपेक्ष मिश्रण को संसृष्टि कहते हैं। यह एक प्रकार की है। इस प्रकार पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों वाली ध्वनि के ये चार प्रकार और हो जाते हैं और ये १०४०४ भेद होते हैं।

इन भेदों में ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद जोड़ देने पर १०४०४+५१=१०४५५ ध्वनि के भेद होते हैं।

टिप्पणी—(i) ध्वनिकार ने ध्वनि के कुछ भेद-प्रभेदों का विवेचन (ध्वन्यालोक ३·४४ में) करते हुए भी ध्वनि-भेद-परिगणन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। सर्व प्रथम लोचनकार ने ध्वनि के ३५ भेद-प्रभेदों का संकलन किया—'पञ्चत्रिंशद् भेदाः' (२·३१)। संक्षेप में ये ३५ भेद इस प्रकार हैं—अविवक्षितवाच्य ध्वनि के ४+विवक्षितान्यपरवाच्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के वर्ण, पद, वाक्य सङ्घटना, प्रबन्ध (प्रकाश्य) ५+सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के शब्दशक्तिमूलक पद-प्रकाश्य २ तथा अर्थशक्तिमूलक २४ (कुल २६)।

लोचनकार ने सङ्कर और संसृष्टि आदि की सम्भावना से भी ध्वनि का भेद-संख्यान किया था और कुल ७४२० ध्वनि-भेद माने थे—'तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्त सहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति' (लोचन ३)। किन्तु लोचनकार की भेदगणना अधिक स्पष्ट नहीं।

(ii) आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त के ३५ भेदों में १६ (१२ अर्थशक्ति-मूलक प्रबन्ध-प्रकाश्य ध्वनि+२ शब्दशक्तिमूलक वाक्य-प्रकाश्य वस्तु तथा अलङ्कार रूप+१ उभयशक्तिमूलक+१ असंलक्ष्यक्रम पदैकदेशव्यङ्ग्य ध्वनि) भेद और जोड़ कर ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों की गणना की और उपर्युक्त प्रकार से ध्वनि के १०४५५ भेद-प्रभेद बतलाये। मम्मट के भेद-विवेचन में ५१×५१ किया जाता है अतः इस प्रक्रिया को गुणन-प्रक्रिया कहा जा सकता है।

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते ।

खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥१११॥
(क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग, किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥१११॥)

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितः किमनुरणनन्याये-नोपभोग एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

(iii) साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने भी ध्वनि के शुद्ध भेद ५१ ही माने; किन्तु सङ्कर तथा संसृष्टि से होंगे वाले भेदों की गणना भिन्न प्रकार से की। उनके अनुसार ध्वनि के प्रथम भेद में एक सजातीय और ५० विजातीय भेदों के साथ मिलकर ५१ प्रकार की संसृष्टि या सङ्कर होगा; किन्तु द्वितीय ध्वनि प्रकार में ५० प्रकार के ही संसृष्टि या संङ्कर होंगे क्योंकि इनमें से एक भेद की गणना प्रथम ध्वनि-भेद में हो चुकी है। इसी प्रकार एक एक ध्वनि-भेद घटता जायगा और ५१ वें शुद्ध भेद का केवल एक ही प्रभेद परिगणनीय होगा। इसलिये संसृष्टि के कुल भेदों की संख्या जानने के लिये १ से ५१ तक का योग करना होगा अर्थात् $\frac{५१ \times ५२}{२}$ या १३२६ । सङ्कर-संख्या १३२६ × ३ = ३९७८ । कुल ध्वनि प्रभेद १३२६ + ३९७८ = ५३०४ । 'तदेवमेकपञ्चाशद् भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः । सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया । वेदखाग्निशराः (५३०४) शुद्धैरिषु बाणाग्निसायकाः (५३५५) । (सा० द० ४·१२) ।

अनुवाद—उनमें से दिग्दर्शन के हेतु कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—'हे सौभाग्यशाली देवर, क्षण भर के लिये अथवा उत्सव के अवसर पर (क्षण) तुम्हारी अतिथि (प्राघुणिका) बनी हुई उस स्त्री को तुम्हारी पत्नी ने कुछ (अवाच्य) कह दिया है जिससे कि वह गृह के पिछले भाग में स्थित छज्जे पर (बैठी) रो रही है, उस बिचारी को मना लो' ॥१११॥

क्या यहाँ पर 'अनुनय' (मनाना) शब्द (लक्षणा द्वारा) उपभोगरूप अर्थान्तर में संक्रमित है ? या अनुरणन अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की रीति से उपभोग रूप व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक है—यह सन्देह है।

प्रभा—'क्षण' इत्यादि एकाश्रयानुप्रवेश (?) ध्वनिद्वय सङ्कर का उदाहरण है। यहाँ पर देवर को अनुनय के लिए कहा गया है। अनुनय का अभिप्राय है—रुदन को बन्द कराने का व्यापार अर्थात् मनाना। यहाँ 'अनुनय' शब्द अपने अर्थ में अनुपपन्न होकर उपभोगातिशय बोधन के लिए लक्षणा द्वारा उपभोग की प्रतीति कराता है अथवा इसका अर्थ तो 'रोदन-निवारण' ही है किन्तु इसके द्वारा उपभोग व्यङ्ग्य

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि, धीरा भव ॥११२॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः। एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थ उल्लासः ॥४॥

है—इस प्रकार का सन्देह होता है । दोनो प्रकार से उपभोग मे ही तात्पर्य है, अतः यह सन्देह दूषण नहीं भूषण है । और यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के सन्देह से अविवक्षित-वाच्य अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का सन्देहसङ्कर है जो एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न करता है ।

अनुवाद—'जिन (मेघों) ने स्निग्ध और श्यामल आभा से आकाश को व्याप्त [लिप्त] कर दिया है, जिनमें बकपंक्तियाँ [बालकाः] क्रीडा करती हैं अथवा शोभायमान हैं (वेल्लन्त्यः—बहुतरं शोभन्त्यः सविलासं खेलन्त्यो वा); वे मेघ चाहे (कामं) आकाश में घिरे रहें (घना मेघा एव घनाः निविडाः), जल-कण-युक्त वायु भले ही चलें, मेघों के मित्र अर्थात् मयूरों की आनन्ददायक अव्यक्त-मधुर (कलाः) केका ध्वनि भले ही हों, मैं तो अत्यन्त (दृढ़) कठोर हृदय वाला (सकल दुःखों का पात्र) राम हूँ, सब सहन कर लूँगा; किन्तु हाय, (सुकुमारता के कारण दुःखाक्षमा) सीता कैसे (जीवित) रहेगी, हे देवि, धैर्य धारण करो' ॥११२॥

यहाँ पर 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यों की संसृष्टि है । इन दोनों अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियों के साथ (ताभ्याम्) 'रामोऽस्मि' इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से तथा अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य एवं रसध्वनि का 'राम' पदरूप (लक्षण) एकव्यञ्जकानुप्रवेश से (दो प्रकार का) सङ्कर है । इसी प्रकार और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

प्रभा—'स्निग्ध' इत्यादि अनुग्राह्यानुग्राहक तथा एकव्यञ्जकानुप्रवेश नामक संकर और उपर्युक्त (एक प्रकार की) संसृष्टि का एक ही उदाहरण है। (१) यहाँ पर कान्ति के द्वारा अमूर्त आकाश का लेपन असम्भव है अतएव 'लिप्त' शब्द सम्पर्क को लक्षित करता है और सम्पर्क के अतिशय (व्यापन) का व्यञ्जना द्वारा बोध कराता है । इसी प्रकार जड़ मेघ में सौहार्द, जो चित्त की वृत्ति-विशेष है, सम्भव नही है अतएव 'सुहृत्' पद उपकारिता को लक्षित करता है (क्योंकि मेघ मयूर की केकादि ध्वनि को प्रोत्साहन देते हैं) तथा उपकारिता की अतिशयता का व्यञ्जना

द्वारा बोध कराता है। यहां 'लिप्त' तथा 'सुहृद्' शब्द का वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनियाँ हैं ये दोनों परस्पर निरपेक्ष भाव से संयुक्त हो रही है अतः दो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियों की संसृष्टि है।

(२) इस श्लोक में राम का लक्ष्यार्थ है—'सकलदुःखपात्र राम'। इसके द्वारा स्वावधीरण (अपना तिरस्कार) अर्थ व्यङ्ग्य है तथा 'राम' पद अर्थान्तर-संक्रमित है। किन्तु इसका व्यङ्ग्यार्थ 'लिप्त' और 'सुहृद्' पद की ध्वनियों पर निर्भर है क्योंकि वे उद्दीपक हैं। इस प्रकार वे इसके प्रयोजक या अनुग्राहक हैं और यह उन दोनों का प्रयोज्य या अनुग्राह्य है। इसलिये उन दोनों ध्वनियों के साथ 'राम' पद की ध्वनि का अनुग्राह्यानुग्राहक सम्बन्ध है तथा उन दोनों अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्यध्वनियों के साथ इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का अनुग्राह्यानु-ग्राहक-भाव सङ्कर है। यह द्वितीय प्रकार के सङ्कर का उदाहरण है।

(३) इस श्लोक में 'राम' पद के द्वारा स्वावधीरण के समान ही विप्रलम्भ-शृङ्गार भी व्यङ्ग्य है अथवा विप्रलम्भ समस्त वाक्य का व्यङ्ग्य है अतएव वाक्यैक-देश 'राम' का भी किसी न किसी अंश में विप्रलम्भशृङ्गार व्यङ्ग्य है और यह रसध्वनि है। अब एक 'राम' पद रूप व्यञ्जक में स्वावधीरण और विप्रलम्भ—ये दो व्यङ्ग्य अनुप्रविष्ट हैं इससे दोनों व्यङ्ग्यों में एक व्यञ्जकानुप्रवेशरूप सङ्कर है तथा तन्मूलक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि (स्वावधीरण में) एवं रसध्वनि (विप्रलम्भ में) इन दोनों का ('राम' पद रूप) एकव्यञ्जकानुप्रवेश नामक सङ्कर है। यह तृतीय प्रकार के सङ्कर का उदाहरण है।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में ध्वनिकाव्य (के भेद-प्रभेदों) का निर्णय करने वाला यह चतुर्थ उल्लास समाप्त होता है।

॥ इति चतुर्थ उल्लासः ॥

अथ पञ्चम उल्लासः

[गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपणात्मकः]

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(६६) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

इस (पञ्चम) उल्लास में मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यङ्ग्य) के भेद-प्रभेदों का उदाहरण सहित निरूपण किया जा रहा है।

अनुवाद—इस प्रकार (भेद-प्रभेद सहित) ध्वनि का निर्णय कर चुकने पर (ग्रन्थकार) गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) के अवान्तर भेदों (प्रभेद) का निरूपण करते हैं—गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के आठ प्रकार कहे गये हैं—(१) अगूढ, (२) अपरस्याङ्ग, (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, (४) अस्फुट, (५) सन्दिग्धप्राधान्य, (६) तुल्यप्राधान्य, (७) काक्वाक्षिप्त और (८) असुन्दर ।

प्रभा—गुणीभूतव्यङ्ग्य वह काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्य-अर्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है अर्थात् वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है। (उसका स्वरूप-विवेचन प्रथम-उल्लास में किया गया है)। उसके ८ भेद हैं—[१] अगूढव्यङ्ग्य वह है जहाँ असहृदयजनों को भी व्यङ्ग्यार्थ की शीघ्र प्रतीति हो जाती है। (२) अपरस्याङ्ग वह है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाक्य के तात्पर्यरूप किसी अन्य प्रधान अर्थ का अङ्ग अर्थात् उपकारक हो जाता है। (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग (वाच्यार्थस्य सिद्धेः अङ्गं निदानम्) वह है जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि व्यङ्ग्यार्थ के अधीन होती है। (४) अस्फुट वह है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ को सहृदयजन भी सहज में नहीं समझ पाते। (५) सन्दिग्धप्राधान्य (सन्दिग्ध प्राधान्यं यत्र) वह है जहाँ यह सन्देह होता है कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यङ्ग्यार्थ। (६) तुल्यप्राधान्य (तुल्यं प्राधान्यं यत्र) वह है जहाँ चमत्कारोत्पादन में वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ का तुल्य सामर्थ्य होता है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक नहीं होती। (७) काक्वाक्षिप्त वह है जहाँ काकु नामक ध्वनिविकार से आक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होता। (८) असुन्दर वह है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ स्वभाव से ही वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारपूर्ण होता है।

टिप्पणी—(i) आनन्दवर्धनाचार्य तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन करके यत्र-तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकारों का उल्लेख

(१) कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव।

अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि॥११३॥

अत्र 'जीवन्' इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य।

किया था; किन्तु उन्होंने स्पष्टतया गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद-प्रभेदों का विवेचन नहीं किया। फिर भी ध्वन्यालोक तथा लोचन में गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के विविध प्रकारों का स्वरूप सामान्यतः देखा जा सकता है। आचार्य मम्मट ने उनका भली-भाँति अनुसन्धान करके गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद-प्रभेद विवेचन को शास्त्रीय रूप दिया है।

(ii) विश्वनाथ कविराज ने भी मम्मट-कृत गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद-विवेचन का अनुसरण किया है।

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम्॥
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम्।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ॥

अनुवाद—(१. अगूढव्यङ्ग्य) जो व्यङ्ग्य सुन्दरी के (अञ्चलावृत) स्तन-कलश के समान गूढ (अर्थात् कुछ ढका हुआ तथा कुछ प्रकट) होता है, वही चमत्कारजनक होता है। जो व्यङ्ग्य स्पष्ट रूप से प्रकट है (अगूढ) वह वाच्यार्थ के समान हो जाता है (अतः वैसा चमत्कारक नहीं होता) तथा गुणीभूत हो (अप्रधान) हो जाता है। अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण, जैसे—

'जिसका (मेरा) शत्रु अपना तिरस्कार (धिक्कार) करते हुए स्वयं (मेरी शरण में) आकर तपी हुई लोह-शलाका के द्वारा अपने कानों को बेंधता था (तप्त-सूच्या यः व्यधः वेधः तस्य व्यतिकरः पौनः पुन्यं तेन युनक्ति संबध्नाति), वही (यह) मैं करधनी के सूत्र—(गुण) ग्रथन कार्य का भाजन हो गया हूँ। इस समय मैं जीवित ही नहीं हूँ अतः क्या करूं॥११३॥

यहाँ पर 'जीवन्' इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (पद) का व्यङ्ग्य अगूढ है।

प्रभा—'यस्य' इत्यादि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य अगूढव्यङ्ग्य का उदाहरण है। इसके सन्दर्भ तथा अर्थ के विषय में टीकाकारों का मत-भेद है। उद्योतकार के अनुसार 'बृहन्नला' बने अर्जुन से किसी ने पूछा कि तुम

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥११४॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥११५॥

अपने अभ्युदय के लिये प्रयास क्यों नहीं करते, इसके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है। शरणागत शत्रु का तप्त लोह-शलाका से कर्णवेध करना उस समय का आचार था। जीवित व्यक्ति में जीवनाभाव नहीं हो सकता, अतएव 'जीवन' शब्द श्लाघ्य जीवन रूप अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है और यहाँ श्लाघ्य जीवन के अभाव का बोध होता है। यहाँ पर अत्यधिक अनुताप व्यङ्ग्य है और जनसाधारण को वाच्य-अर्थ के समान ही उसका बोध हो जाता है इसलिये यह अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

अनुवाद—'विकसित (उन्निद्र) लाल कमल (कोकनद) की पुष्पधूलि से जिनके अङ्ग पीले हो गये हैं ऐसे भ्रमर गृहवापियों में मनोहर रूप से गुञ्जार रहे हैं और उदयगिरि का चुम्बन करने वाला तथा नवीन बन्धुजीव नामक (जपाकुसुम) पुष्प के पत्र की कान्ति वाला यह सूर्य-बिम्ब प्रकाशित हो रहा है' ॥११४॥

यहाँ 'चुम्बन' इस अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का (व्यङ्ग्य अगूढ है)।

प्रभा—'उन्निद्र' इत्यादि अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अगूढव्यङ्ग्य का उदाहरण है। इस उक्ति में प्रातःकाल का वर्णन है। 'चुम्बति' का मुख्य अर्थ है—मुख चूमना, अचेतन रवि-बिम्ब में यह अर्थ सर्वथा बाधित हो जाता है इस हेतु संयोग-मात्र को लक्षित करता है तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य हो जाता है। उदयाचल-चुम्बन द्वारा 'प्रभातागमन' व्यङ्ग्य है और वह वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है—अगूढ है अतः यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण शब्दशक्तिमूलक अगूढव्यङ्ग्य के हैं।

अनुवाद—'हे मृगलोचनि (सीते), यहाँ पर (मुझे और लक्ष्मण को) नाग-पाश में बाँधा जाने का कार्य हुआ था। यहाँ (मेघनाद के) शक्ति नामक अस्त्र द्वारा तुम्हारे देवर (लक्ष्मण) के वक्षःस्थल में, अत्यन्त आहत होने पर हनुमान के द्वारा द्रोणपर्वत लाया गया था। यहाँ लक्ष्मण के दिव्य बाणों द्वारा इन्द्र-जयी मेघनाद परलोक में पहुँचा दिया गया था और यहाँ किसी के द्वारा राक्षसराज रावण के कण्ठरूपी वन को काटा गया था' ॥११५॥

(१) कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव।

अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥११३॥

अत्र 'जीवन्' इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य।

किया था; किन्तु उन्होंने स्पष्टतया गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद-प्रभेदों का विवेचन नहीं किया। फिर भी ध्वन्यालोक तथा लोचन में गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के विविध प्रकारों का स्वरूप सामान्यतः देखा जा सकता है। आचार्य मम्मट ने उनका भली-भाँति अनुसन्धान करके गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद-प्रभेद विवेचन को शास्त्रीय रूप दिया है।

(ii) विश्वनाथ कविराज ने भी मम्मट-कृत गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद-विवेचन का अनुसरण किया है।

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ॥
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम्।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥

अनुवाद—(१. अगूढव्यङ्ग्य) जो व्यङ्ग्य सुन्दरी के (अञ्चलावृत) स्तन-कलश के समान गूढ (अर्थात् कुछ ढका हुआ तथा कुछ प्रकट) होता है, वही चमत्कारजनक होता है। जो व्यङ्ग्य स्पष्ट रूप से प्रकट है (अगूढ) वह वाच्यार्थ के समान हो जाता है (अतः वैसा चमत्कारक नहीं होता) तथा गुणीभूत ही (अप्रधान) हो जाता है। अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण, जैसे—

'जिसका (मेरा) शत्रु अपना तिरस्कार (धिक्कार) करते हुए स्वयं (मेरी शरण में) आकर तपी हुई लौह-शलाका के द्वारा अपने कानों को बँधता था (तप्त-सूच्या यः व्यधः वेधः तस्य व्यतिकरः पौनः पुन्यं तेन युनक्ति संबध्नाति), वही (वह) मैं करधनी के सूत्र—(गुण) ग्रथन कार्य का भाजन हो गया हूँ। इस समय मैं जीवित ही नहीं हूँ अतः क्या करूँ ॥११३॥

यहाँ पर 'जीवन्' इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (पद) का व्यङ्ग्य अगूढ है।

प्रभा—'यस्य' इत्यादि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य अगूढव्यङ्ग्य का उदाहरण है। इसके सन्दर्भ तथा अर्थ के विषय में टीकाकारों का मत-भेद है। उद्योतकार के अनुसार 'बृहन्नला' बने अर्जुन से किसी ने पूछा कि तुम

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक—
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥११७॥

अत्र भावस्य रसः ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधयः
तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुवः
तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥११८॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

अनुवाद—'कैलास-वासी शिव के ललाट के नेत्र (तृतीय नेत्र) की कान्ति से जिस (नखद्युति) में अलक्तक (महावर) की शोभा (व्यक्ति=प्रकटता) उत्पन्न (निर्वर्त्तित) हो गई है, स्पर्धा के सातत्य से उद्दीप्त जिस (नखद्युति) के द्वारा अत्यन्त बढ़ी हुई लाल कमल के समान घनी (पार्वती के) नेत्रों की लाली सहसा दूर कर दी जाती है, वह पर्वत पुत्री (पार्वती) के चरण-नखों की आभा सदा तुम्हारी रक्षा करे' ॥११७॥

यहाँ पर (शृङ्गार) रस, (भक्ति) भाव का अङ्ग है।

प्रभा—'कैलास' इत्यादि उदाहरण में शृङ्गार रस भक्ति-भाव का अङ्ग है। इसमें महादेव के प्रमाण करने पर पार्वती के मान-भङ्ग करने का वर्णन किया गया है। यहाँ पर 'त्रायताम्' से पार्वती के विषय में कवि का भक्त भाव प्रतीत हो रहा है उसी की प्रधानता है। पार्वतीविषयक महादेवनिष्ठ सम्भोग शृङ्गार उस भक्ति-भाव का पोषक है—अङ्ग है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में एक रस किसी अन्य रस या भाव का अङ्ग हो गया है अतः यहाँ प्राचीन आलङ्कारिकों के विचार से रसवत् अलङ्कार है।

अनुवाद—'(हे पृथ्वी), 'अत्यन्त उच्च पर्वत चारों ओर विराजमान हैं (स्फुरन्ति) तथा अत्यन्त विस्तीर्ण (स्फारा) सागर भी हैं; इन सब को धारण करती हुई भी तुम कुछ भी थकी नहीं हो; अतः तुम्हें नमस्कार है' इस प्रकार ज्यों ही मैं बार-बार आश्चर्य के साथ भूमि की स्तुति करता हूँ, हे राजन् त्यों ही इस (विशिष्ट) पृथ्वी को भी धारण करने वाली तुम्हारी भुजा का स्मरण हो जाता है, इससे (पृथ्वी की स्तुतिरूप) मेरी वाणी कुण्ठित (मुद्रिताः संकुचिताः) हो जाती है' ॥११८॥

यहाँ पर भूमिविषयक रति नामक भाव राजविषयक रति भाव का अङ्ग है।

प्रभा—'अत्युच्चाः' आदि उदाहरण में एक भाव अन्य भाव का अङ्ग है। इसमें कोई कवि भोजराज की स्तुति कर रहा है। यहाँ पर कविनिष्ठ भूमिविषयक

अत्र फेनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः ।

(२) अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य, अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा ।

यथा—

> अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
> नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥११६॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

यहाँ पर 'केनापि' (किसी ने) इसमें अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अगूढ है । (इसके स्थान पर) 'तस्याप्यत्र' (उसका भी यहाँ) यह पाठ उचित है (तब व्यङ्ग्यार्थ के गूढ हो जाने से यह ध्वनिकाव्य ही हो जायेगा, यह भाव है) ।

प्रभा—'अत्रासीत्' इत्यादि अर्थशक्तिमूलक (संलक्ष्यक्रम) अगूढ-व्यङ्ग्य का उदाहरण है । यह राजशेखरकृत बालरामायण का पद्य है । यह विमानमार्ग से अयोध्या लौटते हुए राम की सीता के प्रति उक्ति है । यहाँ पर 'केनापि' इस पद के द्वारा द्योतित 'मया' (राम ने) यह अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है । वह अगूढ है अर्थात् स्पष्टतया प्रकट ही है, अतः यहाँ अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य है । 'केनापि' के स्थान पर 'तस्यापि' पद रख दिया जाय तो तत् शब्द से पराक्रमी रावण का बोध होगा और उसका संहार करने के कारण नायक (राम) के उत्कर्ष की प्रतीति होगी तथा वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की गूढता हो जाने से ध्वनिकाव्य होगा ।

अनुवाद—(२) अपराङ्गव्यङ्ग्य) अन्य (अपर) अर्थात् रसादि अथवा वाच्यार्थ, जो कि वाक्य का तात्पर्य रूप से प्रधान अर्थ होता है, उसका अङ्ग कोई रस भाव आदि (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) अथवा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही [द्विविध] अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य है, जैसे—

'यह वही (रति-लीला में) करधनी को खींचने वाला, पीन-स्तनों का मर्दन करने वाला नाभि, उरु और जघनों का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को ढीला करने वाला हाथ है' ॥११६॥

यहाँ पर शृङ्गार (अपर) करुण का अङ्ग है ।

प्रभा—'अयं' इत्यादि में शृङ्गार रस व्यङ्ग्य है जो करुण रस का अङ्ग (अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य) हो गया है । (महाभारत स्त्रीपर्व अध्याय २४) रणभूमि में कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को लेकर उसकी पत्नी विलाप कर रही है । इस सन्दर्भ में करुण रस प्रधान है; प्रिय-नाश के कारण शोक की प्रधानता है । भूरिश्रवा की पत्नी का पूर्वानुभूत (शृङ्गार) रशनाकर्षणादि का स्मरण शोक का ही पोषण करता है । अतएव शृङ्गार रस करुण रस का अङ्ग है और अपरस्याङ्ग रूप गुणीभूतव्यङ्ग्य है ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक—
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम्।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥११७॥

अत्र भावस्य रसः।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधयः
तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुवः
तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥११८॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य।

अनुवाद—'कैलास-वासी शिव के ललाट के नेत्र (तृतीय नेत्र) की कान्ति से जिस (नखद्युति) में अलक्तक (महावर) की शोभा (व्यक्ति=प्रकटता) उत्पन्न (निर्वर्त्तित) हो गई है, स्पर्धा के सातत्य से उद्दीप्त जिस (नखद्युति) के द्वारा अत्यन्त बढ़ी हुई लाल कमल के समान घनी (पार्वती के) नेत्रों की लाली सहसा दूर कर दी जाती है, वह पर्वत पुत्री (पार्वती) के चरण-नखों की आभा सदा तुम्हारी रक्षा करे' ॥११७॥

यहाँ पर (शृङ्गार) रस, (भक्ति) भाव का अङ्ग है।

प्रभा—'कैलास' इत्यादि उदाहरण में शृङ्गार रस भक्ति-भाव का अङ्ग है। इसमें महादेव के प्रमाण करने पर पार्वती के मान-भङ्ग करने का वर्णन किया गया है। यहाँ पर 'त्रायताम्' से पार्वती के विषय में कवि का भक्त भाव प्रतीत हो रहा है उसी की प्रधानता है। पार्वतीविषयक महादेवनिष्ठ सम्भोग शृङ्गार उस भक्ति-भाव का पोषक है—अङ्ग है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में एक रस किसी अन्य रस या भाव का अङ्ग हो गया है अतः यहाँ प्राचीन आलङ्कारिकों के विचार से रसवत् अलङ्कार है।

अनुवाद—'(हे पृथ्वी), 'अत्यन्त उच्च पर्वत चारों ओर विराजमान हैं (स्फुरन्ति) तथा अत्यन्त विस्तीर्ण (स्फारा) सागर भी हैं; इन सब को धारण करती हुई भी तुम कुछ भी थकी नहीं हो; अतः तुम्हें नमस्कार है' इस प्रकार ज्यों ही मैं बार-बार आश्चर्य के साथ भूमि की स्तुति करता हूँ, हे राजन् त्यों ही इस (विशिष्ट) पृथ्वी को भी धारण करने वाली तुम्हारी भुजा का स्मरण हो जाता है, इससे (पृथ्वी की स्तुतिरूप) मेरी वाणी कुण्ठित (मुद्रिताः संकुचिताः) हो जाती है' ॥११८॥

यहाँ पर भूमिविषयक रति नामक भाव राजविषयक रति भाव का अङ्ग है।

प्रभा—'अत्युच्चाः' आदि उदाहरण में एक भाव अन्य भाव का अङ्ग है। इसमें कोई कवि भोजराज की स्तुति कर रहा है। यहाँ पर कविनिष्ठ

बन्दीकृत्य नृप, द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे,
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥११६॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धयोत्यौ।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥१२०॥

रतिभाव रतिविषयक रतिभाव के उत्कर्ष को बढ़ाने वाला है अतएव भूमिविषयक रतिभाव राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है तथा यहाँ अपरस्याङ्गरूप गुणीभूत-व्यङ्ग्य है।

-- अनुवाद—'हे राजन् आपके सैनिकगण शत्रुओं की मृगनयनी नारियों को बन्दी करके उनके पतियों के देखते हुए ही (उनका अनादर करके) उनका आलिङ्गन करते हैं (कोपशान्ति के लिये) प्रणाम करते हैं (वश में करने के लिये) पकड़ लेते हैं (लान्ति-गृह्णन्ति) और (कामशास्त्रानुक्त स्थल पर भी) सर्वाङ्गरूप (परितः) (उन्मत्त से होकर) चुम्बन करते हैं। (इस प्रकार के अनुचित कार्यों के प्रवर्तक भी) आपकी उन शत्रुओं के द्वारा (इस प्रकार) स्तुति की जाती है कि हे औचित्य के सागर, (न्यायोचित कर्म करने वाले) हमारे पुण्यों (के प्रभाव) से आप दर्शन के विषय हुए हैं (दृशोर्निपतितः) उस (तत्) आपके दर्शन से हमारी समस्त विपत्तियाँ नष्ट हो गई हैं' ॥११६॥

यहाँ पर प्रथमार्ध से द्योतित (शृङ्गार) रसाभास तथा द्वितीयार्ध से द्योतित (रति) भावाभास (दोनों) रति-भाव के अङ्ग हैं।

प्रभा—'बन्दीकृत्य' इत्यादि ऐसे अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है, जहाँ रसाभास तथा भावाभास दोनों भाव के अङ्ग हैं। यह किसी कवि की राजविषयक स्तुति है। यहाँ पर प्रथमार्ध में अननुरक्त पर-स्त्री विषयक सैनिकनिष्ठ शृङ्गार का वर्णन है जो रसाभास है। द्वितीयार्ध में शत्रुओं के प्रकृत राजविषयक प्रेम (रति) का वर्णन है जो भावाभास है। ये दोनों अनौचित्य से प्रवृत्त होने के कारण रसाभास और भावाभास हैं। कवि का राजविषयक रतिरूप जो भाव है, वही यहाँ प्रधान है तथा रसाभास और भावाभास उसका पोषण करने वाले (अङ्ग) हैं। यहाँ पर रसाभास या भावाभास अन्य भाव के प्रति अङ्गरूप से उपस्थित हैं अतः ऊर्जस्विनामक अलङ्कार है।

अनुवाद—'हे राजन्, निरन्तर तलवार कँपाने से, भौंहें तानकर (मारो काटो इस प्रकार की) ललकार से तथा (हुङ्कार और सिंहनाद रूप) गर्जना से जो आपके शत्रुओं का गर्व बार-बार दिखाई पड़ता था आपका दर्शन करने पर (करते ही) क्षण भर में ही वह न जाने कहाँ (क्वापि) चला गया' ॥१२०॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः।

साकं कुरङ्गकदृशा मधुमानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते।
अन्याभिधायि तव नाम विभो, गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥१२१॥

अत्र त्रासोदयः।

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटवटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥१२२॥

यहाँ पर (मद रूप) भाव की शान्ति (राजभक्ति) भाव का अङ्ग है।

प्रभा—'अविरल' आदि ऐसे अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है, जहाँ भावशान्ति भाव का अङ्ग है। यहाँ पर शत्रुओं के गर्वरूप मदनामक भाव की शान्ति का वर्णन किया गया है। वह कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव (भक्तिभाव) का पोषक है तथा उसका अङ्ग है। यहाँ भाव-प्रशान्ति एक भाव के अङ्गरूप में अवस्थित है अतः समाहित अलङ्कार है।

अनुवाद—'हे प्रभो (विभो), जैसे ही आपका शत्रु अपने मित्रों सहित बालमृग (कुरङ्ग) जैसे नेत्रों वाली सुन्दरियों के साथ मद्यपान की क्रीडा में प्रवृत्त होता है (प्रवृत्ते सति- प्रवृत्त होने पर) कि (इतने में ही) वहाँ किसी के द्वारा (अनेकार्थता) के कारण) अन्य-अर्थ वाचक (अन्य अभिप्राय से) ग्रहण किये हुए आपके नाम ने (शत्रु की कम्पादियुक्त) विषम अवस्था कर दी' ॥ १२१ ॥

यहाँ पर त्रास रूप (व्यभिचारी) भाव का उदय [भावोदय] [राज-विषयक रतिभाव का] अङ्ग है।

प्रभा—'साकम्' इत्यादि ऐसे अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है जहाँ भावोदय भाव का अङ्ग है। यह किसी राजा की स्तुति में कवि की उक्ति है। यहाँ पर विषमावस्था द्वारा त्रासरूप व्यभिचारी भाव का उदय व्यङ्ग्य है। वह कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव (भक्तिभाव) का पोषक है। अतएव यहाँ भावोदय भाव का अङ्ग है तथा प्राचीनों का भावोदय नामक अलङ्कार भी है।

अनुवादः—'(पार्वती की) उस अवस्था में प्रकट होती हुई [उल्लसत्] तप की दुःसह्यता [असहभाव] को सहन करने में असमर्थ तथा पर्वतपुत्री (पार्वती) की [सखी गोष्ठी में] विश्वासपूर्वक की गई वार्ताओं में [अथवा प्रणय कथाओं में] रस लेने वाले अतएव छल से धारण किये हुए ब्रह्मचारी वेश का परित्याग करने में एक साथ शीघ्रता तथा शिथिलता से अभिभूत [अभियुक्त आक्रान्तः] वह काम-

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ, भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥१२३॥

अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता ।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः । यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम् ।

यहाँ पर आवेग और धैर्य [व्यभिचारी भावों] की सन्धि [शिवविषयक रति भाव का अङ्ग है] ।

——प्रभा—'अमोघा' इत्यादि ऐसे अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है जिसमें भावसन्धि भाव का अङ्ग है । इसमें बटुवेष में पार्वती के निकट जाने वाले महादेव की स्तुति की गई है । यहाँ पर शिव में त्वरा तथा शैथिल्य का वर्णन किया गया है इससे 'आवेग' तथा 'धैर्य' दो व्यभिचारी भाव अभिव्यक्त होते हैं (व्यङ्ग्य हैं) । इन दोनों भावों की सन्धि कविनिष्ठ शिवविषयक रतिभाव का अङ्ग है । यहाँ भावसन्धि किसी भाव का अङ्ग हो गई है अतः प्राचीनों का भावसन्धि अलङ्कार है ।

अनुवाद—'हे पृथ्वीनाथ, वन में वास करने वाले आपके शत्रु की कन्या, जो फल और कोमल-पत्र चुन रही होती है [किसी कामुक के प्रति] इस प्रकार कहती है—'कोई देख लेगा [शङ्का] अतः रे चञ्चल, हट [भाग] जाओ [असूया:] अरे, शीघ्रता क्या है (धृति), मैं कुमारी हूँ (कुमारी की स्वतन्त्रता उचित नहीं—यह स्मरण); हाथ का सहारा दो श्रम), हाय (दैन्य) ! यह अनुचित आचरण है (विबोध); तुम कहाँ जाते हो; (उत्सुकता)' ॥ १२३ ॥

यहाँ पर शङ्का, असूया, धृति स्मृति, श्रम, दैन्य, विबोध और औत्सुक्य (व्यभिचारी) भावों की शबलता [राजविषयक] रतिभाव का अङ्ग है ।

प्रभा—'पश्येत्' आदि ऐसे अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है जिसमें भावशबलता भाव का अङ्ग है । फलाहरण समय में किसी (अनुरक्त) शत्रुकन्या की कामुक के प्रति यह उक्ति है। यहाँ पर पूर्व पूर्ववर्ती शङ्का आदि भाव को दबाकर उत्तरोत्तर बहुत से भावों का उदय दिखलाया गया है, यही भावशबलता है । यह भावशबलता राजविषयक रति-भाव का अङ्ग है । यहाँ भावशबलता एक भाव का अङ्ग हो गई है अतः भावशबलता अलङ्कार है ।

अनुवाद—और ये [गुणीभूत रस आदि] रसवद् आदि अलङ्कार भी कहे गये हैं। यद्यपि भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को [किसी के द्वारा] अलङ्कार रूप में नहीं कहा गया तथापि कोई कहता हो [यह सम्भावना करके] इसलिये यहाँ कहा गया है ।

यद्यपि न नास्ति कश्चिद्विषयः यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति, तथाऽपि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती' ति क्वचित्केनचिद्व्यवहारः ।

प्रभा—प्राचीन आलङ्कारिकों ने रस आदि के गुणीभूत हो जाने पर उन्हें 'रसवत्' अलङ्कार आदि के नाम से अलङ्कारों में गिनाया था। उनके अनुसार गुणीभूत रस 'रसवत्' गुणीभूत भाव 'प्रेयस्', गुणीभूत रसाभास तथा भावभास 'ऊर्जस्विन्', गुणीभूत भावशान्ति 'समाहित' नामक अलङ्कार कहलाता था। यद्यपि उन्होंने भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता आदि को अलङ्कारों में नहीं गिनाया। किन्तु जिस प्रकार अन्य रसादि का उत्कर्ष बढाने के कारण रसवत् आदि को अलङ्कार माना गया था उसी प्रकार भावोदय आदि को भी अलङ्कार माना ही जा सकता है। इसी सम्भावना के आधार पर आचार्य मम्मट ने भावोदय आदि का भी यहाँ उल्लेख किया है। बाद में अलङ्कार—सर्वस्वकार ने भावोदय आदि को पृथक् अलङ्कार माना भी है। आचार्य मम्मट ने तो प्रचीनों की दृष्टि से ही रसवत् आदि अलङ्कारों की बात कही है। वास्तव में मम्मट इन्हें अलङ्कार नहीं मानते अपि तु गुणीभूतव्यङ्ग्य ही मानते हैं; क्योंकि जिस प्रकार गुण रस के साक्षात् उपकारक हैं इसी प्रकार ये भी रस के साक्षात् उपकारक है, किसी अङ्ग का उपकार करके ये अङ्गी (रस) का उपकार नहीं करते। अलङ्कार तो शब्द या अर्थ रूप अङ्गों की शोभा बढ़ाकर अङ्गी रस का उपकार करते हैं।

टिप्पणी—(i) प्राचीनों की उक्ति है—'गुणीभूतो रसो रसवत्, भावस्तु प्रेयः, रसाभासभावाभासौ ऊर्जस्वि, भावशान्तिः समाहितः ।

(ii) अलङ्कारसर्वस्वकार ने भावोदय आदि को भी अलङ्कार रूप में प्रतिपादित किया है—

'रसाभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्, प्रेय-ऊर्जस्विसमाहितानि, भावोदयो भावसन्धिर्भावशबलता च पृथगलङ्काराः' ।

(iii) आचार्य मम्मट ने काव्य में 'अलङ्कार' तथा 'अलङ्कार्य' का भली भाँति विवेचन किया था। उनके विचारानुसार जहाँ रस-भाव आदि प्रधानतया व्यङ्ग्य हैं वह उत्तम ध्वनिकाव्य है, जहाँ ये अप्रधान रूप से व्यङ्ग्य हैं वहाँ ये अपराङ्ग-गुणीभूतव्यङ्ग्य मध्यम काव्य के अन्तर्गत आते हैं। इसी हेतु उन्होंने 'रसवत्' आदि की अलङ्कारों में गणना नहीं की, किन्तु प्राचीनों के मत का समन्वय करने के लिए यह बतला दिया—'एते च रसवदाद्यलङ्काराः' । वस्तुतः जो रसादि अलङ्कार्य हैं उन्हें अलङ्कार कोटि मे कैसे रक्खा जा सकता है ?

अनुवाद—यद्यपि ऐसा कोई विषय (काव्यस्थल) नहीं है जहाँ ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यङ्ग्य का किसी न किसी अपने अवान्तर भेद के साथ अङ्गाङ्गिभाव रूप (नीरक्षीरवत्) सङ्कर अथवा दोनों की प्रधानता रूप (तिलतण्डुलवत्) संसृष्टि न हो; तथापि 'मुख्यता के कारण व्यवहार (व्यपदेश) होते हैं' इस (न्याय) के अनुसार कहीं पर (जहाँ जो विशेष चमत्कारक है) किसी के द्वारा (उसी से) व्यवहार होता है अर्थात् उसी नाम से पुकारा जाता है।

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना

प्रभा—अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का जो 'अयं सः रसनोत्कर्षी' आदि उदाहरण दिया गया है। उसमें करुण रस की प्रधानता के कारण ध्वनिकाव्य हो सकता है तथा शृङ्गार रस की दृष्टि से गुणीभूतव्यङ्ग्य भी हो सकता है। इसी प्रकार जहाँ रस ध्वनिकाव्य माना जाता है वहाँ पर भी भावध्वनि अवश्य होती है। इस प्रकार काव्य-स्थलों में सर्वत्र ही किसी ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य का परस्पर अथवा इनके भेद-प्रभेदों का एक दूसरे के साथ कहीं सङ्कर होता है, कहीं संसृष्टि होती है। जैसे—रसध्वनि में भावध्वनि उत्कर्षाधायक (उपकारक) है अतः दोनों का सङ्कर है। अतः ऐसे स्थानों पर ध्वनिकाव्य माना जाय अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जाय, यह सन्देह होना स्वाभाविक ही है। आचार्य मम्मट ने 'यद्यपि' आदि वाक्य द्वारा इस की सम्भावना को स्वीकार करते हुए 'तथापि' आदि वाक्य में इसका समाधान किया है। भाव यह है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' अर्थात् किसी वस्तु में नामकरण आदि व्यवहार मुख्यता के कारण ही होता है अतः जहाँ पर रसादि प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होते हैं अर्थात् अतिशयेन चमत्कारक होते हैं वहाँ पर ध्वनि काव्य का व्यवहार होता है, किन्तु जहाँ पर रसादि अङ्ग रूप में (अप्रधानतया) रहकर भी विशेष चमत्कारक होते हैं वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। अयं सः रसनोत्कर्षी' आदि में 'करुण' रस अङ्गी अवश्य है किन्तु वहाँ अङ्गरूप होकर भी शृङ्गार ही विशेष चमत्कारक है अतः इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ही कहना उचित है, ध्वनि नहीं।

टिप्पणी—(i) अङ्गाङ्गिभावो सङ्करः' 'द्वयोः प्राधान्ये संसृष्टिः' इति विवेकः।

(ii) आचार्य मम्मट की उपर्युक्त मान्यता का आधार ध्वनिकार की यह उक्ति है—

सङ्कीर्णो हि कश्चित् ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्। ध्वन्यालोक ३-३६)

अनुवाद:—'स्वर्ण (धन-सम्पत्ति) की मृगतृष्णा (राम पक्ष में-स्वर्णमृग प्राप्ति की इच्छा) से युक्त (विवेकरहित) बुद्धि वाले मैंने (कवि ने) मानव के स्थान ग्राम-नगरादि (दण्डकारण्य) में भ्रमण किया। 'निश्चय ही (मैं) दुःख देने को' (राम पक्ष में-हे वैदेहि) पग पग पर आँसू बहाते हुए यह वचन व्यर्थ में बोले (प्रलपितम्), स्वामी के(भर्तुः) सेवा कार्य में (परिपाटीषु) कौन सा काम [घटना]

मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥१२४॥

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाक्याङ्गतां नीतः।

आगत्य सम्प्रति वियोगविसष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि, पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥१२५॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः।

पर्याप्त रूप से नहीं किया ? [रावण की (लङ्काभर्तुः) मुख पंक्ति पर (वदन परिपाट्यां) शरयोजना (इषु संघटना) पर्याप्त रूप में की]। इस प्रकार मैंने रामत्व को प्राप्त कर लिया; किन्तु सुखकर धन-सम्पति [कुशलं वसु धनं यस्य, तद्भावः] नहीं प्राप्त की अथवा कुश-लव हैं पुत्र जिसके [कुशलवौ पुत्रौ यस्याः सा] ऐसी सीता को प्राप्त न किया' ॥ १२४ ॥

यहां पर 'राम के साथ (वक्ता के) उपमानोपमेयभाव रूप' शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य को वाच्य अर्थ का अङ्ग बना दिया गया है (नीतः)।

प्रभा—'जनस्थाने' इत्यादि ऐसे अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है जिसमे शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (उपमा) वाच्यार्थ का अङ्ग बन गया है। यह राज सेवा से विरक्त किसी कवि की उक्ति है। यहां पर शब्द-शक्ति की महिमा से (उपर्युक्त तीन पदो द्वारा) कवि (प्रकृत) तथा राम (अप्रकृत) की उपमा का व्यञ्जना द्वारा वोध हो रहा है अर्थात् 'उपमा' शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है। किन्तु यह 'ध्वनि' नही प्रत्युत 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' है; क्योंकि 'मैंने रामत्व प्राप्त कर लिया' (मयाप्तं रामत्वम्) इस वाच्यार्थ के उपकारक (उत्कर्षाधायक) के रूप मे इसका प्रयोग किया गया है। 'जनस्थान' आदि शब्द परिवृत्त्यसह हैं; अतएव यहाँ इसे शब्दशक्तिमूलक लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा गया है।

अनुवाद:—'अरी कृशाङ्गि, जिसने कहीं अन्यत्र रात्रि व्यतीत की है ऐसा यह (सहस्र किरणों वाला) सूर्य अब प्रभात-वेला में धीरे से (लज्जित सा) यहाँ आकर विरह से संकुचित (विसंष्ठुल) गात्र वाली इस कमलिनी को पाद-पतन अर्थात् किरणों के सम्पर्क द्वारा (अथवा चरणों में गिरकर प्रणाम द्वारा) प्रसन्न कर रहा है' ॥ १२५ ॥

यहां पर नायक-नायिका का व्यवहार अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तुरूप है जो स्वतन्त्र रूप से वर्णित (निरपेक्ष) सूर्य तथा कमलिनी के व्यवहाररूप (वाच्यार्थ) में अध्यारोपित होकर ही स्थित है।

(३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२६॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्।

प्रभा—'आगत्य' इत्यादि ऐसे अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है, जिसमें अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु वाच्यार्थ का अङ्ग बन गई है। यह किसी मुग्धा नायिका के प्रति सखी की उक्ति है। यहाँ पर अर्थशक्ति (सहस्ररश्मि-बहुनायिकात्व, पादपतन-चरणपतन आदि) की महिमा से अभिव्यक्त होने वाला नायक-नायिका का व्यवहार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु है; उसका नायक-वृत्तान्त से निरपेक्ष रविकमलिनी के वृत्तान्त में आरोप किया गया है अतएव यह वाच्यार्थ (रवि-कमलिनी वृत्तान्त) का अङ्ग होकर (उत्कर्षाधायक रूप से) आया है और यहाँ अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य है; 'ध्वनि' नहीं।

निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः—यहाँ अपराङ्गगुणीभूत-व्यङ्ग्य (वाच्याङ्ग) और आगे कहे जाने वाले वाच्यसिद्ध्यङ्ग का भेद दिखलाने के लिये ही निरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है। भाव यह है कि जहाँ वाच्यार्थ निरपेक्ष होता है, व्यङ्ग्य अर्थ के बिना भी स्वतः निष्पन्न होता है, फिर भी व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य का अङ्ग बन कर उसे अधिक चमत्कार बना देता है; वहाँ अपराङ्ग-गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। जैसे 'आगत्य' इत्यादि उदाहरण (१२५) में रवि-कमलिनी का वृत्तान्त नायक-नायिका के वृत्तान्त रूप व्यङ्ग्यार्थ के बिना भी निष्पन्न है, उसे अपनी सिद्धि के लिये व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा नहीं फिर भी यह व्यङ्ग्य उसका उत्कर्ष बढ़ाता है।

इसके विपरीत जहाँ वाच्यार्थ सापेक्ष है, वह स्वतः निष्पन्न नहीं होता और अपनी सिद्धि के लिये व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा रखता है, वहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है, जैसा कि 'भ्रमि' इत्यादि उदाहरण (१२६) से स्पष्ट होगा।

अनुवाद—(३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग (का उदाहरण है); जैसे—

'मेघ रूपी सर्प से उत्पन्न विष (जल या हालाहल) सहसा प्रसह्य = बलात्कारेण) वियोगिनी नायिकाओं को चक्कर (भ्रमि), विषयों में अरुचि (अरति), उदासीनता (अलसहृदयता), बाह्य इन्द्रियों में निश्चेष्टता (प्रलय), मूर्च्छा, तमो गुण के उद्रेक से अन्धता (तमः), शरीरकृशता (शरीरसाद), मरणासन्न दशा (जीवन्मृतोऽयमयवरम्यां मरणं परिकीर्तितम्) कर देता है' ॥ १२६ ॥

यहाँ पर (विष शब्द का) व्यङ्ग्यार्थ गरल (हालाहल) भुजगरूप वाच्यार्थ की सिद्धि करता है।

यथा वा— (४)

गच्छाम्यच्युत, दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा ।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥१२७॥

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य । एतच्चैकत्रैकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः ।

प्रभा—'भ्रमि' इत्यादि (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। वाच्यसिद्ध्यङ्ग दो प्रकार का होता है—१. एकवक्तृगतपदवाच्यसिद्ध्यङ्ग, २. भिन्नवक्तृगतपदवाच्यसिद्ध्यङ्ग । 'भ्रमि' आदि प्रथम का उदाहरण है । इस पद्य में उद्दीपन रूप में वर्षा का वर्णन किया गया है । यहाँ पर विष शब्द का गरल-अर्थ व्यङ्ग्य है । विष शब्द अनेकार्थक है उसके जल, जहर (गरल) आदि अनेक वाच्यार्थ होते हैं तथापि प्रकरणादि के द्वारा यहाँ जल-अर्थ में ही उसकी अभिधा नियन्त्रित हो गई है अतः यहाँ पर गरल-अर्थ उसके द्वारा व्यङ्ग्य ही है । 'विष' शब्द से गरल की (व्यञ्जना द्वारा) प्रतीति हो जाने पर जल में उसका अभेद ग्रहण होता है तथा 'विष' से अभिन्न जल है' इस ज्ञान से वह 'भुजगाभिन्न जलद' से ही उत्पन्न हो सकता है—इस प्रकार 'जलद एव भुजगः' इस वाच्यार्थभूत रूपक की सिद्धि होती है; तभी भ्रमि आदि कार्यों की उपपन्नता हो सकती है । यदि यहाँ विष का व्यङ्ग्यार्थ 'हालाहल' न हो तो 'भुजगसदृश जलद से उत्पन्न जल' यह अर्थ होगा, फिर उस (जल) के कार्य 'भ्रमि' आदि कैसे हो सकते हैं ।

अनुवाद—'अथवा जैसे—'हे अच्युत (कृष्ण), मैं जाती हूँ, आपके दर्शन मात्र से क्या तृप्ति होती है ? प्रत्युत इस प्रकार हम दोनों के एकान्त में स्थित होने पर दुर्जन अथवा मरे लोग (मारिते कुत्सिते हतम्) कुछ और ही समझते हैं'। इस (हे अच्युत) सम्बोधन की भङ्गिमा (स्वरविशेष में कहना) के द्वारा सूचित जो व्यर्थ ठहरना है उसकी खिन्नता से अलसाई हुई (उदासीन) गोपी का आलिङ्गन करते हुए रोमाञ्च समूह (पुलकोत्कर) से व्याप्त शरीर वाले श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ॥ १२७ ॥

यहाँ पर 'अच्युत' इत्यादि पदों का व्यङ्ग्यार्थ 'आमन्त्रण' आदि के वाच्यार्थ की सिद्धि का अङ्ग है ।

और यह एक स्थल ('भ्रमि' आदि) में (कवि रूप) एकवक्तृगत रूप से तथा दूसरे स्थान ('गच्छामि' आदि) पर (पूर्वार्द्ध में गोपी, उत्तरार्द्ध में कवि) भिन्नवक्तृगत रूप से है—यही इन दोनों का भेद है ।

(४) अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥१२८॥

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम्।

(५) सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१२९॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः।

प्रभा—'गच्छामि' इत्यादि भिन्नवक्तृगत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर 'अच्युत' का व्यङ्ग्यार्थ है—मेरी जैसी नायिका के सान्निध्य में भी तुम धैर्य-च्युत नहीं होते तो यहाँ ठहरना व्यर्थ है। 'दर्शनेन' का व्यङ्ग्यार्थ है—सम्भोग से ही तृप्ति होगी। 'किन्तु' इत्यादि का व्यङ्ग्य है—मर्यादा तो हो ही गई फिर आत्मवञ्चना वृथा है—यह खेद। इस 'अच्युतादि' पदों के व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के बिना 'इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्' के वाच्यार्थ की सिद्धि ही नहीं होती; क्योंकि 'वृथावस्थान' तथा 'खेद' तो व्यङ्ग्यार्थ ही हैं अतएव यहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

अनुवाद—(४) अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य (का उदाहरण)—जैसे—

'हे प्रियतम, आपको बिना देखे, दर्शन की लालसा बनी रहती है' देख लेने पर वियोग (विच्छेद) का भय हो जाता है इस प्रकार न आपके बिना देखे सुख मिलता है न देखे ही' ॥ १२८ ॥

यहाँ पर 'जिससे तुम अदृष्ट न हो और जिससे वियोग का भय उत्पन्न न हो' वैसा (ऐसा) करो' यह व्यङ्ग्य अस्फुट (क्लिष्ट) है।

प्रभा—'अदृष्टे' इत्यादि में व्यङ्ग्यार्थ अस्फुट या अस्पष्ट है, उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ की सहृदयों को भी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती अतः यह अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

अनुवाद—(५) सन्दिग्ध प्राधान्य (गुणीभूतव्यङ्ग्य) का उदाहरण—जैसे—

'चन्द्रोदय के प्रारम्भकाल में समुद्र के समान कुछ कुछ विचलित (परिवृत्त) हो गया है धैर्य जिनका ऐसे महादेव जी बिम्बा-फल के सदृश अधरोष्ठ वाली पार्वती के मुख पर नेत्रों को घुमाने लगे' ॥ १२९ ॥

यहाँ पर 'चुम्बन करना चाहा' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है? अथवा 'नेत्र घुमाना' रूप वाच्यार्थ प्रधान है? यह सन्देह है।

(६) तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥१३०॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

(७) काक्वाक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥१३१॥

प्रभा—'हरस्तु' इत्यादि (५) सन्दिग्ध-प्राधान्य नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। कुमारसम्भव के इस पद्य में वसन्तागमन के समय शिवजी की दशा का वर्णन है। यहाँ पर 'अधर चूमना चाहा' यह व्यङ्ग्य है और 'एक साथ लोचनत्रय को घुमाया' यह वाच्यार्थ है। इन दोनों में कौन प्रधान अर्थात् अधिक चमत्कारजनक है, यह सन्देह है।

अनुवाद – (६) तुल्यप्राधान्य (गुणीभूतव्यङ्ग्य), जैसे—

'(हे राक्षसराज!, ब्राह्मणों के अतिक्रम अर्थात् अपमान करने का त्याग आपके (राक्षसों के) ही कल्याण के लिये है, नहीं तो आपका ऐसा (जन्म से समस्त रहस्य जानने वाला) मित्र परशुराम (जमदग्नि की सन्तान) क्षुब्ध हो जायेगा' ॥१३०॥

यहाँ पर 'परशुराम समस्त क्षत्रियों के समान राक्षसों का भी क्षण भर में नाश कर देगा' इस व्यङ्ग्य अर्थ की तथा वाच्यार्थ की समान रूप से प्रधानता है।

प्रभा—'ब्राह्मण' इत्यादि तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। महावीरचरित नाटक में (रावण के लिये) माल्यवन्त (मन्त्री) को परशुराम द्वारा भेजे गये पत्र में यह पद्य है। यहाँ पर—'परशुराम क्षत्रियों के समान राक्षसों को भी विनाश कर देगा' यह 'दण्डप्रतीति' व्यङ्ग्य है तथा 'कल्याण का उपदेश और मित्रताकथन रूप' सामोपाय-वर्णन वाच्यार्थ है। ये दोनों ही समान रूप से चमत्कारक हैं अतः तुल्यप्राधान्य नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

अनुवाद—(७) काक्वाक्षिप्त (गुणीभूतव्यङ्ग्य), जैसे—

'मैं संग्राम में क्रोध से कौरवशत का संहार न करूँगा न ? दुःशासन के हृदय से रक्त न पीऊँगा न ! अपनी गदा से दुर्योधन की जङ्घाओं को चूर्ण न करूँगा न ! आपका राजा (मेरा या प्रजा का नहीं) युधिष्ठिर (ग्रामपञ्चग्रहण रूप) शर्त (पण) से सन्धि कर ले' ॥ १३१ ॥

(६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।
सालङ्कारैरिति । तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः, तदुक्तं ध्वनिकृता—
'स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥' इति ॥

तथा 'कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध' वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कारों के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत रूप से तीन २ भेद] कम हो जाते हैं तथा अष्टविध गुणीभूतव्यङ्ग्य के ५१–६=४२ भेद होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के ४२×८=३३६ शुद्ध भेद होते हैं। संसृष्टि तथा सङ्करादि ४ भेदों के कारण ३३६×३३६×४=४५१५८४ और इसमें ३३६ शुद्ध भेद जोड़ने पर ४५१९२० भेद होते हैं।

अनुवाद—(रसवत् आदि) अलङ्कार रूप तथा (उपमादि) वाच्यालङ्कारों से युक्त (सालङ्कारैः) उन (गुणीभूतव्यङ्ग्यों) के साथ (तैः) ध्वनि का (एक प्रकार की) संसृष्टि तथा (तीन प्रकार के) सङ्कर द्वारा मिश्रण (योगः) भी होता है। (६८) (कारिका में) 'सालङ्कारैः' अर्थात् उन अलङ्कार रूप में अवस्थित गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ [अलङ्कृतिरलङ्कारः अलङ्कारेण शोभया सहिताः सालङ्काराः तैः] एवं उपमा आदि अलङ्कारों से युक्त वस्तुरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ [अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः उपमादिः तेन सहिताः सालङ्काराः]। जैसा कि ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) ने कहा है—'वह ध्वनि वाच्यालङ्कार सहित गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ, अपने (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादि) भेदों के साथ सङ्कर तथा संसृष्टि से फिर अनेक प्रकार से प्रकाशित होती है। (ध्वन्यालोक ३·४४)

प्रभा—(१) चतुर्थ उल्लास में (६३ सूत्र में) 'सङ्करेण त्रिरूपेण' इत्यादि द्वारा एक ध्वनि का अन्य ध्वनि के साथ (सजातीय) जो मिश्रण होता है उसका विवेचन किया गया है। यहाँ ध्वनि के गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ होने वाले (विजातीय) मिश्रण का निरूपण किया जा रहा है। (२) 'सालङ्कारैः' इत्यादि—यहाँ दो भिन्नार्थक सालङ्कार शब्दों का एक शेष हुआ है (सालङ्कारश्च सालङ्काराश्चेति सालङ्काराः तैः) एक 'सालङ्कार' (शब्द) में अलङ्कार शब्द का भावरूप (भावार्थक पद) अर्थात् अलङ्कृति अर्थ में प्रयोग किया गया है और अलङ्कृति (=शोभा) सहित अर्थात् स्वयमेव रसवद् अलङ्कार रूप में स्थित जो गुणीभूतव्यङ्ग्य है, यह अर्थ होता है। दूसरे सालङ्कार शब्द में 'अलङ्कार' का अर्थ है 'उपमादि' तथा उपमादि वाच्यालङ्कारों सहित अर्थात् वे गुणीभूतव्यङ्ग्य जिनमें उपमा आदि अलङ्कार वाच्य हैं; यह अर्थ होता है। इस प्रकार आचार्य मम्मट का अभिप्राय यह है कि ध्वनि का (१) रसवद् आदि अलङ्काररूप में स्थित तथा (२) उपमा आदि वाच्यालङ्कारों सहित अलङ्कृत गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ दो प्रकार से मिश्रण होता है एक तो [illegible] दूसरे तीन प्रकार के सङ्कर के रूप में। अभी इस

(६६) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥४७॥

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना; तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम्।

[व्यञ्जनावृत्तिप्रतिष्ठापनम्]

(१. ध्वनिस्तु व्यञ्जनाप्रतिपाद्य एव)

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्, तथा हि—किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा, तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं

मान्यता की पुष्टि में आचार्य मम्मट ने 'स गणीभूतव्यङ्ग्यः' इत्यादि ध्वनिकार की कारिका को उद्धृत किया है।

अनुवाद—इस प्रकार परस्पर (ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य) के मिश्रण से इन भेदों की बहुत अधिक संख्या हो जाती है। (६६)

उक्त प्रकार से (एवं अवान्तरभेदों की गणना करने पर (शुद्ध, सजातीय तथा विजातीय संमिश्रण के द्वारा) बहुत अधिक (अपरिमित) संख्या हो जाती है। जैसे कि—शृङ्गार के ही भेद तथा अवान्तर भेदों की गणना करने पर अनन्त संख्या हो जाती है फिर सब रसादिकों (के भेद-प्रभेदों) की तो क्या गिनती ?

टिप्पणी—(i) आचार्य आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि तथा गुणीभूतयव्यङ्ग्य का विवेचन करके पारस्परिक मिश्रण से ध्वनि की 'अतिभूयसी भेदसंख्या' को स्वीकार किया है—'तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारैश्च सङ्कर-संसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। (ध्वन्यालोक ३·१४)।

(ii) ध्वनिकार द्वारा संकेतित ध्वनि की बहु-प्रभेदता का लोचनकार ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया था। उन्होने भेद-गणना की ओर भी ध्यान दिया था। इसी प्रकार काव्य-प्रकाश की 'अतिभूयसी सख्या' की व्याख्याकारों ने गणना भी की है किन्तु परार्ध से अधिक संख्या हो जाने पर उन्हें भी अनन्तता की ही शरण में जाना पड़ा है। [परार्धाधिकतां याति गणनेति न दर्शिता-सुधासागरकार]।

व्यञ्जना-वृत्ति की स्थापना

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों प्रकार के काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ होता है। उस अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है। अत एव ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का निरूपण करके व्यञ्जना वृत्ति के विषय में होने वाली विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं।

अनुवाद—संक्षेप में (संकलनं संग्रहः संक्षेपो वा) तो इस (गुणीभूतव्यङ्ग्य) के तथा ध्वनिकाव्य के ['च' के बिना भी समुच्चयार्थ-कल्पना] तीन भेद हैं; क्योंकि व्यङ्ग्य (अर्थ) तीन प्रकार (वस्तु, अलङ्कार तथा रस) का होता है। जैसे कि कोई व्यङ्ग्य (वस्तु या अलङ्कार रूप होकर) शब्दाभिधेय (वाच्यसह) भी होता है अर्थात् वाच्य भी हो सकता है, और कोई व्यङ्ग्य तो वाच्यसह (अन्यथा) नहीं होता अर्थात्

(६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ॥ (७८)

सालङ्कारैरिति। तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः, तदुक्तं ध्वनिकृता—

'स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा॥' इति॥

तथा कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कारों के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत रूप से तीन २ भेद] कम हो जाते हैं तथा अष्टविध गुणीभूतव्यङ्ग्य के ५१–९=४२ भेद होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के ४२×८=३३६ शुद्ध भेद होते है। संसृष्टि तथा सङ्करादि ४ भेदों के कारण ३३६×३३६×४=४५१५८४ और इसमे ३३६ शुद्ध भेद जोड़ने पर ४५१९२० भेद होते हैं।

अनुवाद—(रसवत् आदि) अलङ्कार रूप तथा (उपमादि) वाच्यालङ्कारों से युक्त (सालङ्कारैः) उन (गुणीभूतव्यङ्ग्यों) के साथ (तैः) ध्वनि का (एक प्रकार की) संसृष्टि तथा (तीन प्रकार के) सङ्कर द्वारा मिश्रण (योगः) भी होता है। (६८) (कारिका में) 'सालङ्कारैः अर्थात् उन अलङ्कार रूप में अवस्थित गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ [अलङ्कृतिरलङ्कारः अलङ्कारेण शोभया सहिताः सालङ्काराः तैः] एवं उपमा आदि अलङ्कारों से युक्त वस्तुरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ [अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः उपमादिः तेन सहिताः सालङ्काराः]। जैसा कि ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) ने कहा है—'वह ध्वनि वाच्यालङ्कार सहित गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ, अपने (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादि) भेदों के साथ सङ्कर तथा संसृष्टि से फिर अनेक प्रकार से प्रकाशित होती है। (ध्वन्यालोक ३·४४)

प्रभा—(१) चतुर्थ उल्लास मे (६३ सूत्र में) 'सङ्करेण त्रिरूपेण' इत्यादि द्वारा एक ध्वनि का अन्य ध्वनि के साथ (सजातीय) जो मिश्रण होता है उसका विवेचन किया गया है। यहाँ ध्वनि के गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ होने वाले (विजातीय) मिश्रण का निरूपण किया जा रहा है। (२) 'सालङ्कारैः' इत्यादि—यहाँ दो भिन्नार्थक सालङ्कार शब्दों का एक शेष हुआ है (सालङ्काराश्च सालङ्काराश्चेति सालङ्काराः तैः) एक 'सालङ्कार' (शब्द) में अलङ्कार शब्द का भावरूप (भावार्थक घञ्) अर्थात् अलङ्कृति अर्थ में प्रयोग किया गया है और अलङ्कृति (=शोभा) सहित अर्थात् स्वयमेव रसवद् अलङ्कार रूप मे स्थित जो गुणीभूतव्यङ्ग्य हैं, यह अर्थ होता है। दूसरे सालङ्कार शब्द मे 'अलङ्कार' का अर्थ है 'उपमादि' तथा उपमादि वाच्यालङ्कारों सहित अर्थात् वे गुणीभूतव्यङ्ग्य जिनमें उपमा आदि अलङ्कार वाच्य हैं; यह अर्थ होता है। इस प्रकार आचार्य मम्मट का अभिप्राय यह है कि ध्वनि का (१) रसवद् आदि अलङ्काररूप मे स्थित तथा (२) उपमा आदि वाच्यालङ्कारों सहित वस्तुरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ दो प्रकार से मिश्रण होता है एक तो संसृष्टि रूप में और दूसरे तीन प्रकार के सङ्कर के रूप में। अपनी इस

(६६) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥४७॥

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम्।

[व्यञ्जनावृत्तिप्रतिष्ठापनम्]

(१. ध्वनिस्तु व्यञ्जनाप्रतिपाद्य एव)

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्, तथा हि—किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा, तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं

मान्यता की पुष्टि में आचार्य मम्मट ने 'स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः' इत्यादि ध्वनिकार की कारिका को उद्धृत किया है।

अनुवाद—इस प्रकार परस्पर (ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य) के मिश्रण से इन भेदों की बहुत अधिक संख्या हो जाती है। (६६)

उक्त प्रकार से (एवं अवान्तरभेदों की गणना करने पर (शुद्ध, सजातीय तथा विजातीय संमिश्रण के द्वारा) बहुत अधिक (अपरिमित) संख्या हो जाती है। जैसे कि—शृङ्गार के ही भेद तथा अवान्तर भेदों की गणना करने पर अनन्त संख्या हो जाती है फिर सब रसादिकों (के भेद-प्रभेदों) को तो क्या गिनती?

टिप्पणी—(i) आचार्य आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन करके पारस्परिक मिश्रण से ध्वनि की 'अतिभूयसी भेदसंख्या' को स्वीकार किया है—'तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारैश्च सङ्कर-संसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। (ध्वन्यालोक ३·१४)।

(ii) ध्वनिकार द्वारा संकेतित ध्वनि की बहु-प्रभेदता का लोचनकार ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया था। उन्होंने भेद-गणना की ओर भी ध्यान दिया था। इसी प्रकार काव्य-प्रकाश की 'अतिभूयसी संख्या' की व्याख्याकारों ने गणना भी की है किन्तु परार्ध से अधिक संख्या हो जाने पर उन्हें भी अनन्तता की ही शरण में जाना पड़ा है। [परार्धाधिकतां याति गणनेति न दर्शिता-सुधासागरकार]।

व्यञ्जना-वृत्ति की स्थापना

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों प्रकार के काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ होता है। उस अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है। अत एव ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का निरूपण करके व्यञ्जना वृत्ति के विषय में होने वाली विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं।

अनुवाद—संक्षेप में (संकलनं संग्रहः संक्षेपो वा) तो इस (गुणीभूतव्यङ्ग्य) के तथा ध्वनिकाव्य के ['च' के बिना भी समुच्चयार्थ-कल्पना] तीन भेद हैं; क्योंकि व्यङ्ग्य (अर्थ) तीन प्रकार (वस्तु, अलङ्कार तथा रस) का होता है। जैसे कि कोई व्यङ्ग्य (वस्तु या अलङ्कार रूप होकर) शब्दाभिधेय (वाच्यसह) भी होता है **अर्थात्** वाच्य भी हो सकता है, और कोई व्यङ्ग्य तो वाच्यसह (अन्यथा) **नहीं होता अर्थात्**

चेति । अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलङ्काररूपम् । यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते । रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः । स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत । न चाभिधीयते । तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः ।

कभी भी वाच्य नहीं होता । इन दोनों में से जो 'वाच्यतासह' (प्रथम) है वह १. अविचित्र तथा २. विचित्र (दो प्रकार का) है । अविचित्र (अलङ्काररहित) वस्तुमात्र है, विचित्र तो अलङ्काररूप है । यद्यपि मुख्य होने से वह (विचित्र व्यङ्ग्य) अलङ्कार्य (जिसको अलङ्कृत किया जाता है वह मुख्य वस्तु) है तथापि ब्राह्मण-श्रमण न्याय से उसे वैसा अर्थात् अलङ्कार कहा जाता है। रसादि रूप अथवा रसादि नामक (लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं स्वरूपं नाम आदि) अर्थ तो स्वप्न में भी (कभी भी) वाच्य नहीं हो सकता; क्योंकि (सामान्य रूप में) रस आदि शब्द के द्वारा अथवा (विशेष रूप में) शृङ्गार आदि शब्द के द्वारा ही उसका वाच्य रूप में प्रतिपादन किया जा सकता है किन्तु (उनके द्वारा) वाच्यरूप में कहा तो नहीं जाता; क्योंकि 'रस' या 'शृङ्गार' आदि पदों का प्रयोग करने पर भी, यदि विभावादि का प्रयोग न हो, तो उस (रस आदि अर्थ) की चमत्कारानुभूति (प्रतिपत्ति) नहीं होती तथा उन 'रस' शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग न होने पर भी, विभावादि का वर्णन होने पर उस (रस) की अनुभूति होती है । अतएव अन्वय-व्यतिरेक से विभाव आदि के अभिधान द्वारा ही व्यञ्जना से रस की प्रतीति होती है (प्रतीयते व्यज्यते), ऐसा निश्चय किया जाता है (अभिधावृत्ति द्वारा नहीं) । इसलिये वह (रसादिरूप अर्थ) व्यञ्जना का ही विषय (व्यङ्ग्य) है । वह लक्षणा का विषय (लक्ष्य) भी नहीं; क्योंकि मुख्यार्थबाध (मुख्यार्थ योग, रूढि या प्रयोजन) आदि का यहाँ अभाव है ।

प्रभा—संकलनेन-त्रयो भेदाः- ग्रन्थकार ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का विस्तार से निरूपण करके व्यञ्जना की सिद्धि के लिये उन भेदों का पुनः संक्षेप में प्रकारान्तर से उल्लेख करते हैं । संकलन का अर्थ है-संक्षेप । यद्यपि ध्वनि व्यापार अनन्त हैं तथापि अनुगत उपाधि के द्वारा उन्हें तीन भेदों में रक्खा जा सकता है, क्योंकि वस्तु, अलङ्कार और रसभावादि तीन प्रकार के ही व्यङ्ग्य अर्थ होते हैं । कैसे ? प्रथमतः ध्वनि दो प्रकार की होती है—वाच्यतासह और वाच्यता-असह । वाच्यतासह वह अर्थ है जिसका अभिधावृत्ति से भी बोध हो सकता है । वह दो प्रकार का होता है—१. अविचित्र २. विचित्र । जो अलङ्कार रहित वस्तुमात्र

व्यङ्ग्य है वही अविचित्र है। जो अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ है वह विचित्र कहा जाता है। ये वस्तु तथा अलङ्कार कहीं व्यङ्ग्य होते हैं, कहीं वाच्य भी। किन्तु तीसरी जो रसादि ध्वनि है, वह तो सदा व्यङ्ग्य ही होती है। कभी भी वाच्य नहीं।

यद्यपि प्राधान्येन—काव्य में जो आस्वाद्य तत्त्व है, जिसके द्वारा सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है वही काव्य का मुख्य-तत्त्व कहा जा सकता है अन्य अलङ्कारादि उसके शोभावर्द्धक हैं। जो उसे सुशोभित करते हैं वे अलङ्कार कहलाते हैं (अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कार.)। सामान्यतः उपमा आदि को अलङ्कार कहते हैं। ये जिस (काव्य के मुख्य तत्त्व) को अलङ्कृत करते हैं, वही अलङ्कार्य है। वह प्रधान होता है तथा अलङ्कार अप्रधान या गौण होते हैं।

इस दृष्टि से जब व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले उपमादि अलङ्कारों के विषय में विचार करते हैं तो वे ही चमत्कारकारक है अतः वे प्रधान हैं काव्य के मुख्यतत्त्व के रूप में हैं इस प्रधानता के कारण वस्तुतः वे अलङ्कार्य हैं तथा उन्हें अलङ्कार कहना सङ्गत नहीं प्रतीत होता। फिर भी लोकव्यवहार सिद्ध ब्राह्मण-श्रमण न्याय से उन्हें अलङ्कार कह दिया जाता है। जैसे—कोई ब्राह्मण यदि श्रमण (बौद्ध सन्यासी) हो जाता है तो उस दशा में ब्राह्मण नहीं रहता; किन्तु पूर्व दृष्टि से उसे ब्राह्मण (ब्राह्मणश्रमण) कह दिया जाता है। इसी प्रकार जहाँ उपमादि व्यङ्ग्य नहीं होते, वाच्यमात्र होते हैं वहाँ वे वस्तुतः अलङ्कार हैं, व्यङ्ग्यावस्था में यद्यपि वे अलङ्कार्य हो गये हैं तथापि पूर्व दृष्टि से उन्हें अलङ्कार कह दिया जाता है।

रसादिलक्षणस्त्वर्थ :—रस-भाव आदि रूप जो व्यङ्ग्यार्थ है वह कभी भी वाच्य नहीं हो सकता; अर्थात् अभिधावृत्ति द्वारा प्रकट नहीं हो सकता, इसी से वह 'वाच्यता-असह अर्थ है। यदि यह मान भी लिया जाये कि अभिधावृत्ति द्वारा रस-भाव आदि प्रकट हो सकते हैं तो रस, भाव या शृङ्गार आदि शब्दों से अभिधावृत्ति द्वारा इनकी प्रतीति होनी चाहिये; किन्तु होती नहीं। काव्यमर्मज्ञों का अनुभव बतलाता है कि जहाँ 'रस' शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है किन्तु विभाव-अनुभाव तथा सञ्चारी भाव जो रस के व्यञ्जक हैं; उनकी वर्णना नहीं होती, वहाँ रसानुभूति (रस-व्यञ्जना) नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ विभावादि की वर्णना होती है और 'रस', 'शृङ्गार' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता, वहाँ सहज ही रस-व्यञ्जना हो जाती है। विभावादि का प्रयोग होने पर रस-व्यञ्जना होती है, इस अन्वय (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्) तथा विभावादि का प्रयोग न होने पर रस-व्यञ्जना भी नहीं होती-इस व्यतिरेक (तदभावे तदभावः) से यह निर्णय हो जाता है कि विभावादि-वर्णना ही रस-व्यञ्जना का साधन है तथा व्यजनावृत्ति से ही रस अभिव्यक्त होता है; अभिधावृत्ति द्वारा वह प्रकट नहीं हो सकता। अतः रसादि-प्रतीति के लिये व्यञ्जनावृत्ति अवश्य माननी पड़ेगी।

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् ।

शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ।

रसादि की लक्षणा द्वारा भी प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि लक्षणा के तीन हेतु हैं—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ-योग तथा रूढि अथवा प्रयोजन । यहाँ विभावादि में मुख्यार्थ का बाध नहीं, किसी वृत्ति के बिना विभावादि का रसादि के साथ ज्ञाप्यज्ञापक भाव सम्बन्ध भी नहीं हो सकता तथा रूढि और प्रयोजन का भी सर्वथा अभाव है; क्योंकि रसास्वाद ही पर्यन्त प्रयोजन है उसकी प्रतीति में अन्य प्रयोजन की तो चर्चा भी असम्भव है ।

लक्षणामूलक ध्वनि में व्यञ्जना को अनिवार्यता

अनुवाद—*अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य (लक्षणामूलक ध्वनि) में वस्तुमात्र व्यङ्ग्य के बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती—यह ऊपर (द्वितीय उल्लास में 'एवमप्यनवस्था स्यात्' सूत्र २७) प्रतिपादित किया जा चुका है ।*

अभिधामूलक ध्वनि में व्यञ्जना को अनिवार्यता

(अभिधामूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि के शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक तीन भेदों में से) शब्दशक्तिमूलक में तो अभिधा के (प्रकरणादि द्वारा) नियन्त्रित हो जाने के कारण जो अभिधेय अर्थ से भिन्न (अनभिधेय) दूसरा अर्थ तथा उसके साथ उपमा आदि अलङ्कार प्रतीत होता है उसकी व्यङ्ग्यता सर्वसम्मत (निर्विवाद) है ।

प्रभा—ऊपर ध्वनि के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है १—वस्तु, २—अलङ्कार, ३—रस । इनमें से रस-ध्वनि अभिधा और लक्षणा का विषय नहीं हो सकती, उसे व्यङ्ग्य ही मानना पड़ता है, यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है। वस्तु और अलङ्कार रूप ध्वनि भी व्यञ्जना-प्रतिपाद्य ही हो सकती हैं, लक्षणा आदि द्वारा उनकी प्रतीति नहीं हो सकती—'अर्थान्तर:०' इत्यादि अवतरण में यही बतलाया गया है । भाव यह है कि पूर्व विवेचन के अनुसार ध्वनि के दो मुख्य भेद हैं—१, अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक), १, विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधा-मूलक) । अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं—(१) अर्थान्तरसंक्रमित, (२) अत्यन्त-तिरस्कृत । तथा विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । यदि इन पूर्वोक्त भेदों पर ऊपर सङ्कलित तीन भेदों की दृष्टि से विचार किया जाये तो रस-भावादि असंलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत आते हैं उनकी व्यङ्ग्यता सिद्ध की जा चुकी है। शेष अर्थान्तरसंक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत ये दोनों वस्तु ध्वनि के तथा संलक्ष्यक्रम ध्वनियाँ वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनि के अन्तर्गत आती हैं, उन पर क्रमशः विचार किया जा रहा है ।

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्।

अविवक्षितवाच्य के दोनों भेद—अर्थान्तरसङ्क्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत लक्षणामूलक हैं। यहाँ जो वस्तुमात्र व्यङ्ग्य है वह लक्षणा के प्रयोजन के रूप में है उसके बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती। यदि उस व्यङ्ग्य में भी लक्षणा मानी जाये तो अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी अतः लक्षणामूलक ध्वनि जो सङ्कलित ध्वनियों में वस्तु-ध्वनि के अन्तर्गत आती है, उसमें वस्तुमात्र व्यङ्ग्य है अर्थात् व्यञ्जना द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है, यह मानना पड़ता है।

रही संलक्ष्यक्रम (अभिधामूलक) ध्वनि की बात। उसके मुख्यतः तीन भेद हैं—शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक। शब्दशक्तिमूलक भेद में ऐसा होता है कि शब्द के अनेक अर्थों में से प्रकरणादि द्वारा एक अर्थ नियत हो जाता है अर्थात् अभिधावृत्ति का नियन्त्रण हो जाता है। अभिधावृत्ति उसके अतिरिक्त अन्य अर्थ का बोध नहीं करा सकती। तब उस शब्द के द्वारा जो दूसरे अर्थ (वस्तु) का बोध होता है वह सर्वथा अनभिधेय (अवाच्य) होता है तथा वह व्यञ्जना के द्वारा ही प्रकट होता है और उससे जो उपमा आदि अलङ्कारों की प्रतीति होती है वह भी व्यञ्जना द्वारा ही हो सकती है। अर्थशक्तिमूलक में व्यञ्जना अनिवार्य है यह आगे दिखलाते हैं—

अनुवाद—(अर्थशक्तिमूलेऽपि) व्यङ्ग्यस्याऽभिधेयतायां का वार्ता? इत्यन्वयः) जिस (अभिहितान्वयवाद) में विशेष (व्यक्ति अथवा पदार्थों का संसर्ग) में सङ्केत करना सम्भव नहीं, इसलिये सामान्य रूप पदार्थों का आकांक्षा, सन्निधि तथा योग्यता के कारण होने वाला परस्पर संसर्ग, जो कि विशेष रूप है, वह किसी पद का अर्थ न होकर भी (तात्पर्य वृत्ति के द्वारा) वाक्यार्थ माना जाता है, उस अभिहितान्वयवाद में अर्थशक्तिमूलक व्यङ्ग्य (वस्तु तथा अलङ्कार) की अभिधेयता की तो बात ही क्या है?

प्रभा—अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में जो वस्तु तथा अलङ्कार की व्यञ्जना द्वारा प्रतीति होती है वह भी अभिधा द्वारा नहीं हो सकती। बात यह है कि वाक्यार्थ के विषय में (मीमांसकों के) दो सिद्धान्त हैं—१. अभिहितान्वयवाद २. अन्विताभिधानवाद। कुमारिलमतानुयायी मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से 'गो' आदि पदों का सामान्यरूपेण 'गोत्व' आदि में सङ्केतग्रह होता है, विशेष में नहीं। यहाँ 'विशेष' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—१. व्यक्ति २. पदार्थों का संसर्ग (अन्वय)। आनन्त्य और व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति (विशेष) में सङ्केतग्रह हो नहीं सकता, यह ऊपर (सूत्र १०) कहा जा चुका है। अभिहितान्वयवादी

येऽप्याहुः—

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥१॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥२॥

इति प्रतिपादितदिशा—

देवदत्त गामानयेत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति 'अनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्न' इति

के मत में पदार्थों के पारस्परिक अन्वय या संसर्ग (विशेष) में भी शब्दों का शक्तिग्रह नहीं होता। आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण पदों के संसर्ग की प्रतीति होती है वह (संसर्ग) विशेषरूप है। वह पदों का अर्थ नहीं होता, अपि तु वाक्य का अर्थ होता है। इस विशेषरूप वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति द्वारा हुआ करती है। इस प्रकार प्रथमतः पदों से अभिधावृत्ति द्वारा पदार्थों का बोध होता है। तब अन्वयरूप विशेष अर्थ (वाक्यार्थ) की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति द्वारा होती है। उसके बाद व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है। जब अभिहितान्वयवादी के मतानुसार (पदार्थसंसर्ग अथवा अन्वयरूप) वाक्यार्थ भी अभिधावृत्ति द्वारा प्रकट नहीं हो सकता तो वस्तु और अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा कैसे हो सकती है ? अतः अभिहितान्वयवाद में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जनावृत्ति को मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जनावृत्ति अनिवार्य है, यह आगे बतलाते हैं—

अनुवाद—('येऽप्याहुः'—अन्विताभिधानवादिनः'—यह अन्वय है) जो (अन्विताभिधानवादी) भी कहते हैं कि—'यहाँ (व्युत्पत्ति काल में) कोई बालक (श्रोत्र द्वारा) शब्द को (प्रयोज्य तथा प्रयोजक) वृद्ध और अभिधेय (घटादि) को (चक्षु द्वारा) प्रत्यक्ष रूप से देखता है। उसके पश्चात् श्रोता (सुनने वाले–प्रयोज्य-वृद्ध) की प्रतिपन्नता अर्थात् 'घटमानय' आदि वाक्यार्थविषयक ज्ञान (अभिज्ञता) को अनुमिति के साधनरूप चेष्टा (आनयन आदि क्रिया से समझ लेता है (पश्यति) तब अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति द्वारा द्व्यात्मिका शक्ति अर्थात् वाचकत्व और वाच्यत्व रूप द्विविध शक्ति को (जिसे सङ्केत कहते हैं) जान लेता है। इस प्रकार (प्रत्यक्ष अनुमान तथा अर्थापत्ति) तीन प्रमाणों से अधिगत सङ्केतरूप सम्बन्ध को जानता है'।

(उक्तकारिकाद्वय की विवृति) इस (कारिकाद्वय द्वारा) उक्त मार्ग से (दिशा-अवधारयति इत्यन्वयः) 'देवदत्त गाय को लाओ' प्रयोजक (उत्तम) वृद्ध के इस वाक्य-प्रयोग से प्रयोज्य-वृद्ध (मध्यम) के सास्नादिमान् वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने पर देखने वाला बालक—"इस (प्रयोज्य वृद्ध) ने इस वाक्य

तच्चेष्टयाऽनुमाय, तयोरखण्डवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते। परतः 'चैत्र गामानय; देवदत्त अश्वमानय; देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।

द्वारा इस प्रकार का अर्थ जाना।" इस प्रकार उसकी (गाय लाना रूप) चेष्टा द्वारा अनुमान करता है और अर्थापत्ति द्वारा उन अविभक्त (अखण्ड) वाक्य तथा वाक्यार्थ के वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध (शक्ति) का निर्णय करके (बालक) उस वाक्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

('परतः—अवधारयति' इत्यादि द्वारा शब्द में सङ्केतग्रह दिखलाया है) तदनन्तर ('परतः', 'हे चैत्र, गाय को लाओ', 'देवदत्त घोड़े को लाओ' 'देवदत्त गाय को ले जाओ', इत्यादि वाक्यों के प्रयोग में अमुक-अमुक (गो आदि) शब्द का अमुक-अमुक (सास्नादिमान् आदि) अर्थ है यह निश्चय कर लेता है—इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कराने वाला वाक्य ही प्रयोग के योग्य है इसलिये (इति) वाक्य में स्थित पदों का अर्थात् अन्वित पदों का अन्वित अर्थों के साथ ही सङ्केत-ग्रहण होता है। अतएव (इति) पारस्परिक संसर्गयुक्त (विशिष्ट) पदार्थ ही वाक्य का अर्थ होते हैं. ऐसा नहीं कि पदार्थों का (बाद में प्रतीत होने वाला) परस्पर-संसर्ग (वैशिष्ट्य) वाक्य का अर्थ हो।

प्रभा—भाव यह है कि उपर्युक्त रीति से व्यवहार द्वारा ही प्रथमतः संकेत-ग्रह होता है। यह व्यवहार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के रूप में हुआ करता है। जैसे प्रयोजक वृद्ध के 'गामानय' आदि वाक्य को सुनकर प्रयोज्यवृद्ध की गाय लाने में प्रवृत्ति होती है तथा 'गां नानय' वाक्य को सुनकर उसकी गाय लाने के कार्य से निवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति-निवृत्ति वाक्य-श्रवण से ही होती है, कभी भी केवल 'गो' आदि पदमात्र के श्रवण से नहीं। वाक्य-प्रयोग के द्वारा ही प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, उसके बिना नहीं होती—इस अन्वयव्यतिरेक (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्, तदसत्त्वे तदसत्त्वम्) से वाक्य ही प्रवृत्ति-निवृत्ति कराने वाला है। उसमें ही प्रथम शक्तिग्रह होता है तथा वही प्रयोग के योग्य है। वाक्य में शक्तिग्रह के पश्चात् ही आवाप अर्थात् किसी पद के ग्रहण से (जैसे 'अश्वमानय' में 'अश्व' पद का ग्रहण किया जाता है) तथा उद्वाप अर्थात् किसी पद के त्याग से (जैसे 'गां नय' में 'आनय' पद का त्याग कर दिया गया है) 'वाक्य के अंशभूत 'गो आदि पद का यह (अन्वित) सास्नादिमान् अर्थ वाच्य है' इस प्रकार का शक्तिग्रह होता है।

प्रभाकर—मीमांसक के अनुसार शक्तिग्रह तीन प्रमाणों द्वारा होता है—(१) वह बालक 'गो' आदि शब्द को (श्रोत्र द्वारा) तथा वृद्ध और अर्थ (गाय आदि)

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः सङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः।

को प्रत्यक्षतः अनुभव करता है (२) मध्यमवृद्ध (श्रोता) के 'गाय लाना' आदि कार्य से यह अनुमान किया जाता है कि 'इन शब्दों से मध्यम वृद्ध को इस प्रकार का ज्ञान हुआ है' (३) तदनन्तर अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति द्वारा वाच्य और वाचक के सम्बन्ध का ज्ञान होता है; अर्थात् सम्बन्ध के बिना वाक्य से अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः दोनों में सम्बन्ध अवश्य है, यह जाना जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान तथा अर्थापत्ति—इन तीनों प्रमाणों से सङ्केतग्रह होता है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर का मन्तव्य है कि वाक्यों में स्थित पदों का परपदार्थ से अन्वित रूप में ही सङ्केत-ग्रह होता है; अतएव परस्परान्वित (विशिष्ट) पदार्थ ही वाक्यार्थ है तथा अन्वय-बोध के लिए तात्पर्यवृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं।

टिप्पणी—(i) प्रत्यक्षेणात्र पश्यति—यहाँ पश्यति=साक्षात् करोति, साक्षात् करता है। अतः इससे सुनता है (शृणोति) का भी ग्रहण हो जाता है।

(ii) त्रिप्रमाणकम्—प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति तीन प्रमाणों द्वारा ज्ञात (सम्बन्ध) को।

(iii) उत्तम वृद्ध—पिता आदि बड़े लोग, मध्यम वृद्ध—बड़े भाई आदि।

(iv) विशिष्टाः—वाक्यार्थः—यह अन्विताभिधानवाद का स्वरूप है, विशिष्ट =अन्वित। पदार्थानां वैशिष्ट्यम्—यह अभिहितान्वयवाद का स्वरूप है। वैशिष्ट्य =अन्वय (द्र०, ऊपर मू० ७ टि०)।

अनुवाद—यद्यपि अन्य ('गामानय से भिन्न 'गां नय', 'अश्वमानय' आदि) वाक्य में प्रयुक्त भी शब्द प्रत्यभिज्ञा द्वारा 'ये वे ही पद हैं' इस प्रकार निश्चित कर लिये जाते हैं, इस हेतु सामान्यतः अन्य पदार्थ (इतरान्वित आनयन आदि) से अन्वित पदार्थ ही सङ्केत का विषय है, तथापि सामान्यरूप (इतरान्वित आनयन आदि) से आच्छादित विशेष रूप (घटानयन आदि) में ही यह सङ्केत (असौ) गृहीत होता है; क्योंकि परस्पर-अन्वित पदार्थ वैसे अर्थात् विशेष रूप ही हुआ करते हैं—यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

प्रभा—जैसा कि ऊपर निरूपण किया गया है अन्विताभिधानवादी के मत में शब्द परस्परान्वित अर्थ का ही अभिधान करते हैं। किन्तु इस मत में एक शङ्का हो सकती है कि गामानय में जो 'आनय' शब्द है वही 'अश्वमानय' में भी है, इस अनुभव के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि दोनों स्थलों पर एक ही

तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेष-भूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा ।

'आनय' पद है। तब तो 'आनय' शब्द का 'गोसम्बन्धी आनयन' या अश्व सम्बन्धी आनयन' कोई भी अर्थ न होना चाहिये। इसलिए 'गो सम्बन्धी आनयन' इत्यादि विशेष अर्थ की प्रतीति के लिये तात्पर्य नामक विशेष वृत्ति माननी ही चाहिये।

'तथापि आदि अवतरण में प्रभाकर की ओर से इसका समाधान किया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नैयायिक के मत में 'गोत्व' रूप से सामान्यतः शक्ति-ग्रह होने पर भी 'गो' शब्द से सदा गोविशेष का बोध होता है; इसी प्रकार यद्यपि सामान्यरूप से इतरान्वित पदार्थ में सङ्केत-ग्रह होता है तथापि वह सङ्केत-ग्रह (इतरान्वित आनयन आदि) सामान्यप्रकारक होकर भी (गवानयन आदि) विशेष रूप का अनुभव कराता है। बात यह है कि बिना विशेष के कोई सामान्य नही रहती (निर्विशेषं न सामान्यम्) तथा जो परस्परान्वित अर्थात् एक दूसरे से सम्बद्ध पदार्थ होते हैं वे विशेष रूप ही हुआ करते हैं इसलिये सामान्यरूपेण आनयन आदि इतरपदार्थ से अन्वित होने पर 'गवानयन' आदि के रूप में ही होता है।

टिप्पणी—प्रत्यभिज्ञा=स्मृति सहित प्रत्यक्ष, पूर्व संस्कार सहित इन्द्रिय तथा वस्तु के संयोग से जो ज्ञान होता है जिसमें वस्तु की तद्रूपता और 'इदं' रूपता दोनों भासित होती हैं वह प्रत्यभिज्ञा है; जैसे—सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि।

अनुवाद—उन (अन्विताभिधानवादियों) के मत में भी केवल सामान्यरूपेण अर्थात इतरपदार्थान्वित-आनयनत्व आदि रूप से ही (गवायन आदि) विशेष पदार्थ सङ्केत का विषय है अतः जिनके मत में (यत्र) अति विशेष पदार्थ (अर्थात् गवानय-नत्व रूप से गवानयन आदि) भी सङ्केत का विषय नहीं तथा अभिधाव्यापारगम्य नहीं (अवाच्य) है और ('गामानय' आदि) वाक्यार्थ के अन्तर्गत होकर प्रतीत होता है, उनके मत में 'निःशेषच्युत' इत्यादि (उदाहृत स्थलों) में (उसके समीप ही गई थी' आदि) विधिरूप (व्यङ्ग्य) अर्थ की (वाच्यता की) बात तो दूर ही है।

प्रभा—अन्विताभिधानवादी प्रभाकर के मत में भी व्यङ्ग्यार्थ अभिधावृत्ति का विषय नहीं हो सकता। माना कि उनके मतानुसार शब्द अभिधावृत्ति के द्वारा परस्परान्वित पदार्थों की प्रतीति कराते हैं और अन्वय-बोध के लिये तात्पर्य-वृत्ति की आवश्यकता नही है; किन्तु उनके अनुसार भी सामान्यरूपेण अन्वित पदार्थों में ही सङ्केत-ग्रहण होकर सामान्यविशेष का ग्रहण होता है; अतः अतिविशेष रूप अर्थ भी अभिधावृत्ति का विषय नहीं है फिर व्यङ्ग्यार्थ अभिधा-व्यापारगम्य कैसे हो सकता है? भाव यह है कि जैसे घट वस्तुत्वरूप से वस्तुपद वाच्य है किन्तु घटत्वरूप

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।

से वह वस्तुपदवाच्य नहीं; इसी प्रकार अपर पदार्थान्वितानयनत्व रूप से (सामान्यरूपेण) 'घटानयन' (सामान्यविशेष) आनयन पद का वाच्य है किन्तु घटानयनत्व रूप से तो घटानयनत्व (अतिविशेष रूप) आनयन पद का अवाच्य ही रहेगा। इसलिये उसमें सङ्केतग्रहण न होने के कारण उसका ज्ञान वाक्य की शक्ति से होगा, अभिधावृत्ति द्वारा नहीं। और उसके पश्चात् प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ में तो अभिधावृत्ति का प्रसङ्ग ही नहीं हो सकता।

टिप्पणी—'निःशेषच्युत' आदि—यहाँ पर शब्दों द्वारा कहा तो यह गया है कि तुम नायक के पास नहीं गई (तस्यान्तिकं न गतासि), जो (वाच्यार्थ) निषेधरूप है; किन्तु व्यङ्ग्य यह है कि 'तुम अवश्य ही उसके पास गई' (तदन्तिकमेव गतासि) जो विधिरूप है।

अनुवाद—अभिहितान्वयवाद में अनन्वित (संसर्ग-रहित) ही अभिधावृत्ति का विषय है (अर्थः=वृत्तिविषयः) तथा अन्विताभिधानवाद में अपर पदार्थ मात्र से अन्वित ही; किन्तु अन्वित-विशेष (अतिविशेष) रूप अर्थ तो वाच्य है ही नहीं—इस प्रकार दोनों मतों में भी वाक्यार्थ (संसर्ग) पदार्थ नहीं है अर्थात् पद-वृत्ति (अभिधा) का विषय नहीं है।

प्रभा—यहाँ तक ग्रन्थकार ने बतलाया है कि ध्वनि के सभी भेदों की प्रतीति केवल व्यञ्जना द्वारा ही हो सकती है। एतद्विषयक युक्तियों का सारांश यह है—

(१) लक्षणामूल ध्वनि के दोनों भेदों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) में प्रयोजन की व्यञ्जना के बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती।

(२) अभिधामूलध्वनि के—(क) असंलक्ष्यक्रम भेद में जो रसादि ध्वनि हैं, वे सदा व्यङ्ग्य ही होती हैं।

(ख)—संलक्ष्यक्रम भेद में—

(i) शब्दशक्तिमूलक में वस्तु और अलङ्कार व्यङ्ग्य ही हुआ करते हैं।

(ii) अर्थशक्तिमूलक में अर्थ व्यञ्जक होता है। किन्तु अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों में ही वाक्यार्थ का भी अभिधा द्वारा बोध नहीं हो सकता, व्यङ्ग्यार्थ की तो बात ही क्या?

उभयशक्तिमूलक ध्वनि के विषय में भी यही युक्ति दी जा सकती है। अतः ध्वनि की प्रतीति के लिये व्यञ्जनावृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है।

टिप्पणी—इस सन्दर्भ में तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है—सामान्य, सामान्यविशेष और अतिविशेष। इन शब्दों की टीकाकारों ने भिन्न २ प्रकार से व्याख्या की है। सन्दर्भ के अनुशीलन से तथा 'अनन्वितो······वाक्यार्थः' इस उपसंहार वाक्य से तो इन शब्दों का यह अर्थ प्रतीत होता है—सामान्य=अनन्वित पदार्थ, पदों के ऐसे अर्थ जिनका परस्पर अन्वय न हो। (सामान्यरूपाणां ... नि

[२. व्यङ्ग्यार्थो न अभिधावृत्तिबोध्यः]

यद्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथं ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम्।

पृ० २४१, अनन्वितोऽर्थः० पृ० २४६)। सामान्यविशेष=केवल इतर पदार्थ से अन्वित पदार्थ (पदार्थान्तरमात्रेण अन्वितः, पृ० २४४ तथा २४६); वह इतरान्वित-आनयनत्व आदि रूप मे होता है तथापि घटानयन आदि रूप मे भासित हुआ करता है। अतिविशेष=उस उस वाक्य में अन्वित पदार्थ; अर्थात् घटानयनत्व रूप से अन्वित घटानयन आदि। प्रदीप टीका से भी इसी अर्थ की प्रतीति होती है— तेषामपि मते सामान्येनैव रूपेण विशेषः शक्यो न तु विशेषरूपेण। तथा च पदार्थान्तरसामान्यान्विते पदानां शक्तिः। गवादिविशेषान्वितस्तु विशेषोऽवाच्य एव।

इस पर भी जो कुछ मीमासक मतानुयायी अभिधा द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति मानते हैं उनकी युक्तियों का निराकरण आगे किया जा रहा है—

अनुवाद—२. जो (मीमांसकों द्वारा) यह कहा है कि नैमित्तिक अर्थात् कार्य के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है (अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ कार्य है उसके कारण रूप में शब्द की कल्पना की जाती है)। उनके प्रति ग्रन्थकार कहते हैं) उस कथन में (तत्र) निमित्तत्व (का अभिप्राय) जनकत्व है या प्रकाशकत्व? शब्द तो अर्थ का बोधक (प्रकाशक) है अतः उसमें (अर्थ) जनकत्व तो हो नहीं सकता। ज्ञापकत्व तो (यद्यपि उसमें हो सकता है तथापि) अज्ञात का ज्ञापकत्व कैसे हो सकता है? और उसमें ज्ञातता सङ्केत द्वारा ही होती है तथा वह सङ्केत (अन्विताभिधानवादी के मत में) इतरान्वित मात्र (पदार्थ) में ही है (न अन्वित-विशेष में और न विधि आदि में ही)। इस प्रकार जब तक निमित्त (शब्द) की नियत रूप से निमित्तता (विशेष-सङ्केतवत्वम्=विशेष के साथ सङ्केत) का निश्चय न हो जाये तब तक नैमित्तिक (व्यङ्ग्य अर्थ) की प्रतीति ही कैसे हो सकती है? इसलिये "नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है' यह विचारपूर्ण कथन नहीं।

प्रभा—मीमासको में से कुछ लोगों का कथन है कि—व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति किसी निमित्त से होती है अर्थात् नैमित्तिक है। यहाँ उसका और कोई निमित्त तो दृष्टिगोचर होता नहीं अत. (नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते—इस न्याय से) शब्द को ही उसका निमित्त मानना चाहिये; क्योंकि शब्दश्रवणानन्तर ही उस अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द की निमित्तता किसी वृत्ति द्वारा ही होगी अतः अभिधावृत्ति से ही शब्द व्यङ्ग्यार्थ का भी बोध कराता है—यह स्वीकार करना पड़ता है। जब शब्द अभिधावृत्ति द्वारा ही समस्त वाच्य या व्यङ्ग्य अर्थ का बोध

ये स्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्य-वाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः। तथा हि, भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोप-दिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्व-र्त्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चादग्धदहन-न्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे

कर सकता है तो वृत्त्यन्तर-कल्पना की क्या आवश्यकता है ? आचार्य मम्मट 'तत्र-भ्यभिचारिताभिधानम्' इस ग्रन्थ द्वारा उनको उत्तर देते हैं कि—आप जो शब्द को व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त कहते हैं वह निमित्तता किस प्रकार की है ? यह शब्द अर्थों का जनक (कारक या उत्पादक) है या ज्ञापक (बोधक, प्रकाशक) ? शब्द अर्थ को उत्पन्न तो करता है नहीं, अतएव यह अर्थ का जनक नहीं हो सकता; हाँ अर्थ का प्रकाशक अवश्य हो सकता है; किन्तु यह तभी अर्थ का प्रकाशक या ज्ञापक होता है जबकि यह उस अर्थ के बोधक के रूप में ज्ञात हो, अन्यथा नहीं और शब्द की यह ज्ञातता संकेत के द्वारा होती है। अन्विताभिधानवादी के अनुसार संकेत, तो अन्वित मात्र में ही है, अन्वित विशेष में भी वह संकेत नहीं और जब तक विशेष रूप से संकेत न माना जाये अर्थात् किसी व्यङ्ग्यार्थ का नियमित रूप से किसी शब्द को निमित्त न मान लिया जाये तब तक शब्द के द्वारा नैमित्तिक (व्यङ्ग्य) अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः अभिधावृत्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति असम्भव है।

'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ती' त्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं, हवनस्यान्यतः सिद्धेः दध्ना जुहोतीत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्। क्वचिदुभयविधिः क्वचित् त्रिविधिरपि यथा रक्तं पटं वयेत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा । ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यंन्न तु प्रतीतमात्रे । एवं हि पूर्वो धावतीत्यादावपरार्थेऽपि क्वचित्तात्पर्य स्यात् ।

प्रचरन्ति' अर्थात् लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् प्रचरण करते हैं, इस विधिवाक्य में (अत्र) ऋत्विक् लोगों का प्रचरण (भिन्न-भिन्न कार्यों का अनुष्ठान) अन्य प्रमाण (श्येन-याग में ज्योतिष्टोम याग की विधि का अतिदेश करने) से ही सिद्ध है अतः यहाँ लाल पगड़ी मात्र ही विधेय है। इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दही से होम करे' इस विधि वाक्य में हवन की विधि अन्य (अग्निहोत्रं जुहोति) वाक्य से ही सिद्ध है अतएव दही की साधनता (दही द्वारा हवन करे) ही विधि का विषय हैं। इसी प्रकार कहीं दो वस्तुओं का विधान होता है कहीं तीन का, जैसे—'रक्तं पटं वय' (लाल वस्त्र बुनो) इस वाक्य में एक (रक्त गुण), दो (रक्त गुण तथा पट) अथवा तीन (रक्त गुण, पट तथा बुनना) का विधान हो सकता है। फलत. 'जिसका विधान करना है उसमें ही विधि का तात्पर्य है' । इस प्रकार 'उच्चारित' अर्थात् बोले हुए ही शब्द के (वृत्ति द्वारा उपस्थित या विधेय) अर्थ में तात्पर्य रहता है न कि (किसी सम्बन्ध से भी) प्रतीत होने वाले प्रत्येक अर्थ में; यदि ऐसा हो तो 'पूर्वो धावति' इत्यादि में कहीं अपर आदि अर्थ में भी तात्पर्य हो जाये (क्योंकि दोनों के सापेक्ष होने से 'पूर्व' शब्द से अपर की प्रतीति भी होती हैं)।

प्रभा—भट्टलोल्लट आदि आलङ्कारिकों का कथन है कि जैसे धनुर्धारी के द्वारा प्रक्षिप्त एक ही बाण एक वेग नामक व्यापार से शत्रु का वर्मच्छेद तथा मर्मभेद करके प्राण हरण कर लेता है उसी प्रकार सुकविप्रयुक्त एक ही शब्द अभिधा नामक व्यापार से वाच्य, अन्वय तथा व्यङ्ग्य अर्थ सब की प्रतीति करा देता है। व्यङ्ग्य अर्थ के स्थल में शब्द का तात्पर्य उसी में होता है और मीमासा शास्त्र का न्याय है 'यत्परः' इत्यादि, जिसका पूर्वपक्षी अर्थ करता है—'यदर्थे यस्य शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थः'' अर्थात् जिस अर्थ का बोध कराने के लिये किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह उस शब्द का ही अर्थ होता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ भी शब्द का ही अर्थ है और वह अभिधावृत्ति का विषय ही है यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है।

सिद्धान्तपक्ष का कथन है कि पूर्वपक्षी ने 'यत्पर०' आदि न्याय का यथोचित अर्थ नहीं किया। इसका अर्थ है 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्' अर्थात् विधिवाक्यों में क्रिया साध्य है। उसके लिये ही कारक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। प्रधान क्रिया के सम्पादन के लिये कारकों की निजी क्रियाएँ भी होती हैं जैसे 'गामानय' में 'आनयन' प्रधान क्रिया है और गौ का चलना गौण क्रिया है प्रधान क्रिया की

यत्तु विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति । उच्यते—तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः । न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम् ।

निर्वाहक स्वक्रिया के सम्बन्ध से कारकों में भी कुछ साध्यांश हो जाया करता है। इस प्रकार वाक्य में कुछ वस्तु प्रथमतः ही सिद्ध रूप में होती है, कुछ साध्य रूप में। साध्य वस्तु ही अप्राप्त है, उसकी सिद्धि करनी है तथा अदग्ध-दहन न्याय से उसका ही विधान होता है। इस प्रकार यत्परः० इत्यादि न्याय का भाव यह है कि जो अन्य प्रमाण आदि से प्राप्त नहीं, शब्द का उसी में तात्पर्य होता है।

किञ्च, जिस अर्थ में तात्पर्य होता है, उस अर्थ का वाचक शब्द वाक्य में उपात्त या गृहीत हुआ करता है जिस शब्द का वाक्य में ग्रहण नहीं होता, उसके अर्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता। इसी हेतु कहा गया है उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्। यदि वाक्य से प्रतीत होने वाले प्रत्येक अर्थ में शब्द का तात्पर्य होने लगे तो 'पूर्वो धावति' का तात्पर्य 'अपरो धावति' में भी होने लगेगा क्योंकि पूर्व शब्द से विलोम रूप में 'अपर' अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। इस प्रकार 'यत्परः०' न्याय के अनुसार अभिधावृत्ति द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ का वाचक कोई शब्द वाक्य में उपात्त नहीं हुआ करता।

टिप्पणी :—आचार्य अभिनवगुप्त ने भी मीमांसा के अनुयायी आलङ्कारिकों के इस वाद का निराकरण किया है। किन्हीं व्याख्याकारों के मत में यहाँ पूर्वपक्षी की दो युक्तियाँ हैं (बालबोधिनी)—(१) शब्द का दीर्घ दीर्घतर व्यापार और (२) 'यत्परः शब्दः इत्यादि न्याय। वस्तुतः यहाँ एक ही युक्ति दी गई है, जैसा कि ऊपर व्याख्या में दिखलाया गया है। अभिनवगुप्त के विवेचन से भी यही प्रकट होता है—योऽन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवद् अभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घम् इच्छति। (ध्वन्यालोकलोचन, उद्योत-१)

अनुवाद—जो यह (कहा जाता है) कि 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः (विष खालो पर इसके घर मत खाओ) यहाँ पर 'इसके घर भोजन न करो' इस अर्थ में ('विषं भक्षय' इस वाक्य का) तात्पर्य है, तथा वही ('मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' का) वाक्यार्थ है [अतः उपात्तशब्दस्यार्थे तात्पर्यम्' यह नियम कहाँ रहा ?] (उत्तर)—बात यह है कि यहाँ पर 'च' (और) दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सूचित करने के लिए है। यद्यपि (भक्षय, भुङ्क्थाः) दो तिङन्त (आख्यात) घटित वाक्यों का अङ्गाङ्गिभाव हो नहीं सकता, तथापि सुहृद् का वाक्य होने के कारण 'विषभक्षण' वाक्य में (दूसरे वाक्य के प्रति) अङ्गता की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार 'इसके घर भोजन करना विषभक्षण से भी अधिक दोषयुक्त है' इसलिये 'किसी प्रकार भी इसके घर न खाओ' इत्यादि उपात्त (प्रयुक्त) शब्दों के अर्थ में ही तात्पर्य है।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् ? कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे ?

प्रभा—यहाँ पर पूर्वपक्षी का यह अभिप्राय है—आपका यह कथन असङ्गत है कि'उपात्त (अर्थात् प्रयुक्त या उच्चारित) शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है, प्रतीतमात्र में नहीं; क्योंकि विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था.' यहाँ पर यह नियम लागू नहीं होता। वहाँ दो वाक्य हैं—(i) 'विषं भक्षय' और (ii) 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'। इन दोनों का तात्पर्य है—'कदाचित् भी इसके घर में न खाओ'। यह दूसरे वाक्य का वाच्यार्थ है। किन्तु प्रथम वाक्य (विषं भक्षय) का भी तात्पर्य इसी में है और इस वाक्य में इस अर्थ के वाचक किसी शब्द का ग्रहण नहीं किया गया। सिद्धान्त पक्ष का अभिप्राय यह है कि 'मा चास्य' यहाँ पर 'च' (और) का प्रयोग किया गया है। इस 'च' का कोई अन्य प्रयोजन दिखलाई नहीं देता अतः 'च' दोनों वाक्यों का समुच्चय करता है, दोनों की एकवाक्यता को सूचित करता है। यद्यपि इन दोनों वाक्यों मे 'भक्षय' तथा 'भुङ्क्थाः' ये प्रधान क्रियाएँ (finite verb) प्रयुक्त हुई हैं अतः यह एक दूसरे से निरपेक्ष हैं, इनमे से एक दूसरे का अङ्ग Subordinate) नहीं हो सकता, फिर इनमें अङ्गाङ्गिभाव अथवा विशेष्य-विशेषण रूप सम्बन्ध नही बन सकता, तथापि किसी मित्र का यह उपदेश देना भी तो असम्भव ही है कि 'विष खालो' (विषंभक्षय)। इसलिये 'विषं भक्षय' यह वाक्य स्वार्थ-बोधन मे बाधित हो जाता है तथा यह 'इसके घर में भोजन करना विषभक्षण से भी बुरा है' (विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनम्) इस अर्थ को लक्षित करके 'मा चास्य' इत्यादि वाक्य का हेतुरूप मे अङ्ग हो जाता है। तब 'च' (और) शब्द के द्वारा सूचित एकवाक्यता भी हो जाती है और 'कदाचित् भी इसके घर मे न खाओ' (सर्वथा नास्य गृहे भुङ्क्थाः) यह वाक्यार्थ होता है।

इस प्रकार यहाँ पर वाक्यस्थ शब्दों के द्वारा उपस्थापित अर्थ में ही तात्पर्य है और 'यत्पर.' आदि मीमांसोक्त न्याय का उपर्युक्त ही अर्थ है।

टिप्पणी—एक तिङन्त पद से युक्त पद-समुदाय वाक्य है (एकतिङ् वाक्यम्) इसलिये 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' ये दो स्वतन्त्र वाक्य हैं। दो स्वतन्त्र वाक्यों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता। मीमांसा का न्याय भी है—'गुणानां च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात् स्यात्'।

अनुवाद—यदि शब्द-श्रवण के अनन्तर, जितना अर्थ उपलब्ध होता है, उतने में शब्द का अभिधा व्यापार ही (समर्थ) है; तो—हे ब्राह्मण, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है तथा 'हे ब्राह्मण तुम्हारी कन्या (अविवाहिता पुत्री) गर्भवती है। इत्यादि वाक्यों में हर्ष और शोक आदि भी वाच्य क्यों न माने जाएँ ? और लक्ष्य अर्थ

दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्? इत्यन्विताभिधान-वादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्।

में भी लक्षणा क्यों मानी जाये? क्योंकि (इषुवत्) दीर्घ दीर्घतर (शब्द के) अभिधा नामक व्यापार से ही (लक्ष्यार्थ की) प्रतीति हो जायगी। और फिर क्यों श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या-इन में पूर्व पूर्व (श्रुति आदि) को पर अर्थात् लिङ्ग आदि की अपेक्षा बलवत्तर माना जाय? इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में भी निःशेष इत्यादि में समीप गमन रूप) विधि की व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

प्रभा -जो मीमांसकमतानुयायी भट्टलोल्लट आदि आलङ्कारिक कहते हैं कि बाण के समान शब्द का भी दीर्घ, दीर्घतर व्यापार होता है तथा अभिधा, नामक शब्द व्यापार द्वारा ही पदार्थ-बोध, अन्वय-बोध एवं व्यङ्ग्यार्थ आदि की प्रतीति हो सकती है, 'यदि च' इत्यादि अवतरण द्वारा उनको उत्तर दिया गया है। अभिप्राय यह है कि यदि शब्द-श्रवण के पश्चात् जो भी ज्ञान होता है वह अभिधा व्यापार द्वारा ही हो जाता है, यह माना जाये तो 'हे ब्राह्मण तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' तथा 'हे ब्राह्मण, तुम्हारी कन्या गर्भिणी है' इन वाक्यों के श्रवणानन्तर होने वाला हर्ष और विषाद भी वाच्यार्थ ही हो जायेगा, किन्तु ऐसा माना नहीं जाता। दूसरा दोष यह भी होगा, कि लक्षणा वृत्ति की भी कोई आवश्यकता न रहेगी; क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी शब्द के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार द्वारा अभिधा से ही होने लगेगी। इसके अतिरिक्त ऐसा मानने पर तो मीमांसकों का श्रुति आदि का बलीयस्त्व-बोधक न्याय भी अनुचित ठहरेगा। भाव यह है कि— जैमिनि मुनि ने बतलाया है कि श्रुति आदि में पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर दुर्बल होता है, क्योंकि वह विलम्ब से अर्थ का बोध कराता है। इससे पूर्व पूर्व की बलवत्तरता का निर्णय होता है। यदि शब्द-श्रवण के पश्चात् होने वाला समस्त अर्थ-बोध अभिधा-व्यापार द्वारा ही हो जाया करे तो जैसे 'श्रुति' द्वारा उपस्थापित अर्थ-अभिधेय है वैसे 'लिङ्गादि' द्वारा उपस्थापित अर्थ भी; फिर तो ये सभी एक काल में ही अर्थ के उपस्थापक होंगे और अर्थ-विप्रकर्ष (विलम्बेन अर्थोपस्थापकता) की बात जो मुनि ने कही है, अनुचित ही होगी। अतः शब्द के दीर्घ दीर्घतर व्यापार से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

इस प्रकार अभिधावृत्ति से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। एतद्विषयक युक्तियों का सार यह है।

(१) अभिधा द्वारा सङ्केतित अर्थ का बोध होता है। किन्तु शब्द का व्यङ्ग्यार्थ के साथ सङ्केत-ग्रह नहीं होता अतः 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" इस नियम के अनुसार भी अभिधा से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

(२) भट्टलोल्लट आदि ने जो 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम का आश्रय लेकर व्यङ्ग्य अर्थ को अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार का विषय सिद्ध करने का प्रयास किया है वह भी ठीक नहीं; क्योंकि

(क) तात्पर्यवाचोयुक्ति के अनुसार वाक्य में उपात्त किसी शब्द के अर्थ में ही वाक्य का तात्पर्य होता है। किन्तु व्यञ्जना द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उस अर्थ का बोधक कोई शब्द वाक्य में नहीं होता।

(ख) प्रथम तो शब्द में दीर्घदीर्घतर व्यापार माना नहीं जा सकता। यदि मान भी लें तो उस दशा में—(i) ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी आदि में हर्ष शोक आदि भी वाच्य होने लगेंगे। (ii) लक्ष्यार्थ का बोध भी अभिधा से ही हो जायेगा। (iii) मीमांसा का श्रुति लिङ्ग आदि में बलाबल का सिद्धान्त भी व्यर्थ होगा।

इस प्रकार व्यञ्जना वृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है। उसके द्वारा ही 'निःशेषच्युतचन्दन' आदि स्थलों पर समीपगमन रूप विधि व्यङ्ग्य है।

टिप्पणी:—(i) श्रुति—पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्—मीमांसा शास्त्र में चार प्रकार की विधि मानी गई है—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि और प्रयोग विधि। इनमें अङ्ग (गुण) और अङ्गी प्रधान) के सम्बन्ध की बोधक विधि विनियोग विधि है। जिसके सन्दर्भ में यह सूत्र है—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात् (पूर्वमीमांसा ३·३·१४)। इस में जैमिनि आचार्य ने यह बतलाया है कि किसी वेद के मन्त्र अथवा प्रोक्षण आदि अङ्गरूप विधि का किस मुख्य यज्ञादि क्रिया में विनियोग (Application) होता है, इस बात का निर्णय कराने वाले श्रुति आदि ६ साधन (प्रमाण) हैं और इनमें भी यदि दो या अधिक प्रमाण एक ही स्थल पर प्राप्त होते हैं तो आगे वाले (पर) की अपेक्षा पहला २ अधिक बलवान् होता है; अर्थात्, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्या में से पूर्व पूर्व (श्रुति आदि) अग्रिम (लिङ्ग) आदि की अपेक्षा अधिक बलवान् है। इसी का नाम बलाबलाधिकरण है; जैसे—

(१) श्रुति (Direct declaration) अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखने वाले शब्द को श्रुति कहते हैं—'निरपेक्षो रवः श्रुतिः'। यह लिङ्ग आदि की अपेक्षा बलवती होती है, जैसे—'कदाचन स्तरीरसी नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'—यह ऋचा अग्निहोत्र प्रकरण में है। इसके विषय में यह सन्देह होता है कि इसका विनियोग इन्द्र के उपस्थान में होना चाहिये या गार्हपत्याग्नि के उपस्थान में। इन्द्र प्रकाशन-सामर्थ्य रूप लिङ्ग के अनुसार तो इसका इन्द्रोपस्थान में विनियोग होना चाहिए, किन्तु 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस द्वितीया विभक्ति रूप 'श्रुति' के द्वारा इसका गार्हपत्य के उपस्थान में ही विनियोग होता है।

'इन्द्राग्नी' पद को छोड़कर दोनों मन्त्रों का पाठ करना चाहिये यथा दर्शयाग में 'अग्नीषोम' पद को छोड़कर दोनों मन्त्रों का पाठ करना चाहिये''' यह प्रकरण द्वारा प्राप्त होता है। किन्तु पूर्व वाक्य के 'इदं हविः' इत्यादि अवशिष्ट पद का 'अग्नीषोम' पद से अन्वय है तथा उत्तर वाक्य के 'इदं हविः' इत्यादि का 'इन्द्राग्नी' से अन्वय है। यह अन्वयरूप वाक्य प्रकरण से बलवत्तर है इसलिये पूर्व मन्त्र का 'पौर्णमास्य' में विनियोग होता है तथा उत्तर मन्त्र का 'दर्श' में ही। भाव यह है कि तुरन्त प्रवृत्त होने वाला 'वाक्य' विलम्ब से प्रवृत्त होने वाले प्रकरण का बाधक है।

(४) प्रकरण (Context) परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं— **परस्पराकांक्षा प्रकरणम्**। यह स्थान की अपेक्षा बलवत्तर होता है, जैसे—राजसूय याग के प्रकरण में अनेक सोमयागों का वर्णन है। उनमें से एक 'अभिषेचनीय' नामक सोमयाग भी है। उसकी सन्निधि में **'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति, शौनःशेपमाख्यापयति'** यह पाठ है, अतएव ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सन्निधि अर्थात् स्थान के कारण 'देवन' (दीव्यति) आदि 'अभिषेचनीय' नामक सोमयाग के अङ्ग हैं किन्तु राजसूय का प्रकरण होने से वे राजसूय के अङ्ग माने जाते हैं अर्थात् राजसूय में समाविष्ट समस्त सोमयागों के अङ्ग हैं।

(५) स्थान या क्रम (Position अथवा order) समान देश में होना ही स्थान कहलाता है—**स्थानं समानदेशत्वम्**। समानदेशता दो प्रकार की है—१. पाठसमानदेशता २. अनुष्ठानसमानदेशता। पाठसमानदेशता भी दो प्रकार की है— (१) यथासंख्य पाठ (२) सन्निधि पाठ। यह स्थान या क्रम समाख्या की अपेक्षा बलवत्तर है; जैसे—**'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'** यह मन्त्र पौरोडाशिक अर्थात् पुरोडाश सम्बन्धी है ऐसा याज्ञिक लोगों ने बतलाया है। 'पुरोडाशस्य इदं पौरोडाशिकम्' इस समाख्या के आधार पर यह मन्त्र पुरोडाश काण्ड में अभिहित उलूखल, जुहू आदि के शोधन में भी अङ्ग होना चाहिये, किन्तु सान्नाय्य पात्रों के शोधन में ही इसका विनियोग किया जाता है, क्योंकि उनकी सन्निधि में इसका पाठ किया गया है अर्थात् उनके साथ इसकी पाठसमानदेशता है।

(६) समाख्या—(Name) **यौगिकः शब्दः समाख्या**। यह सबसे दुर्बल होती है। शब्द चार प्रकार का होता है—यौगिक, रूढ, योगरूढ तथा यौगिकरूढ। यौगिक वह शब्द है जहाँ अवयवार्थ (व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ) की ही प्रतीति होती है, वही समाख्या कही जाती है। जैसे—पाचक, अध्वर्यु आदि। पूर्वोक्त लिङ्ग रूढि रूप है, वहाँ अवयवशक्तिनिरपेक्ष समुदाय से अर्थ-बोध होता है। यही लिङ्ग तथा समाख्या का भेद है। यह यौगिक शब्द रूप समाख्या दो प्रकार की है—(१) लौकिकी (२) वैदिकी। याज्ञिकों द्वारा परिकल्पित समाख्या लौकिकी है जैसे—'अध्वर्यु'। 'अध्वर युनक्ति' अर्थात् यजुर्वेद सम्बन्धी कर्म करने वाला अध्वर्यु है; अतः यजुर्वेद सम्बन्धी कर्म में अध्वर्यु का विनियोग होता है। वेदोक्त समाख्या वैदिकी है; जैसे—

[३. वाच्यवाचकभावाद् अन्यो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः]

किञ्च कुरु रुचिमिति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम्, न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात्।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासाद्। वाच्य-

'होतृचमसः' इस वैदिक समाख्या से 'होतृ' ही 'चमसभक्षण' का अङ्ग होता है।

अब तक ग्रन्थकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यङ्ग्य अर्थ के बोधन के लिए व्यञ्जना वृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है, अभिधावृत्ति के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ का बोध नहीं हो सकता। यहाँ व्यञ्जना की सिद्धि के लिये साहित्यशास्त्र की दृष्टि से कुछ युक्तियाँ देते हैं—

अनुवाद—३. और भी—'कुरु रुचिम्' इन दोनों पदों का काव्य के भीतर विपर्यास हो जाने पर (रुचिं कुरु इस रूप में) दोष (दुष्टत्वं) क्यों (माना जाता है) ? क्योंकि यहाँ पर अश्लील अर्थ (सन्धि करने पर 'चिङ्कु'=भग-नासा) अन्य पदार्थों से अन्वित नहीं है, अतएव (आपके मतानुसार) अनभिधेय (अवाच्य) ही है—इस लिये इस प्रकार के पद (दुष्ट न होंगे तथा) परित्याग के योग्य न माने जायेंगे।

प्रभा—व्यञ्जना को स्वीकार करने पर ही इस प्रकार के दोषों की व्यवस्था बन सकती है, जैसे—यदि 'कुरु रुचिम्' को उलट कर 'रुचिङ्कुरु' ऐसा लिख देते हैं तो अश्लीलता दोष समझा जाता है; क्योंकि 'चिङ्कु' शब्द काश्मीरी आदि भाषाओं में अश्लीलार्थबोधक (स्त्री के गुह्याङ्गवाचक) है। यह अश्लील अर्थ अभिधावृत्ति-गम्य तो हो नहीं सकता; क्योंकि पूर्वपक्षी के मतानुसार अन्वित अर्थों में ही शक्ति होती है और ऐसा अर्थ किसी से भी अन्वित नहीं है, अतः अभिधा का विषय नहीं हो सकता। तब तो इसे व्यञ्जनावृत्ति का विषय मानना पड़ेगा; अन्यथा यह दोष कैसे होगा ? और दुष्ट होने से परित्याज्य कैसे माना जा सकेगा ?

टिप्पणी—(i) संस्कृत टीकाकारों की यह शैली रही है कि वे पूर्वपक्षी की ओर से पूर्व दोष का उत्तर कल्पित कर लेते हैं और तब द्वितीय दोष को उद्धृत करते हैं। प्रस्तुत अवतरणों की व्याख्या में उन्होंने इसी शैली का अनुसरण किया है वस्तुतः तो किसी मत में अनेक दोष भी एक साथ दर्शाये जा सकते हैं 'किञ्च' इत्यादि शब्द 'दोष-समुच्चय' की ओर ही सङ्केत करते हैं।

अनुवाद—यदि वाच्य-वाचक-भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव न माना जाये तो असाधुत्व (व्याकरण की अशुद्धि) आदि नित्यदोष हैं तथा 'कष्टत्व' (श्रुति कटुत्व) आदि अनित्यदोष हैं यह विभाग करना असम्भव होगा। किन्तु यह (विभाग) असम्भव है नहीं; क्योंकि सभी (रसिक) जनों को इनकी विभक्त रूप से प्रतीति

वाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात्क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः॥

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम्।

होती है। वाच्यवाचक भाव से भिन्न रूप में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव स्वीकार करने पर तो व्यङ्ग्य अर्थ के अनेक प्रकार का होने के कारण कोई (व्यङ्ग्य) अर्थ कहीं पर उचित होगा (किसी के कहीं पर उचित होने से) अतएव (नित्य तथा अनित्य) विभाग-व्यवस्था बन जाती है।

प्रभा—जो आलङ्कारिक व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते उन्होंने भी असाधुत्व अर्थात् व्याकरण की अशुद्धि (च्युतसंस्कृति) आदि को नित्य दोष माना है तथा श्रुतिकटुत्व आदि को अनित्य दोष बतलाया है। आचार्य मम्मट उनके प्रति कहते हैं। अथवा मीमांसा के अनुयायी आलङ्कारिकों के प्रति कहते हैं कि यदि वाच्य-वाचकता (अभिधावृत्ति) के अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव (व्यञ्जनावृत्ति) को आप नहीं मानते तो असाधुत्व आदि नित्य दोष हैं, कष्टत्व आदि अनित्य दोष हैं यह कहना असम्भव है। तब तो कष्टत्व आदि भी सर्वत्र दोष या अदोष ही होंगे। किन्तु यह विभाग-व्यवस्था तो स्वीकार करनी ही पड़ती है; क्योंकि समस्त काव्य-मर्मज्ञों को इसकी प्रतीति हुआ करती है। यह विभाग-व्यवस्था व्यञ्जना को स्वीकार करने पर ही बन सकती है—असाधुत्व (व्याकरण की अशुद्धि) आदि सर्वत्र हेय हैं, अतएव वे नित्य दोष हैं। श्रुतिकटुत्व आदि शृङ्गार आदि की अभिव्यक्ति के प्रतिकूल हैं अतः वहाँ ये दोष माने जाते हैं; किन्तु ये वीर, रौद्र आदि रसों की अभिव्यक्ति के अनुकूल हैं; अतः वहाँ दोष नहीं माने जाते। इस प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव में प्रतिकूल तथा अनुकूल होने से दोषों का नित्यानित्य विभाग बन सकता है और वह व्यञ्जना के अभाव में कैसे सम्भव है?

अनुवाद—कपाली (कपाल धारण करने वाले) शिव के समागम की प्रार्थना से इस समय दोनों (चन्द्रमा की कला तथा पार्वती) शोचनीयता को प्राप्त हो गई।

इत्यादि में 'पिनाकी' आदि पद से विलक्षणता के कारण कपाली आदि पदों की काव्यानुकूलता क्यों है?

प्रभा—व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करना इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि एक ही शब्द के पर्यायवाची पदों में से कहीं किसी पद का प्रयोग काव्यसौन्दर्यवर्द्धक माना जाता है, किसी का नहीं। जैसे कुमारसम्भव के 'द्वयं-कपालिनः' आदि पद्य में 'कपालिन्' शब्द का प्रयोग काव्य के अनुकूल माना जाता है और 'पिनाकिन्' शब्द का नहीं। यहाँ पर कपालिन् तथा पिनाकिन् दोनों शब्दों का अभिधेयार्थ शिव

[४. स्फुट एव भेदः वाच्य-व्यङ्ग्यार्थयोः]

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च- 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यताभिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सान्ध्यो विधि-

है। यदि अभिधेयार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ न माना जाय तो दोनों शब्दों के प्रयोग में समान ही अर्थ निकलता है तब एक पद (कपालिन्) यहाँ पर प्रकरण के अनुकूल है दूसरा (पिनाकिन्) नहीं यह व्यवस्था कैसे बन सकती है ? यह बात तो व्यञ्जना की महिमा से ही सिद्ध होती है। यहाँ पर शिव-निन्दा में तात्पर्य है। 'कपालिन्' (अर्थात् अशुचि, बीभत्स, खप्पर धारण करने वाला) इस शब्द से 'शिवदर्शन' के भी अयोग्य हैं, अतः सर्वथा हेय हैं' यह अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्राप्त होता है, और 'कपालिन्' शब्द शिव के प्रति पार्वती के प्रेम-भाव को निवृत्त करने में समर्थ है। पिनाकिन्' शब्द पिनाकधारी शिव का वाचक है वह वीरता द्योतक है निन्दा-व्यञ्जक नहीं अतः यहाँ प्रकरण के अनुकूल नहीं।

इस प्रकार 'दोषादोष व्यवस्था, नित्यानित्यदोष-व्यवस्था, शब्दों की गुणाभिव्यञ्जकता की व्यवस्था के आधार पर भी वाच्य-वाचक-भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव मानना आवश्यक है। यदि ऐसा न माना जाये तो—

(क) 'रचिं कुरु' आदि में जो अश्लीलता दोष माना जाता है, वह युक्तियुक्त न होगा।

(ख) असाधुत्व आदि नित्य दोष हैं तथा श्रुतिकटुता आदि अनित्य दोष हैं, यह व्यवस्था न बनेगी।

(ग) कपाली, पिनाकी आदि पर्याय शब्दों में भी कोई एक प्रकरण के अनुकूल है, अन्य नहीं, यह नियम न बन सकेगा।

अनुवाद—४. इसके अतिरिक्त (किसी शब्द या वाक्य का) वाच्य-अर्थ समस्त बोद्धाओं के प्रति एक ही होता है इसलिये यह नियत है; जैसे कि 'गतोऽस्तमर्कः' अर्थात् 'सूर्य अस्त हो गया' इत्यादि वाक्य में वाच्यार्थ कहीं भिन्न रूप से नहीं होता (एक रूप ही होता है), किन्तु भिन्न भिन्न प्रकरण के विशिष्ट वक्ता और बोद्धा आदि की सहायता से व्यङ्ग्य अर्थ तो अनेक प्रकार का हो जाता है। जैसे— (यदि राजा सेनापति से कहे—गतोऽस्तमर्कः तो, 'शत्रु के प्रति बलात् आक्रमण का अवसर है'—यह (व्यङ्ग्य अर्थ होता है); (दूती अभिसारिका से कहे तो)— 'तेरा प्रियतम आने को है' (प्राप्तप्रायः)—यह; (श्रमिक परस्पर कहें तो)—'कार्य से निवृत्त होते हैं' यह; (सेवक किसी धार्मिक से कहे तो)—'सन्ध्या-कार्य आरम्भ

रुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति ।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मा ।

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥१३३॥

इत्यादौ संशय-शान्त-शृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण—

कथमवनिप, दर्पो यन्निशातासिधारा-
दलनगलितमूर्ध्ना विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।

कीजिये'—यह; (कोई हितचिन्तक किसी बाहर जाने वाले से कहे तो)—'दूर मत जाना'—यह; (कोई गृहपति गोपाल से कहे तो)—'गायों को घर पहुँचाओ'—यह; (दिन में संतप्त व्यक्ति इष्ट मित्रों से कहे तो)—'अब ताप नहीं है'—यह; (दूकानदार भृत्यों से कहे तो)—'विक्रेय वस्तुओं को एकत्रित करो'—यह; (प्रोषितपतिका किसी से कहे तो)—'आज भी मेरा प्रियतम नहीं आया'—यह; इस प्रकार अनन्त व्यङ्ग्यार्थ भिन्न-भिन्न स्थलों पर (भिन्न-भिन्न वक्ता और श्रोता आदि के अनुसार) प्रतीत होते हैं ।

प्रभा—वाच्य-वाचक-भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव की सिद्धि करके यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों का भेद दिखलाया जा रहा है । प्रथमतः दोनों का भेद यह है कि किसी वाक्य का वाच्यार्थ नियत होता है—सब के लिये एक समान होता है । किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ प्रकरण के अनुसार श्रोता और वक्ता आदि के भेद से बदलता रहता है ।

अनुवाद—[वाच्यव्यङ्ग्ययोः (२) निषेधविध्यात्मना निश्चयरूपेण च स्वरूपस्य, (२) कालस्य, (३) आश्रयस्य, (४) निमित्तस्य, (५) कार्यस्य, (६) संख्यायाः, (७) विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत् क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्याद्—इत्यन्वयः] (स्वरूप भेद) वाच्य और व्यङ्ग्य (इन दोनों) अर्थों में (क) 'निःशेष' इत्यादि में (वाच्य के) निषेध रूप और (व्यङ्ग्य के) विधि रूप (आत्मा = स्वरूप) होने से तथा—(ख) सज्जनवृन्द, आप मात्सर्य (एक के पक्षपात से दूसरे के प्रति असूया) को छोड़कर, विचार करके मर्यादापूर्वक कर्तव्य का (युक्ति सहित) कथन कीजिये कि पर्वतों के नितम्ब (उपत्यकाएं) सेवन योग्य हैं अथवा काम से मुस्कराती हुई रमणियों के ?' ॥१३३॥

इत्यादि में (वाच्यार्थ के) संशयरूप तथा (व्यङ्ग्यार्थ के) शान्त तथा शृङ्गारी (पुरुषों) में किसी एक का निश्चय रूप होने से और (ग)—'हे राजन्' आपको यह अभिमान क्यों है कि तीक्ष्ण असिधारा द्वारा जिनके सिर काट गिराये गये हैं उन शत्रुओं की सम्पत्ति आपने अपना ली है (आत्मसात् कर ली है) ? क्योंकि (ननु-यतः)

ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥१३४॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य,

पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्द-तदेकदेश-तदर्थ-वर्ण-संघटनाश्रयत्वेन च श्राश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहाय-प्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्याया.—

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।
सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हिं ॥१३५॥

(कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥१३५॥)

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं

शत्रुसंहारक भी आपकी प्रिया रूपी कीर्ति इन अङ्गहीन पुरुषों के द्वारा क्या स्वर्ग को नहीं (खींच) ले जाई गई' ॥१३४॥

इत्यादि में (वाच्यार्थ के) निन्दारूप और (व्यङ्ग्यार्थ के) स्तुतिरूप होने से—(१) स्वरूप का भेद होने पर भी।

(२) (वाच्य के) पहले किन्तु (व्यङ्ग्य के) पीछे होने से काल का भेद; (३) (वाच्य के) शब्दाश्रित होने से किन्तु (व्यङ्ग्य के) शब्द, शब्दैकदेश (प्रकृति, प्रत्यय आदि) शब्दार्थ, वर्ण तथा रचना पर आश्रित होने से आश्रय का भेद, (४) (वाच्य का) व्याकरण, कोश आदि शब्दानुशासन के द्वारा बोध (अवगम) होता है तथा (व्यङ्ग्यार्थ का) प्रकरण आदि सहित प्रतिभा की निर्मलता के साथ उस (शब्दानुशासन) के द्वारा बोध होता है, इस प्रकार निमित्त का भेद; (५) (वाच्यार्थ के) 'केवल शब्दार्थ का ज्ञाता है' (बोद्धायं न तु सहृदयः) तथा (व्यङ्ग्यार्थ के,—'यह सहृदय है' (सहृदयोऽयम्) इन व्यवहारों के करने से और (वाच्य के) केवल प्रतीति (अर्थ बोध) और (व्यङ्ग्य के) सहृदयों में (प्रतीति के साथ) चमत्कार भी करने से कार्य का भेद; (६) 'सूर्य अस्त हो गया' इत्यादि में उक्त रीति से संख्या का भेद—तथा (७) 'अपनी प्रिया के अधरोष्ठ को क्षत देखकर किस पुरुष को क्रोध नहीं आता? हे भ्रमर-सहित कमल (पुष्प) को सूंघने वाली, रोकी हुई (वारिता) भी विरुद्धाचरण करने वाली (वामा) स्त्री अब (अपने किये का फल) भोगो' ॥१३५॥

इत्यादि में (वाच्यार्थ के) सुनने वाली सखीविषयक (गत) तथा (व्यङ्ग्यार्थ) के नायक (सा कान्ता यस्य तत्कान्तः) विषयक होने से विषय का भेद—(वाच्य और व्यङ्ग्य में उपर्युक्त सात प्रकार का) भेद होने पर भी यदि वाच्य और व्यङ्ग्य (दोनों) की एकता या अभेद हो सकता है तो वहाँ भी नील-पीत आदि (गुणों

तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च'—इति।

अथवा इन गुणों वाले घटादि) में भेद न होगा। कहा भी है— (दो वस्तुओं में) भेद तथा भेद का हेतु यही है कि (उनमें) विरुद्ध धर्मों की प्रतीति (अध्यास) हो और कारणों का भेद हो।

प्रभा—'वाच्यव्यङ्ग्ययोः—भेदो न स्यात्' इस अवतरण में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ की भिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये अन्य ७ प्रकार के भेदों का निरूपण किया गया है। जो इस प्रकार हैः—

(१) स्वरूप भेद—इसके तीन उदाहरण दिये गये हैं:—(क) 'निःशेष' इत्यादि में वाच्यार्थ (तुम नहीं गई) निषेध रूप है; व्यङ्ग्यर्थ (तुम गई) विधि रूप है। (ख) 'मात्सर्य' इत्यादि में वाच्यार्थ 'किं भूधराणामुत विलासिनीनां नितम्बाः सेव्याः ?' इस प्रश्न में संशय रूप है तथा व्यङ्ग्यार्थ इसके उत्तर रूप में अर्थात् शमप्रधान लोगों को पर्वत-नितम्बों का सेवन करना चाहिये तथा शृङ्गार-प्रिय लोगों को विलासिनी-नितम्बों का'—निश्चय रूप है। (ग) 'कथम् आदि में वाच्यार्थ है 'अङ्गहीन शत्रुओं के द्वारा तुम्हारे जीवित रहते ही आपकी बल्लभा (कीर्ति) का हरण किया जा रहा है अतः गर्व करना अनुचित है'। इससे निन्दा प्रतीत होती है; किन्तु व्यङ्ग्यार्थ—'समस्त शत्रुओं का संहार करने से आपकी कीर्ति स्वर्ग में भी पहुँच गई है,' यह स्तुति रूप है। इस प्रकार वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूप भेद है।

(२) काल-भेद—वाच्यार्थ के पश्चात् ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, यही काल भेद है।

(३) आश्रय-भेद—शब्द से ही वाच्यार्थ की प्रतीति होती है वह ही अभिधा का आश्रय है; 'किन्तु, जैसा ऊपर विवेचन किया जा चुका है, व्यङ्ग्यार्थ का आश्रय तो शब्द, शब्दैकदेश (प्रकृति प्रत्यय आदि), शब्दार्थ, वर्ण तथा रचना आदि भी हैं। उन सभी के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है—यही आश्रयभेद है।

(४) निमित्त-भेद—व्याकरण, कोश आदि जो शब्द की शिक्षा देने वाले (शब्दानुशासन) साधन हैं उनके द्वारा वाच्यार्थ का बोध होता है, वे ही वाच्यार्थ बोध के निमित्त हैं। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति उन सहृदयों को ही होती है, जिन्हें शब्द-बोध के साथ साथ उपर्युक्त प्रकरण तथा वक्तृ-वैशिष्ट्य आदि का ज्ञान है तथा जिनकी प्रतिभा निर्मल है। अतः व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति का निमित्त है—प्रकरणादि सहित प्रतिभा की निर्मलता के साथ शब्दानुशासन ज्ञान। यही निमित्त-भेद है।

(५) कार्य-भेद—वाच्यार्थ का कार्य या प्रभाव भिन्न है तथा व्यङ्ग्यार्थ का भिन्न। यह कार्य-भेद दो प्रकार का है— (क) जिसे वाच्यार्थ का बोध होता है

[५. वाचकत्वव्यञ्जकत्वयोर्भेदः]

वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्। किं च वाणीरकुडङ्गेत्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं

वह तो केवल बोद्धा कहलाता है किन्तु जिसे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वह बोद्धा के साथ साथ सहृदय पद का भी अधिकारी होता है अतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भिन्न भिन्न व्यवहार रूप (व्यपदेश) कार्य के जनक हैं। (ख) वाच्यार्थ से तो केवल प्रतीति होती है चमत्कृति नहीं; किन्तु व्यङ्ग्यार्थ से चमत्कार भी होता है।

अथवा 'व्यपदेश्ययोः ? यह पाठ है तथा एक प्रकार का ही विशिष्ट कार्य-भेद यहाँ दिखाया गया है—'वाच्य के द्वारा व्युत्पन्नमात्र व्यक्ति को केवल प्रतीति होती है तथा व्यङ्ग्य के द्वारा तो विदग्धपदवाच्य (व्यपदेश्य) सहृदय को चमत्कृति होती है।' (प्रदीप)।

(६) संख्या भेद—'गतोऽस्तमर्कः' आदि में वाच्यार्थ तो एक ही है; किन्तु व्यङ्ग्यार्थ भिन्न २ श्रोताओं की दृष्टि से अनेक हैं। यही वाच्य और व्यङ्ग्य की संख्या में भेद है।

(७) विषय-भेद–['कस्य वा' इत्यादि में स्व-प्रिया के उपपति द्वारा दष्टअधर को देखकर क्रुद्ध हो जाने वाले नायक के प्रति अपनी सखी की निरपराधता प्रकट करने के लिये कोई चतुर स्त्री सखी से कहती है] यहाँ 'सखी'—प्रकृत नायिका है, तत्कान्त (सा कान्ता यस्य) से गृहपति तथा नायक का ग्रहण है, 'आदि' शब्द द्वारा 'प्रतिवेशिनी' तथा 'उपपति' इत्यादि का ग्रहण होता है। यहाँ पर सखी (नायिका) को झिड़का जा रहा है अतएव (अविनीतत्वरूप) वाच्यार्थ का विषय सखी (नायिका) है तथा (इसे भ्रमर ने काटा है अन्य किसी ने नहीं) व्यङ्ग्यार्थ का विषय नायक है; इसी 'प्रकार मेरी ऐसी चतुरता है' इस व्यङ्ग्यार्थ का पड़ोसिन विषय है तथा 'इसके विषय में और कोई शङ्का न करनी चाहिये' इस व्यङ्ग्यार्थ का विषय सास आदि है। अतः यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ का विषय-भेद है।

इस प्रकार पूर्वोक्त (वाच्यार्थ सबके के लिये समान होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ वक्ता श्रोता आदि के भेद से भिन्न-भिन्न) भेद सहित कुल ८ प्रकार का वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ का भेद यहाँ दिखलाया गया है।

अनुवाद—[५. वाचक और व्यञ्जक का भेद] वाचकों को (सङ्केतित) अर्थ की अपेक्षा है किन्तु व्यञ्जकों को उस (सङ्केतित) अर्थ की अपेक्षा नहीं, इसलिये वाचकता ही व्यञ्जकता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'वानीर कुञ्ज' इत्यादि पद्य (१३२) में, जहाँ कि प्रतीयमान अर्थ (कुञ्ज-प्रवेश) को व्यक्त करके (अङ्गशिथिलतारूप) वाच्य अपने ही स्वरूप में रह जाता है (आस्वादन का विषय होता है);

स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये ऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ।

वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य (के असुन्दर भेद) में वह व्यङ्ग्य—अर्थ जो तात्पर्य का विषय नहीं तथा (जो) अपने शब्द का अभिधेय नहीं, प्रतीति पथ में अवतरित होता हुआ किस (शब्द) व्यापार का विषय होगा ?

प्रभा—वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ में ही परस्पर भेद नही है अपि तु वाचक और व्यञ्जक भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। बात यह कि वाचक तो उसी अर्थ का बोध कराता है जिसमें उसका सङ्केतग्रहण किया जाता है अतः वाचकता के लिये सङ्केतित अर्थ की अपेक्षा है; किन्तु व्यञ्जकता के लिये ऐसे किसी अर्थ की अपेक्षा नही होती। साथ ही अर्थ भी व्यञ्जक होते है और निरर्थक वर्ण आदि भी व्यञ्जक होते हैं। इसलिये वाचकत्व (=शब्द का अभिधा व्यापार) ही व्यञ्जकत्व (=व्यञ्जना व्यापार) नही है।

वाचकता से व्यञ्जकता सर्वथा भिन्न है; क्योंकि जो अर्थ अभिधावृत्ति तथा तात्पर्य वृत्ति का भी विषय नही उसकी प्रतीति किस शब्द-व्यापार से होगी ? उदाहरणार्थ वानीरकुञ्ज इत्यादि (१३२ उदाहरण) में व्यङ्ग्यार्थ (कुञ्ज-प्रवेश) गौण है तथा वाच्यार्थ (अङ्गशिथिलता) व्यङ्ग्य की अपेक्षा विशेष चमत्कारक है)। यह पद्य असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ वाच्यार्थ ही तात्पर्य का विषय है; अतः व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यभूत तो हो ही नही सकता। यह अभिधेय भी नहीं है; क्योंकि मीमांसा के 'यत्परः इत्यादि' न्याय के अनुसार तो जो विधेय (तात्पर्य का विषय) है, वही अभिधेय है; अतएव ऐसे व्यङ्ग्य की प्रतीति-हेतु अभिधा और तात्पर्यवृत्ति से भिन्न कोई शब्द-व्यापार अवश्य मानना पड़ेगा। वही व्यञ्जना वृत्ति है।

इसप्रकार यहाँ वाचकत्व (अभिधा) और व्यञ्जकत्व (व्यञ्जना) के दो भेद दिखलाये गये हैं—(१) वाचक शब्दों को सङ्केतित अर्थ की अपेक्षा होती है, व्यञ्जक को नही। अतः अभिधा और व्यञ्जना दोनो शब्द के अलग-अलग व्यापार हैं। (२) असुन्दर नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य में जो व्यङ्ग्य अर्थ होता है, वह तात्पर्य का विषय नही होता, इसीलिये किसी प्रकार भी अभिधा का विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार अभिधा से भिन्न व्यञ्जना की स्वीकृति अनिवार्य है।

इति शब्द वाच्य-व्यङ्ग्य, वाचक-व्यञ्जक तथा वाचकत्व-व्यञ्जकत्व के भेद-प्रकरण की समाप्ति का सूचक है।

[६. व्यङ्ग्यार्थो लक्षणावृत्तिबोध्योऽपि न भवति]

ननु—'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति,

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति।

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

उच्यते, लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नि-

व्यङ्ग्यार्थ लक्षणा का विषय नहीं

अनुवाद—६. [व्यङ्ग्यार्थ लक्षणा का विषय ही है, यह शङ्का होती है] (क) 'मैं राम हूँ सब कुछ सहन करता हूँ' (ख) 'हे प्रिये सीते'; जिसे अपना जीवन प्रिय है ऐसे राम ने तो प्रेम के अनुकूल नहीं किया' (ग) यह राम अपने पराक्रम के गुणों से समस्त भुवनों में परम ख्याति को प्राप्त कर चुके हैं'। इत्यादि (उदाहरणों) में (राम का) लक्ष्यार्थ भी नाना [(क) सकलदुःख पात्र (ख) निष्करुण (ग) खर-दूषण निहन्ता] हो जाता है, यह (लक्ष्यार्थ) (अर्थान्तरसंक्रमित आदि) विशेष व्यवहार का विषय होता है और उस (लक्ष्य) का बोध भी शब्द तथा अर्थ के अधीन होता है एवं प्रकरण (वक्तृ, बोद्धृ आदि) आदि सापेक्ष भी होता है। तब यह प्रतीयमान अर्थात् व्यङ्ग्य नामक अर्थ कौनसा है ? (उसका क्या प्रयोजन ?)

प्रभा—जो नैयायिक आदि अभिधा से भिन्न लक्षणा को तो मानते हैं; किन्तु व्यञ्जना को नहीं स्वीकार करते उनकी ओर से यह शङ्का होती है कि—जिस प्रकार एक ही शब्द के नाना व्यङ्ग्यार्थ होते हैं वह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि आदि व्यवहार का कारण होता है तथा प्रकरण एवं वक्तृवैशिष्ट्यादि की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार के धर्म लक्ष्य अर्थों में भी देखे जाते हैं। जैसे—(i) उपर्युक्त रामोऽस्मि आदि वाक्यों में राम शब्द के तीन विभिन्न लक्ष्य अर्थ हैं। (ii) अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य आदि जो विशेषव्यपदेश हैं, उनमें लक्ष्यार्थ भी हेतु होता ही है। (iii) लक्ष्यार्थ की प्रतीति शब्द के द्वारा होती है अतः यह शब्दाधीन है तथा मुख्यार्थ-बाध आदि इसके हेतु हैं और उनमें मुख्यार्थ का ज्ञान आवश्यक है अतएव यह अर्थाधीन भी है अर्थात् जिस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है इसी प्रकार लक्ष्यार्थ की भी। (iv) व्यङ्ग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ का भी प्रकरण, तात्पर्यानुपपत्ति तथा वक्तृवैशिष्ट्य आदि के आधार पर बोध हुआ करता है। जब लक्ष्यार्थ में व्यङ्ग्य की प्रायः सभी बातें हैं तो व्यङ्ग्य भी लक्ष्य के अन्तर्गत है और लक्षणा से उसकी प्रतीति हो सकती है, फिर व्यङ्ग्य नामक अर्थ या व्यञ्जना की पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है ? पूर्व पक्षी का यह अभिप्राय है।

अनुवाद—(उत्तर) बतलाया जाता है—(१) लक्षणीय अर्थ की अनेकता होने पर भी यह नाना अर्थ वाले (सैन्धव आदि) शब्दों के वाच्य-अर्थ के समान-

यतत्वमेव, न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविषयवशेन नियतसम्बन्धः, अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

न च

> अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
> मा पहिअ, रत्तिअन्धअ, सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥१३६॥
> (श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राऽहं दिवसके प्रलोकय।
> मा पथिक, रात्र्यन्धक, शय्यायामावयोर्निमंक्ष्यसि ॥१३६॥)

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः तत्कथमत्र लक्षणा? लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम्।

यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा, अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः। न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मक-

---

नियत (नियत सम्बन्ध वाला) ही है; क्योंकि मुख्य-अर्थ से जिसका (सामीप्य-सादृश्यादि) नियत सम्बन्ध नहीं वह लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता। किन्तु प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ तो प्रकरण आदि विशेष के कारण नियत सम्बन्ध वाला भी प्रकट होता है, जिसका कोई नियत सम्बन्ध नहीं ऐसा भी तथा जिसका सम्बद्ध से सम्बन्ध है ऐसा भी अभिव्यक्त होता है।

(२) और 'श्वश्रू' इत्यादि (उदाहरण २३) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में मुख्यार्थबाध नहीं होता तो यहां लक्षणा कैसे? (३) लक्षणा में भी (प्रयोजन-प्रतीति के लिए) व्यञ्जना का अवश्य आश्रय लेना पड़ता है यह (द्वितीय उल्लास 'यस्य प्रतीतिमाधातुम् आदि में) प्रतिपादित किया जा चुका है। (४) और जिस प्रकार अभिधा सङ्केत-सापेक्ष है इसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाध आदि तीन प्रकार के सङ्केत-विशेष की अपेक्षा रखती है। इसीलिये वह (लक्षणा) अभिधा की पुच्छरूप (पूँछ के समान अर्थात् पीछे चलने वाली) है ऐसा कहते हैं।

(५) व्यञ्जन-व्यापार लक्षणात्मक ही नहीं है; क्योंकि उस (लक्षणा) के पश्चात् इस (व्यञ्जना) की (प्रवृत्ति) देखी जाती है। यह सर्वत्र लक्षणानुगत ही नहीं होता; क्योंकि अभिधा के आधार पर भी (अनेकार्थक शब्दों की व्यञ्जना के स्थल पर—'भद्रात्मनः' १२ आदि में) यह विद्यमान रहता है। यह इन दोनों (अभिधा और लक्षणा) का (नियम से) अनुसरण करने वाला ही नहीं है; क्योंकि जो (किसी अर्थ के) वाचक नहीं ऐसे (व्यञ्जक) वर्ण आदि के आधार पर भी यह देखा जाता है। यह शब्द का अनुसरण करने वाला ही नहीं है; क्योंकि शब्द से भिन्न जो नेत्र-

नेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः। इति, अभिधातात्पर्य-लक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपलपनीय एव।

तत्र अत्ता एत्थ इत्यादौ नियतसम्बन्धः। 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्यादावनियतसम्बन्धः।

कटाक्ष (त्रिभाग) द्वारा अवलोकन आदि हैं तद्गत भी व्यञ्जनाव्यापार प्रसिद्ध है। अतएव अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा रूप तीनों (शब्द) व्यापारों के अतिरिक्त ध्वनन (व्यञ्जना) आदि हैं पर्यायवाची जिसके ऐसे शब्द-व्यापार का अपलाप नहीं किया जा सकता।

प्रभा—व्यङ्ग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ लक्ष्यार्थ से भिन्न है' यह सिद्ध करते हुए ग्रन्थकार 'उच्यते' आदि अवतरण द्वारा पूर्वपक्षी की शङ्का का समाधान करते हैं। लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ को भिन्न २ मानने में निम्न हेतु हैं—

(१) यद्यपि एक शब्द के अनेक लक्ष्यार्थ भी हो सकते हैं तथापि वे नियत ही होते हैं किसी 'समीप्य आदि' नियत सम्बन्ध के आधार पर ही लक्ष्यार्थ का बोध होता है उसके बिना नहीं, क्योंकि मुख्यार्थ से सम्बद्ध (तद्योगे) अर्थ में ही लक्षणा होती है। किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकरण आदि के आधार पर मुख्यार्थ से सम्बन्ध होता भी है तो वह सदा नियत सम्बन्ध ही नहीं होता, क्योंकि (जैसे कि १३७ आदि अग्रिम उदाहरणों से स्पष्ट होगा) कभी यह सम्बन्ध अनियत होता है, कभी साक्षात् सम्बन्ध न होकर परम्परा से ही होता है।

(२) मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा होती है; किन्तु 'अत्ता' (श्वश्रू) इत्यादि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के उदाहरण में मुख्यार्थ बाध नहीं, फिर यहाँ जो व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है, उसमें लक्षणा कैसे हो सकती है व्यञ्जना तो होती ही है; क्योंकि यह बिना मुख्यार्थ-बाध के भी हो जाती है।

(३) लक्षणा में भी प्रयोजन की प्रतिति के लिये व्यञ्जना का सहारा लेना पड़ता है।

(४ जिस प्रकार अभिधा सङ्केत पर निर्भर है इसी प्रकार लक्षणा मुख्यार्थ बाध आदि तीन प्रकार के समयों (Condition) पर निर्भर है।

(५) व्यञ्जना व्यापार लक्षणा से नितान्त भिन्न है, क्योंकि (क) लक्ष्यार्थ के बाद, (ख) लक्षणा के बिना भी अभिधा के आधार पर, (ग) लक्षणा और अभिधा दोनों के बिना भी अवाचक वर्णों के द्वारा तथा (घ) शब्द के बिना भी कटाक्ष आदि से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। इस प्रकार व्यञ्जना लक्षणा से सर्वथा पृथक् शब्दवृत्ति है।

अनुवाद—उन (नियत-सम्बन्ध आदि व्यङ्ग्यों) में 'अत्ता' (श्वश्रू) इत्यादि में नियत सम्बन्ध वाला (व्यङ्ग्य) है। 'कस्स वा न' (११५ उदाहरण) इत्यादि में अनियत सम्बन्ध वाला (व्यङ्ग्य) है तथा—

विपरीअरए लच्छी बम्हं दठ्ठूण णाहिकमलट्ठं।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥१३७॥
(विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥१३७॥)

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते। तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनं, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवनविलसितमिति।

[७. ब्रह्मवादिभिरपि व्यञ्जनाऽङ्गीकार्या]

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम् इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव।

'विपरीत रति के अवसर पर (विष्णु के) नाभि-कमल में स्थित ब्रह्मा को देख कर लक्ष्मी सुरताकुल होकर विष्णु के दक्षिण नेत्र को ढक लेती है' ॥१३७॥

इत्यादि में (व्यङ्ग्यार्थ) सम्बद्धसम्बन्ध है (अर्थात् वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ के साथ व्यङ्ग्य का साक्षात् सम्बन्ध है तथा वाच्यार्थ के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है); क्योंकि यहाँ 'हरि' पद से दक्षिण-नेत्र का सूर्य-रूप होना व्यञ्जना द्वारा जाना जाता है; (सूर्य-चन्द्र विष्णु के दक्षिण तथा वाम नेत्र के रूप में पुराणों में प्रसिद्ध हैं)। उसके मूँदने से सूर्यास्त होना (व्यङ्ग्य है), उससे कमल मुँदना तथा उस (पद्मसङ्कोच) से ब्रह्मा का ढक जाना व्यङ्ग्य है, ब्रह्मा के तिरोहित हो जाने पर (तत्र सति) गोपनीय अङ्गों के दिखाई न देने के कारण अबाध रूप से सुरत (निधुवन)—विलास व्यङ्ग्य है (व्यज्यते)।

प्रभा—इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध-परम्परा के आधार पर प्रतीति-परम्परा होती है, अतः व्यङ्ग्य सम्बद्धसम्बन्ध है।

अनुवाद–७. जो (वेदान्ती) यह कहते हैं कि—'अखण्ड (क्रिया कारक आदि विभाग का बोध न करने वाली) बुद्धि (ज्ञान Cognition) के द्वारा ग्रहण किया जाने योग्य वाक्य का अर्थ ही वाच्य है तथा (अखण्ड) वाक्य ही वाचक है (अतः व्यङ्ग्यार्थ में भी वाक्य की शक्ति है)। अविद्या के चरणों में पतित अर्थात् संसार दशा में अविद्याकृत व्यवहार का आलम्बन करने वाले (अविद्यापद' पाठान्तर है) उन लोगों को भी पद तथा पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ेगी अतः उनके मत से भी उपर्युक्त (निःशेष० इत्यादि उदाहरण में) विधि (तुम उस अधम के पास ही गई) आदि व्यङ्ग्य ही है।

प्रभा—ब्रह्मवादी वेदान्तियों का सिद्धान्त है—कि वाक्य अखण्ड है उसमें क्रिया-कारक आदि का विभाग नहीं हो सकता, क्योंकि क्रियाकारक-भाव तो धर्म-धर्मिभाव के आश्रित है और संसार मिथ्या है; अतः इसमें धर्मधर्मिभाव कैसे बन सकता है ? ब्रह्म निर्गुण है अतः उसमें भी धर्मधर्मिभाव सम्भव नहीं। इसलिये,

[८. नानुमानादपि व्यङ्ग्यप्रतीतिः]

ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिद्-

पद-पदार्थ-विभाग से शून्य वाक्य अखण्ड ही है। उसका अर्थ-ग्रहण भी अखण्डरूप में ही होता है; अर्थात् वाक्यार्थ-बोध में बुद्धि क्रिया-कारकादि-भाव को ग्रहण नहीं करती; अपि तु एकरस अखण्ड वाक्यार्थ का ग्रहण करती है। इस प्रकार वाक्य ही वाचक है और वाक्यार्थ ही वाच्य है तथा व्यङ्ग्य अर्थ का भी वाक्य द्वारा ही बोध हो सकता है।

उनको उत्तर देते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि इस मायामय संसार में आकर जैसे उन लोगों ने अनेक भेद-प्रभेदों की कल्पना की है, पारमार्थिक ब्रह्म के अतिरिक्त व्यावहारिक सत्य को भी स्वीकार किया है। इसी प्रकार उन्हें परमार्थतः अखण्ड वाक्य में भी पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ेगी।

इस प्रकार की (अभिधाकृत) कल्पना के बिना तो अखण्ड अर्थ के साथ अखण्ड वाक्य का वाच्य-वाचक-भाव भी नहीं बन सकता; क्योंकि परमार्थतः तो वाचक और वाच्य में भेद नहीं। इसलिये व्यवहार दशा में (=अविद्यापदपतितैः) वेदान्तियों को भी उपर्युक्त व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार कुछ (प्रदीप, सारबोधिनी, बालबोधिनी) टीकाओं के अनुसार यहाँ वेदान्तियों के मत की आलोचना की गई है। दूसरी (प्रभा आदि) टीकाओं के अनुसार यहाँ शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणों की आलोचना है। भर्तृहरि की स्थापना है कि अखण्ड वाक्यस्फोट ही परमार्थतः सत्य है, पद, वर्ण आदि तो कल्पित ही हैं। केवल प्रक्रिया दशा में (अविद्यापदपतितैः=असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, वाक्यपदीय) ही वैयाकरणों ने पद-पदार्थ आदि के विभाग को स्वीकार किया है। मम्मट का कथन है कि प्रक्रिया दशा में वैयाकरणों को व्यङ्ग्य अर्थ तथा व्यञ्जनावृत्ति को भी स्वीकार करना होगा।

वस्तुतः वेदान्ती और वैयाकरण दोनों ने अखण्डवाक्य का सिद्धान्त माना है। यहाँ मम्मट ने दोनों के मतों की ही समान रूप से आलोचना की है।

टिप्पणी—ध्वन्यालोकलोचन के अनुशीलन से यह विदित होता है कि यहाँ वैयाकरणों की आलोचना की गई है—येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया (ध्वन्यालोकलोचन १·४)। किन्तु नवीन वैयाकरणों ने तो व्यञ्जना का विशद विवेचन किया है और उसमें प्राचीनों की उक्तियों को आधार रूप में प्रस्तुत भी किया है (द्र०, लघुमञ्जूषा)। अतः तथ्य यह है कि साहित्यशास्त्र के समान व्याकरण शास्त्र में भी व्यञ्जनावृत्ति का स्पष्ट विवेचन अर्वाचीन युग की देन है।

अनुवाद—[व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट का मत-ननु'''व्याप्तकविरोध सङ्गिनः] वाच्य-अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ की तो प्रतीति नहीं होती; यहाँ

र्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गाद् । एवं च सम्बन्धात् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति । तथा हि—

भम घम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥१३८॥
(भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥१३८॥

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

(यदि असम्बद्ध की प्रतीति होवे) तो जिस किसी शब्द से भी जिस किसी अर्थ की प्रतीति होने लगे । और, इसप्रकार (किसी) सम्बन्ध से होने वाला जो व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव है वह नियतसम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति के न होने पर (अप्रतिबन्धे) नियम से न होगा; इसलिये सपक्ष में होना (व्याप्तत्व=सपक्षसत्त्व), विपक्ष में न होना (नियतत्व=विपक्षासत्त्व) तथा पक्ष में होना (धर्मी=पक्ष, धर्मिनिष्ठत्व=पक्षसत्त्व) इस त्रिरूप लिङ्ग (हेतु) से लिङ्गी (साध्य) का ज्ञानरूप जो अनुमान है, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव भी उस अनुमेयानुमापकभाव (तद्रूपः—अनुमित्यात्मकः) रूप में ही पर्यवसित (परिणत) हो जाता है । जैसे कि—'हे धार्मिक, अब निश्चिन्त होकर भ्रमण करो; क्योंकि गोदावरी नदी के कछार के कुञ्जों में रहने वाले दर्पयुक्त सिंह ने उस कुत्ते को आज मार दिया है' ॥१३८॥

(सङ्केतस्थान की ओर पुष्पचयनार्थ जाने वाले किसी धार्मिक के प्रति एक अभिसारिका की) इस (उक्ति) में कुत्ते के समाप्त हो जाने से घर में विचरण का विधान किया गया है, जो सिंह की स्थिति के ज्ञान द्वारा गोदावरी-तीर पर भ्रमण निषेध का अनुमान कराता है—(व्याप्ति का स्वरूप है) जो (जहाँ) भीरु का भ्रमण है उसके पूर्व (नियम से) भय-कारण के अभाव का ज्ञान होता है और गोदावरी के तीर पर सिंह की उपस्थिति का ज्ञान है—इस प्रकार (भीरुभ्रमण के) व्यापक (भयकारणानुपलब्धि=भयकारण के अभाव का ज्ञान) के विरुद्ध (सिंहरूप भयकारण) की उपलब्धि हो रही है ।

प्रभा – अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः उसकी प्रतीति के लिये व्यञ्जना नामक वृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है—यह सिद्ध हो जाने पर भी 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के निर्माता महिमभट्ट व्यञ्जना-वृत्ति का विरोध करते हुए कहते हैं कि अनुमान द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है; क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से नितान्त असम्बद्ध तो होता नहीं, यदि ऐसा होता तो किसी भी शब्द से किसी अर्थ की व्यञ्जना होने लगती । इसलिये

वाच्य और व्यङ्ग्य में सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध से व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव बनता है। यह सम्बन्ध भी नियत सम्बन्ध है—जिसे व्याप्ति या प्रतिबन्ध कहते हैं। उस सम्बन्ध के नियमित होने के कारण ही सहृदयों को नियमतः व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है। अतः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव वस्तुतः अनुमाप्यानुमापक रूप है और व्यङ्ग्य प्रतीति अनुमिति ही है। कैसे ? 'त्रिरूपात् लिङ्गात् लिङ्गिज्ञानम् अनुमानम्' अर्थात् त्रिरूप हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान ही अनुमान है। लिङ्ग की त्रिरूपता का अभिप्राय है—पक्ष में होना (पक्षसत्त्व), सपक्ष में होना (सपक्षसत्त्व) और विपक्ष में न होना (विपक्षासत्त्व)। उदाहरणार्थ धूम अग्नि का लिङ्ग या ज्ञापक है और 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर्वत में वह्नि साध्य (लिङ्गी), है। यहाँ धूम पर्वत रूप पक्ष में विद्यमान है, पाकशाला रूप सपक्ष में विद्यमान है किन्तु सरोवर रूप विपक्ष में नहीं है। अतएव यह धूम लक्षणत्रयसम्पन्न लिङ्ग है। प्रकृत में 'व्यञ्जक' ही हेतु या लिङ्ग है तथा 'व्यङ्ग्य' साध्य या लिङ्गी है। यहाँ भी व्यञ्जक रूप लिङ्ग में व्याप्तत्व (सपक्षसत्त्व) है अर्थात् प्रसिद्ध व्यङ्ग्यार्थों के स्थल में व्यञ्जक अवश्य रहता है। इसमें नियतत्व (विपक्षासत्त्व) है अर्थात् वाच्य आदि स्थलों में व्यञ्जक नहीं होता और इसमें धर्मिनिष्ठत्व (पक्षसत्त्व या पक्षवृत्तित्त्व) भी है अर्थात् जिज्ञासित व्यङ्ग्य स्थल में भी व्यञ्जक विद्यमान है। अतएव व्यञ्जक द्वारा व्यङ्ग्य की प्रतीति अनुमान ही है। व्यङ्ग्य के एक प्रसिद्ध उदाहरण में ही देखिये—

'भ्रम धार्मिक' इत्यादि में सिंहकृतश्वनिवृत्ति से गृह-भ्रमण का विधान' रूप वाच्यार्थ ही व्यञ्जक है। इसके द्वारा इस प्रकार व्याप्तिग्रहण होता है—यद्यद् भीरुभ्रमणं तत्तद् भयकारणाभावज्ञानपूर्वकम्'। किन्तु गोदावरी के तट पर सिंह की उपलब्धि है अतः यहाँ भीरु-भ्रमण का निषेध (व्यङ्ग्य) है; क्योंकि भीरुभ्रमण (प्रतिषेध्य) के व्यापक भयकारणानुपलब्धि के विरुद्ध सिंह की उपलब्धि हो रही है। अतः अनुमान का स्वरूप यह होता है—गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यम् भयकारण-सिंहोपलब्धेः (यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्)।

जिस प्रकार यहाँ अनुमान द्वारा व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है इसी प्रकार रस आदि की अभिव्यक्ति भी अनुमान द्वारा ही हो सकती है अतः व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना निरर्थक है—यह भाव है।

टिप्पणी—(i) व्यक्तिविवेककार का मत संक्षेप में निम्न प्रकार है—

> अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
> व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।

तथा—वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
> सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥

वाच्यार्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
> सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता ॥

यदपि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति। विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते।

अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंह-सद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात्, न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

(ii) काव्यप्रकाश में यहाँ पर लिङ्ग तथा व्याप्ति आदि का वर्णन बौद्धन्याय के अनुसार किया गया है – अनुमान द्विधा, स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्। ...... । त्रैरूप्यं पुनः लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्।......व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति। (न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद)

अनुवाद—(महिमभट्ट के मत का खण्डन) इस पर कहते हैं—(क) भीरु पुरुष भी गुरु अथवा स्वामी की आज्ञा से या प्रिया के अनुराग तथा ऐसे ही किसी अन्य हेतु से भय का कारण होने पर भी (भय के स्थान पर) घमता है! इसलिये (उपर्युक्त) हेतु अनैकान्तिक है। (ख) कुत्ते (के स्पर्श) से डरता हुआ भी (कोई पुरुष) वीरता के कारण सिंह से नहीं डरता, इसलिये यह (हेतु) विरुद्ध भी है। (ग) तथा गोदावरी-तट पर सिंह की विद्यमानता प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा तो निश्चित की नहीं गई किन्तु केवल वचन से ही और अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध न होने के कारण (इस) वचन की प्रामाणिकता नहीं है, इसलिये (हेतु) असिद्ध भी है। तब इस प्रकार के (अनैकान्तिकतादिदोषयुक्त) हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

प्रभा—महिम-भट्ट के अनुसार यह अनुमान का स्वरूप बनता है—'गोदावरीतीरं (श्व) भीरुभ्रमणायोग्यं भयकारणसिंहोपलब्धेः' अर्थात् गोदावरी तट भीरुभ्रमण के अयोग्य है, क्योंकि वहाँ भय के निमित्तभूत सिंह की उपलब्धि होती है। यहाँ पर 'भयकारणसिंहोपलब्धि' हेतु है और 'श्वभीरुभ्रमणायोग्यत्व' साध्य है। आचार्य मम्मट का कथन है कि यह हेतु सद्-हेतु नहीं अपि तु असद्-हेतु है—हेत्वाभास है; अतएव इससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यह असद्-हेतु कैसे है ? बात यह है कि 'कुत्ते से डरने वाले-(श्वभीरु) के लिये गोदावरी-तट भ्रमण-योग्य नहीं' यहाँ प्रश्न यह है कि (i) वह स्वभाव से ही भीरु है या (ii) स्वभाव से वीर है या (iii) सामान्य स्वभाव वाला है। प्रथम पक्ष में तो महिम-भट्ट का हेतु सव्यभिचार (व्यभिचारी या अनैकान्तिक) है; क्योंकि स्वामी या गुरु के आदेश आदि से भीरु स्वभाव वाले व्यक्ति का भी भय के स्थानों पर भ्रमण देखा जाता है। तृतीय पक्ष (सामान्य स्वभाव) में भी यही दोष है। द्वितीय पक्ष में हेतु विरुद्ध है, क्योंकि कुत्ते

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्। एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम्।

के स्पर्श से डरने वाला भी यदि वीर है तो सिंहयुक्त देश में चला जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर भयकारण सिंह की उपलब्धि (हेतु) असिद्ध भी है; क्योंकि गोदावरी तट पर सिंह का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान आदि द्वारा नहीं हुआ; अपि तु (एक कुलटा के) वचन द्वारा हुआ है जो प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सिंहोपलब्धि रूप हेतु का पक्ष में होना निश्चित नहीं है तथा यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है (स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नैवावगम्यते—तर्कभाषा) जब यह हेतु ही दुष्ट है तो इससे साध्यसिद्धि कैसे हो सकती है ? अतः यहाँ पर भ्रमण-निषेध रूप व्यङ्ग्यार्थ अनुमान का विषय नहीं हो सकता।

अनुवाद—इसी प्रकार 'निःशेषच्युत' इत्यादि में जो 'चन्दन-छूटना' आदि सम्भोग के ज्ञापक के रूप में कहे गये हैं, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं, इसीलिये 'निःशेषच्युत' इत्यादि (श्लोक) में ही (अत्रैव) इन (चन्दन छूटना आदि) को स्नान का कार्य कहा गया है; अतएव सम्भोग के साथ ही इनका नियत सम्बन्ध नहीं है तथा ये अनैकान्तिक हैं।

व्यञ्जनावादी ने तो जिनका सहायक अधम पद है ऐसे इन (चन्दनच्यवन आदि) पदों की व्यञ्जकता बतलाई है। यहाँ पर अधमता प्रमाणों से तो अवधारित है नहीं; इसलिये (अधमता के पक्षधर्मता सन्देह के कारण) अनुमान कैसे हो सकता है। व्याप्ति आदि (उपपत्ति) की अपेक्षा किये बिना ही 'इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का अर्थ प्रकट हो जाता है'—इस मत को मानने वाले (इति) व्यञ्जनावादी के मत में तो यह कोई दोष ही नहीं।

प्रभा—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि ध्वनिकारोक्त उदाहरण में महिमभट्ट ने अनुमान दिखलाया था उसका खण्डन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर आचार्य मम्मट स्वकीय उदाहरण 'निःशेषच्युत' इत्यादि में भी अनुमान का निराकरण करते हैं तथा वह ध्वनि का स्थल ही है यह सिद्ध करते हैं। भाव यह है कि अनुमितिवादी 'निःशेष' आदि स्थल में 'चन्दन-च्यवन' आदि को उपभोग का गमक या अनुमापक बतलाते हैं। किन्तु चन्दन छूटना आदि तो स्नान आदि के द्वारा भी हो सकता है। अतः 'चन्दन-च्यवन' का 'उपभोग के साथ नियतसम्बन्ध (प्रतिबन्ध या व्याप्ति) नहीं, फिर इससे उपभोग की अनुमिति कैसे हो सकती है ? 'चन्दन-च्यवनादि' हेतु सव्यभिचार है—असद् हेतु है; अतः उससे साध्यसिद्धि नहीं हो सकती।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेद—निर्णयो नाम पञ्चम उल्लासः ॥५॥

'चन्दनच्यवनादि' के द्वारा उसके समीप गमन' (उपभोग) रूप अर्थ की व्यञ्जना तो 'अधम' पद की सहायता से हो जाती है। यदि अनुमितिवादी कहे कि अधम पद की सहायता से ही अनुमिति भी हो जायेगी तो यह कहना उचित नहीं। बात यह है कि यहाँ पर नायक की 'अधमता' का ज्ञान किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से नहीं हुआ, केवल कोपाकुलिता नायिका का यह कथन है; अतएव 'अधमता' का निश्चय नही और 'नायक मे अधमता है या नहीं' इस प्रकार का पक्षधर्मता का सन्देह ही हो सकता है अत. यहाँ सन्दिग्धासिद्ध है और अनुमान नही हो सकता। किन्तु व्यञ्जना मे किसी व्याप्ति आदि की आवश्यकता है ही नहीं; वहाँ तो सहृदयों का यह अनुभव ही व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति करा देता है कि 'ऐसे व्यञ्जक से ऐसे अर्थ की व्यञ्जना हो जाया करती है' इस प्रकार सम्भावना मात्र से ही व्यङ्ग्य-प्रतीति हो जाती है, और व्यञ्जनावादी के मत में कोई दोष नहीं आता।

टिप्पणी—व्यङ्ग्यार्थ की अनुमिति मानने वाला वाद ध्वनिकार से पूर्व भी प्रचलित था, महिमभट्ट इस अनुमितिवाद के विशेष समर्थक रहे अतएव काव्य-प्रकाश के टीकाकारों ने विशेषतः महिम-भट्ट का ही नाम लिया है। आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त दोनों ने ही अनुमितिवाद की शङ्का का समाधान किया है—

'श्रुयात् अस्त्यतिसन्धानावसरः। व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वम् अतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गिभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भावो नापर कश्चित्······। न पुनरयं परमार्थो यद् व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र, व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति। (ध्वन्यालोक ३–३३)

इस प्रकार काव्यप्रकाश में 'ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्य-सङ्कीर्णभेदनिर्णय' नामक यह पञ्चम उल्लास समाप्त होता है।

इति पञ्चम उल्लासः

अथ षष्ठ उल्लासः

[शब्दार्थचित्रनिरूपणात्मकः]

(७०) शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे वा शब्दस्य ।

इस षष्ठ उल्लास में चित्र काव्य के भेदों का विवेचन किया जा रहा है।

अनुवाद—शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र नामक जो (अधम) काव्य के दो प्रकार ऊपर (प्रथम उल्लास में) उदाहरणपूर्वक ('स्वच्छन्द०' तथा विनिर्गत०) कहे गये हैं, उनमें चित्र-शब्द (fanciful word) तथा चित्र-अर्थ fanciful meaning) दोनों की प्रधान तथा अप्रधान रूप से स्थिति होती है।

ऐसा नहीं है कि शब्द-चित्र में अर्थ का वैचित्र्य नहीं होता अथवा अर्थ-चित्र में शब्द का वैचित्र्य नहीं होता।

प्रभा—चित्र-काव्य के शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र ये दो भेद किस आधार पर किये गये हैं, इसका विवेचन प्रस्तुत कारिका में किया जा रहा है। यद्यपि प्रथम उल्लास में जो शब्द-चित्र का उदाहरण ('स्वच्छन्द' इत्यादि) दिया गया है उसमें गङ्गा की अन्य नदी से उत्कृष्टता प्रकट होती है अतः व्यतिरेकालङ्कार के रूप में अर्थ-वैचित्र्य विद्यमान है। इसी प्रकार अर्थ-चित्र के उदाहरण (विनिर्गत इत्यादि) में भी 'मानदमात्ममन्दिरात्' यहाँ पर 'म' वर्ण की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास शब्दालङ्कार होने के कारण शब्द-वैचित्र्य है ही; तथापि शब्द-चित्र के उदाहरण में शब्द-वैचित्र्य की प्रधानता है और अर्थ-वैचित्र्य गौण है। इसी प्रकार अर्थ-चित्र के उदाहरण में अर्थ-वैचित्र्य की प्रधानता है और शब्द-वैचित्र्य गौण है। इसी हेतु इन्हें क्रमशः शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र कहा जाता है।

भाव यह है कि यद्यपि शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र दोनों के उदाहरणों में ही शब्द-वैचित्र्य तथा अर्थ-वैचित्र्य दोनों ही रहा करते हैं तथापि जिसकी प्रधानता होती है उसी के आधार पर नामकरण किया जाता है (प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति); अतः जहाँ शब्दगत चमत्कार अर्थ-वैचित्र्य से बढ़कर होता है उसे शब्द-चित्र कहते हैं तथा जहाँ अर्थगत चमत्कार शब्द-वैचित्र्य से बढ़कर होता है उसे अर्थ-चित्र कहते हैं। किसी स्थल पर शब्द-वैचित्र्य की प्रधानता है या अर्थ-वैचित्र्य की, इस विषय में कवि की विवक्षा ही निर्णायक है और कवि के संरम्भ (उद्यम) विशेष से ही कवि-विवक्षा का ज्ञान हुआ करता है अर्थात् कवि पद की समाधि [illegible] की रचना के लिये विशेष प्रयास करता हुआ दृष्टिगोचर

तथा चोक्तम्—

"रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥" इति॥

होता है उसी में कवि-विवक्षा है, वही प्रधान है तथा उसी के आधार पर काव्य का नामकरण होता है अतएव उत्कट चमत्कारजनकता ही नामकरण का आधार है। यदि कहीं दोनों (शब्द और अर्थ) चमत्कारजनक हैं तो इनके सङ्कर-संसृष्टि आदि भी होते हैं।

अनुवाद—जैसे (दोनों की चमत्कार-जनकता के विषय में भामह ने) कहा भी है—(१) किन्हीं आलङ्कारिकों ने कहा है कि अनेक प्रकार का रूपक आदि (अर्थालङ्कार) ही उस (काव्य) का अलङ्कार (शोभावर्द्धक) है, क्योंकि स्त्री का सुन्दर मुख भी बिना आभूषण के शोभायमान नहीं होता। (२) दूसरे आलङ्कारिक (परे) रूपक आदि (अलङ्कार) को बाह्य (बाहरी, बहिरङ्ग, काव्यार्थ-प्रतीति के पश्चात् प्रतीत होने वाले) कहते हैं तथा सुबन्त और तिङन्त पदों के विशिष्ट-विन्यास रूप (व्युत्पत्ति) शब्दालङ्कार (वाचाम् अलङ्कृति) को (अधिक) वाञ्छनीय समझते हैं; क्योंकि इसको ही वे शोभनशब्दयुक्त काव्य की शोभा (शोभनशब्दस्य काव्यस्य शोभनत्वं=सौशब्द्य) कहते हैं, अर्थ का विशिष्ट-विन्यास रूप अर्थालङ्कार ऐसा (चमत्कार या शोभावर्द्धक) नहीं। (३) हमें तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के भेद से दोनों ही (काव्य के अलङ्कार हैं यह) अभीष्ट है।

प्रभा—शब्द-वैचित्र्य तथा अर्थ-वैचित्र्य दोनों ही चमत्कारजनक हैं। इस कथन की प्रामाणिकता के लिये आचार्य मम्मट ने भामहाचार्य के काव्यालङ्कार (१-१३-१५) की कारिकाओं को उद्धृत किया है। इन कारिकाओं में विभिन्न मत (वादि-विप्रतिपत्ति) दिखलाकर सिद्धान्त मत का निरूपण किया गया है। किन्हीं आलङ्कारिकों का मत है—'अर्थालङ्कार एव आदरणीयो न तु शब्दालङ्कारः'। उनका आशय यह है कि रूपक आदि अर्थालङ्कार रसव्यञ्जक विभावादि रूप अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं अतः वे रस के उत्कर्षाधायक हैं तथा वे ही काव्य के अलङ्कार हैं अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार नहीं, जैसे (व्यतिरेकी उदाहरण) सुडौल और सुन्दर होते हुए भी कामिनी का मुख आभूषण के बिना शोभित नहीं होता इसी प्रकार शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर सगुण होते हुए भी अलङ्कार बिना शोभा नहीं पाता। दूसरे आलङ्कारिकों का मत है कि 'शब्दालङ्कार एवादरणीयो न त्वर्थालङ्कारः'। उनका अभिप्राय है कि शब्द-श्रवण के अनन्तर चित्त आकृष्ट हो

अथ षष्ठ उल्लासः

[शब्दार्थचित्रनिरूपणात्मकः]

(७०) शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥
न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे वा शब्दस्य ।

इस षष्ठ उल्लास में चित्र काव्य के भेदों का विवेचन किया जा रहा है।

अनुवाद—शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र नामक जो (प्रथम) काव्य के दो प्रकार ऊपर (प्रथम उल्लास में) उदाहरणपूर्वक (स्वच्छन्द०' तथा विनिर्गत०) कहे गये हैं, उनमें चित्र-शब्द (fanciful word) तथा चित्र-अर्थ fanciful meaning) दोनों की प्रधान तथा अप्रधान रूप से स्थिति होती है।

ऐसा नहीं है कि शब्द-चित्र में अर्थ का वैचित्र्य नहीं होता अथवा अर्थ-चित्र में शब्द का वैचित्र्य नहीं होता।

प्रभा—चित्र-काव्य के शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र ये दो भेद किस आधार पर किये गये हैं, इसका विवेचन प्रस्तुत कारिका में किया जा रहा है। यद्यपि प्रथम उल्लास में जो शब्द-चित्र का उदाहरण ('स्वच्छन्द' इत्यादि) दिया गया है उसमें गङ्गा की अन्य नदी से उत्कृष्टता प्रकट होती है अतः व्यतिरेकालङ्कार के रूप में अर्थ-वैचित्र्य विद्यमान है। इसी प्रकार अर्थ-चित्र के उदाहरण (विनिर्गत इत्यादि) में भी 'मानदमातममन्दिरात्' यहाँ पर 'म' वर्ण की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास शब्दालङ्कार होने के कारण शब्द-वैचित्र्य है ही; तथापि शब्द-चित्र के उदाहरण में शब्द-वैचित्र्य की प्रधानता है और अर्थ-वैचित्र्य गौण है। इसी प्रकार अर्थ-चित्र के उदाहरण में अर्थ-वैचित्र्य की प्रधानता है और शब्द-वैचित्र्य गौण है। इसी हेतु इन्हें क्रमशः शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र कहा जाता है।

भाव यह है कि यद्यपि शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र दोनों के उदाहरणों में ही शब्द-वैचित्र्य तथा अर्थ-वैचित्र्य दोनों ही रहा करते हैं तथापि जिसकी प्रधानता होती है उसी के आधार पर नामकरण किया जाता है (प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति); अतः जहाँ शब्दगत चमत्कार अर्थ-वैचित्र्य से बढ़कर होता है उसे शब्द-चित्र कहते हैं तथा जहाँ अर्थगत चमत्कार शब्द-वैचित्र्य से बढ़कर होता है उसे अर्थ-चित्र कहते हैं। किसी स्थल पर शब्द-वैचित्र्य की प्रधानता है या अर्थ-वैचित्र्य की, इस विषय में कवि की विवक्षा ही निर्णायक है और कवि के संरम्भ (उत्तम) विशेष से ही कवि-विवक्षा का ज्ञान हुआ करता है अर्थात् कवि पद्य की समाप्ति पर्यन्त जिस (शब्द या अर्थ) की चारुता के लिये विशेष प्रयास करता हुआ दृष्टिगोचर

तथा चोक्तम्—

"रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥" इति॥

होता है उसी में कवि-विवक्षा है, वही प्रधान है तथा उसी के आधार पर काव्य का नामकरण होता है अतएव उत्कट चमत्कारजनकता ही नामकरण का आधार है। यदि कहीं दोनों (शब्द और अर्थ) चमत्कारजनक हैं तो इनके सङ्कर-संसृष्टि आदि भी होते हैं।

अनुवाद—जैसे (दोनों की चमत्कार-जनकता के विषय में भामह ने) कहा भी है—(१) किन्हीं आलङ्कारिकों ने कहा है कि अनेक प्रकार का रूपक आदि (अर्थालङ्कार) ही उस (काव्य) का अलङ्कार (शोभावर्द्धक) है, क्योंकि स्त्री का सुन्दर मुख भी बिना आभूषण के शोभायमान नहीं होता। (२) दूसरे आलङ्कारिक (परे) रूपक आदि (अलङ्कार) को बाह्य (बाहरी, बहिरङ्ग, काव्यार्थ-प्रतीति के पश्चात् प्रतीत होने वाले) कहते हैं तथा सुबन्त और तिङन्त पदों के विशिष्ट-विन्यास रूप (व्युत्पत्ति) शब्दालङ्कार (वाचाम् अलङ्कृति) को (अधिक) वाञ्छनीय समझते हैं; क्योंकि इसको ही वे शोभनशब्दयुक्त काव्य की शोभा (शोभनशब्दस्य काव्यस्य शोभनत्वं=सौशब्द्य) कहते हैं, अर्थ का विशिष्ट-विन्यास रूप अर्थालङ्कार ऐसा (चमत्कार या शोभावर्द्धक) नहीं। (३) हमें तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के भेद से दोनों ही (काव्य के अलङ्कार हैं यह) अभीष्ट है।

प्रभा—शब्द-वैचित्र्य तथा अर्थ-वैचित्र्य दोनों ही चमत्कारजनक हैं। इस कथन की प्रामाणिकता के लिये आचार्य मम्मट ने भामहाचार्य के काव्यालङ्कार (१-१३-१५) की कारिकाओं को उद्धृत किया है। इन कारिकाओं में विभिन्न मत (वादि-विप्रतिपत्ति) दिखलाकर सिद्धान्त मत का निरूपण किया गया है। किन्हीं आलङ्कारिकों का मत है—'अर्थालङ्कार एव आदरणीयो न तु शब्दालङ्कारः'। उनका आशय यह है कि रूपक आदि अर्थालङ्कार रसव्यञ्जक विभावादि रूप अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं अतः वे रस के उत्कर्षाधायक हैं तथा वे ही काव्य के अलङ्कार हैं अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार नहीं, जैसे (व्यतिरेकी उदाहरण) सुडौल और सुन्दर होते हुए भी कामिनी का मुख आभूषण के बिना शोभित नहीं होता इसी प्रकार शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर सगुण होते हुए भी अलङ्कार बिना शोभा नहीं पाता। दूसरे आलङ्कारिकों का मत है कि 'शब्दालङ्कार एवादरणीयो न त्वर्थालङ्कारः'। उनका अभिप्राय है कि शब्द-श्रवण के अनन्तर चित्त आकृष्ट हो

शब्दचित्रं यथा—

> प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः
> तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
> उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
> सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥१३६॥

जाता है, तब अर्थ की प्रतीति होने के पश्चात् अर्थ-सौन्दर्य रूप अर्थालङ्कारों का प्रतीति होती है अतएव अर्थालङ्कार बाह्य हैं काव्य के बहिरङ्ग हैं तथा संज्ञादि शब्दों (सुबन्त) और क्रिया शब्दों का अनूठा प्रयोग जो वाणी या शब्द का अलङ्कार कहा जाता है, वही कविता का शोभावर्द्धक है, अर्थालङ्कार ऐसे शोभावर्द्धक नही। भामहाचार्य का मत है कि काव्य के शरीर अर्थात् शब्द तथा अर्थ की शोभा बढ़ाने के कारण शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों ही काव्य के शोभावर्द्धक है। भाव यह है कि शब्द के द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ में तथा अर्थबोधक शब्द में ही वैचित्र्य (अनूठापन) या चमत्कारजनकता होती है, इसी हेतु शब्दचित्र और अर्थचित्र ये दो काव्य माने जाते हैं। कवि-जन शब्द-सौष्ठव तथा अर्थ-सौष्ठव दोनो के लिये प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होते हैं तथा दोनों ही सहृदयजनों की आनन्दानुभूति के उपकारक हैं अतएव शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनो ही काव्य के शोभवर्द्धक हैं।

टिप्पणी—(i) यहाँ व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ है—विशेषेण अनुप्रासादिरूपेण उत्पत्तिः सन्निवेशः=विशिष्ट विन्यास (Elegant Placing) और शब्द तथा अर्थ का विशिष्ट-विन्यास अर्थात् कथन का अनूठापन ही अलङ्कार है; अतएव व्युत्पत्ति= अलङ्कार।

अनुवाद—शब्द-चित्र (का उदाहरण), जैसे—'रात्रि के प्रारम्भ में (क्षणदामुखे) पहले तो चन्द्रमा (मृगलाञ्छनः) अरुणकान्तिवाला, फिर सुवर्ण की आभा वाला, उसके पश्चात् प्रिय-वियोग से व्याकुल कृशाङ्गी के कपोलों की (पाण्डु) द्युति वाला और तब स्निग्ध कमलिनी-मूल-खण्ड के समान कान्ति वाला (अत्यन्त श्वेत) अतएव अन्धकार नाश में समर्थ होकर उदित होता है' ॥१३६॥

प्रभा—यद्यपि यहाँ पर स्वभावोक्ति तथा उपमादि अर्थालङ्कार भी हैं तथापि कवि आरम्भ से समाप्ति पर्यन्त शब्द-शौष्ठव में ही उद्यत दिखलाई देता है तथा यहाँ म, त, क, ध, क्ष, छ आदि वर्णों के विशिष्ट-विन्यास रूप अनुप्रास अलङ्कार मे ही कविविवक्षा प्रतीत होती है। अतएव प्रधानतया शब्द-वैचित्र्य ही यहाँ पर चमत्कारजनक है; स्वभावोक्ति आदि ऐसी चमत्कारजनक नहीं। इसी से यहाँ शब्द-चित्र है।

अर्थचित्रं यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति।।१४०।

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम् तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम्। अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद्बहवो भेदाः ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम षष्ठ उल्लासः ।।६।।

अनुवाद—अर्थचित्र (का उदाहरण), जैसे—

'बहुपक्ष्मयुक्त नेत्रों वाली सुन्दरियों के ये केश-पाश तथा खलजन केवल दृष्टिगोचर होते ही इस संसार में किसके क्षोभ का निमित्त नहीं होते (क्षोभाय 'भवन्ति') जो (दोनों) नीच [१. केश पक्ष में नीचे लटके हुए तथा २ खलपक्ष में अधम] विलासपूर्वक अलीक [१. ललाट तथा २. मिथ्याभाषण] में लग्न [१. गिरे हुए २. लगे हुए, आसक्त] हैं तथा अपनी कुटिलता [१. वक्रता २. धूर्तता] के समान कालेपन [१. श्यामवर्णता २. भयानकता] को नहीं छोड़ते हैं' ।।१४०।।

प्रभा—यद्यपि 'ते दृष्टिम्' इत्यादि उदाहरण में अनुप्रास अलङ्कार के रूप में शब्द-वैचित्र्य भी है तथापि यहाँ 'अलक' और 'खल' का क्षोभरूप एक कार्य में समुच्चय-कथन करने के कारण समुच्चय-अलङ्कार ही प्रधान है। श्लेष तथा उपमा भी उसी के अङ्ग हैं। इस अर्थ-वैचित्र्य की प्रधानता के कारण यह अर्थ-चित्र का उदाहरण है। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार यहाँ दीपक अलङ्कार प्रधान है।

अनुवाद—यद्यपि समस्त प्रकार के काव्य में अन्त में (प्रत्येक वर्णनीय वस्तु) विभाव (अनुभाव, सञ्चारीभाव) आदि रूप में परिणत (पर्यवसित) हो जाती है (और वे रसभावादि रूप में पर्यवसित हो जाते हैं तथा चित्रकाव्य में भी कुछ न कुछ व्यङ्ग्य होता है) तथापि स्फुट (स्पष्टतया) रस (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रतीति न होने के कारण इस (शब्दचित्र तथा अर्थचित्र) दो प्रकार के काव्य को व्यङ्ग्य-रहित कहा गया है।

इस (शब्दचित्र तथा अर्थचित्र) में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के भेद से बहुत से भेद हैं उनका अलङ्कार-निर्णय के अवसर पर (उल्लास ९–१०) निर्णय किया जायेगा।

प्रभा—यद्यपि उपरिनिर्दिष्ट चित्रकाव्य के उदाहरणों में प्रथम श्लोक में चन्द्रोदय रूप उद्दीपन विभाव का वर्णन है अतः शृङ्गाररस व्यङ्ग्य है, द्वितीय श्लोक में विप्रलम्भ व्यङ्ग्य है अतएव ये दोनों काव्य नितान्त व्यङ्ग्यरहित नहीं हैं। इसी प्रकार प्रत्येक काव्य में जो वर्णन किया जाता है वह विभाव अनुभाव और सञ्चारी

भाव के रूप में पर्यवसित हो जाता है तथा उससे किसी न किसी रस-भाव तथा वस्तु आदि की अभिव्यक्ति हुआ ही करती है। इस प्रकार कोई भी काव्य नितान्त व्यङ्ग्यरहित नहीं है तथापि 'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' चित्रकाव्य के इस लक्षण में व्यङ्ग्य का अर्थ व्यङ्ग्यरहित नहीं है अपि तु स्फुट-व्यङ्ग्य रहित है अतः कोई विरोध नहीं।

भाव यह है कि व्यङ्ग्यार्थ की चारुता के आधार पर ही उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन काव्य-भेद किये गये हैं। जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्य-अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक है वह उत्तम ध्वनि काव्य है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्य-अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्काराधाक नहीं वह मध्यम गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है; किन्तु जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के विद्यमान होते हुए भी काव्य में उसके कारण चमत्कार नहीं होता अपि तु अलङ्कारमात्र के कारण चमत्कार होता है वहाँ अधम अर्थात् चित्र-काव्य है।

टिप्पणी—(i) 'स्फुटस्य रसस्य' में रस शब्द का अर्थ 'व्यङ्ग्य' है, (रस्यते आस्वाद्यते इति रसः) क्योंकि 'स्वच्छन्द' इत्यादि में 'भाव' व्यङ्ग्य है रस नहीं।

(ii) ऊपर की शङ्का-समाधान का आधार ध्वन्यालोक का चित्र-काव्य सम्बन्धी विवेचन ही है। ध्वनिकार ने विस्तार से शङ्का उठाकर इस प्रकार समाधान किया है—

'सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु रस-भावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षा-पेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते। (ध्वनि ४२. ४३)

(iii) अलङ्कारों के भेद से चित्रकाव्य के अनेक भेद हो जाते हैं जिनका आगे अलङ्कार-विवेचन के अवसर पर ही निर्णय किया जाएगा।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में शब्द-चित्र और अर्थचित्र का निरूपण करने वाला यह षष्ठ उल्लास समाप्त होता है।

इति षष्ठ उल्लासः।

— — —

अथ सप्तम उल्लासः

[दोषविवेचनात्मकः]

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

(७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥४९॥

हतिरपकर्षः। शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने।

आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य का लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' है। इसमे शब्दार्थ का स्वरूप-विवेचन तथा काव्य-स्वरूप का निरूपण किया जा चुका है। क्रमानुसार काव्य-दोषो का विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

काव्यदोष का स्वरूप

अनुवाद—काव्य के स्वरूप का निरूपण करके ग्रन्थकार दोषों का सामान्य लक्षण बतलाते हैं—

जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष (हति) होता है वह दोष (कहलाता) है; और (काव्य में) रस (भावादि) ही मुख्यार्थ है, उस रस के द्वारा (उपकारक रूप में) अपेक्षित होने के कारण शब्द बोध्य अर्थ (वाच्य) भी मुख्य (कहलाता) है; तथा दोनों (रस तथा अर्थ) के उपकारक शब्द (वर्ण-रचना) आदि होते हैं, अतएव उनमें भी वह (दोष) होता है।

(कारिका में) 'हति' का अर्थ है—अपकर्ष (विघात)। 'शब्दाद्या' में आदि शब्द के प्रयोग से वर्ण और रचना का ग्रहण होता है।

प्रभा—दोष का सामान्यलक्षण है—'मुख्यार्थहतिः दोष.' यहाँ 'हति' का अर्थ अपकर्ष है। काव्य मे रस ही मुख्यार्थ है, अतः जो रस के अपघातक या अपकर्षक होते हैं, वे ही काव्य-दोष कहलाते है। यहाँ पर 'रस' शब्द से भाव, रसाभास, भावाभास आदि का भी ग्रहण होता है। अत. रस-भावादि के अपकर्षक ही दोष हैं; अर्थात् जिनसे रस आदि की सम्यक् अनुभूति मे बाधा उपस्थित होती है; सरस काव्य मे वे ही दोष माने जाते हैं। जिन काव्यों में रस की मुख्यता नहीं होती उनमें चमत्कारक (शब्द-बोध्य) वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ को ही मुख्यार्थ कहा जायेगा; क्योकि अर्थ भी रस का उपकारक है (विभाव आदि अर्थ ही रस के व्यञ्जक हैं)। अतएव रसरहित काव्य में वाच्य-आदि अर्थों के अपकर्षक ही दोष कहलाते हैं अर्थात् जो चमत्कारकारी वाक्यार्थ की प्रतीति मे बाधक होते हैं वे भी दोष हैं। एक तीसरे प्रकार के दोष हैं जो शब्द आदि के अपकर्षक होते हैं। क्योंकि

विशेषलक्षणमाह—

[पद-दोषाः]

(७२) दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥५०॥

वाक्य तथा पद (शब्दयते बोध्यते अनेन इति शब्दः=वाक्य, पद) और 'आदि' शब्द से गृहीत वर्ण एवं रचना आदि भी रस-व्यञ्जना में सहायक होते है तथा अर्थ-बोधक होते हैं। इस लिये पद और वाक्य आदि में भी वे दोष होते हैं।

संक्षेप में मुख्यार्थ के अपकर्षक ही दोष कहलाते हैं। ये तीन प्रकार से मुख्यार्थ के अपकर्षक हैं—(१) साक्षात् रसभावादि के अपकर्षक, (२) रसोपकारक वाच्य अर्थात् शब्दबोध्य अर्थ के अपकर्षक (२) रसादि तथा अर्थ के उपकारक पद, वाक्य, वर्ण, रचना आदि के अपकर्षक।

टिप्पणी—(i) प्राचीन काल से ही आलङ्कारिक आचार्य काव्य-दोष का विवेचन करते रहे हैं। इस विवेचन का उद्देश्य यही था कि कवि लोग काव्य-दोषों से परिचित हो जायें तथा काव्य में उनका परित्याग कर दें। *'सौकर्याय प्रपञ्चः'* (काव्यालङ्कारसूत्र) २-१-३। प्रायः आचार्यों ने दोष के सामान्य स्वरूप का विवेचन न करके दोष-विशेष का ही विवेचन किया था। सम्भवतः सर्व प्रथम वामन ने ही दोष-सामान्य के विवेचन की ओर ध्यान दिया। उनके अनुसार दोष का स्वरूप है—'गुणविपर्ययात्मानो दोषः' (२. १.१) अर्थात् दोषों का स्वरूप गुणों के विपरीत है।

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने दोष के सामान्य रूप तथा भेदों का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं किया, कहीं कहीं प्रसङ्गवश दोषों का उल्लेखमात्र अवश्य किया है, जैसे—द्विविधो हि दोषः कवेरव्युत्पत्तिकृतः अशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वादेव कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते। (ध्वन्यालोक, कारिका ६) ध्वनिकार के इस उल्लेख से ही प्रतीत होता है कि ध्वनिवादियों ने 'गुण-विपर्यय' या 'गुणाभाव, रूप में दोषों को नहीं माना अपितु भावात्मक ही। इसी हेतु आचार्य मम्मट ने काव्यत्व के अपकर्षक या विघातक को ही दोष बतलाया।

(ii) मम्मट का दोष-लक्षण व्यापक है यह उत्तम, मध्यम तथा अधम तीनों प्रकार के काव्य-दोषों में घटित होता है। अतएव आगे चलकर काव्य-प्रकाश का दोष-लक्षण ही अधिक अपनाया गया है तथा साहित्य-दर्पणकार का दोष-लक्षण भी इससे स्पष्टतया प्रभावित दिखलाई देता है; किन्तु 'रसापकर्षका: दोषाः' (साहित्य दर्पण ७. १) इस लक्षण में काव्य-प्रकाश के लक्षण जैसी व्यापकता नहीं है।

(iii) कारिका में 'हति' शब्द का अर्थ अनुत्पत्ति या विनाश ही नहीं हो सकता; क्योंकि यह अर्थ मानने पर दोष का लक्षण ही दूषित हो जायेगा तथा दोषों के नित्यानित्य की व्यवस्था भी न बन सकेगी।

पददोष

अनुवाद—(काव्य दोषों के) विशेष (पृथक् २) लक्षण कहते हैं—[श्रुति-

सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥५१॥

१—श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥१४१॥

अत्र कार्तार्थ्यमिति ।

कटु (आदि) पदं दुष्टं भवेत्, अथ क्लिष्टादि समासगतमेव इति सम्बन्धः] दोषयुक्त पद ये हैं—(१) श्रुतिकटु, (२) च्युतसंस्कृति, (३) अप्रयुक्त, (४) असमर्थ, (५) निहतार्थ, (६) अनुचितार्थ, (७) निरर्थक, (८) अवाचक, (९) तीन प्रकार (व्रीडा, निन्दा, अशुभ) का अश्लील, (१०) सन्दिग्ध, (११) अप्रतीत, (१२) ग्राम्य, (१३) नेयार्थ (जो केवल पदगत तथा समासगत भी हुआ करते हैं) तथा (१४) क्लिष्ट, (१५) अविमृष्टविधेयांश, (१६) विरुद्धमतिकृत्—(जो समासगत ही होते हैं)।

टिप्पणी—(i) शब्द, अर्थ तथा रस की क्रमशः प्रतीति होती है, तथा काव्यलक्षण में भी 'शब्दार्थौ' में शब्द की प्राथमिकता है अतएव पद–दोषों का ही प्रथमतः निरूपण करते हैं। यहां पद शब्द से सुबन्त, तिङन्त तथा प्रातिपदिक का ग्रहण होता है (उद्योत)।

(ii) व्याख्याकारों का विचार है कि 'श्रुतिकटु' आदि शब्दों से यौगिक अर्थ के द्वारा (श्रुति अर्थात् श्रवण में कटु उद्वेगजनक) उनके स्वरूप या लक्षण का भी बोध हो जाता है अतएव कारिका में ग्रन्थकार ने पद-दोषों का विभाग तथा लक्षण एक साथ ही प्रकट कर दिया है। वस्तुतः तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह कारिका पद-दोषों का विभाग करती है, योगार्थ से या प्रसिद्धि से ही स्पष्ट होने के कारण प्रत्येक का लक्षण नहीं दिया गया है, जिनका स्पष्टीकरण आचार्य ने आवश्यक समझा, उनका यथावसर स्वरूप भी दिखला दिया गया है।

अनुवाद—कठोर वर्ण वाला दुष्ट पद श्रुतिकटु (कहलाता) है; जैसे—

'कामदेव के मङ्गलगृह रूपी कटाक्षों की भङ्गिमा की तरङ्गों से युक्त उस कृशाङ्गी रमणी के द्वारा आलिङ्गित होकर वह (युवक) कब कृतार्थता को प्राप्त करेगा' ॥१४१॥

यहां पर 'कार्तार्थ्य' पद श्रुतिकटु है।

प्रभा—श्रुति कटु को वामन ने 'कष्ट' (श्रुतिविरसं कष्टम्) नाम दिया था तथा मम्मट के पश्चात् साहित्यदर्पणकार ने 'दुःश्रव' नाम से पुकारा। ऊपर के उदाहरण में 'कार्तार्थ्य' शब्द परुषवर्णयुक्त है, यह श्रोता के लिये उद्वेगजनक है तथा रसापकर्षक है अतः यहाँ पर श्रुतिकटु (दुष्ट पद) है। दोष साक्षात् या परम्परया रस के अपकर्षक होते हैं; श्रुतिकटुता शृङ्गार रस के आस्वादन में ही बाधक है;

२—च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं यथा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि, कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥१४२॥

अत्रानुनाथते इति सर्पिषो नाथते इत्यादावेवाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं विहितम् (आशिषि नाथ इति) अत्र तु याचनमर्थः । तस्मादनुनाथति स्तनयुगमिति पठनीयम् ।

३—अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम् । यथा—

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा ॥१४३॥

अतएव यह शृङ्गार-वर्णन में दोष है; किन्तु परुष-वर्णों का प्रयोग रौद्र-रस की व्यञ्जना में सहायक ही है अतः रौद्र आदि में श्रुतिकटु दोष नहीं होता । इसीलिये यह अनित्य दोष है ।

अनुवाद—२. च्युतसंस्कृति (च्युता स्खलिता संस्कृतिः संस्कारः व्याकरण-लक्षणानुगम. यत्र) वह दुष्ट पद है जो (भाषा के संस्कारक) व्याकरण के नियमों के विरुद्ध हो; जैसे—

'अरी पल्लीपति (छोटे ग्राम के स्वामी) की पुत्रि, यह तेरा स्तनयुगल, जिसका मध्यभाग (उदर) अधपके तेंदू फल के समान श्याम है तथा तट प्रदेश कुछ पीतवर्ण हैं शबर (पुलिन्द) युवक के सुन्दर हस्तमर्दन के योग्य दिखलाई देता है, इसी हेतु अपने गण्डस्थल की रक्षा के लिये प्रार्थना में कातर होकर हस्तिसमूह (तुझसे) यह याचना करता है कि इस स्तनयुगल को पत्तों से आच्छादित मत करो' (जिससे शबरयुवक उस ओर आकर्षित हो जाय तथा हाथियों के गण्डस्थल की रक्षा हो सके) ॥१४२॥

यहाँ पर 'अनुनाथते' यह व्याकरणलक्षणविरुद्ध है; क्योंकि 'सर्पिषो नाथते' आदि में 'आशीः' (आशा, अभिलाषा) अर्थ में ही 'आशिषि नाथः' (वार्तिक) से 'नाथ' धातु को आत्मनेपद का विधान किया गया है; किन्तु यहाँ पर याचना अर्थ है (आशीः नहीं) । इसलिये 'अनुनाथति स्तनयुगम्' (परस्मैपद) यह पाठ होना चाहिये।

प्रभा—'एतन्मन्दम्' आदि में 'अनुनाथते' (याचना करता है) यह पद व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, अतः च्युतसंस्कृति दोष है । 'नाथ' धातु केवल 'आशिस्' अर्थ में ही आत्मनेपदी होती है; यह 'आशिषि नाथः' कात्यायनकृत वार्तिक, द्वारा नियम किया गया है । यह वार्तिक 'भीस्मोर्नुसंपरिभ्यश्च' १/३/२१ पाणिनिसूत्र के ऊपर है ।

अनुवाद—३. व्याकरण आदि के द्वारा अनुशिष्ट या पढ़ा हुआ (आम्नातम्) होने पर भी जो पद कवियों द्वारा निषिद्ध या उपेक्षित है, वह अप्रयुक्त है, जैसे

अत्र दैवतशब्दो "दैवतानि पुंसि वा" इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित्प्रयुज्यते।

४—असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः। यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥१४४॥

अत्र हन्तीति गमनार्थम्।

५—निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्। यथा—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥१४५॥

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते।

क्योंकि वह व्यक्ति सदा ही कठोर आचरण वाला दिखाई देता है इसलिये मैं समझता हूँ कि इसका इष्ट देव कोई पिशाच या राक्षस है' ॥१४३॥

यहाँ 'दैवतः' यह (पुंलिङ्ग में) अप्रयुक्त है। यद्यपि 'दैवतानि पुंसि वा' (अमरकोश) इस कोश के द्वारा दैवत शब्द (विकल्प से) पुंलिङ्ग में भी कहा गया है तथापि किसी कवि द्वारा (पुंलिङ्ग में) प्रयोग नहीं किया जाता।

प्रभा—यहाँ 'अप्रयुक्त' प्रयोग को देखकर पाठक प्रयोजनानुसन्धान में व्यग्र हो जाता है मुख्यार्थ की उपस्थिति मे विलम्ब होता है अतएव यह दोष समझा जाता है। यदि 'यमक' आदि योजना ही इसका प्रयोजन हो तो यह दोष नहीं माना जायेगा।

अनुवाद—४. असमर्थ' वह दुष्ट पद है जिसका किसी अर्थ में (व्याकरणादि में) पाठ तो किया गया है, किन्तु (किसी सहायक के बिना) उस अर्थ (को बोध कराने) में उसकी शक्ति नहीं; जैसे—

'यह पुरुष जिसने अन्य तीर्थों में स्नान करके श्रेष्ठ फल-जनक पुण्य (सत्कृति) उपार्जित किया है, इस समय आदरपूर्वक सुरसरिता गङ्गा को जाता है (हन्ति)। ॥१४४॥

यहाँ 'हन्ति' यह गमन अर्थ में (असमर्थ है)।

प्रभा—यद्यपि 'हन् हिंसागत्योः' इस धातुपाठ में 'हन्' धातु गमनार्थक भी है; किन्तु यह पद्धति (पादाभ्यां हन्यते गम्यते इति पद्धतिर्मार्गः), जघन (वक्रं हन्ति गच्छतीति जघनम्) आदि शब्दों में 'पद' आदि शब्दों के अथवा मार्ग आदि अर्थों के सहकार (योग) से ही गत्यर्थ को प्रकट करने का सामर्थ्य रखती है। किसी सहायक के बिना 'हन्ति' धातु गमन-अर्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं, अतएव ऊपर उदाहरण में 'हन्ति' असमर्थ (दुष्ट) पद है। मुख्यार्थ-बोध में विलम्ब पैदा करने के कारण ही यह दोष है।

अनुवाद—५. निहतार्थ वह दुष्ट पद है, जो दो (प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध) अर्थ वाला होते हुए अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, जैसे—'अलक्तक रस से

६—अनुचितार्थं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥१४६॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम् ।

७—निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम् । यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते, मम हि गौरि,
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति, युष्मत्प्रसादेन ॥१४७॥

अत्र 'हि' शब्दः ।

आर्द्र चरणों के प्रहार द्वारा जिसके बाल कुछ-कुछ लाल (शोणित) हो गये थे ऐसे उस प्रिय ने नायिका को (रुधिर निकलने के) भय (साध्वस) से व्याकुल (तरला) तथा मुग्ध देखकर (भय दूर करने के लिये) सहसा उसका चुम्बन कर लिया' ।१४५।

यहाँ पर 'शोणित शब्द के रुधिररूप (प्रसिद्ध) अर्थ के द्वारा कुछ २ लाल' रूप (उज्ज्वलीकृतत्व—ईषदारक्तीकृतत्व) अर्थ व्यवहित हो जाता है ।

प्रभा—'शोणित' पद का प्रसिद्ध अर्थ रक्त या रुधिर है किन्तु यह यहाँ पर विवक्षित नहीं, इसका अप्रसिद्ध अर्थ 'कुछ २ लाल' ही यहाँ विवक्षित है । 'शोणित' पद 'कुछ कुछ लाल' अर्थ में निहतार्थ है । शब्द से प्रसिद्ध अर्थ की तुरन्त उपस्थिति होती है तत्पश्चात् अप्रसिद्ध (विवक्षित) अर्थ उपस्थित होता है । उसकी प्रतीति में विलम्ब करने के कारण ही निहतार्थ पद दोपयुक्त है । प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध अर्थ का विवेक व्यवहार द्वारा होता है ।

अनुवाद—६. अनुचितार्थ दुष्ट पद (का उदाहरण), जैसे—'जिस गति को तपस्वी-जन चिरकाल में प्राप्त करते हैं तथा याज्ञिक लोक प्रयत्नपूर्वक जिसकी अभिलाषा करते रहते हैं, उस गति को संग्राम रूपी अश्वमेध (यज्ञ) में पशुता को प्राप्त हुए यशस्वी-जन शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं' ॥१४६॥

यहाँ पर 'पशु' शब्द कातरता (दीनता) को अभिव्यक्त करता है । इसलिये यह अनुचितार्थक (दुष्ट पद) है ।

प्रभा—जो शब्द विवक्षित अर्थ को तिरस्कृत करने वाले किसी अर्थ का व्यञ्जक होता है वह 'अनुचितार्थ' (दुष्ट पद) कहलाता है । यह विवक्षित (मुख्य) अर्थ का अपकर्षक होता है । उपर्युक्त पद्य में संग्राम में आत्मबलिदान करने वालों की 'शूरता' का वर्णन करना अभीष्ट है, 'पशु' शब्द उनकी कातरता को अभिव्यक्त करता है अतएव यह 'अनुचितार्थ' दोपयुक्त है । व्युत्पत्ति द्वारा कविजन इस दोष को दूर कर सकते हैं ।

अनुवाद—७. केवल (श्लोक की) पाद पूर्ति ही जिनका प्रयोजन है ऐसे 'च' 'ह' आदि पद निरर्थक (कहलाते) हैं । जैसे—'प्रफुल्लित कमल की केसर के पराग-सदृश द्युति वाली हे भगवती पार्वती जी, आपकी कृपा से मेरा मनोरथ सिद्ध हो' ॥१४७॥

यहाँ पर 'हि' शब्द निरर्थक है ।

८—अवाचकं यथा—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥१४८॥

अत्र जन्तुपदमदातर्यर्थे विवक्षितम्; तत्र च नाभिधायकम्।

यथा वा—

हा धिक् ! सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम्।
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥१४९॥

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यर्थेऽवाचकम्।

प्रभा—यहाँ पर 'हि' शब्द का हेतु या अवधारण आदि अर्थ सङ्गत नहीं है अतएव 'हि' शब्द केवल पाद-पूर्ति के लिये है तथा निरर्थक है। निरर्थक शब्द निराकाक्ष होता है अथवा पाठक को उसके प्रयोजन का अनुसन्धान करना पड़ता है अतएव वह वाक्यार्थ-बोध मे विलम्ब करने वाला है इसीलिये दोषयुक्त है।

अनुवाद—८. अवाचक पददोष (का उदाहरण), जैसे—[किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की उक्ति में] 'जिसका क्रोध निष्फल नहीं होता (अवन्ध्यः=निष्फलः) ऐसे दूसरों की (दारिद्र्य रूपी) आपत्तियों का विनाश करने वाले वीर के सभी (शत्रु मित्रादि) जन स्वयं ही वश में हो जाते हैं; क्योंकि क्रोध-शून्य अर्थात् शौर्यहीन (आप जैसे) व्यक्ति से शत्रु जन को (जनस्य) भय (दरः) नहीं होता तथा स्नेहयुक्त (मित्र) भी अनुदार (जन्तुना=अदात्रा) व्यक्ति का मित्र जनों (जनस्य) के द्वारा आदर नहीं होता' ॥१४८॥

यहाँ पर 'जन्तु' शब्द 'अदाता' (दान न करने वाला) के अर्थ में विवक्षित है; किन्तु इस अर्थ का बोधक नहीं। अथवा जैसे—

'हाय धिक्कार ! जिस रात्रि में उस चन्द्रमुखी को मैंने देखा था वह तो (विधाता ने) अन्धकारयुक्त (बनाई) थी, किन्तु उस (उर्वशी) के वियोग की वेदना से अन्धकारपूर्ण इस (अनुभूयमान) बुरे (दग्ध=जला) समय को (विधाता ने) दिन अर्थात् प्रकाशमय बनाया है। क्या करें ? यदि विधाता इष्ट-प्राप्ति के विषय में सदा प्रतिकूल ही नहीं रहता (अर्थात् रहता ही है) तो यह संसार (जीवलोकः) अब मेरे लिये वैसी (जिस में उर्वशी का दर्शन हुआ था) रात्रि वाला ही न (नो) हो जाता' ॥१४९॥

यहाँ पर 'दिन' यह पद 'प्रकाशमय' इस अर्थ में अवाचक है।

[उद्योतकर आदि के अनुसार यह विक्रमोर्वशीय नाटक में पुरूरवा की उक्ति है, किन्तु प्राप्त संस्करणों में यह नहीं है]

प्रभा—(१) अवाचक वह पद है जो विवक्षित धर्म से विशिष्ट धर्मी का कहीं भी वाचक न हो। यह अवाचकता अनेक प्रकार की है:—(क) कहीं पद की

यच्चोपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतम्। यथा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्त्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥१५०॥

अत्र दधदित्यर्थे विदधदिति।

धर्मी में शक्ति होती है, किन्तु विवक्षित धर्म में नहीं (ख) कहीं धर्म में शक्ति होती है, किन्तु धर्मी में नहीं तथा (ग) कहीं पर पद की धर्म तथा धर्मी दोनों में शक्ति नहीं होती, (किन्तु पदांश की होती है)। इसमें से प्रथम भी दो प्रकार का होता है—एक अपेक्षितयोग और दूसरा अनपेक्षित योग।

(२) पद के द्वारा पदार्थ के दो अंश विवक्षित होते हैं १. धर्म (quality), २. धर्मी (Substance)। अवाचक पद इनमें से किसी एक या दोनों विवक्षित अंश के बोध में अशक्त होता है। किन्तु असमर्थ पद वह कहलाता है जिसका किसी अर्थ में पाठ तो किया जाता है किन्तु वह अविशिष्ट रूप में उसका बोधक नहीं होता।

(३) क—योगापेक्षित – 'अवन्ध्यकोपस्य' इत्यादि उदाहरण के पूर्वार्द्ध में 'दारिद्रय' रूप आपत्तिविघातक के रूप में दानशीलता (दातृत्व) अभिप्रेत है, उत्तरार्ध में उससे वैपरीत्य प्रदर्शन के लिये जन्तु' पद का 'न देने वाला' (अदाता) इस अर्थ में प्रयोग किया गया है। किसी भी (दाता या अदाता) व्यक्ति अर्थात् धर्मी को (जायते इति) 'जन्तु' कहा जा सकता है अदातृत्व (दान न देना) रूप धर्म से विशिष्ट धर्मी को ही जन्तु नहीं कहा जाता और यहाँ अदातृत्व धर्म ही विवक्षित है। अतएव यहाँ यौगिक अर्थ द्वारा (अपेक्षितयोग) धर्मी में शक्ति है किन्तु धर्म में नहीं तथा 'जन्तु' पद अवाचक है।

योगानपेक्षित—'हा धिक्' इत्यादि उदाहरण में 'तामसी' पद का अभिप्रेत अर्थ है—तमोमयता'। उससे वैपरीत्य-प्रदर्शन के लिये 'दिन' शब्द का प्रयोग प्रकाशमयता के अर्थ में विवक्षित है। यहाँ दिन शब्द की रूढि द्वारा सूर्यावच्छिन्नकालरूपी धर्मी में शक्ति है; किन्तु प्रकाशमयत्व रूप से वह शक्ति नहीं अपि तु दिनत्व रूप से है। अतएव यहाँ रूढि द्वारा (अनपेक्षित योग) धर्मी में शक्ति नहीं तथा दिन शब्द अवाचक है।

(ख)—द्वितीय भेद (धर्म में शक्ति धर्मी में नहीं) का उदाहरण ग्रन्थकार ने नहीं दिया। व्याख्याकारों ने इसका उदाहरण दिया है—जलं जलधरे क्षारमयं वर्षति वारिदः'। यहाँ पर 'जलधर' शब्द की जलधरत्व रूप धर्म में शक्ति है किन्तु सागर रूप धर्मी में नहीं। अतएव यहाँ 'जलधर' शब्द दोषयुक्त है अवाचक है।

अनुवाद—(ग) (तृतीय अवाचक पद वह है) जो (प्र आदि) उपसर्ग के संसर्ग से अर्थान्तर का वाचक होता है, जैसे—

६—त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वाद् । यथा—

क-साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम् ॥१५१॥

ख-लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता तत्र सा
भ्रान्त्या धूर्त्ततयाऽथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥१५२॥

अपने पति महेश्वर के नृत्त का अनुकरण करने के अवसर पर पार्वती जी का ऊपर उठाया हुआ वह कोमल चरण (प्रसह्योर्ध्वीकृतः पादो दण्डपादोऽभिधीयते; सङ्गीत रत्नाकर) विजयी है, जो (चरण) पार्वती के शरीर रूपी निर्मल लावण्य की वापी (बावड़ी) से उत्पन्न कमल की शोभा को धारण करता है (विदधत्); जिस (चरणकमल) में जङ्घाकाण्ड ही महान् (उरु) नाल है, जो नखों की प्रभा रूपी शोभायमान केसर पंक्ति से नतोन्नत (कराल) है, जिसमें नूतन अलक्तक की कान्ति-प्रसरण के रूप में कोमल पत्र हैं तथा मञ्जुल चरणाभूषण (मञ्जीर) ही भ्रमर हैं ॥१५०॥

यहाँ 'दधत्' के अर्थ में 'विदधत्' यह पद अवाचक है ।

प्रभा—यद्यपि 'दधाति' की धारण अर्थ में शक्ति है तथापि 'वि' उपसर्ग सहित दधाति (विदधाति) की शक्ति 'करण' या 'विधान' अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है । इसलिये 'विदधत्' शब्द धारण अर्थ में अवाचक है । क्योंकि वह धारण (धर्मी) या धारणत्व (धर्म) किसी में भी शक्ति नहीं रखता ।

अनुवाद—६. (कारिका के त्रिधाऽश्लीलम् में) त्रिधा अर्थात् क—लज्जा, ख-घृणा और ग-अमङ्गल को प्रकट करने के कारण अश्लील पद तीन प्रकार के होते हैं । जैसे—

क—(व्रीडा) जिस बुद्धिमान् अर्थात् नीतिकुशल राजा की ऐसी विशाल सेना (साधनं) है, जैसी किसी अन्य की नहीं दिखाई देती, उसकी कोप से कुटिल भ्रुकुटि को कौन सहन कर सकता है' ॥१५१॥

ख—(जुगुप्सा) 'जिसके अधर निःशङ्क रूप से किसी अन्य नायिका ने काट लिये हैं (अथवा जिसने अन्य नायिका के अधर को निःशङ्क रूप से काटा है) ऐसा कोई (विलासी) पुरुष (उसकी नायिका द्वारा) लीला-कमल से ताडित किया गया । तब वह कमल-केसर से पीडित नेत्र वाला सा होकर नेत्र बन्द करके पड़ गया और मुग्धा (उसकी धूर्तता को न समझने वाली) नायिका कली के आकार वाले (गोल) मुख से नायक के नेत्रों में (तत्र) फूंक (वायु) देने लगी । फिर उस पुरुष ने भ्रान्ति अथवा धूर्तता से प्रणाम किये बिना ही, उसका निरन्तर चुम्बन किया । ('इसका कोप नष्ट हो गया'—यह भ्रान्ति अथवा 'कोप नष्ट न होने पर भी इसका चुम्बन कर लूं' यह धूर्तता है) ॥१५२॥

ग—मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥१५३॥
एषु साधन-वायु-विनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः।
१०—सन्दिग्धं यथा—
आलिङ्गितस्तत्र भवान् सम्पराये जयश्रिया।
आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥१५४॥
अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायां किंवा नमस्यामिति सन्देहः।

ग—(अमङ्गल) मृदु पवन से बिखरा हुआ सघन सुन्दर मयूर-पिच्छ (कलाप-मयूर के पंखों का समूह) मेरी प्रियतमा (उर्वशी) के नष्ट (अदृश्य) हो जाने से आज बेजोड़ (निःसपत्नः-निःशत्रुः, सदृशरहितः) हो गया है। नहीं तो सुन्दर केशों वाली मेरी प्रिया के रतिकाल में जूड़ा खुले हुए तथा कुसुमों से विभूषित केश-कलाप के होते यह मयूर (बर्ही) किसको आकृष्ट कर सकता था' ॥१५३॥

इन (उदाहरणों) में साधन, वायु तथा विनाश शब्द क्रमशः व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल के व्यञ्जक हैं।

प्रभा—ऊपर के उदाहरणों में (क)—'साधन शब्द पुरुषेन्द्रिय का भी वाचक है। सैन्यार्थक 'साधन' शब्द के द्वारा पुरुषेन्द्रिय रूप अन्यार्थ की प्रतीति होने के कारण 'साधन' पद 'लज्जा' को प्रकट करता है अतः अश्लील है। ख—'वायु' शब्द अपान वायु का स्मारक है; अतः जुगुप्साव्यञ्जक है तथा अश्लील है। ग—विक्रमोर्वशीय नाटक के इस स्थल पर 'विनाश' शब्द 'मृत्यु' की प्रतीति कराता है, अतः अमङ्गल बोधक है तथा अश्लील है।

अश्लील-अर्थ की उपस्थिति रस की अपकर्षक है, अथवा उससे श्रोता या पाठक विमुख हो जाता है, अतः वैरस्य उत्पन्न करती है इसी हेतु यह दोष है। अश्लील शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—सम्यग्वशीकरणसम्पत्तिः श्रीः, तां लाति गृह्णाति इति श्रीलम् (र को ल) श्लीलम्, न श्लीलम् अश्लीलम्, अशोभन या अशिष्ट।

अनुवाद—१०. सन्दिग्ध (का उदाहरण), जैसे—

'संग्राम [संपराये] में जयलक्ष्मी से आलिङ्गित होकर पूजनीय आप वन्दनीय [वन्द्यां] (पराजित शत्रु द्वारा की हुई) आशीर्वाद श्रेणी को सुनकर [कर्णे कृत्वा] (शत्रुओं पर) कृपा करें ॥१५४॥

यहाँ पर 'वन्द्यां' का अभिप्राय—'बलपूर्वक हरी गई सुन्दरी पर' ('वन्दी' से सप्तमी एकवचन) यह है अथवा 'वन्दनीया को' (द्वितीया एकवचन), यह है—इस प्रकार का सन्देह होता है।

११—अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् । यथा—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥१५५॥

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्तः ।

१२—ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् । यथा—

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम् ।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥१५६॥

अत्र कटिरिति ।

प्रभा—जब कोई एक पद दो अर्थों का बोधक होता है तथा यह सन्देह उत्पन्न करता है कि कौन अर्थ तात्पर्य का विषय है वह पद सन्दिग्ध कहलाता है। ऊपर के उदाहरण में 'वन्द्यां' पद इसी प्रकार का है। यह 'आशीः परम्पराम्' का विशेषण है (वन्द्याम् आशीः परम्पराम्) अथवा बलपूर्वक बन्दी बनाई हुई किसी रानी के लिये आया है (वन्द्यां कृपां कुरु) यह सन्देह है, क्योंकि 'वन्द्या' शब्द से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में तथा 'वन्दी' शब्द से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में 'वन्द्यां' यही रूप होता है अतएव 'वन्द्यां' पद सन्दिग्ध है।

अनुवाद—११. अप्रतीत वह (दुष्ट) पद है जो केवल किसी एक शास्त्र में प्रसिद्ध हो, जैसे—

'जिसकी वासनाएं (संस्कार) तत्त्वज्ञान के महान् प्रकाश से क्षीण हो गई हैं, उस क्षीण वासनाओं से युक्त (आशयताजुषः) व्यक्ति का किया गया (विहित या निषिद्ध) कर्म (संसाररूप) बन्धन का कारण नहीं होता'॥१५५॥

यहां पर जो 'आशय' शब्द है वह वासना के पर्याय रूप में केवल योगशास्त्र आदि में ही प्रयुक्त हुआ है।

प्रभा—यहाँ पर आशय शब्द का अर्थ वासना अर्थात् संस्कारविशेष है। इस अर्थ में आशय शब्द का प्रयोग—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (१·२४) इत्यादि योगशास्त्र में ही हुआ है। अत एव योगशास्त्र में ही वह शब्द प्रसिद्ध है, काव्यादि में नहीं। इसी हेतु यहाँ पर 'आशय' शब्द अप्रतीत है। यह दोष इसलिए है, क्योंकि जो किसी शास्त्र के विशिष्ट शब्द से परिचित नहीं, उन्हें ऐसे काव्य से अर्थ-बोध नहीं होता।

अनुवाद—१२. ग्राम्य वह (दुष्ट) शब्द है, जो केवल लोक (असंस्कृत समाज) में ही प्रचलित हो (संस्कृत समाज में नहीं)। जैसे—

'हे प्रिये, जिसमें पूर्णिमा की रात्रि के प्रियतम अर्थात् चन्द्रमा की कान्ति संक्रान्त (प्रतिबिम्बित) हो गई है, ऐसा यह तुम्हारा मुख तथा जिसमें सुवर्ण-शिला जैसी शोभा है, वह नितम्ब (कटि) मेरे मन को हरते हैं'॥१५६॥

यहाँ पर 'कटि' शब्द ग्राम्य है।

१३—नेयार्थम्—

"निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥"

इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकम्। यथा—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्॥१५७॥

अत्र चपेटापातनेन निर्जितत्वं लक्ष्यते।

अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः। अन्यत्केवलं समासगतं च।

प्रभा—शब्द तीन प्रकार का है नागर, उपनागर तथा ग्राम्य। जो केवल *सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत लोगों में प्रचलित है वह नागर है। जो ग्राम्यता से रहित* है किन्तु 'नागर' की पदवी को प्राप्त नहीं हुआ है वह उपनागर है। केवल असंस्कृत (अविदग्ध) जन में प्रचलित, शास्त्र आदि में अप्रसिद्ध शब्द ग्राम्य है। 'नितम्ब' अर्थ में कटि शब्द का प्रयोग ग्राम्य है, क्योंकि विदग्धजन 'श्रोणी' तथा 'नितम्ब' आदि शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। ऐसे शब्दों के प्रयोग से कवि की अविदग्धता प्रकट होती है तथा सहृदय श्रोता विमुख हो जाता है अतः यह दोष है।

अनुवाद—१३. नेयार्थ (दुष्ट) पद वह है जो निषिद्ध (रूढि तथा प्रयोजन से शून्य) लाक्षणिक शब्द है, क्योंकि (कुमारिलभट्टकृत तन्त्रवार्तिक के अनुसार) कुछ लक्षणाएँ तो सामर्थ्य अर्थात् प्रसिद्धि या शब्द-स्वभाव के कारण अभिधा के समान ही चिरकाल प्रसिद्ध (निरूढा) होती हैं (जैसे कुशलः पटः या कर्मणि कुशलः); कुछ समयानुसार (प्रयोजनवशात्) बनाई जाती हैं (जैसे—गङ्गायां घोषः); किन्तु कुछ अर्थबोधकता न होने के कारण (अशक्तितः) रूढि या प्रयोजन के अभाव में नहीं बनाई जातीं (जैसे 'रूपो घटः' इत्यादि) अर्थात् वे निषिद्ध हैं जैसे—

'हे कृशाङ्गी, तेरा मुख तो शरत्काल में समुल्लसित पूर्णिमा की रात्रि के प्रियतम (चन्द्रमा) को चपत लगाने का पात्र बना रहा है' ॥१५७॥

यहाँ चपेटापातन से 'पराजित करना' लक्षित हो रहा है।

प्रभा—*अभिप्राय यह है कि रूढि या प्रयोजन से ही लक्षणा होती है किन्तु कविजन यदा-कदा स्वेच्छा से ऐसे शब्दों की कल्पना कर लेते हैं जो मुख्यार्थ से* सम्बन्ध तो रखते हैं किन्तु वहाँ कोई रूढि या प्रयोजन नहीं होता। ऐसे लाक्षणिक पद ही निषिद्ध कहे जाते हैं। साहित्यशास्त्र में ऐसे पद 'नेयार्थ' दुष्ट पद है। ऊपर के उदाहरण में 'चपेटापातन' (चपत लगाना) शब्द मुख्यार्थ में बाधित होकर लक्षणा द्वारा 'पराजय' की प्रतीति कराता है किन्तु लक्षणा के प्रयोजक रूढि या प्रयोजन के अभाव में यह 'नेयार्थ' नामक दोषयुक्त पद है। नेयार्थ पद कवि की अव्युत्पत्ति प्रकट करता है तथा अर्थोपस्थिति में बाधक है अतः दोष है।

अनुवाद-(कारिका ५०, ५१) में अथ समासगतमेव दुष्टम्' अर्थात् क्लिष्ट आदि (तीन) केवल समास के भीतर ही दुष्ट पद होते हैं—यह अन्वय है (इति सम्बन्धः)। तीनों के अतिरिक्त (श्रुतिकटु आदि १३) बिना समास के (केवल) तथा समास के भीतर भी होते हैं।

१४—क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता । यथा—

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः ।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल, तव चेष्टितम् ॥१५८॥

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदै-रित्यर्थः ।

१५—अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तद् यथा—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।

प्रभा—भाव यह है कि क्लिष्ट आदि तीनों दोष दूसरे पद के साहचर्य में ही होते हैं। उस दूसरे पद के साथ यदि समास है तो पद-दोष माना जाता है और यदि समास नहीं है तो वाक्य-दोष माना जाता है। किन्तु श्रुतिकटु आदि दोष दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं रखते अतएव असमास तथा समास दोनों अवस्थाओं में पद-दोष ही कहे जाते है।

अनुवाद—१४. क्लिष्ट वह (दुष्ट) पद है, जिससे (विवक्षित) अर्थ की प्रतीति (प्रतिपत्ति) में विलम्ब होता है (व्यवहिता), जैसे—

'हे भूपाल, आपका चरित्र (यश) अत्रि के नेत्र से उत्पन्न (अर्थात् चन्द्रमा की) ज्योति के उदय से प्रफुल्लित होने वाले (अर्थात् कुमुदों) के समान अत्यन्त शोभायमान हो रहा है' ॥१५८॥

यहां पर अत्रि के लोचन से उत्पन्न अर्थात् चन्द्रमा की ज्योति (चन्द्रिका) के उदय से प्रफुल्लित होने वाले अर्थात् कुमुदों के समान यह अर्थ विलम्ब से निकलता है।

प्रभा—भाव यह है कि 'अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः' इस शब्द का विवक्षित अर्थ है—कुमुद और इस समस्तपद के द्वारा 'कुमुद' अर्थ की प्रतीति विलम्ब से होती है; क्योंकि प्रथम तो 'अत्रिलोचनसम्भूत' शब्द से विवक्षित अर्थ चन्द्रमा की उपस्थिति में ही विलम्ब हो जाता है, क्योंकि चक्षु की ज्योति भी 'लोचन-सम्भूत' कही जा सकती है। फिर 'चन्द्रोद्गमभासित्व' रूप से कुमुद की भी तुरन्त ही प्रतीति नहीं हो पाती, क्योंकि चन्द्रोदय से अन्य पुष्प भी विकसित होते हैं। अतः यह समस्त पद क्लिष्ट है। प्रहेलिका आदि में क्लिष्ट दोष नहीं माना जाता।

अनुवाद—१५. [अविमृष्टविधेयांश वह पद दोष है] जहां विधेयरूप वाक्यांश का प्रधानतया (विधेय-प्रतीति-योग्य ढंग से) निर्देश नहीं किया जाता। जैसे—[हनुमन्नाटक में रावण की उक्ति] 'अरे' मेरे इन मस्तकों का—उद्धत रूप से काटे जाने के कारण घनीभूत कण्ठ से गिरती हुई अविच्छिन्न (संसक्त) रक्त की

कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥१५६॥

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्। अपि तु विधेयम्।

यथा वा—

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥१६०॥

अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम्। मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः।

धारा के द्वारा प्रक्षालित महादेव के चरणों की कृपा से प्राप्त की हुई विजय से संसार में जिनकी झूठी महिमा हो गई है तथा मेरी इन भुजाओं (दोष्णाम्) का—जो कैलास पर्वत के उठाने (उल्लास) की अभिलाषा की अधिकता (व्यतिकर) के सूचक हैं तथा उत्कट गर्व से उद्धत हैं, क्या यही फल है कि (लङ्का) नगरी की रक्षा में प्रयास करना पड़े' ॥१५६॥

यहाँ पर 'मिथ्यामहिमत्व उद्देश्य (अनुवाद्य) नहीं अपि तु विधेय है। (किन्तु वह प्रधानतया निर्दिष्ट नहीं)।

प्रभा—भाव यह है कि वाक्य के दो अंश हैं–१. उद्देश्य और २. विधेय। जिस प्राप्त (सिद्ध) वस्तु आदि का अन्य धर्म से सम्बन्ध जोड़ने के लिए कथन किया जाता, वह उद्देश्य है। उसे अनुवाद्य भी कहते हैं। जिस अप्राप्त (धर्म) का विधान किया जाता है, वह विधेय है। जैसे 'राम पढ़ता है' इस वाक्य में राम उद्देश्य है तथा 'पढ़ता है'–यह विधेयांश है। इसी प्रकार 'यः क्रियावान् स पण्डितः' यहाँ क्रियावान् को उद्देश्य करके पाण्डित्य का विधान किया जा रहा है। उद्देश्य और विधेय की पृथक् पदों के द्वारा ही स्पष्टतया उपस्थिति होती है, समासप्रविष्ट पदों के द्वारा नहीं। यदि विधेयांश (Predicative factor) को समास के अन्तर्गत रख दिया जाता है तो वह अप्रधान हो जाता है और उसकी प्रधान रूप से प्रतीति नहीं होती अर्थात् वह विधेयता के रूप में प्रतीत नहीं होता। तभी अविमृष्टविधेयांश दोष होता है। इसे ही विधेयाविमर्श भी कहते हैं।

'मूर्ध्नाम्' आदि उदाहरण में—ऐसे मस्तकों तथा भुजाओं की महिमा मिथ्या है, यह अर्थ विवक्षित है। यहाँ 'मिथ्यात्व' विधेयांश है, किन्तु उसका प्रधानतया निर्देश नहीं किया गया। वह तो अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास का अङ्ग होकर आया है। समासार्थ में गुणीभूत हो जाने के कारण उसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती तथा यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष है।

अनुवाद—अथवा जैसे—पार्वती जी नितम्ब से खिसकती हुई बकुल माला (केसरदाम) की करधनी को बार बार ठीक करती हुई (चलीं)। (वह करधनी ऐसी प्रतीत होती थी) मानों (उचित) स्थान को जानने वाले कामदेव के द्वारा धरोहर रूप में रक्खी हुई (उसके) धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा हो' ॥१६०॥

यथा वा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि, मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥१६१॥

अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम्।

यथा वा—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त-
सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता।

यहाँ पर (मौर्वी के) केवल 'द्वितीयत्व' की उत्प्रेक्षा करनी है, (वह विधेय है); इसलिए 'मौर्वीं द्वितीयाम्' यह पाठ उचित है।

प्रभा—'रस्ताम्' इत्यादि कुमारसम्भव के पद्य में पार्वती की बकुल-मेखला में कामदेव की द्वितीय प्रत्यञ्चा के धरोहर रखने की उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ पर न्यासीकरण (धरोहर रखने) के हेतु के रूप में उत्प्रेक्षा (हेतूत्प्रेक्षा) है। न्यासीकरण का हेतु मौर्वी का द्वितीयत्व अर्थात् दूसरा होना ही है, क्योंकि मौर्वीभिन्न और वस्तु भी यदि सद्वितीय double (दोहरी) होती है तो वह कहीं रख दी जाती है। अतएव यहाँ द्वितीयत्व मात्र की ही उत्प्रेक्षा करनी है 'द्वितीय मौर्वी' की नहीं। इस प्रकार यहाँ 'द्वितीयत्व' विधेय है और वह उत्तरपद-प्रधान कर्मधारय समास में गौण हो गया है प्रधान रूप से नहीं प्रतीत होता। अतएव यहाँ अविमृष्ट-विधेयांश दोष है।

अनुवाद—अथवा जैसे 'हे मृगशावकनयनी (पार्वती), उस महादेव का शरीर विषम (तीन) नेत्रों वाला है, जन्म अज्ञात है, (कुल, गोत्र की बात ही क्या ?) नग्नता (वस्त्रहीनता) से ही उसकी सम्पत्ति प्रकट होती है। बतलाओ तो वरों में जो (रूप, कुल तथा सम्पत्ति आदि गुण) खोजे जाते हैं; क्या उनमें से कोई एक भी (व्यस्तमपि) त्रिनेत्र महादेव में है' ॥१६१॥

यहाँ पर 'अलक्षिता जनिः' यह कहना चाहिए था।

प्रभा—कुमारसम्भव के 'वपु' इत्यादि पद्य में वर में खोजे जाने योग्य गुणों का शिव में अभाव दिखलाते हुए उनके 'जन्म की अलक्ष्यता' बतलानी है। अतएव यहाँ पर जन्म में 'अलक्ष्यता' विधेय है। यह अलक्ष्यता ऐसे अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास (अलक्ष्य जन्म यस्य स अलक्ष्यजन्मा) में गौण (अङ्गीभूत) हो गई है कि जो बहुव्रीहि स्वयं भी तद्धितार्थ का अङ्ग बन गया है (अलक्ष्यजन्मनः भावः अलक्ष्य-जन्मता)। इसलिये विधेयांश का प्रधानतया निर्देश न होने के कारण यहाँ अविमृष्ट-विधेयांश दोष है जो 'अलक्षिता जनिः' इस पाठ से दूर हो सकता है। कुछ व्याख्या-कारों का मत है कि शिव का जन्म भी प्रसिद्ध है अतः यहाँ विशिष्ट अर्थात् 'अलक्ष्य-जन्म' ही विधेय है तथा कोई दोष नहीं।

अनुवाद—अथवा जैसे—'जो (प्रेयसी) आपके लिये आनन्द का सागर थी, आपके प्रति चंचलतायुक्त चित्त को बाँधने का एकमात्र स्थान थी, जो सदा

> या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता-
> तान्ति तनोति तव सम्प्रति धिग् धिगस्मान् ॥१६२॥

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः । यथा—

> नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
> सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
> अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
> कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥१६३॥

इत्यत्र, न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद्विहितम्, यथा—

> जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
> अगृध्नुरचाददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥१६४॥

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

ही आपके द्वारा क्षण भर को नहीं छोड़ी गई, इस समय उसके समाचार (उदन्त) जानने की चिन्ता तुम्हें खेद उत्पन्न करती है, हमें धिक्कार हैं' ॥१६२॥

यहाँ पर 'न मुक्ता' (नहीं छोड़ी गई) इसमें 'न' (निषेध) विधेयांश है (अतः न का प्रधानरूप से निर्देश होना चाहिये, समास में नहीं); जैसे निम्न पद्य में है—(यथा इत्यत्र)—

[विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा कहते हैं] 'यह मुझे मारने के लिये उद्यत नव जलधर है, दर्पयुक्त राक्षस नहीं है, यह इन्द्रधनुष है, दूर तक खींचा हुआ उस (राक्षस) का धनुष नहीं है, यह तीव्र मूसलाधार वर्षा है, बाणों की पंक्ति नहीं है, कनक की कषणरेखा जैसी दीप्तिमती (स्निग्धा) यह विद्युत् है, मेरी प्रियतमा उर्वशी नहीं है' ॥१६३॥

यहाँ ('आनन्द सिन्धु' इत्यादि पद्य में) अमुक्तता को उद्देश्य रूप से कहकर (अनुवादेन) अन्य कुछ विधान नहीं किया गया । जैसे कि—(रघुवंश के)

'उन महाराज (दिलीप) ने निर्भीक होकर अपनी रक्षा की, नीरोग रहकर धर्म का पालन किया, निर्लोभ होकर धन का ग्रहण किया, आसक्तिरहित होकर सुख-भोग किया' ॥१६४॥

इस पद्य में 'अत्रस्त' आदि का अनुवाद करके (अर्थात् अत्रस्त आदि को उद्देश्य बनाकर) 'अपनी रक्षा करना' आदि का विधान किया गया है ('विहितम्' इत्यन्वयः) ।

प्रभा—भाव यह है कि 'न' (नञ्) के दो अर्थ होते हैं—१. प्रसज्यप्रतिषेध, २. पर्युदास । जहाँ विध्यंश की अप्रधानता होती है तथा निषेधांश की प्रधानता होती है और नञ् का अन्वय क्रिया के साथ होता है; वहाँ नञ् का अर्थ प्रसज्यप्रतिषेध (प्राप्त का निषेध) होता है । किन्तु जहाँ विध्यंश प्रधान होता है तथा निषेधांश

१६-विरुद्धमतिकृद्यथा—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥१६५॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम् । अकार्ये मित्रमिति तु प्रतीतिः ।

यथा वा—

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः ।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥१६६॥

मप्रधान होता है और नञ् का सम्बन्ध उत्तरपद से होता है वहाँ इसका अर्थ पर्युदास होता है । जैसा कि कहा भी है—

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता । प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥
प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता । पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥

समास में नञ् का अर्थ पर्युदास होता है, प्रसज्यप्रतिषेध नहीं । आनन्दसिन्धु इत्यादि पद्य के 'अमुक्ता' पद में 'न मुक्ता भवति' यह अर्थ विवक्षित है । अतः यहाँ 'नवजलधरः इत्यादि पद्य के समान प्रसज्य-प्रतिषेघ ही विधेय हैं । ऐसा नहीं कि 'जुगोप' इत्यादि पद्य (में 'अत्रस्त' आदि) के समान (यहाँ) अमुक्ता का उद्देश्य रूप में कथन करके कुछ विधान किया गया हो । किन्तु यह 'न' अर्थात् निषेध नञ् समास में आ जाने के कारण गौण हो गया है और प्रधान रूप से विधेयांश की प्रतीति नहीं होती । इसलिये यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष है ।

अनुवाद—१६. विरुद्धमतिकृत् (प्रस्तुत अर्थ के विरुद्ध मति उत्पन्न करने वाला), जैसे—

'एक वह है, जिसका आचरण (विचेष्टित) सुधाकर की किरणों के समान (निर्मल) एवं कुशल है, जो विना किसी प्रयोजन के (अकार्य) ही मित्र है; उस (के गुणों) का क्या वर्णन करें ॥१६५॥

यहाँ पर कार्य (प्रयोजन) के विना मित्र' यह अर्थ विवक्षित है किन्तु 'बुरे कार्य में (कुकार्य) मित्र है' यह प्रतीति हो रही है ।

प्रभा—जिस पद से विवक्षित अर्थ के प्रतिबन्धक अन्य अर्थ की बुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है, वह विरुद्धमतिकृत् (दुष्ट पद) होता है । यह अनेक प्रकार का होता है । इनमें से भिन्न २ समास-विग्रह में विरुद्धमतिकृत् का उदाहरण-सुधाकर' आदि है । यहाँ विवक्षित समास-विग्रह यह है—

कार्यस्य प्रयोजनस्याभावोऽकार्यम्-अव्ययीभाव समास । अकार्यं मित्रम् अकार्य-मित्रम् (मयूरव्यंसकादि समास)—प्रयोजन विना मित्र । किन्तु यहाँ यह अर्थ प्रकट हो रहा है—न कार्यम् अकार्यम् अर्थात् कुकार्ये मित्रम्-बुरे कार्य में मित्र । अतएव 'अकार्य' पद विरुद्धमतिकृत् (दुष्ट पद) है ।

अनुवाद—अथवा जैसे—'चिरकाल के पश्चात् आये हुये तथा नेत्रों को आनन्द देने वाले प्रियतम का प्रिया सहसा ही कण्ठ-ग्रह (आलिङ्गन) कर लेती है' ॥१६६॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मनः
तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः ।
तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथ वा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥१६५॥

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति ।

यथा वा—

यहाँ पर (गल ग्रह के स्थान पर) 'कण्ठ-ग्रह' यह कहना चाहिये ।

प्रभा—यहाँ पर 'गलग्रह' शब्द से 'गले-लगना' (आलिङ्गन करना) अर्थ विवक्षित है, किन्तु समास में विरुद्धार्थक निरूढ पद के आ जाने के कारण विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो रही है। गलग्रह शब्द रोगविशेष में तथा 'गला पकड़ कर निकालने' (अर्थचन्द्रदान, के अर्थ में निरूढ है और इससे आलिङ्गन अर्थ तभी प्रकट होता है जब यह यौगिक माना जाता है । 'योगाद् रूढिर्बलीयसी' इस न्याय के अनुसार 'रोग' या 'गला पकड़ना' अर्थ की ही यहाँ प्रथम प्रतीति होती है । इसलिये यह पद विरुद्धमतिकृत् है ।

अनुवाद—अथवा जैसे—"यदि उस (राम) ने धनुष-भङ्ग करते समय पार्वती-पति महादेव से डर न किया, तो ठीक है (नाम) क्योंकि वे (शिव तो) प्राणियों पर दया करने के कारण शान्त-स्वभाव वाले हैं; किन्तु उनके पुत्र स्कन्द को क्यों भुला दिया, जिसने मदान्ध तारकासुर के वध द्वारा सभी लोगों को आनन्द प्रदान किया है; अथवा स्कन्द के समान प्रिय उन (शिव) के शिष्य मुझ (परशुराम) को कैसे भुला दिया' ॥१६७॥

यहाँ पर 'भवानीपति' (भव की पत्नी भवानी, उनके पति भवानीपति) शब्द भवानी के किसी अन्य पति की प्रतीति कराता है, (अतः विरुद्धमतिकृत् है) ।

प्रभा—कहीं २ किसी पद का कोई विशेष अर्थ विवक्षित होता है, किन्तु उस अर्थ में व्यर्थ होकर वह पद किसी अन्य अविवक्षित अर्थ का ग्रहण करा देता है तथा विरुद्धमतिकृत् होता है । जैसे—भवभूति के महावीर चरित के उपर्युक्त पद्य में 'भवानीपति' शब्द है । यहाँ 'भवात्' कहने से ही अभीष्ट अर्थ (अर्थात् दक्षयज्ञ-ध्वंसक रुद्र से) प्रकट हो सकता था । इस अर्थ में 'भवानीपति' शब्द व्यर्थ है तथा इसके द्वारा यह अविवक्षित अर्थ प्रतीत होता है—भव की पत्नी का पति (भवस्य पत्नी भवानी तस्याः पतिः भवानीपतिः) और, इससे भवानी के किसी अन्य पति का अभिप्राय निकलता है (जैसे देवदत्त की पत्नी का पति) अतएव यह पद विरुद्ध-मतिकृत् है । कुछ व्याख्याकारों का मत है कि भवानी शब्द दुर्गा (पार्वती) में रूढ है, यौगिक नहीं अतः यहाँ कोई दोष नहीं ।

अनुवाद—अथवा जैसे—"वे अम्बिकापति (शिव) आपकी रक्षा करें जिनका

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।
सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥१६८॥

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति ।

श्रुतिकटु समासगतं यथा—

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।
बर्हिनिर्ह्रादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥१६९॥

एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

[वाक्यदोषाः]

(७४) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥५२॥

वाहन बने हुए (नन्दी) वृषभ के निकट वह (क्रूर) पार्वती का (वाहनभूत) सिंह भी अहङ्कार रहित (सौम्य) हो गया' ॥१६८॥

यहाँ पर 'अम्बिकारमण' शब्द विरुद्धमतिकृत् है ।

प्रभा—'अम्बिका' शब्द का अर्थ 'गौरी' है तथा अम्बा=माता, अम्बैव अम्बिका, इस व्युत्पत्ति द्वारा 'अम्बिका' शब्द का अर्थ माता भी है। इसीप्रकार रमण शब्द का अर्थ प्रीतिकर के साथ साथ उपपति (जार) भी होता है। उपर्युक्त पद्य में 'अम्बिकारमण' का विवक्षित अर्थ—'गौरीपति शिव' है; किन्तु इससे 'माता का उपपति' यह अर्थ भी प्रकट होता है, जो अविवक्षित है । अतएव यह शब्द विरुद्धमतिकृत् है ।

अनुवाद—समासगत श्रुतिकटु पददोष (का उदाहरण); जैसे—

'अमृत की घनी तरङ्गों से युक्त नेत्रों वाली वह सीता तो मुझसे दूर है और मयूरों के केकारव (बर्हिनिर्ह्रादन) के योग्य अर्थात् उसका उत्पादक यह वर्षा काल आ गया' ॥१६९॥

इसी प्रकार अन्य (समासगतच्युतसंस्कृति आदि) भी जानने चाहियें ।

प्रभा—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रुतिकटु आदि १३ दोष केवल पदगत तथा समासगत भी होते हैं। केवल पदगत (असमासगत) के उदाहरण दिये जा चुके हैं। उनमें श्रुतिकटु का समासगत उदाहरण 'सा' इत्यादि है। यहाँ पर 'बर्हिनिर्ह्रादनार्ह' पद शृङ्गार रस की दृष्टि से श्रोताओं का उद्वेजक है, यह समस्त पद है अतः समासगत श्रुतिकटु का उदाहरण है। इसी प्रकार च्युतसंस्कृति आदि शेष १२ पददोषों के समासगत उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं।

वाक्यदोष

अनुवाद—(उपर्युक्त श्रुतिकटु आदि १६ दोषों में से) च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक (इन तीनों) को छोड़कर शेष ये (त्रयोदश दोष) वाक्य में भी होते हैं तथा (उन १६ में से) कुछ पदांश (पदैकदेश) में भी होते हैं।

केचन न पुनः सर्वे । क्रमेणोदाहरणम् ।

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनतार्प्सीत् सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥१७०॥

२. स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम् ।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान् ॥१७१॥

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः अनेडमूको मूकबधिरः ।

(कारिका में) केचन अर्थात् सभी नहीं ।

प्रभा—'अपास्य' पद का 'पदस्यांशेऽपि केचन' से सम्बन्ध नहीं है, अतः श्रुतिकटु आदि सभी (१६) दोषों में से कुछ पदांशगत भी होते हैं ।

पददोष तथा वाक्यदोष का गम्भीर विवेचन काव्य-प्रकाश की टीकाओं में किया गया है । संक्षेप में भाव यह है कि 'एकपदवृत्ति' श्रुतिकटु आदि पददोष हैं तथा 'अनेकपदवृत्ति' श्रुतिकटु आदि वाक्यदोष हैं । व्याकरण द्वारा पदों का ही संस्कार होता है, अतएव च्युतसंस्कृति पद-दोष है, यह वाक्य में नहीं हो सकता । इसी प्रकार शक्यार्थ की उपस्थिति न कराना अर्थात् 'असमर्थत्व' तथा 'च' आदि का केवल पादपूर्ति आदि के लिये प्रयोग अर्थात् 'निरर्थकत्व' भी पद-दोष हैं वाक्य-दोष नहीं ।

अनुवाद—(वाक्यगत श्रुतिकटु आदि के) क्रमशः उदाहरण हैं—

१. [भट्टिकाव्य में दशरथ वर्णन] 'उस (दशरथ) ने वेदों का अध्ययन किया, वेदों की पूजा की, पितरों को तृप्त किया, बन्धुओं का सम्मान किया, (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) छः (शत्रुओं) के समुदाय को जीता, नीति में रमण किया तथा शत्रुओं का जड़ से विनाश कर दिया' ॥१७०॥

प्रभा—यहाँ पर अध्यैष्ट, अयष्ट, व्यजेष्ट षड्वर्गम् इत्यादि अनेक पदों में कर्णकटुता है, अतः वाक्यगत श्रुतिकटुत्व दोष है ।

अनुवाद—२. (वाक्यगत अप्रयुक्तत्व) वह प्रसिद्ध इन्द्र (दुश्च्यवनः) तुम्हें कल्याणों की परम्परा प्रदान करे एवं तुम्हारे शत्रुओं को (असम्मतान्) बधिरता तथा मूकता आदि दोषों के द्वारा नष्ट करे' ॥१७१॥

यहाँ पर दुश्च्यवन (इन्द्र-अर्थ में) तथा अनेडमूक (बधिर-मूक) में अप्रयुक्त दोष है ।

प्रभा—यद्यपि कोष में 'दुश्च्यवन' शब्द इन्द्र के अर्थ में तथा अनेडमूक शब्द बधिर-मूक (अनेडमूक उद्दिष्टः शठे वाक्श्रुतिवर्जिते-मेदिनी) के अर्थ में पठित है तथापि कवियों द्वारा इनका प्रयोग नहीं किया गया अतः यहाँ अनेकपदगत (वाक्यगत) अप्रयुक्तत्व दोष है ।

३. सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्ष्माधिपते:
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप, श्लोकः ॥१७२॥

अत्रसायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशः पर्यायाःशराद्यर्थतया प्रसिद्धाः।

४. कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो,
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥१३७॥

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन् उपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितार्थः।

अनुवाद—३. (वाक्यगत निहतार्थत्व) हे भूपाल, सायक (खड्ग) है सहायक जिसका ऐसी भुजा वाले तथा सागर (मकरध्वजः मकर एव ध्वजः यस्य सः) द्वारा मर्यादित भूमि के अधिपति आपका यह चन्द्रमा (अब्ज) की कान्ति के समान दीप्तिमान् यश (श्लोकः) अत्यधिक शोभायमान हो रहा है' ॥१७२॥

यहाँ पर सायक आदि (मकरध्वज, क्षमा, अब्ज, श्लोक) शब्द क्रमशः खड्ग सागर, पृथ्वी, चन्द्रमा तथा यश के पर्याय रूप में प्रयुक्त है, किन्तु ये क्रमशः बाण आदि (कामदेव, सहनशीलता, कमल तथा पद्य) के अर्थ में प्रसिद्ध हैं।

[जिससे प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा प्रकृत अर्थ तिरोहित (दबा हुआ) हो जाता है तथा निहतार्थत्व वाक्यदोष है।]

अनुवाद—४. (वाक्यगत अनुचितार्थत्व) [राजा के प्रति कवि की उक्ति] 'हे राजन् (विभो। आप पृथिवी को प्राप्त करने वाले (कुं पृथिवीं विन्दति लभते इति कुविन्दः) हैं; शौर्यादि गुण समुदाय (गुण-ग्राम) को सर्वत्र निर्मल कर रहे हैं (पटयसि निर्मलीकरोषि)। ये बन्दीगण (नग्नाः) प्रत्येक दिशा में तुम्हारा यश गाते हैं तथा तुम्हारी कीर्ति, जो शरच्चन्द्रिका के समान गौर, दीप्तिमान् विशाल (विकट) तथा समस्त अङ्गों से सुन्दर है, (वह) इस लोक में नंगी (नग्न) होकर भ्रमण कर रही है'।

व्यङ्ग्यार्थ ['तुम तन्तुवाय (कुविन्द-जुलाहा)] हो, तन्तु-समूह का (गुणग्रामं) ताना बाना करके (अभितः) कपड़ा बुनते हो (पटयसि)' ये वस्त्रहीन (नग्नाः) तुम से वस्त्र पाकर तुम्हारा यश गाते हैं तथापि तुम्हारी (शरत्-सुभगा) कीर्तिरूपा स्त्री यहाँ वस्त्रहीन होकर विचरण करती है' ॥१७३॥

यहाँ पर (उपर्युक्त प्रकार से) कुविन्द आदि शब्द (व्यञ्जना द्वारा) अन्य अर्थ (तन्तुवाय आदि) का बोध कराते हैं तथा स्तूयमान (राजा) का तिरस्कार प्रकट करते हैं।

प्रभा—'कुविन्द' इत्यादि वाक्यगत अनुचितार्थत्व का उदाहरण है। यहाँ पर प्राकरणिक राजा रूप अर्थ वाच्य है तथा तन्तुवायरूप अर्थ व्यङ्ग्य है। इन दोनों का उपमेयोपमान भाव होता है तन्तुवाय से राजा की समता दिखलाना

५. प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम् ।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ॥१७४॥

अत्र प्राभ्रभ्राड्-विष्णुधाम-विषमाश्व-निद्रा-पर्ण-शब्दाः प्रकृष्टजलद-गगन-सप्ताश्व-सङ्कोच-दलानामवाचकाः ।

६. क–भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना ।
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ ॥१७५॥

अत्रोपसर्पण-प्रहरण-मोहनशब्दा व्रीडादायित्वादश्लीलाः ।

ख–तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते ।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्त्तनम् ॥१७६॥

अनुचित है अतः यहाँ अनुचितार्थत्व वाक्य-दोष है । यह निहतार्थत्व नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों अर्थ विवक्षित हैं किन्तु निहतार्थत्व के विषय में केवल प्रकृत अर्थ ही विवक्षित हुआ करता है ।

अनुवाद—५. (वाक्यगत अवाचकत्व) यह विषमसंख्यक (सप्त) अश्वों वाला (सूर्य) उत्तम जलदों से युक्त (अभ्रे आकाशे भ्राजते इति अभ्रभ्राट् जलदः प्रकृष्टोऽभ्रभ्राट् यत्र तादृशम्) आकाश को प्राप्त करके सहस्रदल वालों (कमलों) की निद्रा को भागने के लिये तत्पर करता है' ॥१७४॥

यहाँ पर 'प्राभ्रभ्राट्' (प्रकृष्टतया आकाश में स्थित), 'विष्णुधाम' (विष्णु का स्थान), 'विषमाश्व' (विषमसंख्यक अश्वों वाला), 'निद्रा' (प्राणी की एक विशेष अवस्था), 'पर्ण' (पत्ता)—ये शब्द उत्तम मेघ, आकाश, सप्ताश्व (सूर्य), सङ्कोच तथा दल (सहस्रदल) अर्थों के अवाचक हैं (अतः यहाँ पर वाक्यगत अवाचकत्व दोष है ।

अनुवाद—६. क—(वाक्यगत अश्लीलत्व) शत्रुओं पर वक्र दृष्टि वाली (वामलोचना) उनकी ओर जाती हुई (उपसर्पन्ती) सेना (कम्पना) ने भिन्न-भिन्न शस्त्रों के प्रहार में (प्रहरणे) उत्साहयुक्त होकर शत्रुओं को वश में कर लिया (मोहनम् आदधौ)' ॥१७५॥

यहाँ पर उपसर्पण, प्रहरण तथा मोहन शब्द लज्जोत्पादक होने के कारण अश्लील हैं ।

प्रभा—'उपसर्पण' आदि शब्दों के द्वारा उपर्युक्त अर्थ विवक्षित है किन्तु इन शब्दों से व्यञ्जना द्वारा एक अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है जो लज्जादायिनी है अतएव यहाँ वाक्यगत व्रीडादायी अश्लीलत्व दोष है । यहाँ व्यङ्ग्यार्थ यह है—'रति के लिये उद्यत (उपसर्पन्ती), काँपती हुई (कम्पना), सुन्दर नेत्रों वाली (वामलोचना), कामशास्त्र प्रसिद्ध जघनताडन आदि में उत्साहयुक्त (तत्प्रहरणोत्साहवती) नायिका ने भूपति को रति सुख-मग्न (भूपतेर्मोहनम्) कर दिया ।

अनुवाद—६. ख—(वाक्यगत, जुगुप्सा अश्लीलत्व) जिन कवियों की प्रवृत्ति अन्य कवि-वर्णित अर्थ के ग्रहण (हरण) में होती है वे दूसरों का किया

अत्र वान्तोत्सर्गप्रवर्त्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

ग. पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे ।

भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ॥१७७॥

अत्र पितृगृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थत्वम् ।

७. सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तिकम्पनः ।

मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम् ॥१७८॥

अत्र किं सुरादिशब्दा देव-सेना-शर-विभूत्यर्थाः किं मदिराद्यर्था इति, सन्देहः ।

हुआ वमन खाते हैं तथा दूसरों के पुरीष (उत्सर्ग) का भोजन करते हैं' ॥१७६॥

यहाँ पर 'वान्त' (वमन) तथा 'उत्सर्ग' (पुरीष) शब्द (वाच्यार्थ द्वारा) एवं 'प्रवर्तन' शब्द (मलत्याग रूप व्यङ्ग्यार्थ द्वारा) जुगुप्सा (घृणा) दायी अश्लील हैं [तथा वाक्यगत घृणाप्रद अश्लीलत्व दोष है] ।

६. ग—'मैं अपने परिवार सहित उस पितृ-गृह (पितृवसति) को जाती हूं, जहां पवित्र करने वाले वंश में (पावकान्वये) मेरा हृदय तुरन्त ही शोक रूपी शल्य से रहित (अशेषितं शोकरूपं शल्यकं यस्मात् तथाभूतम्) हो जायेगा' ॥१७७॥

यहाँ पर ('पितृवसति' आदि शब्दों द्वारा) 'पितृ-गृह' आदि अर्थ विवक्षित होने पर भी 'श्मशान' आदि अर्थ की प्रतीति होती है तथा अमङ्गलार्थकता है ।

प्रभा—'पितृवसति' आदि पतिगृह में शोकपीड़ित किसी स्त्री की उक्ति है । यहाँ 'पितृवसति', 'पावकान्वय' तथा 'अशेषितशोकशल्यक' पदों से व्यञ्जना द्वारा यह प्रकट होता है—मैं उस श्मशान (पितृवसति) को जाती हूं, जहाँ अग्नि सम्बन्ध हो जाने पर (पावकान्वये) मेरा हृदय भस्मीभूत (अशेषितशोकशल्यकं) हो जाएगा । इन अमङ्गलसूचक अर्थों के (अनेक पदों मे) प्रकट होने से यहाँ वाक्यगत अमङ्गलप्रद अश्लीलत्व दोष है ।

अनुवाद—७. (वाक्यगत सन्दिग्धत्व) 'देव-गृह में हर्ष-तत्पर, 'शत्रुनाश में समर्थ (पर्याप्त) सेना (कम्पन) से युक्त, बाण-प्रहार में तत्पर (मार्गणप्रवणः), प्रकाशमान वैभव वाले (भास्वद्भूतिः) इस (राजा) को देखिये' ॥१७८॥

यहाँ पर यह सन्देह है कि क्या सुर आदि शब्द देव (सेना, शर, विभूति) आदि के अर्थ में हैं अथवा 'मदिरा' आदि के अर्थ में ।

प्रभा—'सुरा' आदि वाक्यगत सन्दिग्धत्व दोष का उदाहरण है । यहाँ पर सुरालय, कम्पन, मार्गण तथा भूति के अर्थ में सन्देह है कि इनका उपर्युक्त अर्थ होता है अथवा मदिरालय आदि अर्थ; जैसे कि— 'मदिरा में आनन्दमग्न, भलीभांति कांपने वाले, मांगने (मार्गण) में तत्पर, उज्ज्वल भस्म वाले (भास्वद्भूति) इसे देखिये ।' इसी अनेकपदगत सन्देह के कारण यहाँ सन्दिग्धत्व वाक्य-दोष है ।

यथा वा —

अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासि वेल्लितम् ।
विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ॥१८४॥
अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत् ।

उद्देश्य और विधेय के पूर्वापर भाव का विपर्यय हो जाने पर दोष हो जाता है; क्योंकि कहा है—'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।' यहाँ पर 'अयं न्यक्कारः' इन दोनों पदों के दोषयुक्त हो जाने से यह वाक्यदोष है 'अयमेव न्यक्कारः' पाठ से यह अविमृष्टविधेयांश वाक्यदोष दूर हो सकता है।

(ख) प्रसङ्ग में इस पद्य के अन्य पाद में दोष दिखलाते हुए ग्रन्थकार ने बतलाया है कि यहाँ पर 'उच्छूनत्व' उद्देश्य है, उसमें 'वृथात्व' विधेय है वृथात्वसहित उच्छूनता उद्देश्य नहीं। किन्तु यह वृथात्वरूप विधेयांश समास में गौण हो गया है इसकी प्रधानतया प्रतीति नहीं होती अतएव यहाँ समासगत अविमृष्टविधेयांशत्व पद-दोष है। कुछ टीकाकार इसे यथाकथञ्चित् वाक्य-दोष ही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

(ग) यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'न्यक्कारोऽयम्' में अर्थ के उद्देश्य-विधेय भाव की ही विपरीत रूप से प्रतीति हो रही है अतः यहाँ वाक्यार्थ-दोष होगा वाक्य-दोष नहीं। 'अत्र च' इत्यादि पंक्ति में इसका समाधान किया गया है। भाव यह है कि रचना शब्दों का धर्म है, शब्दों के विपर्यय से ही यह दोष होता है इसलिये यह वाक्य-दोष है अर्थ-दोष नहीं।

अनुवाद—(विधेय की अनुपस्थिति होने से अविमृष्टविधेयांश) अथवा जैसे—[सखी की नायिका के प्रति उक्ति]—'हे सुन्दरी, तेरा वह आ गया है, जो तेरे नेत्रों में प्रान्त भाग तक तरङ्गित कटाक्षों को फैलाता है, तेरी भौंहों की वक्रता में (अरालान्ते कुटिलप्रान्तभागे) विलासयुक्त नर्तन (वेल्लितम्) उत्पन्न कर देता है तथा तेरे शरीर पर प्रकट होने योग्य (विसारि) पुलककञ्चुक बना देता है' ॥१८४॥

यहाँ पर 'योऽसौ' ये दोनों पद केवल उद्देश्य (अनुवाद्य) की प्रतीति कराते हैं।

प्रभा—विधेय के गौण हो जाने अथवा विपर्यय हो जाने से ही वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष नहीं होता; किन्तु विधेय की अनुपस्थिति होने पर भी यह दोष होता है। 'अपाङ्ग' इत्यादि इसी का उदाहरण है। भाव यह है कि 'यत्तदोर्नित्योऽभिसम्बन्धः' इस नियम के अनुसार उद्देश्यवाक्यगत 'यत्' शब्द नियत रूप से विधेयवाक्यगत 'तत्' शब्द की आकांक्षा रखता है। यहाँ पर विधेय वाक्य में 'तत्' शब्द (सः) नहीं दिया गया। 'असौ' शब्द (योऽसौ) अवश्य दिया गया है किन्तु

तथा हि प्रकान्तप्रसिद्धाऽनुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते।

क्रमेणोदाहरणम्—

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्विशेष सः ॥१८५॥

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥१८६॥

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।

अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विधेय की पूर्णतया उपस्थिति नहीं होती तथा 'अविमृष्टविधेयांशत्व' वाक्यदोष है।

यदि कोई शङ्का करे कि 'यत्' 'तत्' का पृथक् २ प्रयोग भी देखा जाता है अतः इन दोनों की साकांक्षता ही सिद्ध नहीं होती और एक के प्रयोग से भी निराकांक्ष प्रतीति हो सकती है तो ग्रन्थकार 'तथा हि—परामृश्यते' अवतरण द्वारा उसका समाधान करते हैं—

अनुवाद—क्योंकि जो तत् शब्द (क) पूर्वप्रनीत (प्रक्रान्त), (ख) लोक प्रसिद्ध (प्रसिद्ध) तथा (ग) स्पष्ट अनुभव की हुई (अनुभूत) वस्तु आदि के विषय में होता है, वह 'यत्' शब्द के ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता।

(इन तीनों के) क्रम से उदाहरण हैं—

(क) [रघुवंश में अतिथि-वर्णन] 'केवल (शौर्यादिरहित) नीति भीरुता है, केवल (नीतिरहित) शौर्य (व्याघ्रादि) पशुओं का आचरण है इसलिए अतिथि नामक राजा दोनों (नीति तथा शौर्य) से संयुक्त रूप में इष्ट सिद्धि के लिये प्रयत्न करते रहे (अन्विषेष-अन्विष्टवान्, अन्वेषण किया)' ॥१८५॥

[यहाँ 'सः' प्रकरण प्राप्त (प्रकान्त) राजा अतिथि के लिये आया है अतः 'यत्' शब्द की आकांक्षा नहीं करता]।

(ख) [कुमारसम्भव में वटुवेषधारी शिव की पार्वती के प्रति उक्ति] 'कपाल धारण करने वाले महादेव की समागम-प्रार्थना से अब दोनों शोचनीयता को प्राप्त हो गई—वह चन्द्रमा की कान्तिमती कला तथा इस लोक की नेत्रों की चन्द्रिका तुम' ॥१८६॥

[यहाँ 'सा' शब्द प्रसिद्ध अर्थ का बोधक है अतः यह यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता],

(ग) [रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता को लक्ष्य कर के वत्सराज की उक्ति] 'हे प्रिये (वासवदत्ते), कांपती हुई, भय से परिस्खलित वस्त्राञ्चल वाली उन कातर

क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥१८७॥

यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात्पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते; यथा—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥१८८॥

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकांक्षः। यथा तत्रैव श्लोके आद्यपादयोर्व्यत्यासे। द्वयोरुपादाने तु निराकांक्षत्वं प्रसिद्धम्। अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्क्वचिद् द्वयमपि गम्यते, यथा—

नेत्रों को प्रत्येक दिशा में घुमाती हुई तुमको क्रूर अग्नि ने निर्दयता से सहसा जला दिया, क्योंकि धूम्र से अन्धे हुए उसने तुम्हें देखा नहीं ॥१८७॥

[यहाँ 'ते' (वे) यह अनुभूत वस्तु को कहना है अतः यह 'यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता] ।

प्रभा—उपर्युक्त तीन उदाहरणों द्वारा यह दिखलाया गया है कि 'तत्' शब्द 'यत्' से नित्य सम्बन्ध रखते हुए भी कुछ स्थलों में 'यत्' की अपेक्षा नहीं रखता । अब ग्रन्थकार बतलाते है कि 'यत्' शब्द भी कही २ 'तत्' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता—(यदिति)—

अनुवाद—'यत्' शब्द भी जहाँ (परस्पर सम्बद्ध वाक्यों में से) बाद के वाक्य में (अथवा वाक्य के पिछले भाग में) अन्वित रूप में (अनुगतत्वेन) प्रयुक्त होता है, वहाँ ('तत् के आक्षेप की) सामर्थ्य के कारण पूर्व वाक्य में अन्वित तत् शब्द के प्रयोग की आकांक्षा नहीं रखता । जैसे—

'सौन्दर्य' में अधिक चन्द्रमा के उदित हो जाने पर जो कमल मुकुलित हो गये यह उन कमलों ने उचित ही किया, किन्तु अपने को जीतने वाले कामिनीमुख के होने पर भी उदित होने वाले उस (चन्द्रमा) ने तो बड़ा साहस (दुःसाहस) किया' ॥१८८॥

प्रभा—यहाँ पर 'यन्मीलितम्' में उत्तरवाक्यगत यत् शब्द है, वह पूर्व वाक्य में 'साधु कृतं' के साथ 'तत्' शब्द के प्रयोग (तत् साधु कृतम्) की आकांक्षा नहीं रखता । 'तत्' शब्द का सामर्थ्य से आक्षेप हो जाता है ।

अनुवाद—किन्तु वाक्य के पूर्व भाग में (प्राक्) प्रयुक्त हुआ 'यत्' शब्द 'तत्' शब्द के प्रयोग के बिना साकांक्ष रहता है; जैसे 'साधु' आदि श्लोक में ही प्रथम, द्वितीय चरणों का विपर्यास (उलटना) करने पर (वह निराकांक्ष नहीं रहता)

'यत्' और 'तत्' दोनों का प्रयोग होने पर तो इनकी निराकांक्षता प्रसिद्ध ही है । कहीं कहीं दोनों का प्रयोग न होने पर भी अर्थाक्षेप-सामर्थ्य से दोनों की प्रतीति हो जाती है । जैसे—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥१८६॥

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रतीति।

एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकाङ्क्षत्वम्। न चासाविति तच्छब्दार्थमाह—

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥१९०॥

[मालतीमाधव में भवभूति की उक्ति] 'जो कोई हमारी इस ग्रन्थ में (इह-प्रबन्धे) अवहेलना करते हैं, वे कुछ जानते भी हैं ? (अर्थात् कुछ नहीं जानते, काकु)। उनके लिये यह (ग्रन्थलेखन) प्रयत्न नहीं है। मेरे समान गुणों वाला कोई उत्पन्न होगा, अथवा कहीं विद्यमान होगा (अस्ति); क्योंकि समय अनन्त है तथा पृथ्वी विस्तृत है (उसी के लिये यह प्रयत्न है—यह भाव है)' ॥१८६॥

यहाँ पर जो (यः) उत्पन्न होगा, उसके लिए (तं प्रति)—(इस प्रकार प्रयोग के बिना भी प्रतीति होती है।

प्रभा—'यत्' शब्द जहाँ उत्तरवाक्य में होता है वही 'तत्' शब्द का आक्षेप कर सकता है किन्तु जहाँ यह वाक्य के पूर्व भाग में होता है वहाँ 'तत्' का आक्षेप नहीं कर सकता और साकांक्ष बना रहता है। जैसे-यदि 'साधु' इत्यादि पद के प्रथम-द्वितीय चरण को उलट कर रख दिया जाय—'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैःकृतम्' तो 'यत्' शब्द साकांक्ष ही रहेगा और 'अविमृष्ट-विधेयांश दोष होगा ही।

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि 'यत्' और 'तत्' शब्द की स्वभाव से ही परस्पर साकांक्षता है। जहाँ दोनों का प्रयोग होता है वहाँ यह (शाब्दी) आकांक्षा पूर्ण हो जाती है; जैसे 'ये नाम' आदि के पूर्वार्द्ध में। कहीं २ इनका प्रयोग नहीं होता किन्तु अर्थतः इनकी प्रतीति हो जाती है जैसे 'ये नाम' आदि के उत्तरार्ध में। कुछ निश्चित स्थलों पर केवल 'तत्' का प्रयोग होता है और 'यत्' की प्रतीति हो जाया करती है। तथा कहीं २ 'यत्' का ही प्रयोग होता है और 'तत्' की सामर्थ्य से प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार 'यत्' और 'तत्' के उद्देश्य-विधेय रूप में सह-प्रयोग का नियम है, अन्यथा 'अविमृष्टविधेयांशत्व' वाक्य-दोष हो जाता है।

अनुवाद—इस प्रकार 'तत्' शब्द का प्रयोग न करने पर 'अपाङ्ग०' इत्यादि (१८४ उदाहरण) में (अत्र) 'यत्' शब्द में साकांक्षता रहती है [और अविमृष्टविधेयांशत्व दोष है]; और 'असौ' शब्द भी 'तत्' शब्द के अर्थ को नहीं कहता, क्योंकि—

अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः।
प्रतीतौ वा—

करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः।
यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात्॥१६१॥

अत्र स इत्यस्यानर्थक्यं स्यात्।
अथ—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश, निखिलं भवद्वपुः।
आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्॥१६२॥

[हनुमन्नाटक] हे प्रिये, जिस (वसन्त ऋतु) में (दक्षिण) पवन ने सुन्दर बकुल वृक्षों (केसर) का चुम्बन किया है [हनुमान पक्ष में—जिसकी सुन्दर सटाओं को पवन अर्थात् हनुमान के पिता ने चूमा या सूंघा है], जिसमें निर्मल चन्द्रमण्डल मुख्य (अग्रणी) है [जो प्रसन्न सुग्रीव (ताराधिप) के राष्ट्र (मण्डल) में अग्रगामी है], वियोगिनी रमणियों (रामा) के द्वारा आतुर दृष्टि से देखा गया [वियोगी राम के द्वारा उत्सुक दृष्टि से देखा गया] वह वसन्तकाल (सङ्का से) हनुमान के समान आ गया है' ॥१६०॥

यहाँ पर 'असौ' (अदस्) से 'सः' (तत्) की प्रतीति नहीं होती।

यदि ('असौ' से 'सः' की) प्रतीति हो जाती तो 'करवाल से भयंकर भुजदण्ड ही जिसके सहायक हैं, जो युद्ध में विजय नामक अर्जुन के समान एक वीर है ऐसा जो यह (प्रसिद्ध) कर्ण है यदि वह राजा (दुर्योधन) के द्वारा उस कार्य (सेनाधिपत्य) में नियुक्त कर दिया जाय तो कार्य (पाण्डवराज्यत्याग आदि) सफल (कृतं) हो जाय' ॥१६१॥

इस पद्य में 'सः' (तत्) यह पद निरर्थक हो जायेगा।

प्रभा—'तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः' (उदाहरण १८४) में 'सः' (तत्) का प्रयोग न होने से 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष है, यह बतलाते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि 'अदस्' (असौ) शब्द 'तत्' के अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। अदस्' शब्द 'प्रत्यक्षानुभूत' या "पुरोवर्ती' (सामने उपस्थित) मात्र का बोध कराता है। 'तत्' शब्द 'परोक्ष' का बोध कराता है। अतएव 'अदस्' शब्द 'तत्' का समानार्थक नहीं। जैसे 'असौ मरुत्' इत्यादि में 'असौ' से 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। किञ्च, यदि 'अदस्' शब्द से 'तत्' के अर्थ का बोध हो जाया करता तो 'करवाल' इत्यादि में 'योऽसौ' पद है ही फिर 'सः' (स तत्र) निरर्थक हो जाता।

अनुवाद—यदि कहो कि (अथ—उच्यते· 'हे ईश' जो व्यक्ति इस (प्रसिद्ध) समस्त [संसार रूप] अर्थ-समुदाय को निःसन्दिग्ध रूप से (अविकल्पं) आपके ही स्वरूप में (भवद्वपुः) देखता है, उस (अस्य) सदा सुखी (आत्मसंन्तर्पी) व्यक्ति को आत्मस्वरूप से व्याप्त संसार में किससे भय हो सकता है ? ॥१६२॥

इतीदंशब्दवद् अदः शब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते इति उच्यते तर्ह्यत्रैव वाक्यान्तरे उपादानमर्हति न तत्रैव । यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितः प्रसिद्धि परामृशति—

यथा—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताऽक्षैस्तदाऽनेन नूनं तदपि हारितम् ॥१६३॥

इत्यत्र तच्छब्दः ।

इस ('योऽविकल्पम्' आदि पद्य के) 'इदम्' (अस्य) शब्द के समान 'अदस्' शब्द भी 'तत्' शब्द के अर्थ का वाचक है, तब तो जैसे 'योऽविकल्पम्' आदि में (अत्रैव) (यः' से 'अस्य' का) भिन्न वाक्य में प्रयोग है इसी प्रकार (असौ' का) भिन्न-वाक्य में प्रयोग करना उचित है, उस (एक वाक्य) में ही नहीं, [तर्ह्यत्रैव अदः शब्दः वाक्यान्तरे उपादानमर्हति—यह अन्वय है; यहाँ 'अदः' (कर्ता) का अध्याहार होता है] । क्योंकि (यह अदः शब्द) 'यत्' शब्द के निकट समान लिङ्ग, वचन; विभक्ति में) प्रयुक्त होकर प्रसिद्धिमात्र का बोध कराता है; जैसे—(यत्तदूर्जितमादि में तत् शब्द-यह अन्वय है)

इस राजा (युधिष्ठिर) का जो वह (प्रसिद्ध) अर्जित तथा उग्र क्षात्र तेज था तब द्यूत क्रीड़ा करते हुए इन्होंने उसे भी हरवा दिया' ॥१६३॥

इस (वेणीसंहार के पद्य) में ('यत्तदूर्जितम्' में 'यत्' के निकटस्थ) 'तत्' शब्द प्रसिद्धिमात्र का बोधक है ।

प्रभा—शङ्काकर्त्ता का आशय यह है—'अदस्' शब्द का 'तत् शब्द' से भिन्न अर्थ है यह ठीक है; किन्तु शब्दों का प्रकरणानुसार नाना अर्थों में प्रयोग हो जाया करता है, जैसे 'योऽविकल्पम्' इत्यादि (१६२) में 'इदम्' (अस्य) शब्द का प्रयोग 'तत्' शब्द के अर्थ में देखा जाता है । 'इदम्' 'एतद्' और 'अदस्' तीन शब्द समानार्थक हैं, अतएव 'इदम्' के समान 'अदस्' का भी 'तत्' शब्द के अर्थ में प्रयोग हो सकता है तथा 'तनोति योऽसौ' (१८४) में 'असौ' शब्द 'सः' के अर्थ में है और कोई दोष नहीं ।

'उच्यते' आदि के द्वारा इसका समाधान किया गया है । भाव यह है कि यदि 'तनोति योऽसौ' में 'असौ' शब्द वस्तुतः 'सः' के अर्थ में होता तो इसका प्रयोग 'यः' (यत्) से भिन्न वाक्य में होता, जैसे 'योऽविकल्पम्' आदि उदाहरण में यः और अस्य का भिन्न २ वाक्यों में प्रयोग किया गया है । किन्तु इसका प्रयोग तो उस (एक) ही वाक्य में किया गया है अतः यह 'तत्' के अर्थ का बोधक नहीं । दूसरी बात यह है कि यह 'असौ' शब्द 'यः' के समानाधिकरण रूप में उसके निकट प्रयुक्त है अतएव यह प्रसिद्धि अर्थ का बोध कराता है । 'अदम्' 'इदम्' की तो बात ही क्या ? यदि 'तत्' शब्द भी यत् के निकट समानाधिकरण रूप में प्रयुक्त होता है

ननु कथं—

> कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते,
> धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव, प्रसीद ।
> यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ, नम्रस्य तन्मे
> भद्रं भद्रं वितर भगवन्, भूयसे मङ्गलाय ॥१५४॥

अत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्तम् । उच्यते—यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् । तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते ।

तो वह भी प्रसिद्धिमात्र का बोधक होता है जैसे 'यत्तदूर्जितम्' इत्यादि पद्य में है। इसलिये 'तनोति योऽसौ' (१८४) में 'असौ' से विधेय की प्रतीति नहीं होती तथा यहाँ अविमृष्टविधेयांशत्व वाक्यदोष है ।

अनुवाद—(यदि यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध है) तो कैसे ?

'हे विश्वमूर्ते (सूर्य) तुम कल्याणप्रद तेजों के आश्रय हो, मुझमें (अभिनयादि) भारवहनसमर्थ लक्ष्मी (सम्पत्ति, सम्पन्नता) को धारण करो । हे देव, प्रसन्न हो । हे जगन्नाथ, मुझ विनम्र के जो जो पाप हैं, उन्हें दूर करो । हे भगवन्, और अधिक मङ्गल के लिये अत्यन्त अभीष्ट अर्थ प्रदान करो' ॥१८४॥

(मालती माधव के) इस पद्य में 'यद्' 'यत्' (उद्देश्य रूप में दो बार) कहकर (विधेय रूप में) 'तन् मे' (एक बार) ही कहा है ।

उत्तर (दिया जाता) है—'यद् यद्' के द्वारा जिस किसी (ज्ञात या अज्ञात) रूप से स्थित सकल पाप वस्तु (एक रूप में) अवगत (आक्षिप्त) होती है तथा उसी रूप में 'तत्' शब्द के द्वारा उसका परामर्श किया जा रहा है ।

प्रभा—'ननु कथम्' आदि शङ्का का अभिप्राय है कि 'कल्याणानाम्' इत्यादि पद्य में 'यत्,यत्' शब्द दो बार प्रयुक्त है तथा 'तत्' शब्द (तन्मे) एक ही है । यदि 'यत्' शब्द का तत्' के साथ नियत सम्बन्ध है तो इस पद्य में 'तत्' पद के द्वारा एक 'यत्' पद की आकांक्षा पूर्ण हो सकती है किन्तु दूसरा साकांक्ष ही बना रहेगा; अतः यहाँ भी अविमृष्टविधेयांशत्व दोष होगा । 'उच्यते' इत्यादि उत्तर का भाव यह है—प्रस्तुत प्रकरण में 'यत्,यत्' के द्वारा समस्त पापों का संकलित रूप में ग्रहण होता है तथा 'तत्' पद के द्वारा पापत्व रूप से उनका परामर्श होता है अतः एव यहाँ दूसरे 'तत्' पद की आवश्यकता नहीं । बात यह है कि 'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धः' इसका तात्पर्य यही है कि 'यत्' पद के अर्थ का 'तत्' पद के द्वारा परामर्श हुआ करता है । यह नहीं कि जितने 'यत्' शब्दों का प्रयोग किया गया हो उतने ही 'तत्' शब्द भी प्रयुक्त किये जाएँ । इस प्रकार 'कल्याणानाम्' इत्यादि में कोई दोष नहीं; किन्तु 'तनोति योऽसौ (१८४) इत्यादि में उद्देश्यविधेय भाव की प्रतीति नहीं होती तथा यहाँ 'अविमृष्टविधेयांशत्व' वाक्यदोष है ही ।

यथा वा—

> किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
> मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथ वा मातैव मे मध्यमा।
> मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
> र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥१६५॥

अत्रार्यस्येति तातस्येति च वाच्यं न त्वनयोः समासे गुणीभावः कार्यः। एवं समासान्तरेऽप्युदाहार्यम् ॥

१३. विरुद्धमतिकृद्यथा—

> श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्त्तयः।
> विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥१६६॥

अनुवाद—[समास में वाक्यगत अविमृष्टविधेयांशत्व दोष दिखलाते हैं] अथवा जैसे—'क्या वह (विनयादियुक्त) भरत लोभ से आक्रान्त हो गया और उसने कैकेयी द्वारा (मात्रा) यह ऐसा करा दिया ? अथवा मेरी मझली माता ही स्त्रियों की (स्वभावसिद्ध) क्षुद्रता को प्राप्त हो गई ? नहीं, मेरे ये दोनों प्रकार के विचार मिथ्या हैं; क्योंकि वह मेरा ज्येष्ठ भ्राता (गुरुः) भरत तो आर्य राम का अनुज है और वह मेरी माता (कैकेयी) पिता (महाराज दशरथ) की धर्मपत्नी है। इसलिये मैं समझता हूं कि यह अनुचित कार्य विधाता ने ही किया है' ॥१६५॥

(वनवास के हेतु का विचार करते हुए लक्ष्मण की) इस (उक्ति) में 'आर्यस्य' तथा 'तातस्य' ऐसा कहना चाहिये था। इनका समास में गौण रूप तो नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य समासों में भी अविमृष्टविधेयांशत्व वाक्य-दोषों के उदाहरण देख लेना चाहिये।

प्रभा—ऊपर समास के बिना वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष का विस्तार से विवेचन किया गया है। यदि अनेक समस्त पदों में यह दोष होता है तो भी वाक्यगत दोष के अन्तर्गत ही वह गिना जाता है अतएव 'किं लोभेन' इत्यादि में समास में वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष दिखलाया गया है। यहाँ पर 'अनुज' (छोटे भाई भरत) के साथ 'आर्य' (श्रेष्ठ राम) का सम्बन्ध तथा 'कलत्र' (स्त्री, कैकेयी) के साथ 'तात' ('पिता, दशरथ) का सम्बन्ध उत्कर्ष (उच्चाशयता) प्रकट करने के लिए दिखलाया गया है। इसलिये यही सम्बन्ध विवक्षित है, विधेयरूप है तथा इसका प्रधानरूप में उल्लेख होना चाहिये। षष्ठी समास (आर्यानुजः आदि) करने पर तो यह गौण हो जाता है तथा 'अविमृष्ट-विधेयांशत्व' दोष हो जाता है। इसीलिए 'आर्यस्य अनुजः', 'तातस्य कलत्रम्' ऐसा प्रयोग करना उचित था।

अनुवाद—(१३) [वाक्यगत] विरुद्धमतिकृत् दोष (का उदाहरण), जैसे—'आज वे नृपगण युद्ध को त्याग कर दुःखरहित होकर सोते हैं; जिन्होंने क्षमा का

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासते इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः।

[पदैकदेशगतदोषाः]

पदैकदेशे यथासम्भवं क्रमेणोदाहरणम्—

१. अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात् सङ्गमेनाङ्गनायाः।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥१६७॥

अत्र त्वादिति।

आश्रय लिया है, जिनमें प्रजा अनुरक्त है (रक्ता भूः लक्षणया प्रजा येषु) तथा जिनके शरीर कल्याण (शिव) से विशिष्ट (आलिङ्गित) हैं ॥१६६॥

यहाँ पर 'क्षमा' आदि गुणों से युक्त (जन) सुखपूर्वक रहते हैं' यह (अर्थ) विवक्षित है, किन्तु 'वे मारे गये' इस विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो रही है।

प्रभा—'श्रितक्षमा' इत्यादि में वाक्यगत विरुद्धमतिकृत् दोष है। जो उपर्युक्त अर्थ यहाँ पर विवक्षित है उसके साथ ही इस विरुद्ध अर्थ की प्रतीति भी हो रही है कि 'वे भूमि पर पड़े हुए रुधिर से सने (रक्तस्य भुवः स्थानभूताः) हुए सो रहे हैं, शरीर के नाश (विग्रहस्य क्षपणेन) से जिनके प्राण तथा इन्द्रियाँ चली गई हैं। (गताः असवः खानि च येषां), शृगालियों (शिवा) से जिनकी शरीरमूर्ति युक्त है।' इस अर्थ का बोध विवक्षित अर्थ-प्रतीति द्वारा होने वाले चमत्कार का अपकर्षक है अतएव यह दोष है।

पदांश (पदैकदेश) दोष—

अनुवाद—पद के एकदेश में होने वाले दोषों का यथासम्भव क्रमशः उदाहरण है—

१. [पदैकदेश श्रुतिकटु] 'यद्यपि हम शतशः यह विचारते हैं कि अत्यन्त अस्थिर, स्वप्न और माया के समान (मिथ्या) तथा परिणाम में दुःखकर होने के कारण रमणियों का सङ्ग न करना चाहिये (अलम्) तथापि मेरी अन्तरात्मा मृग-नयनी (रमणी) को भूलती नहीं' ॥१६७॥

यहाँ पर 'त्वात्' यह श्रुतिकटु है।

प्रभा—'अलम्' इत्यादि किसी कामिनी में अनुरक्त व्यक्ति की उक्ति है। यहाँ पर शान्त का उपमर्दन करके शृङ्गार रस उदित होता है। श्रुतिकटु और उसका अपकर्षक है। 'त्वात्' जो (चपलत्वात्, उपमत्वात्, विरसत्वात्) पदों का एक देश है वह यहाँ श्रुतिकटु है। जहाँ पद में एक वर्ण कटु होता है वहाँ पदैकदेश में श्रुतिकटुता तथा जहाँ एक पद में एक से अधिक वर्ण कटु होते हैं वहाँ पद में

यथा वा--

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देव कार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥१९८॥

अत्र द्धर्यै ब्ध्यै इति कटुः ।

२. यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥१९९॥

अत्र मत्ताशब्दः क्षीवार्थे निहतार्थः ।

३. आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित-
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम् ।

श्रुतिकटुता होती है । किन्तु जहाँ श्रुतिकटुता अनेकपदवृत्ति होती है वहाँ श्रुतिकटुता वाक्यदोष माना जाता है—

किन्हीं के मतानुसार 'त्वात्' मे श्रुतिकटुता नही है, अतः दूसरा उदाहरण दिया गया है—

अनुवाद—अथवा जैसे—'हे काम, इसलिए तुम कार्यसिद्धि के लिये जाओ, देवकार्य (स्कन्द की उत्पत्ति रूप) करो। यह कार्य अन्य कार्य (शिव पार्वती के विवाह) द्वारा ही सिद्ध होने योग्य (लभ्य) है। जैसे बीजाङ्कुर उत्पत्ति से पूर्व जल की अपेक्षा रखता है इसी प्रकार यह कार्य अपनी सिद्धि के लिये (अङ्गलब्ध्यै= स्वरूप-लाभाय) कारण रूप (प्रत्यय) में तुम्हारी अपेक्षा रखता है' ॥१९८॥

इस (कुमारसम्भव, इन्द्र की कामदेव के प्रति उक्ति) में 'द्धर्यै', 'ब्ध्यै' ये श्रुतिकटु पदैकदेश हैं। [प्रार्थना में अति मधुर भाषण ही उचित है, अतः यह दोष है—उद्योत टीका]

अनुवाद—[२. निहतार्थ]—'जो हिमालय अप्सराओं के विलास निमित्त आभूषणों का सम्पादन करने वाली, मेघखण्डों में लालिमा का आधान करने वाली असमय की सन्ध्या जैसी (उत्प्रेक्षा) धातुमत्ता (सिन्दूरादि युक्तता) को अपने शिखरों पर धारण करता है' ॥१९९॥

इस (कुमारसम्भव के पद्य) में 'मत्ता' पदैकदेश उन्मत्तता (क्षीव) अर्थ में निहतार्थ है।

प्रभा—'धातुमत्ता' शब्द का विवक्षित अर्थ है—धातुयुक्तता (धातवोऽस्य सन्तीति धातुमान् तस्य भावः धातुमत्ता)। किन्तु इस अर्थ की प्रतीति से पूर्व ही पद के एक देश 'मत्ता' का सुप्रसिद्ध अर्थ 'उन्मत्ता' (क्षीवा) प्रकट हो जाता है और उससे 'मतुप्' प्रत्यय का अर्थ तिरोहित (निहत) हो जाता है। अतएव 'मत्ता' पदैकदेश निहतार्थ है।

अनुवाद—[३. निरर्थक] यह मृगनयनी पहले अञ्जनपुञ्ज से लेप किये हुए, फिर शोकोच्छ्वास से प्रवृद्ध एवं चारों ओर व्याप्त विरहानल से तपाये हुए

सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो ।
भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा ॥२००॥

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकम् कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात्। नचालसवलितैरित्यादिवद् व्यापारभेदाद् बहुत्वम्, व्यापाराणामनुपात्तत्वात्। न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्तते। अत्रैव कुरुते इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम्, प्रधानक्रियाफलस्य कर्त्रसम्बन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात्।

अपने नेत्रों का इस समय (तापानन्तर) अश्रु-जल से अत्यधिक सेचन कर रही है, यह मानों कामदेव (चेतोभुवः) के विशेष प्रकार के बाणों (भल्लों) का पानकर्म (धार को तीक्ष्ण करने का कार्य, जिसमें शस्त्र को पङ्क से लेपकर, तपाकर जल में डाल दिया जाता है) कर रही है' ॥२००॥

यहाँ पर 'दृशां' (नेत्रों का) यह बहुवचन निरर्थक है; क्योंकि एक ही मृगनयनी का ग्रहण किया गया है। यह भी (ठीक) नहीं कि 'अलसवलितैः' इत्यादि (अमरुशतक के पद्य) के समान व्यापार-भेद के कारण नेत्रों में बहुवचन हो गया है; क्योंकि व्यापारों का यहाँ ग्रहण नहीं किया गया और यहाँ 'दृक्' शब्द दर्शन-व्यापार के अर्थ में है भी नहीं। फिर इसी पद्य में 'कुरुते' यहाँ आत्मनेपद (का प्रत्यय) भी अनर्थक है; क्योंकि क्रिया का मुख्य फल (सकलविलासिजनविजय) कर्ता (स्त्री) से सम्बन्ध नहीं रखता जिससे कर्तृगामी क्रियाफल का अभाव है।

प्रभा—'प्रादो' इत्यादि उदाहरण में पदैकदेश की निरर्थकता दिखाई गई है। यह भावी विरह से रुदन करती हुई किसी नायिका का वर्णन है। इसमें पदैकदेश निरर्थक है—(१) 'दृशां' में बहुवचन निरर्थक है; क्योंकि वर्णनीय मृगनयनी एक है और उसकी दो आँखें हैं अतः द्विवचन होना चाहिये। यद्यपि यह ठीक है कि कहीं २ नेत्रों के भिन्न २ दर्शन-व्यापारों की दृष्टि से बहुवचन का प्रयोग हो जाता है, जैसे अमरुशतक के निम्न पद्य में है—

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते ॥

किन्तु यहाँ तो 'ईक्षणैः' इस शब्द से ईक्षणव्यापारों का ग्रहण है और प्रकृत में 'दृक्' शब्द से व्यापारों का ग्रहण नहीं होता, यहाँ 'दृक्' शब्द दर्शनव्यापार का बोधक नहीं है; क्योंकि 'अञ्जनलेपन' आदि कार्य किसी वस्तु में हो सकते हैं क्रिया या व्यापार में नहीं; अतएव यहाँ दृक् शब्द (दृश्यतेऽनया इति) नेत्रवाचक ही है और इसमें द्विवचन ही होना उचित है।

(२) दूसरा दोष यह है कि 'कुरुते' में आत्मनेपद (ते) निरर्थक है। 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (अष्टाध्यायी १/३/७२) के अनुसार कृञ् धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद होता है; अर्थात् जहाँ क्रिया का मुख्यफल कर्ता

४. चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥२०१॥

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः।

५. क–अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः।
परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥२०२॥

से सम्बन्ध रखता है वहाँ आत्मनेपद होता है। यहाँ 'बाण को तीक्ष्ण करना रूप' क्रिया का फल सकलविलासिजन विजय है जिसका सम्बन्ध कामदेव से है, मृगनयनी से नहीं। अतएव कर्तृगामी क्रियाफल नहीं और आत्मनेपद जो पदैकदेश है, निरर्थक है।

(३) यहाँ दो नेत्रों में किसी प्रकार बहुत्व का आरोप किया जा सकता है तथा कामदेवगत क्रियाफल का भी तत्सम्बन्धिनी नायिका में आरोप किया जा सकता है अतएव बहुवचन तथा आत्मनेपद असाधु या च्युतसंस्कृत नहीं है अपितु आरोप का कोई फल न होने से निरर्थक ही हैं।

अनुवाद—[४. अवाचक] 'हे परशुराम, आपके धनुर्विद्यागुरु त्रिपुरविजयी महादेव हैं; आपने कार्तिकेय को जीत लिया है (विजेयः विजितः); आपके बाण द्वारा दूर हटाया हुआ (व्यस्तः उत्क्षिप्तः) सागर ही आपका निवासस्थान है; यह भूमि आपकी हन्तकार अर्थात् १६ ग्रासों की अतिथि-भिक्षा है (समस्त पृथ्वी को जीतकर ब्राह्मणों को दान कर दिया, यह ध्वनित होता है)। यह सब (श्लाघ्य) है; किन्तु तुम्हारी माता का गला काटने वाले इस तुम्हारे परशु से स्पर्धा करता हुआ मेरा चन्द्रहास (खड्ग) लज्जित होता है' ॥२०१॥

इस (राजशेखरकृत बालरामायण में रावण की परशुराम के प्रति उक्ति) में 'विजेयः' में कृत्य प्रत्यय (यत्) 'क्त' प्रत्यय के अर्थ (विजितः) में (प्रयुक्त किया गया है जो) अवाचक है।

प्रभा—'विजेयः' में 'जि' धातु से 'अर्हता' अर्थात् योग्यता अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है और योग्यता भावीकालविषयक होती है; किन्तु यहाँ अतीतकाल की विजय विवक्षित है, जो 'क्त' प्रत्यय द्वारा प्रकट की जा सकती है। 'यत्' प्रत्यय उसका वाचक नहीं। 'यत्' प्रत्ययमात्र में दोष होने के कारण पदैकदेशगत अवाचकत्व दोष है।

अनुवाद—[५. क–व्रीडादायी अश्लील] 'धूर्त व्यक्ति अत्यन्त कोमल अति परिमित वर्णों वाली बात (सत्यता प्रकट करने के लिये) धीरे से (लघुतरम् अतिमन्दं यथा भवति तथा) कहता है; किन्तु वस्तुतः (परमार्थतः) वह तीव्र विष से भरा सा हृदय रखता है।' ॥२०२॥

अत्र पेलवशब्दः।

ख–यः पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थ-
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन।
सौजन्यमान्यजनिरूर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥२०३॥

अत्र पूयशब्दः।

ग–विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग, तादृशः।
कथमद्य स तद्वदीक्ष्यतां तदभिप्रेतपदं समागतः ॥२०४॥

अत्र प्रेतशब्दः।

६. कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम्।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥२०५॥

अत्र किं पूर्वं साधुः उत साधुषु चरतीति सन्देहः।

इस (मित्र के प्रति आप्तोपदेश) में 'पेलव' शब्द का एकदेश ('पेल' शब्द लाटभाषा में अण्डकोशवाचक है अतः) अश्लील है।

[ख–जुगुप्सादायी] 'जो (महात्मा) गङ्गाप्रभृति तीर्थसमूहों (तीर्थसार्थः) में स्नान करने से तथा शास्त्राभ्यास द्वारा संस्कार दृढ़ करने से पवित्र हो जाता है, सौजन्य के कारण जिसका जन्म सम्मान-योग्य है (सौजन्येन मान्या जनिर्यस्य), जो बलवान् मनुष्यों का बल है, वह यह (महापुरुष) किसी (पुण्यशाली) मनुष्य को ही दृष्टिगोचर होता है ॥२०३॥

इस (किसी महापुरुष की प्रशंसा) में ('पूयते' का एक देश) 'पूय' शब्द ('मवाद' का व्यञ्जक होने के कारण जुगुप्सादायी) अश्लील है।

[ग–अमङ्गलदायी] 'अरे मित्र, जो व्यक्ति निरन्तर नम्रता और प्रीति का स्थान था, वैसा (अनिर्वचनीय गुणों वाला) था; आज वह उसके (अपने या किसी नीच के) अभिलषित पद को प्राप्त होकर उस प्रकार का (पहिले जैसा या नीच जैसा) कैसे दिखलाई देगा ? ॥२०४॥

इस (मित्र के प्रति उक्ति) में (अभिप्रेत का एकदेश) 'प्रेत' शब्द ('मृतक' का व्यञ्जक होने से) अमङ्गलस्मारक है तथा अश्लील है।

अनुवाद—[६. सन्दिग्ध] 'इस पुरुष का सामर्थ्य किस कार्य में विशेष रूप से प्रकाशित नहीं है, यह साधुओं में रहने वाला (साधुषु चरति) अथवा भूतपूर्व साधुजन है इसलिये इस पुरुष को (इस अभिनव पुरुष को) हाथ जोड़ा जाय' ॥२०५॥

यहाँ पर 'पहला साधु' अथवा 'साधुओं में विचरण करने वाला' यह सन्देह है।

प्रभा—'साधुचर' शब्द के एक देश 'चर' में यह सन्देह है कि यदि यहाँ 'चरट्' प्रत्यय (भूतपूर्वे चरट् ५/३/५३) है तो 'भूतपूर्वः साधुः' यह अर्थ होगा और

७. किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभं वचोवाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ॥२०६॥

अत्र वचः शब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते। अत्र खलु न केवलं पूर्वपदं यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते। जलध्यादावुत्तरपदमेव वडवानलादौ पूर्वपदमेव।

यदि यहाँ 'चर' धातु से 'ट' प्रत्यय (चरेष्टः ३/२/१६) हुआ है तो 'साधुषु चरति इति साधुचरः' यह अर्थ होगा। इसलिये 'चर' रूप पदैकदेश सन्दिग्ध है।

अनुवाद—[७. नेयार्थ] 'भूपालों की मुकुटमाला के महामणि इस राजा का क्या वर्णन किया जाय? जिसका प्रताप देवताओं (वचोवाण अर्थात् गीर्वाण) को भी दुर्लभ है' ॥२०६॥

यहाँ पर 'वचः' शब्द से 'गीः' शब्द का लक्षणा द्वारा बोध होता है। यहाँ केवल पूर्वपद (वचः) ही नहीं; अपि तु उत्तरपद (वाणः) भी पर्याय शब्द का परिवर्तन नहीं सहन कर सकता, 'जलधि' आदि शब्दों में उत्तरपद (धि) ही 'वडवानल' आदि में पूर्वपद (वडवा) ही (पर्याय परिवर्तन को सहन नहीं करता)।

प्रभा—(१) उपर्युक्त पद में 'वचोवाण' शब्द का 'वचः' शब्द नेयार्थ है। यहाँ पर 'वचः' शब्द अपने वाच्यार्थ (वाणी) के वाचक 'गीः' शब्द का लक्षणा द्वारा बोध कराता है; क्योंकि 'गीर्वाण' शब्द ही देव-अर्थ में प्रसिद्ध है। इस 'गीः' शब्द की लक्षणा मे न रूढि है न प्रयोजन ही अतः पदैकदेश 'वचः' में नेयार्थता दोष है।

(२) यहाँ पर शब्द-दोष ही है अर्थ-दोष नहीं यह स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'गीर्वाण' शब्द (जो देववाचक है) में पूर्वपद 'गीः' परिवृत्तिसह नहीं है अर्थात् 'गीः' के स्थान पर इसका पर्याय 'वचः' (वचोवाण) रख देने पर 'देवता' अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार यहाँ उत्तरपद (वाण) भी पर्यायवाचक के द्वारा नहीं बदला जा सकता अर्थात् 'गीः शर' शब्द से भी 'देवता' अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अतएव मिले हुए 'गीः' तथा वाण शब्द में ही देवता अर्थ की रूढि है, इन शब्दों के पर्याय में नहीं और 'वचः' शब्द की 'गीः' शब्द में लक्षणा (नेयार्थता) ही है इसी से वह शब्द-दोष है, अर्थ-दोष नहीं,

कुछ शब्दों का केवल उत्तरपद ही पर्यायवाचक द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता जैसे 'जलधि' आदि। यहाँ 'जलधर' या जलपात्र' ('धि' के स्थान पर 'धर' या 'पात्र' कर देने पर) आदि से सागर' का बोध नहीं होता। किन्तु पूर्वपद को परिवर्तित कर देने पर 'नीरधि' आदि से 'सागर' का बोध होता है। 'वडवानल' शब्द में पूर्वपद (वडवा) को पर्यायवाचकों के द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता जैसे—'अश्वानल' यह प्रयोग नहीं हो सकता; किन्तु 'अनल' (उत्तरपद) के स्थान में 'अग्नि' पद रखने पर 'वडवाग्नि' प्रयोग हो सकता है।

यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदाः तथाप्यन्यैरलङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति भेदप्रदर्शनेनोदाहर्त्तव्या इति च विभज्योक्ताः।

[वाक्यमात्रगतदोषाः]

(७५) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥५३॥

अनुवाद—यद्यपि अप्रयुक्तत्व (अवाचकत्व, निहतार्थत्व) आदि कुछ दोष 'असमर्थत्व' (दोष) के ही विशेष भेद हैं तथापि इन्हें इसलिये विभाग करके (पृथक् पृथक्) कहा गया है; क्योंकि अन्य आलङ्कारिकों ने इन्हें पृथक् पृथक् प्रदर्शित किया है तथा भेद-प्रदर्शन के साथ इनके उदाहरण भी दिखलाने थे।

प्रभा—शङ्का यह है कि—विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन का सामर्थ्य न होना ही असमर्थत्व है, इसीलिये अवाचकत्व, अप्रयुक्तत्व तथा निहतार्थत्व आदि दोषों का 'असमर्थत्व' में ही समावेश हो सकता है, फिर इनका पृथक् निरूपण क्यों किया गया है ? इसका समाधान 'तथापि' आदि में किया जाता है। भाव यह है कि इनका असमर्थत्व में समावेश हो सकता है, यह सत्य है फिर भी प्राचीन आलङ्कारिकों का अनुसरण करने के लिये तथा जिज्ञासुओं को भिन्न २ उदाहरण आदि दिखलाने के लिये इन अप्रयुक्तत्व आदि दोषों का पृथक् निरूपण किया गया है शास्त्र में विभागपूर्वक प्रदर्शन करना आवश्यक ही होता है, नहीं तो 'मुख्यार्थ के अपकर्षक रूप' दोष के सामान्यस्वरूप का विवेचन ही पर्याप्त होगा।

टिप्पणी—(i) रुद्रट ने (काव्यालङ्कार ६-२-७ में) में अप्रयुक्तत्व, अवाचकत्व तथा निहतार्थत्व का असमर्थत्व में समावेश किया है ऐसे अलङ्कारिकों की ओर से ही शङ्का है।

(ii) अवाचकत्व तथा निहतार्थत्व आदि दोषों का असमर्थत्व से जो सूक्ष्म अन्तर है, उसका दिग्दर्शन विश्वनाथ कविराज ने इस प्रकार किया है—इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम्। विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम्। निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य सार्वत्रिकप्रयोगविरहः। अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम्। असमर्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। असमर्थत्वे हन्त्यादयोऽपि गमनार्थे पठिताः। अवाचकत्वे दिनादयः प्रकाशमयाद्यर्थे न तथेति परस्परभेदः। (साहित्यदर्पण ७.४)

केवल वाक्यगत दोष—

अनुवाद—निम्न (प्रतिकूलवर्ण आदि) दोषयुक्त (तथा दुष्टोऽस्यार्थः), वाक्य ही होता है—(१) प्रतिकूलवर्ण (२) उपहतविसर्ग, (३) लुप्तविसर्ग (४) विसन्धि, (५) हतवृत्त, (६) न्यूनपद, (७) अधिकपद, (८) कथितपद, (९) पतत्प्रकर्ष, (१०) समाप्तपुनरात्त, (११) अर्धान्तरैकवाचक, (१२) अभवन्मतयोग

अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥५४॥
भग्नप्रक्रममक्रममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

१. रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् ।
यथा शृङ्गारे—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि, माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर ॥२०७॥

रौद्रे यथा—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः कोपनः ॥२०८॥

---

(१३) अनभिहितवाच्य, (१४) अपदस्थपद, (१५) अपदस्थ समास, (१६) सङ्कीर्ण (१७) गर्भित, (१८) प्रसिद्धिहत, (१९) भग्नप्रक्रम, (२०) अक्रम, (२१) अमतपरार्थ ।

प्रभा—(१) ऊपर पद, वाक्य तथा पदैकदेश में समानरूप से होने वाले दोषों का विवेचन किया गया है । यहाँ वाक्यमात्रगत दोषों का उल्लेख किया जा रहा है । प्रतिकूलवर्णत्वादि वाक्य में ही रस आदि के अपकर्षक होते हैं अतएव ये वाक्य-दोष ही हैं । इनके स्वरूप तथा उदाहरणों का आगे विशद विवेचन किया जा रहा है ।

(२) साहित्यदर्पणकार ने 'विसन्धि' के सन्धिविश्लेषण, सन्ध्यश्लीलत्व और सन्धिकष्टत्व नाम से तीन भेद करके वाक्यदोष-संख्या २३ कर दी है ।

अनुवाद—(१. प्रतिकूलवर्णता), वर्णों की रसानुकूलता अर्थात् कौन वर्ण किस रस के अनुकूल है यह बात (अष्टम उल्लास में) कही जायेगी; उसके विपरीत (अर्थात् रसास्वाद के उद्बोध का प्रतिबन्धक) प्रतिकूलवर्ण (प्रतिकूलाः वर्णाः यत्र वाक्ये, तत्) वाक्य होता है । जैसे, शृङ्गार में—[नायिका से मिलन के लिये उत्सुक नायक की सखी के प्रति उक्ति] हे मधुरकण्ठवाली, न रुकने वाली उत्कण्ठा से कण्ठ तक भरे हुए मुझको उस शङ्ख के समान कण्ठवाली नायिका के गले क्षण भर को मिला दे और मेरे कण्ठ की (आलिङ्गन की उत्कण्ठा रूप) पीड़ा को दूर कर दे ॥२०७॥

रौद्र रस में (प्रतिकूलवर्णता), जैसे–[वेणीसंहार में क्रुद्ध अश्वत्थामा की कर्ण के प्रति उक्ति] 'यह वही देश है, जिसमें शत्रुओं के रुधिर-रूपी जल से (परशुराम ने) पञ्चताल भर दिये थे, अब क्षत्रिय (धृष्टद्युम्न) के द्वारा मेरे पिता (द्रोणाचार्य) का केशाकर्षण रूप वैसा (जैसा कार्तवीर्य के द्वारा जमदग्नि का)

अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम्। यथा—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्-
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात्।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥२०६॥

यत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः।

ही अनादर किया गया है, शत्रुओं के अस्त्रों (हेतयः) के भसक (घस्मर) अतएव श्रेष्ठ (गुरुणि) तथा दीप्तिमान् मेरे (ब्रह्मास्त्र आदि) अस्त्र भी वे ही हैं (जो मेरे पिता ने परशुराम से प्राप्त किये) इसलिये द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा कोप-युक्त होकर वही कर रहा है जो (क्षत्रिय-विनाश) परशुराम ने किया था' ॥२०८॥

यहाँ (रौद्र रस में) कठोरवर्णता तथा दीर्घ समास का प्रयोग करना उचित था। जैसे—[वीरचरित नाटक में राम के प्रति परशुराम की इस उक्ति में] ('रे क्षत्रियाभंक) राम, जो पहले कभी नहीं झुका (निःशुम्भः=नमनं) उस शिव धनुष के दो खण्ड किये जाने के कारण प्रकट हुए क्रोध से प्रेरित भुज भार्गव परशुराम की स्तम्भरूपी भयङ्कर भुजा से फेंका हुआ (अपविद्धः) अतएव अत्यधिक वेग वाला तथा दीप्ति वाला यह मेरा कुठार क्षण भर में ही तुम्हारे कण्ठपीठ का अतिथि हो जाने वाला है, जिस (कुठार) के कारण महादेव जी 'खण्डपरशु' इस नाम से प्रसिद्ध हैं (शिव ने परशु का अर्धभाग अपने शिष्य परशुराम को दे दिया था यह प्रसिद्ध है) ॥२०९॥

(यहाँ पर वाक्यत्रय में कठोरवर्ण तथा दीर्घ समास है) किन्तु जहाँ क्रोध नहीं वहाँ चतुर्थ चरण में वैसा (तदनुकूल) ही शब्द-प्रयोग है।

प्रभा—(१) प्रतिकूलवर्णता—सप्तम उल्लास में यह विचार किया जायेगा कि कौन वर्ण किस रस के अनुकूल है। उसके विपरीत जो वर्ण किसी रस के प्रतिकूल हैं अर्थात् रसास्वाद के उद्बोध में प्रतिबन्धक हैं, वे ही प्रतिकूलवर्ण हैं। ऐसे वर्ण जिस वाक्य में होते हैं, वह वाक्य दोषयुक्त है अतः वह प्रतिकूलवर्ण (प्रतिकूलाः वर्णाः यत्र) है अथवा उसमें 'प्रतिकूलवर्णत्व' नामक वाक्यदोष है। यद्यपि एक पद में भी कोई प्रतिकूल वर्ण होता है तथापि यह वाक्य-दोष ही माना जाता है; क्योंकि प्रतिकूलवर्णत्व वाक्यगत रूप में ही रस का प्रतिबन्धक होता है। श्रुतिकटुत्व से इसका भेद यह है कि वहाँ परुषवर्ण मात्र ही दुष्ट कहे जाते हैं किन्तु यहाँ रौद्र आदि रस के प्रसङ्ग में सुकुमार वर्ण भी दोषयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त श्रुतिकटु नीरस काव्य में भी हो सकता है किन्तु प्रतिकूलवर्णदोष सरस काव्य में ही होता है (प्रदीप)।

२. ३. उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत्। यथा—

घीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥२१०॥

(२) 'अकुण्ठ' इत्यादि उदाहरण में 'टवर्ग' का प्रयोग शृङ्गाररस के प्रतिकूल है। शृङ्गाररस के अनुसार यहाँ कोमल वर्णों का प्रयोग ही उचित है अतः ओजव्यञ्जक ठकारादि वर्ण शृङ्गार-व्यञ्जना में प्रतिबन्धक हैं और प्रतिकूलवर्णत्व दोष है।

(३) 'देशः' इत्यादि में रौद्र रस व्यङ्ग्य है। रौद्र रस के परिपोष में विकट-वर्ण तथा दीर्घ समास सहायक हैं जैसे 'प्रागप्राप्त' इत्यादि पद्य के पादत्रय में विकट-वर्ण तथा दीर्घसमास का प्रयोग किया गया है किन्तु चतुर्थपाद में क्रोध का वर्णन नहीं है अतः उस प्रकार के वर्ण तथा रचना आदि नहीं हैं। इसके विपरीत 'देशः' इत्यादि में मृदुवर्णों का प्रयोग है जो रौद्र रस के प्रतिकूल है अतः यहाँ प्रतिकूल-वर्णत्व दोष है।

अनुवाद—(२) जहाँ (अनेक) विसर्ग उत्व=ओत्व (उपघात) को प्राप्त हो जाते हैं वहाँ 'उपहतविसर्गत्व' तथा (३) जहाँ लुप्त हो जाते हैं वहाँ लुप्त-विसर्गत्व दोष होता है। जैसे—

'इस संसार में वही राजा पण्डित, सुशिक्षित, प्रवीण तथा सुन्दर आकृति वाला है जिसके सेवक बल के गर्व से युक्त, बुद्धि के द्वारा प्रभावशाली तथा सेवा में तत्पर (भक्त) होते हैं ॥२१०॥

प्रभा—(१) काव्यप्रकाश वृत्ति में 'विसर्गो यत्र' में जात्यर्थ में एकवचन है वस्तुतः 'उपहताः लुप्ताः वा विसर्गाः यत्र' यह बहुवचन ही अभीष्ट है। यदि एक विसर्ग को 'उत्व' आदि होता है तो दोष नहीं होता। विसर्ग को उ (=ओ) हो जाना ही 'उपघात' है।

(२) 'धीरो' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध में 'उपहत-विसर्गत्व' दोष है। यहाँ 'धीरो विनीतो' इत्यादि में 'हशि च' (६/१/११४) तथा नृपोऽत्र' में 'अतो रोरप्लुता-दप्लुते' (६/१/११३) पाणिनि-सूत्र के अनुसार विसर्ग को उत्व (उ) हो गया है। (३) उत्तरार्ध 'भृत्या बलोत्सिक्ता' इत्यादि में सकार (विसर्ग) को 'ससजुषो रुः' (८/२/६६) से रुत्व, 'भोभगो अघोऽपूर्वस्य योऽशि (८/३/१७) से 'रु को य्' होकर 'हलि सर्वेषाम्' (८/३/२२) से यलोप होकर विसर्ग का अदर्शन होता है, अतः 'लुप्तविसर्गत्व' वाक्य-दोष है। (४) उपहतविसर्गत्व तथा लुप्तविसर्गत्व से बन्ध (रचना) शिथिल हो जाता है और सहृदयों को जैसा गाढबन्धत्व में चमत्कार का अनुभव होता है वैसा बन्ध-शैथिल्य में नहीं।

४. विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम् , विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च । तत्राद्यं यथा—

क–राजन् , विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्वले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥२११॥

यथा वा

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः ।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्बत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ॥२१२॥

अनुवाद— ४) सन्धि का वैरूप्य (भद्दापन) 'विसन्धि' (दोष) है, वैरूप्य (तीन प्रकार का है) अर्थात् (क) सन्धि का अभाव (विश्लेष), (ख) अश्लीलता और (ग) श्रुतिकटुता (कष्टत्व)। इनमें से प्रथम (विश्लेष) सन्धि-वैरूप्य (है), जैसे— (४ क) 'हे राजन् आपके वे चरित शोभायमान हैं, जो पाताल (गम्भीर प्रदेश) के भीतर भी चन्द्रमा की द्युति को धारण करते हैं। आपकी बुद्धि तथा बाहुबल दोनों अत्यन्त विस्तृत (अतितते) हैं तथा उचित अवसर का अनुसरण करने वाले हैं वे दोनों विजय-सम्पद् को प्राप्त करके शोभित हो रहे हैं ॥२११॥

अथवा जैसे—[पतिंवरा कन्या के प्रति सखी की उक्ति] 'अहो (बत), उन्नत उदयाचल से उदित चन्द्रमा के समान पूर्वोक्त वंश से (ततः) उत्पन्न हुआ, विशाल मुक्तामाला से रमणीय कान्तिवाला यह राजा अत्यन्त मनोहर शोभायुक्त तथा अमूल्य (अनर्घ) मुक्तामणि के समान दीप्तिमान् है' ॥२१३॥

'मैं सन्धि नहीं करता' इस प्रकार स्वेच्छा से एक बार भी सन्धि न करना (विश्लेष) दोष है तथा प्रगृह्य (तथा असिद्धि) आदि हेतु से अनेक बार सन्धि न करना ही दोष है।

प्रभा—(१) सन्ध्यभाव या विश्लेष दो प्रकार का होता है—१. ऐच्छिक २. आनुशासनिक। व्याकरण के अनुसार वाक्य में सन्धि करना, न करना वक्ता की इच्छा के अधीन है। कहा भी है— 'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥ आनुशासनिक विश्लेष वह है जो व्याकरण (शब्दानुशासन) के नियम से (सन्धि का अभाव) होता है। यह दो प्रकार का है— एक प्रगृह्यहेतुक दूसरा असिद्धिहेतुक। इस प्रकार विश्लेष तीन प्रकार का हुआ। इनमें से प्रथम अर्थात् ऐच्छिक विश्लेष यदि एक बार भी काव्य में होता है तो वह दोष है, क्योंकि उससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है तथा सहृदय जन खिन्न हो जाते हैं। शेष दोनों तो यदि अनेक बार (असकृत्) आ जाते हैं तभी काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न करने के कारण दोष कहलाते हैं।

(२)—(i) 'राजन् विभाति' इत्यादि पद्य के पूर्वार्ध में 'तानि इन्दोः' इस स्थल पर (एक बार) ऐच्छिक विश्लेष है, अतः विसन्धि नामक वाक्यदोष है।

संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत्।

ख—वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः।
अयमुत्पतते पत्त्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ॥२१३॥

अत्र सन्धावश्लीलता।

ग—उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः।
नात्रजु युज्यते गन्तु शिरो नमय तन्मनाक् ॥२१४॥

५. हतं लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्। क्रमेणोदाहरणम् —

(ii) इसके उत्तरार्ध में 'धीदोर्बले अतितते, 'अतितते उचितानुवृत्ती' तथा 'उचितानुवृत्ती आतन्वती'-इन तीन स्थलों पर 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१/१/११) सूत्रानुसार द्विवचनान्त की प्रगृह्य संज्ञा होकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६/१/१२५) से प्रकृतिवद्भाव अर्थात् सन्ध्यभाव होता है यह प्रगृह्यहेतुक आनुशासनिक विश्लेप (सन्ध्यभाव) है इसके अनेक बार (असकृत्) होने के कारण यहां विसन्धि नामक वाक्यदोष है। (iii) 'तत उदित' इत्यादि असिद्धिहेतुक आनुशासनिक विश्लेप का उदाहरण है। यहाँ पर 'तत उदित' उदित उदार' तथा 'निजवंश उदात्त'—इन स्थलों पर 'लोपः शाकल्यस्य' (८/३/१९) इस पाणिनि सूत्र द्वारा विहित (विसर्ग) लोप 'आद्गुण.' (६/१/८७) से होने वाले गुण के प्रति 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८/२/१) के अनुसार असिद्ध है। इसलिये यहाँ असिद्धिहेतुक आनुशासनिक विश्लेप से होने वाला विसन्धि नामक वाक्यदोष है।

अनुवाद—(४-ख) [सखी की नायिका के प्रति उक्ति] हे 'सखी, उत्कट (डामर) चेष्टा वाला यह पक्षी वेग से उड़कर आकाश में जाता हुआ चमक रहा है (उत्पतते दीप्यते), इसलिये यहीं पर रुचि (प्रीति या अवस्थिति) करो' ॥२१३॥

यहाँ पर ('चलन्+डामर' और रुचिम्+कुरु') की सन्धि में (क्रमशः पुरुषेन्द्रिय तथा स्त्री-योनि का बोध होने से) अश्लीलता है तथा (विसन्धि नामक दोष है)।

अनुवाद—(४-ग) [पथिक के प्रति किसी की उक्ति] 'यहाँ इस मरु प्रदेश के अन्त में (मर्वन्ते) मनोहर अवस्था वाली यह दृश्यमान (असौ) महती (उर्वी) वृक्षपंक्ति है इस स्थान पर सीधे चलना उचित नहीं है इसलिये थोड़ा सा (मनाक्) सिर झुका लो' ॥२१४॥

प्रभा—यहाँ पर 'उर्व्यसौ', 'तर्वाली', 'मर्वन्ते' इत्यादि सन्धि में श्रुतिकटुत्व रूप कष्टत्व है अतएव यहाँ कष्टत्वहेतुक 'विसन्धि' है। यहाँ अन्य शब्दों का 'तर्वाली' के साथ विशेषणविशेष्यभाव से अन्वय होने के कारण वाक्यदोष ही है।

अनुवाद—(५. हतवृत्तता) हत (निन्दित) अर्थात् (क) छन्दः शास्त्र के लक्षण का अनुसरण करने पर भी 'अश्रव्य', (ख) गुरुत्व को प्राप्त न होने वाले

क—अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥२१५॥

अत्र 'यदिहान्यत्स्वादु स्याद्' इत्यश्रव्यम्।

यथा वा—

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण।
अह णवरं जस्स दोसो पडिपक्खेहिं पडिवण्णो ॥२१६॥
(यत्परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन।
अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः) ॥२१६॥

अत्र द्वितीयतृतीयगणौ सकारभकारौ।

पादान्त लघु वर्ण से युक्त तथा (ग) रस के प्रतिकूल छन्द है जिसमें वह (तत् वाक्य) 'हतवृत्त' है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(५ क)—'इसमें क्या सन्देह है कि अमृत अमृत ही है, मधु भी अन्य अर्थात् अमधु नहीं है, रसाल का प्रसन्नरसवाला फल भी अधिक मधुर होता ही है; किन्तु यदि संसार में प्रिया के अधर की अपेक्षा अन्य कोई वस्तु अधिक मधुर हो तो रसों के अन्तर (अथवा मर्म) को जानने वाला व्यक्ति पक्षपातरहित होकर एक बार भी बतलादे' ॥२१५॥

यहाँ पर 'यदिहान्यत्स्वादु स्यात्' यह अश्रव्य है।

अथवा जैसे—['मानिनी नायिका के प्रति दूती की उक्ति] जो वह (कामचेष्टित) अपने रमणीयता गुण के कारण तनिक भी छोड़ा नहीं जा सकता, यही उसका एक दोष है जिसे प्रतिपक्षी अर्थात् विरक्तों ने भी स्वीकार किया है' ॥२१६॥

यहाँ पर (प्रथम चरण में) द्वितीय (हरिउं) तथा तृतीय (तीरइ) ये दोनों गण क्रमशः सगण (सकार) और भगण (भकार) हैं।

प्रभा—(१) हतवृत्त वह दुष्ट वाक्य है जहाँ निन्दित छन्द होता है (हतं निन्दितं वृत्तं छन्दो यत्र तत्)। काव्यरसिकों की दृष्टि में वही छन्द निन्दनीय है—(क) जो छन्दःशास्त्र के (लक्षण) का अनुसरण न करता हो अथवा लक्षण का अनुसरण करते हुए भी श्रुतिमधुर न हो अर्थात् अश्रव्य (unmelodious) हो, (ख) जिसके पाद के अन्त में ऐसा लघु वर्ण हो कि जिसे 'वा पादान्ते' इस छन्दशास्त्र के नियम के अनुसार गुरु माना गया हो; किन्तु वह गुरु-वर्ण का कार्य न करता हो अर्थात् उसने श्रुति-सौन्दर्य में गुरुत्व (गुरुभाव) न प्राप्त किया हो। (ग) जो (छन्द) प्रकृत रस के प्रतिकूल हो।

(२) अश्रव्य वृत्त तीन प्रकार का है-(i) छन्दोभङ्ग के कारण (ii) यति-भङ्ग के कारण तथा (iii) किसी स्थान पर सन्धिविश्लेष का योग न होने के कारण।

ख–विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥२१७॥

अत्र हारिशब्दः । हारिप्रमुदितसौरभेति पाठो युक्तः ।

यथा वा—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥२१८।

अत्र वस्त्राण्यपि इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते ।

(i) इनमे से प्रथम दोप प्रसिद्ध ही है । (ii) 'अमृतम्' इत्यादि द्वितीय का उदाहरण है । इसमें 'हरिणी' वृत्त है, जिसके प्रत्येक चरण में षष्ठ अक्षर पर यति होनी चाहिये; किन्तु यहाँ चतुर्थ चरण मे 'हा' इस षष्ठ अक्षर पर अग्रिम पद 'अन्यत्' के अनुसन्धान की अपेक्षा होती है अतएव यतिभङ्ग दोप के कारण छन्द अश्रव्य है तथा हतवृत्तता दोष है (iii) तृतीय का उदाहरण 'ज परिहरिउ' इत्यादि गाथा है । इसमें वर्णत्रय का एक एक गण है । 'हरिउ ' यह द्वितीय गण 'सगण' (सोऽन्तगुरुः) है तथा 'तीरइ' यह तृतीय गण भगण (भ आदिगुरु.) है । इन दोनों गणो का जो अव्यवधान से श्रवण होता है वह श्रुतिमधुर नही (अश्रव्य) क्योंकि 'उं ती' इन दो गुरु वर्णो का विना व्यवधान के उच्चारण किया जाता है। अतः सगण का पूर्व प्रयोग उचित है ।

अनुवाद—(५ ख) 'यह वसन्त ऋतु मुनिजन के भी मन को हरती है, जिसमें मञ्जरित आम्र की उत्कट तथा मनोहारी गन्ध से एकत्रित होकर भ्रमर (द्विरेफ) गुञ्जार कर रहे हैं; जिसमें नवपल्लवरूपी मनोहर चामरों की शोभा है ॥२१७॥

यहाँ पर 'हारि' शब्द (अप्राप्तगुरुभाव) है । 'हारिप्रमुदितसौरभ' यह पाठ उचित है ।

अथवा जैसे—'वे उपकरण या सामग्री कुछ और ही हैं, वे गुण रूपी रत्नों को उत्पन्न करने वाली भूमि भी और ही हैं, वह मिट्टी कुछ और ही है, वह धन्य हैं जिनके द्वारा विधाता ने इस युवक की सृष्टि की है जिसे देखते ही (भय तथा काम से) मुग्ध हृदय वाले श्रीमान् तथा कान्तियुक्त शत्रुओं के हाथ से शस्त्र और रूपवती तथा कान्तिमती स्त्रियों के नितम्ब से वस्त्र गिर जाते हैं' ॥२१८॥

यहाँ पर 'वस्त्राण्यपि' यह पाठ होने पर लघु (वर्ण) भी गुरुत्व को प्राप्त होता है ।

ग—हा नृप ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! विप्रसहस्रसमाश्रय, देव ।
मुग्ध विदग्ध, सभान्तररत्न, क्वासि गतः क्व वयं च तवैते ॥२१९॥

हास्यरसव्यञ्जकमेतद् वृत्तम् ।

६. न्यूनपदं यथा—

तथा भूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥२२०॥

प्रभा—(१) 'विकसित' इत्यादि उदाहरण में 'पुष्पिताग्रा' छन्द है। 'विकसितसहकारतारहारि' यह प्रथम चरण है। यहाँ अन्तिम अक्षर 'रि' को छन्दशास्त्र के 'वा पादान्ते' नियम के अनुसार गुरु माना जाता है अतः यहाँ छन्दोभङ्ग तो नहीं है; किन्तु यह लघु इकार गुरुवर्ण का कार्य करने में असमर्थ है। इसलिए यहाँ बन्धशैथिल्य है तथा हतवृत्तता वाक्य-दोष है। 'हारिप्रमुदितसौरभ' पाठ से यह दोष दूर हो जाता है।

(२) 'अन्यास्ता' इत्यादि में 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है। इसके चतुर्थ चरण के अन्त में 'वस्त्राणि च' में च को 'वा पादान्ते' के अनुसार गुरु माना जाता है किन्तु यह गुरुकार्यकरण में असमर्थ है। 'वस्त्राण्यपि' पाठ में तो 'पि' संयुक्त वर्ण 'प्य' के आगे रहता है अतः बन्धदार्ढ्य के कारण स्वरवृद्धि हो जाती है तथा दोष नहीं रहता।

(३) इसका अभिप्राय यह नहीं कि 'वा पादान्ते' यह नियम व्यर्थ ही है, क्योंकि वसन्ततिलका, इन्द्रवंशा आदि वृत्तों में इस नियम द्वारा गुरुत्व को प्राप्त होने वाला लघुवर्ण गुर्वक्षर का कार्य सम्पन्न करता ही है।

अनुवाद—(५ ग) [राजा की मृत्यु पर विलापोक्ति] 'हाय नृप, हाय पण्डित, हाय कवियों के बन्धु, विप्र-सहस्र के आश्रयदाता देव, सुन्दर तथा चतुर सभा के मध्यस्थित रत्न, तुम कहाँ चले गये ? और तुम्हारे ये हम कहाँ हैं ? ॥२१९॥

यह (दोधक) वृत्त हास्य-रस का व्यञ्जक है (तथा 'करुण' का अननुगुण है)।

प्रभा—भाव यह है कि वर्ण आदि की भाँति भिन्न २ छन्द भिन्न २ रसों के व्यञ्जक हैं। वे छन्द ही रसानुगुण कहे जाते हैं जैसे—शृङ्गारादि में पृथ्वी-स्रग्धरा आदि, करुण में पुष्पिताग्रा-मन्दाक्रान्ता आदि, वीरादि में शिखरिणी-शार्दूलविक्रीडित आदि तथा हास्य में दोधक आदि छन्द अनुकूल (अनुगुण) समझे जाते हैं। प्रस्तुत 'हा नृप' इत्यादि पद्य करुण रस का है। 'दोधक' छन्द इसके अनुकूल नहीं अतः हतवृत्तता वाक्यदोष है।

अनुवाद—६. न्यूनपद (वाक्य), (का उदाहरण); जैसे—'तथाभूतां' इत्यादि (ऊपर उदाहरण १५) ॥२२०॥

अत्रास्माभिरिति खिन्ने इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च।

७. अधिकं यथा—

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः।
अविरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तिः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ॥२२१॥

अत्राकृतिशब्दः।

यथा वा—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥२२२।

अत्र कृतमिति। कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति। तथा च 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानाम्' इति पाठे निराकाङ्क्षैव प्रतीतिः।

यहाँ पर (प्रथम तीन चरणों में) 'अस्माभिः' यह पद तथा [चतुर्थ चरण में] 'खिन्ने' इस पद से पूर्व 'इत्थं' यह पद न्यून है।

प्रभा—जिस वाक्य में विवक्षित अर्थ के वाचक किसी शब्द का अप्रयोग होता है वह 'न्यूनपद' है (न्यूनम् अनुपात्तविवक्षितार्थकं पदं वाचकशब्दो यत्र)। 'तथाभूतां' इत्यादि में वल्कलधरैः' के विशेष्यरूप मे तथा 'उषितम्' स्थितम्' आदि के कर्तृरूप में अन्वित होने से लिये अस्माभिः' पद की आवश्यकता है। इसी प्रकार चतुर्थ चरण मे भी (एकवाक्यता करने के लिये) 'खिन्ने' से पूर्व 'इत्थं' का प्रयोग आवश्यक है।

अनुवाद—७. अधिकपद (वाक्य), जैसे—[किसी विद्वान् का वर्णन है] 'वह ऐसा कोई (महापुरुष) है, जो स्फटिक की आकृति के समान निर्मल (चित्त) है, जिसके हृदय में गूढ (निशात) शास्त्रों का तत्त्व भली भांति (प्रकामं) प्रतिबिम्बित हो गया है, जिसकी उक्तियाँ तथा युक्तियाँ (लोकशास्त्रादि से) अविरुद्ध तथा परस्पर समन्वित होती हैं; जिससे प्रतिवादियों का पराभव हो जाता है (अस्तमयोदयः)' ॥२२१॥

यहाँ पर आकृति शब्द (अधिक) है।

अथवा जैसे—'इस संसार में पुरुषों को वृद्धावस्था में भी जो कामज विकार होते हैं यह अनुचित अर्थात् लोक-विरुद्ध है और अक्रम अर्थात् (शास्त्रोक्त) जीवन क्रम के विरुद्ध है और यह भी (अनुचित तथा अक्रम है) जो नितम्बवाली रमणियों का जीवन तथा रमण केवल स्तनों के पतन पर्यन्त ही नहीं बनाया' ॥२२२॥

यहाँ पर 'कृतं' यह पद (अधिक है)। इसके अतिरिक्त 'कृतं' पद प्रक्रमभङ्ग (दोष) को भी प्रकट करता है। इस प्रकार यहाँ 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानाम्' ऐसा पाठ होने पर निराकाङ्क्ष प्रतीति हो सकती है।

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते ॥२२४॥

१०. समाप्तपुनरात्तं यथा—

क्रेङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो
झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः ।
तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कण-
क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥२२५॥

...आनन...पस्य) ने स्वप्रिया सिंही के प्रेम विलास के कारण एकदेश-वास नियत कर लिया, तो घुर्घुर शब्द करती हुई नासिका (घुरी) से भयङ्कर कौन कौन शूकर कहां भयावना शब्द न करेगा ? कौन सा हाथी कमलों के उत्पत्तिस्थान को कमल-रहित करने को उद्यत न होगा ? तथा कौन से बनैले भैंसे वनों को न उखाड़ देंगे ? [राजा के व्यसनी हो जाने पर क्षुद्रजन निर्मर्याद हो जाते हैं यह भाव है] ॥२२४॥

प्रभा—जिस वाक्य मे अलङ्कारकृत या बन्धकृत उत्कर्ष का उत्तरोत्तर पतन (ह्रास) हो जाता है वह पतत्प्रकर्ष है (पतन् ह्रसन् प्रकर्षः उत्कर्षो यत्र)। उपर्युक्त पद्य मे सूकरवर्णन, गजवर्णन, महिषवर्णन तथा सिंहवर्णन मे उत्तरोत्तर बन्ध-दार्ढ्य आदि का ह्रास हो गया है, अर्थात् सूकर-वर्णन मे जो विकटबन्धकृत तथा अनुप्रासकृत प्रकर्ष है वह सिंहवर्णन में नही रहा, अत पतत्प्रकर्षता दोष है इससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है । इसलिये (काव्य) पाठक के रसास्वाद में क्रमशः ह्रास होना स्वभाविक है ।

अनुवाद—१०. समाप्तपुनरात्त (वाक्य), जैसे—[घर जाने वाले पथिकों के प्रति कवि की उक्ति] 'जो (शब्द) धनुर्धर कामदेव की प्रत्यञ्चा की ध्वनि (क्रेङ्कार) है, सुरत क्रीडारूपी कोकिलों की कूक है, रतिरूपी मञ्जरी के भ्रमरों की गुञ्जार है, कटाक्षादि रूप लीला-चकोरी की ध्वनि है; कृशाङ्गी रमणी की कञ्चुकी उतारते समय भुजाओं के हिलने से कंगणों का वह (झनक-झनक) शब्द, तुम्हारे प्रेम की वृद्धि करे, वही शब्द नवयौवन के नृत्य के लिये वंशी की ध्वनि है' ।२२५।

प्रभा—समाप्तपुनरात्तता वहां होती है, जहां कोई वाक्य क्रिया-कारक आदि के अन्वय से समाप्त हो जाता है (उसमें कोई आकांक्षा नही रहती); किन्तु फिर भी उस वाक्य से अन्वित पदो का प्रयोग कर दिया जाता है । (समाप्तं सत्पुनरात्तम्, वाक्ये समाप्ते पुनस्तदन्वयिशब्दोपादानं यत्रेति भाव.) । जैसे—'क्रेङ्कारः' उदाहरण में (एतादृशः) क्वाणः प्रेम तनोतु वः' पर्यन्त वाक्य समाप्त हो जाता

अत्र 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्याद्' इत्युक्तनयेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति। 'क्षपाचारिभिः' इति पाठे युज्यते समन्वयः।

भूमयः) बना लीं, जिनकी घोर गर्जनाओं ने सुरपति इन्द्र के (हृदय में भी क्षोभ उत्पन्न कर दिया; उन्होंने तुम्हारे लिये सन्तोषजनक एवं (राजसभा में) कथन योग्य कुछ किया है क्या ?' ॥२२७॥

यहाँ पर 'गुण अर्थात् अप्रधान या विशेषण पदार्थों का, परार्थ अर्थात् प्रधानापेक्षित होने के कारण, परस्पर अन्वय (सम्बन्धः) नहीं होता, क्योंकि (वे सभी) समान (परापेक्ष) होते हैं।' (पूर्वमीमांसा ३.१.२२) इस न्याय के अनुसार 'यत्' शब्द से निर्देश्य (विशेषण रूप) पदार्थों का परस्पर अन्वय न होने के कारण 'यैः' इस पद के विशेष्य की प्रतीति नहीं होती। 'क्षपाचारिभिः' ऐसा पाठ हो जाने पर उचित अन्वय हो जाता है।

प्रभा—(१) जिस वाक्य में पदार्थों का अभीष्ट सम्बन्ध नहीं हो पाता वह अभवन्मतयोग है। इसका अविमृष्टविधेयांश में अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ अन्वय तो होता है केवल उद्देश्य-विधेय भाव की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती; किन्तु यहाँ तो पदार्थों का सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता। अभवन्मतयोग जिन ६ कारणों से होता है वे इस प्रकार हैं—१. विभक्ति-भेद, २. न्यूनता, ३. आकांक्षा-विरह, ४. वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों में विवक्षित सम्बन्ध का अभाव, ५. समासाच्छन्नता, ६. व्युत्पत्ति-विरोध।

(२) 'येषां' इत्यादि विभक्ति-भेद निमित्तक अभवन्मतयोग का उदाहरण है। यहाँ पर 'यैः' (जिन्होंने) विशेषण का 'क्षपाचारी' विशेष्य के साथ सम्बन्ध विवक्षित है; किन्तु विभक्ति-भेद के कारण 'यैः' (तृतीया विभक्ति) का 'क्षपाचारिणाम्' (षष्ठी विभक्ति) के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि जैसे 'यो गुणवान् तस्य यशः' में विभिन्न विभक्ति वाले 'यत्' और 'तत्' के अर्थ का अभेदान्वय हो जाता है इसी प्रकार प्रकृत में भिन्न विभक्ति वाले 'यत्' के अर्थों का इस प्रकार अभेदान्वय करके—येषां प्रतापोष्मभिः-पीताः, यैः-पानभुवः कल्पिताः येषां हुङ्कृतयः—फिर सबका सम्मिलित रूप में विशेष्यभूत क्षपाचारी-पदार्थ से अन्वय हो जायेगा; तो यह उचित नहीं; क्योंकि 'यत्' के अर्थ उद्देश्य रूप हैं अतः वे अप्रधान हैं और अप्रधानों का परस्पर अन्वय असम्भव है, जैसे कि जैमिनि मुनि का नियम है—'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्'। इसलिये यहाँ 'यैः' पद का विभक्ति-भेद के कारण 'क्षपाचारिणां' से अभीष्ट सम्बन्ध नहीं तथा 'अभवन्मतयोगत्व' नामक वाक्य-दोष है। 'क्षपाचारिणां' के स्थान पर 'क्षपाचारिभिः' पाठ से ही यह दोष दूर हो सकता है।

११. द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्धं यथा—

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥२२६॥

१२. अभवन्मत इष्टो योगः सम्बन्धो यत्र तत्। यथा—

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-
र्लीलापानभुवश्च नन्दनवनच्छायासु यैः कल्पिताः।
येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
... ...चितम् ॥२२७॥

... का प्रयोग किया गया है

अत्र 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्याद्' इत्युक्तनयेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति। 'क्षपाचारिभिः' इति पाठे युज्यते समन्वयः।

भूमयः) बना लीं, जिनकी वीर गर्जनाओं ने सुरपति इन्द्र के (हृदय में भी क्षोभ उत्पन्न कर दिया; उन्होंने तुम्हारे लिये सन्तोषजनक एवं (राजसभा में) कथन योग्य कुछ किया है क्या ?' ॥२२७॥

यहाँ पर 'गुण अर्थात् अप्रधान या विशेषण पदार्थों का, परार्थ अर्थात् प्रधानापेक्षित होने के कारण, परस्पर अन्वय (सम्बन्धः) नहीं होता, क्योंकि (वे सभी) समान (परापेक्ष) होते हैं।' (पूर्वमीमांसा ३.१.२२) इस न्याय के अनुसार 'यत्' शब्द से निर्देश्य (विशेषण रूप) पदार्थों का परस्पर अन्वय न होने के कारण 'यैः' इस पद के विशेष्य की प्रतीति नहीं होती। 'क्षपाचारिभिः' ऐसा पाठ हो जाने पर उचित अन्वय हो जाता है।

प्रभा—(१) जिस वाक्य में पदार्थों का अभीष्ट सम्बन्ध नहीं हो पाता वह अभवन्मतयोग है। इसका अविमृष्टविधेयांश में अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ अन्वय तो होता है केवल उद्देश्य-विधेय भाव की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती; किन्तु यहाँ तो पदार्थों का सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता। अभवन्मतयोग जिन ६ कारणों से होता है वे इस प्रकार हैं—१. विभक्ति-भेद, २. न्यूनता, ३. आकांक्षा-विरह, ४. वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों में विवक्षित सम्बन्ध का अभाव, ५. समासाच्छन्नता, ६. व्युत्पत्ति-विरोध।

(२) 'येषां' इत्यादि विभक्ति-भेद निमित्तक अभवन्मतयोग का उदाहरण है। यहाँ पर 'यैः' (जिन्होंने) विशेषण का 'क्षपाचारी' विशेष्य के साथ सम्बन्ध विवक्षित है; किन्तु विभक्ति-भेद के कारण यैः' (तृतीया विभक्ति) का 'क्षपाचारिणाम्' (षष्ठी विभक्ति) के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि जैसे 'यो गुणवान् तस्य यशः' में विभिन्न विभक्ति वाले 'यत्' और 'तत्' के अर्थ का अभेदान्वय हो जाता है इसी प्रकार प्रकृत में भिन्न विभक्ति वाले 'यत् के अर्थों का इस प्रकार अभेदान्वय करके—येषां प्रतापोष्मभिः-पीताः, यैः-पानभुवः कल्पिताः येषां हुङ्कृतयः—फिर सबका सम्मिलित रूप में विशेष्यभूत क्षपाचारी-पदार्थ से अन्वय हो जायेगा; तो यह उचित नहीं; क्योंकि 'यत्' के अर्थ उद्देश्य रूप हैं अतः वे अप्रधान हैं और अप्रधानों का परस्पर अन्वय असम्भव है, जैसे कि जैमिनि मुनि का नियम है—'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्'। इसलिये यहाँ 'यैः' पद का विभक्ति-भेद के कारण 'क्षपाचारिणा' से अभीष्ट सम्बन्ध नहीं तथा 'अभवन्मतयोगत्व' नामक वाक्य-दोष है। 'क्षपाचारिणां' के स्थान पर 'क्षपाचारिभिः पाठ से ही यह दोष दूर हो सकता है।

यथा वा—

त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥२२८॥

अत्र यदित्यत्र तदिति, तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति । चेत्स्याद् इति युक्तः पाठः ।

यथा वा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥२२९॥

अनुवाद—(न्यूनतानिमित्तक) अथवा जैसे—[क्रुद्धा नायिका के प्रति सखी वाक्य]

'हे सुन्दरी, तुम ऐसे (विलक्षण) सौन्दर्य वाली हो, और वह (नायक) भी सौन्दर्य में विख्यात (परिचित) है; इस संसार में तुम दोनों कलाओं की चरम सीमा को प्राप्त हुए हो । सौभाग्य से तुम दोनों की यह (विलक्षण) जोड़ी बहुत योग्य मिली है (संवदति), इसलिये जो सम्मिलन शेष है यदि वह हो जाये तो गुणवत्ता से तुमने इस संसार में विजय प्राप्त कर ली' ॥२२८॥

यहाँ पर (चतुर्थ चरण में) 'यत्' इस (उद्देश्य) में 'तत्' यह (विधेय) नहीं है तथा 'तदानीम्' इस (विधेय) में 'यदा' यह (उद्देश्य) नहीं है । (यत्स्यात् के स्थान पर) 'चेत् स्यात्' यह उचित पाठ होता ।

प्रभा—उपर्युक्त पद्य में 'शेषं यत् तत् यदा स्यात्' (जो शेष है वह जब हो जाय) यह अर्थ अभीष्ट है किन्तु 'तत्' और 'यदा' शब्द के अभाव में पदार्थों का अभीष्ट सम्बन्ध नहीं हो पाता; क्योंकि यत् पद के साथ 'तदानीं' पद की अन्वया-कांक्षा नहीं । अतएव यहाँ न्यूनतानिमित्तक अभवन्मत-योगत्व नामक दोष है । 'चेत् स्यात् पाठ कर देने पर तो 'चेत्' शब्द से यदा अर्थ की प्रतीति होगी और न्यूनता दोष न रहेगा ।

अनुवाद—(आकांक्षाविरहनिमित्तक) अथवा जैसे—'हे राजन् (देव), आपके युद्धस्थल में आकर धनुष चढ़ाने पर जिस-जिस ने तुरन्त ही जो जो प्राप्त कर लिया वह सुनिये, (आपके) धनुष ने बाण प्राप्त किये, बाणों ने शत्रु का शिर, उस (शिर) ने भी भूमि को प्राप्त किया अर्थात् भूमि पर गिरा, उस (भूमण्डल) ने आपको प्राप्त किया और आपने अनुपम कीर्ति पाई तथा कीर्ति ने तीनों लोकों को प्राप्त कर लिया अर्थात् लोकत्रय में व्याप्त हो गई ॥२२९॥

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादि, वाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम् । न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि । न च केन केनेत्यादि प्रश्नः ।

यहाँ पर (१) 'आकर्णन' (सुनना) क्रिया में (कोदण्ड आदि का) कर्मरूप से अन्वय करने पर (द्वितीया विभक्ति में) 'कोदण्डं शरान्' इत्यादि (प्रयोग) प्राप्त होता है । (२) (समस्त) वाक्यार्थ का कर्मरूप से अन्वय करने पर (प्रथमा विभक्ति में) 'कोदण्डः, शराः' इत्यादि (प्रयोग) प्राप्त होता है । और (३) 'कोदण्ड' आदि न तो यत् शब्द का अर्थ है (४) न ही उसका विशेषण है तथा (५) यहाँ 'केन केन' यह प्रश्न भी नहीं है ।

प्रभा—'संग्राम' इत्यादि उदाहरण में अभवन्मतयोगत्व वाक्यदोष है यह 'अत्र-प्रश्नः' आदि अवतरण में बतलाया गया है । भाव यह है कि यहाँ प्रथमार्धगत वाक्य के अर्थ के साथ उत्तरार्ध के अर्थ का सम्बन्ध अभीष्ट है किन्तु यह बनता नहीं । क्योंकि उत्तरार्ध के अर्थ को (१) यदि 'आकर्णय' क्रिया का कर्म मानें तो कोदण्ड शर आदि शब्दों से कर्म में द्वितीया विभक्ति होगी, अतः 'कोदण्डं शरान् यह प्रयोग होना चाहिये । (२) यदि परस्पर-अन्वित कोदण्ड आदि को एक वाक्यार्थ के रूप में 'आकर्णय' (क्रिया) का कर्म मानें तो प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति होकर 'कोदण्डः शराः' यह प्रयोग होना चाहिये जैसा कि इसमें है—'यो यो वीरः समायातस्त तं शृणु महीपते । भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः सोमदत्तिर्धनञ्जयः (३) 'यत्' (जो) शब्द बुद्धिस्थ पदार्थों का वाचक होता है अतः कोण्डादि पदार्थ ही 'यत्' शब्द का अर्थ है और जब 'यत् शब्द का क्रिया से अन्वय है तो 'कोदण्ड' आदि का भी क्रिया के साथ अन्वय है ही—यदि यह मानें तो भी ठीक नहीं; क्योंकि 'कोदण्ड' आदि 'यत्' शब्द के अर्थ नहीं हो सकते । (४) इसलिये यदि 'यत्' शब्द के अर्थ को 'कोदण्ड' आदि का विशेषण अथवा 'कोदण्ड' आदि को 'यत्' शब्द के अर्थ का विशेषण मानें [तद्विशेषणं स एव (यच्छब्दार्थ एव) विशेषणं यस्येति, तस्य (यच्छब्दार्थस्य) विशेषणमिति का विग्रहः] तो प्रथम पक्ष में 'येन कोदण्डेन यत् शराः समासादितं तद् आकर्णय' यह वाक्यार्थ होगा तथा द्वितीय पक्ष में 'कोदण्डेन येन शराः यत् समासादितं तद् आकर्णय' यह वाक्यार्थ होगा और दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा । (५) यदि केन केन किं किम् ? इत्यादि विशेष प्रश्न के उत्तर में 'कोदण्डेन शराः' इत्यादि कहा गया है ऐसा मानें तो ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ प्रश्न नहीं किया गया अपितु 'येन येन यत् यत् समासादितम्' यह कहा गया है और प्रश्न के बिना ही 'कोदण्ड' आदि का अर्थ निष्पन्न हो जाता है ।

अतः पदार्थों की परस्पर आकांक्षा के अभाव में यहाँ पर आकांक्षा विरह-निमित्तक अभवन्मतयोगत्व नामक वाक्यदोष है । (इसका विस्तृत विवेचन प्रदीप-उद्योत आदि टीकाओं में किया गया है) ।

यथा वा—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी ।।२३०।।

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम्, कृतवतेति परशौ सा प्रतीयते। कृतवत इति तु पाठे मतयोगो भवति।

यथा वा—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्कर्मोपदेष्टा हरिः
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ।।२३१।।

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयुज्यते।

अनुवाद—(विवक्षित व्यङ्ग्य-योगाभावनिमित्तक) अथवा जैसे—'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी' (ऊपर उदाहरण २०१) इत्यादि। २३०।। पद्य का परशुराम की निन्दा में तात्पर्य है। 'कृतवता' इस (तृतीयान्त) पद से यह निन्दा (सा) परशु में प्रतीत होती है। 'कृतवत' इस (षष्ठ्यन्त) पाठ में तो अभीष्ट अन्वय हो जाता है।

प्रभा—प्रकृत पद्यगत 'कृतवता रेणुकण्ठबाधा बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः' रावण की इस उक्ति में परशुराम (भार्गव) की निन्दा विवक्षित (व्यङ्ग्यार्थ) है। किन्तु 'कृतवता' यह तृतीयान्त पाठ परशु का विशेषण है और इसका परशु के साथ सम्बन्ध होने से उसकी ही निन्दा प्रतीत होती है जो अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ (निन्दा) का भार्गव के साथ विवक्षित योग न होने के कारण अभवन्मतयोगत्व नामक वाक्य-दोष है। यदि परशु की निन्दा से भी विदग्धोक्ति द्वारा भार्गव में निन्दा की प्रतीति मानी जाय तो भी कृतवत्त्वरूप वाच्यार्थ का भार्गव के साथ योग न होने के कारण यह (वाच्यायोगनिमित्तक) अभवन्मतयोग का उदाहरण है।

अनुवाद—(समासाच्छन्नतानिमित्तक) अथवा जैसे—[वेणीसंहार में भीमसेन की उक्ति] 'हम (भीमार्जुन, नकुलसहदेव) चारों भाई (इस संग्राम रूपी यज्ञ में) ऋत्विक् (अध्वर्यु, होता, उद्गाता ब्रह्मा) हैं; वह (सर्वजनरूप में प्रसिद्ध) पूजनीय कृष्ण कर्म के उपदेष्टा हैं, राजा युधिष्ठिर युद्धरूपी यज्ञ में दीक्षित (गृहीतव्रत) यजमान हैं, द्रौपदी व्रत ग्रहण करने वाली यजमान-पत्नी हैं, दुर्योधन आदि कौरव (यज्ञ के) पशु हैं, द्रौपदी के (केशाकर्षणादि) अपमान-जनित क्लेश की शान्ति ही इस (यज्ञ) का फल है। क्षत्रियों (राजन्य) के आह्वान के लिये बजाई गई भेरी स्फीततया (स्निग्धता से) ध्वनि कर रही है' ।।२३१।।

यहाँ पर 'अध्वर' शब्द समास में गौण हो गया है, इसलिये उसका अर्थ (संग्रामाध्वर) सब (ऋत्विक् आदि) के साथ सम्बद्ध नहीं होता।

प्रभा—भाव यह है कि 'संग्रामाध्वर' शब्द का ऋत्विक् आदि सबके साथ

यथा वा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥२३२॥

अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते भवान्याः सम्बन्धिनी तु विवक्षिता ॥

१३. अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र, यथा—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टै-
रत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय-
सौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥२३३॥

अत्रापहृतोऽस्मि इत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः तथापीत्यस्य द्वितीय-वाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः।

अन्वय अभीष्ट है किन्तु यह समास (मग्रामाध्वरदीक्षितः) में आया है तथा दूसरे (दीक्षित) के विशेषण रूप में उपस्थित है अतः इसका ऋत्विक् आदि के साथ अभीष्ट सम्बन्ध नहीं हो पाता और 'अभवन्मतयोगत्व' वाक्य-दोष है।

अनुवाद—(व्युत्पत्तिविरोधनिमित्तक) अथवा जैसे—'जङ्घाकाण्ड' इत्यादि (उदाहरण १५०) ॥२३२॥

यहाँ निजतनु' शब्द 'दण्डपाद' में अन्वित प्रतीत होता है; किन्तु 'भवानी की (सम्बन्धिनी) तनु (स्त्रीलिङ्ग) यह विवक्षित है।

प्रभा—यह नियम (व्युत्पत्ति) है कि 'निज, स्व, आत्मा' आदि सम्बन्धी पदार्थों का प्रधान क्रिया से अन्वित कारक-पदार्थ में ही अन्वय होता है—(ससम्बन्धिनां निजस्वात्मादिपदार्थानां प्रधानक्रियान्वयिकारकपदार्थ एवान्वयः); अतएव 'निज' पदार्थ का दण्डपाद में ही अन्वय होगा भवानी में नहीं और भवानी में अन्वय करना अभीष्ट है। इसलिये यहाँ व्युत्पत्तिविरोधनिमित्तक 'अभवन्मतयोगत्व वाक्य-दोष है।

अनुवाद—१३. अनभिहितवाच्य वह वाक्य है जहाँ अवश्य कहने योग्य (वाच्य) शब्द का प्रयोग न हो (अनभिहितं वाच्यं वक्तव्यं यत्र), जैसे—

[वीरचरित नाटक में राम को देखकर परशुराम की स्वगतोक्ति] 'इस असाधारण व्यक्ति (राम) के देखे हुए तथा सुने हुए अत्यद्भुत उत्कृष्ट चरित्रों से वशीभूत होकर (यद्यपि मैं अपहृत हूँ) भी [तथापि] मुझे [परशुराम को] निश्चय नहीं है (कि धनुष दशरथपुत्र ने तोड़ा है); क्योंकि यह (राम रूप में सामने स्थित) तो वीर बालक के रूप में अनुपम सौन्दर्य-सार समुदाय रूप कोई (विलक्षण) पदार्थ है ॥२३३॥

यथा वा—एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा
प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्त्ती ।
स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाधिगताभिरूप-
लक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥२३४॥

अत्र 'मनोरथानामपि दूरवर्त्ती' इत्यप्यर्थो वाच्यः । यथा वा—
त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि, दासजनं यतः ॥२३५॥

यहाँ पर 'अपहृतोऽस्मि' (अपहृतोऽहम्) इस प्रकार अपहृतत्व को विधेयता [विधि] कहना उचित था, क्योंकि 'तथापि' यह पद द्वितीय वाक्य में स्थित होकर ही युक्तियुक्त हो सकता है [उपपत्तेः युक्तता होने के कारण ।

प्रभा—भाव यह है कि 'तथापि' में 'तत्' शब्द का अर्थ निहित है और वह पूर्व वाक्य में उक्त किसी अर्थ की अपेक्षा रखता है। जिसके लिये यहाँ दो वाक्यों का होना आवश्यक है। अतएव 'अपहृतस्य' के स्थान पर 'अपहृतोऽस्मि' यह कहना चाहिये था, तब 'चरितातिशयैः अपहृतोऽस्मि तथापि नास्था' इस प्रकार निराकांक्ष अर्थ की प्रतीति होती। वह अवश्यवक्तव्य प्रथमा विभक्ति (विधि, यहाँ पर प्रयुक्त नहीं हुई, इसलिये अनभिहितवाच्यत्व दोष है। विधेय की प्रधानतया प्रतीति न होने से यहाँ विधेयाविमर्श भी है अतः दोनों का सङ्कर है।

अनुवाद—अथवा जैसे—['उषाहरण' नाटक में उषा की सखी चन्द्रलेखा के प्रति मदनपुत्र की उक्ति]:-देव और दैत्यों के मनोरथों से [भी] दुष्प्राप्य तथा पार्वती के मुखकमल से उत्पन्न हुआ यह मैं [मदनपुत्र, वर] बाणासुर की उषा नाम की पुत्री को, स्वप्न में अनिरुद्ध के समागम से सौन्दर्य-सम्पत्ति का फल प्राप्त करा के आ गया हूं ॥२३४॥

यहाँ पर मनोरथों का भी [अपि] दूरवर्ती यह अर्थ (अवश्य) कहना था।

प्रभा—प्रदीप के अनुसार अनभिहितवाच्य दो प्रकार का है—१. अन्यथावक्तव्य को अन्य प्रकार से कहना (जिसका उदाहरण 'अपहृतस्य' आदि ऊपर दिया गया है) २. निपात आदि द्योतक पद का अप्रयोग। 'एषोऽहम्' इत्यादि इसका उदाहरण है, यहाँ विधेयाविमर्श का भी सङ्कर नहीं है। यहाँ काव्यप्रकाश-वृत्ति में अवश्यवक्तव्य एक ही 'अपि' का अभाव दिखलाया है तथापि टीकाकारों के विचार में दो 'अपि' और होने चाहिएँ—सुरासुराणामपि मनोरथानामपि दूरवर्तीत्यपिद्वयम् अवश्यं वक्तव्यम् अन्यथा अन्यमनोरथविषयत्वं सुरासुरबहिरिन्द्रिय-विषयत्वं च प्रतीयते (बालबोधिनीकार) उनके अभाव में यहाँ अनभिहितवाच्यत्व दोष है।

अनुवाद—[असमासगत] अथवा जैसे [विक्रमोर्वशीय में उर्वशी को लक्ष्य करके पुरूरवा की उक्ति]—'हे मानिनि, तुझ में स्थित प्रीति वाले, प्रियवादी

अत्र नखलक्ष्मेत्यतः पूर्वं 'कुटिलाताम्र॰' इति वाच्यम् ।

१५. अस्थानस्थसमासं यथा—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि ।
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥२३८॥

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः । कवेरुक्तौ तु कृतः ।

यहाँ पर 'नखलक्ष्म' इससे पूर्व 'कुटिलाताम्रच्छवि' यह पद होना चाहिये था।

प्रभा—(१) अस्थानस्थपद वह वाक्य है जिसमें कोई शब्द अनुचित स्थान पर होता है। इससे (क) कहीं तो विरुद्ध-अर्थ की प्रतीति हो जाना सम्भव है, (ख) कहीं पद का अभीष्ट उपयोग नहीं होता। (क) 'प्रियेण' इत्यादि प्रथम का उदाहरण है। यहाँ 'न' पद 'अस्थानस्थ' है। 'नञ्' का यह स्वभाव है कि यह उसी का निषेध करता है जिसके साथ इसका प्रयोग होता है अतएव 'न काचिद् विजहौ' अपि तु सर्वाः' यह विरुद्ध अर्थ प्रतीत होने लगता है। इसलिये 'काचिद् न विजहौ' इस पाठ से ही *विवक्षित अर्थ (एक ने नहीं त्यागा)* की प्रतीति हो सकती है।

(ख) 'लग्नः इत्यादि उदाहरण में 'मुद्राङ्क' का वक्र तथा ईषद्रक्त होना (कुटिलाताम्रच्छविः) ही नख चिह्न की शङ्का का हेतु है अत एव कुटिलाताम्रच्छवि। पद का 'नखलक्ष्म' इत्यादि से पूर्वपाठ होना चाहिये था जिससे हेतु-हेतुमद्भाव की स्पष्ट प्रतीति हो जाती। यहाँ 'कुटिलाताम्रच्छवि' पद का विवक्षित उपयोग न होने के कारण 'अस्थानस्थपदत्व' वाक्य-दोष है।

अनुवाद—१५. अस्थानस्थसमास (वाक्य), जैसे—धिक्कार है! *मेरी सन्निधि में भी कामिनियों के स्तनरूपी पर्वतों के कारण दुर्गम तथा विषम हृदय में यह मान ठहरना चाहता है' यह सोचकर मानों क्रोध से कुछ लाल होकर दूर तक अपने रश्मि-करों को फैलाये हुए उदित होता हुआ (प्रोद्यंश्चासौ दूरतरप्रसारित-करश्च) यह चन्द्रमा प्रफुल्लित कुमुदिनी रूपी कोश से निकलती हुई भ्रमरपंक्ति रूपी तलवार को खींच रहा है'॥२३८॥*

यहाँ पर क्रुद्ध (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नहीं किया, कवि की उक्ति में तो कर दिया।

प्रभा—यहाँ पूर्वार्द्ध में क्रुद्ध चन्द्रमा की (कविनिबद्ध) उक्ति है। उसमें दीर्घ समास करना उचित था। उत्तरार्द्ध में तो कवि की उक्ति है इसमें क्रोध का वर्णन नहीं। यहाँ दीर्घसमासव्यङ्ग्य ओज गुण का [illegible] नहीं था। इस प्रकार अस्थान अर्थात् [illegible] पर समास [illegible] के कारण अस्थानस्थसमासत्व वाक्य-[illegible]

१६. 'सङ्कीर्णं यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति । यथा—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम् ।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥२३६॥

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि इमं कण्ठे गृहाण मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च' इति । एकवाक्यतायां तु क्लिष्टमिति भेदः ।

१७. गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति । यथा—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥२४०॥

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः । यथा वा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्टचारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।

अनुवाद—१६. सङ्कीर्ण वह वाक्य है जहाँ एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाते हैं, जैसे [मानिनी के प्रति सखी की उक्ति]—'चरणों में पड़े, अत्यन्त गुणवान् हृदयेश्वर को क्यों नहीं देखती हो ? इसे गले लगा लो, मन के तमोगुणरूप क्रोध को छोड़ो' ॥२३६॥

यहाँ पर (१) पादगतं बहुगुण हृदयनाथं किमिति न पश्यसि (२) इमं कण्ठे गृहाण (३) मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च—इस प्रकार (तीन वाक्य) हैं । एकवाक्यता में क्लिष्टत्व दोष होता है ।

प्रभा—उपर्युक्त तीनों वाक्यों में एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य के साथ मिले हुये हैं जैसे तृतीय वाक्य का 'कोप' पद प्रथम वाक्य के अन्तर्गत है । इससे अर्थ-प्रतीति में विलम्ब हो जाता है तथा यहाँ सङ्कीर्णता नामक वाक्य-दोष है । इसका क्लिष्टत्व दोष में समावेश नहीं किया जा सकता; क्योंकि क्लिष्ट दोष वहाँ होता है जहाँ ऐसा एक ही वाक्य होता है । यहाँ अनेक (तीन) वाक्य हैं अतः सङ्कीर्ण दोष है ।

अनुवाद—१७. गर्भित वह वाक्य है जहाँ एक वाक्य में दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाता है । जैसे—

'आप से यह तत्त्व (की बात) कहता हूं कि दूसरों के अपकार में तत्पर लोगों के साथ कभी सङ्गति न करनी चाहिये' ॥२४०॥

यहाँ पर तृतीय चरण (वदामि भवतस्तत्त्वम्) अन्य वाक्य के मध्य में प्रविष्ट हो गया है । अथवा जैसे—

'जिस (राजा) की कीर्ति लक्ष्मी की आज्ञा से (लक्ष्मी के पिता) सागर के प्रति यह कहने के लिये गई कि हे सागर, राग (रक्त या अनुराग) से रञ्जित अङ्ग-वाली जिस तलवार (पक्ष में नायिका) को संग्राम में शत्रुओं के कण्ठ में (खण्डन या रमण के लिये) गाढरूप से आलिङ्गित हुई (लग्न) तथा मातङ्गों (हाथी या चण्डाल)

तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता।
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥२४१॥

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्येतद्गर्भितम्। प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत्।

के ऊपर स्वयं गिरती हुई पर-पुरुषों (शत्रु-योद्धाओं) ने देखा है, उस (नायिका, तलवार) में अनुरक्त हुआ यह राजा (मुझे) कुछ भी नहीं गिनता, इसलिये (इसने) मुझे भृत्यों को समर्पित कर दिया है—यह आपको विदित हो' ॥२४१॥

यहाँ पर 'विदितं तेऽस्तु' यह (बिना प्रयोजन) ही (गर्भित) कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'लक्ष्मी वहाँ से हट रही है' इस प्रकार विरुद्धमतिकृत् भी यह वाक्य है।

प्रभा—जिस वाक्य के भीतर दूसरा वाक्य आ जाता है वह गर्भितवाक्य है। (क) कहीं तो वह वाक्य स्वभावतः एक ही होता है (ख) कहीं हेतुहेतुमद्भाव से वाक्यैकवाक्यता करके एक बना लिया जाता है। (क) प्रथम का उदाहरण 'परापकार' इत्यादि है यहाँ 'परापकार''सङ्गतिर्न विधेया' इत्यादि स्वभावतः एक वाक्य है। उसके भीतर 'वदामि भवतस्तत्त्वम्' यह दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो गया है। इससे सङ्गति के विषय में 'सत्त्व' (होना या श्लाघ्यता), और 'असत्त्व' (न होना या अश्लाघ्यता) का सन्देह हो जाता है ['सङ्गतिरस्ति' इत्येवं विवक्षितं 'सङ्गतिर्नास्ति' इति वा—इति संशयः] साथ ही 'न विधेया कदाचन' में कर्म की आकांक्षा बनी रहती है।

(ख) 'लग्न' इत्यादि द्वितीय का उदाहरण है। यहाँ पर 'तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति तेन भृत्येभ्यो दत्तास्मि' यह हेतुहेतुमद्भाव से वाक्यैकवाक्यता होकर बना हुआ वाक्य है। इसके भीतर बिना प्रयोजन के ही 'विदितं तेऽस्तु' यह दूसरा वाक्य प्रविष्ट किया गया है; अतः यहाँ गर्भितत्व दोष है। साथ ही यहाँ विरुद्धमतिकृत् वाक्य-दोष भी है; क्योंकि 'विदितं तेऽस्तु' से यह प्रतीति होती है कि 'स्वापराधेन नाहमपसरामि किन्तु राजकीयेनैव' अतएव 'लक्ष्मी वहाँ से हट रही है' इस (अविवक्षित) स्तुति-विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने लगती है।

(२) संकीर्ण तथा गर्भित में यह भेद है कि जब एक वाक्य में दूसरे वाक्य का कोई पद प्रविष्ट होता है तो सङ्कीर्ण दोष होता है किन्तु जब एक वाक्य में दूसरा वाक्य ही प्रविष्ट हो जाता है तो गर्भित दोष होता है। 'वाक्यान्तरेऽन्यवाक्यीयपदप्रवेशे संकीर्णता अन्यवाक्यस्यैव प्रवेशे तु गर्भितत्वमिति (भेदः)—इति महेश्वरः।

१८. "मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्" ॥
इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥२४२॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे ।
१९. भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र । यथा—

अनुवाद—(१८. प्रसिद्धिहत) "नूपुर आदि (के शब्द) में 'रणित' (क्वणित, शिञ्जित) आदि (प्रायः), पक्षियों (के शब्द) में 'कूजित' आदि, सुरत-काल के स्त्रियों के शब्द) में 'स्तनित', 'मणित' आदि और मेघ आदि (के शब्द) में 'गर्जित' आदि प्रसिद्ध है । इस प्रकार की प्रसिद्धि का अतिक्रमण करने वाला (वाक्य प्रसिद्धिहत है) ।" जैसे—[वेणीसंहार में अश्वत्थामा की उक्ति]—

'यह अभूतपूर्व (नूतन) 'रव' (सिंहनाद) सामने ही संग्राम-सागर से बार-बार क्यों उत्पन्न हो रहा है, जो (रव) महाप्रलय की वायु से क्षुभित पुष्कर तथा आवर्तक नामक मेघों के भीषण घन (निबिड़) गर्जन की प्रतिध्वनि का अनुकरण करने वाला है; अतएव श्रोत्रों के लिये भयङ्कर है तथा स्वर्ग और भूमि (रोदसी) के मध्य-भाग (कन्दरा) को आच्छादित (स्थगित) करता है' ॥२४२॥

यहाँ पर जो 'रव' शब्द है वह मण्डूक आदि (के शब्द) में प्रसिद्ध है, न कि उपर्युक्त विशिष्ट वीरगर्जन में ।

प्रभा—'रव' शब्द का कविजन मण्डूक आदि की मृदु ध्वनि के लिये ही प्रयोग करते हैं, श्रुति-भयङ्करता आदि विशेषणयुक्त वीरगर्जना या सिंहनाद में नहीं । अतएव प्रसिद्धि का अतिक्रमण करने के कारण यहाँ प्रसिद्धिहतत्व वाक्यदोष है ।

अनुवाद—१९. भग्नप्रक्रम वह (वाक्य) है जिसमें प्रस्ताव (उपक्रम) नष्ट हो जाता है ।

प्रभा—वृत्ति में प्रस्ताव शब्द का अर्थ प्रस्ताव (उपक्रम) का औचित्य है । जिस रूप में उपक्रम (आरम्भ) किया जाय उसी रूप मे उपसंहार करना चाहिये' (येन रूपेणोपक्रमस्तेनैवोपसंहारः) यह नियम ही प्रस्तावौचित्य है । इसका भङ्ग करना भग्न-प्रक्रमता है । इसे ही प्रक्रमभङ्ग दोष भी कहते हैं । यह प्रकृति, प्रत्यय, सर्वनाम, पर्याय आदि के प्रक्रमविषयक होने से अनेक प्रकार का होता है । जिनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

अनुवाद—जैसे—(प्रकृति-प्रक्रम-भङ्ग)—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तंगते हन्त निशाऽपि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥२४३॥

अत्र 'गते' ति प्रक्रान्ते यातेति प्रकृतेः। 'गता निशाऽपि' इति तु युक्तम्।

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र, कथितपदं दुष्टमिति चेहैवोक्तम्, तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः। उच्यते—उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-व्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः। तथा हि—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥२४४॥

अत्र 'रक्त एवास्तमेतीति' यदि क्रियेत तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति।

'अहो, नियति के नियोग से निशापति चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि भी चली गई; क्योंकि कुलनारियों (पतिव्रताओं) का इस (अनुगमन) से बढ़कर (पति की मृत्यु रूप) दशा के अनुकूल कल्याणकारी और कुछ नहीं है' ॥२४३॥

यहाँ पर 'गम्' प्रकृति (अस्तं गते) का प्रक्रम होने पर 'याता' यह ('या' प्रकृति का प्रयोग) प्रकृति का प्रक्रम भङ्ग है। 'गता निशापि' यह पाठ उचित है। (शङ्का)—अन्य ग्रन्थ (अन्यत्र=वामन के काव्यालङ्कार सूत्र, १.५) में यह कहा गया है कि 'प्रायः एक पद का दो बार प्रयोग न करना चाहिये'।' और इसी ग्रन्थ में (इहैव) भी कहा गया है कि कथितपद दुष्ट होता है, तो एक ही पद का दो बार प्रयोग क्यों किया जाये? उत्तर है—जहाँ उद्देश्य अर्थात् पूर्वबोधित (वस्तु) ही प्रतिनिर्देश्य अर्थात् पुनर्बोध्य होता है (उद्देश्यमेव प्रतिनिर्देश्यं यत्र) उससे भिन्न (स्थलों पर) ही एक पद के पुनः प्रयोग-निषेध का विषय (क्षेत्र) है। इसके विप-रीत जहाँ उद्देश्य ही प्रतिनिर्देश्य है ऐसे स्थल पर (तद्वति विषये) तो उस (पूर्व प्रयुक्त) ही पद अथवा सर्वनाम के प्रयोग के बिना दोष ही होता है। जैसे कि—'सूर्य ताम्रवर्ण का होता है और ताम्रवर्ण का ही अस्त होता है; महापुरुषों की सम्पत्ति तथा विपत्ति में एकरूपता रहा करती है' ॥२४४॥

यदि यहाँ पर 'रक्त एवास्तमेति' ऐसा (पाठ) कर दिया जाये तब अन्य पद (रक्त) के द्वारा प्रतिपादित (प्रकट) किया हुआ वही (ताम्ररूप) अर्थ भिन्न-अर्थ के रूप में भासित होता हुआ (एकरूपता की अभीष्ट) प्रतीति को बाधित कर देगा।

प्रभा—'नाथे निशायाः' इत्यादि प्रकृतिविषयक प्रक्रमभङ्ग का उदाहरण है। यहाँ वाक्य का उपक्रम 'गम्' धातु रूप प्रकृति से (गते) हुआ है किन्तु उपसंहार 'या' धातु रूप प्रकृति (याता) से होता है। अतः यहाँ प्रकृति-प्रक्रम-भङ्ग दोष है। भाव यह है कि भिन्न २ शब्दों से बोधित अर्थ भिन्न सा प्रतीत हुआ करता है; क्योंकि

यथा वा—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥२४५॥

अत्र प्रत्ययस्य । 'सुखमीहितुं वा' इति युक्तः पाठः ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'—इस भर्तृहरिप्रोक्तन्याय के अनुसार शाब्दबोधात्मक ज्ञान में शब्द का भी विशेष रूप में भान होता है। इससे उपर्युक्त पद्य में 'गम्' और 'या' भिन्न २ धातुओं से बोधित एक ही (गमन रूप) अर्थ भिन्न प्रतीत होने लगता है। इसलिये 'याता' इस पद से यद्यपि गमन अर्थ का बोध होता है, तथापि अनुगमन रूप में नहीं और यहाँ जो निशा-द्वारा अस्तंगत निशानाथ का अनुगमन (अर्थ) विवक्षित है उसकी प्रतीति नही होती। अतएव इस दोष को दूर करने के लिये 'गता निशापि' यह पाठ करना उचित है।

'याता' के स्थान पर 'गता' पाठ करने में शङ्का यह होती है कि वामन आदि पूर्वाचार्यो के मत में तथा स्वयं मम्मट की दृष्टि से भी एक ही पद का दो बार प्रयोग करना दोष समझा जाता है तब यहाँ 'गता' (गत शब्द) का ही पुनः प्रयोग कैसे सम्भव है? इस शङ्का का समाधान यही है कि जहाँ पूर्वकथित तथा परकथित अर्थों की एकरूपता की रक्षा के लिये पूर्वनिर्दिष्ट अर्थ का उसी शब्द से तथा उसी रूप में पुनर्निर्देश आवश्यक होता है वहाँ एक ही पद का दो बार प्रयोग करना दोष नहीं प्रत्युत अवश्यकर्त्तव्य है। संक्षेप में यदि दो वाक्यों में एक ही (वस्तु) उद्देश्य या विधेय हो अथवा पूर्ववाक्य में विधेय (अथवा उद्देश्य) रूप से आने वाला दूसरे वाक्य में उद्देश्य (अथवा विधेय) हो जाये। जैसे—'उदेति सविता' इत्यादि के दोनों वाक्यों में 'सविता' उद्देश्य है तथा ताम्रता' विधेय है। 'कोदण्डेन शराः' इत्यादि (उदाहरण २२९) में पूर्व वाक्य का विधेय 'शराः' है और यही दूसरे वाक्य (शरैः अरिशिरः) का उद्देश्य है; तब शब्द का पुनः प्रयोग आवश्यक ही है। अन्यत्र वह दोष समझा जाता है। इसी अभिप्राय से वामन ने भी 'प्रायेण' (नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण) यह शब्द दिया है। अतएव यहाँ 'गता निशाऽपि' पाठ करना उचित था।

अनुवाद—(प्रत्यय-प्रक्रमभङ्ग) अथवा जैसे–[किरात० में अर्जुन के प्रति द्रौपदी की उक्ति] 'यश प्राप्त करने के लिए अथवा सुख-लाभ की इच्छा से अथवा (साधारण) मनुष्य की गणना से ऊपर उठने के लिये उत्सुकता रहित होकर प्रयत्न करने वाले मनुष्यों की गोद में सिद्धि (सफलता) उत्कण्ठिता सी स्वयं आ जाती है ॥२४५॥

यहाँ प्रत्यय का (प्रक्रम-भङ्ग है)। 'सुखमीहितुं वा' यह उचित पाठ है।

प्रभा—'यशोऽधिगन्तुम्' आदि में तुमुन् प्रत्यय से 'उपक्रम, किया गया है किन्तु 'लिप्सया' में 'सन्' (इच्छार्थक) प्रत्यय का प्रयोग कर दिया गया। अतः यहाँ

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तंगते हन्त निशाऽपि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥२४३॥

अत्र 'गते' ति प्रक्रान्ते यातेति प्रकृतेः। 'गता निशाऽपि' इति तु युक्तम्।

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र, कथितपदं दुष्टमिति चेहैवोक्तम्, तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः। उच्यते—उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-व्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः। तथा हि—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥२४४॥

अत्र 'रक्त एवास्तमेती'ति यदि क्रियेत तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति।

'अहो, नियति के नियोग से निशापति चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि भी चली गई; क्योंकि कुलनारियों (पतिव्रताओं) का इस (अनुगमन) से बढ़कर (पति की मृत्यु रूप) दशा के अनुकूल कल्याणकारी और कुछ नहीं है' ॥२४३॥

यहाँ पर 'गम्' प्रकृति (अस्तं गते) का प्रक्रम होने पर 'याता' यह ('या' प्रकृति का प्रयोग) प्रकृति का प्रक्रम भङ्ग है। 'गता निशापि' यह पाठ उचित है।
(शङ्का)—अन्य ग्रन्थ (अन्यत्र=वामन के काव्यालङ्कार सूत्र, १.५) में यह कहा गया है कि 'प्रायः एक पद का दो बार प्रयोग न करना चाहिये'। और इसी ग्रन्थ में (इहैव) भी कहा गया है कि कथितपद दुष्ट होता है, तो एक ही पद का दो बार प्रयोग क्यों किया जाये? उत्तर है—जहाँ उद्देश्य अर्थात् पूर्वबोधित (वस्तु) ही प्रतिनिर्देश्य अर्थात् पुनर्बोध्य होता है (उद्देश्यमेव प्रतिनिर्देश्यं यत्र) उससे भिन्न (स्थलों पर) ही एक पद के पुनः प्रयोग-निषेध का विषय (क्षेत्र) है। इसके विपरीत जहाँ उद्देश्य ही प्रतिनिर्देश्य है ऐसे स्थल पर (तद्वति विषये) तो उस (पूर्व प्रयुक्त) ही पद अथवा सर्वनाम के प्रयोग के बिना दोष ही होता है। जैसे कि—
'सूर्य ताम्रवर्ण का होता है और ताम्रवर्ण का ही अस्त होता है; महापुरुषों की सम्पत्ति तथा विपत्ति में एकरूपता रहा करती है' ॥२४४॥

यदि यहाँ पर 'रक्त एवास्तमेति' ऐसा (पाठ) कर दिया जाये तब अन्य पद (रक्त) के द्वारा प्रतिपादित (प्रकट) किया हुआ वही (ताम्ररूप) अर्थ भिन्न-अर्थ के रूप में भासित होता हुआ (एकरूपता की अभीष्ट) प्रतीति को बाधित कर देगा।

प्रभा—'नाथे निशायाः' इत्यादि प्रकृतिविषयक प्रक्रमभङ्ग का उदाहरण है। यहाँ वाक्य का उपक्रम 'गम्' धातु रूप प्रकृति से (गते) हुआ है किन्तु उपसंहार 'या' धातु रूप प्रकृति (याता) से होता है। अतः यहाँ प्रकृति-प्रक्रम-भङ्ग दोष है। भाव यह है कि भिन्न २ शब्दों से बोधित अर्थ भिन्न सा प्रतीत हुआ करता है; क्योंकि

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥२४८॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम् । लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' इति युक्तम् ।

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः ।
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरोभावि नार्यः शशंसुः ॥२४९॥

अत्र वचनस्य, 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभा निःश्रीकाः' इति, 'कम्पमानाः' इत्यत्र कम्पमापुरिति च पठनीयम् ।

जो 'अपत्य' शब्दके स्थान पर 'पुत्र' शब्द (पर्याय) के प्रयोग से भङ्ग हो रहा है। अतएव यहाँ पर्यायप्रक्रमभङ्ग दोष है।

जो लोग यह कहते हैं कि 'मैनाक पुत्र के होते हुए भी कन्यारूप अपत्य में विशेष-स्नेह रहा' यह अर्थ अभिप्रेत है अतएव यथाश्रुत पाठ ही उचित है। उनका कथन भी ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि इस प्रकार एक तो दृष्टान्त की विषमता रहती है दूसरे 'अपि' शब्द का स्वारस्य भङ्ग होता है।

अनुवाद—(उपसर्ग तथा पर्याय का प्रक्रमभङ्ग) [किरातार्जुनीय]—पराक्रमहीन-पुरुष को विपत्तियाँ दबा लेती हैं, आपत्तियुक्त व्यक्ति को शुभ भविष्य (आयतिः उत्तरकालशुद्धिः) छोड़ देता है (अर्थात् उसका भविष्य मङ्गलमय नहीं होता) आयतिरहित की लघुता (नीचता या पतन) अवश्यभावी (नियता) है, गौरवहीन जन राजलक्ष्मी का पात्र नहीं होता ॥२४८॥

यहाँ [वि उपसर्ग (विपदः) के प्रक्रम में आ उपसर्ग (आपद) आ जाने से] उपसर्ग प्रक्रमभङ्ग तथा ['लघुता के प्रक्रम में 'अगरीयान्' इस पर्याय के आ जाने से] पर्याय-प्रक्रमभङ्ग है। 'तदभिभवः' आदि पाठ उचित है।

अनुवाद—(वचन-प्रक्रम-भङ्ग) [माघ काव्य में नृप पत्नियों का अपशकुन वर्णन] '(शिशुपालपक्षीय) राजाओं के (युद्ध के लिये) प्रस्थान करने पर उनकी पत्नियाँ आगे होने वाले अमङ्गल को इस प्रकार प्रकट करने लगीं—कोई स्त्री रजस्वला [रजोभिः कीर्णा व्याप्ता] हो गई तथा उसके मुखचन्द्र की शोभा मन्द हो गई अतः वह आकाश (धूलयुक्त अतः मन्दकान्ति वाले चन्द्रमा से युक्त) के समान हो गई (अनुविदधौ=अनुकृतवती); व्याकुल चित्त (सत्त्व) वाली कुछ अन्य स्त्रियाँ शोभाहीन होकर दिशाओं के समान हृदय में सन्ताप धारण करने लगीं (उद्भ्रान्त हैं सत्त्व अर्थात् प्राणी जिनमें ऐसी दिशाएं भी दाहयुक्त हो गई—दिग्दाह अमङ्गल सूचक है); अन्य स्त्रियाँ पग-पग पर झंझावात (अपशकुन सूचक) के समान चक्कर काटने लगीं; और कोई भूमि के समान कम्पित होने लगी (भूमि कम्पन भी आपत्ति सूचक है) ॥२४९॥

यहाँ पर वचन का प्रक्रमभङ्ग है। (काचित्कीर्णा० इत्यादि के

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥२४६॥

अत्र सर्वनाम्नः। अनेन विसृष्टा इति वाच्यम्।

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२४७॥

अत्र पर्यायस्य। 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' इति युक्तम्। अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूदिति केचित्समर्थयन्ते।

एकरूपता-प्रतीति का भङ्ग हो जाता है तथा प्रत्यय-प्रक्रम भङ्ग वाक्य-दोष है। 'सुखमीहितु' वा यह पाठ होता तो दोष न होता।

अनुवाद—(सर्वनाम का प्रक्रमभङ्ग; जैसे कुमारसम्भव में)—'वे मरीचि आदि मुनिगण हिमालय से विदा लेकर, फिर शूलधारी महादेव के दर्शन कर और उनसे (पार्वती-विवाह रूप) अर्थ की सिद्धि (पिता द्वारा स्वीकृति) को निवेदन करके, उनकी आज्ञा पाकर द्युलोक को चले गये ॥२४६॥

यहाँ सर्वनाम (इदम्) का प्रक्रमभङ्ग है। 'अनेन विसृष्टाः' यह कहना चाहिये था।

प्रभा—यहाँ पर 'अस्मै' में 'इदम्' सर्वनाम का प्रक्रम है किन्तु 'तद्विसृष्टाः' में 'तद्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है। 'इदम्' शब्द प्रत्यक्ष (पुरोवर्ती) वस्तु के लिये आता है तथा 'तद्' शब्द अप्रत्यक्ष वस्तु के लिये। दोनों का अर्थ-भेद होने के कारण 'इदम्' के प्रसङ्ग में 'तद्' के प्रयोग से यह सन्देह हो सकता है कि 'तद्' महादेव के लिये है या हिमालय के लिये। अतएव यहाँ सर्वनाम का प्रक्रम-भङ्ग हो रहा है। जो 'तद्' के स्थान पर 'अनेन' पाठ से दूर हो सकता है।

अनुवाद—(पर्यायप्रक्रमभङ्ग) [कुमार सम्भव]—'पुत्रवान् होते हुए भी हिमालय की दृष्टि उस (गौरी रूप) अपत्य (के दर्शन) में तृप्ति को प्राप्त न हुई; क्योंकि अनन्त पुष्पों से युक्त (होने पर) भी वसन्त की भ्रमरपंक्ति आम्र-मञ्जरी में विशेष आसक्ति वाली रहा करती है ॥२४७॥

यहाँ पर्याय का प्रक्रमभङ्ग है। 'महीभृतोऽपत्यवतः' यह पाठ उचित है। यहाँ पर 'पुत्र होने पर कन्या रूप अपत्य में (विशेष) स्नेह रहा' इस प्रकार (अर्थ करके) कुछ (व्याख्याकार यथाश्रुत पाठ का) समर्थन करते हैं।

प्रभा—अभिप्राय यह है कि यहाँ दृष्टान्त [अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते (तस्य पुष्पे) द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा] से दिखाया गया है कि सामान्य-पुष्प होने पर भी पुष्पविशेष के प्रति भ्रमरों की अत्यधिक आसक्ति होती है। साथ ही 'पुत्रवतोऽपि' में विरोधार्थक 'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिये 'अपत्यसामान्य होने पर भी अपत्यविशेष में स्नेह था' यह प्रस्ताव (प्रस्तुत अभिप्राय) या प्रक्रम है।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥२४८॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम् । लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' इति युक्तम् ।

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः ।
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरोभावि नार्यः शशंसुः ॥२४९॥

अत्र वचनस्य, 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभा निःश्रीकाः' इति, 'कम्पमानाः' इत्यत्र कम्पमापुरिति च पठनीयम् ।

जो 'अपत्य' शब्दके स्थान पर 'पुत्र' शब्द (पर्याय) के प्रयोग से भङ्ग हो रहा है। अतएव यहां पर्यायप्रक्रमभङ्ग दोष है।

जो लोग यह कहते है कि 'मैनाक पुत्र के होते हुए भी कन्यारूप अपत्य में विशेप-स्नेह रहा' यह अर्थ अभिप्रेत है अतएव यथाश्रुत पाठ ही उचित है। उनका कथन भी ठीक नही प्रतीत होता; क्योंकि इस प्रकार एक तो दृष्टान्त की विपमता रहती है दूसरे 'अपि' शब्द का स्वारस्य भङ्ग होता है।

अनुवाद—(उपसर्ग तथा पर्याय का प्रक्रमभङ्ग) [किरातार्जुनीय]—पराक्रमहीन पुरुष को विपत्तियां दबा लेती हैं, आपत्तियुक्त व्यक्ति को शुभ भविष्य (आयतिः उत्तरकालशुद्धिः) छोड़ देता है (अर्थात् उसका भविष्य मङ्गलमय नहीं होता) आयतिरहित की लघुता (नीचता या पतन) अवश्यभावी (नियता) है, गौरवहीन जन राजलक्ष्मी का पात्र नहीं होता ।।२४८।।

यहां [वि उपसर्ग (विपदः) के प्रक्रम में आ उपसर्ग (आपद) आ जाने से] उपसर्ग प्रक्रमभङ्ग तथा ['लघुता के प्रक्रम में 'अगरीयान्' इस पर्याय के आ जाने से] पर्याय-प्रक्रमभङ्ग है। 'तदभिभवः' आदि पाठ उचित है।

अनुवाद—(वचन-प्रक्रम-भङ्ग) [माघ काव्य में नृप पत्नियों का अपशकुन वर्णन] '(शिशुपालपक्षीय) राजाओं के (युद्ध के लिये) प्रस्थान करने पर उनकी पत्नियां आगे होने वाले अमङ्गल को इस प्रकार प्रकट करने लगीं—कोई स्त्री रजस्वला [रजोभिः कीर्णा व्याप्ता] हो गई तथा उसके मुखचन्द्र की शोभा मन्द हो गई अतः वह आकाश (धूलयुक्त अतः मन्दकान्ति वाले चन्द्रमा से युक्त) के समान हो गई (अनुविदधौ=अनुकृतवती); व्याकुल चित्त (सत्त्व) वाली कुछ अन्य स्त्रियां शोभाहीन होकर दिशाओं के समान हृदय में सन्ताप धारण करने लगीं (उद्भ्रान्त हैं सत्त्व अर्थात् प्राणी जिनमें ऐसी दिशाएं भी दाहयुक्त हो गईं—दिग्दाह अमङ्गल सूचक है); अन्य स्त्रियां पग-पग पर झंझावात (अपशकुन सूचक) के समान चक्कर काटने लगीं; और कोई भूमि के समान कम्पित होने लगी (भूमि कम्पन भी आपत्ति सूचक है) ।।२४९।।

यहां पर वचन का प्रक्रमभङ्ग है। ([illegible] इत्यादि के स्थान पर)

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥२५०॥

अत्र कारकस्य । विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिमित्यदुष्टम्
अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति ।
अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ॥२५१॥

काश्चित् कीर्णा० इत्यादि तथा 'कम्पमानाः' के स्थान पर 'कम्पमापुः' यह पढ़ना चाहिये था।

प्रभा—यहाँ 'काचित्' इस एकवचन से उपक्रम किया गया है किन्तु एक वचन के प्रक्रम मे 'काश्चित्' यह बहुवचन प्रयुक्त हुआ है अतः वचनप्रक्रमभङ्ग वाक्य है। इस दोष को दूर करने के लिये उपर्युक्त पाठ करना चाहिये अर्थात् प्रथम चरण में 'काचित्' के स्थान पर 'काश्चित्' तथा क्रिया के साथ वचन समन्वय के लिये 'अनुविदधौ' के स्थान पर 'अनुविदधुः' पाठ होना चाहिये। प्रथम चरण के अन्त में 'शोभाः' पाठ हो जाने से द्वितीय चरण के आरम्भ में 'अश्रीकाः' के स्थान पर 'निःश्रीकाः' पाठ होगा जिससे छन्दोभङ्ग न हो।

यहाँ पर ग्रन्थकार ने प्रासङ्गिक रूप से आख्यात प्रक्रम-भङ्ग भी दिखलाया है, 'विदधौ, दधिरे' इत्यादि प्रधान क्रियाओं के प्रक्रम में 'कम्पमान' इस शानच् प्रत्ययान्त का प्रयोग होने से प्रक्रम-भङ्ग है। 'कम्पमापुः' पाठ से यह दोष दूर हो सकता है।

अनुवाद—(कारक-प्रक्रम-भङ्ग) [शकुन्तला नाटक में सेनापति के प्रति दुष्यन्त की उक्ति]—अरण्य महिष बार-बार अपने शृङ्गों से ताडित जलाशय के जल का अवगाहन करें, मृगों का समूह छाया में झुण्ड बना कर जुगाली करे; वराहपति निश्चिन्त होकर छोटे तालाबों में मुस्ता (मोथा) उखाड़ें और यह हमारा धनुष, शिथिल-प्रत्यञ्चा वाला होकर विश्राम प्राप्त करे ॥२५०॥

यहाँ ('गाहन्ताम्' इस कर्तृकारकवाचक के प्रक्रम में 'क्रियताम्' इस कर्मकारकवाचक अर्थात् कर्मवाच्य की क्रिया का प्रयोग करने से) कारक-प्रक्रमभङ्ग है। 'विश्रब्धाः रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' यह दोषरहित पाठ है।

अनुवाद—(क्रम-प्रक्रमभङ्ग) [वीरचरित नाटक में परशुराम को देखकर राम की उक्ति] अपरिमित तप के तेज तथा पराक्रम की महिमा (प्रथिमा) वाले, अत्यन्त यशस्वी, यथार्थ अहङ्कार से उद्दीपित (आध्मात) मुनि परशुराम के रोषपूर्वक आने पर मेरा हाथ अलौकिक या नतन धनुर्विद्या के गर्व के योग्य कर्म करने के लिये

अत्र क्रमस्य। पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम्। एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम्।

२०. अविद्यमानः क्रमो यत्र। यथा—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।२५२।

अत्र त्वंशब्दानन्तरं चकारो युक्तः।

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ, दोषाकरश्री-
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥२५३॥

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति वाच्यम्। तथा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या ॥२५३ क॥ इत्यादौ 'इति श्रीनियोगादिति वाच्यम्'।

(युद्ध के लिए) और (साथ ही) चरणस्पर्श के लिए वेगपूर्वक फड़क रहा है ॥२५१॥

यहाँ पर क्रम का प्रक्रमभङ्ग है। 'पादोपसंग्रहणाय' यह पहले कहना चाहिये। इसी प्रकार (प्रक्रमभङ्ग के) अन्य उदाहरण भी खोज लेना चाहिये।

प्रभा—यहाँ 'तपस्तेजोवीर्य' इस प्रकार क्रम से उपक्रम किया गया है। 'तपस्तेज' के भाव से चरण-स्पर्श उचित है तथा वीरता या पराक्रम (वीर्य) के भाव से बाणाकर्षण उचित है। अतः पादोपसंग्रहण को पहले कहना चाहिये था। यही उचित क्रम है। इसका भङ्ग होने के कारण यहाँ क्रम-प्रक्रम-भङ्ग दोष है।

इसी प्रकार प्रक्रमभङ्ग के अन्य भी अनेक स्थल हो सकते हैं।

अनुवाद—(२०) अक्रम वह वाक्य है जिसमें ('च' आदि निपातसंज्ञक) शब्दों का क्रम विद्यमान न हो। जैसे 'द्वयं गत' इत्यादि (ऊपर, उदाहरण १८६) ॥२५२॥

यहाँ 'त्वं' शब्द के अनन्तर 'च' का प्रयोग उचित है। अथवा जैसे—

जिस राजा की चन्द्र-किरण सदृश धवलकीर्ति कोप से यह कहकर दूर, चली गई कि हे नाथ, यह निस्त्रिंशजा [निस्त्रिंशः खड्गः तज्जा तदुत्पन्ना खड्ग से उत्पन्न अथवा निस्त्रिंशाः त्रिंशदधिकाः तदुत्पन्ना नानापितृजन्या वेश्या] शक्ति रूपी नायिका तुम्हारे भुजयुगल में है, दोषाकर अर्थात् चन्द्रमा अथवा महादुष्ट (दोषाणामाकरः) की शोभा तुम्हारे मुख में है तथा यह महाकुट्टनी (भयङ्कर मारकाट करने-वाली अथवा परस्त्री-पुरुषादि संघटनकर्त्री दूती) असिलता भी आपके पास (बगल में) रहती है और यह (आपकी) सर्वगामिनी (सर्वजन ग्राह्य अथवा सर्वोपभोग्या कोई कुलटा) आज्ञा आपके समक्ष ही विलास करती है, फिर मुझ वृद्धा से तुम्हारा क्या प्रयोजन है?' ॥२५३॥

यहाँ पर 'इत्थं प्रोच्य+इव' यह कहना उचित है। इसी प्रकार 'लग्नं रागा-वृताङ्ग्या (ऊपर उदाहरण २४१) इत्यादि में 'इति श्रीनियोगात्' ऐसा कहना चाहिये।

> गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
> छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।
> विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
> विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥२५०॥

अत्र कारकस्य । विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिमित्यदुष्टम् ।

> अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
> ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति ।
> अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
> स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ॥२५१॥

काश्चित् कीर्णा० इत्यादि तथा 'कम्पमानाः' के स्थान पर 'कम्पमापुः' यह पढ़ना चाहिये था ।

प्रभा—यहाँ 'काचित्' इस एकवचन से उपक्रम किया गया है किन्तु एक वचन के प्रक्रम में 'काश्चित्' यह बहुवचन प्रयुक्त हुआ है अतः वचनप्रक्रमभङ्ग वाक्य है । इस दोष को दूर करने के लिये उपर्युक्त पाठ करना चाहिये अर्थात् प्रथम चरण में 'काचित्' के स्थान पर 'काश्चित्' तथा क्रिया के साथ वचन समन्वय के लिये 'अनुविदधौ' के स्थान पर 'अनुविदधुः' पाठ होना चाहिये । प्रथम चरण के अन्त में 'शोभाः' पाठ हो जाने से द्वितीय चरण के आरम्भ में 'अश्रीकाः' के स्थान पर 'निःश्रीकाः' पाठ होगा जिससे छन्दोभङ्ग न हो ।

यहाँ पर ग्रन्थकार ने प्रासङ्गिक रूप से आख्यात प्रक्रम-भङ्ग भी दिखलाया है, 'विदधौ, दधिरे' इत्यादि प्रधान क्रियाओं के प्रक्रम में 'कम्पमान' इस शानच् प्रत्ययान्त का प्रयोग होने से प्रक्रम-भङ्ग है । 'कम्पमापुः' पाठ से यह दोष दूर हो सकता है ।

अनुवाद—(कारक-प्रक्रम-भङ्ग) [शकुन्तला नाटक में सेनापति के प्रति दुष्यन्त की उक्ति]—अरण्य महिष बार-बार अपने शृङ्गों से ताडित जलाशय के जल का अवगाहन करें, मृगों का समूह छाया में झुण्ड बना कर जुगाली करे; वराहपति निश्चिन्त होकर छोटे तालाबों में मुस्ता (मोथा) उखाड़ें और यह हमारा धनुष, शिथिल-प्रत्यञ्चा वाला होकर विश्राम प्राप्त करे ॥२५०॥

यहाँ ('गाहन्ताम्' इस कर्तृकारकवाचक के प्रक्रम में 'क्रियताम्' इस कर्मकारकवाचक अर्थात् कर्मवाच्य की क्रिया का प्रयोग करने से) कारक-प्रक्रमभङ्ग है । 'विश्रब्धाः रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' यह दोषरहित पाठ है ।

अनुवाद—(क्रम-प्रक्रमभङ्ग) [वीरचरित नाटक में परशुराम को देखकर राम की उक्ति] अपरिमित तप के तेज तथा पराक्रम की महिमा (प्रथिमा) वाले, अत्यन्त यशस्वी, यथार्थ अहङ्कार से उद्दीपित (आध्मात) मुनि परशुराम के रोषपूर्वक आने पर मेरा हाथ अलौकिक या नूतन धनुर्विद्या के गर्व के योग्य कर्म करने के लिये

अत्र क्रमस्य। पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम्। एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम्।

२०. अविद्यमानः क्रमो यत्र। यथा—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।२५२।

अत्र त्वंशब्दानन्तरं चकारो युक्तः।

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ, दोषाकरश्री-
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम्॥२५३॥

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति वाच्यम्। तथा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या॥२५३ क॥ इत्यादौ 'इति श्रीनियोगादिति वाच्यम्'।

(युद्ध के लिए) और (साथ ही) चरणस्पर्श के लिए वेगपूर्वक फड़क रहा है॥२५१॥

यहाँ पर क्रम का प्रक्रमभङ्ग है। 'पादोपसंग्रहणाय' यह पहले कहना चाहिये। इसी प्रकार (प्रक्रमभङ्ग के) अन्य उदाहरण भी खोज लेना चाहिये।

प्रभा—यहाँ 'तपस्तेजोवीर्यं' इस प्रकार क्रम से उपक्रम किया गया है। 'तपस्तेज' के भाव से चरण-स्पर्श उचित है तथा वीरता या पराक्रम (वीर्य) के भाव से बाणाकर्षण उचित है। अत. पादोपसंग्रहण को पहले कहना चाहिये था। यही उचित क्रम है। इसका भङ्ग होने के कारण यहाँ क्रम-प्रक्रम-भङ्ग दोष है।

इसी प्रकार प्रक्रमभङ्ग के अन्य भी अनेक स्थल हो सकते हैं।

अनुवाद—(२०) अक्रम वह वाक्य है जिसमें ('च' आदि निपातसंज्ञक) शब्दों का क्रम विद्यमान न हो। जैसे 'द्वयं गतं' इत्यादि (ऊपर, उदाहरण १८६)॥२५२॥

यहाँ 'त्वं' शब्द के अनन्तर 'च' का प्रयोग उचित है। अथवा जैसे—

जिस राजा की चन्द्र-किरण सदृश धवलकीर्ति कोप से यह कहकर दूर चली गई कि हे नाथ, यह निस्त्रिंशजा [निस्त्रिंशः खड्गः तज्जा तदुत्पन्ना खड्ग से उत्पन्न अथवा निस्त्रिंशाः त्रिंशदधिकाः तदुत्पन्ना नानापितृजन्या वेश्या] शक्ति रूपी नायिका तुम्हारे भुजयुगल में है, दोषाकर अर्थात् चन्द्रमा अथवा महादुष्ट (दोषाणामाकरः) की शोभा तुम्हारे मुख में है तथा यह महाकुट्टनी (भयङ्कर मारकाट करने वाली अथवा परस्त्री-पुरुषादि संघटनकर्त्री दूती) असिलता भी आपके पास (बगल में) रहती है और यह (आपकी) सर्वगामिनी (सर्वजन ग्राह्य अथवा सर्वोपभोग्या कोई कुलटा) आज्ञा आपके समक्ष ही विलास करती है, फिर मुझ वृद्धा से तुम्हारा क्या प्रयोजन है?'॥२५३॥

यहाँ पर 'इत्थं प्रोच्य+इव' यह कहना उचित है। इसी प्रकार 'लग्नं रागा-वृताङ्ग्या (ऊपर उदाहरण २४१) इत्यादि में 'इति श्रीनियोगात्' ऐसा कहना चाहिये।

२१. अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र । यथा—

रामन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२५४॥

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ॥

प्रभा—(१) वाक्य में जिस पद को जिस पद के अनन्तर रखना उचित है यदि उसे वहाँ नहीं रखा जाता और अन्य स्थान पर रख दिया जाता है तो वहाँ अक्रमत्व दोष होता है । जैसे—पद-प्रयोग का नियम है कि उपसर्गों का धातु से पूर्व ही प्रयोग होता है (ते प्राग्धातोः; अष्टा० १।४।८०), 'एव' आदि का व्यवच्छेद्य के अनन्तर तथा 'इव' आदि का उपमान के अनन्तर और 'च' आदि का समुच्चेय (जिसका समुच्चय करना है) के पश्चात् इस प्रकार के क्रम का अभाव ही अक्रमत्व दोष है ।

(२) अक्रमत्व दोष अस्थानपदत्व आदि से भिन्न है; क्योंकि जहाँ पदसंनिवेशरूप रचना प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति नहीं कराती, वहाँ पर अक्रमत्व दोष है, यदि प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने पर भी पदसंनिवेश अनुचित है तो वहाँ 'अस्थानपदत्व' दोष है । जहाँ अर्थक्रम का अनौचित्य है वहाँ 'दुष्क्रमत्व' दोष होता है तथा उपसंहार रूप प्रक्रम के भङ्ग में प्रक्रम-भङ्ग दोष होता है । (विवरण टीका) 'अक्रमता' दोष निपातविषयक है । 'च' इत्यादि पदों की व्याकरण में निपात संज्ञा की गई है (चादयोऽसत्त्वे १।४।५७)

(३) क—'द्वयं गतं' इत्यादि में जो 'लोकस्य च' में प्रयुक्त 'च' (और) है उसका प्रयोग 'त्वं' शब्द के अनन्तर ('त्वं चास्य लोकस्य) करना उचित था; क्योंकि शोचनीयता में 'कला' के साथ 'त्वं' का समुच्चय ही विवक्षित है, 'लोक' (पदार्थ) का समुच्चय नहीं करना है । इस प्रकार 'त्वं च' यह पाठक्रम उचित है, इसके अभाव में यहाँ 'अक्रमता' दोष है । (ख) 'इत्यं' शब्द अव्यवहित-पूर्वकथित वस्तुओं का परामर्श कराता है । यहाँ पर 'इत्थं' शब्द पादत्रय-कथित अर्थ का परामर्शक है, वचनमात्र (प्रोच्य) का नहीं । इस अभीष्ट क्रम के अभाव में यहाँ अक्रमत्व दोष है । अतः 'प्रोच्यैवेत्थं' के स्थान पर 'इत्थं प्रोच्यैव' यह कहना उचित था । (ग) 'लग्नं' इत्यादि में—'भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः' यहाँ पर 'इति' (गता+इति) के प्रयोग में अक्रमता है; क्योंकि 'इति' शब्द अव्यवहित पूर्व (वस्तु) का परामर्श कराता है । यहाँ पर 'इति' 'लग्न'—'भृत्येभ्यः' का परामर्शक है अतः 'इति श्रीनियोगात्' यही पाठ उचित है ।

अनुवाद—२१. अमत वह (दुष्ट) वाक्य है जहाँ कोई अन्य-अर्थ प्राकरणिक अर्थ के विरुद्ध होता है जैसे [रघुवंश, श्रीराम द्वारा मारी गई ताडका के वर्णन में उक्ति] 'राम रूपी कामदेव के दुःसह बाण द्वारा हृदय में आहत अतएव गन्धयुक्त रुधिर रूपी चन्दन से लिप्त (उक्षिता=सिक्ता) वह निशाचरी (राक्षसी या अभिसारिका) जीवितेश (यम या प्राणनाथ) के घर चली गई ॥२५४॥

यहाँ अन्य अर्थ प्रकृत रस (बीभत्स) में विरुद्ध अर्थात् शृङ्गार का व्यञ्जक है।

[अर्थदोषाः]

अर्थदोषानाह—

(७६) अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥५५॥
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ॥
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥५६॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ॥
विध्यनुवादायुक्तत्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ॥५७॥

प्रभा—अमतपरार्थत्व का तात्पर्य है—किसी वाक्य मे प्रकृत रस से विरुद्ध रस के व्यञ्जक (अन्य) अर्थों का कथन। साहित्यशास्त्र मे कुछ रस परस्पर विरुद्ध माने जाते हैं जैसे—ज्ञेयौ शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ। रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः। ऊपर के उदाहरण मे प्राकरणिक अर्थ मृतक ताडका है तथा प्रकृत रस बीभत्स है। द्वितीय अर्थ (अप्राकरणिक) अभिसारिकारूप व्यङ्ग्यार्थ है जो बीभत्स-विरुद्ध शृङ्गार रस का व्यञ्जक है। अतः एव यहाँ अमतपरार्थ दोष है। इसमें विरुद्धरस का व्यञ्जक रूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ ही होता है वाच्यार्थ नही इसलिये 'प्रतिकूल-विभावादिग्रह' (रस-दोष) से यह भिन्न है।

अर्थ-दोषों का निरूपण—

अनुवाद—अर्थदोषों को बतलाते हैं—

(१) अपुष्ट, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) पुनरुक्त, (५) दुष्क्रम, (६) ग्राम्य, (७) सन्दिग्ध, (८) निर्हेतु, (९) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१०) विद्याविरुद्ध, (११) अनवीकृत, १२) सनियमपरिवृत्त, (१३) अनियमपरिवृत्त (१४) विशेषपरिवृत्त, (१५) अविशेषपरिवृत्त, (१६) साकांक्ष, (१७) अपदयुक्त, (१८) सहचरभिन्न, (१९) प्रकाशित विरुद्ध, (२०) विध्ययुक्त, (२१) अनुवादायुक्त, (२२) त्यक्तपुनः स्वीकृत तथा (२३) अश्लील-अर्थ दुष्ट (दोषयुक्त) होता है।

यहाँ (दुष्टं पदम्' आदि सूत्र ७२ से लिङ्ग परिवर्तन के साथ) 'दुष्टः' यह शब्द (अर्थः' पद के साथ) सम्बद्ध है।

प्रभा—(१) शब्द और वाक्य से अर्थ-प्रतीति होती है अतएव पद-दोष तथा वाक्य-दोष के पश्चात् अर्थ-दोष का निरूपण किया जा रहा है। यहाँ भी (पद-दोषों के समान) 'अपुष्ट' इत्यादि रूढि शब्द के रूप मे दुष्ट अर्थ की संज्ञाएं है तथा यौगिक अर्थ के द्वारा लक्षणवाक्य का कार्य करते हैं। जैसे—पुष्ट से भिन्न (पुष्टाद् भिन्नः) अर्थ अपुष्ट कहलाता है।

(२) पद-दोष तथा अर्थ-दोष में अन्तर यह है कि जहाँ अन्य शब्दों द्वारा कहने में भी विवक्षित अर्थ दोषयुक्त ही रहता है वह अर्थ-दोष है। अन्य (रस-दोष

दुष्ट इति सम्बध्यते। क्रमेणोदाहरणम्—

१. अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः।

मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्विजयति ॥२५५॥

अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानमर्थं न बाधन्त इत्यपुष्टाः न त्वसङ्कताः पुनरुक्ता वा ॥

भिन्न) दोष शब्ददोष हैं—यत्र विवक्षित एवार्थोऽन्यथाभिधानेऽपि दुष्यति सोऽर्थदोषः, अन्यस्तु रसदोषभिन्नःशब्द-दोष इति विवेकः (प्रदीप)।

(३) प्रसिद्धिविद्याविरुद्ध- यहाँ पर 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'- इस नियम के अनुसार 'विरुद्ध' शब्द का प्रत्येक से सम्बन्ध होता है अतः प्रसिद्धिविरुद्ध और विद्याविरुद्ध, यह अर्थ है। 'सनियम ''परिवृत्ताः, में भी परिवृत्ता शब्द का पहिले चारों पदों के साथ अन्वय है तथा सनियमपरिवृत्त आदि चार दोष हैं। इसी प्रकार विध्यनुवादायुक्त में भी अयुक्त पद का दोनों से अन्वय है।

अनुवाद—क्रमशः उदाहरण (इस प्रकार) हैं—(१. अपुष्ट अर्थ-दोष):—

'वह सूर्य सर्वोत्कृष्ट है' (विजयी है), जिसने अत्यन्त दीर्घ गगनमार्ग में गमनागमन (प्रसरण) करने में विश्राम-सुख को छोड़ दिया है, तथा जो वायु द्वारा प्रसारित की जाती है सौरभ जिनकी ऐसे कमलों को प्रफुल्लित करने वाला (हासकृत्) है' ॥२५५॥

यहाँ पर अतिविततत्व' (सरणित्व, मरुदुल्लासितसौरभत्व) आदि का ग्रहण न करने पर भी, प्रतिपाद्यमान अर्थात् विवक्षित अर्थ का बाध नहीं होता, अतः ये अपुष्ट (अर्थ) हैं, 'असङ्कृत' या 'पुनरुक्त' अर्थ नहीं।

प्रभा—(१) जिस प्रतिपादित अर्थ का शब्द-द्वारा प्रतिपादन न करने पर विवक्षित अर्थ में कोई बाधा नहीं होती वह अपुष्ट अर्थ है। उसका प्रतिपादन दोष है; क्योंकि वह 'अर्थतः प्रतिपन्न होता है (अर्थतःप्रतिपन्नस्य प्रतिपादने अपुष्टत्वम्) अथवा विवक्षित अर्थ का उपकारक नहीं होता (अपुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम्-साहित्य-दर्पण)। सरस्वतीकण्ठाभरण में (भोजराज ने) इसे 'व्यर्थ' नाम दिया है—व्यर्थमाहुर्गतार्थं यत् यच्च स्यान्निष्प्रयोजनम्'। (२) उपर्युक्त उदाहरण में 'अतिविततत्व' आदि अर्थों का शब्द-द्वारा प्रतिपादन न करने पर भी विवक्षित अर्थ में कोई बाधा नहीं होती; क्योंकि आकाश की अतिदीर्घता आदि इसी प्रकार स्वतः सिद्ध है जैसे अग्नि की उष्णता। इसलिये यहाँ अपुष्टत्व नामक अर्थ-दोष है अथवा ये अपुष्ट-अर्थ दुष्ट हैं। (३) आलङ्कारिक आचार्य रुद्रट ने 'अतिविततत्व' इत्यादि में 'असङ्गत' नामक दोष दिखलाया था। इसी हेतु आचार्य मम्मट कहते हैं कि यहाँ पर असङ्गतत्व नामक (रुद्रटनिर्दिष्ट) दोष नहीं है; क्योंकि असङ्गति वहाँ हो सकती है जहाँ प्रतिपादित अर्थों का अन्वय न हो सके; यहाँ ऐसा नहीं है। कुछ टीकाकारों के अनुसार 'असङ्गत' का अभिप्राय 'अपिनष्ट' है। यहाँ 'अधिक, दोष भी नहीं; क्योंकि अधिकपदत्व में

२. सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥२५६॥

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु। यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः ।

पदार्थों की अन्वयप्रतीति के साथ ही बाध की प्रतीति हो जाती है और यहाँ बाध-प्रतीति नहीं होती । पुनरुक्त दोष से यह भिन्न है; क्योंकि जहाँ शब्द द्वारा अवगत अर्थ को फिर शब्द-द्वारा ही प्रतिपादित किया जाता है वहाँ पुनरुक्ति होती है । अर्थपुनरुक्ति तो अपुष्टार्थ है ही । (४) रुद्रट-उक्त 'असम्बद्ध' और 'तद्वान्' दोनों दोषों का मम्मट के 'अपुष्ट' दोष में ही अन्तर्भाव हो जाता है । (जयन्त भट्ट) ।

अनुवाद—(२. कष्ट) [स्वकाव्य के विषय में किसी कवि की उक्ति]—[प्रकृत-अर्थ] 'कवियों के काव्य-रूप जिन अभिप्रायों के मध्य में सदा अमृत बहाने वाली तथा उत्तम (शृङ्गारादि) रसों से युक्त, प्रौढ़, (वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली) अनेक (तीन) मार्गों वाली यह सरस्वती काव्यरूप वाणी चमत्कार (परिमल) उत्पन्न करती है; वे महाकवियों के काव्यरूप अभिप्राय (रुचयः) जो अत्यन्त अभ्यस्त हैं, अनुभयारूढ़ होकर अभीष्ट हो गये हैं (स्फुरितमधुराः); महाकाव्य-गगन में किस प्रकार अन्य काव्य के समान सुबोध हो सकते हैं ?

[अप्रकृत अर्थ] जिन आदित्य प्रभाओं के मध्य में जल-प्रवाहित करने वाली सुमधुरा (सुरसा) महती त्रिपथगामिनी गङ्गा नदी (सरस्वती=नदी) सुगन्ध (परिमल) को लेकर बहती है, वे ये प्रकाश से मधुर द्वादश आदित्यों की (महती) प्रभाएं महाकाव्य-सदृश आकाश में मेघयुक्त होकर किस प्रकार निर्मलता (प्रसाद) को प्राप्त हो सकती हैं' ॥२५६॥

यहाँ पर संक्षेप में 'जिन कविरुचियों के मध्य में सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम (कुन्तक प्रतिपादित अथवा वैदर्भी; गौडी तथा पाञ्चाली) तीन मार्गों वाली भारती चमत्कार उत्पन्न करती है; गम्भीर वाक्यों से परिचित वे अन्य कवियों के समान सुबोध कैसे हो सकती है; यह (प्रकृत); तथा जिन आदित्य प्रभाओं के मध्य में आकाश गङ्गा बहती है; वे मेघों से आच्छादित होकर कैसे स्वच्छ हो सकती हैं—यह (अप्रकृत) अर्थ है ।

३. जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥२५७॥

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहतत्वम् ।

४. कृतमनुमतमित्यादि ॥२५८॥

अत्रार्जुनेति भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः ॥

प्रभा—'कष्ट' वह अर्थ है जिसकी प्रतीति में क्लेश होता है अर्थात् दुरूह अर्थ । ऊपर के पद्य में दुरूह अर्थ ही है, जिसे ग्रन्थकार ने 'अत्र-संक्षेपार्थः' अवतरण में संक्षेपतः दिखलाया है । इस पद्य का यही विवक्षित अर्थ है जो अन्य शब्दों की योजना करके भी क्लेशपूर्वक प्रतीत होता है । अतः यहाँ अर्थ ही दोषयुक्त है । क्लिष्टत्व में शब्द ही दोषयुक्त होते हैं, यही दोनों का भेद है ।

अनुवाद—(२. व्याहत) [मालतीमाधव प्रकरण में माधव की उक्ति]—

'जो नव-इन्दुकला आदि पदार्थ (भावाः) हैं वे संसार में ही उत्कृष्ट हैं (मेरे प्रति नहीं) और जो अन्य पदार्थ मन को हर्षयुक्त करते हैं, वे भी संसार में स्वभाव से रमणीय हैं । मेरे लिये तो संसार में यह (मालती) ही नेत्रों की चाँदनी (आह्लादिका) है और जो यह दृष्टिगोचर हुई है वही एक (इस) जन्म में महोत्सव है ।॥२५७॥

यहाँ पर 'इन्दुकला आदि' जिस (माधव) के प्रति तुच्छप्राय (पस्पशप्रायाः) हैं, वही (मालती में) उत्कर्ष-हेतु चन्द्रिकात्व का आरोप करता है ।

प्रभा—व्याहत-अर्थ का अभिप्राय है परस्पर विरोधी अर्थ, किसी की निन्दा या प्रशंसा करके फिर अन्यथा रूप में कहना । कहा भी है—उत्कर्षो वापकर्षो वा *प्राग्यस्यैव निगद्यते तस्यैव तदन्यश्चेद् व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ।*

उपर्युक्त पद्य के पूर्वार्ध में चन्द्रकला आदि का माधव की दृष्टि से अपकर्ष दिखाया गया है, किन्तु उत्तरार्ध में वही माधव उत्कर्ष प्रकट करने के लिये मालती का चन्द्रिकारूप में वर्णन करता है । अतएव यहाँ व्याहत-अर्थ है ।

अनुवाद—(४. पुनरुक्त दोष) 'कृतम्' इत्यादि (ऊपर उदाहरण १६) ॥२५८॥

यहाँ पर (श्लोक से पूर्व) 'अर्जुन', इस (सम्बोधन) से तथा 'भवद्भिः' (आप लोगों से) इस शब्द से कहा जाने पर भी 'सभीमकिरीटिनाम्' इस (समस्त पद) में अर्जुन रूप पदार्थ पुनरुक्त है ।

प्रभा—(१) शब्द-द्वारा अवगत अर्थ का पुनः (पर्यायादि) शब्द-द्वारा कथन करना ही पुनरुक्त दोष है । (अर्थ की पुनरुक्ति तो 'अपुष्ट' दोष के अन्तर्गत आती

यथा वा

अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप समरं मुञ्च हार्दिक्य, शङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥२५६॥

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

५. भूपालरत्न, निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव,
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥२६०॥

अत्र मातङ्गस्य प्राङ् निर्देशो युक्तः ।

६. स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
तदयि, साम्प्रतमाहर कूर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥२६१॥

है यह कहा जा चुका है) । वह दो प्रकार का है–१. पदार्थ की पुनरुक्ति २. वाक्यार्थ की पुनरुक्ति । 'कृतम्' इत्यादि में 'अर्जुन रूप' पदार्थ की पुनरुक्ति है ।

अथवा जैसे—[वेणीसंहार नाटक में अश्वत्थामा की इस उक्ति में]—

अस्त्ररूपी ज्वाला से अवलीढ (व्याप्त) शत्रुसैन्य रूपी समुद्र के भीतर वडवानल के समान, इन सकलधनुर्धर-श्रेष्ठों के गुरु, मेरे पिता द्रोणाचार्य सेनापति हो गये हैं' तब हे कर्ण घबराओ मत, हे कृपाचार्य संग्राम में जाओ; हे कृतवर्मा (हार्दिक्य) शङ्का को छोड़ दो केवल धनुष सहित मेरे पिता के संग्राम की बाग-डोर संभाल लेने पर भय का अवसर ही क्या है ?' ॥२५६॥

यहाँ पर चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ (को भयस्यावकाशः) पुनरुक्त है ।

प्रभा—(१) 'अस्त्रज्वाला' आदि में वाक्यार्थ की पुनरुक्ति है । यहाँ पर 'अलं सम्भ्रमेण' रूप वाक्यार्थ की 'को भयस्यावकाशः' इन शब्दों के द्वारा पुनरुक्ति हो रही है ।

(२) व्यक्तिविवेककार ने 'पुनरुक्तत्व' का विशद विवेचन किया है । उन्होंने अर्थ-पुनरुक्ति को ही माना है शब्द पुनरुक्ति को नहीं ।

अनुवाद—(५. दुष्क्रमत्व) [राजा के प्रति किसी प्रार्थी की उक्ति]:—

'कृपणता छोड़कर दान देने में ख्यात उत्सव (हर्ष) वाले, हे नृपश्रेष्ठ, आप मुझे एक अश्व दीजिये अथवा मद से मतवाला गजराज' ॥२६०॥

यहाँ मातङ्ग का पहिले निर्देश करना उचित है ।

प्रभा—दुष्क्रम अर्थ वह है जहाँ अनुचित क्रम होता है (दुष्टः अनुचितः क्रमो यत्र) । अनुचित क्रम का अभिप्राय है-लोकशास्त्र विरुद्ध क्रम । जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'तुरङ्गं मातङ्गं वा' यह लोक-विरुद्ध क्रम है; क्योंकि बड़े दान की सामर्थ्य न होने पर ही लघुदान की प्रार्थना उचित है । अतः यहाँ दुष्क्रमत्व दोष है ।

अनुवाद—(६. ग्राम्य)–[नवोढा के प्रति नायक की उक्ति] (जब तक यह जन सोता है तब तक मैं तेरे समीप शयन करता हूँ, इसमें तेरा क्या जाता (बिगड़ता) है ? अयि, तो अब कोहनी हटालो तथा संकुचित उरु को शीघ्र फैलाओ ॥२६१॥

एषोऽविदग्ध: ॥

७. मात्सर्यमुत्सार्येत्यादि ॥२६२॥

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देह: शान्तशृङ्गार्यन्यतराभिधाने तु निश्चय:।

८. गृहीतं येनासी: परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषय:।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयाद्
विमोक्ष्ये शस्त्र, त्वामहमपि यत: स्वस्ति भवते ॥२६३॥

अत्र शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्त: ।

यह (नायक) अविदग्ध (भद्दा, अशिष्ट Vulgar) है।

प्रभा—ग्राम्य वह अर्थ है जो अशिष्ट जनों में ही प्रचलित होता है, कहा भी है—स ग्राम्योऽर्थो रिरंसादि: पामरैर्यत्र कथ्यते । वैदग्ध्यवक्रिमयलं हित्वैव वनितादिषु। इससे सहृदयजनों के हृदय में अरुचि होती है।

अनुवाद–(७. सन्दिग्ध)–'*मात्सर्यं इत्यादि (ऊपर उदाहरण १३३) ।२६२।*

यहाँ पर प्रकरणादि के अभाव में सन्देह है किन्तु यदि वक्ता शान्त है अथवा शृङ्गारी इनमें से किसी एक का निश्चय हो जाता है तो अर्थ-निश्चय (ही) होता है।

प्रभा—सन्दिग्ध का अभिप्राय है—सन्देह का विषय; अर्थात् प्रकरणादि ज्ञान के अभाव में जहाँ दो अर्थों में से एक का निश्चय नहीं होता वहाँ सन्दिग्ध अर्थ है। ऊपर के उदाहरण में भूधर नितम्बसेवन तथा 'कामिनीनितम्बसेवन' में सन्देह है। यदि प्रकरणादि द्वारा यह निश्चय हो जाय कि यहाँ शान्त व्यक्ति का वर्णन है (अथवा शृङ्गारी का ही वर्णन है) तो अर्थ में सन्देह नहीं रहता।

अनुवाद—(८. निर्हेतु) [वेणीसंहार में द्रोणाचार्य की मृत्यु पर अश्वत्थामा की उक्ति]–हे शस्त्र, (ब्राह्मण के लिये) अनुचित होते हुए भी जिन मेरे पिता ने (क्षात्रकृत) पराभव के भय से तुम्हें ग्रहण किया था। जिनके प्रभाव से तेरा कोई भी (योद्धा) अविषय न रहा; उन मेरे पिताजी ने पुत्र-शोक से तेरा परित्याग किया है, भय से नहीं; इसलिये मैं भी तुम्हें यहाँ छोड़ रहा हूँ, जहाँ (यत:=यत्र) तुम्हारा कल्याण हो ॥२६३॥

यहाँ पर (अश्वत्थामा के) शस्त्र-त्याग का हेतु नहीं बतलाया गया।

प्रभा—निर्हेतु वह अर्थ है जिसके हेतु का कथन न किया गया हो। ऊपर के उदाहरण में द्रोणाचार्य के शस्त्र-त्याग में 'सुत-शोक' को हेतु कहा गया है इसी प्रकार अश्वत्थामा के 'शस्त्र-त्याग' में 'पितृ-शोक' को हेतु कहना चाहिये था, किन्तु कहा नहीं गया, इसलिये 'निर्हेतुत्व' अर्थ-दोष है।

९. इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने.
यदेतस्मिन्हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम्।
इदं तद्दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ।।२६४।।
अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम्।

यथा वा—
उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः,
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ।।२६५।।
अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरङ्कुरोद्गमः।
सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः ।।२६६।।
अत्रामूर्ता प कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्।

अनुवाद—(९. प्रसिद्धिविरुद्ध)—'हे कमलों को आतङ्कित करने वाले अर्थात् चन्द्रमा जैसे मुखवाली (चन्द्रमुखी), बतलाओ तो तुमसे यह किसने कह दिया, जो इस (चक्राकार वस्तु) में 'यह सुवर्ण का कङ्कण है' ऐसी बुद्धि (निश्चय) कर रही हो। यह तो वह (प्रसिद्ध) दुःसाध्य अर्थात् जितेन्द्रिय तरुणों के वशीकरण (आक्रमण) का महान् अस्त्र कामदेव के द्वारा प्रीतिपूर्वक तुम्हारे प्रकोष्ठ (कलाई) में स्थापित किया हुआ चक्र है ।।२६३।।

यहाँ पर कामदेव का चक्र लोक में अप्रसिद्ध है।

अथवा जैसे—'हे पथिकों तुम गोदावरी के तट के समीप (उपपरिसरं-तटसमीपे) वाले मार्ग को छोड़ दो। इस प्रदेश में दूसरा मार्ग खोज लो; क्योंकि यहाँ किसी निन्दनीय आशा वाली तरुणी ने रक्ताशोक को अपने चरण कमल के आघात से उदित होते हुए अङ्कुर रूपी कवच वाला कर दिया ।।२६५।।

यहाँ (तरुणी के) पाद-प्रहार से अशोक का पुष्पोद्गम कवि प्रसिद्ध है अङ्कुरोद्गम नहीं।

अनुवाद—'हे राजन्, एक बार चाँदनी के उजाले में धवल वस्त्र तथे अलङ्कारों वाली शोभननयनी नायिका के अभिसार करते हुए चन्द्रमा अस्त हो गया, तब किसी ने आपकी कीर्ति का गान किया. जिससे वह शङ्कारहित होकर प्रियतम के घर चली गई। महाराज, आप कहाँ हितकारक नहीं हैं ? ।।२६६।।

यहाँ पर अमूर्त (मूर्ति रहित) कीर्ति को चाँदनी के समान प्रकाशमय कहा

१०. सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥२६७॥

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ॥

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ॥२६८॥

एतद् अर्थशास्त्रेण।

गया है, यह लोकविरुद्ध होते हुए भी, कविप्रसिद्धि होने के कारण दोषयुक्त नहीं।

प्रभा—(१) जो अर्थ प्रसिद्धि के विरुद्ध होता है, वह प्रसिद्धिविरुद्ध है। वह दो प्रकार का होता है—१. लोकप्रसिद्धि-विरुद्ध और २. कविप्रसिद्धिविरुद्ध है। 'इदं ते' इत्यादि लोक-प्रसिद्धिविरुद्ध का उदाहरण है। लोक में विष्णु का चक्र प्रसिद्ध है, कामदेव का नहीं। कामदेव के तो पांच बाण या पुष्पबाण ही प्रसिद्ध हैं। २. 'उपपरिसरं' इत्यादि कविप्रसिद्धि-विरुद्ध का उदाहरण है। तरुणी-पादाघात से अशोक में पुष्पोद्गम होता है यही कविप्रसिद्धि है। जैसे कि यहां भी है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः।

(२) जो अर्थ लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध होते हुए भी कवि सम्प्रदाय में प्रसिद्ध होता है वह प्रसिद्धि-विरुद्ध नहीं कहा जाता जैसे सुसितवसना' आदि उदाहरण में कीर्ति का चन्द्रिका-सदृश प्रकाशमय होने का वर्णन लोकविरुद्ध है; किन्तु कविसमय-प्रसिद्ध है (शुक्लत्वं कीर्तिपुण्यादौ)। इसलिये यह प्रसिद्धि-विरुद्ध अर्थ नहीं। कवि-समयों का निरूपण साहित्यदर्पण (सप्तम परिच्छेद) तथा 'अलङ्कारशेखर' आदि में किया गया है।

अनुवाद— (१०. विद्याविरुद्ध)—(क-धर्मशास्त्र-विरुद्ध) यह पण्डित सर्वदा रात्रि में स्नान करके दिन भर नाना प्रकार के शास्त्रों की व्याख्या करता है (व्याचष्टे) तथा श्रवण करता है।' ॥२६७॥

(चन्द्र) ग्रहण आदि (निमित्त) के बिना रात्रि में स्नान करना धर्मशास्त्र के विरुद्ध है।

(ख—अर्थशास्त्र-विरुद्ध)—'जिसकी भुजाओं में असाधारण बल दिखाई देता है, उसका (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन राजनीति के) षड्गुणों का अनुसरण सचमुच ही निष्प्रयोजन है ॥२६८॥

यह (कथन) अर्थ-शास्त्र के विरुद्ध है (उसके अनुसार महाबली को भी षाड्गुण्य का अनुसरण करना चाहिये)।

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना ।
बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥२६९॥

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण ।

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन दुःसाध्यसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे ।
आसादयन्नभिमतामधुना विवेकख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥२७०॥

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः, पश्चादसंप्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एतद् योगशास्त्रेण । एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम् ।

(ग—कामशास्त्र विरुद्ध)—'काम की विलासभूमि कोई रमणी केयूर (भुजबन्द) को दूर रखकर प्रियतमकृत नख-क्षतों की माला को धारण करती रही ॥२६९॥

यहाँ पर यह (एतत्=केयूरस्थल में नखक्षत वर्णन) कामशास्त्र—विरुद्ध है, क्योंकि केयूर-स्थान पर नखक्षत (कामशास्त्र) विहित नहीं है ।

(घ—योगशास्त्रविरुद्ध)—'समाधि ही है धन जिनका ऐसे योगियों के शिरोमणि वह योगी अष्टाङ्ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) योग के निरन्तर आचरण द्वारा अभ्यास-दृढ़ता से दुःखसाध्य सिद्धि अर्थात् मुक्ति की समीपवर्ती असंप्रज्ञात समाधि को दूर से ही त्याग कर अभीष्ट विवेकख्याति को प्राप्त करके मुक्त हो गये ॥२७०

यहाँ पर यह (एतत्=विवेकख्याति के अनन्तर मुक्ति) योगशास्त्र के विरुद्ध है; क्योंकि (योगशास्त्र के अनुसार) पहले विवेकख्याति, तब सम्प्रज्ञात समाधि तत्पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि, तब मुक्ति होती है, न कि विवेकख्याति हो जाते ही मुक्ति (हो जाती है) ।

इस प्रकार अन्य शास्त्रों के विरुद्ध भी अर्थ (काव्य में) होते हैं ।

प्रभा—(१) 'विद्याविरुद्ध' का अभिप्राय शास्त्रविरुद्ध है । अतः जो धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा योगशास्त्र आदि के विरुद्ध अर्थ (काव्यनिबद्ध) हैं वे विद्याविरुद्ध हैं; जैसे कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है । वस्तुतः 'विद्या' शब्द तथा 'शास्त्र' भी व्यापक अर्थ के बोधक हैं अतएव विद्या-विरुद्ध में उन सभी का संग्रह हो जाता है जो प्रत्यक्षज्ञान, भूगोल विद्या तथा लोक-विद्या आदि के विरुद्ध हैं । अतएव भोजराज-उक्त 'देश-विरुद्ध' (सुराष्ट्रेषु मथुरा नाम नगरी) इत्यादि भी विद्या-विरुद्ध में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, तथा वामनाचार्य-कथित लोकविरुद्ध एवं विद्याविरुद्ध का भी इसी में समावेश हो जाता है—देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि । कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि (काव्यालङ्कारसूत्र २.२.२३,२४)

११. प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥२७१॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम्।

सत्त यथा—

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता॥२७२॥

१२. यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।

---

(२) 'अष्टाङ्गयोग' इत्यादि में—वस्तुतः योगशास्त्र-विरुद्ध अर्थ नहीं प्रतीत होता; क्योंकि योगसूत्र में प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति रूप विवेकख्याति के अनन्तर भी कैवल्य प्राप्ति कही गई है—'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति' (योगसूत्र ३·५५) तथा—'तदेवं परम्परया कैवल्यस्य हेतून् साधीभूतान् संयमानुक्त्वा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिं साक्षात्कैवल्यसाधनमित्यत्र सूत्रमवतारयति।' (तत्त्ववैशारदी, वाचस्पति मिश्र)

अनुवाद—(११. अनवीकृत) [वैराग्यशतक में भर्तृहरि की उक्ति] 'सकल मनोरथ प्रदान करने वाली सम्पदाएं प्राप्त कर लीं तो क्या? शत्रुओं के सिर पर चरण रख दिया तो क्या? मित्रादि प्रियजनों को धन-सम्पत्ति से तृप्त कर दिया तो क्या? शरीरधारियों के शरीर कल्पपर्यन्त स्थित रहे तो क्या? ॥२७१॥

यहाँ पर 'ततः किम्' (तो क्या?) (बार २ कहा जाने से) अनवीकृत है। यह (नवीकृत अर्थ) तो इस प्रकार होता है जैसे—

'यदि अग्नि जलाती है तो क्या आश्चर्य है? यदि पर्वतों में गुरुत्व है, तो क्या? महासागर का जल भी सदा खारा होता है (अतः यह भी स्वाभाविक है) इसी प्रकार सज्जनों का 'खिन्न न होना' स्वभाव ही है ॥२७२॥

प्रश्न—अनवीकृत वह अर्थ है; जिसका एक भङ्गिमा से ही निर्देश किया गया हो अर्थात् प्रकारान्तर से कथन करके नवीनता उत्पन्न न की गई हो। इससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है तथा सहृदयों के मन में उद्विग्नता हो जाती है। 'प्राप्ताः श्रियः' इत्यादि वाक्य में एक अर्थ के कथन का सर्वत्र एक ही प्रकार है अतः यहाँ अनवीकृत अर्थ है। किन्तु 'यदि दहति' इत्यादि वाक्य में एक ही 'आश्चर्याभावरूप' अर्थ को 'किमद्भुतम्', 'किं ततः', 'सदैव' और 'प्रकृतिरेव' इस प्रकार भङ्गिभेद से कहा गया है अतएव यहाँ नवीकृत अर्थ है।

अनुवाद—(१२. सनियमपरिवृत्त)—'जिस चिन्तामणि के होने पर यह ब्रह्मा की सृष्टि निष्प्रयोजन (अननुल्लिखितः अविचारितः अर्थः प्रयोजनं यस्य) है,

याताः प्राणभृतां मनोरथगतिरुल्लंघ्य यत्संपद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥२७३॥

अत्र 'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेरश्मतैवोचिता इति' सनियमत्वं वाच्यम्।

१३. वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते, तेऽम्बुपानाभिलाषः।२७४।

अत्र शोण एव इति नियमो न वाच्यः।

जाती है, जिसके उत्कर्ष के सदृश किसी पदार्थ (प्रतियोगी) की कल्पना करना भी (उसके) अपमान (न्यक्कार) की पराकाष्ठा है, जिसकी सम्पत्ति प्राणधारियों के मनोरथ की गति को भी लांघ गई है, उस चिन्तामणि के आभास से (अमणि होकर भी (मणिरूप हो जाने वाले पाषाणखण्डों के बीच में (परिगणित) उसका पत्थर बना रहना उचित है। [अन्य मणियों में यदि चिन्तामणि की गणना है तो उन्हें ही मणि कहा जाए चिन्तामणि तो पत्थर बनी रहे यही अच्छा] ॥२७३॥

यहाँ छायामात्र से मणिरूप किए जाने वाले पाषाणखण्डों में चिन्तामणि का पाषाणत्व ही उचित है' इस प्रकार नियमसहित करना चाहिये।

प्रभा—सनियपरिवृत्त वह अर्थ है, जिसे नियमपूर्वक ('सनिमयत्व रूप से) कहना उचित है; किन्तु अनियमत्व रूप से कह दिया जाता है। ऊपर के उदाहरण में चिन्तामणि की अपेक्षा अपकृष्ट अन्य मणियों में चिन्तामणि की गणना का उपालम्भ करना है। इस हेतु 'छायामात्रेण मणीकृतेषु' अर्थात् केवल छाया से मणि बनी हुई—इस प्रकार नियमसहित कहना चाहिये, जिससे अन्य मणियों में अन्य गुणों का निषेध होकर निन्दातिशय की प्रतीति हो जाय। अनियम के साथ कथन करने से तो निन्दनीय मणियों में अन्य गुणों के अभाव की प्रतीति नहीं होती और विवक्षित अर्थ का बोध नहीं होता।

अनुवादः—(१३. अनियमपरिवृत्त)—[भोज प्रबन्ध में विक्रमादित्य के प्रति चारण की उक्ति] 'हे भूपति, आपके मुखकमल में सर्वदा सरस्वती (वाणी या नदी) वास करती है, आपके अधरोष्ठ शोण (लाल या शोण नामक नदविशेष) ही हैं, श्रीराम (काकुत्स्थ) के पराक्रम की स्मृति कराने में समर्थ (पटु) यह आपकी भुजा दक्षिण (दान-दक्ष या दक्षिण में स्थित) समुद्र है, ये सेनारूपी नदियाँ (वाहिनी) आपके सान्निध्य को कभी क्षण भर के लिये नहीं छोड़ती हैं; इस निर्मल हृदय-सरोवर के होते हुए आपको जलपान की अभिलाषा कैसे हो रही है?' ॥२७४॥

यहाँ पर 'शोण ही' ऐसा न कहना चाहिए।

प्रभा—अनियमपरिवृत्त वह अर्थ है जिसे नियमपूर्वक कहना उचित नहीं;

१४. श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः, सान्द्रैर्मसीकूर्चकैः
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम् ।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥२७५॥

अत्र 'ज्यौत्स्नीम्' इति श्यामाविशेषो वाच्यः ।

१५. कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि मकरालय, मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥२७६॥

अत्र, 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्यं वाच्यम् ।—

किन्तु कह दिया जाता है । जैसे ऊपर के उदाहरण में 'शोण एव' यह अवधारण (नियम) अनुचित है तथा अनियमपरिवृत्त है; क्योंकि यहाँ 'पिपासा के अनौचित्य की विशेष प्रतीति' कराना ही कवि का अभिप्राय है, 'शोण ही' ऐसा कहने से अन्य जलाशयों की *व्यावृत्ति हो जाती है जो अनौचित्य की अतिशयता में सहायक नहीं* प्रत्युत बाधक है ।

अनुवाद—(१४. विशेषपरिवृत्त । [राजशेखरकृत विद्धशालभञ्जिका नाटिका में राजा की उक्ति] 'हे सेवकगण, गाढी स्याही की कूचियों से रात्रि (श्यामा) को कालिमा (अन्धकार) को प्राप्त करा दो । मन्त्र तन्त्र का प्रयोग करके श्वेतकमलों की शोभा को हर लो । और चन्द्रमा को शिलाफलक पर रगड़ कर (इसका) क्षणभर में कण-कण चूरा कर दो; जिससे मैं उस (मृगाङ्कावली) की मुखमुद्रा से अङ्कित दसों दिशाओं को देख सकूँ ।' [सर्वत्र अन्धकार होने से भावना में स्थित प्रियतमा के मुख को ही दसों दिशाओं में देख सकूँ] ॥२६५॥

यहाँ पर 'ज्यौत्स्नीम्' (ज्योत्स्नायुक्त) इस प्रकार विशेष (चाँदनी) रात्रि कहना उचित है ।

प्रभा—विशेष-परिवृत्त यह अर्थ है जिसे विशेषरूप से कहना उचित हो किन्तु सामान्यरूप से कह दिया जाय । जैसे—'श्यामां' इत्यादि काव्य में विशेष रात्रि (*ज्यौत्स्नी-चाँदनी रात*) कहना उचित है; (*क्योंकि उससे भिन्न अर्थात् अँधेरी* रात में श्यामता का विधान अनुचित है); किन्तु उसके बदले सामान्य-रूप से श्याम-रात्रि-सुषमा या कृष्णा) कह दिया गया है ।

अनुवाद—(१५. अविशेषपरिवृत्त)—'हे मकरालय (समुद्र), महोर्मियों से चालित पाषाणों के प्रहार से इन अपने रत्नों का अपमान न करो । क्या तुम्हारे कौस्तुभ नामक रत्न ने पुरुषोत्तम विष्णु को भी याचना के लिये हाथ पसारने को प्रेरित नहीं किया था ? ॥२७६॥

यहाँ 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इस प्रकार सामान्यरूप में कहना चाहिये ।

१६. अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया।
उत्कर्षञ्च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥२७७॥

अत्र स्त्रीरत्नम् 'उपेक्षितुम्' इत्याकांक्षति। नहि परस्येत्यनेन सम्बन्धो योग्यः।

१७. आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्यापुरी।

प्रभा—प्रविशेषपरिवृत्त वह अर्थ है जिसे सामान्यरूप से कहना उचित हो, किन्तु विशेषरूप से कह दिया जाय। जैसे 'कल्लोल' इत्यादि काव्य मे यह अर्थ विवक्षित है कि जब एक ही रत्न के द्वारा तुम्हे उतना उत्कर्ष प्राप्त हुआ है तो अन्य रत्नों का अपमान करना उचित नही अतएव यहाँ रत्न-सामान्य (एक) का कथन करना उचित है। उसके बदले रत्नविशेष 'कौस्तुभ' का कथन कर दिया गया है।

अनुवाद—(१६. साकाङ्क्ष) [वीरचरित नाटक, स्वयंवर में सीता की अप्राप्ति से निराश रावण के मन्त्री माल्यवान् की उक्ति] 'याचकता प्रकट करने पर भी हमारे प्रभु (रावण की इष्ट-प्राप्ति नहीं हुई, प्रत्युत (ताड़का-वध आदि द्वारा) द्रोही और विरुद्धचरित वाला (राम) उस कन्या (सीता) से संयुक्त हो गया। इस प्रकार शत्रु के सम्मान और यश का उत्कर्ष, अपना अपमान (विस्रंसनम्), और स्त्रीरूप रत्न (की उपेक्षा) विश्वपति विजिगीषु (देव) कैसे सहन करेंगे ?' ॥२७७॥

यहाँ पर स्त्रीरत्न' यह 'उपेक्षितुम्' इसकी आकाङ्क्षा रखता है। इसका 'परस्य' के साथ (परस्य स्त्रीरत्नम्) सम्बन्ध भी उचित नहीं।

प्रभा—साकाङ्क्ष वह अर्थ है, जिसमे किसी अगृहीत (अनुपात्त) अर्थ की आकाङ्क्षा बनी रहती है। जैसे 'अर्थित्वे' इत्यादि काव्य में 'स्त्रीरत्नम्' इस शब्द का अर्थ 'उपेक्षितुम्' के अर्थ की आकाङ्क्षा रखता है, अन्यथा 'कथं मृष्यते' के साथ इसका अन्वय कैसे सम्भव है। स्त्री रत्न में ही अमर्ष नही है, किन्तु उसकी उपेक्षा मे है।

यहाँ 'परस्य' के साथ भी 'स्त्रीरत्नम्' का अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि 'परस्य' का 'उत्कर्ष' के साथ अन्वय होने से वह निराकाङ्क्ष है। तथा 'विस्रंसनं चात्मनः' के द्वारा व्यवहित हो गया है। अतः विवक्षित अर्थ की परिसमाप्ति न होने के कारण साकाङ्क्ष अर्थ दोषयुक्त है।

अनुवाद—(१७. अपदयुक्त) [बाल रामायण में जनक के प्रति शतानन्द की उक्ति] 'जिस (रावण) की आज्ञा देवराज इन्द्र की मुकुटमणि को प्रिय (शिरोधार्य) है, शास्त्र ही नूतन नेत्र हैं, भूतनाथ पिनाकधारी शिव में भक्ति है, लङ्का नाम से प्रसिद्ध दिव्य नगरी ही निवास-स्थान (पदम्) है; ब्रह्मा (द्रुहिण) के वंश में जन्म हुआ है; अहो, ऐसा वर कहाँ मिलता यदि वह रावण अर्थात् प्राणियों का पीडाजनक

उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥२७८

अत्र 'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्यत एव समाप्यम्।

१८. श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ॥
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालङ्क्रियते नरेन्द्रता ॥२७९

अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम्।

१९. लग्नं रागावृताङ्ग्या ॥२८०॥

इत्यत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते।

रावयति आक्रन्दयति लोकान्) न होता। भला! सबमें सभी गुण कहाँ होते ?' ॥ २७८॥

यहाँ पर 'स्याच्चेदेष न रावणः' यहीं पर समाप्त कर देना चाहिये।

प्रभा—अपदयुक्त (अपदे अस्थाने युक्तः सम्बद्धः) वह अर्थ है जो प्रकृत अर्थ के रुद्ध अर्थ रखने वाले पदों से सम्बद्ध होता है। जैसे 'प्राज्ञा' इत्यादि पद्य में—लोक के पूर्व उल्लिखित (आश्चर्यम् एकोऽपि गरीयान् दोषः समग्रमपि गुणग्रामं पयति) वाक्य के स्वारस्य से रावण की उपेक्षा विवक्षित है और वह 'स्याच्चेदेष रावणः' इतने मात्र से ही प्रकट हो जाती है। उसके पश्चात् अभिहित 'क्व' नु नः' आदि अर्थ रावण-सम्बन्धी उपेक्षा-भाव को हलका करता है अतः विवक्षित र्थ के विरुद्ध प्रतीति कराने वाला है।

अनुवाद—(१८. सहचरभिन्न)—'शास्त्र (श्रुत) से बुद्धि, व्यसन (द्यूतादि) मूर्खता, मद से नारी, जल से नदी (निम्नगा), शशाङ्क से रात्रि, समाधि (धर्म-चिन्तन या योग) से धैर्य और नीति से राज पद अलङ्कृत होता है।'

'यहाँ श्रुत' आदि उत्कृष्ट सहचरों के साथ व्यसन, मूर्खता इन निकृष्ट दार्थों की भिन्नता है। [क्योंकि 'श्रुत' आदि के साहचर्य से मूर्ख को व्यसन करना चाहिये इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति होगी जो अनिष्ट है]

(१९ प्रकाशित-विरुद्ध) 'लग्न' इत्यादि (ऊपर उदाहरण २४१) ॥२८०॥

यहाँ पर 'विदितं तेऽस्तु' इसके द्वारा 'उसके पास से लक्ष्मी हट रही है' यह रुद्ध अर्थ प्रकाशित होता है।

प्रभा—प्रकाशितविरुद्ध वह अर्थ है जिसमें व्यञ्जना द्वारा विवक्षित अर्थ के रुद्ध अर्थ का बोध हुआ करता है (प्रकाशितः व्यञ्जितः प्रतिकूलः अर्थः येन)। हचरभिन्न में पद का अर्थ (पदार्थ) ही भिन्न अर्थ का बोधक होता है; किन्तु यहाँ वाक्यार्थ' विरुद्धार्थव्यञ्जक होता है। यही दोनों में अन्तर है। 'लग्न' इत्यादि वाक्य 'राज-स्तुति' विवक्षित है; किन्तु 'विदितं तेऽस्तु' इस वाक्य के अर्थ से व्यञ्जना रा यह प्रतीति होती है कि 'लक्ष्मी राजा के पास से हट रही है, यह प्रकाशित-रुद्ध अर्थ है।

२० प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।
इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना-
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥२८१॥

अत्र 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे'-इति विधेयम् ।

यथा वा—वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥२८२॥

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ।

अनुवाद—(२० विध्ययुक्त) [वेणीसंहार में दुर्योधन के प्रति अश्वत्थामा की उक्ति]—'हे राजन् आज तुम रात भर सोओगे तथा (प्रातः) (वैतालिकों के) स्तुतिपाठ द्वारा प्रयत्नपूर्वक जगाये जाओगे, क्योंकि आज मैं संसार को केशवरहित और पाण्डवों तथा पाञ्चालों (सोमकाः) से रहित कर दूंगा, आज भुजबलधारियों की यह युद्धकथा ही समाप्त हो रही है। आज शत्रुरूपी वन से होने वाला भूमि का महान् भार दूर हो जायेगा' ॥२८२॥

यहाँ पर 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' यह विधेय है।

अथवा जैसे—[भल्लटशतक के पद्य में] 'विषधरों ने वायुभक्षण के व्रत से विश्वास दिलाकर संसार को नष्ट कर दिया, उन्हें तो मेघजलबिन्दु-पान का कठोर (तीव्र) व्रत धारण करने वाले मयूरों ने ग्रस लिया, उन मयूरों को भी कर्कश (क्रूर) चित्रमृग (चीता) के वस्त्र वाले व्याधों ने विनाश को प्राप्त करा दिया। (यह युक्त ही है क्योंकि) मूर्ख लोग दम्भ (धूर्तता से धर्माचरण) के (परहिंसा रूप) कार्य (स्फुरितं=चेष्टितम्) को जानते हुए भी धार्मिकता आदि गुणों की सम्भावना करते हैं' ॥२८२॥

यहाँ पर 'वाताहार' इत्यादि तीनों (गुणों) को विपरीत क्रम (व्युत्क्रम) से कहना चाहिये।

प्रभा—विध्ययुक्त का अर्थ है—अयुक्त विधि। अज्ञात पदार्थ के ज्ञापन को विधि कहते हैं। विधि की अयुक्तता का अभिप्राय है—(१) अविधेय अर्थ का विधेय रूप से कथन अथवा (२) विधि का विपरीतक्रम से (व्युत्क्रम) कथन।

(१) प्रथम का उदाहरण है—'प्रयत्नपरिबोधितः' इत्यादि। यहाँ सोया हुआ तू प्रयत्न से जगाया जायेगा' यह उचित विधि है अर्थात् प्रयत्न द्वारा जगाना (प्रयत्नबोधनम्) ही यहाँ प्रधानतया बतलाना है अतः वही विधेय है; शेषे अर्थात् 'शयन' यहाँ विधेय नहीं है; क्योंकि सोये हुए व्यक्ति को जगाना है न कि जगे हुए को सुलाना है। अतएव यहाँ अविधेय का विधेय रूप में कथन है।

२१. अरे रामाहस्ताभरण, भसलश्रेणिशरण,
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन, विरहिप्राणदमन,
सरोहंसोत्तंस, प्रचलदल, नीलोत्पलसखे,
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥२८३॥

अत्र 'विरहिप्राणदमन' इति नानुवाद्यम् ॥

२२. लग्नं रागावृताङ्गयेत्यादि ॥२८४॥

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्युपसंहृतोऽपि तेनेऽत्यादिना पुनरुपात्तः ।

---

(२) द्वितीय का उदाहरण है—'वाताहारतया' इत्यादि। यहाँ 'मृगचर्म वसन, मेघतोयकणिकापान और वायुभक्षण ये तीनों उत्तरोत्तर कठोर व्रत हैं अतः इसी क्रम से कथन युक्त था उसका व्युत्क्रम से कथन करने के कारण विध्ययुक्त दोष है।

(३) अविमृष्टविधेयांश में तो युक्त का ही विधान होता है, पर उसका अविमर्श मात्र (प्रधानतया अप्रतीति) होता है; किन्तु विध्ययुक्त में अयुक्त की ही विधि होती है। यही दोनों का भेद है।

अनुवाद—(२१. अनुवादायुक्त) 'अरे सुन्दरी (रामा) के हस्ताभरण, भ्रमरपंक्ति (भसलश्रेणि) के रक्षक, काम क्रीडा की लज्जा का शमन करने वाले, वियोगियों के प्राणों के संत्रासक, श्रेष्ठसरोवर (सरोहंस) के भूषण (उत्तंस), चञ्चल पत्र वाले मित्र नीलोत्पल, मैं खेदयुक्त हूँ, बतलाओ वह चन्द्रमुखी कहाँ है? मेरे मोह को दूर कर दो' ॥२८३॥

यहाँ पर 'विरहिप्राणदमन' इसे उद्देश्यरूप में न कहना चाहिये।

प्रभा—प्राप्त या सिद्ध वस्तु का कथन अनुवाद कहलाता है विधेय के में प्रतिकूल उद्देश्य (अनुवाद्य) का कथन ही अनुवादायुक्त है। ऊपर के उदाहरण में 'कथय क्वेन्दुवदना' यह विधि (विधेय) है। साथ ही विरहीजन स्वमोह की शान्ति के लिये भी नीलोत्पल से प्रार्थना कर रहा है, अतएव नीलोत्पल को विरहिप्राण-संत्रासक कहना विधि के प्रतिकूल है।

अनुवाद—(२२. त्यक्तपुनःस्वीकृत) 'लग्नं' इत्यादि [ऊपर उदाहरण २४१] ॥२८४॥

इस पद्य में 'विदितं तेऽस्तु' इससे समाप्त किया हुआ भी अर्थ 'तेनास्मि' इत्यादि से गृहीत किया गया है।

प्रभा—(१) त्यक्तपुनःस्वीकृत वह अर्थ है जहाँ क्रिया-कारक के अन्वय से पूर्ण निराकांक्ष रूप वाक्यार्थ को समाप्त करके फिर अन्य कारक आदि का ग्रहण कर लिया जाय। जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। (२) जहाँ समाप्त वाक्यार्थ में अन्य विशेषण का ग्रहण होता है वहाँ 'समाप्तपुनरात्त' दोष होता है;

२३. हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ॥
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥२८५॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ।

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

[केषाञ्चित् दोषाणां समाधानम्]

(७७) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
सन्निधानादिबोधार्थम्

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये ।

किन्तु जहाँ अन्य ही वाक्यार्थ फिर से गृहीत होता है वहाँ त्यक्तपुनःस्वीकृत होता है ।

अनुवाद—(२३. अश्लील अर्थ)–हिंसा करने में प्रवृत्त; उद्धत, परछिद्रान्वेषी इस (दुष्ट) का जिस प्रकार पतन होता है उस प्रकार फिर उत्थान नहीं होता' ॥२८५॥

यहाँ पर (दुष्ट के समान ही) पुरुष-लिङ्ग (सुरतलीला प्रवृत्त) की प्रतीति होती है ।

जहाँ पर एक दोष (दिखलाया गया) है, वहाँ अन्य दोष भी सम्भव हैं तथापि उनका वहाँ (अन्यदोष-दर्शन के अवसर) पर प्रकरण न होने से प्रकाशन नहीं किया गया है ।

प्रभा—उपर्युक्त उदाहरणों में जहाँ जो दोष दिखलाया गया है उसके अतिरिक्त अन्य दोष भी हो सकते हैं जैसे कि ग्रन्थकार ने 'लग्नं रागावृताङ्ग्या इत्यादि उदाहरण में अनेक दोषों का प्रकाशन किया है; किन्तु एक दोष के प्रकरण में अन्य दोषों का प्रकाशन करना उचित नहीं था, अतएव सभी दोषों का एक स्थल पर प्रकाशन नहीं किया गया ।

उक्त दोष-निर्णय के अपवाद—

अनुवाद—'कर्णावतंस आदि पदों में 'कर्ण' आदि शब्द का प्रयोग (कर्ण आदि में) सान्निध्य आदि का बोध कराने के लिये होता है । (७७)

(केवल) "अवतंस" आदि शब्द ही कर्णाभूषण के वाचक हैं; उनमें 'कर्ण' आदि शब्द का योग (जैसे कर्ण+अवतंस) उन (आभूषणों) की कान आदि में उपस्थिति को प्रकट करने के लिये होता है ।

प्रभा—ऊपर जिन दोषों का विवेचन किया गया है, वे विषयविशेष के अनुसार यथासम्भव अदोष हो जाया करते हैं । उनमें से प्रथमतः कुछ अर्थ-दोषों

यथा—

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥२८६॥

अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥२८७॥

अत्र कर्ण-श्रवण-शिरश्शब्दाः सन्निधानप्रतीत्यर्थाः ।

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे ।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव ॥२८८॥

अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये—

का निरूपण किया जा रहा है। जैसे काव्य में 'कर्णावतंस' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। किन्तु जब केवल 'कर्णावतंस' शब्द ही 'कर्णाभरण' के लिये कोशादि में प्रसिद्ध है (अवतंसः कर्णभूषा) तो 'कर्णावतंस' आदि में पुनरुक्त या अपुष्टार्थ दोष होगा। इसके समाधान के लिये ग्रन्थकार ने बताया है कि कर्णावतंस आदि शब्दों से (कहीं 'कर्णेऽवतंसः' इस अर्थ के द्वारा कहीं लक्षणा आदि के द्वारा) उन आभूषणों की कर्ण-आदि में विद्यमानता विवक्षित है। अतएव इनका प्रयोग सप्रयोजन है और यहाँ पुनरुक्ति आदि दोष नहीं है।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट का यह दोष-समाधान प्राचीन आचार्य वामन के आधार पर है। इस कारिका तथा उदाहरणों में काव्यालङ्कार-सूत्र (२.२.१२-१९) का भाव स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो रहा है—'न विशेषणस्य । धनुर्ज्याध्वनौ धनुः श्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै । कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः । मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धेः । पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य । करिकलभशब्दे करिशब्दस्ताद्रूप्यस्य विशेषणस्य च । तदिदं प्रयुक्तेषु ।

अनुवाद—जैसे—'इस (कामिनी) के कर्णाभरण ने समस्त भूषणों को जीत लिया है उसी प्रकार इसके कानों के कुण्डल अत्यन्त शोभायमान हैं' ॥२८६॥

'इसके अनन्तर शिरोभूषण से सुशोभित पुरुष आ गये, जिन्होंने लोकोत्तर मधुर गन्ध से दिशाओं को प्रमोदित किया तथा जो भ्रमरों की गुञ्जार से युक्त थे' ॥२८७॥

यहाँ पर (कर्णावतंस में) 'कर्ण', (श्रवणकुण्डल में), 'श्रवण' तथा (शिरःशेखर में) 'शिरस्' शब्द (इन अङ्गों में इन आभूषणों की) विद्यमानता की प्रतीति कराने के लिये हैं (अतः पुनरुक्त आदि दोष नहीं)।

अनुवाद—'हे राजन्, पहले विदीर्ण होकर फिर सामने आ जाने वाले शत्रुओं से भयङ्कर संग्राम के मध्य में धनुष की प्रत्यञ्चा के व्रण-चिह्न से युक्त आपकी भुजा फड़कने लगी ॥२८८॥

यहाँ पर (धनुर्ज्या में) 'धनुः' शब्द का प्रयोग प्रत्यञ्चा की (धनुष पर) आरूढ़ता (चढ़ा होना) का बोध कराने के लिये है [क्योंकि केवल ज्या शब्द ही धनुष की डोरी का बोधक है—'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः'—अमरकोश]।

अन्यत्र तु—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥२८६॥

इत्यत्र केवलो ज्याशब्दः ।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥२३०॥

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

सौन्दर्यसम्पत्तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः ।
षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे ॥२९१॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः । निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते ।

(७८) स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥५८॥

अन्य स्थलों पर तो (जहाँ 'आरूढ़ता' की प्रतीति अभिप्रेत नहीं होती) जैसे—[रघुवंश, ६]—धनुष की डोरी के द्वारा बांध देने से निश्चेष्ट भुजा वाले, मुखपंक्ति से निश्वास (आहें) लेते हुए, इन्द्र को जीतने वाले, लङ्कापति रावण को जिस (कार्तवीर्य) के कारागार में (उसकी) कृपा-प्राप्ति पर्यन्त रहना पड़ा ॥२८९॥ इत्यादि काव्य में केवल 'ज्या' शब्द का प्रयोग है (इसी प्रकार)—

'(इस तरुणी के) दोनों स्तन ऐसे प्रतीत होते हैं मानों प्राणेश्वर के आलिङ्गन काल के हाव-भावों (विभ्रम) की (मधुर) स्मृतियों (प्रतिपत्ति) से मन्द २ हिलती (लसता) मुक्तामाला के रूप में हँस रहे हों' ॥२९०॥

यहाँ पर मुक्ताओं के अन्य रत्नों से मिश्रित न होने का बोध कराने के लिये ('मुक्ताहार' में) मुक्ता शब्द का प्रयोग है। (अन्यथा 'हार' शब्द ही मुक्तामाला का वाचक है—'हारो मुक्तावली') । (इसी प्रकार)—

'हे मित्र, जिस (रमणी) के पास सौन्दर्य सम्पत् है, तारुण्य है और नाना विध हाव-भाव हैं, वह भ्रमरों को आकृष्ट करने वाली पुष्पमाला के समान किन पुरुषों को आकृष्ट नहीं करती' ॥२९१॥

यहाँ पर 'पुष्प' शब्द उत्कृष्ट पुष्पों के अर्थ में है; क्योंकि उपपद ('पुष्प' शब्द) रहित (केवल) 'माला' शब्द पुष्प-माला का वाचक है।

प्रभा—यहाँ पर पुष्प' शब्द लक्षणा द्वारा उत्कृष्टता की प्रतीति कराता है अतः पुनरुक्त या अपुष्ट दोष यहाँ नहीं है। भाव यह है कि उपर्युक्त प्रयोगों में जो 'कर्ण' आदि 'पुष्प' पर्यन्त शब्दों का प्रयोग किया गया है वह किसी विशेष अर्थ की प्रतीति के लिये है इसलिये वह दोष नहीं माना जा सकता।

अनुवाद—यह (दोष) समाधान महाकवि प्रयुक्त (स्थितेषु) शब्दों के लिये ही है। (७८)

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते ।

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥२६२॥

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धौ 'गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित्प्रयोगः कार्यः'—इति न युक्तम् । युक्तत्वे वा,

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम् ।
पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेष न खिद्यते ॥२६३॥

इत्युदाहार्यम्—

(७९) ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता

(महाकवियों द्वारा) 'कर्णावतंस' आदि के समान 'जघनकाञ्ची' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता (अतः ऐसे प्रयोग दोषयुक्त ही हैं) ।

'वह विशद अक्षरों से युक्त मधुर वचन बोला' ॥२६२॥ इत्यादि में (मधुर आदि के) क्रियाविशेषण होने से भी विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो सकती है, इसलिये 'गतार्थ (पदान्तरेण उक्तार्थ) विशेष्य का भी विशेषण देने के लिये कहीं २ प्रयोग करना उचित है'—यह (वामन का कथन) ठीक नहीं । अथवा यदि ('गतार्थस्य' आदि कथन) युक्त माना जाय तो यह ('चरण' आदि) उदाहरण देना चाहिए—

'यह मनुष्य जूतों (चरणत्र) के परित्राण से रहित चरणों से शीघ्रतापूर्वक दूर मार्ग में जाता हुआ भी खिन्न नहीं होता' ॥२६३॥ [यहाँ 'चरणत्र' इत्यादि 'पाद' का विशेषण है] ।

प्रश्न—प्राचीन आचार्य वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र (२.२.१८) में दोष-समाधान के अवसर पर यह बताया है—'विशेषणस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थं उक्तार्थस्य पदस्य प्रयोगः' तथा इसके उदाहरण रूप में 'जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्' यह श्लोक दिया है अर्थात् यहाँ 'जगाद' क्रिया के अर्थ के द्वारा (पद अन्तरभावार्थ वाचि) ही 'वाच्' का अर्थ उक्त है, फिर भी 'मधुरां विशदाक्षरशालिनीम्' यह विशेषण देने के लिये 'वाचम्' का प्रयोग करना अनुचित नहीं ।

आचार्य मम्मट का कहना है कि ऐसे स्थलों पर क्रियाविशेषण द्वारा ही विवक्षित अन्वय हो सकता है; जैसे—'जगाद मधुरं विशदाक्षरशालि च' । अतः वामन का 'गतार्थस्य' इत्यादि समाधान उचित नहीं और यदि समाधान की आवश्यकता तथा औचित्य स्वीकार करना ही पड़े तो (उन्हें या) 'चरणत्र' इत्यादि उदाहरण होगा; क्योंकि यहाँ 'चरणत्र' इत्यादि 'व्रजन' (क्रिया) का क्रिया-विशेषण नहीं हो सकता अतएव विशेष्यदानार्थ 'पादाभ्याम्' का प्रयोग करना आवश्यक ही है ।

अनुवाद—प्रसिद्ध अर्थ में 'निर्हेतुक' दोष नहीं होता । (७९) जैसे—

यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥२६४॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुङ्क्ते' इति हेतुं नापेक्षते।

(८०) अनुकरणे तु सर्वेषाम् ॥

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम्।

यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम्।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥२६५॥

[कुमार-सम्भव के इस पद्य में]—चञ्चल लक्ष्मी (शोभा, सुन्दरता) चन्द्रमा में रहती हुई कमल के (सौरभ आदि) गुणों को नहीं प्राप्त करती, कमल में स्थित होकर चन्द्रमा की शोभा (अभिख्या) को नहीं प्राप्त करती; किन्तु पार्वती के मुख का आश्रय पाकर तो उसने (चन्द्र तथा कमल) दोनों में स्थित प्रीति (रमणीयता) को प्राप्त कर लिया' ॥२६४॥

यहाँ पर—रात्रि में कमल-संकोच तथा दिन में चन्द्रमा की निष्प्रभता लोक-प्रसिद्ध ही हैं, इसलिये 'न भुङ्क्ते' यह पद हेतु की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रभा—जहाँ किसी कार्य आदि का हेतु स्वतः ही प्रसिद्ध होता है वहाँ निर्हेतु कथन दोष-युक्त नहीं होता। ऊपर के उदाहरण में—रात्रि में चन्द्रगता लक्ष्मी कमल गुणों को प्राप्त नहीं करती; इसका हेतु है—रात्रि में पद्मसंकोच। इसी प्रकार पद्माश्रित लक्ष्मी के चन्द्रमा की शोभा प्राप्त न करने का हेतु है—दिन में चन्द्रमा की निष्प्रभता। ये दोनों लोकप्रसिद्ध हैं, अतः 'न भुङ्क्ते' इस क्रिया के हेतु-कथन की आवश्यकता नहीं है तथा यहाँ निर्हेतुत्व दोष नहीं है।

अनुवाद—अनुकरण (अर्थात् शब्द का उसी रूप में कथन) में तो समस्त दोषों का दुष्टत्व नहीं रहता। (८०)

(कारिका में) ,सर्वेषां सब का अर्थात् श्रुतिकटुता आदि दोषों का। जैसे—'यह कहता है कि मैंने मृग जैसे चक्षु वाली को देखा और देखो इसने 'गो' यह (गो+इति) कहा तथा सुत्रामाणं यज' (इन्द्र का यजन करो) यह भी' ॥२६५॥

प्रभा—यहाँ प्रथमार्ध शृङ्गारव्यञ्जक है, अतः इसमें मृदुवर्णों का प्रयोग उचित है तथा अद्राक्षम्' यह पद श्रुतिकटु है। तृतीय चरण में गो+इति=गविति यह व्याकरण के नियम-विरुद्ध (च्युतसंस्कृति) है; 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या' यह व्याकरण का नियम है, 'अतः गोः+इति=गोरिति होना चाहिये। चतुर्थ चरण में 'सुत्रामाणम्' में अप्रयुक्त दोष है; क्योंकि यद्यपि 'सुत्रामन्' (इन्द्र) शब्द कोश-प्रसिद्ध है तथापि कवियों द्वारा अप्रयुक्त ही है।

(८१) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ (५६)

वक्तृ-प्रतिपाद्य-व्यङ्ग्य-वाच्य-प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुणः क्वचिन्न दोषो न गुणः । तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः । क्रमेणोदाहरणम् ।

> दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद् गुणवृद्धयोरभाजनम् ।
> क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥२१६॥
> यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
> उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥२१७॥

परन्तु ये श्रुतिकटुत्व आदि यहाँ पर दोष नहीं माने जाते; क्योंकि ये दूसरे के द्वारा प्रयुक्त शब्द के अनुकरण मात्र हैं, अनुकार्य के दुष्ट होने पर भी अनुकरण दोषयुक्त नहीं होता ।

अनुवाद—वक्ता (श्रोता) आदि के औचित्य के कारण कहीं दोष भी गुण हो जाता है, कहीं तो यह दोनों (दोष तथा गुण) में से कोई भी नहीं होता (८१)

वक्त्रादि अर्थात् वक्ता, श्रोता (प्रतिपाद्यः, बोधनीयः बोद्धा), व्यङ्ग्य (रस भावादि), वाच्य तथा प्रकरण आदि की महिमा से दोष भी कहीं कहीं गुण हो जाता है, कहीं न दोष होता है, न गुण (दोनों) । उनमें से यदि वक्ता वैयाकरण (व्याकरण की विद्वत्ता-प्रदर्शन का इच्छुक) (या क्रुद्ध) आदि हो और श्रोता भी वैयाकरण आदि हो तथा 'रौद्र' (वीर, बीभत्स) आदि रस व्यङ्ग्य हो तो कष्टत्व (अर्थ की दुरूहता तथा शब्द की श्रुतिकटुता) गुण माना जाता है । क्रम से उदाहरण हैं—[वैयाकरण वक्ता]—'यहाँ कोई मनुष्य तो 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' धातु के समान गुण [पाण्डित्य, दान शौर्य आदि, धातु पक्ष में—ई को ए रूप गुण] तथा वृद्धि [समृद्धि, पक्ष में ई को ऐ रूप वृद्धि] का भाजन नहीं । कोई क्विप् प्रत्यय के समान (सर्वथा लुप्त) है, जिसके समीप होने पर (जिसके परे होने पर) अन्य में भी गुण तथा वृद्धि नहीं होते ॥२१६॥

प्रभा—'दीधीङ्' इत्यादि सूक्ति का वक्ता वैयाकरण है । यहाँ किसी ग्राम के पुरुषों का वर्णन किया गया है । जिस प्रकार 'दीधीङ्' और वेवीङ् धातुओं को गुण (अदेङ् गुणः १.१.२) तथा वृद्धि (वृद्धिरादैच् १.१.१) नहीं होते क्योंकि 'दीधीवेवीटाम् १.१.६' सूत्र द्वारा गुण, वृद्धि का निषेध किया गया है; इसी प्रकार उस ग्राम के कुछ पुरुष गुण और वृद्धि के भाजन नहीं थे । दूसरे थे—क्विप् प्रत्यय जैसे । क्विप् प्रत्यय का सर्वापहार (सर्वथा लोप) हो जाता है, उसके परे होने पर (क्ङिति च १.१.५) गुण, वृद्धि नहीं होते । इसी प्रकार वे लोग भी सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट थे । उनके पास रहने वाले भी गुणों तथा समृद्धि से वञ्चित थे । यहाँ पर विषय में दुर्बोधता होने पर भी वक्ता की व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति की प्रतीति होने से कष्टत्व दोष नहीं अपितु गुण हो गया है ।

अनुवाद—[वैयाकरण श्रोता]—'जब मैंने पदविद्या अर्थात् व्याकरण

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलककक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥२६८॥

वाच्यवशाद्यथा—

मातङ्गाः, किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः,
सारङ्गाः, महिषाः, मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत्तद्गर्जितं गर्जितम् ॥२६९॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः।

प्रकरणवशाद्यथा—

विशारद आपको देखा तब अपने उपाध्याय का स्मरण किया और हर्ष का स्पर्श किया ॥९७॥

प्रभा—यहाँ वैयाकरण श्रोता है अतः 'अद्राक्षं, अस्मार्ष, समस्प्राक्षं' आदि श्रुतिकटु शब्द भी दोष नहीं अपि तु गुण हैं; क्योंकि वैयाकरण सामाजिकों को विशेष चमत्कार का अनुभव होता है।

अनुवाद—[व्यङ्ग्य की महिमा से श्रुतिकटुत्व का गुणत्व]–'अंतड़ियों में पिरोये बड़े बड़े कपाल तथा जंघा की हड्डियों (नलक) से बने हुये भयानक शब्द करने वाले कङ्कण आदि बहुत से चञ्चल (प्रेङ्खित) आभूषणों की ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनियुक्त करती हुई, पीकर उगले हुये रुधिर की कीचड़ से व्याप्त शरीर के ऊपरी भाग पर भयङ्कररूप से दिखाई देने वाले (उल्लसत्) वेग से हिलते हुये स्तन भार से भयावने शरीर वाली यह कौन उद्धतरूप से दौड़ रही है ॥२६८॥

प्रभा—यहां वीभत्स रस व्यङ्ग्य है। परुष शब्द तथा दीर्घ समास ओज गुण की व्यञ्जना करके वीभत्स रस के व्यञ्जक होते हैं अतएव यहाँ कष्टत्व गुण हो जाता है।

अनुवाद—वाच्य की महिमा से (कष्टत्व का गुणत्व), जैसे—'हे गजों गतिविशेष (वल्गित) से क्या? अरे शृगालों, व्यर्थ के आडम्बरों से क्या? हे मृगों तथा महिषों, गर्व क्यों करते हो? (बलवानों से) शून्य स्थानों में कौन शूर नहीं हो जाता? कोप के उद्रेक (आटोप) से खड़े हैं विकट केसर के अग्रभाग (कोटि) जिसके उस गजशत्रु सिंह की समुद्रध्वनि जैसी (गम्भीर) गर्जना का सामने स्फुरण होने पर (स्फुरति) जो गर्जना की जाय वस्तुतः वही गर्जना है ॥२६९॥

यहाँ सिंह के वाच्य होने से (ओजगुण के प्रकाशक, दीर्घसमास तथा विकट-वर्ण वाले) कठोर शब्द (गुण ही) हैं (दोष नहीं)।

प्रकरण की महिमा से (कष्टत्व का गुणत्व) जैसे–[विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा की उक्ति]

रक्ताशोक, कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥१००॥

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि ।

क्वचिन्नीरसे न गुणो न दोषः । यथा—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः ।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते—
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥१०१॥

'हे रक्ताशोक, मुझ अनुरागयुक्त जन को छोड़कर वह कृशोदरी कामिनी कहाँ चली गई ? 'नहीं देखी; इस प्रकार (संकेत करते हुए) वायु से कम्पित सिर को मिथ्या ही क्यों हिलाते हो ? कहो तो, उस कृशोदरी के पादाघात के बिना तुम्हारा यह (अपूर्व) पुष्पोदय कैसे हो गया, जिसकी पंखड़ियाँ उत्सुकता से एकत्रित भ्रमरों के झुण्ड के संघट्ट (टकराना) से खण्डित हो गई हैं' ॥१००॥

यहाँ (रक्ताशोक के) सिर हिलाने से क्रुद्ध हो जाने वाले के कथन में (कष्टत्व गुण है) ।

प्रभा—भाव यह है कि 'रक्ताशोक' इत्यादि पद्य में विप्रलम्भ शृङ्गार मुख्य रस है अतः यहाँ दीर्घसमास तथा विकटवर्णों का प्रयोग दोषयुक्त है; किन्तु प्रकरण की महिमा से यहाँ कष्टत्व गुण हो जाता है । क्यों ! यहाँ मिथ्याशिरोधूनन से उत्पन्न होने वाले कोप का प्रकरण है; अतः परुष शब्द-विन्यास से विप्रलम्भ के अङ्गभूत कोप का प्रकर्ष होता है तथा इससे अङ्गी अर्थात् मुख्य रस विप्रलम्भ का भी प्रकर्ष होता है ।

अनुवाद—(न गुण न दोष) कहीं (शृङ्गार आदि) रस-रहित काव्य में कष्टत्व न गुण होता है न दोष । जैसे—[*मयूर कविकृत सूर्यशतक की सूर्य-स्तुति में*]—'हृदय में प्रचुर तथा दृढ़ घृणा भाव के कारण (निघ्न=वश) निर्विघ्न स्वभाव वाले (उज्ज्वल किरण युक्त) उस सूर्य भगवान् की सिद्ध-समुदाय से अर्घ्य प्राप्त करने वाली रश्मियाँ (घृणय.) शीघ्र ही तुम्हारे पापों का निवारण करें, जो (सूर्य) किसी अन्य साधन के बिना ही (एकः) ऐसे (कुष्ठि) जनों को—जिनके घाव के कारण नासिका तथा कर-चरण गल गये हैं; शेष अङ्ग (अवयव) व्रणयुक्त हैं, अतएव जिनका शब्द घर्घरित तथा अस्पष्ट है, इतना दीर्घ हो गया है—नीरोग करके (उल्लाघयन्) फिर से नवीन (स्वस्थ, सुन्दर) बना देता है ॥१०१॥

प्रभा—यह रसरहित (अधम) काव्य है; यद्यपि सूर्य के प्रति कवि का रति-भाव यहाँ विद्यमान है तथापि उसकी प्रधानता नहीं । कवि अनुराग-ज्ञापक में

अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादावदुष्टौ । यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥३०२॥

अत्र माधवपक्षे शशिमद्-अन्धकक्षयशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ ।

ही तत्पर दृष्टिगोचर होता है । अतएव यह नीरस काव्य है । इसमें कष्टत्व जब मुख्यार्थ का उत्कर्षक या अपकर्षक नहीं तो न गुण है न दोष ही ।

अनुवाद—अप्रयुक्त तथा निहतार्थ श्लेष (तथा यमक) आदि में दोष नहीं होते जैसे—[विष्णु पक्ष में] 'जिस जन्मरहित (अभवेन) शकटासुर (अनः शकटं) का ध्वंस किया, जिसने बलिविजयी स्वशरीर को प्राचीन काल में (अमृतहरण के समय) माहिनी रूप किया और जो वृत्तभुजङ्ग कालिय का संहारक (उद्वृत्तभुजंङ्गहा) है, जिसमें नामरूपात्मक संसार का लय होता है (रवाणां लयः), जिसने (कृष्ण रूप में गोवर्धन) गिरि (अगं) तथा (वराह रूप में) पृथ्वी (गाम्) को धारण किया (लयः+अगं+गां) देवता लोग जिसका 'राहु का शिर काटने वाला' (शशिनं मथ्नाति इति शशिमत् राहुः तस्य शिरो हरति इति) यह स्तुतियोग्य नाम बतलाते हैं, यादवों (अन्धक) का (द्वारकारूप) निवास स्थान (क्षय) बनाने वाला, सर्वदाता (सर्वदः=चतुर्वर्गफलप्रदः) यह लक्ष्मीपति (मा लक्ष्मीः तस्याः धवः) तुम्हारी रक्षा करे' ।

[शिव पक्ष में] कामदेव को भस्म करने वाले (ध्वस्तमनोभवेन-ध्वस्तः मनोभवः येन) जिस शिव ने प्राचीनकाल (त्रिपुरवध के अवसर) में बलिजित् अर्थात् विष्णु के शरीर को अस्त्र (बाण) बनाया (अस्त्रीकृतः), उद्धत (वासुकि आदि भुजङ्ग ही जिसके माला तथा कर-कङ्कण हैं, जिसने गङ्गा को (शिर पर) धारण किया जिसका शिर चन्द्रयुक्त (शशिमत्+शिरः) है, देवगण जिसका स्तुतियोग्य नाम 'हर' पुकारते हैं, जो अन्धक (नामक दैत्य) का नाश-कर्ता है; यह पार्वतीपति (उमाधवः) शिव सर्वदा (सर्वदा+उमाधवः), तुम्हारी रक्षा करें' ॥३०२॥

यहाँ विष्णु पक्ष में—(राहु अर्थ में) 'शशिमत्' शब्द अप्रयुक्त है तथा अन्धक क्षय शब्द (यादव-गृह अर्थ में) निहतार्थ हैं ।

प्रभा—यहाँ 'शशिमत्' तथा 'क्षय' शब्द दुष्ट होते हुए भी अदुष्ट माने जाते हैं; क्योंकि ये श्लेष-निर्वाहक हैं, अतः अप्रयुक्तत्व तथा निहतार्थत्व यहाँ पर न दोष हैं, न गुण ही; क्योंकि अप्रयुक्तत्व आदि रूप से ये (शशिमत् आदि) शब्द श्लेष के उपकारक नहीं हैं; किन्तु स्वरूप से हीं; अतएव यहाँ अप्रयुक्तत्व आदि को गुण नहीं कहा जा सकता ।

अश्लीलं क्वचिद्गुणः। यथा सुरतारम्भगोष्ठ्याम्,
"द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु"
इति कामशास्त्रस्थितौ—
करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥२०३॥
शमकथासु—
उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥२०४॥
निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥२०५॥
अत्र भाव्यमङ्गलसूचकम्।

अनुवाद—(अश्लीलत्व का गुणभाव) अश्लीलता भी कहीं २ गुण हो जाती है, जैसे रति-क्रीडा प्रारम्भ करने के लिये किये जाने वाले वार्तालाप में, क्योंकि काम शास्त्र की स्थापना है कि—"गोपनीय वस्तु को द्वयर्थक (श्लिष्ट) पदों द्वारा सूचित करे।"

[व्रीडाव्यञ्जक] गज-शुण्डों से (करिहस्त-काम शास्त्र की एक क्रिया) विलोडित भीड़ वाली · संबाध संकुचित) सेना (साधना-स्त्रीयोनि) के भीतर प्रविष्ट होकर वीर पुरुष की ध्वजा (पुरुषेन्द्रिय) इधर उधर फहराती हुई शोभायमान है' ॥२०३॥

यहां द्वयर्थक पदों द्वारा रति-क्रीडा का वर्णन है जो कामविषयक स्फूर्ति प्रकट करने के कारण गुण ही माना जाता है]

शमकथा अर्थात् वैराग्यजनक वार्ता में (अश्लीलत्व गुणरूप हो जाता है)— [जुगुप्साव्यञ्जक] 'उल्टे पड़े हुए तथा फूले हुए मेंढक के विदारित (चीरे हुए) उदर के समान क्लेद युक्त (मलिन स्राव युक्त) योनिरूप स्त्री व्रण में कृमि (कीड़े) के अतिरिक्त और किसकी आसक्ति हो सकती है ॥२०४॥

[यहां जुगुप्सादायक अश्लीलत्व गुण ही है; क्योंकि यह वैराग्यजनक घृणा का उत्पादक है तथा शान्तरस का पोषक है]।

[अमङ्गलव्यञ्जक] 'शत्रुओं का समूह शान्त हो जाने के कारण जिनकी वैर की अग्नि बुझ गई है (निर्वाण), वे पाण्डु-पुत्र (पाण्डव) कृष्ण सहित आनन्दित हों तथा धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधन आदि) भी, जिनका वैरभाव समाप्त हो गया है जिन्होंने प्रजा को अनुरक्त तथा भूमि को (प्रसाधित) किया है, अपने सेवकों सहित सुखी हों।' ॥२०५॥

यहां भावी अमङ्गल का सूचक अश्लीलत्व गुणरूप ही है।

सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे गुणः। यथा—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥३०६॥

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः।

यथा—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।

प्रभा—वेणीसंहार नाटक के सूत्रधार की इस उक्ति में भावी अमङ्गल प्रकट हो रहा है; जैसे—'रक्त से भूमि को अलङ्कृत करके (रक्तप्रसाधितभुवः) खण्डित शरीर वाले (क्षतविग्रहाः) कौरव स्वर्ग को चले जाएं (स्वस्थाः स्वर्गस्थाः भवन्तु)। यह अमङ्गल अश्लील होते हुए भी भावी-अर्थ का सूचक होने के कारण गुण है।

अनुवाद—(सन्दिग्ध पद की गुणरूपता)—सदिग्ध पद भी कहीं कहीं वाच्य (वर्णनीय) अर्थ की महिमा से नियत (प्रकृत) अर्थ का निश्चय (प्रतीति) कराने के कारण व्याजस्तुति रूप में परिणत होकर गुण हो जाता है। जैसे—

[राजा के प्रति कवि की इस उक्ति में] 'हे देव इस समय हम दोनों (मेरा और आपका) का घर तुल्य ही है; यह (दोनों का घर) पृथुकार्तस्वरपात्र [राजभवन विशाल स्वर्ण पात्रों से युक्त है—'पृथूनि कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य, पात्राणि यत्र' और कविगृह—भूख से व्याकुल बालकों के रुदन से युक्त—'पृथुकानां शिशूनाम् आर्तस्वरस्य पात्रं स्थानम्'] भूषितनिःशेषपरिजन [राजभवन—आभूषित समस्त सेवकों से युक्त-'भूषिताः निःशेषाः परिजनाः यत्र' और कविगृह-भूमि पर लेटे हुए समस्त पारिवारिक जनों से युक्त-'भुवि उषिताः (भू+उषित) निःशेषाः परिजनाः यत्र'] तथा विलसत्करेणुगहन [राजभवन—शोभायमान हथिनियों से भरा हुआ विलसन्तीभिः करेणुभिः गहनम्' और कविगृह—चूहों की खोदी हुई धूलि से परिपूर्ण—विलसत्कानां मूषकाणां रेणुभिः गहनम्] है' ॥३०६॥

प्रभा—प्रस्तुत पद्य में 'पृथुकार्तस्वरपात्र' आदि विशेषणों के उपर्युक्त प्रकार से दो दो अर्थ होते हैं जिससे यह सन्देह बना रहता है कि कौन सा अर्थ लिया जाय अतः ये पद सन्दिग्ध ही हैं; किन्तु वाच्यार्थ के सामर्थ्य द्वारा नियत अर्थ का निश्चय हो जाता है तथा अन्त में सन्दिग्ध पद व्याजस्तुति के द्वारा भाव (कवि के नृपविषयक रति-भाव) के उत्कर्ष को व्यक्त करते हैं तथा गुणरूप हो जाते हैं ॥३०७॥

अनुवाद—(अप्रतीतत्व की गुणरूपता-१) बोद्धव्य (श्रोता) तथा वक्ता दोनों को (उस अर्थ का) ज्ञान होने पर अप्रतीतत्व गुण हो जाता है। जैसे—[वेणीसंहार

यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥२०७॥

स्वयं वा परामर्शे यथा—

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा
हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः
स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥२०८॥

भीमसेन की उक्ति]—'आत्मा में तल्लीन होने वाले, निर्विकल्पक समाधि में निरन्तर प्रीति रखने वाले, आत्मज्ञान की दृढ़ता से तमोगुण या मिथ्याज्ञान की (संस्काररूप) ग्रन्थि को नष्ट कर देने वाले केवल सत्त्वगुण मात्र में स्थित योगी जन तमोगुण तथा रजोगुण के स्पर्श से रहित जिस किसी (अनिर्वचनीय) भगवान् (कृष्ण) का साक्षात्कार करते हैं, मोह से अन्धा यह (दुर्योधन) उस पुराण पुरुष श्रीकृष्ण को कैसे जान सकता है ?' ॥२०७॥

प्रभा—(१) यहाँ पर 'निर्विकल्पक' आदि शब्द योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं; अतः ये अप्रतीत हैं तथापि ये दोषयुक्त नहीं अपितु गुणरूप ही हैं; क्योंकि यहाँ वक्ता भीमसेन है तथा श्रोता सहदेव है और दोनों ही योगशास्त्र के इन शब्दों से परिचित हैं अतः अर्थ-प्रतीति में विलम्ब नहीं होता। ये शब्द वक्ता के विशिष्ट ज्ञान को प्रकट करके चमत्कारक भी हैं। (२) प्रतिपाद्य और प्रतिपादक शब्दों से सामाजिक तथा वक्ता (कवि आदि) का भी ग्रहण होता है; अतः जहाँ ये दोनों किसी अर्थ के ज्ञाता हों वहाँ भी अप्रतीतत्व गुणरूप हो जाता है।

अनुवाद—(अप्रतीतत्व की गुणरूपता-२) (वक्ता के) स्वयं विमर्श या पर्यालोचन में अप्रतीतत्व गुणरूप हो जाता है। जैसे—[आगमशास्त्र में [illegible] का विमर्श]—'जिसका स्वरूप (आत्मा) षोडश (इडा आदि) नाड़ियों के (मणिपूर आधार) चक्र-मध्य में स्थित है, हृदय में निहित रूपवाला जो उसका ज्ञान रखने वालों को सिद्धिदायक है, निश्चल मन वाले साधकगण जिसका अन्वेषण करते हैं, वह (ब्राह्मी आदि) शक्तियों से युक्त शक्तिनाथ शिव विजयी हो' ॥२०८॥

प्रभा—(१) यहाँ पर नाड़ी, सिद्धि आदि पद आगमशास्त्र-प्रसिद्ध हैं, अतएव अप्रतीत हैं; तथापि [illegible] नामक योगिनी (वक्ता) स्वयं परामर्श कर रही है इसलिए यहाँ अप्रतीतत्व दोष नहीं, अपितु वक्ता के ज्ञानोत्कर्ष का द्योतक होने से गुण ही है।

(ii) षोडश नाड़ियाँ हैं—१. इडा, २. पिङ्गला, ३. सुषुम्ना, ४. सरस्वती, ५. गान्धारी, ६. हस्तिजिह्वा, ७. पूषा, ८. अलम्बुषा, ९. कुहू, १०. शंखिनी, ११. वारुणिका, १२. यशस्विनी, १३. विजया, १४. वारणा, १५. मधुरा, १६. [illegible]। अष्ट सिद्धि हैं—

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः ।

यथा—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहन्ति
जे सिन्धुवारविडवा मह वल्लहा दे ।
जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा
दे किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ॥३०९॥

(पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभं वहन्ति ये सिन्धुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षास्ते किञ्च मुग्धविचकिल्लप्रसूनपुञ्जाः ।३०९)

अत्र कलम-भक्त महिषी-दधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ ।

न्यूनपदं क्वचिद्गुणः । यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माऽति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥३१०॥

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ।

अनुवाद—अधम प्रकृति (अर्थात् विट-चेट-विदूषक आदि नीच पात्रों) की उक्ति में 'ग्राम्यता' भी गुण हो जाता है । जैसे-[कर्पूरमञ्जरी में विदूषक की उक्ति]—

'जो निगुंण्डी वृक्ष की शाखाएँ शालि (धान के चावल) के भात के समान कुसुमपुञ्ज को धारण करती हैं, वे मुझे प्रिय हैं और जो निचोड़ी हुई (गालित–निर्जलीकृत) भैंस की दही के सदृश सुन्दर मल्लिका पुष्पों के समूह हैं वे भी मुझे प्रिय हैं' ॥३०९॥

यहाँ कमल, भक्त, महिषी तथा दधि शब्द ग्राम्य हैं तथापि विदूषक की उक्ति में गुण ही हैं (क्योंकि ये हास्य रस के पोषक हैं) ।

अनुवाद—(न्यूनपद की गुणरूपता) न्यूनपद भी कहीं गुण हो जाता है, जैसे—'गाढ आलिङ्गन से जिसके स्तन दब गये हैं (वामनीकृत), जिसके (शरीर में) रोमाञ्च प्रकट हुए हैं, सान्द्र (घने) आनन्दातिरेक के कारण जिसके सुन्दर नितम्बों पर से वस्त्र हट गया है ऐसी मेरी प्रियतमा अस्पष्ट (क्षाम=कृश) अक्षरों में इस प्रकार कहती हुई—"हे मानद, (मानखण्डक या सम्मानदायक), मत, मत, मुझे अधिक नहीं (पीड़ा दो), बस करो" न जाने सो गई, या मर गई अथवा मेरे मन में लीन हो गई या (नीरक्षीरवत्) विलीन हो गई ॥३१०॥

प्रभा—इस (अमरुशतक) पद्य में 'मा मा' के पश्चात् 'आयासय' (श्रान्त करो) तथा 'माति' के पश्चात् 'पीडय' (पीड़ा दो) ये पद न्यून हैं, किन्तु यह दोष

क्वचिन्न गुणो न दोषः।
यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥३११॥

अत्र पिहितेत्यतोऽनन्तरं 'नैतद्यतः' इत्येतैर्न्यूनैः पदैर्विशेषबुद्धेरकरणान्न गुणः। उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधत इति न दोषः।
अधिकपदं क्वचिद् गुणः। यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥३१२॥

यहाँ न्यूनता गुण है, क्योंकि इन पदों का अध्याहार हो जाने से परिपक्व ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है तथा न्यूनपदत्व के कारण नायिका के हर्ष तथा प्रमोद के आधिक्य की प्रतीति होती है और उससे शृङ्गार रस के अतिरेक की व्यञ्जना होती है।

अनुवाद—(न्यूनपदत्व) कहीं पर न गुण होता है न दोष ही, जैसे [विक्रमोर्वशीय में विरही पुरूरवा की उक्ति में] 'कदाचित् वह (उर्वशी) कोप के कारण अपने प्रभाव (देवशक्ति या अन्तर्धान विद्या) से अन्तर्हित हो गई हो? किन्तु (यह युक्त नहीं) वह अधिक समय तक कुपित नहीं होती। कदाचित् वह स्वर्ग को चली गई हो? (यह भी युक्त नहीं क्योंकि) उसका मन तो मुझ में स्नेहयुक्त है। मेरे सामने विद्यमान प्रिया को हरने में सुरद्वेषी अर्थात् असुर भी समर्थ नहीं। फिर भी वह आँखों से अत्यन्त ओझल हो गई है, यह क्या विधान है' ? ॥३११॥

यहाँ पर 'पिहिता' इस पद के अनन्तर 'नैतद् यतः' (=यह नहीं, क्योंकि) ये पद न्यून (अपेक्षित) हैं, (इसी प्रकार द्वितीय पाद में भी)। किन्तु न्यूनपदत्व यहाँ गुण नहीं; क्योंकि (इनके न्यून भाव से) यह विशेष बुद्धि अर्थात् चमत्कार नहीं उत्पन्न करता। यह दोष भी नहीं, क्योंकि (इन पदों के बिना भी) उत्तरकालीन (दीर्घं न सा कुप्यति इत्यादि) ज्ञान पूर्वभावी ('तिष्ठेत् कोपवशात्' इत्यादि) ज्ञान का बाध कर देता है। [जिससे 'नैतद्' इत्यादि पद के बिना ही पूर्वप्रतीति का निषेध वाक्यार्थ के समान प्रतीत हो जाता है।]

अनुवाद—अधिकपदत्व कहीं-कहीं गुण होता है, जैसे—वञ्चना में बुद्धि रखने वाला स्वकार्य तत्पर, दुष्ट मनुष्य जो चाटुकारिता पूर्ण अनेक कृत्रिम वचन कहता है, उन (वचनों) को वे सज्जन नहीं समझते हैं यह बात नहीं; वे समझते तो हैं किन्तु इस दुष्ट के (कृत्रिम) स्नेह को भी निष्फल करने में समर्थ नहीं होते ॥३१२॥

अत्र 'विदन्ति'—इति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम् ।

यथा वा—

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे ॥३१३॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि ।

कथितपदं क्वचिद् गुणः लाटानुप्रासे, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये, विहितस्यानुवाद्यत्वे च । क्रमेणोदाहरणम् ।

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार, धरणिधर, कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३१४॥

यहाँ 'विदन्ति' (जानते हैं) यह दूसरा पद 'अन्य' [अर्थात् साधुओं से भिन्न असाधु जन] के 'योग' [सम्बन्ध] का व्यवच्छेदक (व्यवच्छेदपर) अर्थात् व्यावर्तक, हटाने वाला है ।

अथवा जैसे—'कहो वह शत्रु जीत लिया गया ? 'मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा हूँ' यह कहता हुआ वह मारा नहीं गया; किन्तु अपने पुत्र के मर जाने पर 'हाय हाय' करके विचित्र ढंग से रोने लगा; ॥३१३॥

इस प्रकार के काव्य में वक्ता के हर्ष भय आदि से युक्त होने पर अधिकपदत्व गुण है ।

प्रभा—(१) 'यद्वञ्चना' आदि में द्वितीय 'विदन्ति' पद अधिकपद प्रतीत होता है; किन्तु यह अन्ययोगव्यच्छेदक है अर्थात् अन्य जनों से साधुओं के उस अनुभव का सम्बन्ध नहीं हो पाता, यह प्रकट करता है, (साधु-जन ही जानते हैं अन्यों पर प्रकट नहीं करते, यह भाव है) इस प्रकार यह दोष नहीं प्रत्युत विशेष अर्थ की प्रतीति कराने के कारण गुण ही है । (२) 'वद वद' इत्यादि के चारों चरणों में क्रमशः हर्ष, (वद वद जितः स शत्रुः) भय (तव तवास्मि), विस्मय (चित्रं चित्रं) तथा विषाद (हा हेति) से युक्त वक्ता है । यहाँ अधिक पद हर्ष आदि के अभिव्यञ्जक हैं अतएव ये दोष नहीं अपि तु गुण हैं ।

अनुवाद—कथितपद कहीं-कहीं गुण हो जाता है; जैसे—(क) लाटानुप्रास में, (ख) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में और (ग) (पूर्ववाक्यगत) विधेय के (उत्तर वाक्य में) अनुवाद में । क्रमशः उदाहरण हैं—

(क) 'हे सूर्य के समान प्रचण्ड प्रतापी, पृथ्वी को धारण करने वाले महाराज, आपकी कीर्ति श्वेतरश्मि चन्द्रमा की किरणों के सदृश आह्लादक (रुचिरा) कान्ति वाली है तथा पराक्रमलक्ष्मी और वह प्रसिद्ध लक्ष्मी भी (दोनों) आपकी ही हैं, दूसरे की नहीं ॥३१४॥

[यहाँ 'कर कर' 'विभा विभा' तथा 'कमला कमला' शब्दों में लाटानुप्रास हैं, कथितपदत्व अनुप्रास का निर्वाहक है अतः यहाँ कथितपदत्व गुण ही है)

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिँ घेप्पन्ति ।
रइकिरणाणुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ॥३१५॥
(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥)

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥३१६॥

पतत्प्रकर्षमपि क्वचिद् गुणः । यथा—
उदाहृते 'प्रागप्राप्ते' इत्यादौ ॥३१७॥

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषः । यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणम् अपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते । यथा अत्रैव 'प्रागप्राप्ते-इत्यादौ' ॥३१८॥

(ख) 'गुण तभी (गुण) होते हैं, जब वे सहृदयों के द्वारा गृहीत (आदृत) किये जाते हैं । सूर्य की रश्मियों से अनुगृहीत कमल ही (वस्तुतः) कमल हैं' ॥३१५॥

[यहाँ पर द्वितीय 'कमल' कथितपद है । इसका अर्थ सौरभादिगुण सम्पन्न हो जाता है तथा यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है और असाधारण सौन्दर्य अर्थ का व्यञ्जक है । अतः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (ध्वनि) का निमित्त होने के कारण यहाँ 'कथितपद' गुण है]

(ग) 'जितेन्द्रियता विनय का कारण है, विनय से गुणोत्कर्ष प्राप्त होता है, गुणोत्कर्ष से ही लोग (किसी में) अनुरक्त होते हैं, जनानुराग ही समस्त सम्पदाओं की उत्पत्ति का कारण (प्रभव) है' ॥३१६॥

प्रभा—यहाँ पूर्व वाक्य में विहित वस्तु का उत्तरवाक्य में अनुवाद किया गया है, जैसे-पूर्ववाक्य में 'जितेन्द्रियता' के द्वारा 'विनय' विधेय है, उसी 'विनय' का उत्तर वाक्य में 'गुणप्रकर्ष' के निमित्तरूप से अनुवाद किया गया है अर्थात् यह उद्देश्य या अनुवाद्य रूप में है । इसी प्रकार अग्रिम वाक्यों में भी है । इस प्रकार यहाँ 'कथितपदता' कारणमाला अलङ्कार का निर्वाहक (निमित्त) है तथा गुण हो गया है, दोष नहीं रहा ।

अनुवाद—पतत्प्रकर्षता भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है, जैसे (उदाहरण २०६ में उद्धृत) 'प्रागप्राप्त' इत्यादि पद्य में ॥३१७॥

प्रभा—'प्रागप्राप्त' (२०६) इत्यादि के चतुर्थ चरण [किंवादेन मम तु सत्यरघुवंशे हतः स्यामपो] में (उत्तरार्ध की) अपने गुरु परशुराम की स्तुति का आरम्भ से क्रोध नाश हुआ था, क्रोध के अभाव में वहाँ कोमल वर्णों का प्रयोग ही उचित है । इसलिये 'पतत्प्रकर्षता' दोष नहीं रहा, वहाँ परशु का उत्कर्षवर्णन परशु धारण करने वाले के प्रति वक्ता के विनय का सूचक है अतः 'पतत्प्रकर्षता' गुण भी हो गया है ।

अनुवाद—समाप्तपुनरात्तता कहीं पर न गुण होता है, न दोष ही ।

अपदस्थसमासं क्वचिद्गुणः । यथा—उदाहृते 'रक्ताशोकेत्यादौ' ॥३१६॥
गर्भितं तथैव । यथा—

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरङ्कुसो अह विवेअरहिओ वि ।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्तिं ण पसुमरामि ॥३२०॥
(भवाम्यपहस्तितरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रस्मरामि ॥)

अत्र प्रतीहीति मध्ये दृढप्रत्ययोत्पादनाय । एवमन्यदपि लक्ष्याल्लक्ष्यम् ।

ऐसा वहाँ होता है जहाँ विशेषणमात्र देने के लिए (समाप्त का) पुनः ग्रहण नहीं किया जाता अपितु (उसके विषय में) अन्य वाक्य ही बनाया जाता है । जैसे—'प्रागप्राप्त' इत्यादि पद्य में ॥३१८॥

प्रभा—'प्रागप्राप्त' इत्यादि के चतुर्थ चरण (येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते) में जो 'समाप्तपुनरात्तत्व' है वह दोष नहीं; क्योंकि यह एक अन्य वाक्य के रूप में है । यहाँ समाप्त अर्थ का विशेषणमात्र देने के लिये उसका पुनः ग्रहण नहीं किया गया । यह गुण भी नहीं, क्योंकि किसी (उत्कर्षाधायक) प्रतीति का जनक नहीं ।

अनुवाद—अपदस्थसमास भी कहीं कहीं गुण होता है । जैसे—उदाहरण (३००) रूप में उद्धृत 'रक्ताशोक' इत्यादि पद्य में ॥३१९॥

प्रभा—यद्यपि दीर्घ समास शृङ्गार में अनुचित है तथापि विरही के क्रोधोन्माद का परिपोषक होने के कारण अङ्गीभूत (विप्रलम्भ का भी उत्कर्षाधायक है अतः यहाँ गुण ही है ।

अनुवाद—गर्भित भी उसी प्रकार (कहीं गुण हो जाता है) जैसे—(आनन्दवर्धनकृत 'विषमबाणलीला' में काम के प्रति यौवन की उक्ति) :—

'हे स्वामी, मैं चाहे मर्यादा को त्यागने वाला (अपहस्तिता त्यक्ता रेखा मर्यादा येन), निरङ्कुश या विवेकशून्य भी हो जाऊँ, किन्तु तुम सत्य समझो कि स्वप्न में भी भक्ति को न भूलूँगा ॥३२०॥

यहाँ 'प्रतीहि' (जानो) यह (गर्भित वाक्य) मध्य में दृढ़ प्रतीति उत्पन्न कराने के लिए है ।

इस प्रकार अन्य (किसी दोष का कहीं गुण रूप होना तथा कहीं न गुण होना, न दोष) भी उदाहरणों को देखकर (लक्ष्यात्—लक्ष्यं दृष्ट्वा) समझ लेना चाहिए ।

प्रभा—'भवामि' इत्यादि में एक वाक्य के बीच में दूसरा वाक्य 'प्रतीहि (त्वं)' आया है; किन्तु यहाँ 'गर्भितत्व' दोष नहीं है अपि तु गुण है, क्योंकि यह प्रस्तुत उक्ति में सत्यता का प्रतिपादक है और सौहार्द की दृढता की प्रतीति कराता है ।

[रसदोषाः]

(८२) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥६०॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥६१॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥६२॥

रस-दोषों का निरूपण—

अनुवाद—(१) व्यभिचारी भाव, (२) रस तथा (३) स्थायी भावों का स्वशब्द द्वारा कथन; (४) अनुभाव और (५) विभाव की कष्ट-कल्पना द्वारा अभिव्यक्ति; (६) प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण; (७) बार-बार (एक ही रस आदि की) दीप्ति; अनवसर में (रस का) (८) विस्तार या (९) विच्छेद (विराम); (१०) अङ्ग या अप्रधान का अत्यन्त विस्तार; (११) अङ्गी अर्थात् प्रधानतया वर्ण्य की उपेक्षा; (१२) प्रकृति अर्थात् पात्रों का विपर्यय; (१३) अनङ्ग (रस के अनुपकारक) का वर्णन—इस प्रकार के (साक्षात्) रस (भाव) आदि के दोष होते हैं। (८२)

टिप्पणी—(i) पद-वाक्य तथा अर्थ-दोष आदि के निरूपणानन्तर रस के साक्षात् अपकर्षक दोषों का विवेचन किया जा रहा है। इन त्रयोदश रस-दोषों के लक्षण का निर्णय उदाहरण प्रदर्शन के अवसर पर किया जायेगा।

(ii) आनन्दवर्धनाचार्य ने रस-दोषों का विस्तार से विवेचन नहीं किया [illegible] रस विरोधी रसभावादियों का दिग्दर्शनमात्र कराया था जैसे—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च (ध्वन्यालोक ३·१८,१९)

इस रसभावादिविषयक विरोध-वर्णन का नवीन विवेचन ही काव्यप्रकाश में रस-दोष के रूप में निरूपित किया गया है। यह आचार्य मम्मट की साहित्य शास्त्र को एक विशिष्ट देन है।

(iii) कविराज विश्वनाथ ने भी प्रायः इसी प्रकार रस-दोषों का निर्देश [illegible] है; किन्तु उन्होंने 'अर्थानौचित्यमन्यच्च' (सा० द० ७.१४) इस कहते हुए [illegible] अतिरिक्त रस-दोष को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके अनुसार

१. स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—
सुव्रीडा दयिताननें सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥३२१॥

अत्र व्रीडादीनाम्।
व्यानम्रा दयिताननें मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे,
इत्यादि तु युक्तम्।

रस-दोष चतुर्दश हो जाते हैं। वस्तुतः यहाँ 'अयानौचित्यम् अन्यच्च' यह पाठ है जिसका अर्थ है—'अथ अन्यत् अन्यप्रकारमनौचित्यं च'। अन्य प्रकार के समस्त रस-विषयक अनौचित्य का इसमें संग्रह हो जाता है। कविराज विश्वनाथ की इस कल्पना का बीज भी काव्य-प्रकाश में निहित है। आचार्य मम्मट के 'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' इस कथन से यही प्रतीत होता है कि परिगणित त्रयोदश दोषों के अतिरिक्त अन्य भी जो रस के अपकर्षक हैं वे भी रस-दोष हैं।

अनुवाद—(१) व्यभिचारी भाव का स्वशब्द से कथन (शब्द-वाच्यत्व रस दोष); जैसे—'नवमिलन में प्रीतिमयी पार्वती की वह दृष्टि आपके कल्याण के लिए होवे; जो प्रिय (शिव) के मुख के प्रति लज्जामयी (शिव के) हस्तिचर्ममय परिधान के प्रति करुणामयी, सर्प के प्रति भय सहित; (भाल पर स्थित) अमृत-वर्षा करने वाले चन्द्रमा के प्रति विस्मय-रस से युक्त; जह्नु-पुत्री गङ्गा के दर्शन से ईर्ष्यायुक्त तथा कपाल (मुण्ड-माला) से युक्त (शिव के) उदर के प्रति दैन्य से भरी थी ॥३२१॥

यहाँ पर 'व्रीडा' आदि में शब्द-वाच्यत्व दोष है। 'व्यानम्रा' इत्यादि पाठ उचित है।

प्रभा—व्यभिचारी भावों का 'व्यभिचारी (संचारी)' शब्द से अथवा 'निर्वेद' आदि शब्दों से कथन करना 'शब्द-वाच्यत्व' नामक रस-दोष है। बात यह है कि अनुभावादि द्वारा अभिव्यक्त होकर ही व्यभिचारी भाव चमत्कार तथा आस्वाद के प्रयोजक (निमित्त) होते हैं, यदि ये वाच्यरूप में उपस्थित हो जाते हैं तो अगूढ़ (साक्षात् रूप से प्रकटित) हो जाने के कारण चमत्कार तथा आस्वादन का अपकर्ष हो जाता है तथा व्यभिचारियों का शब्द-वाच्यत्व नामक रस-दोष हो जाता है। जैसे ऊपर के उदाहरण में 'व्रीडा' आदि व्यभिचारी भावों का व्रीडादि संज्ञा शब्दों द्वारा कथन किया गया है। यदि यहाँ सव्रीडा आदि के स्थान पर 'व्यानम्रा' आदि पाठ होता तो 'नम्रता' इत्यादि अनुभावों के द्वारा 'व्रीडा' आदि व्यभिचारी

२. रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्।
क्रमेणोदाहरणम्—

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥१२२॥
आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-
व्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥१२३॥

भावों की अभिव्यञ्जना हुआ करती और यहाँ पर 'भावध्वनि' (उत्तम काव्य) होती; क्योंकि अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त व्रीडादि की प्रतीति ही विशेष चमत्कारकारिणी है यही सहृदयजनों का अनुभव है।

अनुवाद—(२) रस का (क) सामान्यतः अपने शब्द अर्थात् 'रस' शब्द से अथवा (ख) 'शृङ्गार' आदि (रस-विशेषवाचक) शब्दों से कथन (स्वशब्दवाच्यत्व रस दोष है); क्रमशः उदाहरण—

(क) 'काम-सम्बन्धी विजय की मङ्गल-लक्ष्मी के समान तथा कुछ उठी हुई अपनी भुजाओं के मूल (कुचपार्श्व-स्थल) को देखने वाली (किञ्चिदुच्चं भुजमूलं लोकितं दृष्टं यया; नखक्षतादिदर्शनार्थं स्वभुजमूलस्य अवलोकनम्); उस (नायिका) को दृष्टिगोचर करते ही इस (नायक) के (हृदय में) कोई (अनिर्वचनीय) अविच्छिन्न रस उत्पन्न हो गया ॥१२२॥

(ख) 'अरे देखो, कोमल कपोलों पर (लालिमा आदि के रूप में) स्थित तथा (रोमाञ्च आदि द्वारा) अभिव्यक्त अनुराग के कारण दर्शनीय रूप वाली उस रमणीय मूर्ति (बाला) को देख कर अपने बाल्य भाव का अतिक्रमण करके (पुलक, कटाक्ष आदि द्वारा) चेष्टा करता हुआ यह (तरुण या बालक) शृङ्गार रस की सीमा में तरङ्गित हो रहा है (अथवा निरन्तर कल्लोल कर रहा है) ॥१२३॥

प्रभा—(१) यहाँ 'रस' शब्द 'अनुभावादिसंवलित आस्वाद्यमान स्थायीभाव' के लिये आया है (रस्यते आस्वाद्यते इति); क्योंकि सिद्धान्त मत के अनुसार रस मात्राविवर्जित; है अतः वह वाच्य हो ही नहीं सकता। (२) 'तामनङ्ग' इत्यादि में 'रस' शब्द द्वारा (सामान्य रूप से) रस का अभिधान दोष है; क्योंकि विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त रस ही चर्वणा (आस्वाद) का विषय होता है। यदि यहाँ 'रस' शब्द के बदले शृङ्गार आदि शब्दों द्वारा अभिहित (अभिधेय) विभाव आदि के द्वारा उस रस की अभिव्यक्ति होती है; यह मान लिया जाय तो ऐसा कह है कि सह-दयजन होने से रस के आस्वाद का कारण होता ही। अतः यहाँ 'लोकनात् विकार स्मरजः', यह पाठ उचित होगा।

३. स्थायिनो यथा—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥३२४॥

अत्रोत्साहस्य ।

४. कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत—

दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति—
व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥३२५॥

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना ।

---

(२) 'आलोक्य' इत्यादि में विशेष-रस शृङ्गारपदवाच्य है। यद्यपि यहाँ भी शृङ्गार पद से गृहीत सम्भोग द्वारा उसके विभाव आदि का आक्षेप हो जाता है तथा उसके द्वारा सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति सम्भव है तथापि शृङ्गारपदवाच्य होने के कारण आस्वाद का अपकर्ष ही होता है।

अनुवाद—(३) स्थायीभाव की शब्द-वाच्यता, जैसे—

'युद्ध में शस्त्रों (प्रहरण) के परस्पर-प्रहार से उत्पन्न 'ठनत्' ध्वनि कानों में आने से उस (वीर) को कोई (अनूठा) उत्साह हुआ।' ॥३२४॥

यहाँ पर 'उत्साह' (स्थायीभाव) का शब्द-वाच्यत्व दोष है।

प्रभा—विभावादि द्वारा अभिव्यक्त स्थायीभाव ही रसरूपता को प्राप्त होते हैं, अपने शब्द द्वारा कहे गये नहीं। स्थायीभाव की स्वशब्द-वाच्यता तो दोष ही है। रसवाच्यता के समान यह दो प्रकार की हो सकती है। क–सामान्यतः शब्द-वाच्यता, ख–विशेषतः शब्दवाच्यता। यदि ऊपर के उदाहरण में 'स्थायिभावोऽस्य कोप्यभूत्' कर दिया जाय तो प्रथम प्रकार होगा। द्वितीय उदाहरण 'संप्रहारे' इत्यादि है। यहाँ वीर रस का स्थायीभाव (उत्साह) शब्द वाच्य है, अतः यह रस-दोष है।

अनुवाद—(४. अनुभाव की कष्टकल्पना)—जब शीतरश्मि चन्द्रमा ने कर्पूर-चूर्ण सदृश धवल प्रकाश-पुञ्ज (द्युतिपूर) से दिङ्-मण्डल को निर्मल (धवलित) कर दिया तब लीलापूर्वक शिरोवस्त्र (ओढनी, चुन्नी) सम्भालने के विशेष ढंग से जिसके स्तनों का उभार प्रकट हो रहा था ऐसी वह (तरुणी) उस प्रसिद्ध तरुण को दृष्टिगोचर हुई (नयन भूमि में आई)' ॥३२५॥

यहाँ पर (सम्भोग) शृङ्गारोचित उद्दीपन (चन्द्रमा तथा लीलाशिरोंऽशुक इत्यादि) तथा आलम्बन (नायिका) विभाव विद्यमान हैं, जो अनुभाव की विलम्ब से प्रतीति कराने वाले हैं (अनुभावं पर्यवसाययन्ति प्रकरणाद्यनुसंधानसापेक्षतया विलम्बेनावगमयन्ति इति अनुभावपर्यवसायिनः); अतः कष्टकल्पना है।

२. रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्।
क्रमेणोदाहरणम्—

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥३२२॥
आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-
व्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥३२३॥

भावों की अभिव्यञ्जना हुआ करती और यहाँ पर 'भावध्वनि' (उत्तम काव्य) होती; क्योंकि अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त व्रीडादि की प्रतीति ही विशेष चमत्कारकारिणी है यही सहृदयजनों का अनुभव है।

अनुवाद—(२) रस का (क) सामान्यतः अपने शब्द अर्थात् 'रस' शब्द से अथवा (ख) 'शृङ्गार' आदि (रस-विशेषवाचक) शब्दों से कथन (शब्दवाच्यत्व रस दोष है); क्रमशः उदाहरण—

(क) *'काम-सम्बन्धी विजय की मङ्गल-लक्ष्मी के समान तथा कुछ उठी हुई अपनी भुजाओं के मूल (कुचसन्धि-स्थल) को देखने वाली* (किञ्चिदुच्चं भुजमूलं लोकितं दृष्टं यया; नखक्षतादिदर्शनाय स्वभुजमूलस्य अवलोकनम्); उस (नायिका) को दृष्टिगोचर करते ही इस (नायक) के (हृदय में) कोई (अनिर्वचनीय) अविच्छिन्न रस उत्पन्न हो गया ॥३२२॥

(ख) 'अरे देखो, कोमल कपोलों पर (पाण्डुता आदि के रूप में) स्थित तथा (रोमाञ्च आदि द्वारा) अभिव्यक्त अनुराग के कारण दर्शनीय रूप वाली उस रमणीय मूर्ति (बाला) को देख कर अपने बाल्य भाव का अतिक्रमण करके (पुलक, कटाक्ष आदि द्वारा) चेष्टा करता हुआ यह (तरुण या तारुण्य) शृङ्गार रस की सीमा में *तरङ्गित हो रहा है (अथवा निरन्तर कल्लोल कर रहा है)* ॥३२३॥

प्रभा—(१) यहाँ 'रस' शब्द 'अनुभावादिसंवलित आस्वाद्यमान स्थायीभाव' के लिये आया है (रस्यते आस्वाद्यते इति); क्योंकि सिद्धान्त मत के अनुसार रस सामाजिकनिष्ठ; है अतः वह वाच्य हो ही नहीं सकता। (२) 'तामनङ्ग' इत्यादि में 'रस' शब्द द्वारा (सामान्य रूप से) रस का अभिधान दोष है; क्योंकि विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त रस ही चर्वणा (आस्वाद) का विषय होता है। यदि यहाँ 'रस' शब्द से गृहीत शृङ्गार आदि रसों द्वारा आक्षिप्त (आक्षेपलभ्य) विभाव आदि के द्वारा उस रस की अभिव्यक्ति होगी है; यह मान लिया जाय तो दोष यह है कि रस-पदवाच्य होने से रस के आस्वाद का अपकर्ष होगा ही। अतः यहाँ 'कोऽप्यजायत विकार आन्तरः', यह पाठ उचित होगा।

३. स्थायिनो यथा—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥३२४॥

अत्रोत्साहस्य।

४. कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत—

दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति—
व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥३२५॥

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना।

---

(२) 'आलोक्य' इत्यादि में विशेष-रस शृङ्गारपदवाच्य है। यद्यपि यहाँ भी शृङ्गार पद से गृहीत सम्भोग द्वारा उसके विभाव आदि का आपेक्ष हो जाता है तथा उसके द्वारा सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति सम्भव है तथापि शृङ्गारपदवाच्य होने के कारण आस्वाद का अपकर्ष ही होता है।

अनुवाद—(३) स्थायीभाव की शब्द-वाच्यता, जैसे—

'युद्ध में शस्त्रों (प्रहरण) के परस्पर-प्रहार से उत्पन्न 'ठनत्' ध्वनि कानों में आने से उस (वीर) को कोई (अनूठा) उत्साह हुआ।' ॥३२४॥

यहाँ पर 'उत्साह' (स्थायीभाव) का शब्द-वाच्यत्व दोष है।

प्रभा—विभावादि द्वारा अभिव्यक्त स्थायीभाव ही रसरूपता को प्राप्त होते हैं, अपने शब्द द्वारा कहे गये नहीं। स्थायीभाव की स्वशब्द-वाच्यता तो दोष ही है। रसवाच्यता के समान यह दो प्रकार की हो सकती है। क-सामान्यतः शब्द-वाच्यता, ख-विशेषतः शब्दवाच्यता। यदि ऊपर के उदाहरण में 'स्थायिभावोऽस्य कोप्यभूत्' कर दिया जाय तो प्रथम प्रकार होगा। द्वितीय उदाहरण 'संप्रहारे' इत्यादि है। यहाँ वीर रस का स्थायीभाव (उत्साह) शब्द वाच्य है, अतः यह रस-दोष है।

अनुवाद—(४. अनुभाव की कष्टकल्पना)—जब शीतरश्मि चन्द्रमा ने कर्पूर-चूर्ण सदृश धवल प्रकाश-पुञ्ज (द्युतिपूर) से दिङ्-मण्डल को निर्मल (धवलित) कर दिया तब लीलापूर्वक शिरोवस्त्र (ओढनी, चुन्नी) सम्भालने के विशेष ढंग से जिसके स्तनों का उभार प्रकट हो रहा था ऐसी वह (तरुणी) उस प्रसिद्ध तरुण को दृष्टिगोचर हुई (नयन भूमि में आई)' ॥३२५॥

यहाँ पर (सम्भोग) शृङ्गारोचित उद्दीपन (चन्द्रमा तथा लीलाशिरोंऽशुक इत्यादि) तथा आलम्बन (नायिका) विभाव विद्यमान हैं, जो अनुभाव की विलम्ब से प्रतीति कराने वाले हैं (अनुभावं पर्यवसाययन्ति प्रकरणाद्यनुसंधानसापेक्षतया नावगमयन्ति इति अनुभावपर्यवसायिनः); अतः कष्टकल्पना है।

५. परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥३२६॥

अत्र रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि सम्भवात् कामिनीरूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः।

६. प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये, शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे, प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥३२७॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः।

प्रभा—सूत्र में 'कष्टकल्पनया व्यक्तिः अनुभावविभावयोः' का अभिप्राय है—पूर्वश्लोक के अनुसन्धान से अथवा प्रकरण आदि की पर्यालोचना से अनुभाव और विभाव की प्रतीति होना। 'कर्पूर' आदि उदाहरण में नायिकानिष्ठ किसी अनुभाव का उल्लेख नहीं किया गया, न ही विभाव के द्वारा किसी अनुभाव की अविलम्ब से प्रतीति हो रही है। अतः प्रकरणादि के अनुसंधान द्वारा यहाँ विलम्ब से अनुभाव की प्रतीति होती है, इसी से यहाँ अनुभाव की कष्ट-कल्पना है।

अनुवाद—(५. विभाव की कष्ट-कल्पना) 'वह (वस्तुओं में से) प्रीति को हटा रहा है, वस्तु-निश्चय (पहचान) की शक्ति को खो रहा है (लुनीते-काटता है), अत्यन्त स्खलित होता है (ठोकर खाता है या भूल करता है), बार २ करवट खाता है, खेद है कि इस प्रकार विषम (विरह की) अवस्था इस (नायक) के शरीर को बरबस अभिभूत कर रही है, इस विषय में क्या करें ? ॥३२६॥

यहाँ 'रति-परिहार' आदि अनुभावों के करुण (भयानक बीभत्स) आदि में भी होने के कारण कामिनीरूप (आलम्बन) विभाव प्रयत्नपूर्वक जाना जा सकता है।

प्रभा—'परिहरति' आदि में नायकनिष्ठ विप्रलम्भ शृङ्गार के कान्तारूप आलम्बन विभाव का वर्णन नहीं किया गया। 'रति-परिहार' आदि अनुभावों के द्वारा भी उसकी अविलम्ब प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि 'रति-परिहार' आदि करुण, भयानक तथा बीभत्स रस में भी सम्भव है। इसलिये यहाँ प्रकरणादि ज्ञान के द्वारा विलम्ब से (कष्टपूर्वक) विभाव की कल्पना हो सकती है तथा विलम्ब के कारण आस्वाद में विघ्न होता है।

अनुवाद—(६. प्रतिकूल विभावादि ग्रहण) (क)—[मानवती नायिका के प्रति नायक की उक्ति]—'हे प्रिये, प्रसन्न हो जाओ, हर्ष प्रकट करो, क्रोध को छोड़ दो, मेरे सूखते अङ्गों को तुम्हारी अमृत-सी वाणी सिञ्चित करे, आनन्द के निधान अपने मुख को क्षण भर को मेरे सामने कर लो, हे विवेकरहित सुन्दरी, गया हुआ कालरूपी मृग लौटा नहीं सकता' ॥३२७॥

यहाँ पर (प्रकृत) शृङ्गार रस के विरुद्ध अनित्यताप्रकाशन रूप शान्त रस के

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअण मज्झम्मि ।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एव्व महइ वहू ॥३२८॥
(निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥३२८॥

अत्र सकलपरिहार–वनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाद्यानयनव्याजेनोपभोगार्थं वनगमनं चेत् न दोषः ।

७. दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ।

८. अकाण्डे प्रथनं यथा–वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् ।

(उद्दीपन) विभाव तथा उस (अनित्यता प्रकाशन) से प्रकाशित 'निर्वेद' रूप व्यभिचारी भाव का ग्रहण किया गया है ।

(ख) 'गुरुजनों के बीच में गुप्त-प्रेमी के दृष्टि-पथ में पड़ते ही यह वधू सकल गृहकार्य त्याग का मन बनाए, वन-गमन करना ही चाहती है' ॥३२८॥

यहाँ 'सर्व-त्याग' और 'वन-गमन' (दोनों) शान्तरस के अनुभाव हैं । यदि इन्धन आदि लाने के बहाने से उपभोग के लिये वनगमन है, तो दोष नहीं ।

प्रभा—(१) प्रतिकूल विभावादिग्रह वह रस दोष है जहाँ प्रकृत रस के विरुद्ध-रस सम्बन्धी विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का ग्रहण होता है । यहाँ 'प्रसादे' इत्यादि (क) में प्रतिकूल विभाव तथा व्यभिचारी का ग्रहण है तथा 'निभृतरमणे' इत्यादि (ख) में प्रकृत रस शृङ्गार है । उसके विरुद्ध-रस अर्थात् शान्त से 'सकलत्याग' तथा 'वनगमन' आदि अनुभावों का यहाँ ग्रहण किया गया है; अतः प्रतिकूलानुभावग्रह रसदोष हैं; क्योंकि इससे शृङ्गार-रस का विच्छेद होता है । यदि इन्धनादि लेने के बहाने सम्भोग-हेतु वनगमन है तब ये शृङ्गार के अनुभाव हो सकते हैं अतः दोष नहीं रहेगा ।

अनुवाद—(७. (अङ्गभूत रस की) 'पुनः पुनः दीप्ति' जैसे 'कुमारसम्भव' के रति-विलाप में ।

प्रभा—'दीप्ति पुनः पुनः' वह रस दोष है जहाँ किसी अङ्गभूत रस का परिपोष हो जाने पर भी (रुक रुक कर) बार बार उसे उद्दीप्त किया जाता है । यह दोष प्रबन्ध-काव्य में ही सम्भव है । इसी से कुमारसम्भव के रतिविलाप सन्दर्भ को उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया गया है । वहाँ 'अथ मोह-परायणा सती' (४–१) इत्यादि श्लोक से दीपित करुण रस को 'अथ सा-पुनरेव विह्वला' (४–४) इत्यादि श्लोक द्वारा पुनः परिपुष्ट किया गया है तथा वसन्त दर्शन से विच्छिन्न हो जाने पर 'तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्' (४·२६) इत्यादि श्लोक से फिर दीपित किया गया है । एक रस के बार बार आस्वाद से सहृदयों को अरुचि हो जाती है, अतएव यह दोष है ।

अनुवाद—(८) 'अकाण्डे प्रथन' अर्थात् बिना अवसर के रस-वर्णन,

९. अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ ।

१०. अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

११. अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

जैसे–वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में अनेक वीरों (भीष्म आदि) के विनाश का प्रसङ्ग होने पर भी भानुमती के साथ दुर्योधन के शृङ्गार का वर्णन करना।

प्रभा—अवसर के अनुकूल रस का ही आस्वादन किया जा सकता है, अन्य का नहीं; जैसे ऊपर के प्रसङ्ग में करुण तथा वीर का ही आस्वादन सम्भव है, शृङ्गार का नहीं। इसलिये यह दोष है।

अनुवाद—(९) अकाण्डे छेद अर्थात् बिना अवसर के रस-विच्छेद; जैसे वीरचरित नाटक के *द्वितीय अङ्क में—राम तथा परशुराम के युद्धोत्साह में अविच्छिन्न* रूप से प्रवृत्त होने पर राम की इस उक्ति में—"कङ्कणमोचन (विवाह के दशम दिन का उत्सव) के लिये जाता हूँ।"

प्रभा—'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इस उक्ति से अनवसर में ही रस-विच्छेद हो जाता है। यह रस-दोष है क्योंकि इससे (नायक) रामविषयक वीर-रस के आस्वाद में बाधा पड़ती है ध्वन्यालोक (३·१९) में इसका। 'अकाण्ड-विच्छित्ति' नाम से निर्देश किया गया है।

अनुवाद—(१०) अङ्ग अर्थात् अप्रधान (प्रतिनायक आदि) का अत्यन्त विस्तार से वर्णन; जैसे हयग्रीववध नामक (काश्मीरक मेण्ठकविकृत) नाटक में (प्रतिनायक) हयग्रीव का वर्णन।

प्रभा—यहाँ प्रतिनायक आदि के विस्तृत वर्णन से तद्गत रस का ही प्रधान रूप से आस्वादन होगा, नायकगत (प्रधान) रस आदि का नहीं, अतः यह रस दोष है। इस दोष का ध्वन्यालोक में सुन्दर विवेचन किया गया था—अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम्। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने।

अनुवाद—(११) अङ्गी का अननुसन्धान अर्थात् प्रधानभूत नायक आदि का विस्मरण जैसे रत्नावली (नाटिका) के चतुर्थ अङ्क में बाभ्रव्य (सिंहलेश्वर के कञ्चुकी) के आगमन के समय सागरिका (रूप में स्थित रत्नावली) का (नायक वत्सराज द्वारा) विस्मरण।

प्रभा—(१) भाव यह है कि प्रबन्ध में रस-वैचित्र्य के लिये एक रस अङ्गी तथा अन्य अङ्गभूत रक्खे जाते हैं। प्रधान (नायक तथा नायिका) आदि के अनुसन्धा-

१२. प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृङ्गारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्यमाश्च।

तत्र रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि। किन्तु रतिः सम्भोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।

क्रोधं प्रभो, संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३२६॥

इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यः फलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्। अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रति-

---

नाधीन ही उसके मुख्य रस की धारा अविच्छिन्न रहती है; उसके विस्मरण से वह धारा विच्छिन्न हो जाती है; जैसे ऊपर के सन्दर्भ में सागरिका के विस्मरण से नाटिका-प्रतिपाद्य शृङ्गार रस विच्छिन्नप्रायः हो जाता है। (२) ध्वन्यालोककार ने रस-दोषों में इसका उल्लेख नहीं किया; किन्तु रसानुसन्धान को रसव्यञ्जकता के एक निमित्त के रूप में निरूपित किया था—'इद चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं '''रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च (३ १३ वृत्ति)

अनुवाद—(१२प्रकृतिविपर्यय)—प्रकृति (नायक आदि) के तीन प्रकार हैं—१. दिव्य [देवरूप इन्द्र आदि], २. अदिव्य [मनुष्यरूप वत्सराज आदि] तथा ३. दिव्यादिव्य [मनुष्यरूप में अवतीर्ण राम आदि] (ये तीनों भी चार चार प्रकार के हैं) (i) वीररसप्रधान धीरोदात्त, (ii) रौद्ररसप्रधान धीरोद्धत, (iii) शृङ्गार रसप्रधान धीरललित तथा (iv) शान्तरसप्रधान धीरप्रशान्त [श्रीराम, भार्गव, कृष्ण तथा जीमूतवाहन क्रमशः उदाहरण हैं]। ये (द्वादश) उत्तम, मध्यम और अधम (रूप से) (३६ प्रकार के) होते हैं।

उक्त प्रकृतियों में (तत्र) से रति, हास, शोक तथा अद्भुत (ये भाव) अदिव्य उत्तम नायक के समान दिव्य नायकों में भी होते हैं' किन्तु सम्भोग शृङ्गार रूप रतिभाव का उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसका वर्णन माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित है।

"हे प्रभो, क्रोध को रोको, रोको इस प्रकार से देवों (मरुताम्) की वाणी ज्यों ही आकाश में फैलती है त्यों ही शिवजी के नेत्र से उत्पन्न हुई अग्नि ने कामदेव को भस्म-मात्र (शेष) कर दिया' ॥३२६॥

इस उक्ति के समान भ्रुकुटि (भौंह चढ़ाना) आदि विकार रहित तथा तत्काल फलदायक क्रोध एवं स्वर्ग, पाताल तथा आकाश गमन तथा समुद्र के उल्लङ्घन आदि रूप (अतिमानवीय) उत्साह का दिव्य पात्रों में ही वर्णन करना चाहिए।

भासेन नायकवद्वर्तितव्यम् न प्रतिनायकवद् इत्युपदेशो न पर्यवस्येत्। दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि। एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः।

तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ, भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम्। एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम्।

आदिव्य (मानव) पात्रों में तो जितना वृत्त (प्रवदानं कर्म वृत्तम्—अमरकोष) लोक प्रसिद्ध है अथवा उचित है, उतना ही वर्णन करना चाहिए। औचित्य से अधिक वर्णन तो असत्य प्रतीत होने के कारण—'नायक के समान व्यवहार करना चाहिए प्रतिनायक के समान नहीं' इस उपदेश में पर्यवसित (तात्पर्य रखने वाला) न होगा। *दिव्यादिव्य पात्रों में दोनों (दिव्य तथा अदिव्य) के योग्य ही वर्णन करना चाहिए।* इसी प्रकार दिव्य आदि (नायकों) के विषय में उक्त औचित्य के विपरीत वर्णन के समान धीरोदात्त आदि (उत्तम आदि) के औचित्य के विपरीत वर्णन भी प्रकृति विपर्यय है (एवं दिव्यादीनामुक्तस्य औचित्यस्य अन्यथा वर्णनमिव धीरोदात्तादीनामपि औचित्यस्य अन्यथा वर्णनं प्रकृतिविपर्ययः—यह अन्वय है)।

(सम्बोधनविषयक औचित्य) 'तत्र भवन्', 'भगवन्' यह (सम्बोधन) उत्तम प्रकृति द्वारा ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए: अधम प्रकृति के द्वारा नहीं और उस (उत्तम प्रकृति) को मुनि आदि के विषय में ही प्रयोग करना चाहिए, राजा आदि के विषय में नहीं। 'भट्टारक' यह (सम्बोधन) उत्तम भिन्न पात्र के द्वारा राजा (राजपालक) आदि के विषय में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। अन्यथा प्रकृति—विपर्यय हो जायगा।

इसी प्रकार देश, काल, आयु तथा जाति के अनुकूल ही वेश, व्यवहार आदि का वर्णन करना चाहिए।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने प्रकृति-विपर्यय नामक रस-दोष का विवेचन ध्वन्यालोक तथा ध्वन्यालोकलोचन के आधार पर किया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने (ध्वन्यालोक; ३·१०) प्रबन्धगत रस के व्यञ्जक हेतुओं के प्रसङ्ग में भावौचित्य का उल्लेख किया है तथा 'भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्' इस प्रकार आरम्भ करते हुए विस्तारपूर्वक प्रकृति-सम्बन्धी औचित्य का वर्णन किया है। ध्वन्यालोक की व्याख्या में आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इसका विशद विवेचन किया है। उनके एक वाक्य में ही इस सन्दर्भ का तात्पर्य निहित है—'एतदुक्तं भवति-यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग् वर्णनीयम्।'

(ii) दशरूपककार धनञ्जय ने भी सार रूप में यही कहा है—(दशरूपक प्रकाश ३)

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा। विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

१३. अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम् । यथा–कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम् ।

'ईदृशा' इति । नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् । उक्तं हि ध्वनिकृता—

"अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा" ॥इति॥

इदानीं क्वचिददोषा अप्येते-इत्युच्यन्ते ।

(८३) न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित् ।

अनुवादः—(१३) अनङ्ग अर्थात् रस के अनुपकारक का वर्णन (अनङ्गस्याभिधानम्) जैसे—(राजशेखरकृत) कर्पूरमञ्जरी में (विभ्रमलेखा नाम की) नायिका तथा अपने द्वारा वर्णित वसन्त-वर्णन का अनादर करके बन्दी द्वारा वसन्त-वर्णन की राजा (चण्डपाल) द्वारा प्रशंसा । [यह प्रकृत रस का अनुपकारक होने से रस-दोष ही है] ।

(सूत्र में) 'ईदृशाः' (रसे दोषा स्युरीदृशाः) 'इस प्रकार के' कहने का अभिप्राय है कि नायिका के पाद प्रहार आदि से नायक के कोप आदि का (अनुचित) वर्णन भी रसदोष है । जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं है, औचित्य का अनुसरण करना ही रस का परम रहस्य है ।

प्रभा—'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' से आचार्य मम्मट का यही अभिप्राय है कि समस्त दोष-अनौचित्य के कारण ही होते हैं । दोषों का परिगणन तो केवल प्रदर्शन हेतु किया गया है अतः परिगणित दोषों के अतिरिक्त अन्य भी रस-दोष हो सकते हैं । अनौचित्य ही रस-विच्छेद का हेतु है इस कथन की पुष्टि के लिये मम्मट ने आनन्दवर्धनाचार्य की मान्यता को भी उद्धृत किया है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि साहित्य दर्पणकार ने शेष सभी रस-दोषों के संग्रह के लिये 'अन्यदनौचित्य' नामक एक रस-दोष की ही उद्भावना कर ली है । इस प्रकार आचार्य मम्मट की रस-दोष समीक्षा में उनकी ध्वनि तथा रसविषयक मर्मज्ञता की झलक है तथा इसके द्वारा आलङ्कारिकों की दोष-प्रकार-विवेचना में रसवादियों के द्वारा एक नवीन अध्याय का उद्घाटन हो जाता है ।

रस–दोषों के अपवाद—

अनुवाद—उपर्युक्त रस-दोषों में से कुछ (एते) कहीं कहीं दोष नहीं माने जाते; अब इसका निरूपण किया जा रहा है—

[स्वशब्द वाच्यता की अदोषता] कहीं कहीं व्यभिचारी भाव के स्वशब्द-वाच्य होने पर भी दोष नहीं होता (८३) । जैसे—'नव मिलन के अवसर पर उत्सुकता

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥३२०॥

अत्रौत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथा प्रतीतिकृत्। अतएव 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावानां विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादिरूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम्।

(८४) सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥६३॥

बाध्यत्वेनोक्तिर्न परमदोषः, यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत्।

यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्-इत्यादौ ॥३२१॥

के कारण शीघ्रता करती हुई, पर सहज लज्जा से लौटती हुई, फिर सम्बन्धी वधूजन के अनेक (प्रोत्साहन देने वाले) वचनों द्वारा (शिव के) सामने ले जाई गई, पति को आगे देख कर भय तथा आनन्द का अनुभव करती हुई, पुलकित हुई तथा हंसते हुए शिव-द्वारा आलिङ्गित पार्वती तुम्हारे कल्याण के लिए होवे' ॥३२०॥

यहाँ (रत्नावली की नान्दी में) 'औत्सुक्य' शब्द के समान उसका ('त्वरा' रूप) अनुभव उस (उत्सुकता) की वैसी (असन्दिग्ध रूप से) प्रतीति नहीं करा सकता। इसलिये 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादि (उदाहरण २६) में व्रीडा, प्रेम आदि (व्यभिचारी भावों) के 'विवलन' आदि (अनुभावों) के समान औत्सुक्य (व्यभिचारी) के अनुभाव 'सहसा प्रसरण' आदि के अभीष्ट (तथा) प्रतीतिकृत् न होने के कारण 'उत्सुक' यह शब्द प्रयुक्त किया गया है।

प्रभा—भाव यह है कि 'औत्सुक्य' नामक व्यभिचारी भाव का कोई ऐसा असाधारण अनुभाव नहीं जो असन्दिग्ध रूप से औत्सुक्य की प्रतीति करा सके। जो 'त्वरा' आदि उसके अनुभाव हैं वे असाधारण नहीं; क्योंकि वे 'भय' आदि के भी व्यञ्जक होते हैं; अतः 'औत्सुक्य' का स्वशब्दोपादान-दोष नहीं माना जाता; क्योंकि यह आस्वाद-विघातक नहीं होता। 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादि परमरसिक अमरु कवि की उक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि 'त्वरा' आदि अनुभाव 'औत्सुक्य' के असन्दिग्ध रूप से व्यञ्जक नहीं हैं तथा कहीं-कहीं व्यभिचारी भाव का स्वशब्द द्वारा ग्रहण आवश्यक हो जाता है।

अनुवाद—[कहीं प्रतिकूलविभावादि ग्रह की अदोषता] प्रकृत रस-विरोधी रस के भी व्यभिचारी भाव (विभाव, अनुभाव) आदि का बाध्यत्व रूप में कथन] गुण रूप हो जाता है। (८४)

(कारिका के) बाध्यस्योक्तिः अर्थात् बाध्यत्व रूप से कथन (यदि इस प्रकार

अत्र वितर्कादिषु उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरस-परिपोषः।

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि, हृदन्तः ॥३३२॥

इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम्।

कथन किया जाय कि वह प्रकृत रस के व्यभिचारी आदि से बाधित हुआ प्रतीत हो) केवल (परम्) अदोष ही नहीं अपितु रस का परिपोषक है अतः वह गुण हो जाता है। जैसे—क्वाकार्य-इत्यादि (ऊपर उदाहरण ५३) ॥३३१॥

इस पद्य में वितर्क आदि (शान्त रस के व्यभिचारी भावों) का उदय होने पर भी उनकी चिन्ता (शृङ्गार के व्यभिचारी भाव) में ही समाप्ति हो जाती हैं—इसी हेतु प्रकृत रस अर्थात् 'भावशबलता' (रस्यते आस्वाद्यते इति रसः-इस व्युत्पत्ति से 'रस' पद 'भावशबलता' पर्यन्त का वाचक है) का परिपोषण होता है।

प्रभा—जब विरोधी रस के विभाव आदि का बाध्यत्व रूप में कथन किया जाता है तो प्रतिकूलविभावादिग्रह नामक रस-दोष नहीं होता। इसके विपरीत वहाँ गुण अर्थात् रस की उत्कर्षाधायकता मानी जाती है। जैसे 'क्वाकार्यम्' इत्यादि में। यहाँ प्रत्येक चरण के पूर्व भाग (क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम् आदि) में (विरुद्ध) शान्त रस के व्यभिचारी भाव 'वितर्क' आदि व्यङ्ग्य हैं तथा उत्तरभाग ('भयोऽपि दृश्येत सा इत्यादि) में शृङ्गार के व्यभिचारी भाव 'औत्सुक्य' आदि व्यङ्ग्य हैं। 'औत्सुक्य' आदि के द्वारा पूर्वोक्त 'वितर्क' आदि का बोध हो जाता है तथा शृङ्गार के सञ्चारी भाव नायिकाविषयक 'चिन्ता' में समस्त भावों की विश्रान्ति हो जाती है। इस प्रकार भावशबलता के पोषक 'वितर्क' आदि गुणरूप हो जाते हैं तथा इससे 'शृङ्गार रस' का ही उत्कर्ष बढ़ता है। इस प्रकार विरुद्ध व्यभिचारी का बाध्यत्व रूप में ग्रहण दोष नहीं अपितु गुण है।

आचार्य मम्मट की इस मान्यता का आधार ध्वनिकार का निम्न कथन तथा इसकी आचार्य अभिनवकृत व्याख्या ही है—'तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तावदोषः। यथा 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः' इत्यादि। (ध्वन्यालोक ३·२० वृत्ति)

अनुवाद—[साधारणविभाव आदि के ग्रहण में अदोषता] 'हे सखी, तुम्हारा पीला और सूखा सा मुख सानुराग हृदय तथा आलस्ययुक्त शरीर किसी नितान्त असाध्य रोग (क्षेत्रियः-परक्षेत्रे देहान्तरे चिकित्स्यः असाध्य इति यावत्) की सूचना दे रहे हैं ॥३३२॥

इत्यादि में 'पाण्डुता' आदि (करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों के) साधारण (अनुभाव) हैं, अतः यहाँ विरोध हो नहीं है।

प्रभा—यहाँ पर ध्वनिकार से मत-भेद प्रकट किया गया है। ध्वनिकार का

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥३३३॥

इत्यत्राद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम्। जीवितादपि अधिकमपाङ्गभङ्गस्या- स्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति, न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः। न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्त-शृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात्। नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरा- दनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात्।

विचार यह है कि—'पाण्डु' इत्यादि श्लोक में वर्णित 'पाण्डुता' आदि अनुभावों से अभिव्यक्त 'व्याधि' करुण रस का सञ्चारी है। अतएव वह (प्रकृत रस) विप्रलम्भ शृङ्गार के विरुद्ध रस का अङ्ग है; किन्तु उसका विप्रलम्भ में भी (नायिका में) समावेश (समारोप) कर लिया गया है अतः वह विप्रलम्भ का अङ्ग हो गया है और यहाँ शृङ्गार में करुणोचित व्याधि का वर्णन दोष नहीं है।

इस पर काव्यप्रकाशकार का कथन है कि ध्वनिकार का यह विचार ठीक नहीं; क्योंकि जो विभाव आदि समान रूप से विरोधी रसों में हो सकते हैं उसके ग्रहण में विरोध ही नहीं होता। यहाँ 'पाण्डुता' आदि जिस प्रकार करुण-रस के अनुभाव हैं उसी प्रकार विप्रलम्भशृङ्गार के भी अनुभाव हैं और 'व्याधि' विप्रलम्भ शृङ्गार का भी अङ्ग है; अतः यहाँ कोई विरोध ही नहीं तथा विरोध-परिहार निष्फल है।

टिप्पणी (i)—ध्वनिकार की उक्ति इस प्रकार है—'समारोपितायामप्य- विरोधो यथा—'पाण्डुक्षामम्' इत्यादौ। [समारोपितायामिति-अङ्गभावप्राप्तौ इति शेषः—आचार्य अभिनवगुप्त] (ii) आचार्य भरत के अनुसार 'व्याधि' विप्रलम्भ- शृङ्गार का भी अङ्ग है—व्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिर्विप्रलम्भोऽभिनेतव्यः।' इसी के आधार पर आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार के कथन का खण्डन किया है।

अनुवाद—'यह सत्य है कि रमणियाँ (रामाः) मन को रमाने वाली (रमणीय) हैं, (संसार के) वैभव भी मनमोहक हैं; किन्तु जीवन तो मतवाली तरुणी के कटाक्ष के समान अस्थिर है' ॥३३३॥

यहाँ पर पूर्वार्ध (शृंगार के विभाव) का बाध्य रूप में वर्णन किया गया है। जीवन की अपेक्षा भी तरुणी के कटाक्षों की अस्थिरता अधिक है, इसलिये प्रसिद्ध भङ्गुर (क्षणभङ्गुर) वस्तु (कटाक्ष) का उपमान रूप में ग्रहण करना शान्त-रस को ही पुष्ट करता है। यहाँ पर शृङ्गार रस की तो प्रतीति ही नहीं होती; क्योंकि उसके योग्य अङ्गों (विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव) का प्रतिपादन नहीं किया गया है। (ध्वनिकारोक्त) यह दोष-परिहार कि (शृङ्गार) शिष्यों को (शान्त रस की ओर) प्रवृत्त करने के लिये है, तो यहाँ उचित नहीं; क्योंकि शान्त और शृङ्गार दोनों (विरोधी-रस) व्यवधानरहित रूप से एक साथ नहीं रहते ... भी

(उचित) नहीं कि यहाँ (शृङ्गार) काव्य की शोभा के लिये है; क्योंकि अन्य रस (अर्थात् शान्त से अथवा केवल अनुप्रास) से ही काव्य शोभा हो जाती है (तथागावात्) ।

प्रभा—'बाध्यरूप से उक्त विरुद्ध रस का विभाव भी गुणरूप हो जाता है' इसका उदाहरण 'सत्यं मनोरमा' इत्यादि पद्य है। यहाँ पूर्वार्ध में स्थित 'रामाः' तथा 'विभूतयः' पुरुपनिष्ठ शृङ्गार के विभाव हैं। उत्तरार्ध में स्थित 'अस्थिरता' (लौल्यम्) शान्त रस का विभाव है। ये दोनों रस परस्पर विरुद्ध हैं तथापि यहाँ ('प्रतिकूलविभावादिग्रह' रूप) रस दोष नहीं; क्योंकि पूर्वार्ध को बाध्य रूप में कहा गया है। इसी से यहाँ शृङ्गार के विभाव का कथन गुण हो गया है; क्योंकि बाध्य रूप से उक्त विरुद्ध-रस (शृङ्गार) का विभाव शान्त रस का पोषण कर रहा है—'जीवन रहते, उसकी सुविधा के हेतु हो रमणी आदि उपादेय हैं और जीवन क्षण-भङ्गुर है तो उनका क्या प्रयोजन'? अब शङ्का यह होती है कि पूर्वार्धगत शृङ्गार के विभाव का बाध हो जाने पर भी उत्तरार्धगत 'मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग' रूप अनुभाव के द्वारा जो स्त्रीनिष्ठ शृङ्गार की प्रतीति हो रही है, उससे यहाँ दोष है ही। आचार्य मम्मट ने 'जीविताद्—प्रतिपत्तेः' में इसका उत्तर दिया है। भाव यह है कि यहाँ अपाङ्गभङ्ग (कटाक्ष) का रति के अनुभाव के रूप में ग्रहण नहीं किया गया अपितु क्षणभङ्गुरता के उपमान के रूप में ग्रहण किया गया है, कटाक्ष के समान जीवन भी क्षणिक है—यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति के द्वारा यह शान्त रस का पोषक हो जाता है। किञ्च शृङ्गाररस की यहाँ प्रतीति ही नहीं होती; क्योंकि किसी रस की प्रतीति वहाँ होती है जहाँ उसके विभाव, अनुभाव आदि का रस की प्रतीति कराने योग्य वर्णन किया जाता है। यहाँ तो विभाव का बाध्य रूप में वर्णन है तथा कटाक्ष आदि का भी शृङ्गार के अनुभावरूप में वर्णन नहीं। जब शृङ्गार की यहाँ प्रतीति ही नहीं होती तो शान्त और शृङ्गार रसों का विरोध भी नहीं बन सकता।

सारांश यह है कि (१) "सत्यं" इत्यादि के पूर्वार्द्ध में शान्त रस के विरोधी शृङ्गार रस के विभाव का बाध्य रूप में वर्णन है अतः वह दोष नहीं अपितु गुण है। (२) उत्तरार्द्ध में कटाक्ष का क्षणभङ्गुरता के उपमान रूप में वर्णन है, शृङ्गार के अनुभाव रूप में नहीं। इस प्रकार यहाँ विरुद्ध रस का अनुभाव ही नहीं है अतः प्रतिकूल विभावादिग्रह दोष की शङ्का ही नहीं हो सकती। (३) शान्त और शृङ्गार में रस-विरोध भी यहाँ नहीं है; क्योंकि शृङ्गार की यहाँ प्रतीति ही नहीं होती।

ध्वनिकार की मान्यता को भावतः प्रस्तुत करते हुए आचार्य मम्मट ('न तु—तथाभावात् में) ने उसकी समालोचना की है। टीकाकारों के अनुसार ध्वनिकार के विवेचन का सारांश यह है कि—'यहाँ शृङ्गार के अङ्ग विभाव आदि के होने से शृङ्गार की प्रतीति तो होती, परन्तु वह दोष नहीं; क्योंकि (क) उसके द्वारा चीनी में पगी कटु औषधि की रीति से (गुडजिह्विकया) शिष्यों को अभिमुख करके शान्त

[रसविरोधपरिहारोपायाः]

(८५) आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥६४॥

रस में प्रवृत्त कराया जाता है अथवा (ख) काव्य शोभा के लिये ही उसका समावेश किया गया है।' इसके विपरीत आचार्य मम्मट का कथन यह है कि यहां पर शृङ्गार-रस की प्रतीति ही नहीं होती और यदि यह भी मान लिया जाय कि यहां शृङ्गार की प्रतीति होती है तो भी ध्वनिकारोक्त समाधान अयुक्त ही है; क्योंकि (क) शृङ्गार तथा शान्त रस की अव्यवधान से स्थिति नहीं हुआ करती, दोनों का (नैरन्तर्येण) विरोध है (द्र०, आगे सूत्र ८५) यदि शृङ्गार की प्रतीति होगी तो शान्त रस का उद्बोध हो ही नहीं सकता फिर शृङ्गार रस शान्त में शिष्य-प्रवृत्ति कराने के लिये कैसे होगा ? (ख) काव्य शोभा-वर्द्धन के लिये भी शृङ्गार की अपेक्षा नहीं; क्योंकि शान्त रस से अथवा अनुप्रास अलङ्कार (अङ्गनापाङ्गभङ्ग) से भी काव्य-सौन्दर्य निष्पन्न हो जाता है।

टिप्पणी—इस विषय में ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य की मान्यता इस प्रकार है—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा। तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति॥ शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गाणां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति, यावद् विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। किन्तु शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च 'सत्यं मनोरमा' इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः। (ध्वन्यालोक ३·३०)

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'विनेयानुन्मुखीकर्तुं' की प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार पुष्टि की है—

'अत्र मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गस्य शृङ्गारं प्रति सम्भाव्यमानविभावानुभावत्वेनाङ्गस्य लोलतायाम् उपमानतोक्तेति प्रियतमापटाक्षो हि सर्वस्याभिलषणीय इति च तत्प्रतीत्या प्रवृत्तिमान् मुखजिह्विकया प्रशस्तानुप्रमस्तवस्तुसारस्वसंवेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यति विनेयः।'

ध्वनिकार ने यहां शान्त और शृङ्गार के विरोध की शङ्का करके उसका जो समाधान किया है वह काव्यप्रकाशकार को अभिमत नहीं है।

अनुवाद—(रसविरोध के परिहार का उपाय)—जो रस आश्रय (आधार तथा आलम्बन) के एक होने के कारण विरुद्ध (प्रतीत) होता हो उसको पृथक् आश्रय में संनिवेश कर देना चाहिए तथा जो रस अव्यवधान के कारण विरुद्ध (प्रतीत) होता हो उसे किसी अन्य रस से व्यवहित कर देना चाहिए। (८५)

वीर-भयानकयोरैकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः। शान्तशृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम्। यथा—नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्'—इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः।

वीर और भयानक का आश्रयैक्य में विरोध है, इसलिए (नायक आदि के) प्रतिपक्षि रूप आश्रय में भयानक का संनिवेश कर देना चाहिए। शान्त और शृङ्गार का अव्यवहित रूप से रहने में विरोध है, इसलिए इनके बीच में अन्य किसी रस का वर्णन करना चाहिए; जैसे—नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन विषयक शान्त रस का—अहो गीतम् अहो वादित्रम्' इस अद्भुत के द्वारा व्यवधान करके मलयवती (नायिका) विषयक शृङ्गार का वर्णन किया गया है।

प्रभा—यहाँ रस-विरोध परिहार का उपाय बतलाया गया है। इस प्रकरण में 'रस' शब्द का अभिप्राय स्थायी भाव है। यह रस-विरोध दो प्रकार का होता है–१. दैशिक, २. कालिक। १. दैशिक विरोध भी दो प्रकार का होता है–आलम्बन ऐक्य में विरोध तथा आश्रय-ऐक्य में विरोध। जिस निमित्त से रति आदि भावों की उत्पत्ति होती है, वह आलम्बन (विभाव) है और जिसमें किसी भाव की उत्पत्ति होती है, वह आश्रय कहलाता है। जब एक ही आश्रय में अथवा एक ही आलम्बन-विषयक दो रस नहीं हो सकते तो उनका आश्रयैक्यनिमित्तक विरोध होता है; जैसे वीर और भयानक में। जिस निमित्त से भयानक की उत्पत्ति होती है उससे उसी समय वीर भाव की उत्पत्ति नहीं होती (आलम्बनैक्यविरोध)। इसी प्रकार जिस आश्रय में वीर भाव जागृत होता है उसमें उसी समय भय का उद्भव नहीं होता (आश्रयैक्य विरोध)। इस विरोध-परिहार के लिये जिस नायक आदि में वीर का वर्णन किया जा रहा है उसके प्रतिपक्षी में भयानक का वर्णन करना चाहिये। इससे नायकगत वीररस का परिपोष भी होगा। २. कालिक—जो रस एक साथ बिना किसी व्यवधान के नही रह सकते उनका नैरन्तर्यनिमित्तक विरोध होता है; जैसे शान्त और शृङ्गार का। एक ही व्यक्ति के निमित्त से एक ही काल में शान्त और शृङ्गार के भाव का उदय नही होता। उनके विरोध-परिहार के लिये दोनों के बीच में किसी अन्य-रस का वर्णन करना चाहिये, जैसा कि नागानन्द के उदाहरण से स्पष्ट है।

टिप्पणी—(i) ध्वनिकार ने इस रस-विरोध-परिहार का निम्न प्रकार निरूपण किया है (३·२५,२६) विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्। स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता॥ एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्। रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो सुमेधसा॥

(ii) रस-विरोध का विशद विवेचन साहित्यदर्पण (७·३०-३१) में किया गया है। रसों का विरोध तीन प्रकार का है—१: आलम्बनैक्य-विरोध, २ आश्रयैक्य-विरोध, ३. नैरन्तर्य-विरोध। उदाहरणार्थ १. (क) वीर और शृङ्गार का, (ख) सम्भोग

न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तरव्यवधिना विरोधो निवर्तते।
यथा—

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः॥३३३॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः॥३३४॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन्॥३३५॥
अत्र बीभत्स-शृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः।

शृङ्गार का हास्य, रौद्र और बीभत्स के साथ, (ग) विप्रलम्भ का वीर; करुण, रौद्र आदि के साथ—आलम्बनैक्य-विरोध है। २. वीर और भयानक का आश्रयैक्य-विरोध है तथा आलम्बनैक्य विरोध भी है। इसी प्रकार शान्त और शृङ्गार का नैरन्तर्य विरोध है तथा आलम्बनैक्य-विरोध भी है।

किन्हीं रसों में उक्त तीनों प्रकार का ही विरोध नहीं होता; जैसे—(क) वीर का अद्भुत तथा रौद्र के साथ, (ख) शृङ्गार का अद्भुत के साथ, (ग) भयानक का बीभत्स के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं। इन रसों की परस्पर मैत्री कही जा सकती है।

अनुवाद—[केवल प्रबन्ध (काव्य) में ही नहीं अपि तु एक वाक्य (मुक्तक काव्य) में भी अन्य रस के व्यवधान (बीच में समावेश) से रसों का विरोध दूर हो जाता है जैसे—[ये पद्य ध्वन्यालोक ३·२७ में उद्धृत किये गये हैं]।

'तब (स्वर्ग प्राप्ति के पश्चात्) विमान के पर्यङ्क पर बैठे हुये उन वीरों ने—जिनके वक्षःस्थल नवीन पारिजात-माला के पराग से सुरभित थे, जिनकी भुजाओं के मध्य भाग देवाङ्गनाओं से आलिङ्गित थे तथा जिन्हें चन्दन-रस से सिक्त तथा सुरभित कल्प-लता के दुकूल (वस्त्र) से हवा की जा रही थी—ललनाओं अप्सराओं द्वारा अङ्गुली से दिखलाये जाते हुए (रणभूमि में) पड़े हुए उन शरीरों को आश्चर्य से देखा, जो भूमि की धूल से सने (दिग्धान् व्याप्तान्) थे, शृगालियों से आलिङ्गित थे तथा मांसभक्षी पक्षियों के रक्त-सने पंखों द्वारा जिनको हवा की जा रही थी' ॥३३३॥३३४॥३३५॥

यहाँ बीभत्स और शृङ्गार के मध्य में वीर रस का सन्निवेश किया गया है।

प्रभा—'भूरेणु' इत्यादि में क्रमशः एक (अर्थ) [illegible] का विशेषण है तथा दूसरा (पद्य) 'वीराः' का विशेषण है। 'भूरेणु[illegible] [illegible] [illegible] युद्ध-भूमि पतित देह के विशेषणों से बीभत्स [illegible] [illegible] होती है [illegible] [illegible] अङ्ग' इत्यादि [illegible] दोनों वीर के विशेषण [illegible] [illegible] प्रतीति [illegible] ही उत्साहादि

(८६) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥६५॥
अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥३३६॥

की प्रतीति से वीर रस की भी अभिव्यक्ति होती है; क्योंकि भूरेणुदिग्धता तथा पारिजातमाला धारण—ये दोनों दशाएँ रणोत्साहमूलक ही तो हैं। इस प्रकार पहले बीभत्स, फिर वीर, तब शृङ्गार और फिर वीर रस की प्रतीति होती है तथा बीभत्स और शृङ्गार के मध्य में व्यवधान हो जाता है जिससे नैरन्तर्यनिमित्तक रस-विरोध नहीं होता।

यहाँ वीर रस का आलम्बन प्रतिपक्षी योद्धा हैं तथा शृङ्गार का आलम्बन देवाङ्गनाएँ अतएव आलम्बनैक्यनिमित्तक विरोध भी नहीं है।

टिप्पणी—यहाँ आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस उक्ति (३·२७) का अनुसरण किया है–

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयोर्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद् भ्रान्तिः। यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते। यथा 'भूरेणु' इत्यादौ। अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी।

रस-विरोध के अपवाद—

अनुवाद—(क) जिस विरोध रस का (प्रधान) रस के साथ स्मरण किया जाता है अथवा (ख) जो विरोधी रस (प्रधान रस के साथ) साम्य भाव से विवक्षित होता है वह दोष-युक्त नहीं होता तथा (ग) जो दो विरोधी रस (यो) प्रधान रस (अङ्गी) के अङ्गभाव को प्राप्त हो जाते हैं वे भी परस्पर विरोधी (दुष्ट) नहीं रहते। (८६)

प्रभा—विरुद्ध रसों का इन तीन अवस्थाओं में भी अविरोध हो जाया करता है—प्रधान रस के साथ कोई विरोधी रस (क) स्मर्यमाण (स्मृतिरूप में सन्निविष्ट) हो (ख) साम्यभाव से विवक्षित हो अथवा (ग) विरोधी रस किसी अन्य प्रधान रस के उपकारक हों। जैसा कि अग्रिम उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

ध्वन्यालोक में रस-अविरोध की इन तीनों अवस्थाओं का विभागशः निरूपण नहीं किया गया था तथापि इनका विशद-विवेचन किया गया था। आचार्य मम्मट ने इनका व्यवस्थित रूप में निरूपण किया। जो आगे चल कर अधिक प्रचलित भी हुआ तभी तो साहित्यदर्पण की यह कारिका काव्य-प्रकाश की छाया-सी लगती है—

एतद् भूरिश्रवसः समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ। अत्र पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति।

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥३३७॥

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि तथा जिनस्य। यथा वा परः शृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वद् एतद्दृशो मुनय इति साम्यविवक्षा।

विरोधिनोऽपिस्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा। भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः

अनुवाद—(क) (स्मर्यमाणविरुद्ध) 'अयं' इत्यादि [ऊपर उदाहरण १२७] ॥३३६॥

समरभूमि में भूरिश्रवा के (कट कर) पड़े हुए हाथ को देखकर उसकी पत्नी ने यह (वचन) कहा है। यहाँ पूर्व अवस्था (रशनोत्कर्षण आदि) का स्मरण यद्यपि (विरुद्ध रस) शृङ्गार का अङ्ग (अनुभाव) है तथापि वह करुण रस का पोषण करता है।

प्रभा—(१) 'अयं स रशनोत्कर्षी' में करुण रस प्रधान है। यहाँ शृङ्गार के अङ्ग रशनोत्कर्षणादि अनुभाव का स्मरण किया गया है अतः शृङ्गार स्मर्यमाण विरोधी रस है; किन्तु वह करुण रस का उद्दीपक हो जाता है तथा उसका अङ्ग बन जाता है और रस-विरोधी नहीं होता।

(२) आनन्दवर्धनाचार्य ने अङ्गभाव को प्राप्त होने वाले विरोधी रसों का (कारिका ३.२०) विवेचन करते हुए भङ्गि-विशेष से संयोजित शृङ्गार को करुण का अङ्ग बतलाया था। सम्भवतः उसी का वैज्ञानिक विश्लेषण करके आचार्य मम्मट ने 'स्मर्यमाण विरोधी रस का अविरोध' रूप एक व्यापक नियम बना दिया।

अनुवाद—(ख) (साम्येन विवक्षित)—[शीघ्रजात व्याघ्रशिशु को खाने के लिये उद्यत भूखी सिंहनी को स्वशरीर अर्पित करने वाले बुद्ध के प्रति किसी की उक्ति]—हे जिन, (दया के उत्साह या अनुराग से) सघन रोमाञ्चयुक्त आपके शरीर पर रक्तपान की इच्छावाली (पक्ष में अनुरक्त मन वाली) मृगराज वधू अर्थात् सिंहनी (पक्ष में राजवधू) के द्वारा किये गये दन्तक्षत और नखक्षतों को मुनियों ने (हमें यह सौभाग्य प्राप्त हो इस प्रकार) लालसा-युक्त होकर देखा ॥३३७॥

यहाँ पर जिस प्रकार (रतिकाल में) दन्तक्षत (नखक्षत) आदि कामी पुरुष के प्रति चमत्कार जनक होते हैं उसी प्रकार जिन (बुद्ध) के प्रति (सिंही के) दन्तक्षत आदि थे। अथवा जिस प्रकार कोई अन्य शृङ्गारी (कामुक) पुरुष उन (कामुक के दन्तक्षत आदि) को देखकर अभिलाषायुक्त हो जाता है उसी प्रकार इन (बुद्ध शरीरस्थ दन्तक्षत आदि) को देखने वाले मुनिगण लालसायुक्त हो रहे थे। यह साम्य विवक्षा है।

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥३३८॥

अत्र चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते । तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः । यथा—

प्रभा—'दन्तक्षतानि' इत्यादि पद्य साम्यविवक्षा से रसाविरोध का उदाहरण है। यहाँ किन-किन रसों के विरोध की संभावना हो सकती है इस विषय में टीकाकारों के विभिन्न मत है। प्रदीपकार के मतानुसार यहाँ दयावीर तथा शृङ्गार के विरोध की आशंका है। ध्वनिकार की भी इसी में सहमति है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ शान्त और शृङ्गार का भी विरोध सम्भव है। माणिक्यचन्द्र-आदि टीकाकारों का भी यही मत है। किन्तु प्रसङ्ग का पता न चलने के कारण इसका निर्णय करना कठिन है। यहाँ रसों की साम्य-विवक्षा इस प्रकार है—अङ्गों की साम्य विवक्षा से ही अङ्गी रस की साम्य-विवक्षा होती है। इसमें दो पक्ष हैं— १. अनुभाव की या २. विभाव की साम्यविवक्षा से। इसी से वृत्ति में दो प्रकार की व्याख्या की गई है। प्रथम पक्ष में भाव यह होगा कि जैसे कान्ता के नखक्षत आदि को कामुक अत्यन्त प्रेम से धारण करता है इसी प्रकार सिंही के नखक्षत आदि को बुद्ध ने स्वीकार किया। अतः नखक्षतादि-धारण रूप अनुभावों के साम्य से कामुक-निष्ठ तथा बुद्ध-निष्ठ रसों (स्थायीभाव) का साम्य विवक्षित है। द्वितीय पक्ष में भाव यह होगा जिस प्रकार कामुक के शरीर पर ललनाकृत नखक्षत आदि को देखकर अन्य शृङ्गारी जनों को यह अभिलाषा होती है कि हमें भी यह सौभाग्य प्राप्त हो; इसी प्रकार बुद्ध के शरीर पर सिंह के नखक्षत आदि को देखकर मुनिजनों के हृदय में यह अभिलाषा होती है कि हम भी ऐसे ही दयालु हों। अतः नखक्षतादि रूप उद्दीपन विभावों के साम्य से परशृङ्गारीनिष्ठ तथा मुनिनिष्ठ रसो का साम्य विवक्षित है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार तथा दयावीर रसों की साम्यविवक्षा है। शृङ्गार रस उपमान रूप से दयावीर का अङ्ग हो जाता है तथा रसविरोध नहीं होता।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट की इस मान्यता का आधार ध्वन्यालोक की यह उक्ति है—उत्कर्षसाम्येऽपि तयोः विरोधासम्भवात् यथा-एकतो रोदिति' इत्यादि (३·२४)।

अनुवाद—(ग-१ अङ्गिनि अङ्गत्व-प्राप्ति) [किसी राजा के प्रति कवि की उक्ति] 'हे राजन् इस समय आपके शत्रुओं की नारियां क्षत-विक्षत कोमल अङ्गुलियों से बहते हुए, रुधिर से सने अतएव मानो अलक्तक लगे चरणों से दर्भ-युक्त भूमि को लांघती हुई; गिरते हुए अश्रु-जल से मुख धोती हुई, डरकर पतियों के हाथ में अपना हाथ पकड़ाती हुई—मानों फिर से विवाह के लिए उद्यत सी दावानल के चारों ओर घूम रही हैं' ॥३३८॥

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥३३६॥

इत्यत्र एहीति क्रीडन्ति, गच्छेति क्रीडन्तीति क्रीडनापेक्षयोरागमनगमनयोर्न विरोधः।

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽंशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥३४०॥

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम्, तस्य तु शृङ्गारः, तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गतैव। अथवा प्राक् यथा कामुक आचरति स्म तथा शराग्निरिति शृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते। उक्तं हि—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते" ॥ इति ॥

यहाँ चाटुकार में राजविषयक रति-भाव (प्रधान रूप से) प्रतीत होता है। उस (रति-भाव) में करुण के समान शृङ्गार भी अङ्ग हो गया है इस हेतु उन (करुण तथा शृङ्गार) दोनों का विरोध नहीं है। जैसे—'आओ, जाओ, गिरो, उठो, बोलो, मौन धारण करो' इस प्रकार धनिक लोग आशारूपी ग्रह से ग्रस्त याचकों से (अर्थिभिः) क्रीडा करते हैं' ॥३३६॥

यहाँ पर—'आओ' यह कहकर क्रीडा करते हैं, 'जाओ' यह कहकर क्रीडा (मनोविनोद) करते हैं—इस प्रकार (विरुद्ध भी) आगमन और गमन दोनों में (क्रीडा के अङ्ग होने से) विरोध नहीं है।

(ग–२) वह (त्रिपुरदहनकालिक) शिव के बाणों की अग्नि तुम्हारे पापों को भस्म करे; जो (अग्नि) अश्रुपूर्ण नेत्रकमल वाली त्रिपुर-युवतियों के द्वारा तत्काल अपराध करने वाले कामी (नायक) के समान हाथ छूने पर झटक दिया गया (क्षिप्तः), बलात् आँचल पकड़ता हुआ भी ताड़ित किया गया, केशों को पकड़ता हुआ हटाया गया, चरणों पर पड़ा हुआ सम्भ्रम (भय तथा आदर) से नहीं देखा गया तथा आलिङ्गन करता हुआ दुत्कारा गया' ॥३४०॥

यहाँ पर त्रिपुर-शत्रु (शिव) के अतिशय-प्रभाव (जो शिवविषयक रति का उद्दीपन विभाव है) का करुणरस (वस्तुतः त्रिपुरयुवतियों की व्याकुलता रूप करुण का उद्दीपन विभाव) अङ्ग है तथा करुण का शृङ्गार (वस्तुतः करग्रहण आदि शृङ्गार के अनुभाव) अङ्ग है; तथापि करुण में चमत्कार (पर्यवसान) का पर्यवसान नहीं है इसलिये करुण भी (शिवविषयक रति) का अङ्ग है। अथवा जिस प्रकार पहले प्रणयी (करग्रहण आदि) आचरण करता था उसी प्रकार बाणाग्नि ने किया' इस प्रकार

शृङ्गार से पोषित करुण के द्वारा मुख्य-अर्थ (शिवविषयक रति भाव) ही प्रकर्ष को प्राप्त होता है। क्योंकि कहा गया है—"गुण (अङ्ग, विशेषण या उपकारक) अन्य (स्वकीय अङ्ग) के द्वारा अपना संस्कार करके परिपुष्ट होकर) प्रधान को प्राप्त होता है, क्योंकि उसी प्रकार वह प्रधान के महान् उपकार में समर्थ होता है।"

प्रभा—(ग–१) रसाविरोध का तृतीय प्रकार एक अङ्गी रस के प्रति विरुद्ध रसों का अङ्गरूप हो जाना है (अङ्गिनि अङ्गत्वम्)। यह दो प्रकार से होता है—१. दोनों विरुद्ध रस (सेनापतिद्वयवत्) साक्षात् प्रधान रस के अङ्ग हो जाते हैं, अथवा २. एक रस दूसरे का अङ्ग होकर तब (सेनापतितद्भृत्यवत्) प्रधान रस का अङ्ग होता है। 'क्रामन्त्यः' इत्यादि प्रथम प्रकार का उदाहरण है। यहाँ राजविषयक रतिभाव प्रधान है। शोच्यावस्था से करुण एवं विवाहावस्था से शृङ्गार रस प्रकट होता है। स्वभाव से विरोधी भी ये दोनों राजकार्य में प्रवृत्त दो सेनापतियों के समान नृपविषयक रतिभाव (प्रधानभूत) के अङ्ग हो जाते हैं, तथा जिस प्रकार एक ही क्रीडा का अङ्ग होने के कारण स्वभावतः विरुद्ध गमन, आगमन आदि में आपस में कोई विरोध नहीं होता, इसी प्रकार राजविषयक रतिभाव का पोषण करने के कारण करुण तथा शृङ्गार में भी कोई विरोध नहीं होता।

(ग–२) 'क्षिप्तः' इत्यादि में शिवविषयक रतिभाव प्रधान है। दो विरुद्ध रस करुण तथा शृङ्गार अङ्गाङ्गिभाव से इसके इसी प्रकार अङ्ग (उपकारक) हैं ? जिस प्रकार कोई सेनापति अपने भृत्यों सहित राजकार्य में प्रवृत्त हो जाता है। अतः यहाँ रसविरोध नहीं है। भाव यह है कि शिवविषयक रतिभाव (प्रधान) का करुण साक्षात् उपकारक है तथा शृङ्गार रस प्रथमतः करुण का पोषण करता है ततः परम्परया प्रधान (रतिभाव) का उपकारक होता है।

अङ्गाङ्गिभाव से प्रधान का अङ्ग होने की दो रीतियाँ हो सकती हैं—एक तो प्रथमतः करुणरस शिवविषयक रतिभाव का विशेषण हो जाय तब करुण में शृङ्गार विशेषण (अङ्ग) हो (विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरम्)। दूसरी—प्रथमतः करुण शृङ्गारविशिष्ट हो जाय और तब वह शिवविषयक रतिभाव का विशेषण हो (विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम्)। इस द्वितीय रीति का अनुग्राहक ही 'गुण०' इत्यादि न्याय है।

सम्भवतः इन्हीं दो रीतियों के विचार से काव्य-प्रकाशवृत्ति में 'अथवा' कह कर दो व्याख्यान किये गये हैं। महेश्वर भट्टाचार्य आदि टीकाकारों का यही निश्चित मत है। वस्तुतः तो इस पद्य के विषय में ध्वनिकार के द्विविध समाधान के आधार पर ही आचार्य मम्मट ने यह द्विविध समाधान किया है, जिसके विषय में विशेष विचार की आवश्यकता है।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट की 'अङ्गिनि-अङ्गत्व प्राप्ति' रूप तृतीय

प्राक्प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते ।

इति काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः ॥७॥

रसाविरोध की मान्यता का आधार ध्वनिकार की ये उक्तियाँ हैं :—

'इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं, तस्यामपि न दोषः । यथोक्तं 'क्षिप्तो-हस्तावलग्नः' इत्यादौ ।'

'तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम् । तस्माद् यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः । इत्थं च 'क्रामन्त्यः' इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम् (ध्वन्यालोक ३·२०) ।

इससे दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं । एक तो यह ध्वनिकार ने 'क्षिप्तः' इत्यादि में द्विविध समाधान (अनेनापि प्रकारेण) प्रस्तुत किये थे । दूसरी यह कि उनके प्रतिपादन में मम्मटोक्त तृतीय रसाविरोध के अवान्तर भेद नहीं हो पाये हैं ।

(ii) बालबोधिनीकार के मतानुसार 'अथवा प्राक्' इत्यादि कथन पूर्वोक्त कथन का हेतु ही है, पृथक् नहीं । सरस्वती तीर्थ की टीका में भी कहा गया है—'तत्र कारणे विधान्तरभावे हेतुमाह अथवेति ।'

(iii) यहाँ शिवविषयक रतिभाव के अङ्गभूत करुण का अङ्ग होकर भी शृङ्गार किस प्रकार प्रधान का उपकारक हो सकता है—यह बात स्पष्ट करने के लिये 'गुणः कृतात्मसंस्कारः' इत्यादि न्याय उद्धृत किया गया है । यद्यपि मीमांसोक्त 'गुणानां च परार्थत्वात्' न्याय के अनुसार दो अङ्गों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से सम्बन्ध नहीं हो सकता तथापि 'गुणः कृता०' इत्यादि न्याय उस सामान्य नियम का अपवाद है; अतः यहाँ करुण और शृङ्गार का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने में कोई बाधा नहीं ।

(iv) साहित्यदर्पणकार के मतानुसार तो यहाँ साम्यविवक्षा के द्वारा आक्षिप्त शृङ्गार रस करुण का अङ्ग होता है—अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवतः त्रिपुरध्वंसं प्रत्युत्साहस्यानभिव्यक्तया करुणोऽभिव्यक्तो भावमात्रस्य करुणोऽङ्गम् । तस्य च कामीवेति साम्यबलादायातः शृङ्गारः ।

(साहित्यदर्पण—७·१०)

अनुवाद—पूर्व (चतुर्थ उल्लास में) प्रतिपादित (वेद्यान्तर-सम्पर्क शून्य) रस का अन्य रस के साथ न विरोध ही सम्भव है और न अङ्गाङ्गिभाव ही । इसलिए यहाँ (रस विरोध प्रकरण में) रस शब्द से स्थायी भाव (रस्यते आस्वाद्यते इति रसः स्थायिभावः) उपलक्षित होता है ।

प्रश्न—ऊपर (चतुर्थ उल्लास में) यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि रस वेद्यान्तरसम्पर्क शून्य है; अर्थात् किसी रस की अनुभूति के समय उससे भिन्न किसी

की प्रतीति नहीं होती। फलतः एक साथ दो रसों की प्रतीति नही हो सकती। फिर दो रसों का विरोध या अङ्गाङ्गिभाव कैसे बन सकता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि इस प्रकरण में 'रस' शब्द का अर्थ है—स्थायीभाव। 'रस्यते इति रसः' जिसका आस्वादन किया जाता है, वह रस है; इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्थायी भाव को भी रस कहा जा सकता है। स्थायी भावो का ही परस्पर विरोध या अङ्गाङ्गिभाव होता है।

टिप्पणी—रसों के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव के विषय में दो मत हैं जिनका ध्वनिकार ने स्पष्ट निर्देश किया है—'एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी भवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद् रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव।' (ध्वन्यालोक ३·२४)

ये दोनों मत आचार्य भरत के निम्न श्लोक की द्विविध व्याख्या के आधार पर माने गये हैं—बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु। स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः॥ (नाट्यशास्त्र ७ ११९)

प्रथम मत के अनुसार यहाँ रसः स्थायी' पाठ है तथा यह अर्थ है—'चित्त-वृत्ति रूप अनेक भावों में से जिसका रूप बहु अर्थात् अधिक प्रवन्ध-व्यापक होता है वह स्थायी (अङ्गी) रस है शेष सञ्चारी अथवा अङ्ग हैं। भरतमुनि ने आगे भी कहा है—रसान्तरेष्वपि रसाः भवन्ति व्यभिचारिण.। तथाहि हासः शृङ्गारे रतिः शान्ते च दृश्यते॥ क्रोधो वीरे भयं शोके जुगुप्सा च भयानके। उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणः॥

द्वितीय मत के अनुसार 'रसस्थायी' यह एक पद है तथा श्लोक का यह अर्थ है—चित्तवृत्ति रूप अनेक भावो में से जिसका व्यापक रूप प्राप्त होता है वह स्थायी-भाव है शेप सब व्यभिचारी भाव होते हैं अतः एक रस के स्थायीभाव अन्य रस में व्यभिचारी भाव हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रथम मत मे साक्षात् रसों का तथा द्वितीय मत में स्थायीभावों का अङ्गाङ्गिभाव हो सकता है। आचार्य मम्मट ने द्वितीय मत को ही मान्यता दी है क्योंकि 'विगलितवेद्यान्तर ब्रह्मानन्दसहोदर' जो रस सहृदयों के हृदय में विराजमान रहता है उसमें विरोध या अङ्गाङ्गिभाव कैसा ?

इस प्रकार काव्यप्रकाश में दोषदर्शन नामक सप्तम उल्लास समाप्त होता है।

इति सप्तम उल्लासः

———

अथ अष्टम उल्लासः

[गुणालङ्कारभेदनियतगुणनिर्णयात्मकः]

एवं दोषानुक्त्वा गुणालङ्कारविवेकमाह—

(८७) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥६६॥

अथ क्रमानुसार काव्यलक्षण में स्थित 'सगुणौ' पद की व्याख्या के लिये गुणों का विवेचन किया जा रहा है। साथ ही गुणों के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये गुण और अलङ्कारों का भेद भी दिखलाया जा रहा है।

गुण तथा अलङ्कारों का भेद—

अनुवाद—इस प्रकार (सप्तम उल्लास में) दोषों का निरूपण करके (क्रम प्राप्त) गुण और अलङ्कारों का भेद-विवेचन करते हैं—

[शौर्यादय इव आत्मनः ये अङ्गिनः रसस्य धर्माः अचलस्थितयः च ते उत्कर्षहेतवः गुणाः स्युः]—'जिस प्रकार शूरता इत्यादि आत्मा के धर्म हैं, इसी प्रकार जो काव्य में प्रधानतया (आत्मवत्) स्थित रस के धर्म हैं, तथा (रस के साथ) नियत स्थिति वाले हैं; ऐसे रसोत्कर्ष के हेतु (धर्म) गुण कहलाते हैं। (८७)

प्रभा—'ये रसस्य' इत्यादि कारिका में गुण का स्वरूप-निरूपण करते हुए, उसका अलङ्कार से वैधर्म्य दिखलाया जा रहा है। यहाँ 'उत्कर्षहेतवः गुणाः' इस पद से गुण का स्वरूप-निर्देश किया गया है। गुण रस के उत्कर्षाधायक हैं अर्थात् चित्त-द्रुति आदि कार्यविशेष के उत्पादक हैं। यह विशेषण गुण स्वरूप को शब्दार्थ तथा दोष आदि से पृथक् कर देता है। किन्तु रस के उत्कर्षहेतु अर्थात् उपकारक तो अल-ङ्कार भी हैं, अतः अलङ्कारों से वैधर्म्य-प्रदर्शन के लिए दो विशेषण दिए गए हैं, (१) अङ्गिनः रसस्य धर्माः, (२) अचलस्थितयः। इस प्रकार का अलङ्कारभेदक लक्षण हो जाता है—जो उत्कर्षहेतवः गुणाः स्युः ये अङ्गिनः रसस्य धर्माः अचलस्थितयः च।

(१) भाव यह है कि शरीर में आत्मा के समान काव्य में प्रधानतया स्थित अर्थात् अङ्गी (Principal factor) रस है। जिस प्रकार शौर्य आदि आत्मा के धर्म (Properties) हैं, अचेतन शरीर के नहीं, इसी प्रकार गुण भी रस के धर्म हैं (काव्य के शरीरभूत) शब्दार्थ के धर्म नहीं। अतएव शब्दार्थगुणक के धर्मरूप अलङ्कारों से गुण सर्वथा ही भिन्न हैं। इस प्रकार 'ये रसोत्कर्षक गुण हैं—जो रस के धर्म हैं, यह गुण का भेदक लक्षण हो जाता है।

(२) 'अचलस्थितयः' (अचला स्थितिः येषां ते तथाभूताः) यह दूसरा विशेषण है। जिसका अभिप्राय है कि रस के साथ उन (गुणों) की स्थिति 'अचला'—अर्थात् निश्चित या अव्यभिचारी रूप से है। इस नियतस्थिति के दो तात्पर्य है—एक तो यह है कि गुण रस के बिना नहीं पाये जाते; दूसरा यह है कि रस के साथ स्थित होकर वे रस के उपकारक अवश्य होते हैं। इस प्रकार 'अचलस्थितयः विशेषण के द्वारा गुण के दो अलङ्कार-भेदक लक्षण प्रकट हो जाते हैं ऐसे रस के उपकारक गुण कहलाते हैं (i) जो नियम से रस के साथ ही रहते हैं अथवा (ii) जो विद्यमान होते हुए रस का अवश्य ही उपकार करते हैं। अलङ्कार न तो नियम से रस के साथ ही रहते हैं, न नियम से रसोपकारक ही हैं, अतः अलङ्कारों से पृथक् गुणों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार टीकाकारों का मत है कि कारिका में दो विशेषणों के द्वारा अलङ्कार भेदक लक्षणत्रय का निर्देश किया गया है रसोत्कर्ष के हेतु होकर (क) रस-धर्म होना (रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वम्), (ख) नियम से रस के ही साथ रहना, रस के बिना नहीं (रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्), (ग) विद्यमान होकर रस का अवश्य उपकार करना (अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वम्)।

वस्तुतः तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वरूप-निर्देशक तथा अलङ्कार आदि का व्यावर्तक यहाँ एक ही लक्षण है। माधुर्यादि गुण रस के धर्म कैसे हैं? (कथमिमे रसधर्माः ?) इस आकाङ्क्षा में ही 'अचलस्थितयः' यह (हेतुगर्भ) विशेषण दिया गया है। जिसका अर्थ है—अव्यभिचरित रूप से अर्थात् नियत रूप से रस के साथ रहने वाले। जो किसी के साथ नियमित रूप से रहता है (अव्यभिचरित सहचारी है) वह उसका धर्म होता है जैसे धूम अग्नि के साथ ही नियत रूप से रहता है अतः वह अग्नि का धर्म है। इसी प्रकार गुण भी रस के ही धर्म हैं, क्योंकि रस के होने पर ही गुण होते हैं और यदि वे होते हैं तो रस का अवश्य उपकार करते हैं अतः अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि गुण रस के ही धर्म हैं। इस प्रकार यह सूत्रार्थ है—'ऐसे रसोत्कर्षक धर्म गुण कहलाते हैं जो आत्मा के शूरता इत्यादि धर्मों के समान नियत-स्थिति वाले होकर रस के धर्म हैं।

टिप्पणी—(i) काव्य-विवेचना के प्रारम्भिक काल से ही काव्य-गुणों का उल्लेख होता रहा है। भरतमुनि ने 'माधुर्य' तथा 'औदार्य' आदि (शब्दानुदारमधुरान् १७·१२१) का उल्लेख किया है तथा 'ओज' का स्वरूप भी बतलाया है। प्रथम अलङ्कारवादी आचार्य भामह के पश्चात् तो गुणों के स्वरूप तथा संख्यादि विवेचन का युग ही आरम्भ हो गया था; किन्तु उस समय गुण तथा अलङ्कारों का स्वरूप-विवेक नहीं हो पाया था। आचार्य दण्डी के गुण-निरूपण में भी गुण तथा अलङ्कार का भेद स्पष्ट नहीं हुआ था। सर्वप्रथम रीतिवादी आचार्य वामन ने गुण तथा अलङ्कारों का भेद स्पष्ट करने का प्रयास किया। तदनन्तर ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण के स्वरूप का सूक्ष्म-विवेचन किया तथा यह बतलाया कि माधुर्यादि 'गुण' शब्दार्थ

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् । क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेः, अमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि, रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति । अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः । यथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते ।

अथवा शब्द-विन्यास आदि के धर्म नहीं अपितु काव्य की आत्मा अर्थात् रस के धर्म हैं—'ये समर्थं रसाविलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्' (ध्वन्यालोक २·६) । उन्होंने गुण तथा अलङ्कार के भेद का भी स्पष्टीकरण किया । आचार्य मम्मट ने उनका ही अनुसरण किया है । साथ ही अलङ्कारवादी तथा रीतिवादी आचार्यों के समान गुणों का विभागनिर्देशपूर्वक स्वरूपलक्षण व विवेचन किया है ।

(ii) आचार्य दण्डी ने गुण तथा अलङ्कारों का स्पष्टतः विवेक नहीं किया था । इसी से आचार्य वामन ने उनके मत का खण्डन करते हुए उनका भेद प्रदर्शित किया था''''दण्डिमतं खण्डयितुं गुणालङ्कारभेदं दर्शयिष्यन् सौष्ठवं प्रतिष्ठापयति ।' (काव्यालङ्कारसूत्र, कामधेनु व्याख्या ३.१.१)

अनुवाद—जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के ही हैं शरीर के नहीं, इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही हैं, वर्णों के नहीं । कहीं कहीं तो शौर्य आदि गुणों के योग्य शरीर की विशालता आदि देखने के कारण—'इसका आकार ही शूर है' इत्यादि (किसी का औपचारिक) व्यवहार देखकर जिस प्रकार अपरिपक्व (अधूर) प्रतीति वाले (अविश्रान्तप्रतीतयः) लोग अन्य किसी शौर्यहीन व्यक्ति में भी विशाल शरीरमात्र के कारण 'यह शूर है' ऐसा व्यवहार करने लगते हैं और कहीं शूर व्यक्ति में भी केवल शरीर की लघुता से ही 'यह शौर्य-हीन है' ऐसा व्यवहार करने लगते हैं । उसी प्रकार मधुर रस शृङ्गार आदि के व्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णों के विषय में 'ये मधुर वर्ण हैं' (रसज्ञों का औपचारिक) व्यवहार होने से रस पर्यन्त पहुँचने वाली प्रतीति से हीन (अल्प) जन अमधुर (वीर) आदि रस के व्यञ्जकत्व से प्रयुक्त (अङ्ग) वर्णों की सुकुमारतामात्र के कारण 'इनमें माधुर्य है' ऐसा व्यवहार करने लगते हैं तथा मधुररस (शृङ्गार) आदि के व्यञ्जकत्व से प्रयुक्त (उपकरण) उन (वर्णों) की असुकुमारता के कारण अमधुरता (ये अमधुर हैं) इत्यादि व्यवहार करने लगते हैं । अतएव (माधुर्य आदि गुणों को रस के साथ स्थित होने के कारण) माधुर्य आदि रस के धर्म हैं जो समुचित वर्णों द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं, केवल वर्ण ही उनके आश्रय नहीं हैं । जिस प्रकार इन (वर्णों) की व्यञ्जकता है वह उदाहरण द्वारा बताई जायेगी ।

(८८) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥६७॥

ये वाचक-वाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः । यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।

प्रभा—भाव यह है कि वस्तुतः माधुर्य आदि रस के ही गुण हैं, शब्द के नहीं । 'मधुराः वर्णाः' इत्यादि लोकव्यवहार तो भ्रान्तिजन्य है । इस भ्रान्ति का कारण यह है कि रसज्ञ विद्वान् जन शृङ्गार आदि मधुर रस के व्यञ्जक कोमल वर्णों के विषय में ऐसा औपचारिक व्यवहार करते देखे जाते हैं कि 'ये वर्ण ही मधुर हैं !'. उनके व्यवहार की औपचारिकता (गौणता) को न समझने वाले अरसज्ञ लोग सुकुमार वर्णों को ही माधुर्य आदि गुण का आधार मान बैठते हैं तथा रस-माधुर्य आदि के बिना ही 'मधुराः वर्णाः' इत्यादि व्यवहार करने लगते है । यही बात 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादि लौकिक दृष्टान्त से सिद्ध होती है । अतएव माधुर्य आदि गुण नियत रूप से रस के साथ रहते हैं एवं रस के धर्म है तथा वर्ण तो माधुर्य आदि के व्यञ्जक मात्र हैं ।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट की उपर्युक्त मान्यता का आधार आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त की गुण-विषयक विवेचनाएँ है—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ (ध्वन्यालोक २·१)

एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः । तन्मधुरादि व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितम् । मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि तल्लक्षणम् (लोचन उद्योत ३)

(ii) अविश्रान्तप्रतीतयः—विश्रान्ता विषयादन्यत्र अप्रसारिणी=ठीक अर्थ मे विश्राम करने वाली । तदन्या अविश्रान्ता प्रतीतिः येषां ते; अर्थात् जिनका ज्ञान या विश्वास ठीक वस्तुविषयक नही होता, भ्रान्तियुक्त । इसी प्रकार रसपर्यन्त-विश्रान्त-प्रतीतिवन्ध्या—रसपर्यन्त पहुँचने वाली प्रतीति से वञ्चित । यहाँ गुणों को शब्द का धर्म मानने वाले वामन आदि की ओर संकेत है (वामनादय इति यावत्‌बालबोधिनी)।

अनुवाद—जो (धर्म) अङ्ग अर्थात् अङ्गभूत शब्द और अर्थ के द्वारा (उनमें उत्कर्ष उत्पन्न कर) विद्यमान होने वाले (सन्तं=यदि वह हो तो) उस (अङ्गी) रस का हार इत्यादि के समान कभी (नियत से नहीं) उपकार करते हैं । वे अनुप्रास तथा उपमा आदि अलङ्कार कहलाते हैं । (८८)

जो धर्म वाचकवाच्यलक्षण अर्थात् शब्दार्थस्वरूप (=लक्षण) रस के अङ्गों

में विशेषता उत्पादन के द्वारा (=मुखेन) जहाँ यह सम्भव है (सम्भविनम्) वहाँ उस मुख्य रस का उपकार करते हैं। ये कण्ठादि अङ्गों में विशेषता स्थापन (आधान) के द्वारा आत्मा (शरीरी) के भी उपकारक हार इत्यादि के समान अलङ्कार कहलाते हैं। जहाँ रस नहीं है वहाँ तो उक्ति-वैचित्र्य (कथन का अनूठापन) मात्र दिखलाकर समाप्त हो जाते हैं। (जातुचित्)—कहीं तो रस होता है तो भी उसका उपकार नहीं करते।

प्रभा—अलङ्कारों का स्वरूप गुणों से नितान्त भिन्न है। ये भी रस के उपकारक (रसोत्कर्षक) तो हैं किन्तु रस के साक्षात् उपकारक नहीं परम्परया उपकारक हैं। (१) रस के अङ्ग अर्थात् रस-व्यञ्जना के उपकरणरूप जो शब्द तथा अर्थ हैं, अलङ्कार उनमें उत्कर्ष की स्थापना करते हैं और शब्द तथा अर्थ की शोभा बढ़ाते हुए काव्य की आत्मा रस के भी उत्कर्षक हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जैसे हार आदि आभूषण कण्ठ आदि की शोभा बढ़ाते हुए कामिनी-सौन्दर्य के वर्द्धक होते हैं अतः ये रस के धर्म नहीं हैं तथा रसधर्मरूप गुणों से पृथक् हैं (अङ्गद्वारेणोत्कर्षेण रसधर्मत्वं निरस्तम्-बालबोधिनी)।

(२) ये अलङ्कार नियमपूर्वक रस के उपकारक नहीं होते—यह दिखलाने के लिए ही कारिका में दो पदों का प्रयोग किया गया है 'सन्तं' तथा 'जातुचित्'। 'यत्र तु नास्ति' आदि वृत्ति ग्रन्थ इसकी ही व्याख्या है। भाव यह है कि—(i) अलङ्कार वहीं रसोत्कर्षक होते हैं जहाँ रस विद्यमान होता है अन्यथा (नीरस या चित्रकाव्य में) तो वे इसी प्रकार उक्ति-चमत्कार मात्र दिखलाकर रह जाते हैं जिस प्रकार कुरूपा के अङ्गों में हार आदि आभूषण केवल दृष्टि-चमत्कार के ही उत्पादक होते हैं। अतः वे *नियमपूर्वक रस के साथ ही नहीं रहते।* (ii) दूसरी बात यह है कि कहीं-कहीं रस विद्यमान होता है फिर भी अलङ्कार उसका उपकार नहीं करते जैसे अत्यधिक अलङ्कार किसी सुकुमार नायिका के सौन्दर्य की पुष्टि नहीं करते। अतः अलङ्कार विद्यमान रस के अवश्य ही उपकारक नहीं होते, ये अनियत स्थिति वाले (अनियत.) हैं तथा गुणों से भिन्न हैं।

प्रदीप आदि टीकाओं में यहाँ भी अलङ्कार के गुणभेदक तीन लक्षण दिखाते हैं—रसोत्कर्ष के हेतु होकर (क) रस के धर्म नहीं (रसोपकारकत्वे सति रसावृत्तित्वम्), (ख) रस के न होने पर भी हो सकते हैं वहाँ उक्ति-चमत्कारमात्र दिखाते हैं (रसव्यभिचारित्वम्), (ग) कहीं-कहीं विद्यमान रस का भी उपकार नहीं करते (अनियमेन रसोपकारकत्वम्)। इस प्रकार अलङ्कारलक्षण में यह स्पष्ट है—एवं चालङ्काराः, (१) रसं विनापि तिष्ठन्ति, (२) अवश्यं न उपकुर्वन्ति, (३) न वा रसं साक्षात् किन्तु अङ्गद्वारेणैव। गुणेभ्यो भिद्यन्त एव (बालबोधिनी)।

टिप्पणी—(१) आचार्य मम्मट का गुण तथा अलङ्कार के स्वरूप का विवेचन ध्वनिकार के अनुसार ही है—'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः'—अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।

(ध्वन्यालोक २·६)।

यथाक्रममुदाहरणानि—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥३४१॥

इत्यादौ वाचकमुखेन ।

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥३४२॥

---

(२) साहित्यदर्पणकार ने गुण तथा अलङ्कार के स्वरूप-विवेचन में प्रायः आचार्य मम्मट का ही अनुसरण किया है, किन्तु उन्होंने 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः' यह सामान्यतः बतलाकर दोनों का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा । गुणाः (साहित्यदर्पण ८·१)
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ वही (१०·१)

अनुवाद—क्रमशः उदाहरण ये हैं—

प्रभा—उपर्युक्त अलङ्कार-स्वरूप-विवेचन में जो बतलाया गया है कि अलङ्कार (१) वाचक द्वारा रसोत्कर्षक हैं; (२) वाच्य-द्वारा रसोत्कर्षक हैं, विद्यमान रस का भी उपकार न करके, (३) वाचक का ही अथवा, (४) वाच्य का ही वैचित्र्य प्रकट करते हैं, (५) कहीं-कहीं रस के न होने पर उक्ति-वैचित्र्य मात्र को प्रकट करते हैं। इनके उदाहरण क्रमशः दिए जाते हैं—

अनुवाद—(१. वाचक द्वारा) [कुट्टनीमतम्' में सखी के प्रति नायिका की उक्ति] 'हे सखि' कपूर को हटा लो, मुक्तामाला को दूर कर दो, कमलों का क्या लाभ है ? कमल नाल से बस करो'—वह बाला दिन रात यही कहती है ॥३४१॥

इत्यादि में ('र' वर्ण का अनुप्रास) अलङ्कार शब्द (की सौन्दर्य वृद्धि) के द्वारा (विप्रलम्भ शृङ्गार) रस का उत्कर्ष है [अलङ्कारौ रसमुपकुरुतः—इससे अन्वय है; 'रवर्ण' विप्रलम्भ शृङ्गार के माधुर्य का व्यञ्जक होता है] ।

(२. वाच्यद्वारा) [मालतीमाधव नाटक में सखी के प्रति मालती की उक्ति] 'मेरे मन का (माधव के प्रति) अनुराग तीक्ष्ण विष के समान निरन्तर (शरीर में) व्याप्त हो रहा है, (इससे वृद्धि को प्राप्त होकर) वह पीड़ादायक (प्रमाथी—मथनशील: क्षोभकारी) हो गया है तथा वायु से प्रज्वलित (विधुतः) धूमरहित अग्नि के समान जल रहा है और अत्यधिक प्रवृद्ध (गरीयान्) अर्थात् सन्निपात ज्वर के समान प्रत्येक अङ्ग को पीड़ित कर रहा है इसलिये (इतः) मेरी रक्षा करने में न मेरे पिता समर्थ हैं, न माता हो' ॥३४२॥

में विशेषता उत्पादन के द्वारा (=मुखेन) जहाँ यह सम्भव है (सम्भविनम्) वहाँ उस मुख्य रस का उपकार करते हैं। ये कण्ठादि अङ्गों में विशेषता स्थापन (आधान) के द्वारा आत्मा (शरीरी) के भी उपकारक हार इत्यादि के समान अलङ्कार कहलाते हैं। जहाँ रस नहीं हैं वहाँ तो उक्ति-वैचित्र्य (कथन का अनूठापन) मात्र दिखलाकर समाप्त हो जाते हैं। (जातुचित्)—कहीं तो रस होता है तो भी उसका उपकार नहीं करते।

प्रभा—अलङ्कारों का स्वरूप गुणों से नितान्त भिन्न है। वे भी रस के उपकारक (रसोत्कर्षक) तो हैं किन्तु रस के साक्षात् उपकारक नहीं परम्परया उपकारक हैं। (१) रस के अङ्ग अर्थात् रस-व्यञ्जना के उपकरणरूप जो शब्द तथा अर्थ हैं, अलङ्कार उनमें उत्कर्ष की स्थापना करते हैं और शब्द तथा अर्थ की शोभा बढ़ाते हुए काव्य की आत्मा रस के भी उत्कर्षक हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जैसे हार आदि आभूषण कण्ठ आदि की शोभा बढ़ाते हुए कामिनी-सौन्दर्य के वर्द्धक होते हैं अतः ये रस के धर्म नहीं हैं तथा रसधर्मरूप गुणों से पृथक् हैं (अङ्गद्वारेणेत्यनेन रसधर्मत्वं निरस्तम्-बालबोधिनी)।

(२) ये अलङ्कार नियमपूर्वक रस के उपकारक नहीं होते—यह दिखलाने के लिए ही कारिका में दो पदों का प्रयोग किया गया है 'सन्तं' तथा 'जातुचित्'। 'यत्र तु नास्ति' आदि वृत्ति ग्रन्थ इसकी ही व्याख्या है। भाव यह है कि—(i) अलङ्कार वहीं रसोत्कर्षक होते हैं जहाँ रस विद्यमान होता है अन्यथा (नीरस या चित्रकाव्य में) तो ये इसी प्रकार उक्ति-चमत्कार मात्र दिखलाकर रह जाते हैं जिस प्रकार कुरूपा के अङ्गों में हार आदि आभूषण केवल दृष्टि-चमत्कार के ही उत्पादक होते हैं। अतः ये नियमपूर्वक रस के साथ ही नहीं रहते। (ii) दूसरी बात यह है कि कहीं-कहीं रस विद्यमान होता है फिर भी अलङ्कार उसका उपकार नहीं करते जैसे ग्रामीण अलङ्कार किसी सुकुमार नायिका के सौन्दर्य की वृद्धि नहीं करते। अतः अलङ्कार विद्यमान रस के अवश्य ही उपकारक नहीं होते, ये अनियत स्थिति वाले (चलस्थितयः) हैं तथा गुणों से भिन्न हैं।

प्रदीप आदि टीकाओं में यहाँ भी अलङ्कार के गुणभेदक तीन लक्षण दिखलाये हैं—रसोत्कर्ष के हेतु होकर (क) रस के धर्म नहीं (रसोपकारकत्वे सति रसावृत्तित्वम्), (ख) रस के न होने पर भी हो सकते हैं वहाँ उक्ति-चमत्कारमात्र दिखलाते हैं (रसव्यभिचारित्वम्), (ग) कहीं-कहीं विद्यमान रस का भी उपकार नहीं करते (अनियमेन रसोपकारकत्वम्)। इस प्रकार अलङ्कारस्वरूप कथन से यह स्पष्ट है—एवं चालङ्काराः, (१) रसं विनावतिष्ठन्ते, (२) अवश्यं च नोपकुर्वन्ति, (३) न वा रसे साक्षात् किन्तु अङ्गद्वारेणेति गुणेभ्यो विलक्षणा एव (बालबोधिनी)।

टिप्पणी—(१) आचार्य मम्मट का गुण तथा अलङ्कार के स्वरूप का विवेचन ध्वनिकार के अनुसार ही है—'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः'—वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्। (ध्वन्यालोक २·६)।

यथाक्रममुदाहरणानि—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥३४१॥

इत्यादौ वाचकमुखेन ।

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥३४२॥

---

(२) साहित्यदर्पणकार ने गुण तथा अलङ्कार के स्वरूप-विवेचन में प्रायः आचार्य मम्मट का ही अनुसरण किया है, किन्तु उन्होंने 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः' यह सामान्यतः बतलाकर दोनों का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा । गुणाः (साहित्यदर्पण ८·१)
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ वही (१०·१)

अनुवाद—क्रमशः उदाहरण ये हैं—

प्रभा—उपर्युक्त अलङ्कार-स्वरूप-विवेचन में जो बतलाया गया है कि अलङ्कार (१) वाचक द्वारा रसोत्कर्षक हैं; (२) वाच्य-द्वारा रसोत्कर्षक हैं, विद्यमान रस का भी उपकार न करके, (३) वाचक का ही अथवा, (४) वाच्य का ही वैचित्र्य प्रकट करते हैं, (५) कहीं-कहीं रस के न होने पर उक्ति-वैचित्र्य मात्र को प्रकट करते हैं। इनके उदाहरण क्रमशः दिए जाते हैं—

अनुवाद—(१. वाचक द्वारा) [कुट्टनीमतम्' में सखी के प्रति नायिका की उक्ति] 'हे सखि' कपूर को हटा लो, मुक्तामाला को दूर कर दो, कमलों का क्या लाभ है ? कमल नाल से बस करो'—वह बाला दिन रात यही कहती है ॥३४१॥

इत्यादि में ('र' वर्ण का अनुप्रास) अलङ्कार शब्द (की सौन्दर्य वृद्धि) के द्वारा (विप्रलम्भ शृङ्गार) रस का उत्कर्ष है [अलङ्कारौ रसमुपकुरुतः–इससे अन्वय है; 'रवर्ण' विप्रलम्भ शृङ्गार के माधुर्य का व्यञ्जक होता है] ।

(२. वाच्यद्वारा) [मालतीमाधव नाटक में सखी के प्रति मालती की उक्ति] 'मेरे मन का (माधव के प्रति) अनुराग तीक्ष्ण विष के समान निरन्तर (शरीर में) व्याप्त हो रहा है, (इससे वृद्धि को प्राप्त होकर) वह पीड़ादायक (प्रमाथी—मथनशीलः क्षोभकारी) हो गया है तथा वायु से प्रज्वलित (विधुतः) धूमरहित अग्नि के समान जल रहा है और अत्यधिक प्रवृद्ध (गरीयान्) अर्थात् सन्निपात ज्वर के समान प्रत्येक अङ्ग को पीड़ित कर रहा है इसलिये (इतः) मेरी रक्षा करने में न मेरे पिता समर्थ हैं, न माता ही' ॥३४२॥

यदप्युक्तम् काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति तदपि न युक्तम्, यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः, उत कतिपयैः ? यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा ।

अथ कतिपयैः, ततः—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यल्लसत्येष धूमः ॥३४५॥

इत्यादावोजः प्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः ।

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥३४६॥

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ ।

अनुवाद—जो (वामन ने) कहा है—'काव्य-शोभा के विधायक (शब्द और अर्थ के) धर्म गुण होते हैं; किन्तु उस गुणकृत) शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म अलङ्कार कहलाते हैं (यह दोनों का भेद है)।' यह भी ठीक नहीं; क्योंकि (प्रश्न हो सकता है कि) समस्तगुणों के होने से 'यह काव्य है' इस आकार का व्यवहार होगा या कुछ एक गुणों के होने से ही ? यदि समस्त गुणों के होने से ही काव्य-व्यवहार मानोगे तो गौडी तथा पाञ्चाली रीति, जिनमें समस्तगुण नहीं रहते, काव्य की आत्मा कैसे होगी ?

और, यदि कुछ एक गुणों के होने से ही काव्य-व्यवहार मानोगे तो 'अद्रावत्र' [इस पर्वत पर प्रचण्ड अग्नि जल रही है और यह उठता हुआ घना धूम शोभायमान है] इत्यादि में भी ओजः प्रभृति गुण हैं अतएव यहाँ भी काव्य-व्यवहार होने लगेगा। साथ ही 'यह उत्तमवर्णा सुन्दरी तो इसी (मनुष्य) शरीर से स्वर्गप्राप्ति (के समान) है, इसका अधर रस अमृत को भी तिरस्कृत करता है।'

इत्यादि में (पूर्वार्ध में, विशेषोक्ति तथा (उत्तरार्ध में) व्यतिरेक नामक दो अलङ्कार गुणों की अपेक्षा किये बिना ही काव्य-व्यवहार के प्रवर्तक हैं [अतः वामन का अलङ्कार-लक्षण भी दूषित है]

प्रभा—सर्वप्रथम रीतिवादी आचार्य वामन ने गुण तथा अलङ्कारों का भेद-विवेचन किया था। वामन के अनुसार गुण तथा अलङ्कारों का भेद यह है कि काव्य के शोभाजनक धर्मों को गुण कहते हैं—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' तथा उस शोभा के वृद्धिकारक हेतुओं को अलङ्कार कहते हैं—तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।' आचार्य मम्मट इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'काव्य के शोभाजनक गुण होते हैं इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि समस्त गुणों के होने से ही कोई रचना काव्य-पद की अधिकारिणी होती है, दूसरा यह कि कतिपय गुणों के होने से भी किसी रचना को 'काव्य' कहा जा सकता है। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार करें तो गौडी तथा पाञ्चाली रीति को आप काव्य की आत्मा कैसे मानेंगे ? भाव यह है

कि वामन के मतानुसार रीति ही काव्य की आत्मा है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। गुणविशिष्ट पद-रचना का नाम ही रीति है। यह तीन प्रकार की है—वैदर्भी, गौडीया तथा पाञ्चाली। वैदर्भी रीति समस्त गुण विशिष्ट होती है इसलिये (प्रथम विकल्प के अनुसार) वह तो काव्य की आत्मा हो सकेगी; किन्तु गौडी तथा पाञ्चाली समस्तगुण विशिष्ट नहीं होती अतः उनको काव्य की आत्मा कैसे माना जा सकेगा? यदि द्वितीय विकल्प को स्वीकार करें तो जिस काव्य-रचना में कोई एक भी गुण होगा वह भी काव्य कहलाने लगेगी। इस प्रकार 'अद्री' इत्यादि वाक्य भी काव्य हो जायेगा; क्योंकि इसमें भी वामनोक्त ओज इत्यादि गुण विद्यमान हैं। मम्मट के मतानुसार तो काव्य के लिये अलङ्कारों की भी अपेक्षा है, अतः अलङ्कारों के अभाव में ही इसे काव्य नहीं कहा जा सकता (प्रदीप)।

इस प्रकार उदाहरण ३४५ में गुणों के होने पर काव्य-व्यवहार नहीं होता; किन्तु अग्रिम उदाहरण में गुणों की अपेक्षा के बिना ही अलङ्कार के कारण काव्य-व्यवहार हो जाता है अतः (अन्वय-व्यतिरेक व्यभिचार होने से) वामनकृत गुणलक्षण ठीक नहीं।

वामन का अलङ्कार-लक्षण भी दूषित ही है। बात यह है कि 'स्वर्ग-प्राप्ति' इत्यादि स्थल पर वामनोक्त प्रसाद आदि कुछ ही गुण विद्यमान हैं, सभी नहीं। किन्तु जैसा अभी बतलाया गया है, कुछ गुणों को तो काव्य-व्यवहार का प्रयोजक माना नहीं जा सकता। इस प्रकार यहाँ विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक अलङ्कार ही काव्य-व्यवहार प्रवर्तक हैं, यह स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु वामन के मतानुसार अलङ्कार गुण-जनित शोभा को ही बढ़ाने वाले होते हैं। यहाँ तो गुण-जनित शोभा का अभाव है अतएव अलङ्कार का लक्षण (तदतिशयहेतवः) यहाँ घटित नहीं होता और उसमें अव्याप्ति-दोष हो जाता है। अथवा गुणजन्य शोभा के अभाव में यह उक्ति काव्य ही नहीं कही जायेगी; किन्तु रसानुभूति की व्यञ्जक होने से यह उक्ति काव्य मानी ही जाती है। अतः वामनकृत गुण और अलङ्कार का भेद भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

संक्षेप में मम्मट से पहिले गुण और अलङ्कारों के भेद के विषय में तीन मत विद्यमान थे—(१) गुण तथा अलङ्कारों का भेद नहीं—अभेदवाद। (उद्भट) (२) गुण और अलङ्कारों का यह भेद है कि (क) काव्यशोभा के उत्पादक धर्म गुण हैं तथा गुणों द्वारा उत्पादित शोभा को बढ़ाने वाले धर्म अलङ्कार हैं, (ख) गुण काव्य के अनिवार्य (नित्य) धर्म हैं तथा अलङ्कार अनिवार्य नहीं। (वामन) (३) गुण और अलङ्कारों का भेद यह है कि गुण काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं किन्तु अलङ्कार काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ के धर्म हैं।

मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन किया, वामन के मत का दोष दिखलाया तथा आनन्दवर्धन के मत का अनुसरण करके गुण और अलङ्कार का भेद निर्धारित

इदानीं गुणानां भेदमाह—

(८९) माधुर्य्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

किया (द्र० सूत्र ८७-८८) वामन के समान उन्होंने गुणों का काव्य को शोभादाय धर्म नहीं माना अपितु काव्य का उत्कर्षहेतु माना तथा अलङ्कारों को भी उत्कर्षहे ही बतलाया। किञ्च, उन्होंने गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ को काव्य-व्यवहार प्रयोजक अतएव काव्य का अनिवार्य धर्म माना, गुणों को नहीं, जैसा कि वामन माना है (द्र०, 'सगुणौ' की व्याख्या)। इसी प्रकार मम्मट के अनुसार अलङ्कार काव्य के अनिवार्य धर्म हैं। हाँ, स्फुट अलङ्कार के बिना भी काव्य-व्यवहार हो सकत है (द्र०, 'अलङ्कृती' की व्याख्या)। मम्मट ने गुणों की रसधर्मता और अलङ्कार की शब्दार्थ-धर्मता आनन्दवर्द्धन के समान ही स्वीकार की है। इस प्रकार मम्मट गुण तथा अलङ्कारों के भेद-प्रतिपादन की एक निजी विशेषता है।

टिप्पणी—(i) *आचार्य वामन ने गुण तथा अलङ्कारों का भेद-विवेचन इस प्रकार किया है*—

तत्र ओजः प्रसादादयो गुणाः, यमकोपमादयस्तु अलङ्कारा इति स्थितिः काव्यविदाम्। तेषां किं भेदनिबन्धनम् ? इत्याह – काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः' ॥१॥

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति, ते गुणाः ते च ओजः प्रसादादयः, न यमकोपमादयः, कैवल्येन तेषाम् अकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥२॥

तस्या काव्यशोभायाः अतिशय. तदतिशयः तस्य हेतवः। 'तु शब्दो व्यतिरेके। पूर्वे नित्याः ॥३॥ पूर्वे गुणाः नित्याः, तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः। (३·१ १·३)

(ii) वामन की रीतिविषयक मान्यता संक्षेप में इस प्रकार है—

रीतिरात्मा काव्यस्य ॥६॥ विशिष्टा पदरचना रीतिः ॥७॥ विशेषो गुणात्मा ॥८॥ सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च ॥९॥ समग्रगुणोपेता वैदर्भी ॥११॥ ओजः कान्तिमति गौडीया ॥१२॥ माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ॥१३॥

(iii) 'स्वर्गप्राप्ति' इत्यादि पद्य में दिव्य-देह रूप एक गुण की न्यूनता की कल्पना करके स्वर्ग-साम्य को दृढ़ किया गया है (एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः—काव्यालङ्कारसूत्र ४·३·२३) अतः यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है। इसी प्रकार 'अधररस' जो उपमेय है उसे उपमान अर्थात् सुधा से बढ़कर बतलाया गया है इसलिए यहाँ (उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः—४·३·२२ व्यतिरेक अलङ्कार है।

गुण के प्रकार—

अनुवाद—अब (गुणों के स्वरूप का निरूपण करके) गुणों का प्रकार बतलाते हैं—

माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक वे (गुण) तीन ही हैं, दस नहीं (जैसा कि वामन आदि आचार्यों ने माना है) ॥८९॥

एषां क्रमेण लक्षणमाह—

(९०) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥६८॥

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोज-प्रसादयोरपि ।

(९१) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

प्रभा—आचार्य मम्मट ने गुणों को रस-धर्म बतलाया है । इसी के आधार पर वे गुणों के तीन-भेद स्वीकार करते हैं तथा वामन आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दस प्रकारों को अमान्य घोषित करते हैं । ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में गुणों की संख्या तीन इसलिये है क्योंकि नव-रस के आस्वादन में सामाजिक हृदय की तीन ही अवस्थायें होती हैं—(१) द्रुति, (२) विस्तार, (३) विकास । शृङ्गार करुण और शान्त में चित्त-द्रुति होती है । वीर, रौद्र और बीभत्स में चित्त का विस्तार होता है । हास्य में मुख का विकास होता है, अद्भुत में नयनों का तथा भयानक में गमन आदि का । यह विकास कहीं द्रुति के साथ होता है कहीं विस्तार के साथ, अतः प्रसाद गुण सभी रसों का उत्कर्षाधायक हो जाता है । इस प्रकार रसास्वादन अवस्था मे हृदय की तीन प्रकार की अवस्था होने के कारण रस के धर्म गुण भी तीन प्रकार के ही हैं ।

टिप्पणी—वामन ने निम्न दस गुणों को मान्य ठहराया—ओजः प्रसादश्लेष समतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः । काव्यालङ्कारसूत्र ३· १· ४) कुछ टीकाकारों ने वामन के नाम से दस गुण निर्देश करने वाला एक श्लोक उद्धृत किया है । वामन के अनुसार दस शब्द-गुण तथा दस अर्थगुण । उनका आगे विस्तार से वर्णन किया जायेगा ।

अनुवाद—इन (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) का क्रमशः लक्षण बतलाते हैं—(माधुर्य)—[द्रुतिकारणम् आह्लादकत्वं माधुर्यं तच्च शृङ्गारे—यह अन्वय है] चित्त की द्रुति का कारण जो आह्लादकता अर्थात् आनन्दस्वरूपता है वही माधुर्य (गुण) है और वह शृङ्गार रस में होता है । (९०)

(कारिका में, शृङ्गारे अर्थात् संभोग शृङ्गार में । 'द्रुति' अर्थात् चित्त का पिघलना सा । श्रव्यता अर्थात् श्रवणानुकूलता (सुनने में प्रिय लगना) जो ओज तथा प्रसाद में भी होती है (अतः 'श्रव्यता को माधुर्य नहीं कहना चाहिये) ।

वह माधुर्य (संभोग शृङ्गार) करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार तथा शान्त रस में (उत्तरोत्तर) अतिशयित अर्थात् उत्कृष्टतर हो जाता है क्योंकि क्रमशः अत्यधिक द्रुति का कारण होता है । (९१)

प्रभा—माधुर्य गुण का क्या स्वरूप है ? जैसा कि गुण-स्वरूप विवेचन में कहा गया है—गुण रस के उत्कर्षक होते हैं, अतः माधुर्य गुण शृङ्गार आदि

(९२) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥(६९)

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

(९३) बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

वीराद् बीभत्से, ततो रौद्रे सातिशयमोजः

का उत्कर्षक इन्हीं का एक विशेष धर्म है। शृङ्गार आदि रस आनन्दरूप हैं। इनके भीतर एक विशेष प्रकार की आनन्दरूपता होती है, जिसके कारण सहृदय-जनों का चित्त द्रवित सा हो जाता है उसका द्वेषादिकृत काठिन्य चला जाता है। चित्त का आर्द्र हो जाना ही चित्त-द्रवण है और उसका कारण आह्लाद में स्थित (आह्लादगत) एक विशेष धर्म होता है। वही धर्म माधुर्य है। वह रस तारतम्य भाव से रहता है इसी हेतु शृङ्गार आदि कहीं कम मधुर तथा कहीं अधिक मधुर कहे जाते हैं।

भामहाचार्य ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद—तीन गुण माने थे, किन्तु 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' (२· २· ३·) यह मधुर गुण का लक्षण किया था। श्रव्य का अर्थ है—श्रवणानुकूलता, श्रुतिप्रियता। यह लक्षण उचित नहीं, क्योंकि यह श्रुतिप्रियता तो ओज तथा प्रसाद में भी रहा करती है, किन्तु ओजगुण विशिष्ट काव्य में दीप्तित्व का ही अनुभव होता है, माधुर्य का नहीं। इसी प्रकार प्रसाद में भी माधुर्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसलिये माधुर्य को श्रुतिसुखद शब्दों का गुण नहीं कहा जा सकता।

यह माधुर्य केवल सभोग शृङ्गार में ही नहीं रहता अपितु करुण, विप्रलम्भ तथा शान्त में भी रहा करता है। साथ ही संभोग शृङ्गार में जो माधुर्य है उसकी अपेक्षा करुण में अधिक माधुर्य होता है। करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ में तथा विप्रलम्भ की अपेक्षा शान्तरस में अधिक माधुर्य होता है। सहृदयजनों का अनुभव बतलाता है कि सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण आदि में क्रमशः चित्त की द्रुति अधिक हुआ करती है, जो द्रुति नेत्र-जल तथा पुलक आदि से प्रतीत हुआ करती है। एक बात अवश्य है कि यह माधुर्य सम्भोग तथा विप्रलम्भ में प्रतिपक्ष-रहित होता है अर्थात् उसमें ओज का लेश भी नहीं होता, किन्तु शान्त में जुगुप्सा आदि का सम्बन्ध होने के कारण ओज के अल्पांश से भी युक्त होता है।

अनुवाद—(२ ओज)-[दीप्त्यात्मविस्तृतेः हेतुः ओजः तच्च वीररसस्थिति] दीप्ति रूप चित्त (आत्मा) के विस्तार का हेतु ही ओज गुण है, उसकी स्थिति वीर रस में होती है। (९२)

चित्त-विस्तार रूप जो दीप्तता है उसका कारण ओज गुण होता है।

क्रमशः बीभत्स तथा रौद्ररस में उस ओज की अधिकता होती है।

अर्थात् वीर रस से बीभत्स में तथा बीभत्स से (ततः) रौद्र में ओज गुण बढ़कर होता है ॥९३॥

(६४) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥७०॥
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।
अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम्। सर्वत्रेति-सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च।

प्रभा—दीप्ति चित्त की विशेष प्रकार की वृत्ति है, जिसमें मन प्रज्वलित सा हो जाता है, चित्त का विस्तार सा हो जाया करता है। यह दीप्ति चित्त-द्रुति से भिन्न प्रकार की एक चित्त की अवस्था है जो प्रतिकूल विषयों के प्रति हुआ करती है। इस दीप्ति का जनक जो रस का धर्म है वह ओज कहलाता है।

यह ओज गुण वीर रस के समान बीभत्स तथा रौद्र में भी होता है। किन्तु वीर की अपेक्षा बीभत्स में चित्त-दीप्ति अधिक होती है अतएव वीर की अपेक्षा बीभत्स में अधिक ओज गुण माना जाता है। इसी प्रकार बीभत्स की अपेक्षा रौद्र में अधिक ओज होता है। बात यह है कि वीर में तो द्वेष्य के प्रति जीतने की इच्छा मात्र होती है, बीभत्स में प्रबल त्याग की इच्छा होती है तथा रौद्र में तो अपकारी के वध की ही इच्छा होने लगती है इस प्रकार क्रमशः चित्त की दीप्ति अथवा प्रज्वलन अधिक ही होता जाता है इसलिए उत्तरोत्तर ओज की अधिकता मानी जाती है।

टिप्पणी—यहाँ माधुर्य तथा ओज गुण के प्रधान आश्रयों का उल्लेख किया गया है। शेष हास्य, भयानक तथा अद्भुत रस में माधुर्य तथा ओज दोनों ही रहते हैं। हास्यादि का यदि शृङ्गार के हेतुओं से आविर्भाव होता है तो वहाँ माधुर्य की प्रधानता होती है। यदि हास्यादि का वीर आदि हेतुओं से आविर्भाव होता है तो ओज की प्रधानता होती है। कुछ व्याख्याकारों का यह मत है कि हास्य में सदा माधुर्य की प्रधानता होती है तथा भयानक और अद्भुत में ओज की ही।

अनुवाद—(३. प्रसाद) जिस प्रकार सूखे इन्धन में अग्नि तथा स्वच्छ (वस्त्र) में जल सहसा व्याप्त हो जाता है इसी प्रकार जो गुण सहसा ही अन्य अर्थात् चित्त में व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण है, वह सर्वत्र (समस्त रसों तथा रचनाओं में विद्यमान रहता है। (६४)

(कारिका में) अन्यत् (दूसरा) अर्थात् व्याप्य-जो यहाँ पर 'चित्त' है। सर्वत्र अर्थात् समस्त रसों में तथा समस्त (पदसंघटना रूप) रचनाओं में।

प्रभा—प्रसाद गुण चित्त-विकास का जनक है। इस गुण के होने से रस तुरन्त ही इस प्रकार हृदय में व्याप्त हो जाते हैं जिस प्रकार शुष्क इन्धन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल। वीर, रौद्र आदि में तो प्रसाद गुण चित्त में शुष्क इन्धन में अग्नि के समान व्याप्त हो जाता है तथा शृङ्गार और करुण आदि में स्वच्छ वस्त्र में जल के समान (चित्त) व्याप्त हो जाता है।

(९५) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥७१॥

गुणवृत्त्या उपचारेण । तेषां गुणानाम्, आकारे शौर्यस्येव ।

कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

(९६) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥७२॥

यह प्रसाद गुण समस्त रसों का धर्म है तथा सभी रस इसके आधार हैं। इसी प्रकार समस्त प्रकार की रचनाएँ इसकी व्यञ्जक हो सकती हैं। इसी हेतु वृत्ति में सर्वत्र का अर्थ 'सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च' यह किया गया है। यद्यपि रस में ही गुण रहते हैं तथा रचनाएँ गुणों की व्यञ्जक तो हैं ही अतएव गुण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध से विशेष प्रकार के पद-विन्यास रूप रचनाओं में भी रहते हैं।

अनुवाद—[तेषां शब्दार्थयोः वृत्तिः पुनः गुणवृत्त्या मता—यह अन्वय है] उन (माधुर्य आदि) गुणों की शब्द तथा अर्थ में स्थिति तो केवल गौणरूप से (औपचारिक मानी जाती है। (९५)

(कारिका में) 'गुणवृत्त्या' अर्थात् उपचार से (Indirectly)। 'तेषाम्' अर्थात् गुणों की। आकार में शौर्य आदि के समान।

प्रभा—माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं तथा 'मधुर शब्द हैं' 'मधुर अर्थ हैं।' यह विद्वानों का व्यवहार देखा जाता है। आचार्य मम्मट ने भी शब्दार्थौ सगुणौ' यह काव्य के लक्षण में ही कहा है। कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा के शौर्य आदि गुणों का शरीर में भी गौण रूप से व्यवहार होता है (आकार एवास्य शूरः) इसी प्रकार माधुर्य आदि यद्यपि रस के धर्म हैं तथापि गुणव्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णों को, अर्थों को तथा रचनाओं को भी गौणरूप से मधुर कह दिया जाया करता है। शब्द और अर्थ आदि में माधुर्य आदि का व्यवहार औपचारिक या लाक्षणिक है, यह भाव है।

वामनोक्त दस शब्द-गुणों की समीक्षा

अनुवाद—(माधुर्य ओज तथा प्रसाद) तीन ही गुण क्यों हैं, दस क्यों नहीं ? यह बतलाते हैं—

(प्राचीनों के १० गुणों में से) (क) कुछ तो इन तीनों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, (ख) अन्य कुछ दोषाभाव रूप में होते हैं तथा (शेष) कुछ कहीं-कहीं (रस-विशेष या उदाहरणविशेष में), (ग) दोषरूप हो जाते हैं, इसलिये दस गुण नहीं हैं। (९६)

प्रभा—वामन आदि आचार्यों ने गुणों का विवेचन करते हुए दस गुणों का उल्लेख किया था। वे दस गुण ये हैं—(१) ओज, (२) प्रसाद, (३) श्लेष, (४) समता, (५) समाधि, (६) माधुर्य, (७) सौकुमार्य, (८) उदारता, (९) अर्थव्यक्ति

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि मातङ्गाः किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः। कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्तन्निराकरणेनापारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

और (१०) कान्ति। आचार्य मम्मट का मत है कि काव्य में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद तीन ही गुण होते हैं। वामन आदि के कहे हुए दस गुण नहीं होते। कारण यह है कि उनमे के कुछ गुण इन्हीं तीनों के अन्तर्गत हैं तथा कुछ दोषों के अभाव मात्र हैं और उनमें से कुछ तो गुण पद के अधिकारी ही नहीं हैं क्योंकि किसी २ रस में या किसी उदाहरण में वे दोषरूप मे ही दृष्टिगोचर होते हैं; जैसा कि आगे विवेचन किया जा रहा है।

अनुवाद—(वामनोक्त दस शब्द गुणों में से) (क) जो बहुत से पदों की एक पद के समान प्रतीति होना रूप (१) श्लेष है, जो (वाक्य में) आरोह अवरोह क्रम रूप (२) समाधि है' जो पदों की विकटता अर्थात् विच्छेद के कारण नृत्यप्रायता रूप (३) उदारता है तथा जो ओज से मिश्रित बन्ध-शैथिल्य रूप प्रसाद है—उनका (४) ओज में अन्तर्भाव हो जाता है। पृथक्-पृथक् पदों का रखना (दीर्घ समासों का अभाव) रूप जो (६) माधुर्य है, उसे तो प्रकारान्तर [माधुर्यव्यञ्जक पदों में दीर्घ समास रहित पद के ग्रहण] से साक्षात् रूप में लिया ही गया है। (७) अर्थव्यक्ति (अविलम्ब अर्थ-बोध का सामर्थ्य) प्रसाद नामक गुण में गृहीत हो जाती है। (ग) मार्ग अर्थात् वैदर्भी आदि रीति का (रचना के आरम्भ तथा समाप्ति में) भेद न करना रूप (८) समता कहीं पर दोष हो जाती है; जैसे कि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' (ऊपर उदाहरण २९९) इत्यादि में सिंह के वर्णन (कोपाटोप आदि) में कोमल मार्ग का त्याग गुण है (अतः यहाँ मार्ग का त्याग न करना रूप 'समता' दोष हो जाती)। (ख) 'कष्टत्व' तथा ग्राम्यत्व को दोष बतलाने के कारण उन (दोनों) का परित्याग करने पर जो अपारुष्य रूप (९) सुकुमारता तथा औज्ज्वल्य (पद-लालित्य) रूप (१०) कान्ति है उसे स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार दस गुण नहीं हैं।

प्रभा—आचार्य वामन ने बन्ध अर्थात् पद-रचना के दस (शब्द) गुणों का इस प्रकार निरूपण (काव्यालङ्कारसूत्र ३·१) किया है—(१) गाढबन्धत्वमोजः—पद रचना में शिथिलता का अभाव ओज गुण है, जैसे—'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति।' (२) शैथिल्यं प्रसाद :—पद-रचना की शिथिलता ही प्रसाद है, जैसे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति।' (३) मसृणत्वं श्लेषः—मसृणत्व का अर्थ है—बहुत से पदों का एकवद् भासित होना, यही श्लेष है जैसे—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' यहाँ सन्धि है

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासममासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लील-

फिर भी प्रतीत नहीं होती, एक पद सा लगता है। (४) मार्गाभेदः समता—जिस रीति (मार्ग) से आरम्भ किया गया हो श्लोक या प्रबन्ध की समाप्ति पर्यन्त उसका निर्वाह करना, उसे न त्यागना जैसे—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' आदि में वैदर्भी रीति का निर्वाह किया गया है। (५) आरोहावरोहक्रमः समाधिः—आरोह का अर्थ है गाढ़ता तथा अवरोह का अर्थ है शिथिलता। कहीं तो आरोहपूर्वक अवरोह होता है, कहीं अवरोहपूर्वक आरोह होता है; जैसे–'निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे' यहां 'निरानन्दः कौन्दे' में 'गुरु' अक्षरों की बहुलता के कारण आरोह तथा 'मधुनि' यहाँ लघु अक्षरों की बहुलता के कारण अवरोह है। अथवा जैसे 'नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः'–यहाँ 'नरा.' में अवरोह तथा 'शीलभ्रष्टाः' में आरोह है। (६) पृथक्पदत्वं माधुर्यम्—पद-रचना में पृथक् २ पद होना अर्थात् दीर्घ समास न होना माधुर्य है। जैसे–'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः।' (७) अजरठत्वं सौकुमार्यम्—अजरठत्व का अर्थ है—अपारुष्य, कोमलता, जैसे—'अपसारय घनसारम्' इत्यादि। (८) विकटत्वम् उदारता–जिस पद-रचना में सामाजिक को ऐसी भावना होती है, जैसे कि पद नृत्य कर रहे हैं (विकटत्वं=नृत्यप्रायता); जैसे—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलं च।' (९) अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्ति—वह गुण जिससे तुरन्त अर्थबोध हो जाता है, जैसे 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।' (१०) औज्ज्वल्यं कान्तिः—पद-रचना में लालित्य ही कान्ति है, जैसे—'निरानन्दः कौन्दे मधुनि' इत्यादि। (ii) इन दस वामनोक्त गुणों में से—१. श्लेष, २. समाधि, ३. उदारता, ४. प्रसाद तथा ५. ओज का मम्मट के ओज गुण में अन्तर्भाव हो जाता है; ६. माधुर्य को मम्मट ने भी प्रकारान्तर से कहा ही है; ७. अर्थव्यक्ति का मम्मट के 'प्रसाद' में ग्रहण हो जाता है। ८. सौकुमार्य तथा ९. कान्ति–ये दोनों दोषाभाव रूप ही हैं तथा १०. समता कहीं २ दोष भी हो जाती है अतः वह निश्चित रूप से गुण नहीं है। इसलिए मम्मटोक्त गुणत्रय ही युक्तियुक्त है (iii) वामन के पूर्व भी 'समाधि' आदि को ओज से पृथक् न मानने वाले आचार्य थे किन्तु वामन ने इनकी पृथक्ता को सिद्ध किया था। (काव्यालङ्कारसूत्र ३·१)।

वामनोक्त दस अर्थ-गुणों की समीक्षा

अनुवाद—(वामनोक्त दस अर्थ गुणों में से भी) (क) पद के अर्थ को प्रकट करने के लिये वाक्यरचना, (ख) वाक्य के अर्थ में पदमात्र का प्रयोग (ग) व्यास (विस्तार) अर्थात् एक वाक्यार्थ का अनेक वाक्यों द्वारा कथन (घ) समास (संक्षेप)

ग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि। अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्। अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः। कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात्। अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम्, इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।

[८७] तेन नार्थगुणा वाच्याः ॥

वाच्याः वक्तव्याः।

अर्थात् अनेक वाक्यार्थों का एक वाक्य द्वारा कथन और (ङ) इस (विशेषण) की सार्थकता—यह (पांच प्रकार की) प्रौढि ही (१) ओज है जो ऐसा (वामनाचार्य आदि के द्वारा) कहा गया है। वह (इनमें से आदि के ४ प्रकार) तो उक्ति वैचित्र्य मात्र हैं, गुण नहीं क्योंकि उनके बिना भी काव्य-व्यवहार होता है। अपुष्टार्थत्व नामक दोष के निराकरण से अर्थात् उसके अभाव रूप में साभिप्रायत्वरूप (प्रौढता के पञ्चम प्रकार) ओज का ग्रहण हो जाता है। अधिकपदत्व के निराकरण से अर्थवैमल्य रूप (२) प्रसाद का; अनवीकृतत्व के अभाव से उक्तिवैचित्र्य रूप (३) माधुर्य का; अमङ्गलरूप अश्लील के निराकरण से अपारुष्य रूप (४) सौकुमार्य का तथा ग्राम्य दोष के निराकरण से अग्राम्यत्वरूप (५) उदारता का ग्रहण हो जाता है। (दशम-उल्लास में) कहे जाने वाले स्वभावोक्ति अलङ्कार के द्वारा वस्तु के स्वभाव का विशद-वर्णन रूप जो (६) अर्थ व्यक्ति है उसका ग्रहण हो जाता है तथा रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के द्वारा दीप्तरसत्व रूप (७) कान्ति संगृहीत हो जाती है। क्रम के उल्लंघन की अस्फुटता (अनुल्वणत्व) को युक्तिपूर्वक मिला देनारूप (घटना) जो (८) श्लेष है वह भी उक्तिवैचित्र्यमात्र है (गुण नहीं)। विषमता का अभाव रूप जो (९) समता है वह दोष का अभावमात्र है, गुण नहीं। उन्मत्त के अतिरिक्त ऐसा कौन होगा जो एक (वस्तु) के प्रकरण में और कुछ ही कहने लगे। अयोनि (प्रतिभा द्वारा उद्भावित) तथा अन्यच्छायायोनि (अन्य काव्य की छाया ही है कारण जिसका) अर्थ का यदि (काव्य में) दर्शन नहीं होता है तो वह काव्य कैसा ? इसलिये अर्थ का दर्शन रूप जो (१०) समाधि है वह भी गुण नहीं।

इसलिये (ओज आदि दस) अर्थ गुणों को भी नहीं कहना चाहिये। वाच्याः अर्थात् कहने योग्य (नहीं हैं) (८७)

प्रश्न—आचार्य वामन आदि ने जिस प्रकार ओज इत्यादि शब्द के दस गुण

माने थे, इसी प्रकार ओज आदि दस अर्थ-गुणों (काव्यालङ्कार सूत्र ३·२) को भी स्वीकार किया था। आचार्य मम्मट का कथन है कि उन दस अर्थ गुणों को कहने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि उनमें से कतिपय ऐसे हैं जो ऊपर प्रतिपादित माधुर्य आदि तीन गुणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, कुछ ऐसे हैं जो उक्तिवैचित्र्य मात्र हैं तथा कुछ दोषाभावरूप ही हैं गुण अर्थात् काव्योत्कर्षक नहीं। जैसे—

(१) ओज—वामन के अनुसार अर्थस्य प्रौढिः ओजः (काव्यालङ्कार सूत्र ३·२·२ अर्थात् अर्थ की प्रौढता ही ओज है। यह प्रौढता पांच प्रकार की होती है—(क) कहीं एक पद के अर्थ को प्रकट करने के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है, 'जैसे—अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' यहाँ चन्द्रमा के लिए 'अत्रिनयनसमुत्थं ज्योतिः' इस वाक्य का प्रयोग किया गया है। (ख) कहीं वाक्य के अर्थ में एक पद का प्रयोग किया जाता है जैसे—कान्तार्थिनी संयोगस्थानं गच्छति' इस वाक्य के अर्थ में 'अभिसारिका' शब्द का प्रयोग किया जाता है। । (ग) कहीं एक वाक्य के अर्थ को विस्तार (व्यास) से कई वाक्यों में कहा जाता है, जैसे—'परस्वं नापहर्तव्यम्' इस अर्थ को 'परान्नं नापहर्तव्यम्, परवस्त्रापहारोऽनुचितः' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा जाता है। (घ) कहीं एक वाक्य के द्वारा संक्षेप में (समास) अनेक वाक्यों का अर्थ प्रकट कर दिया जाता है; जैसे—'ते हिमालयमामन्त्र्य' (ऊपर उदाहरण २४६) में समस्त श्लोक एक ही वाक्य है जो अनेक वाक्यों के आमन्त्रण आदि अर्थ का संक्षेपतः अभिधान करता है। (ङ) 'साभिप्रायत्व' का अर्थ है विशेषण की सार्थकता जैसे—कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' यहाँ 'पिनाकपाणि' (जिसके हाथ में पिनाक है) विशेषण प्रकरण में उपयुक्त है।—इस प्रौढिरूप ओज के प्रथम चार प्रकार तो गुण ही नहीं है; *क्योंकि इनके बिना भी काव्य-व्यवहार होता है। भाव यह है कि* वामन आदि के मतानुसार गुण ही काव्य-व्यवहार के प्रवर्तक हैं किन्तु इस चार प्रकार की प्रौढि के न होने पर भी 'यः कौमारहरः' इत्यादि में काव्य-व्यवहार देखा जाता है और इनके होने पर भी यदि रसादि का अभाव होता है तो काव्य-व्यवहार नहीं होता अतः ये गुण नहीं हैं; अपितु उक्ति-वैचित्र्यमात्र हैं। जो प्रौढि का साभिप्रायत्व रूप पञ्चम प्रकार है। यह अपुष्टार्थत्व दोष का अभावमात्र ही है, पृथक् गुण नहीं।

(२) अर्थवैमल्यं प्रसादः—(३·२·३) अर्थात् प्रयुक्त पदों द्वारा अपेक्षित अर्थ की स्पष्टतया प्रतीति होना, जैसे—'काञ्चीपद' (नितम्ब) शब्द का प्रयोग प्रसाद गुण युक्त है 'काञ्चीगुणस्थान' शब्द का नहीं। यह अधिकपदत्व दोष का अभावमात्र ही है, पृथक् गुण नहीं।

(३) उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्—(३·२·१०) कथन का अनूठापन अर्थात् एक ही अर्थ को भिन्न प्रकार से (भङ्ग्यन्तरेण) कहना ही माधुर्य है, जैसे—'यदि दहत्य-

नलो किमङ्गुतम्', (उदा० २७२) इत्यादि । वह अनवीकृत दोष का अभावमात्र है, पृथक् गुण नहीं ।

(४) अपारुष्यं सौकुमार्यम्—(३·२·११) कठोर बात को कोमल रीति से कहना, जैसे 'स मृतः' के बदले 'कीर्तिशेषं गतः' इस प्रकार कहना । यह अमङ्गल रूप अश्लील दोष का अभावमात्र है, गुण नहीं ।

(५) अग्राम्यत्वमुदारता (३·२·१२)—ग्राम्यता के प्रसङ्ग में भी विदग्धता से किसी अर्थ को प्रकट करना—'त्वमेवंसौन्दर्या' इत्यादि (२२८ उदाहरण में) 'अतः शेषञ्चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया' यहाँ 'समागम' (शेष) अर्थ को विदग्धता से कहा गया है । यह उदारता ग्राम्यता दोष का अभाव मात्र ही है गुण नहीं ।

(६) वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् अर्थव्यक्तिः (३·२·१३)—वर्णनीय वस्तु (बालक आदि) के स्वभाव (रूप क्रिया आदि) का स्पष्ट वर्णन करना, जैसे—

कलक्वणनगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः । पारावतः परिभ्रम्य रिरसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥

यह स्वभावोक्ति (डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्) अलङ्कार मे ही संगृहीत हो जाती है ।

(७) दीप्तरसत्वं कान्तिः—(३·२·१४) अर्थात् शृङ्गारादि रस की स्पष्टतया प्रतीति होना । जैसे—*प्रेयान् सोयमपाकृत.* (*उदाहरण ६८*) में शृङ्गार रस की स्फुट प्रतीति हो रही है । यह 'कान्ति' नामक अर्थ-गुण रसध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य में ही संगृहीत हो जाता है ।

(८) घटना श्लेषः (३·२·४)—क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगो घटना, स श्लेषः । क्रम के अतिक्रमण (अथवा क्रम अतिक्रमण) में होने वाली अस्पष्टता (अनुल्वणता) में युक्तिपूर्वक मेल (योग) बैठा देना । जैसे—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादराद्—
एकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लासन्मानसाम्—
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

यहाँ जिसके नेत्र मूँदे हैं (पिहितनयन) उससे दूसरी का चुम्बन ही क्रम का अतिक्रमण है, उस (पिहितनयना) ने इस चुम्बन को नहीं जाना यही अस्फुटता है, उसका युक्तिपूर्वक मेल बैठाने के लिये 'नयन मूँदना' गर्दन टेढ़ी करना आदि का कथन किया गया है । यह उक्ति-वैचित्र्य मात्र ही है ।

(९) अवैषम्यं समता (३·२·५)—प्रक्रम भङ्ग न होना, उपक्रम तथा उपसंहार में विषमता न होना, जैसे—'उदेति सविता ताम्रः' (२४४ उदाहरण) । यह भी प्रक्रमभङ्ग दोष का अभाव मात्र है, अर्थगुण नहीं ।

(१०) अर्थदृष्टिः समाधिः । अर्थो द्विविधः अयोनिरन्यच्छायायोनिश्च (३·२·६, ७)—अर्थात् किसी (कवि) के द्वारा अनुल्लिखित (अयोनि) नितान्त नवीन एवं प्राचीन कवियों द्वारा उल्लिखित अर्थ के आधार पर उद्भावित नवीन (अन्यच्छायायोनि) अर्थ का काव्य में दर्शन होना ही समाधि नामक अर्थगुण है ।

(६८) प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ॥
वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥७३॥

के कस्य इत्याह—

(६९) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू,
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना यथा ॥७४॥

ट-ठ-ड-ढ वर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः, तथा रेफणकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः, समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः, तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका।

उदाहरणम्,—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।

जैसे—'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्' यहाँ नारङ्गी का हूणचिबुक के साथ उपमानोपमेयभाव नितान्त नवीन (अयोनि) है। इसी प्रकार निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिता कापि। नीलोत्पलेऽपि विमृशति कर-मर्पयितुं कुसुमलावी॥ यहाँ नयन का नीलोत्पल के साथ सादृश्य तो कवि प्रसिद्ध है किन्तु उसके आधार पर नूतन अर्थ की उद्भावना की गई है। आचार्य मम्मट का कथन है कि यह समाधि नामक अर्थ-गुण काव्य के स्वरूप का निर्वाहकमात्र है, उत्कर्षा-धायक या शोभाजनक नहीं, अतः यह गुण नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थ-गुणों को भी पृथक् कहने की आवश्य-कता नहीं।

गुणों के व्यञ्जक-वर्ण आदि

अनुवाद—जो (माधुर्य आदि, औपचारिक रूप से) शब्द के गुण कहे गये हैं, वस्तुतः (१) वर्ण (२) समास तथा (३) रचना (पदसंघटना) उन माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक होते हैं (इताः=प्राप्ताः)। (६८)

कौन से (वर्ण आदि) किस (गुण) के व्यञ्जक हैं, बतलाते हैं—

(माधुर्यव्यञ्जक)—वे ट वर्ग भिन्न स्पर्श वर्ण ('क' से 'म' पर्यन्त) जो अग्र भाग में अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण (ङ, ञ आदि) से युक्त हों (अनङ्ग, कुञ्ज आदि) तथा लघु (स्वर) जिनके बीच हों ऐसे 'र' और 'ण' एवं अल्प समास वाली या मध्य समास (वृत्ति) वाली रचना माधुर्य की व्यञ्जक है। (६९)

ट, ठ, ड, ढ, वर्जित 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त वर्ण जो पूर्व भाग में (शिरसि) अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त हों तथा रेफ और णकार (ण) जिनके मध्य में ह्रस्व स्वर हो—ये वर्ण (१) और समास का अभाव अर्थात् अल्प समास अथवा मध्यम समास यह समास (२) तथा अन्य पद के सम्बन्ध से सौकुमार्ययुक्त रचना (जैसे—'अलङ्कृत' इस पद में सन्धि होने पर मधुर वर्णोत्पत्ति हो जाती है)—यह रचना, (३) तीनों माधुर्य के व्यञ्जक हैं। इसका उदाहरण है—

"उस (स्तन भार से) झुके अङ्ग वाली सुन्दरी का शरीर, जो कामदेव की रङ्गभूमि के सदृश है, जो भङ्गिमाओं (हाव भावों) से इस प्रकार (आदर के साथ)

कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥३४७॥

(१००) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥७५॥

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीयचतुर्थयोः, रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित्, तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः, टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः, शकारषकारौ, दीर्घसमासः विकटा सङ्घटना ओजसः । उदाहरणम्—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्तेत्यादि ॥३४८॥

(१०१) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥७६॥

अपना लिया है कि जिससे ये भङ्गिमाएँ तरुणों के हृदय को चञ्चलता (शान्तापर) के विचार (चिन्तन) से युक्त कर देती हैं ॥३४७॥

प्रभा—यहाँ पर गकार तथा तकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त हैं तथा रङ्ग, शान्तापर आदि में ह्रस्व से व्यवहित रेफ वर्ण है। 'अनङ्गरङ्गप्रतिम यह मध्यम समास है (वृत्ति का अर्थ यहाँ पर 'समास' ही है) तथा 'प्रतिमं तदङ्गम्' इत्यादि माधुर्यवती रचना है। इस प्रकार यहाँ वर्ण, समास तथा रचना तीनों ही विप्रलम्भ शृङ्गार में माधुर्य गुण के व्यञ्जक हैं ॥१००॥

अनुवाद—(ओज के व्यञ्जक)—(वर्गों के) प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण (अन्त्ययोः) का योग (साहचर्य), रेफ से किसी वर्ण का (ऊपर, नीचे) सम्बन्ध, तुल्यवर्णों का योग, ट आदि (चार वर्ण), श, ष—(ये वर्ण); दीर्घ समास और विकट (उद्धत) रचना (गुम्फ)—ये ओज गुण में व्यञ्जक हैं। (१००)

(कारिका में) (१) वर्गों के प्रथम-तृतीय वर्णों के साथ द्वितीय तथा चतुर्थ का, रेफ के साथ नीचे या ऊपर अथवा दोनों प्रकार से जिस किसी वर्ण का तथा दो तुल्य वर्णों का अर्थात् किसी वर्ण का उसके साथ हो (जैसे कुक्कुर) सम्बन्ध होना; ट वर्ग अर्थात् 'ण' वर्ण रहित (ट, ठ, ड, ढ) 'श' तथा 'ष'—ये वर्ण, (२) दीर्घ समास तथा (३) विकट रचना—ये तीनों ओज गुण के व्यञ्जक हैं। जैसे—'मूर्ध्ना-मुद्वृत्तकृत्त' इत्यादि (ऊपर उदाहरण १५६) ॥३४८॥

प्रभा—उपर्युक्त उदाहरण में 'मूर्ध्नाम्' 'उपसर्पिदर्प' में ऊपर तथा 'अङ्घ्रि' में नीचे रेफ का योग है, 'उद्वृत्त', 'कृत्त' आदि में दो तुल्यवर्णों (त) का योग है तथा 'ईश' आदि में श' वर्ण और 'दोष्णाम्' आदि में 'ष' वर्ण है। 'दीर्घ समास तथा विकट रचना है ॥

अनुवाद—(प्रसाद गुण के व्यञ्जक)—जिस (प्रसाद-व्यञ्जक शब्द आदि) के द्वारा श्रवण मात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाती है; जो सब (रसों तथा

समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च। उदाहरणम्—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥३४६॥

यद्यपि गुणपरतन्त्राः सङ्घटनादयस्तथापि,

(१०२) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥७७॥

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः।

रचनाओं) में समान रूप से हो सकता है, यह प्रसाद व्यञ्जक (वर्ण तथा रचना आदि) माना गया है। (१०१)

(कारिका में) समग्राणां अर्थात् समस्त रसों तथा रचनाओं का, उदाहरण यह है—

'जो स्थूल स्तनयुगल तथा जघन के सम्पर्क से दोनों ओर से म्लान हो गई है, क्षीण (तनोः) मध्यभाग से सम्पर्क न पाकर मध्यभाग में (अन्तः) हरी हो है, भुजलता के शिथिलतापूर्वक गिरने के सम्बन्ध से (वलनैः) व्यस्त-रचना वाली हो गई है; इस प्रकार की कमलिनी-पत्रों की यह शय्या इस कृशाङ्गी (सागरिका) के सन्ताप को बतला रही है' ॥३४६॥

प्रभा—'परिम्लान' इत्यादि रत्नावली नाटिका में सागरिका को लक्ष्य करके वत्सराज की उक्ति है। यहाँ अन्वय के लिये आकाङ्क्षित समस्त पद यथास्थान रखे गये हैं अतः श्रवणमात्र से ही अन्वयबोध हो जाता है। इसी से यहाँ माधुर्य के व्यञ्जक वर्ण, मध्यमसमास तथा माधुर्यवर्ती रचना ये सभी प्रसाद गुण के व्यञ्जक हैं।

वर्ण आदि की गुण-व्यञ्जकता में अपवाद

अनुवाद—यद्यपि रचना (वर्ण, समास) आदि गुणों के अधीन (नियत गुणों के व्यञ्जक) हैं तथापि—कहीं-कहीं (क) वक्ता (कवि तथा कविनिबद्ध पात्र) (ख) वाच्य (वर्णनीय विषय) तथा (ग) प्रबन्ध (महाकाव्य और नाटक आदि) के औचित्य के अनुसार रचना, समास तथा वर्णों का अन्यथा होना (गुण की परतन्त्रता का अभाव) भी इष्ट है। (१०२)

(क) कहीं-कहीं वाच्य तथा प्रबन्ध की अपेक्षा किये बिना ही वक्तृगत औचित्य के अनुसार रचना आदि होते हैं (गुणाभिव्यञ्जन नियम के अनुसार नहीं) जैसे—

यथा—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेपु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ।३५०।

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम् अभिनेयार्थं च काव्यमिति तत्प्रतिकूला उद्धता रचनादयः। वक्ता चात्र भीमसेनः।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः।

यथा—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात-
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम्।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजाम्
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम्।।३५१।।

'जो (दुन्दुभि अर्थात् उसका शब्द) विलोडन से विक्षुब्ध समुद्र के जल से व्याप्त-गुहा वाले चलते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर है, जो वादन-दण्ड (कोण) के आघात के समय गरजते हुए प्रलयकालीन मेघों की घटा के परस्पर संघर्ष (की गर्जना) के समान भयङ्कर है, द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है तथा कौरव वंश के विनाश रूपी उत्पात का अशुभसूचक ध्वनि (निर्घात) युक्त वायु है; हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के सदृश यह दुन्दुभि (रण भेरी) किस (शक्तिशाली) ने बजाई है (ताडितः)' ।।३५०।।

(वेणीसंहार नाटक में भीमसेन की) इस उक्ति में वर्णनीय अर्थ क्रोध आदि दीप्त भावों का व्यञ्जक नहीं है (क्योंकि वह केवल प्रश्न रूप है) तथा यह काव्य भी अभिनय योग्य वस्तु वाला अर्थात् नाटक है' अतः उद्धत रचना (दीर्घसमास) आदि नाटकरूप प्रबन्ध के प्रतिकूल है; किन्तु यहां पर वक्ता भीमसेन है [रौद्ररस प्रधान धीरोद्धत नायक भीमसेन के वक्तृगत-औचित्य के कारण ही यहां रचनादि हैं, गुण की अभिव्यञ्जकता के अनुसार नहीं]।

(ख) कहीं-कहीं वक्ता और प्रबन्ध की अपेक्षा किये बिना वाच्यगत औचित्य के अनुसार ही रचना आदि होते हैं (गुणभिव्यञ्जन नियम से नहीं), जैसे—

'यह कुम्भकर्ण का भयानक सिर आकाश से गिर रहा है, जिसे प्रौढ प्रहार (छेद=खड्ग का प्रहार, छिद्यते अनेनेति) के अनुरूप उछलने के वेग के कारण (भ्रम से) राहु के उपघात के भय से घोड़ों को खींचकर सूर्यरथ को तिरछा कर लेने वाले अरुण (सूर्य-सारथि) के द्वारा देखा जा रहा है, तथा जो ग्रीवा के छिद्रों में प्रविष्ट वायु के भांय भांय शब्दों से मानों श्रीराम के पराक्रम की स्तुति कर रहा है' ।।३५१।।

अथ नवम उल्लासः

[शब्दालङ्कारनिर्णयात्मकः]

गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह—

काव्य लक्षण में 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस प्रकार गुण के पश्चात् अलङ्कार का उल्लेख किया गया है अतएव गुण-विवेचन के अनन्तर अलङ्कारों का निरूपण किया जा रहा है। इनमें भी शब्दालङ्कारों का प्रथम स्थान है इसी हेतु क्रमशः शब्दचित्र (नवम उल्लास में) तथा अर्थचित्र (दशम उल्लास में) का वर्णन किया जा रहा है।

अनुवाद—गुणों का विवेचन कर लेने पर अलङ्कार-निरूपण का अवसर (प्राप्त) है इसलिये अब (प्रथमतः) शब्दालङ्कारों का निरूपण करते हैं—

प्रभा—(१) यहाँ अलङ्कार का सामान्य लक्षण नहीं दिया गया। इसका लक्षण अष्टम उल्लास (सूत्र ८७) में गुण और अलङ्कार का भेद दिखलाते हुए किया जा चुका है। मम्मट के अनुसार अलङ्कारों का काव्य में क्या स्थान है, यह भी वहीं तथा काव्यलक्षण की व्याख्या के अवसर पर निरूपण किया जा चुका है। भाव यह है कि मम्मट ने 'तददोषौ' इत्यादि लक्षण द्वारा जो काव्य का स्वरूप-निरूपण किया है, उसमें अलङ्कार भी काव्य के अनिवार्य (अपरिहार्य) धर्म ही हैं; हाँ अलङ्कारों की स्फुटता अनिवार्य नहीं। अतः स्फुट अलङ्कारों के बिना भी काव्य हो सकता है। इसीलिये 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इसका अर्थ वृत्ति में यह किया गया है—'क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' (सूत्र १)। इस प्रकार न तो यही कहना युक्तियुक्त है कि मम्मट ने अलङ्काररहित को भी काव्य माना है, और न ही जयदेव का निम्नलिखित आक्षेप मम्मट पर लागू होता है—

> अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
> असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥

अर्थात् जो अलङ्काररहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह उष्णता-रहित को भी अग्नि क्यों नहीं मान लेता ? (२) अलङ्कार का आधार शब्द और अर्थ होते हैं। इसी हेतु अलङ्कार तीन प्रकार के हैं—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। जो शब्द पर आश्रित हैं; शब्द का परिवर्तन हो जाने पर अर्थात् किसी शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने पर जहाँ अलङ्कार नहीं रहता (=शब्दपरिवृत्त्यसहत्व=शब्द के परिवर्तन को न सहना), वे शब्दालङ्कार हैं। किन्तु जो अर्थ पर आश्रित हैं, जहाँ किसी शब्द का पर्यायवाची रख देने पर भी अलङ्कार बना रहता है (शब्दपरिवृत्तिसहत्व=शब्द के परिवर्तन को सहना) वे अर्थालङ्कार

(१०३) यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥७८॥

तथेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा—

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥३५२॥

कहलाते है। जो अलङ्कार शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित हैं, वे उभयालङ्कार कहलाते हैं। यहाँ विशेष शब्दालङ्कारों का निरूपण किया जाता है। काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर के अनुसार शब्दालङ्कार ये हैं—

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके । पुनरुक्तवदाभासः शब्दालङ्कृतयस्तु षट् ॥

इनमें वक्रोति अलङ्कार विशेष महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है, अतः प्रथमतः वक्रोक्ति का निरूपण किया जाता है—

अनुवाद—[१. वक्रोक्ति] (वक्ता के द्वारा) किसी अभिप्राय से कहा गया वाक्य यदि अन्य व्यक्ति (श्रोता) के द्वारा श्लेष या काकुरूप ध्वनि-विकार के हेतु से अन्य अर्थ में कल्पित कर लिया जाता है तो वह 'वक्रोक्ति' (नामक) अलङ्कार है; जो उस प्रकार से दो तरह का है। (१०३)

(कारिका में) 'तथा अर्थात् उस प्रकार (१) (श्लेष से) श्लेष वक्रोक्ति और (२) (काकु से) काकु वक्रोक्ति।।

प्रभा—जहाँ वक्ता द्वारा किसी अभिप्राय से कथित वाक्य में श्रोता अन्य अर्थ की कल्पना करता है वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। इसी से यह अपह्नुति से भिन्न है क्योंकि वहाँ वक्ता स्वयं ही अन्यथा कल्पना करता है।

श्लेष दो प्रकार का होता है—(क) सभङ्ग तथा (ख) अभङ्ग। इन दोनों के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

अनुवाद—(१ क) उनमें से पदभङ्ग श्लेष के कारण से होने वाली वक्रोक्ति का उदाहरण जैसे—

(एक) यदि तुम नारियों के (नारीणाम्) अनुकूल आचरण करते हो तो विज्ञ हो। (अन्य) कौन बुद्धिमान् है जो शत्रुओं (न+अरीणाम्) अर्थात् विरोधियों (वामानाम्) का हित करता है? (एक) तो आप नारियों के (वामानां=अबलानाम्) हितकारी (हितकृत्) नहीं हैं? (अन्य) भला, निर्बल रूप से प्रसिद्ध जनों का (अबलानां=दुर्बलानाम्) हितविघात (हितकृत्=हितकर्तनम्, हित-छेद) भी क्या उचित है? (एक) आप में इन्द्र (बलासुर का नाश करने के कारण प्रसिद्ध) के हित-विनाश (हितकर्त) करने का सामर्थ्य ही कहाँ है? ॥३५२॥

अभङ्गश्लेषेण यथा—

> अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
> त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥३५३॥

काक्वा यथा—

> गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
> अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि, सुरभिसमयेऽसौ ॥३५४॥

(१ ख) अभङ्गश्लेष के कारण होने वाली वक्रोक्ति (का उदाहरण); जैसे (एक) 'अहो' ? तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्रूर (दारुण) किसने बना दी है ? (अन्य) अरे, बुद्धि तो त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों वाली) सुनी जाती है, कहीं भी काष्ठात्मक (दारुमयी, काष्ठनिर्मित) नहीं ॥३५३॥

(२) काकु नामक ध्वनि विकार से होने वाली वक्रोक्ति (का उदाहरण) जैसे—[नायिका की सखी के प्रति उक्ति] 'हे सखि, वे (प्रियतम) गुरुजनों की अधीनता के कारण दूर देश जाने के लिये उद्यत हैं, क्या वे भ्रमरकुल तथा कोकिलों से रमणीय वसन्त काल में भी नहीं आयेंगे ? (लौटेंगे) ? ॥३५४॥

प्रभा—(१ क) 'नारीणाम्' इत्यादि पद्य में एक ने 'नारीणाम्' शब्द स्त्रियों का' इस अर्थ में कहा था, दूसरे ने 'न+अरीणाम्'=शत्रुओं का नहीं यह—अर्थ कल्पित किया। इस प्रकार दूसरे के द्वारा शत्रु अर्थ में प्रयुक्त 'वामानाम्' को वक्ता (प्रथम) ने ही नारी (अबला) अर्थ में मान लिया। तब प्रथम के द्वारा नारी अर्थ में 'अबलानाम्' तथा हितकारी अर्थ में 'हितकृत्' (हितं करोति इति) का प्रयोग किया गया तो दूसरे ने इनका अर्थ क्रमशः 'निर्बल' और 'हितकर्तन' (हितं कृन्तति छिनत्ति इति) कल्पित किया। फिर दूसरे के 'निर्बल' अर्थ में प्रयुक्त 'बलाभाव-प्रसिद्धात्मनः' (बलाभावेन शक्त्यभावेन प्रसिद्ध आत्मा स्वरूपं यस्य) का प्रथम ने बलासुरनाशक अर्थ (बलस्य बलनाम्नोऽसुरस्य अभावेन नाशेन प्रसिद्धस्वरूपस्य) कल्पित कर लिया।

यहाँ पर 'नारीणाम्' तथा 'अबलानाम्' पद में अभङ्ग श्लेष है नारी तथा अबला शब्द स्त्री अर्थ में रूढ़ हैं तथा 'न+अरीणाम्' आदि से पदभङ्ग के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। 'वाम' इत्यादि पदों में यहाँ अभङ्गश्लेष ही है।

(१—ख) 'अहो' इत्यादि केवल अभङ्गशब्दश्लेष का उदाहरण है। यहाँ 'दारुणा' के दो अर्थ हैं—'क्रूर' (प्रथमान्त बहुवचन) तथा 'काष्ठ से' ('दारु' शब्द से तृतीया-एकवचन)। किसी पक्ष में भी 'दारुणा' शब्द का भङ्ग नहीं होता तथा इसी के आधार पर वक्ता के अभिप्राय से अन्य अर्थ की कल्पना की जा रही है।

(२) 'गुरुजन' इत्यादि में नायिका ने 'नहीं आयेंगे' इसी अभिप्राय से 'नैष्यति' शब्द का प्रयोग किया था; किन्तु सखी ने काकु नामक ध्वनि विकार के साथ

(१०४) वर्णसाम्यमनुप्रासः

स्वरवैसादृश्येपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।

(१०५) छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

छेकाः विदग्धाः । वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः । गत इति-छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च ।

किन्तयोः स्वरूपमित्याह—

(१०६) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः ।

(उत्तर रूप में) इसका उच्चारण करके 'नहीं आवेंगे ऐसा नहीं अर्थात् अवश्य आवेंगे' यह अभिप्राय प्रकट किया । अतः काकुवक्रोक्ति है ।

अनुवाद—[२ अनुप्रास] वर्णों (व्यञ्जनों) की समानता अनुप्रास अलङ्कार है । (१०४) वर्णसाम्य अर्थात् स्वरों के असमान होने पर भी व्यञ्जनों की समानता रस (भाव) आदि के अनुकूल (व्यञ्जनों की) बहुत व्यवधान से रहित चमत्कार जनक (प्रकृष्ट) योजना (न्यासः=आवृत्ति.) ही अनुप्रास है ।

(अनुप्रास) दो प्रकार का है—(१) छेकगत, (२) वृत्तिगत (१०५) ।

छेक अर्थात् विदग्ध या चतुर । वृत्ति अर्थात् नियम वर्णों में रहने वाला रसविषयक (रसव्यञ्जना सम्बन्धी) व्यापार । गत अर्थात् आश्रित कहने से—छेका-नुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास (इन नामों से अभिप्राय है) ।

प्रभा—रसानुकूल होने के कारण अनुप्रास अलङ्कार का अन्य शब्दालङ्कारों से पूर्व वर्णन किया जा रहा है । रसभावादि के अनुकूल वर्ण तथा शब्दो की इस प्रकार योजना करना कि उनके बीच में अधिक व्यवधान न हो अनुप्रास अलङ्कार है । यह दो प्रकार है वर्णानुप्रास तथा शब्दानुप्रास यहाँ वर्ण शब्द का अर्थ व्यञ्जन होता है, अतएव जहाँ व्यञ्जन-सादृश्य होता है वहाँ स्वरों की असमानता होने पर भी अनुप्रास अलङ्कार होता है । वर्णानुप्रास दो प्रकार का है–(१) छेकानुप्रास तथा (२) वृत्त्यनुप्रास छेक शब्द का अर्थ विदग्ध चतुर (सहृदय) जन है । विदग्ध जनों का अतिप्रिय होने से इसका यह नाम पड़ा है । मधुर आदि रसों के लिए जो कोमल-वर्ण आदि के प्रयोग का नियम है उन वर्णों का रस-व्यञ्जना के अनुकूल व्यापार अर्थात् विशेष आनुपूर्वी से वर्ण-संघटना ही वृत्ति है, वृत्ति पर आश्रित अनुप्रास ही वृत्त्यनुप्रास है ।

अनुवाद—उन (छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास) दोनों का क्या स्वरूप है, यह बतलाते हैं—(१ छेकानुप्रास) अनेक (व्यञ्जनों) की एक बार समानता पूर्व (पहला) अर्थात् छेकानुप्रास है । (१०६)

अनेकस्य अर्थाद् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः ।
उदाहरणम्—

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥२५५॥

(१०७) एकस्याप्यसकृत्परः ॥७६॥

एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः ।

तत्र—

(१०८) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

(१०९) ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम् ।

(११०) कोमला परैः ॥८०॥

परैः शेषैः । तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति ।

उदाहरणम्—

अनेकस्य अर्थात् एक से अधिक व्यञ्जनों का सकृत् अर्थात् एक बार सादृश्य छेकानुप्रास कहलाता है । उदाहरण (यह) है—'(प्रभातवर्णन) तत्पश्चात् अरुण (सूर्य सारथि) के सञ्चार से मन्द-प्रभा वाले चन्द्रमा ने काम से परिक्षीण कामिनी के कपोलों जैसी पाण्डुता को धारण कर लिया ॥२५५॥

प्रभा—यहाँ 'स्पन्द-मन्दी' इसमें 'न्' और 'द्' का तथा 'गण्डपाण्डु' में 'ण्' और 'ड्' का अर्थात् अनेक व्यञ्जनों का एक बार सादृश्य है अतः छेकानुप्रास है ।

अनुवाद—(२. वृत्त्यनुप्रास)—एक (व्यञ्जन) का (अथवा अनेक का) भी अनेक बार सादृश्य दूसरा (परः) अर्थात् वृत्त्यनुप्रास है । (१०७)

एक का तथा 'अपि' शब्द के प्रयोग से अनेक व्यञ्जनों का दो बार या अधिक बार सादृश्य होना ही वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है ।

(प्रासङ्गिक वृत्ति-विचार) उन (वृत्तियों) में—माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका कही जाती है । (१०८) तथा ओज-प्रकाशक वर्णों से युक्त परुषा वृत्ति है । (१०९)

दोनों वृत्तियों के उदाहरण पहले ('अनङ्गरङ्ग' उदाहरण ३७०—उपनागरिका तथा 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्त०' उदाहरण ३४८—परुषा) दिये जा चुके हैं ।

पर अर्थात् अन्य (माधुर्य तथा ओज के व्यञ्जक वर्णों से भिन्न) वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला है । (११०)

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥३५६॥

(१११) केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी—गौडी—पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः ।

(कारिका में) 'परैः' अर्थात् शेष वर्णों से युक्त वृत्ति (कोमला) है। उसको ही कुछ (उद्भट आदि) 'ग्राम्या' वृत्ति कहते हैं। उसका उदाहरण है 'अपसारय०' इत्यादि (ऊपर उदाहरण ३४१) ॥३५६॥

किन्हीं के मतानुसार ये (तीनों वृत्तियाँ) ही 'वैदर्भी' इत्यादि रीतियाँ हैं (१११)। इन तीन (उपनागरिका, परुषा तथा कोमला) वृत्तियों को ही वामन आदि आचार्यों के मत में वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली नामक रीतियाँ माना गया है।

प्रभा—भाव यह है कि अनेक व्यञ्जनो का एक बार साहश्य छेकानुप्रास है, एक या अनेक व्यञ्जनों का अनेक वार साहश्य वृत्त्यनुप्रास है। यद्यपि अनेक आचार्यों के मतानुसार एक व्यञ्जन की एक बार समानता भी अनुप्रास (जैसे ओत-प्रोत में 'त्') अलङ्कार है तथापि आचार्य मम्मट के मतानुसार वह अनुप्रास नहीं; क्योंकि वह चमत्कारजनक नहीं होता।

प्राचीन आचार्य उद्भट आदि ने काव्य की तीन वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला का निरूपण किया था। उनमें कहीं २ नाम-भेद तथा संख्याभेद भी था। आचार्य वामन ने उन्ही वृत्तियों का वैदर्भी आदि रीति के नाम से विवेचन किया था और रीति को काव्य की आत्मा वतलाया था दण्डी और कुन्तक ने मार्ग, नाम से तथा आनन्दवर्धन ने सङ्घटना नाम से इनका उल्लेख किया था। आचार्य मम्मट ने (१) तीन गुणों के अनुसार तीन प्रकार की गुणाभिव्यञ्जक वृत्तियों को ही स्वीकार किया है (२) वृत्ति, रीति मार्ग तथा संघटना आदि को अभिन्न (एक ही) माना है तथा (३) उनका स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर वृत्त्यनुप्रास में ही अन्तर्भाव कर दिया है।

टिप्पणी:—(i) उद्भट ने वृत्त्यनुप्रास में तीनो वृत्तियों का इस प्रकार उल्लेख किया है—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु । पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ।

तथा उन्होंने 'कोमल वृत्ति' को 'ग्राम्या' नाम से इस प्रकार निरूपित किया है—

शेषैर्वर्णैर्यथायोगं प्रथितां कोमलाख्यया । ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्ये निष्णातबुद्धयः ।

(ii) भट्ट वामन की उक्ति है—'रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्टा पदरचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा । सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च । (काव्यालङ्कारसूत्र १·२. ६-९)

(११२) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥८१॥

शब्दगतोऽनुप्रासः। शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात्। लाटजनवल्लभत्वाच्च लाटानुप्रासः। एष पदानुप्रास इत्यन्ये।

(iii) ध्वनिकार ने भी वर्ण-संघटना को ही 'वृत्ति' बतलाया है—'वर्णसंघटना धर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्, रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः।' (ध्वन्यालोक १.१)

(iv) आचार्य अभिनवगुप्त—'तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासेभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाप्यधिकव्यापाराः' (लोचन १.१)।

(v) साहित्यदर्पणकार ने चार रीतियाँ मानी हैं—'वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।'

अनुवाद—(३. शब्दानुप्रास) शब्दानुप्रास तो वह है जहाँ (समान शब्दार्थ होने पर) केवल तात्पर्य मात्र का भेद होता है, वह लाटानुप्रास कहलाता है।

शब्द और अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्यमात्र का भेद होने से शब्दगत अनुप्रास होता है तथा यह लाट-देशवासियों का प्रिय होने के कारण लाटानुप्रास कहलाता है। यही पदानुप्रास है, ऐसा कुछ (आलङ्कारिक) मानते हैं।

प्रभा—छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास नामक दो प्रकार के वर्णानुप्रास का निरूपण करके यहाँ शब्दानुप्रास का विवेचन किया जा रहा है। सार्थक वर्ण-समूह अर्थात् शब्द की आवृत्ति होने पर यदि तात्पर्य में भेद होता है अर्थात् जब किसी शब्द (पद या प्रातिपदिक) की आवृत्ति होती है और उसका अर्थ प्रत्येक स्थान पर समान ही होता है किन्तु अन्वय में भेद होने से (=उद्देश्यविधेयभाव या कर्मकर्तृभाव आदि में अन्तर होने से) तात्पर्य में भेद हो जाता है तो वहाँ शब्दानुप्रास होता है। शब्दानुप्रास को ही लाटानुप्रास कहते हैं। कुछ आचार्य (उद्भट आदि) इसे पदानुप्रास भी कहते हैं; किन्तु आचार्य मम्मट इसे 'शब्दानुप्रास' कहना ही उपयुक्त समझते हैं, कारण यह है कि 'शब्द' से प्रातिपदिक (बिना विभक्ति वाला) तथा विभक्त्यन्त (पद) दोनों का ग्रहण हो जाता है, 'पद' के द्वारा तो केवल विभक्त्यन्त (सुप्तिङन्त) का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार शब्दानुप्रास के प्रथमतः दो भेद हैं—पदगत तथा नाम (प्रातिपदिक) गत। पदगत लाटानुप्रास भी दो प्रकार का है—(१) अनेकपदगत तथा (२) एकपदगत। नामगत भी तीन प्रकार का है-(३) एक समासगत, (४) भिन्न समासगत, (५) समास असमासगत। इन पाँच प्रकार के लाटानुप्रास के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(११३) पदानां सः ।

स इति लाटानुप्रासः । उदाहरणम्—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥३५७॥

(११४) पदस्यापि ।

अपिशब्देन स इति समुच्चीयते । उदाहरणम्—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥३५८॥

(११५) वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।

नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च

एकस्मिन् समासे, भिन्ने वा समासे, समासासमासयोर्वा, नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम् । उदाहरणम्—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार, धरणिधर, कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३५९॥

(११६) तदेवं पञ्चधा मतः ॥८२॥

अनुवाद—(लाटानुप्रास के भेद) (१) वह (लाटानुप्रास) अनेक पदों के सादृश्य में होता है । (११३)

(कारिका में) स अर्थात् लाटानुप्रास । (अनेक पदगत लाटानुप्रास का) उदाहरण है—'जिस पुरुष के पास प्रिया नहीं है उसके लिए शीतकर (चन्द्रमा) भी दावानल है । जिसके पास प्रिया है उसके लिए दावानल भी शीतकर (चन्द्र) है ॥३५७॥

(२) वह एक पद के सादृश्य में भी होता है । (११४)

(कारिका में) 'अपि' (भी) शब्द के द्वारा 'सः' (वह) का समुच्चय किया जाता है । (एकपदगत लाटानुप्रास का) उदाहरण है—'निश्चय ही उस उत्तम नारी (वरवर्णिनी) का मुख सुधाकर (चन्द्र) ही है; किन्तु सुधाकर (चन्द्र) कलङ्करहित कहाँ हो सकता है ? ॥३५८॥

वह (लाटानुप्रास) (३) वृत्ति अर्थात् एक समास में, (४) अन्यत्र वृत्तौ अर्थात् भिन्न समास में और (५) वृत्त्यवृत्त्योः अर्थात् समास तथा असमास में प्रातिपादिक का (नाम्नः) अर्थात् नामगत ही होता है (११५)

एक समास में, भिन्न समास में अथवा समास और असमास में प्रातिपादिक का ही (लाटानुप्रास होता है, पद का नहीं (नामगत तीनों भेदों का) उदाहरण है—'सितकर' इत्यादि (ऊपर उदाहरण ३१४) ॥३५९॥

इस प्रकार लाटानुप्रास पाँच प्रकार का माना गया है । (११६)

(११७) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ॥
यमकम्

'समरसमरसोय' मित्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम् इति अर्थे सतीत्युक्तम्। सेति 'सरो रस' इत्यादि वैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता।

प्रभा—पाँच प्रकार के लाटानुप्रास के उदाहरणों में—(१) अनेकपदगत लाटानुप्रास—'यस्य न' इत्यादि उदाहरण में 'सविध' दयिता' इत्यादि अनेक पदों का सादृश्य (आवृत्ति) है, दोनों स्थलों पर इन पदों के वाच्यार्थ समान ही हैं किन्तु तात्पर्यार्थ में भेद है; जैसे—पूर्वार्द्ध में 'तुहिनदीधिति' (शीतकर, चन्द्र) उद्देश्य है तथा 'दवदहन' विधेय है, परन्तु उत्तरार्ध में 'दवदहन' उद्देश्य है और 'तुहिनदीधिति' विधेय है। इस प्रकार उद्देश्य-विधेय भाव का विपर्यास (परिवर्तन) हो जाता है, इसलिये यहाँ शाब्दबोध रूप तात्पर्य-भेद है। तात्पर्य-भेद का अभिप्राय ही है—उद्देश्य-विधेयभाव आदि या कर्तृ कर्मभाव आदि पदार्थों का सम्बन्ध।

(२) एकपदगतलाटानुप्रास—'वदनं' इत्यादि उदाहरण में केवल एक 'सुधाकर' पद की आवृत्ति है। दोनों जगह वाच्यार्थ समान है, किन्तु प्रथम 'सुधाकर' पद विधेय रूप में प्रयुक्त हुआ है तथा द्वितीय 'सुधाकर' पद उद्देश्य रूप में यही तात्पर्य-भेद है।

(३) 'सितकरकररुचिरविभा' एक समास में 'कर' प्रातिपदिक (नाम) की आवृत्ति है, अतः यहाँ एक समास में नामगत लाटानुप्रास है। (४) 'विभा' प्रातिपदिक की दो समासों में आवृत्ति है, अतएव यहाँ भिन्न समास में नामगत लाटानुप्रास है तथा (५) 'कमला' प्रातिपदिक प्रथमतः समास में है पुनः बिना समास के हो, इस लिए यहाँ समास तथा असमास में नामगत लाटानुप्रास है।

अनुवाद—(२ यमक) अर्थ होने पर, भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्ण समुदाय का पूर्वक्रम से ही (सा) आवृत्ति (पुनः श्रुतिः) यमक अलङ्कार कहलाता है। (११७)

'समर-समरसोऽयम्' इत्यादि में एक (समर) वर्णसमुदाय के सार्थक होने पर तथा दूसरे ('समरस' में 'समर') के अनर्थक होने पर (कारिका में) 'भिन्नार्थानाम्' अर्थात् भिन्न अर्थ वाले वर्ण-समुदायों का—यह कहना युक्त नहीं; इसलिए 'अर्थे सति' (=अर्थ होने पर अर्थात् यदि अर्थ हो तो भिन्न हो) ऐसा कहा गया है। ('सा पुनः श्रुतिः' में) 'सा' (वह) इसलिए है कि 'सरो रसः' इत्यादि (जहाँ वर्ण-साम्य है, किन्तु वर्ण-क्रम नहीं) की अपेक्षा विलक्षण प्रकार से उस (पूर्व) क्रम से ही वर्णों की पुनः श्रुति होनी चाहिये।

प्रभा—यमक के लक्षण-वाक्य में चार अंश हैं—(१) वर्णानां पुनः श्रुति यमकम्—अर्थात् वर्णसमुदाय की आवृत्ति यमक अलंकार है। किन्तु वर्णसमुदाय की आवृत्ति तो लाटानुप्रास में भी होती है, इसीलिए यहाँ (२) अर्थभिन्नानाम्—

(११८) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥८३॥

प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे। तदेवं पादजं नवभेदम्। अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे।

द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः। श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः। त्रिखण्डे त्रिंशत् चतुःखण्डे चत्वारिंशत्।

यह पद दिया गया है, क्योंकि लाटानुप्रास में एकार्थक वर्णसमुदाय की आवृत्ति होती है भिन्नार्थक की नहीं। अब यदि "अर्थभिन्नानां वर्णानां पुनः श्रुति यमकम्' इतना ही कहते हैं तो 'समरसमरसो' में यमक नहीं होता, क्योंकि यहाँ द्वितीय 'समर' (वर्णसमुदाय) अनर्थक है। यह तो सार्थक शब्द 'समरस' का एक-अंशमात्र है। इसी हेतु (३) अर्थे सति यह पद दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यदि अर्थ हो तो भिन्न हो। फलतः क–भिन्न २ अर्थ वाले सार्थक ख–सार्थक और निरर्थक तथा ग–सभी निरर्थक वर्णसमुदायों का यमक हुआ करता है। फिर भी एक दोष यह रह जाता है कि 'सरो रसः' में भी यमक होने लगेगा (जो अभीष्ट नहीं है) इसलिए 'पुनः श्रुतिः' के विशेषण रूप में (४) 'सा' पद दिया गया है, अर्थात् वर्णों की पुनः श्रुति क्रम से ही होनी चाहिये। सरो रस. में क्रम बदल गया है।

अनुवाद—[यमक के २ भेद] (क) पद्य के चतुर्थांश (पाद) में होने (पाद-वृत्ति) से तथा (ख) उस (पाद) के अंश में होने (पादभाग-वृत्ति) से यह यमक अनेक प्रकार का हो जाता है। (११८)

[पादवृत्ति यमक के ११ भेद]—[प्रथमः द्वितीयादौ···यम्यते—यह अन्वय है] यदि (१) प्रथम पाद द्वितीय में आवृत्त होता है (यम्यते) (२) (आदि शब्द से) तृतीय में या (३) चतुर्थ में। यदि (४) द्वितीय पाद तृतीय पाद में आवृत्त होता है या (५) चतुर्थ में। यदि (६) तृतीय पाद चतुर्थ पाद में आवृत्त होता है, यदि (७) प्रथम पाद शेष तीनों में (एक साथ) आवृत्त होता है—ये सात भेद हैं : यदि (८) प्रथम पाद द्वितीय में और तृतीय चतुर्थ में या (९) प्रथम चतुर्थ में और द्वितीय तृतीय में आवृत्त होता है तो ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार ये पादगत ९ भेद होते हैं तथा (१०) अर्ध श्लोक की आवृत्ति और (११) पूर्ण श्लोक की आवृत्ति ये दो (मिलकर ११ भेद हैं)।

[सजातीय पादभागवृत्ति के भेद] श्लोक के (प्रत्येक) पाद को दो भागों में विभक्त करने पर प्रथम (द्वितीय आदि) पाद के आद्यभाग की उपर्युक्त (पाद की) आवृत्ति के समान ही द्वितीय पाद (तृतीय आदि) के आदिभाग में आवृत्ति होने से

प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभागो द्वितीयपादादिगते आद्यार्धादिभागे यम्यते इत्याद्यन्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम्, अन्तादिकम् आद्यन्तिकम् तत्समुच्चयः, मध्यादिकम् आदिमध्यम् अन्तमध्यम् मध्यान्तिकम् तेषां समुच्चयः। तथा तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादिभागेषु अनियते च स्थाने आवृत्तिरिति प्रभूततमभेदम्। तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम्।

(१० भेद) तथा (प्रथमपादादि का) अन्त भाग (द्वितीयपादादि का) अन्तभाग में आवृत्त होने से (१० भेद)—इस प्रकार बीस भेद होते हैं। श्लोकान्तर में यह पादभाग की आवृत्ति नहीं होती (अतः पादगत ११ भेदों के समान यहाँ भी ११, ११ भेद होकर २२ नहीं होते)। इसी प्रकार पाद के तीन खण्ड करने पर तीस तथा चार खण्ड करने पर चालीस भेद होते हैं (क्योंकि प्रत्येक भाग की आवृत्ति दस प्रकार की है)।

[विजातीय भाग की आवृत्ति से भी अनेक भेद] यदि प्रथम पाद (आदि) का अन्तिम अर्ध (आदि) भाग द्वितीय पाद (आदि) के आद्य अर्ध (आदि) भाग में आवृत्त होता है तो (अन्तादिक आदि) अन्वर्थ नाम के अनुसार अनेक प्रकार का यमक होता है, जैसे—अन्तादिक, आद्यन्तिक (प्रथमपाद के आद्य भाग की द्वितीय के अन्त भाग में आवृत्ति) तथा (अन्तादिक और आद्यन्तिक) दोनों का समुच्चय। इसी प्रकार मध्यादिक (प्रथम पाद के तीन या चार खण्डों में से मध्यभाग की द्वितीय पाद के आदि भाग में आवृत्ति) आदिमध्य, अन्तमध्य, मध्यान्तिक तथा इन (दो, तीन या चार) का समुच्चय।

[एक ही पाद में भागावृत्ति से भी अनेक भेद] इसी प्रकार उस (एक) ही पाद में आद्य इत्यादि भागों की मध्यभाग आदि में आवृत्ति होती है तथा (इन नियत स्थानों के अतिरिक्त) अनियतस्थान में भी (वर्ण-समुदाय की) आवृत्ति होती है—इसलिए यमक के बहुत अधिक भेद हैं। क्योंकि यह (भेद-प्रपञ्च) काव्य (रसास्वादन) के भीतर (गन्ने की गाँठ के समान) एक (नीरस) गाँठ (गडुः=ग्रन्थि) है; इसलिए इसके भेदों के लक्षण नहीं किये गये।

प्रभा—(१) आचार्य मम्मट ने प्राचीन आचार्यों की यमक सम्बन्धी विवेचना का अनुसरण करते हुए ही यमक के भेद-प्रभेदों का निरूपण कर दिया है। वस्तुतः उनकी दृष्टि में इस भेद-प्रपञ्च का काव्य में विशेष महत्त्व नहीं है अपितु यह तो रसास्वादन में बाधक ही है। इसी से उन्होंने यमक-भेद-प्रभेदों की प्रचलित संज्ञाओं की भी उपेक्षा कर दी। पादवृत्ति यमक के ११ भेदों के क्रमशः ये नाम प्रचलित थे—१. मुख, २. संदंश, ३. आवृत्ति, ४. गर्भ, ५. संदष्टक, ६. पुच्छ, ७. पङ्क्ति, ८. युग्मक, ९. परिवृत्ति, १०. समुद्गक, ११. महायमक। आचार्य रुद्रट ने यमक का विस्तार से विवेचन किया है।

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ॥
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥३६०॥

विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ॥३६१॥

स त्वारम्भरतोऽवश्यमवलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥३६२॥
सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥३६३॥

अनुवाद—(यमक अलङ्कार के) कुछ (दिङ्मात्रम्) उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :—

[१. संदंश] 'हे राजन्, सती नारियों के आभूषण स्वरूप उमा को (शरीरार्ध से) प्राप्त करने वाले (सन्नारीभरणा या उमा ताम् अयते इति तम्) इन्दुशेखर की आराधना करके शत्रुगज-विनाशक युद्ध करने वाले (सन्नाः मृताः अरीणाम् इभाः गजाः यत्र तादृशः रणः युद्धं यस्य तथाभूतः) कपटरहित (अमायः) आप पृथिवी का विजय कीजिए।' [यहाँ प्रथम पाद की तृतीय में आवृत्ति है, अतः 'संदंश' नामक यमक है] ॥३६०॥

[२. युग्मक] 'दुर्जनों के अपसारक [महाजाः- महान् उरसवान् अजन्ति क्षिपन्ति इति दुर्जनाः ताम् नोदितुं शीलं यस्य महाज नोदी] (हंस) पक्षिरूप पुरुष [वि (पक्षी) + ना (पुरुष)], इस महात्मा (महाजनः) को बिना अपराध के ले जाने वाले (एनो विना नयता), प्राणभक्षक (असुखादिना , सुखों के संहारक (सुखादिना) यम ने इसकी रक्षा में यत्नशील जनों को विषाद प्रदान करते हुए ['यतमानानां सादं विषादं राति ददाति इति यथा स्यात्तथा'— क्रियाविशेषण] चेतना से (मानसात्) शीघ्र ही (अरं) विलग कर दिया है (अदीयत अखण्डयत)।' [यहाँ प्रथम पाद की द्वितीय में तथा तृतीय की चतुर्थ में आवृत्ति है अतः युग्मक' नामक यमक है] ॥३६१॥

[३. महायमक] 'मन्द न चलने वाले (अलसं मन्दम् अवान् अगच्छन्) विष्णु-परायण (अ–स्थितः), सात्त्विक कर्मों में तत्पर (सत्त्व-आरम्भ-रतः) समस्त शत्रुओं के विदारण में गर्वशील [सर्वदारणे यः मानः तदैषी तदिच्छाशील.) तथा (शत्रुओं के लिए) दावानल के सम.न (दावानल-सम-स्थितः) उस राजा ने तो (सतु) वश में न आने वाले (अवश्यम्) तरुसमूहों का आश्रय लेने वाले (अविलम्बिततारवम्) बल-रहित (अबल) तथा रुदन करने वाले (विततारवम्) शत्रु समूह को (आरम्) सर्वदा निश्चय ही (अवश्यम्) अत्यधिक (भरतः) युद्ध को प्राप्त कराया (रणम् आनैषीत्)।' [यहाँ पूर्ण श्लोक की आवृत्ति है अतः महायमक है] ॥३६२॥ ॥३६३॥

आनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥३६४॥
यदानतोऽयदानतो न यात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥३६५॥
सरस्वति, प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति,
सरस्वति, कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्र-सरस्वति ॥३६६॥
ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा ।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥३६७॥

[४. सन्दष्टक] 'जिसने अपनी अनन्त महिमा से विश्व को व्याप्त कर रखा है, विधाता भी जिसे (तत्त्वतः) नहीं जानते तथा जो प्रणत (नम्र) मानव पर माता के समान अनुकम्पा करती है (उसकी चरणरज मुझे सिद्धि प्रदान करे— यह अग्रिम-श्लोक में अन्वय है।' [आनन्दवर्धनाचार्यकृत देवीशतक के इस पद्य में द्वितीय पाद (खण्ड) के अन्त भाग की चतुर्थपाद-खण्ड के अन्तभाग में आवृत्ति है] ॥३६४॥

[५. आद्यन्तिक]—'जिस पार्वती को प्रणाम करके (यदानतः) यह मनुष्य पार्वती के द्वारा) शुभविधि (अय) दिये जाने के कारण (अय+दानतः) नीति के नाश (अतिक्रमण) को नहीं प्राप्त होता; शिव की प्रार्थिता (शिव-ईहिताम्) कल्याण में हितकारी (शिवे कल्याणे हिताम्), कामदेव के द्वारा भी जिसको पराजित नहीं किया गया (अस्मरामिता) उस पार्वती का मैं स्मरण करता हूँ।' [आनन्दवर्धनकृत देवीशतक के इस पद्य में एक ही पाद में आद्यभाग की अन्तभाग में आवृत्ति है, अतः 'आद्यन्तिक' यमक है] ॥३६५॥

[६. भागवृत्ति आद्यन्तिक तथा अन्तादिक का श्लोक में समुच्चय] 'हे मेरे शरीर (क्षेत्र) रूपी कुरुक्षेत्र की सरस्वती (नदी) के समान, वाग्देवी (सरस्वती), मेरे प्रति प्रसन्नता को प्राप्त हो (प्रसादं सर), मेरे चित्त रूपी समुद्र में (चित्त-सरस्वति) भली भाँति (स्थिति पुष्ट) स्थिति करो।' देवीशतक के इस पद्य के पूर्वार्द्ध में आद्यन्तिक है उत्तरार्ध में आद्यन्तिक तथा अन्तादिक है— इन दोनों का यहाँ समुच्चय है] ॥३६६॥

[७. भागवृत्ति आद्यन्तिक तथा अन्तादिक का पाद में समुच्चय]—'यह नवीन शरद् ऋतु दर्पयुक्त कामदेव के सहित आ गई है, जो सारसों या कमलों से युक्त है, बाण (शरत्) को धारण करती है (बिभ्राणा), पक्षियों के शब्द (वि-भ्राण) से रहित नहीं (न+अविभ्राणा) तथा जिसमें नवीन नदियाँ (नव+अपः) बहती हैं' ॥३६७॥

मधुपराजिपराजित-मानिनीजनमनः सुमनः सुरभि श्रियम् ।
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवणं जगत् ॥३६८॥
एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

(११९) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥८४॥

'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते, स श्लेषः। स च वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा ।

[अनियतस्थानावृत्ति-यमक]—'भ्रमरपंक्ति के द्वारा मानिनीजनों के मन को पराजित (धैर्य हीन) करने वाले पुष्पों से सुरभित, कमलों के विनाश (विप्लव) से रहित और मञ्जरीयुक्त एवं रक्तवर्ण के विस्तृत आम्रवनों से युक्त समस्त संसार (वसन्त ऋतु में) शोभा को धारण कर रहा है।' [हरविजय काव्य के इस पद्य में वर्ण-समुदाय (पराजित, पराजि' इत्यादि) की अनियत स्थान में आवृत्ति हो रही है] ॥३६८॥

इस प्रकार सहस्रों प्रकार की विचित्रता से युक्त यमक के अन्य भेद भी काव्यों से उद्धृत किये जा सकते हैं।

अनुवाद—[४.श्लेष] अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट (एकरूप) प्रतीत होते हैं, वह श्लेष अलङ्कार है। वह श्लेष अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है।

'अर्थ की भिन्नता से शब्द भी भिन्न २ होते हैं'—इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ-भेद के कारण भिन्न २ होने वाले भी शब्द जब—'काव्य के क्षेत्र में (उदात्त आदि) स्वर का विचार नहीं किया जाता' इस न्याय के अनुसार—एक उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् अपने भिन्न २ स्वरूप को छिपा लेते हैं (तथा एकरूप में भासित होते हैं) वह (शब्द) श्लेष अलङ्कार है। और यह १–वर्ण, २–पद, ३–लिङ्ग, ४–भाषा, ५–प्रकृति, ६–प्रत्यय, ७–विभक्ति तथा ८–वचन के भेद से आठ प्रकार का है।

प्रभा—भाव यह है कि एक बार उच्चरित शब्द एक अर्थ का बोध कराता है (सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति)—इस न्याय के अनुसार एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति होना असम्भव है। इसी हेतु यह सिद्धान्त बना लिया गया है कि यदि एक शब्द के अर्थ भिन्न २ हैं तो उसके आकार भी भिन्न २ हैं। जैसे 'लवण' शब्द के 'नमक' और 'सुन्दर' दो अर्थ हैं तो 'लवण' के दो भिन्न २ आकार ही दो अर्थों का बोध कराते हैं। इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों के अनेक आकार मानने

आनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥३६४॥
यदानतोऽयदानतो न यात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥३६५॥
सरस्वति, प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति,
सरस्वति, कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्र-सरस्वति ॥३६६॥
ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा ।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥३६७॥

[४. सन्दष्टक] 'जिसने अपनी अनन्त महिमा से विश्व को व्याप्त कर रक्खा है, विधाता भी जिसे (तत्त्वत.) नहीं जानते तथा जो प्रणत (नम्र) मानव पर माता के समान अनुकम्पा करती है (उसकी चरणरज मुझे सिद्धि प्रदान करे— यह अग्रिम-श्लोक में अन्वय है ।' [आनन्दवर्धनाचार्यकृत देवीशतक के इस पद्य में द्वितीय पाद (खण्ड) के अन्त भाग की चतुर्थपाद-खण्ड के अन्तभाग में आवृत्ति है] ॥३६४॥

[५. आद्यन्तिक]—'जिस पार्वती को प्रणाम करके (यदानतः) यह मनुष्य पार्वती के द्वारा) शुभविधि (अय) दिये जाने के कारण (अय+दानतः) नीति के नाश (अतिक्रमण) को नहीं प्राप्त होता; शिव की प्रार्थिता (शिव-ईहिताम्) कल्याण में हितकारी (शिवे कल्याणे हिताम्), कामदेव के द्वारा भी जिसको पराजित नहीं किया गया (अपराजिता) उस पार्वती का मैं स्मरण करता हूँ ।' [आनन्दवर्धनकृत देवीशतक के इस पद्य में एक ही पाद में आद्यभाग की अन्तभाग में आवृत्ति है, अतः— 'आद्यन्तिक' यमक है] ॥३५५॥

[६. भागवृत्ति आद्यन्तिक तथा अन्तादिक का श्लोक में समुच्चय] 'हे मेरे शरीर (क्षेत्र) रूपी कुरुक्षेत्र की सरस्वती (नदी) के समान, वाग्देवी (सरस्वती), मेरे प्रति प्रसन्नता को प्राप्त हो (प्रसादं सर), मेरे चित्त रूपी समुद्र में (चित्त-सरस्वति) भली भाँति (स्वति सुष्टु) स्थिति करो ।' . देवीशतक के इस पद्य के पूर्वार्द्ध में आद्यन्तिक है उत्तरार्ध में आद्यन्तिक तथा अन्तादिक हैं— इन तीनों का यहाँ समुच्चय है] ॥३६६॥

[७. भागवृत्ति आद्यन्तिक तथा अन्तादिक का पाद में समुच्चय]—'यह नवीन शरद् ऋतु दर्पयुक्त कामदेव के सहित आ गई है, जो सारसों या कमलों से युक्त है, काश (शरत्) को धारण करती है (बिभ्राणा), पक्षियों के शब्द (वि-भ्राण) से रहित नहीं (न+अविभ्राणा) तथा जिसमें नवीन नाड़ियाँ (नव+अनः) चलती हैं' ॥३६७॥

मधुपराजिपराजित-मानिनीजनमनः सुमनः सुरभि श्रियम् ।
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवणं जगत् ॥३६८॥
एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

(११९) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥८४॥

'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते, स श्लेषः। स च वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा ।

[अनियतस्थानावृत्ति-यमक]—'भ्रमरपंक्ति के द्वारा मानिनीजनों के मन को पराजित (धैर्य हीन) करने वाले पुष्पों से सुरभित, कमलों के विनाश (विप्लव) से रहित और मञ्जरीयुक्त एवं रक्तवर्ण के विस्तृत आम्रवनों से युक्त समस्त संसार (वसन्त ऋतु में) शोभा को धारण कर रहा है।' [हरविजय काव्य के इस पद्य में वर्ण-समुदाय (पराजित, पराजि' इत्यादि) की अनियत स्थान में आवृत्ति हो रही है] ॥३६८॥

इस प्रकार सहस्रों प्रकार की विचित्रता से युक्त यमक के अन्य भेद भी काव्यों से उद्धृत किये जा सकते हैं।

अनुवाद—[४.श्लेष] अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट (एकरूप) प्रतीत होते हैं, वह श्लेष अलङ्कार है। वह श्लेष अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है।

'अर्थ की भिन्नता से शब्द भी भिन्न २ होते हैं'—इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ-भेद के कारण भिन्न २ होने वाले भी शब्द जब—'काव्य के क्षेत्र में (उदात्त आदि) स्वर का विचार नहीं किया जाता' इस न्याय के अनुसार—एक उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् अपने भिन्न २ स्वरूप को छिपा लेते हैं (तथा एकरूप में भासित होते हैं) वह (शब्द) श्लेष अलङ्कार है। और यह १–वर्ण, २–पद, ३–लिङ्ग, ४–भाषा, ५–प्रकृति, ६–प्रत्यय, ७–विभक्ति तथा ८–वचन के भेद से आठ प्रकार का है।

प्रभा—भाव यह है कि एक बार उच्चरित शब्द एक अर्थ का बोध कराता है (सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति)—इस न्याय के अनुसार एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति होना असम्भव है। इसी हेतु यह सिद्धान्त बना लिया गया है कि यदि एक शब्द के अर्थ भिन्न २ हैं तो उसके आकार भी भिन्न २ हैं। जैसे 'लवण' शब्द के 'नमक' और 'अश्व' दो अर्थ हैं तो 'लवण' के दो भिन्न २ आकार ही दो अर्थों का बोध कराते हैं। इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों के अनेक आकार मानने

आनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम्।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥३६४॥
यदानतोऽयदानतो न यात्ययं न यात्ययम्।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥३६५॥
सरस्वति, प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति,
सरस्वति, कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्र-सरस्वति ॥३६६॥
ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥३६७॥

[४. सन्दष्टक] 'जिसने अपनी अनन्त महिमा से विश्व को व्याप्त कर रखा है, विधाता भी जिसे (तत्त्वतः) नहीं जानते तथा जो प्रणत (नम्र) मानव पर माता के समान अनुकम्पा करती है (उसकी चरणरज मुझे सिद्धि प्रदान करे— यह अग्रिम श्लोक में अन्वय है।' [आनन्दवर्धनाचार्यकृत देवीशतक के इस पद्य में द्वितीय पाद (खण्ड) के अन्त भाग की चतुर्थपाद-खण्ड के अन्तभाग में आवृत्ति है] ॥३६४॥

[५. आद्यन्तिक]—'जिस पार्वती को प्रणाम करके (यदानतः) यह मनुष्य पार्वती के द्वारा) शुभविधि (अय) दिये जाने के कारण (अय+दानतः) नीति के नाश (अतिक्रमण) को नहीं प्राप्त होता; शिव की प्रार्थिता (शिव-ईहिताम्) कल्याण में हितकारी (शिवे कल्याणे हिताम्), कामदेव के द्वारा भी जिसको पराजित नहीं किया गया (अपराजिता) उस पार्वती का मैं स्मरण करता हूँ।' [आनन्दवर्धनकृत देवीशतक के इस पद्य में एक ही पाद में आद्यभाग की अन्तभाग में आवृत्ति है; अतः— 'आद्यन्तिक' यमक है] ॥३५५॥

[६. भागवृत्ति आद्यन्तिक तथा अन्तादिक का श्लोक में समुच्चय] 'हे मेरे शरीर (क्षेत्र) रूपी कुरुक्षेत्र की सरस्वती (नदी) के समान, वाग्देवी (सरस्वती), मेरे प्रति प्रसन्नता को प्राप्त हो (प्रसादं सर), मेरे चित्त रूपी समुद्र में (चित्त-सरस्वति) भली भाँति (स्वति-सुष्ठु) स्थिति करो।' देवीशतक के इस पद्य के पूर्वार्द्ध में आद्यन्तिक है उत्तरार्ध में आद्यन्तिक तथा अन्तादिक हैं—इन तीनों का यहाँ समुच्चय है] ॥३६६॥

[७. भागवृत्ति आद्यन्तिक तथा अन्तादिक का पाद में समुच्चय]—'यह नवीन शरद् ऋतु दर्पयुक्त कामदेव के सहित आ गई है, जो सारसों या कमलों से युक्त है, काश (शरस्) को धारण करती है (बिभ्राणा), पक्षियों के शब्द (वि-भ्राण) से रहित नहीं (न+अविभ्राणा) तथा जिसमें नवीन गाड़ियाँ (नव+अनः) चलती हैं' ॥३६७॥

मधुपराजिपराजित-मानिनीजनमनः सुमनः सुरभि श्रियम् ।
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवणं जगत् ॥३६८॥
एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

(११९) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥८४॥

'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते, स श्लेषः। स च वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा ।

[अनियतस्थानावृत्ति-यमक]—'भ्रमरपंक्ति के द्वारा मानिनीजनों के मन को पराजित (धैर्य हीन) करने वाले पुष्पों से सुरभित, कमलों के विनाश (विप्लव) से रहित और मञ्जरीयुक्त एवं रक्तवर्ण के विस्तृत आम्रवनों से युक्त समस्त संसार (वसन्त ऋतु में) शोभा को धारण कर रहा है।' [हरविजय काव्य के इस पद्य में वर्ण-समुदाय (पराजित, पराजि' इत्यादि) की अनियत स्थान में आवृत्ति हो रही है] ॥३६८॥

इस प्रकार सहस्रों प्रकार की विचित्रता से युक्त यमक के अन्य भेद भी काव्यों से उद्धृत किये जा सकते हैं ।

अनुवाद—[४.श्लेष] अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहां शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट (एकरूप) प्रतीत होते हैं, वह श्लेष अलङ्कार है। वह श्लेष अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है ।

'अर्थ की भिन्नता से शब्द भी भिन्न २ होते हैं'—इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ-भेद के कारण भिन्न २ होने वाले भी शब्द जब—'काव्य के क्षेत्र में (उदात्त आदि) स्वर का विचार नहीं किया जाता' इस न्याय के अनुसार—एक उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् अपने भिन्न २ स्वरूप को छिपा लेते हैं (तथा एकरूप में भासित होते हैं) वह (शब्द) श्लेष अलङ्कार है। और वह १–वर्ण,२–पद, ३–लिङ्ग, ४–भाषा, ५–प्रकृति, ६–प्रत्यय, ७–विभक्ति तथा ८–वचन के भेद से आठ प्रकार का है ।

प्रभा—भाव यह है कि एक बार उच्चरित शब्द एक अर्थ का बोध कराता है (सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति)—इस न्याय के अनुसार एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति होना असम्भव है। इसी हेतु यह सिद्धान्त बना लिया गया है कि यदि एक शब्द के अर्थ भिन्न २ हैं तो उसके आकार भी भिन्न २ हैं। जैसे 'लवण' शब्द के 'नमक' और 'अद्रव' दो अर्थ हैं तो 'लवण' के दो भिन्न २ आकार ही दो अर्थों का बोध कराते हैं। इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों के अनेक आकार मानने

क्रमेणोदाहरणम्—

१. अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥३६६॥

२. पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव,
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥३७०॥

३. ४. भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥३७१॥

पड़ते हैं। किन्तु दो समानाकार शब्दों का एक प्रकार का उच्चारण होने के कारण उनकी भिन्नता की प्रतीति नहीं होती, इसलिए एक शब्द से ही दो अर्थों की प्रतीति हो रही है—ऐसा भान होता है। यही श्लेष है। यदि कहीं 'इन्द्रशत्रु' आदि में (भिन्न २ समास होने पर) उदात्तादि स्वरों का भेद होता है तो वह भी श्लेष में बाधक नहीं होता; क्योंकि काव्य-क्षेत्र में स्वर का ध्यान नहीं रखा जाता। संक्षेप में—अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में जहाँ दोनों अर्थों में तात्पर्य—ग्राहक प्रकरण आदि एक साथ उपस्थित होते हैं (अथवा नहीं होते) वहाँ श्लेष अलङ्कार होता है।

अनुवाद—(८ प्रकार के सभङ्ग श्लेष के) क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(१. वर्णश्लेष) 'जब 'वक्रे विधौ' अर्थात् वक्र चन्द्रमा के मस्तक पर विराजमान होने पर समस्त देवताओं में श्रेष्ठ महेश्वर की भी यह दशा हो जाती है कि भयानक नरकपाल ही उनका आभूषण होता है, गलित अङ्गों वाला भृङ्गी नामक गण ही सेवक होता है और एक बृद्ध वृषभ ही सम्पत्ति होता है तो 'विधौ वक्रे' अर्थात् ललाट में विधि या भाग्य के टेढ़ा हो जाने पर ये हम (विचारे) कौन हैं?' [यहाँ 'विधौ' शब्द में विधि तथा विधु शब्दों के 'इ' तथा 'उ' दोनों सप्तमी-एक-वचन में 'औ' हो गये हैं, अतः वर्ण-श्लेष है] ॥३६६॥

(२. पद-श्लेष)—'पृथक्' इत्यादि (ऊपर उदाहरण ३०६) ॥३७०॥

प्रभा—यहाँ 'पृथुकार्तस्वरपात्र'=१. विपुलस्वर्णपात्रों से पूर्ण तथा २. बालकों की कातरध्वनि से पूर्ण—इत्यादि प्रकार से पद-भेद है किन्तु एक उच्चारण के द्वारा दोनों का एकरूप भाषित हो रहा है अतः यहाँ पर पद-श्लेष है।

अनुवाद—(३, ४ लिङ्ग तथा वचन श्लेष)—'विष्णु के वे दोनों नेत्र अथवा शरीर तुम्हारी सांसारिक पीड़ा का शमन करे, जो नेत्र भक्ति से नत जनों को देखने में अनुराग युक्त है, (तनु पक्ष में–जिसमें भक्तिविनम्र जनों के दर्शन का अनुराग है),

एष वचनश्लेषोऽपि ।

५. महदे सुरसन्धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे ।
हरवहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥३७२॥

नीलकमल से स्पर्धा करने वाले हैं (तनु पक्ष में-श्यामता में नीलकमल से स्पर्धा करने वाली); समाधि-तत्पर योगी जनों के द्वारा शुभ-प्राप्ति के लिये ध्यान के आलम्बन किये जाते हैं, (तनुपक्ष में ईहितप्राप्तये अर्थात् इष्ट प्राप्ति के लिए ध्यान का आलम्बन बनाई गई) सौन्दर्य के महान् कोष हैं (तनु पक्ष में 'महानिधिः' यह पदच्छेद है, रेफ आगे होने पर 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६/३/१११' से 'इ' को दीर्घ होता है); लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता उत्पन्न करने वाले हैं (तनुपक्ष में तन्वती= करने वाली स्त्री० एकवचन) ॥३७१॥

यह वचन श्लेष भी है ।

प्रभा--यहाँ 'हरेः नेत्रे तनुः वा युष्माकं भवार्तिशमनं कुरुतां' यह मुख्य वाक्य है । इसमें 'नेत्रे' यह नपुंसकलिङ्ग का द्विवचन है तथा 'तनुः' स्त्रीलिङ्ग एकवचन है । शेष तीन चरणों में नेत्रे तथा तनुः के विशेषण हैं । 'प्रणयिनी' इत्यादि विशेषण नपुंसकलिङ्ग द्विवचन तथा स्त्रीलिङ्ग एकवचन दोनो में बनते हैं । अतः यहाँ नपुंसकलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग का श्लेष है । यहाँ वचनश्लेष भी है, जैसे— 'महानिधि' आदि में प्रथमा द्विवचन तथा एकवचन का श्लेष है । इसी प्रकार 'कुरुताम्' में भी एकवचन, द्विवचन का श्लेष है ।

अनुवाद—(५. भाषा-श्लेष)—[संस्कृत भाषा में-महदे, सुरसंधं मे तव अव समासंगम् आगमाहरणे । हर बहुसरणं तं चित्तमोहम् अवसरे उमे सहसा'—यह पदच्छेद है] ।

'हे पार्वती, हर्षप्रद वेदविद्या के उपार्जन में मेरी उस तत्परता (समासंगं) की रक्षा करो जिसमें देवताओं से मिलन होता है तथा उचित अवसर पर मेरे उस चित्त के मोह का तुरन्त ही हरण करो जिसका अनेक प्रकार से प्रसार होता है ।'

[प्राकृत भाषा में—'मह देसु रसम् धम्मे तमवसम् गमा हरे णे । हरवहु सरणम् तम् चित्तमोहम् अवसर मे सहसा' यह परिच्छेद है जिसकी संस्कृत है— 'मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् आशां गमागमात् हर नः' हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहम्-अपसरतु मे सहसा ।'] हे हरवधू, तुम्हीं शरण हो, मुझे धर्म-कार्य में रुचि कराओ, इस आवागमन रूप संसार से हमारी तमोमयी आशा को दूर करो, मेरे चित्त का मोह शीघ्र ही दूर हो जाए ।' [यहाँ 'सहसा' पद के अतिरिक्त सभी पदों में संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का श्लेष है] ॥३७२॥

६. अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥३७३॥

७. रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम् ।
प्रथमनिवहमध्ये जातुचित्त्वत्प्रसादा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥३७४॥

८. सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥३७५॥

(६. प्रकृति श्लेष)—'यह राजकुमार समस्त शास्त्रों को स्वहृदय में धारण करेगा (वक्ष्यति) तथा उनका विद्वानों में प्रवचन करेगा (वक्ष्यति) और यह शत्रुओं की शक्ति को काटने वाला (सामर्थ्यकृत्) एवं मित्रों की शक्ति को उत्पन्न करने वाला (सामर्थ्यं करोति इति सामर्थ्यकृत्) होगा ॥३७३॥

प्रभा—यहाँ पर वक्ष्यति में 'वह्' तथा 'वच्' (लृट् एकवचन में) धातु रूप प्रकृति का श्लेष है तथा कृत् में 'कृ' तथा 'कृन्त' (काटना) धातु रूप प्रकृति का श्लेष है। दोनों स्थानों पर (क्विप्) प्रत्यय समान ही है अतः प्रत्यय श्लेष नहीं।

(७. प्रत्यय-श्लेष)—'हे देवि, जिसके मस्तक पर रजनिपति (चन्द्रमा) है, उस शिव के चरणकमलों के दर्शनरूपी उत्सव (क्षण) के अवसर पर ही सहस्रों प्रकार की अपूर्व सम्पत्ति प्राप्त करते हुए (क्रियाविशेषण) कदाचित् मैं गण समूह (प्रथमनिवह) के मध्य आपकी कृपा से उचित रुचिवाला होकर आनन्दित (नन्दिता—नन्द्+तृच्) हो जाऊँ अथवा मेरी नन्दी नामक गणाधिपरूपता (नन्दिन्+तल्) सिद्ध हो जाय ॥३७४॥

प्रभा—यहाँ 'नन्द्+तृच्' तथा 'नन्दिन्+तल्' दोनों का एक रूप हो जाता है, अतः 'तृच्' तथा 'तल्' प्रत्यय का श्लेष है, इसी प्रकार स्याम्+नन्दिता' तथा 'स्यात्+नन्दिता' में उत्तमपुरुष तथा अन्यपुरुष (प्रथम पुरुष) का श्लेष है।

[८. विभक्ति-श्लेष]—(शिव के प्रति अथवा पुत्र के प्रति वस्तु की उक्ति) शिव-पक्ष में—'हे शिव (हर), आप सबके सर्वस्व हैं, आप जन्ममरणरूपी संसार (भव) के विनाश में तत्पर हैं (मोक्षप्रद हैं); इसीलिए आप नीति के अनुकूल तथा उपकार-हेतु शरीर-स्थिति को प्राप्त होते हैं (अवतार धारण करते हैं)।' पुत्र-पक्ष में 'हे पुत्र तू सब जनों का सर्वस्व हरण कर ले, तू भित्तिच्छेद में तत्पर हो (भव) किसी के प्रति उपकार करना छोड़ दे (नय=दूरीकुरु) दूसरों को कष्टदायक (आयासि) जीविका बना ले (तनु=विस्तारय)।' [यहाँ 'हर' इत्यादि पद संज्ञा (सुबन्त) और क्रिया (तिङन्त) दोनों हैं, इस प्रकार सुप् तथा तिङ् विभक्ति का श्लेष है] ॥३७५॥

(१२०) भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

नवमोऽपीत्यपिर्भिन्नक्रमः ।

उदाहरणम्—

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥३७६॥

अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ ।

अनुवाद—[९. अभङ्ग-श्लेष]—उपर्युक्त (आठ प्रकार का) प्रकृति आदि का भेद न होने पर भी (जहाँ शब्द का अनेक अर्थ में तात्पर्य होता है वहाँ श्लेष का) नवम प्रकार भी होता है। (१२०)

(कारिका में) 'नवमोऽपि' (यह अन्वय है) अर्थात् नवाँ भी भेद होता है। उदाहरण है—[राज-पक्ष में]—'जो राजा बारबार शत्रुवंश के सहायकों (पक्ष) के विनाश में समर्थ है, शतकोटि-दानशीलता को धारण करता है, वह पण्डितश्रेष्ठ राजा शोभायमान है।' [इन्द्र-पक्ष]—'जो इन्द्र श्रेष्ठ पर्वतों (परगोत्र) के क्षण भर में ही पक्ष-छेद में समर्थ है, शतकोटि अर्थात् वज्र के द्वारा असुर विनाश (शतकोटिना द्यति खण्डयति इति शतकोटिदः तस्य भावः) करने वाला है; वह देवेन्द्र शोभायमान है' ॥३७६॥

यहाँ प्रकरण आदि द्वारा (अर्थ का) नियम न होने से दोनों अर्थ ही वाच्य हैं।

प्रभा—ऊपर 'वर्ण-पद' इत्यादि आठ प्रकार के सभङ्ग-श्लेष का निरूपण किया गया है। उनके अतिरिक्त श्लेष का नवम भेद भी होता है, जो अभङ्ग-श्लेष है। इसे अभङ्ग-श्लेष इस आधार पर कहा जाता है कि इसके लिये पदों को विविध अंशों (प्रकृति, प्रत्यय आदि) में तोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। उपर्युक्त आठ प्रकारों में पद-भङ्ग की आवश्यकता पड़ती है अतः वे सभङ्ग-श्लेष हैं। 'योऽसकृत्' इत्यादि उदाहरण में पद-भङ्ग के विना ही श्लेष है अतः अभङ्ग-श्लेष है, किन्तु यहाँ भी 'शतकोटिदातृता' अर्थ में (द'—द्यति या ददाति) प्रकृति-श्लेष तथा प्रत्ययश्लेष (सभङ्ग) ही है। यहाँ 'परगोत्र' आदि शब्द अनेकार्थक हैं और उनके एकार्थ-नियामक प्रकरण आदि का अभाव है इसलिये दोनों (राजा, इन्द्र) अर्थ वाच्य ही हैं तथा भद्रात्मनः इत्यादि (उदाहरण १२) के समान द्वितीयार्थ की दृष्टि से इसे ध्वनिकाव्य नहीं कहा जा सकता, 'उपमा' की व्यञ्जयता की दृष्टि से अवश्य इसे 'ध्वनि' कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि—(१) अनेकार्थक पदों के प्रयोग में जहाँ तात्पर्य-ग्राहक प्रकरणादिक दोनों अर्थों में (युगपत्) होते हैं अथवा नहीं होते, वहाँ श्लेष अलङ्कार है। (२) जहाँ प्रकरणादि क्रम से उपस्थित होते हैं; वहाँ आवृत्ति कही जाती है; किन्तु (३) जहाँ प्रकरणादि के द्वारा एक अर्थ में शब्द का नियन्त्रण हो जाता है

ननु स्वरितादिगुणभेदाद् भिन्नप्रयत्नोच्चार्य्याणां तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दाऽलङ्कारः ।

वहाँ द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना (ध्वनि) का विषय है।

शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का भेद

प्राचीन आचार्य भामह ने श्लेष को अर्थालङ्कार ही माना था। उद्‌भट ने भी काव्यालङ्कार सार-संग्रह में श्लेष को अर्थालङ्कारों में रक्खा किन्तु इसके दो भेद किये—अर्थश्लेष और शब्दश्लेष जो क्रमशः उपर्युक्त अभङ्ग-श्लेष और सभङ्ग-श्लेष के समान ही हैं। किन्तु मम्मट ने श्लेष को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों माना है। उन्होंने उपर्युक्त सभङ्ग-श्लेष और अभङ्ग-श्लेष को शब्द-श्लेष (शब्दालङ्कार) कहा और इससे पृथक् अर्थ-श्लेष का दशम उल्लास में अर्थालङ्कार के रूप में निरूपण किया। मम्मट के इस मन्तव्य में उद्‌भट के अनुयायियों की ओर से निम्न शंका की जाती है—

अनुवाद—(शङ्का) (क) स्वरित (उदात्त, अनुदात्त) आदि स्वर (गुण) का भेद होने पर भिन्न-भिन्न प्रयत्नों (विवृत, संवृत्त आदि) से उच्चारण-योग्य तथा उस (स्वरित आदि) का भेद न होने पर एक ही प्रकार के प्रयत्नों द्वारा उच्चरित शब्दों की रचना में (बन्धे) शब्द-श्लेष ('पृथुकार्तस्वर आदि ३७०) तथा अर्थ-श्लेष ('योऽसकृत्' आदि ३७६) दोनों ही अन्य (उपमा आदि) अलङ्कार की प्रतिभा मात्र (आभास) के उत्पादक हैं, इसलिये अन्य आचार्यों (उद्भट आदि) ने दोनों को ही अर्थालङ्कारों के मध्य में गिना है फिर यह (अभङ्ग श्लेष) शब्दालङ्कार कैसे है?

प्रभा—पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि पदों में दो प्रकार का श्लेष होता है—सभङ्ग तथा अभङ्ग। 'पृथुकार्तस्वर' आदि में सभङ्ग श्लेष है; क्योंकि यहाँ पृथुकार्तस्वरस्य पात्रम्' अथवा 'पृथुकानाम् आर्तस्वरस्य पात्रम्' यह पदभङ्ग होता है। अभङ्ग-श्लेष तो 'योऽसकृत्' इत्यादि में है; क्योंकि यहाँ दोनों पक्षों में पद एक रूप ही रहता है। सभङ्ग-श्लेष में भिन्न-भिन्न स्वर वाले पद होते हैं अतः वे विजातीय होते हैं; किन्तु उच्चारण की समानता के कारण उनमें एकरूपता की प्रतीति होती है। वहाँ जतुकाष्ठन्याय से भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक दो शब्द चिपके से (श्लिष्ट) रहते हैं। अतः इसे शब्द-श्लेष कह दिया जाता है। अभङ्ग श्लेष में तो शब्दों की भिन्नता नहीं होती अपितु अर्थों की ही भिन्नता होती है। यहाँ 'एकवृन्तगतफलद्वयवत्' (एक डंठल पर लगे दो फलों के समान) दो अर्थ

उच्यते-इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथा हि--कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भाव-तद्भावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

ही श्लिष्ट होते हैं। अतः यह स्पष्ट ही अर्थ-श्लेष है। दूसरी बात यह है कि इस उभयविध श्लेष के स्थल में अवश्य ही उपमा आदि कोई अन्य अलङ्कार होता है अतः यह अन्य अलङ्कारों का बाधक है और यह प्रकट करता है कि श्लेष के होने पर वे (अन्य अलङ्कार) अलङ्काराभास मात्र है तथा अर्थश्लेष ही विशेष अलङ्कार है। तीसरी बात यह है कि दोनों प्रकार का श्लेष अर्थापेक्ष है अतः अर्थालङ्कार ही है। इसी हेतु इन दोनों की अर्थालङ्कार में गणना करनी चाहिये। संक्षेप में पूर्व पक्ष के तीन अंश हैं—(१) अभङ्ग श्लेष अर्थालङ्कार है, (२) श्लेष उपमा आदि अलङ्कारों का बाधक है। (३) सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष दोनों ही अर्थालङ्कार हैं।

टिप्पणी—(i) ऊपर की शंका उद्भट की निम्न उक्ति का निष्कर्ष है—

एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्ट इहोच्यते॥
अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्॥

(ii) रुय्यक ने भी (अलङ्कार सर्वस्व में) श्लेष को अर्थालङ्कारों में रक्खा है और इसके तीन भेद किये हैं—शब्द-श्लेष (=सभङ्ग) अर्थ-श्लेष (=अभङ्ग) और उभयश्लेष। कुछ व्याख्याकारों का कथन है कि उपर्युक्त शंका में रुय्यक के मत की ओर संकेत किया गया है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यह निश्चित सा ही है कि रुय्यक मम्मट से अर्वाचीन हैं।

(iii) बाद में विश्वनाथ ने भी मम्मट के समान श्लेष को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों ही माना है।

अनुवाद—उत्तर यह है (उच्यते) कि [१. अभङ्ग श्लेष शब्दालङ्कार है] यहाँ (काव्य में) दोष, गुण तथा अलङ्कारों का शब्दगत तथा अर्थगत रूप में जो विभाग होता है, अन्वय तथा व्यतिरेक से ही उसकी व्यवस्था होती है; जैसे कि— 'कष्टत्व' आदि (दोष), 'गाढबन्धत्व' आदि (ओजगुणव्यञ्जक) एवं 'अनुप्रास' आदि (अलङ्कार) शब्द के भाव (विद्यमानता=अन्वय) और अभाव (=व्यतिरेक) का अनुसरण करने के कारण (तद्भावतदभावानुविधायित्वात्) शब्दगत हैं। इसी प्रकार 'व्यर्थत्व' आदि (दोष) 'प्रौढि' आदि (अर्थ का ओजगुण) 'उपमा' आदि (अलङ्कार) अर्थ के भाव और अभाव का अनुसरण करने के कारण अर्थगत हैं—इस प्रकार व्यवस्थित किए जाते हैं। जैसे—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता । इत्यभङ्गः,
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥३७७॥ इति सभङ्गः,

इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम् न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम् । अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना । यथा—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥३७८॥

'पार्वती स्वयं भी किसलय-सदृश कुछ लालिमायुक्त तथा दीप्तिमान् हस्तद्वय से शोभायमान प्राभातिकी सध्या के समान दुर्लभ (सुखेन प्राप्यते इति स्वापं सुलभं न स्वापम् अस्वापम्) फल अर्थात् मोक्ष के इच्छुक जनों को वाञ्छित फल प्रदान करने वाली थीं' ॥३७७॥

यहाँ पूर्वार्ध में अभङ्ग-श्लेष है—[पल्लव के समान कुछ लाल भास्वत्करैः अर्थात् सूर्य की किरणों से शोभित प्रभात-सन्ध्या] तथा उत्तरार्ध में सभङ्ग-श्लेष है—[अस्वाप अर्थात् जागरण के फल स्नान आदि के इच्छुक जनों की हितप्रदा]

इस प्रकार दोनों (सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष) ही (अन्वय व्यतिरेक से) केवल शब्द के ही आश्रित हैं, इसलिये दोनों का शब्द-श्लेष होना ही युक्तियुक्त है, ऐसा नहीं कि प्रथम अर्थात् अभङ्ग (पल्लवाताम्र आदि) अर्थ-श्लेष हो। अर्थ-श्लेष का विषय (क्षेत्र) तो वहाँ है जहाँ शब्द का परिवर्तन किये जाने पर भी श्लेष-भङ्ग नहीं होता (अर्थात् बना रहता है), जैसे—

'थोड़े (स्तोक=अल्प) ही से उन्नति (ऊपर उठना, अहंकार) को प्राप्त होते हैं तथा थोड़े ही से अधोगति (नीचे झुकना, चरणों में गिरना) को प्राप्त होते हैं; अहो ! तुलाकोटि (तराजू की डण्डी) तथा दुष्ट व्यक्ति की वृत्ति (व्यापार) तुल्य ही हैं' ॥३७८॥

प्रभा—(१) 'अभङ्ग-श्लेष' अर्थालङ्कार है, पूर्वपक्षी की इस मान्यता का खण्डन करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि जिस शब्द या अर्थ के होने पर ही जो दोष गुण तथा अलङ्कार होते हैं (अन्वय) तथा न होने पर नहीं होते (व्यतिरेक) उस ही शब्द या अर्थ के आश्रित वे माने जाते हैं, अर्थात् जो शब्द का (अन्वयव्यतिरेक से) अनुसरण करते हैं, वे शब्दगत और जो अर्थ का अनुसरण करते हैं, वे अर्थगत हैं; यह व्यवस्था है। इसी के आधार पर प्राचीनों की यह मान्यता है कि शब्द-परिवृत्त्यसह शब्दगत हैं तथा शब्द-परिवृत्तिसह अर्थगत हैं। इस प्रकार श्रुतिकटुत्व आदि दोष, गाढ़त्व आदि वामनोक्त शब्दगुण तथा अनुप्रास आदि अलङ्कार शब्द का

न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा। तथा हि—यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्' इत्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा तथा—

'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव'।

इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव।

तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—

अनुवर्तन करते है अतः ये शब्दगत हैं। और, व्यर्थत्व आदि दोष, वामनोक्त अर्थ-प्रौढ़ता एवं 'उपमा' आदि अलङ्कार अर्थ का अनुवर्तन करते हैं अतः ये अर्थगत हैं। उपर्युक्त रीति से ही उभयश्लेष के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत 'स्वयं च' इत्यादि पद्य के उत्तरार्ध के समान पूर्वार्द्ध में भी प्रयुक्त शब्दों के रहने पर ही श्लेष रहता है अन्यथा नही। उदाहरणार्थ यदि 'भास्वत्' शब्द के स्थान पर 'सूर्य' शब्द का प्रयोग किया जाये तो श्लेष न रहेगा; क्योंकि यहाँ दोनों पदों में (भास्वत्, अस्वाप) परिवृत्त्यसह शब्दों के कारण श्लेष होता है अतः उभयत्र शब्द-श्लेष ही है; अर्थात् अभङ्ग-श्लेष भी अर्थश्लेष ही है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्थश्लेष कही होता ही नहीं। 'स्तोकेन' इत्यादि उदाहरण में 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' के स्थान पर 'अल्पेनोद्रेकमायाति' रख देने पर भी श्लेष-भङ्ग नहीं होता। इस प्रकार का श्लेष शब्द-परिवृत्तिसह है तथा अर्थाश्रित है अतः यह अर्थ-श्लेष होता है।

इस प्रकार मम्मट का मन्तव्य है कि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की व्यवस्था अन्वय-व्यतिरेक से होती है। उपर्युक्त अभङ्ग-श्लेष शब्दाश्रित है; शब्दों का परिवर्तन कर देने पर यहाँ श्लेष की स्थिति ही नही रहती (शब्दपरिवृत्त्यसहत्व) अतः यह शब्दालङ्कार ही है।

अनुवाद—[२. श्लेष उपमा आदि का बाधक नहीं] और यहाँ (पल्लवाताम्र आदि में) श्लेष उपमा के आभास की प्रतीति (प्रतिभा) का उत्पादक नहीं है, अपितु उपमा ही श्लेष की आभास-प्रतीति का उत्पादक है; क्योंकि जिस प्रकार कमल सदृश मनोहर यह मुख अत्यधिक दीप्त हो रहा है' इत्यादि में (मनोज्ञता) गुण-साम्य, (उद्दीप्त होना) क्रिया-साम्य अथवा दोनों की समता के कारण उपमा होती है, उसी प्रकार 'सकलकल (नगर पक्ष में कलकल शब्द सहित, चन्द्र पक्ष में सकलकलाओं से पूर्ण) यह नगर इस समय चन्द्र-मण्डल के समान हो गया है।' इत्यादि में शब्दमात्र की समता होने पर उपमा होना उचित ही है। जैसा कि (काव्यालङ्कार में) रुद्रट ने भी कहा है—

आदाय चापमचलं कृत्वाऽहीनं गुणं विषमदृष्टिः।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥३८३॥
इत्यादावेकदेशविवर्तिरूपक-श्लेषव्यतिरेक-समासोक्ति-विरोधत्वमुचितम् न तु श्लेषत्वम्।

है और दिवस उसके पुरस्सर (अग्रगामी या सम्मुख है; तथापि समागम (मिलन या स्त्री पुरुष संगम) नहीं होता; अहो दैव की गति विचित्र है' ॥३८२॥ [यहाँ अभिधा शक्ति दिन तथा सन्ध्या अर्थ में नियन्त्रित हो गई है अतएव दो अर्थों में अन्वय बोध नहीं होता तथा श्लेष नहीं; किन्तु श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से नायक की प्रतीति होती है तथा समासोक्ति अलङ्कार है] (घ) उस (शिव या धनुर्धारी) को नमस्कार है, जो 'विषमदृष्टि' (त्रिलोचन, विषमा अर्थात् लक्ष्य से अन्यत्र है दृष्टि जिसकी) है; जिसने अचल (मन्दराचलरूप, निष्क्रिय) धनुष को लेकर अहीन' [सर्पराज वासुकि—अहि+इनम्; या हीन=जीर्ण, निकृष्ट] को प्रत्यञ्चा (गुण) बनाकर 'अच्युतशर' [विष्णु ही है बाण जिसका, नहीं छूटा (च्युत) है बाण जिसका] होकर लक्ष्य (त्रिपुरासुररूप, सहस्रयोद्धारूप) को आश्चर्यजनक रूप से छिन्न भिन्न कर दिया'। [यहाँ विरोधाभास अलङ्कार ही प्रधान है और श्लेष उसका अङ्गमात्र है अतः विरोधाभास अलङ्कार श्लेष प्रतिभोत्पत्तिहेतु है] ॥३८३॥ इत्यादि पद्यों में क्रमशः (क) एकदेशविवर्ती रूपक, (ख) श्लेषमूलक व्यतिरेक, (ग) समासोक्ति और (घ) विरोध अलङ्कार मानना ही उचित है, न कि श्लेषालङ्कार।

प्रभा—(१) पूर्वपक्षी का कथन था कि श्लेष अन्य अलङ्कारों की आभास रूप में प्रतीति का हेतु (अलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्ति हेतु) है अर्थात् यह उपमा आदि अलङ्कारों का बाधक है; क्योंकि श्लेष निरवकाश है—जहाँ श्लेष होता है वहाँ कोई न कोई अन्य अलङ्कार अवश्य होता है, अन्य अलङ्कारों के बिना श्लेष नहीं रहता (निरवकाशा: हि विधयः सावकाशान् विधीन् बाधन्ते), उपमा आदि ऐसे स्थलों में सावकाश हैं जहाँ श्लेष का प्रसङ्ग नहीं अतएव जहाँ उपमा आदि तथा श्लेष दोनों का प्रसङ्ग है वहाँ वस्तुतः श्लेष अलङ्कार होता है, अन्य उपमा आदि की तो आपाततः प्रतीति (आभास मात्र) ही हुआ करती है। जैसे—'स्वयं च पल्लवाताम्रः' इत्यादि (३७७) में।

इसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—'न चायं श्लेषत्वम्'। इस खण्डन में तीन युक्तियाँ हैं—(१) वस्तुतः पल्लवाताम्र' इत्यादि में उपमा है श्लेष नहीं, (२) श्लेष से असंकीर्ण विषय में उपमा सावकाश नहीं; (३) उपमा आदि अलङ्कार ही श्लेष के बाधक हैं। भाव यह है कि (१) पल्लवाताम्र इत्यादि में वस्तुतः उपमा अलङ्कार ही है, श्लेष की तो आभासमात्र प्रतीति हो रही है। जिस प्रकार गुणसाम्य तथा क्रियासाम्य होने पर उपमा होती है इसी प्रकार शब्दमात्र की समता में भी (सकल०) उपमा होती है। आचार्य रुद्रट की 'स्फुट०' इत्यादि उक्ति से भी

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः। किं च वैचित्र्यमलङ्कार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता,

इस बात की पुष्टि हो रही है। अतः 'पल्लवाताम्र०' इत्यादि उदाहरण से पूर्वपक्षी के कथन का समर्थन नही होता।

(२) जो यह विचार है कि 'कमलमिव मुखम्' आदि में जहाँ साधारण धर्म (मनोज्ञ आदि) का प्रयोग नही होता वहाँ श्लेष का प्रसङ्ग नही तथा उपमा सावकाश है; इसीलिए जहाँ दोनों का प्रसङ्ग होता है वहाँ निरवकाश होने के कारण श्लेष उपमा आदि का बाधक हो जाता है। यह भी उचित नही; क्योंकि 'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' इत्यादि पूर्णोपमा तो निरवकाश ही है। उसके समस्त स्थलों मे तो श्लेष का प्रसङ्ग है ही, फिर श्लेष निरवकाश होने के कारण उपमा का बाधक कैसे हो सकता है? साथ ही श्लेष भी 'देव त्वमेव' इत्यादि स्थल में सावकाश है ही; इसीलिए श्लेष तथा उपमादि का बाध्यबाधक भाव नही' अत 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि में दोनों का संकर ही हो सकता है, बाध्यबाधक भाव नही। वस्तुतः तो 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय (उपपत्ति) के अनुसार यहाँ 'उपमा' ही है; क्योंकि वही प्रधान है तथा श्लेष उसका निर्वाहकमात्र है। इस पर भी यदि आप श्लेष को उपमा का बाधक मानेगें तो पूर्णोपमा का कही विषय ही न रहेगा।

(३) केवल उपमा ही श्लेष की बाधक नहीं है अन्य रूपक आदि अलङ्कार भी श्लेष के बाधक होते हैं जैसे कि 'अविन्दुसुन्दरी' इत्यादि मे विरोधालङ्कार भी श्लेष का बाधक है। इसी प्रकार ,सद्वंश' इत्यादि में रूपक आदि श्लेष के बाधक होते हैं। इन स्थलों पर अन्य अलङ्कार की ही प्रधानता है। श्लेष की तो आभासमात्र प्रतीति होती है। और जिस प्रकार विरोधाभास को अलङ्कार माना जाता है विरोध को नही (क्योंकि वास्तविक विरोध तो दोष है); इसी प्रकार 'श्लेषाभास' को अलङ्कार नहीं माना जा सकता; क्योंकि श्लेष तो वास्तविक रूप मे होता हुआ ही काव्य में उत्कर्षाधायक है; अतः विरोधाभास आदि के स्थल पर वास्तविक श्लेष का ही अभाव है; उसकी बाधकता की तो बात ही क्या?

टिप्पणी—(i) उद्भट ने 'स्वयं च पल्लवाताम्र० इत्यादि में उपमा प्रतिभोत्पत्तिहेतु श्लेष माना था, उसका खण्डन ही यहाँ किया गया है। (ii) श्लेष अन्य अलङ्कारों की आभासमात्र प्रतीति का हेतु है, यह कथन उद्भट की इस उक्ति के आधार पर है—अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः। आगे चल कर रुय्यक ने··· श्लेष को अन्य अलङ्कारों का अपवाद (बाधक) बतलाया है 'तेनालङ्कारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालङ्कारापवादोऽयम् [श्लेषः] इति स्थितम्' [अलङ्कारसर्वस्व पृ० १३२]।

अनुवाद—[३. शब्दश्लेष को अर्थश्लेष कैसे कहा जा सकता है?।] क–शब्दश्लेष तो कहा जाय और अर्थालङ्कारों के मध्य में गणना की जाय यह कौन

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
साराब्धवस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥३८४॥
माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधितसम्भ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ॥३८५॥ (खड्गबन्ध)

नहीं होता तथापि कवि के रचना-कौशल को प्रकट करता है और सामाजिक के हृदय में चमत्काराभास का जनक होता है तथा अद्भुत रस का उपकारक भी हो सकता है। रसिकों के लिये अवाञ्छनीय होने के कारण ही आचार्य मम्मट ने इसका विस्तार से निरूपण नहीं किया; यद्यपि उनके पूर्ववर्ती रुद्रट आदि ने इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया था।

अनुवाद—(खड्गबन्ध आदि के क्रमशः) उदाहरण हैं :—

(१. खड्गबन्ध) शिव (मारारि), इन्द्र, राम, गणेश (इभमुख) इन देवों ने शब्द-प्रवाह के वेग से (आसार-रंहसा) जिसकी अत्यधिक रूप से (सार) स्तुति आरम्भ की है; जो नित्य उन (शिव आदि) की पीड़ा-हरण में समर्थ है, विनयशील जनों की (वत्सला) माता है, विभूतियों का मिलन-स्थान है, भयों का बाध करने वाली है और जो माननीया देवी नारी जाति की पराकाष्ठा (सर्वोत्कृष्ट) है।' संसार की आदिभूत (आदिमा) वह पार्वती (उमा) मुझे कल्याण प्रदान करे। ३८४॥३८५

प्रभा—यहाँ श्लोक में जो शब्द आये हैं उनका निर्दिष्ट प्रकार से विन्यास करने पर खड्ग आदि की आकृति बन जाती है। उस वर्ण-विन्यास का रुद्रट के काव्यालङ्कार तथा काव्य-प्रकाश की प्रदीप-उद्योत आदि टीकाओं में विस्तृत विवेचन किया गया है।

(१) खड्गबन्ध

सरला बहुलारम्भतरलालिवलारवा ।
वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामला ॥३८६॥ (मुरजबन्धः)
भासते प्रतिभासार, रसाभाताहताविभा ।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥३८७॥ (पद्मबन्धः)

(२. मुरजबन्ध) जिसमें बहुत से कार्यों (भ्रमण, रसपान आदि) से चञ्चल (बहुलारम्भतरल) भ्रमर-समूह (अलिबल=भ्रमरसैन्य) का कोलाहल (गुञ्जन) है बहुत हंसनियाँ हैं नृपगण अथवा राजकर्मचारीगण (करलाः=करं लान्तिगृह्णन्ति इति) उद्योगशील (अमन्द) हैं, जो कृष्णपक्ष (बहुल) में भी (तारों के प्रकाश से) निर्मल रहती है तथा सरला (मेघादि की कुटिलता से रहित) है वह शरद् ऋतु सर्वोत्कृष्ट है—('शरद् जयति' यह अन्वय है) ॥३८६॥

(२) मुरजबन्ध
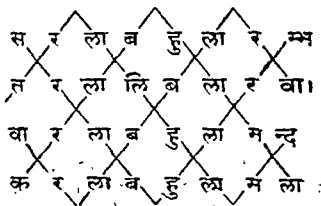
(३. पद्मबन्ध) 'हे बुद्धि में श्रेष्ठ (प्रतिभासार) नृप, अहो (बत) ! आपकी यह देवतुल्य सभा शोभायमान है, जिसमें प्रीतिरूप अथवा शृङ्गारादि रस शोभित हैं अर्थात् जो रसिकजन से युक्त है, जिसकी दीप्ति अप्रतिहत है अर्थात् जो तेजस्वी जनों से युक्त है, जिसमें आत्मा या परमात्मा का निर्णय किया जाता है (भावितः निर्णीतः आत्मा यस्याम्) अर्थात् आत्मज्ञानियों से युक्त है तथा जो तत्त्वकथा (वादे) में निपुण (शुभा) है ॥३८७॥

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
सारारब्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥३८४॥
माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधितसम्भ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ॥३८५॥ (खड्गबन्ध)

नहीं होता तथापि कवि के रचना-कौशल को प्रकट करता है और सामाजिक के हृदय में चमत्काराभास का जनक होता है तथा अद्भुत रस का उपकारक भी हो सकता है। रसिकों के लिये अवाञ्छनीय होने के कारण ही आचार्य मम्मट ने इसका विस्तार से निरूपण नहीं किया; यद्यपि उनके पूर्ववर्ती रुद्रट आदि ने इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया था।

अनुवाद—(खड्गबन्ध आदि के क्रमशः) उदाहरण हैं :—

(१. खड्गबन्ध) शिव (मारारि), इन्द्र, राम, गणेश (इभमुख) इन देवों ने शब्द-प्रवाह के वेग से (आसार-रंहसा) जिसकी अत्यधिक रूप से (सार) स्तुति आरम्भ की है; जो नित्य उन (शिव आदि) की पीड़ा-हरण में समर्थ है, विनयशील जनों की (वत्सला) माता है, विभूतियों का मिलन-स्थान है, भयों का बाध करने वाली है और जो माननीया देवी नारी जाति की पराकाष्ठा (सर्वोत्कृष्ट) है। संसार की आदिभूत (आदिमा) वह पार्वती (उमा) मुझे कल्याण प्रदान करे। ३८४॥३८५

प्रभा—यहाँ श्लोक में जो शब्द आये हैं उनका निर्दिष्ट प्रकार से विन्यास करने पर खड्ग आदि की आकृति बन जाती है। उस वर्ण-विन्यास का रुद्रट के काव्यालङ्कार तथा काव्य-प्रकाश की प्रदीप-उद्योत आदि टीकाओं में विस्तृत विवेचन किया गया है।

(१) खड्गबन्ध

सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा ।
वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामला ॥३८६॥ (मुरजबन्धः)
भासते प्रतिभासार, रसाभाताहताविभा ।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥३८७॥ (पद्मबन्धः)

(२. मुरजबन्ध) जिसमें बहुत से कार्यों (भ्रमण, रसपान आदि) से चञ्चल (बहुलारम्भतरल) भ्रमर-समूह (अलिबल=भ्रमरसैन्य) का कोलाहल (गुञ्जन) है बहुत हंसनियाँ हैं नृपगण अथवा राजकर्मचारीगण (करलाः=करं लान्तिगृह्णन्ति इति) उद्योगशील (अमन्द) हैं, जो कृष्णपक्ष (बहुल) में भी (तारों के प्रकाश से) निर्मल रहती है तथा सरला (मेघादि की कुटिलता से रहित) है वह शरद् ऋतु सर्वोत्कृष्ट है—('शरद् जयति' यह अन्वय है) ॥३८६॥

(२) मुरजबन्ध

(३. पद्मबन्ध) 'हे बुद्धि में श्रेष्ठ (प्रतिभासार) नृप, अहो (बत) ! आपकी यह देवतुल्य सभा शोभायमान है, जिसमें प्रीतिरूप अथवा शृङ्गारादि रस शोभित हैं अर्थात् जो रसिकजन से युक्त है, जिसकी दीप्ति अप्रतिहत है अर्थात् जो तेजस्वी जनों से युक्त है, जिसमें आत्मा या परमात्मा का निर्णय किया जाता है (भावित: निर्णीतः आत्मा यस्याम्) अर्थात् आत्मज्ञानियों से युक्त है तथा जो तत्त्वकथा (वादे) में निपुण (शुभा) है ॥३८७॥

रसासार, रसा सारसायताक्ष, क्षतायसा।
सातावात, तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ॥३८८॥ (सर्वतोभद्रम्)

(३) पद्मबन्ध
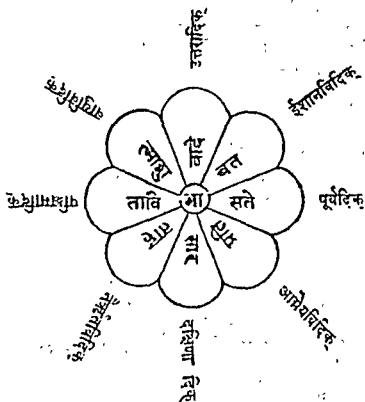
(४. सर्वतोभद्र)—'हे पृथिवी में श्रेष्ठ (रसासार), कमल के समान विशाल नेत्रों वाले (सारस –आयत–अक्ष), अज्ञान (अवात) को नष्ट करने वाले (सातं= नाशितम्), अत्यधिक दान देने वाले (अतक्षम् अनल्पं राति ददाति इति अतक्षरः)

(४) सर्वतोभद्र

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	या	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते ।

(१२२) पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः । स च—

(१२३) शब्दस्य
सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः ।

उदाहरणम्—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ।।३८९।।
चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।

महाराज, आपके (तव) रक्षण में (रक्षत—रक्षा करते हुए का) यह पृथ्वी (रसा) दुर्जनों को नष्ट करने वाली (क्षत. अयः शुभावहविधिः येषां ते दुर्जनाः, तान् स्यति नाशं प्रापयति इति क्षतायसा) तथा (तु) क्षयरहित (अतासा) होवे ।।३८८।।

(चित्र अलङ्कार के) अन्य भेद प्रभेद भी हो सकते हैं, किन्तु वे केवल कवि की शक्ति मात्र को प्रकट करते हैं (नीरस तथा क्लिष्ट होने से) काव्य-स्वरूप के प्रयोजक नहीं होते; इसलिए नहीं दिखाये गये हैं ।

अनुवाद—[६. पुनरुक्तवदाभास] भिन्न २ आकार (आनुपूर्वी या वर्णक्रम) वाले शब्दों में एकार्थकता का आभास होना ही 'पुनरुक्तवदाभास' है ।।१२२।।

अर्थात् भिन्न २ रूप वाले सार्थक और अनर्थक शब्दों में आपाततः (मुखे= ऊपरी दृष्टि से देखने पर) एकार्थकता की प्रतीति होना ही 'पुनरुक्तवदाभास' (नामक शब्दालङ्कार) है । और यह (कहीं)—

(१) शब्दमात्र का होता है । (११३) अर्थात् केवल (क) सभङ्ग और (ख) अभङ्ग रूप शब्द के आश्रित होता है । जैसे—

(क) 'जो शत्रुविनाशिनी (अरिवधदा) चेष्टा (ईहा) वाले बाणयुक्त (शरिणः) वीरों को प्रेरित करने वाला (शरिणः ईरयति प्रेरयति इति शरीरः) है, स्थिरता में पर्वततुल्य है, जिसके रथी लोगों ने शीघ्र ही (सहसा) अश्वों तथा पदातियों (पैदल) को भली भांति सम्बद्ध अर्थात् सुव्यवस्थित (सूत=सु+उतः; सूताः सुष्ठु सबद्धाः) कर दिया है ऐसा पृथ्वीतल का भूषणरूप यह राजा अपनी नम्रता (नत्या) से सदा शोभायमान है ।।३८९।।

(ख) उस राजा के पार्श्ववर्ती (सेवक आदि) शोभायमान हैं; जो कि अङ्गनाओं के साथ विहार करने वाले (अर्थात् विरहशून्य) हैं, **कौतुक अर्थात् चमत्कार-**

तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥३६०॥

(१२४) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥८६॥

उदाहरणम्—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः।
तेजो धाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥३६१॥

प्रदर्शन द्वारा (सबके) आनन्द का कारण हैं, श्रेष्ठ मन वाले (सुमनसः) हैं तथा विशेष पण्डित हैं ॥३६०॥

प्रभा—जहां वस्तुतः भिन्न रूप वाले और भिन्न अर्थ वाले शब्दों में एकार्थता का आभास होता है वहां पुनरुक्तवदाभास नामक अलङ्कार होता है अर्थात् वहां पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है; किन्तु वस्तुतः होती नहीं। यह दो प्रकार का होता है—

(१) शब्दमात्रगत तथा (२) शब्दार्थगत। शब्द मात्र में होने वाला भी दो प्रकार का होता है—(क) सभङ्ग शब्दनिष्ठ और (ख) अभङ्ग शब्दनिष्ठ।

(क) 'अरिवध' इत्यादि सभङ्गशब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार का उदाहरण है। यहां देह-शरीर, सारथि-सूत और दान-त्याग शब्दों में आपाततः पुनरुक्ति प्रतीत होती है। वस्तुतः तो ये शब्द सभङ्ग (सखण्ड) हैं। दोनों शब्द ही पर्यायपरिवृत्ति सहन नहीं कर सकते अतएव यहां शब्दमात्रगत पुनरुक्तवदाभास है। यहां देह तथा शरीर दोनों शब्द सार्थक हैं। सा रथि-सूत, इन दोनों में प्रथम निरर्थक है द्वितीय सार्थक है। सदा+नत्या+अगः में दान और त्याग दोनों शब्द ही निरर्थक हैं।

(ख) 'चकासति' इत्यादि अभङ्ग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण है। यहां पर अङ्गना तथा रामा (स्त्रीवाची), कौतुक तथा आनन्द (सुखार्थक,' सुमनस्, तथा विबुध (देववाचक) शब्दों में आपाततः एकार्थकता का आभास होता है। ये अङ्गना आदि शब्द अभङ्ग या अखण्ड हैं तथा सभी परिवृत्त्यसह हैं। 'अङ्गना' के स्थान पर 'महिला' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'अङ्गना' विशेष प्रकार की महिला का वाचक है। (प्रशस्तानि अङ्गानि यासां ता अङ्गनाः)। यहां सभी शब्द सार्थक हैं।

अनुवाद—(शब्दार्थगत)—और यह, (पुनरुक्तवदाभास) शब्द तथा अर्थ दोनों के आश्रित (उभयालङ्कार) भी होता है (१२४)। उसका उदाहरण है—

(सिंहवर्णन) यह सिंह, कृश शरीर वाला होकर भी अपरिमित बल वाला (अजघन्यः) है, गजश्रेष्ठों (करिकुञ्जर) के रुधिर से उसके तीक्ष्ण नख रंगे (रक्त) हैं, यह तेज का आश्रय (धाम) है, अपने तेज से (महः) समर्थ (पृथु) मन वालों का भी स्वामी (इन्द्र) है तथा विजयशील (जिष्णु) है ॥३६१॥

अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्तिते नालङ्कार इति शब्दाश्रय अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयते इत्यर्थनिष्ठ इत्युभयालङ्कारोऽयम्।

इति काव्यप्रकाशे शब्दालङ्कारनिर्णयो नाम नवम उल्लासः ॥९॥

यहाँ एक (तनु, कुञ्जर इत्यादि) पद का परिवर्तन कर देने पर अलङ्कार नहीं रहता, इस हेतु यह शब्द-निष्ठ है। अन्य (वपुः, करि आदि) शब्दों का परिवर्तन कर देने पर भी वह (अलङ्कार बना ही रहता है) नष्ट नहीं होता इसलिए वह अर्थ-निष्ठ है—इस प्रकार यह पुनरुक्तवदाभास उभयालङ्कार है।

प्रभा—'तनु वपुः' इत्यादि शब्दार्थगत पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार का उदाहरण है यहाँ तनु तथा वपुः (शरीरार्थक), करि-कुञ्जर (गजवाची), रुधिर-रक्त (शोणित वाचक), तेज-धाम-मह (तेज-अर्थ वाले) तथा इन्द्र-हरि-जिष्णु (देवेन्द्र वाचक) शब्दों में आपातत. पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है। इस सूक्ति में कुछ (तनु, कुञ्जर, रक्त, धाम, हरि तथा जिष्णु) शब्द परिवृत्त्यसह हैं तथा कुछ (वपुः, करि, रुधिर, इन्द्र) शब्द परिवृत्तिसह हैं। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित होने के कारण यह पुनरुक्तवदाभास नामक अलङ्कार उभयालङ्कार (शब्दार्थनिष्ठ) है। उभयालङ्कार होने के कारण ही ग्रन्थकार ने इसका शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों के बीच में निरूपण किया है।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में शब्दालङ्कार-निर्णय नामक नवम उल्लास समाप्त होता है।

॥ इति नवम उल्लासः ॥

अथ दशम उल्लासः

[अर्थालङ्कारनिर्णयात्मकः]

अर्थालङ्कारानाह—

(१२५) साधर्म्यमुपमा भेदे

शब्दालङ्कारों के निरूपण के अनन्तर अर्थालङ्कारों का अवसर है अत एव यहाँ इनका निरूपण किया जाता है।

अनुवाद—अब ग्रन्थकार अर्थालङ्कारों का निरूपण करते हैं—

प्रभा—अष्टम-उल्लास में निरूपित अलङ्कार-सामान्य के लक्षण से ही अर्थालङ्कार का स्वरूप भी स्पष्ट ही है, अत एव यहाँ अर्थालङ्कार का स्वरूप विवेचन नहीं किया गया अपि तु अर्थालङ्कार के भेदों का निरूपण किया जा रहा है। प्रदीपकार ने आचार्य मम्मट के अभिमत अर्थालङ्कारों का संकलन किया है। उनकी संख्या ६१ है—एकषष्टिः प्रमोदिताः। अतः पूर्वोक्त ६ शब्दालङ्कारों को जोड़कर कुल अलङ्कार ६१+६=६७ होते हैं।

टिप्पणी—(i) अलङ्कारों की संख्या के विषय में आचार्यों का मत-भेद है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में केवल चार अलङ्कारों का उल्लेख मिलता है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। वामन ने ३३, दण्डी ने ३५, भामह ने ३९ तथा उद्भट ने ४० अलङ्कारों का निरूपण किया था। इसके अनन्तर रुद्रट ने ५२ अलङ्कारों का वर्णन किया तथा मम्मट के अनुसार अलङ्कारों की संख्या ६७ हो गई। इसी प्रकार अलङ्कारों की संख्या बढ़ती रही। विश्वनाथ ने ७७ तथा जयदेव ने (चन्द्रालोक में) १०० अलङ्कारों का वर्णन किया। अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द में यह संख्या १२४ तक पहुंच गई।

(ii) मम्मट के पूर्ववर्ती रुद्रट ने अलङ्कारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयास किया था। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष, इन चार मूलतत्त्वों को अलङ्कार-विभाजन का आधार बनाया था। मम्मट के उत्तरवर्ती रुय्यक ने इस वर्गीकरण को अधिक विशद करने का प्रयास किया है और अलङ्कारों के ये वर्ग बनाये—१. सादृश्यमूलक, २. विरोधमूलक, ३. शृङ्खलाबन्धमूलक, ४. तर्कन्यायमूलक, ५. वाक्यन्यायमूलक, ६. लोकन्यायमूलक, ७. गूढार्थप्रतीतिमूलक। मम्मट ने इस ओर क्यों नहीं ध्यान दिया, यह विचारणीय है।

अनुवाद—(१. उपमा) (उपमान तथा उपमेय का) भेद होने पर (दोनों के गुण, क्रिया आदि) धर्म की समानता का वर्णन उपमालङ्कार है। (१२५)

उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा। भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय।

उपमान तथा उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य कारण आदि का नहीं; इसलिये उन दोनों का ही समान धर्म से सम्बन्ध होना उपमा है। (उपमा के लक्षण में) 'भेद' शब्द का ग्रहण अनन्वय अलङ्कार (जहाँ उपमान और उपमेय का भेद नहीं होता) की व्यावृत्ति (पृथक्ता) के लिए किया गया है।

प्रभा—'उपमा' अलङ्कार में अन्य अलङ्कारों की अपेक्षा अधिक सुकुमारता है, यह स्पष्टतया विभाव आदि का उत्कर्षक है तथा रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि साधर्म्य-मूलक अलङ्कारों का मूलभूत है। इसी हेतु सर्वप्रथम 'उपमा' का ही निरूपण किया जा रहा है। उपमान तथा उपमेय का समानधर्म के साथ सम्बन्ध-वर्णन ही उपमा है। यद्यपि सूत्र में उपमान तथा उपमेय का ग्रहण नहीं किया गया; तथापि 'साधर्म्य' शब्द के द्वारा उनका आक्षेप हो जाता है; क्योंकि उपमान तथा उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्यकारण आदि का नहीं। साधर्म्य शब्द का अर्थ है—समानधर्मवत्व अर्थात् दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं का समान धर्म वाला होना। काव्यप्रकाश के अनेक टीकाकार इस 'साधर्म्य' को सादृश्य से भिन्न मानते हैं; क्योंकि जब यह कहा जाता है—'अनेनाय सदृश.' तो यह जिज्ञासा होती है कि किस धर्म के द्वारा इन दोनों का सादृश्य है। अत एव दो वस्तुओं में साधारण धर्म के कारण भासित होने वाला पदार्थविशेष ही सादृश्य है—'सादृश्यं च साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोज्यो धर्मविशेषः'—उद्योत।

यद्यपि साधर्म्य अर्थात् एकधर्मवत्त्व कहने से ही उपमान तथा उपमेय की भिन्नता का आक्षेप हो सकता है तथापि उपमा के लक्षण में 'भेद' शब्द का ग्रहण इसलिये किया गया है कि यह लक्षण अनन्वय अलङ्कार में न चला जाय। 'नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव' इत्यादि अनन्वय अलङ्कार (के उदाहरण) में एक वस्तु ही उपमान तथा उपमेय होती है तथा उपमान और उपमेय में वास्तविक भेद नहीं होता।

किञ्च यहाँ काव्यगत अलङ्कारों का प्रकरण है। अलङ्कार का अभिप्राय है शब्द और अर्थ का वैचित्र्य (वैचित्र्यं चालङ्कारः)। फलतः जहाँ भिन्न-भिन्न उपमान और उपमेय के साधर्म्य का चमत्कार-जनक वर्णन होता है, वहाँ उपमा अलङ्कार होता है।

टिप्पणी :—(i) प्रायः समस्त आलङ्कारिकों ने उपमा अलङ्कार को अनेक अर्थालङ्कारों का मूल बतलाया है और इसका ही प्रथमतः निरूपण किया है। आचार्य वामन आदि ने तो साधर्म्यमूलक अलङ्कारों को उपमा का प्रपञ्चमात्र ही बतलाया है—'प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः' (४·३·१)।

(१२६) पूर्णा लुप्ता च ।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता ।

[पूर्णोपमा]

(१२७) साऽग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥८७॥

अग्रिमा पूर्णा ।

यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमान-

(ii) उपमा शब्द योगरूढ है—उपमीयते अनया इति उपमा । इस उपमा के चार अङ्ग हैं—१. उपमान, २. उपमेय, ३. साधारणधर्म, ४. साधर्म्यवाचक या उपमावाचक । जो पदार्थ साधारणधर्मवत्ता रूप से प्रसिद्ध है वह उपमान है तथा जिसमें उस साधारणधर्म का वर्णन करना है वह उपमेय (वर्णनीय) है । अथवा साधारणधर्म की दृष्टि से उत्कृष्ट समझा गया पदार्थ उपमान है तथा निकृष्ट माना गया पदार्थ उपमेय है । इन्हें क्रमशः अप्रस्तुत और प्रस्तुत भी कहा जाता है । उपमान और उपमेय में रहने वाला धर्म साधारण धर्म है । समानतावाचक 'इव' आदि शब्द उपमावाचक हैं । जैसे 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' इत्यादि में 'कमल' उपमान है, 'मुख' उपमेय है, 'मनोज्ञत्व' साधारण धर्म है तथा 'इव' उपमावाचक है ।

(iii) 'इव' आदि पद के समान ही 'यथा' आदि पदों द्वारा भी साधर्म्य की प्रतीति होती है; अतः शब्द परिवृत्तिसह होने से उपमा अर्थालङ्कार है ।

(iv) यहाँ सभी अलङ्कारों के लक्षणों में अलङ्कार के सामान्य लक्षण का भी सम्बन्ध होता है; इसलिए 'पट इव पटः द्रव्यम्' इत्यादि में साधर्म्य होने पर भी उपमा अलङ्कार नहीं होता, क्योंकि यहाँ साधर्म्य काव्य का उत्कर्षाधायक नहीं है ।

(v) जगन्नाथ ने (रसगङ्गाधर में) मम्मट के उपमा-लक्षण की आलोचना की है ।

अनुवाद—(उपमा दो प्रकार की है)—पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा ।

उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक (इन चारों अवयवों) का ग्रहण होने पर पूर्णोपमा होती है तथा इनमें से एक, दो या तीन का लोप (अकथन) होने पर लुप्तोपमा होती है । (१२६)

अनुवाद—इनमें पहिली (अग्रिमा) अर्थात् पूर्णोपमा (प्रथमतः) श्रौती तथा आर्थी (दो प्रकार की) होती है । (श्रौती और आर्थी भी) वाक्य, समास तथा तद्धित में (तीन २ प्रकार की) होती है (१२७)

(कारिका में) 'अग्रिमा' अर्थात् पूर्णोपमा ।

(श्रौती) यथा, इव, वा आदि शब्द जिसके अनन्तर प्रयुक्त होते हैं (यत्परा.)

विशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा। तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

'तेन तुल्यं मुख'मित्यादावुपमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने एव 'इदं च तच्च तुल्य' मित्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी, तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिरि' त्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ।

'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति' नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा।

उसके ही उपमान होने की प्रतीति होती है। इस प्रकार यद्यपि ये ('यथा' आदि) उपमान के विशेषण होते हैं तथापि शब्द-शक्ति की महिमा के कारण श्रवणमात्र से ही षष्ठी विभक्ति की भाँति (साधर्म्य) सम्बन्ध का बोध कराते हैं इसलिए उन ('यथा आदि) के (प्रयोग) होने पर श्रौती उपमा होती है। उसी प्रकार 'तत्र तस्येव' (५/१/११६) इस (पाणिनि-सूत्र) से 'इव' (समानता) के अर्थ में विहित 'वति' (वत्) प्रत्यय के प्रयोग में भी (श्रौती उपमा होती है)।

(आर्थी) (क) 'तेन तुल्यं मुखम्' (उस कमल आदि के तुल्य मुख है)—इत्यादि में उपमेय में ही, तथा (ख) 'वह कमल (तत्) इस मुख के (अस्य) सदृश है (तुल्यम्)'—इत्यादि में उपमान में ही और (ग) 'यह मुख (इदं) और वह कमल (तत्) तुल्य है'—यहाँ दोनों (उपमेय तथा उपमान) में भी (सादृश्य का बोध कराकर) 'तुल्य' आदि शब्दों का व्यापार समाप्त हो जाता है (विश्रान्तिः); इस प्रकार साधारणधर्म का अनुसन्धान (विमर्श) करने पर ही दोनों में तुल्यता की प्रतीति होती है। अतएव 'साधर्म्य' अर्थ द्वारा आक्षिप्त (आक्षेपगम्य या अर्थलभ्य) है तथा 'तुल्य' आदि शब्दों के प्रयोग में आर्थी उपमा होती है। उसी प्रकार तेन तुल्य क्रिया चेद् वतिः (५/१/११५) इस (पाणिनि-सूत्र) से विहित 'वति' (वत्) प्रत्यय के प्रयोग (स्थिति) में भी।

'इव' (शब्द) के साथ (सुबन्त का) नित्यसमास होता है, विभक्ति का लोप नहीं होता तथा पूर्वपद में प्रकृति-स्वर रहता है (अर्थात् समासाभाव की दशा में पूर्वपद का जो स्वर होता है वही समास दशा में भी रहता है)—इस (वार्तिक) से नित्य समास होने पर इव शब्द के प्रयोग में समासगा (श्रौती) उपमा होती है (जैसे—'जीमूतस्येव भवति प्रतीकम्)।

प्रभा—उपमा के प्रथमतः दो भेद होते हैं—पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा। जो उपमा चारों अङ्गों से पूर्ण होती है वह पूर्णोपमा है। जहाँ एक भी अङ्ग की न्यूनता होती है वह लुप्तोपमा है। पूर्णोपमा के भी पहले दो भेद किये गये हैं—एक श्रौती तथा दूसरी आर्थी। श्रौती उपमा वह है जहाँ यथा, इव आदि शब्द के श्रवणमात्र

से ही साधर्म्य की प्रतीति हो जाती है। (ख) आर्थी उपमा वह है जहाँ साधर्म्य की प्रतीति अर्थवशात् होती है अर्थापत्तिगम्य अथवा आक्षेपलभ्य होती है।

(क) ग्रन्थकार ने 'यथेव''''''श्रौती उपमा'—इस अवतरण में शङ्का-समाधानपूर्वक श्रौती उपमा का स्वरूप बतलाया है। यहाँ शङ्का का भाव यह है कि जो जिसकी विशेषता प्रकट करता है वह उसका ही विशेषण होता है अन्य का नहीं। 'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' इत्यादि में इव शब्द कमल पदार्थ की उपमानता को प्रकट करता है अतएव यह कमलपद का विशेषण है तथा कमल में ही मनोज्ञता रूप साधारणधर्म के सम्बन्ध का बोध करा सकता है। यह मुख में साधारणधर्म के सम्बन्ध का बोध नहीं करा सकता। इस प्रकार साधर्म्य की प्रतीति शाब्दी (श्रौती) नहीं है और उपमा को श्रौती नहीं कहा जा सकता तथा श्रौती और आर्थी यह विभाग ही नहीं बनता। (तथापि आदि) समाधान का अभिप्राय यह है—जिस प्रकार 'राज्ञः राज्यम्'- इत्यादि में 'राजन्' शब्द से प्रयुक्त षष्ठी विभक्ति राजा में स्वामित्व का प्रतिपादन करती है तथा 'राजन्' पद का ही विशेषण है तथापि राजा तथा राज्य के स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध का भी बोध कराती है; इसी प्रकार 'यथा' 'इव' आदि शब्द भी श्रवणमात्र से ही उपमान तथा उपमेय के साधर्म्य की प्रतीति करा देते हैं, क्योंकि शब्दशक्ति का प्रभाव ही ऐसा है। इस प्रकार 'यथा' इत्यादि साधर्म्य सम्बन्ध के वाचक हैं और इनके प्रयोग में श्रौती उपमा होती है।

(ख) इसके विपरीत आर्थी उपमा है। ग्रन्थकार ने 'तेन तुल्यं''''''आर्थी' इस अवतरण में उसका स्वरूप बतलाया है। अभिप्राय यह है कि 'तुल्य' 'सदृश' आदि शब्दों की सादृश्ययुक्त में शक्ति है। इनके द्वारा (क) 'कमलेन तुल्यं मुखम्' (ख) 'कमलं तुल्यं मुखस्य' (ग) 'मुखं च कमलं च तुल्यम्' इन वाक्यों में क्रमशः उपमान, उपमेय तथा दोनों के सदृश होने की प्रतीति हो सकती है। किन्तु धर्मविशेष के बिना सादृश्य उपपन्न नहीं होता (नहीं बन सकता) इसलिये साधारणधर्म सम्बन्ध अर्थात् साधर्म्य का आक्षेप हो जाता है अतएव उपमा (साधर्म्य) आर्थी है।

इस प्रकार उपमान तथा उपमेय का चमत्कारजनक साधर्म्य ही उपमा है। यथा, इव, वा, व आदि शब्द साक्षात् रूप से साधर्म्य के बोधक हैं अतः इनके प्रयोग में उपमा श्रौती होती है। किन्तु तुल्य, सदृश, समान, सम आदि शब्द सदृश (साधर्म्यवान्) के बोधक हैं। उनसे अर्थतः (Indirectly) साधर्म्य की प्रतीति होती है। अतः उनके प्रयोग में उपमा आर्थी कही जाती है।

श्रौती और आर्थी उपमा भी, (१) वाक्य, (२) समास तथा (३) तद्धित में हुआ करती हैं। (१) जहाँ उपमान आदि चारों असमस्त होते हैं वहाँ उपमा वाक्य-गत होती है। (२) जहाँ उन चारों में से किन्हीं दो का भी समास होता है। वहाँ उपमा समासगत होती है। (३) जहाँ उपमान वाचक से तद्धित प्रत्यय का योग होता है वहाँ उपमा तद्धितगत होती है। इस प्रकार यह पूर्णोपमा ६ प्रकार की

क्रमेणोदाहरणम्—

१. स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति ।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥३६२॥

२. चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।
सरसिजमिदमाननं च तस्याःसममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥३६३॥

हो जाती है । उपर्युक्त युक्ति के आधार पर ही 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' तद्धित प्रत्यय के प्रयोग में श्रौती तथा 'तुल्य' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय के प्रयोग मे आर्थी उपमा होती है । इसी प्रकार समास में 'इव' शब्द का प्रयोग होने पर श्रौती तथा 'सदृश' आदि शब्द का प्रयोग होने पर आर्थी उपमा होती है । इस प्रकार पूर्णोपमा के ६ भेद ये हैं—१. वाक्यगा श्रौती, २. वाक्यगा आर्थी, ३. समासगा श्रौती, ४. *समासगा आर्थी*, ५. *तद्धितगा श्रौती*, ६. *तद्धितगा आर्थी* ।

टिप्पणी—(i) तत्र तस्येव (५/१/११६) इस सूत्र के अनुसार इव (साधर्म्य) के अर्थ में सप्तम्यन्त (तत्र) तथा षष्ठ्यन्त (तस्य) शब्द से 'वति' प्रत्यय होता है; जैसे 'मथुरावत् (मथुरायाम् इव) स्रुघ्ने प्राकाराः' तथा 'चैत्रवत् (चैत्रस्य इव) मैत्रस्य गावः' ।

(ii) 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः (५/१/११५) इस सूत्र के अनुसार तुल्य (सदृश) अर्थ में तृतीयान्त शब्द से क्रिया-साम्य में 'वति' प्रत्यय होता है; जैसे 'ब्राह्मणवत् (ब्राह्मणेन तुल्यम्) अधीते क्षत्रियः' ।

(iii) 'इवेन नित्यसमासो०'—यहाँ नित्य शब्द सिद्धान्तकौमुदी या महाभाष्य में नहीं मिलता ।

अनुवाद—(षड्विध पूर्णोपमा के) क्रमशः उदाहरण ये हैं—

१. (वाक्यगा श्रौती)—'हे राजन्, संग्राम में विजय-श्री आपको स्वप्न में भी इसी प्रकार नहीं छोड़ती जिस प्रकार स्वाधीनपतिका नायिका प्रकृष्ट अनुराग (प्रभाव) के उत्पत्तिहेतु (प्रभव) अपने प्रियतम को' ॥३६२॥

प्रभा—यहाँ 'स्वाधीनपतिका'—उपमान है; 'विजयश्री'—उपमेय है; 'न मुञ्चति' अर्थात् अपरित्याग साधारण धर्म और 'यथा' उपमावाचक शब्द है । इस प्रकार चारों अवयव विद्यमान हैं । इनमें किन्हीं दो का भी समास नहीं अतएव यहाँ वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा है ।

अनुवाद—२. (वाक्यगा आर्थी)—'चकित हरिण के समान चञ्चल नेत्रों वाली उस नायिका का यह मुख जो कोप में तरुण अरुण की उत्कट (तार) तथा मनोहर कान्ति वाला हो जाता है; और यह कमल ये दोनों समान हो जाते हैं; इसलिए नायक के हृदय में (यह मुख) हर्ष उत्पन्न करता है' ॥३६३॥

प्रभा—यहाँ 'सरसिज' उपमान है, 'आनन' उपमेय है, 'अरुणसदृश कान्ति' साधारण धर्म तथा 'सम' शब्द उपमावाचक है; 'सम' शब्द के साथ समास न होने

३. अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो
लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥३६४॥
४. अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर, न कस्य ॥३६५॥
५, ६ गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥३६६॥

से यह वाक्यगा उपमा है। यहाँ शब्द से 'कमल और मुख सदृश हैं'—केवल यह प्रतीति होती है फिर अनुसन्धान द्वारा दोनों के साधर्म्य की प्रतीति होती है अतएव यहाँ वाक्यगा आर्थी उपमा है।

अनुवाद—३. (समासगा श्रौती)—'जो राजा भगवान् विष्णु (शौरि) की चारों भुजाओं के समान उन (सामादि) चारों उपायों से सदा इस संसार का पालन करता था (बभार)। वे उपाय तथा बाहु दोनों अत्यायत (परिणाम में विशुद्ध या आजानुलम्ब), गर्वयुक्त या दानवों का नियन्त्रण करने वाले, दिव्य (उत्कृष्ट या अलौकिक), उत्कृष्ट शोभा वाले, अपाय रहित (सदा सफल या सनातन) तथा लक्ष्मी के विलास-भवन हैं' ॥३६४॥

प्रभा—यहाँ 'भुज' उपमान है, उपाय 'उपमेय' है तथा 'आयतत्व' इत्यादि साधारण धर्म हैं और 'इव' शब्द उपमावाचक है। 'भुजैरिव' में 'इवेन समास॰' इत्यादि उपर्युक्त वार्तिक द्वारा समास होता है अतः समासगा श्रौती पूर्णोपमा है। समास न होने पर वाक्यगा उपमा ही होगी।

अनुवाद—४. (समासगा आर्थी)—जनता के सफल मनोरथों के मार्ग-विस्तार में (सफलता की वृद्धि में) प्रकृष्ट गुणों की महिमा के कारण जिसकी सम्पत्ति (श्री.) का गान हो रहा है इसलिए कल्पवृक्ष के समान हे पृथिवीपति, आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं ? ॥३६५॥

प्रभा—यहाँ 'सुरतरु' उपमान है, 'भवान्' (आप) उपमेय है, 'प्रगुणगरिम-गीतश्रीत्व' साधारण धर्म है, 'सदृश' शब्द उपमावाचक है। 'सुरतरुसदृश.' यहाँ उपमान तथा उपमावाचक शब्द का समास है, अतएव समासगा आर्थी पूर्णोपमा है।

अनुवाद—५. ६. (तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी)—सचमुच ही उस (राजा) की गम्भीरता की महिमा गङ्गा के भुजङ्ग अर्थात् उपपति सागर (गङ्गापति=सागर) के समान है यह संग्राम में ग्रीष्मकालीन (निदाघ) अम्बररत्न अर्थात् सूर्य के समान कष्ट से देखा जा सकता है ॥३६६॥

प्रभा—(५) यहाँ पर पूर्वार्ध में 'गङ्गाभुजङ्ग' उपमान है; 'तस्य' (वह) उपमेय है; 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारणधर्म है। 'भुजङ्गवत्' में 'इव' के अर्थ में (तत्र

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः तथा जगश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम्, वैचित्र्यं चालङ्कारः तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः, अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव। रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीत्यगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम्।

तस्येव) 'वति' प्रत्यय होता है—इस प्रकार यहाँ तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा है। (६ उत्तरार्ध में 'निदाघाम्बररत्न' उपमान है, 'स' उपमेय है और 'दुरालोकत्व' साधारण धर्म है। 'अम्बररत्नवत्' में तुल्यार्थ मे (तेन तुल्य क्रिया चेद्वति.) 'वति' प्रत्यय होता है—*इस प्रकार यहाँ तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है।*

अनुवाद—यद्यपि ('स्वप्नेऽपि' इत्यादि में) "जिस प्रकार स्वाधीनपतिका नायिका अपने पति में तल्लीन (भजमाना-सेवमाना) होकर अलौकिक चमत्कार का विषय (विलक्षणलावण्यमयी) हो जाती है इसी प्रकार आपका सेवन करती हुई विजयश्री भी।" इत्यादि प्रतीयमान (वस्तुरूप) व्यङ्ग्य अर्थ के बिना उक्ति (काव्य या काव्य के वाच्यार्थ) की विचित्रता नहीं प्रतीत होती और उक्ति-वैचित्र्य ही अलङ्कार (कहलाता) है; तथापि यहाँ ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं माना जाता; क्योंकि व्यङ्ग्य के सम्बन्ध के परामर्श (विचार) से यहाँ चारुता की प्रतीति नहीं होती; किन्तु ('इव' आदि के) वाच्य (उपमा) के वैचित्र्य का अनुसन्धान करने से ही होती है।

रस (भाव) आदि व्यङ्ग्य अर्थ अथवा कोई और अलङ्कार तो सभी काव्य स्थलों में नियम से विद्यमान रहता है, इस हेतु उनकी ओर ध्यान न देकर (उपमा आदि) अलङ्कारों के उदाहरण दिये गये हैं। रसादिरहित (उक्तियों) उदाहरणों का दिया जाना तो नीरसता का कारण हो जाता। इसलिये यह अपर अर्थात् बाद का कथन (सव्यङ्ग्य उदाहरण देना) पूर्व कथन (अव्यङ्ग्य चित्रम्) के विरुद्ध है—ऐसी शङ्का न करनी चाहिये।

प्रभा—इस अवतरण की प्राचीन टीकाकारों तथा आधुनिक व्याख्याकारों ने विविध प्रकार से व्याख्या की है। अवतरण का तात्पर्य यह प्रतीत होता है—

शङ्का यह है कि प्रथम उल्लास में ग्रन्थकार ने कहा है कि 'गुणालङ्कारयुक्तमव्यङ्ग्यं चित्रम्' अर्थात् गुण और अलङ्कार से युक्त व्यङ्ग्यरहित काव्य चित्र काव्य है। उसके दो भेद हैं—शब्द चित्र और अर्थचित्र। फिर षष्ठ उल्लास में कहा है—'ते च अलङ्कार-निर्णये निर्णेष्यन्ते' अर्थात् चित्रकाव्य के दोनों भेदों का अलङ्कार-निर्णय के अवसर पर निर्णय किया जायेगा। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकार को चित्र-काव्य का उदाहरण ही देना चाहिये। किन्तु 'स्वप्नेऽपि' इत्यादि उदाहरण में चित्र-काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ निम्न व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है—

"जिस प्रकार स्वाधीनपतिका नायिका अपने पति के साथ रमण करती हुई अलौकिक आनन्द का अनुभव करती है उसी प्रकार विजय श्री भी तुम्हारा सेवन करके।" और यह व्यङ्ग्यार्थ यदि प्रधान है तो यह काव्य ध्वनि होगा; यदि गौण है तो यह गुणीभूतव्यङ्ग्य होगा। अतः ग्रन्थकार के कथन में पूर्वापर विरोध है।

इसके समाधान के लिये 'स्वाधीनपतिका......प्रतिभासादेव' इत्यादि कहा गया है। यह ठीक है कि ऐसे स्थानों पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ व्यङ्ग्यार्थ का भान होने से चमत्कार का अनुभव नहीं होता अपितु यहाँ उपमा ही चमत्कारोत्पादक होती है और वह उपमा वाच्य ही है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ तो उपमाकृत चमत्कार के बाद प्रतीत होता है। क्रम यह है—वाच्यार्थबोध→चमत्कारानुभव→व्यङ्ग्यार्थप्रतीति अतः यहाँ व्यङ्ग्यार्थ अस्फुटतर होता है। ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों पर वाच्यार्थ-बोध के एकदम बाद (अनन्तर) व्यङ्ग्य की प्रतीति हुआ करती है। वहाँ व्यङ्ग्यार्थ क्रमशः स्फुट या अस्फुट हुआ करता है, अस्फुटतर नहीं, इस प्रकार 'स्वप्नेऽपि' इत्यादि में चित्रकाव्य ही है।

इस पर शङ्का यह है कि स्वप्नेऽपि आदि में राजविषयक रतिभाव (रसादि) की प्रतीति हो रही है, फिर यह चित्रकाव्य कैसे हो सकता है? दूसरा दोष यह भी है कि यह उपमालङ्कार का उपयुक्त उदाहरण नहीं; क्योंकि (मकार का) अनुप्रास अलङ्कार भी यहाँ विद्यमान है। अतः यहाँ अनुप्रास और उपमा की संसृष्टि या सङ्कर होगा। इसका समाधान करते हुए कहा गया है—'रसादिस्तु'।

भाव यह है कि सभी उत्तम काव्यों में रसादि रूप व्यङ्ग्य अर्थ तथा दो-दो अलङ्कार भी हो सकते हैं। अतः उनकी ओर ध्यान न देकर प्रकरण के अनुसार यहाँ उपमा आदि के उदाहरण दिखलाये गये हैं। ये सभी उदाहरण चित्रकाव्य के ही उदाहरण हों यह आवश्यक नहीं।

यदि कहो कि 'चन्द्रमधवलः पटः' इत्यादि रस तथा अन्य अलङ्कारों से रहित केवल शुद्ध उपमा के उदाहरण ही क्यों न दिखला दिये? तो उत्तर है कि वैसे उदाहरण देने से नीरसता आ जाती—पाठकवृन्द को अरुचि उत्पन्न हो जाती—(विरसतामावहन्ति)।

प्रायः व्याख्याकारों ने इसका अभिप्राय यह बतलाया है—वाच्य और वाचक का उत्कर्ष बढ़ाकर रस के उपकारक होने से ही उपमा आदि अलङ्कार कहलाते हैं। नीरस काव्य में होने वाले उपमा आदि तो अलङ्कार ही न कहलाते। इसके समर्थन में यह उक्ति भी उद्धृत की है—

रसध्वनिर्न यत्रास्ति तत्र दन्थ्यं विभूषणम्।
मृतायाः मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारगुम्फनः॥

[लुप्तोपमा]

(१२८) तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

धर्मः साधारणः । तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव तेन पञ्च ।

उदाहरणम्—

१. अन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेत: सत्यं तस्यामृतं यथा ॥३६७॥

किञ्च, आनन्दवर्धन (ध्व० २) की यह कारिका भी—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥

किन्तु यह व्याख्या मम्मट के अलङ्कार लक्षण के अनुकूल नही प्रतीत होती । मम्मट के अनुसार तो नीरस काव्य मे भी अलङ्कार होते है ।

(द्र०, सूत्र १ तथा ८८ की व्याख्या) ।

अनुवाद—(पञ्चविधा धर्मलुप्तोपमा)—उस (पूर्णोपमा) के समान ही धर्म का लोप होने पर उपमा अर्थात् 'धर्मलुप्तोपमा' होती है; किन्तु वह तद्धितगा श्रौती नहीं होती ।

धर्म अर्थात् साधारण धर्म । तद्धित अर्थात् कल्पप् (देश्यदेशीयर्) आदि में तो आर्थी ही लुप्तोपमा होती है । इस प्रकार इसके पांच भेद होते है ।

प्रभा—जहाँ साधारण धर्म का लोप हो जाता है वहाँ धर्मलुप्तोपमा होती है । यह पांच प्रकार की है—१. वाक्यगा श्रौती, २. वाक्यगा आर्थी, ३. समासगा श्रौती, ४. समासगा आर्थी, ५. तद्धितगा आर्थी ।

यहाँ तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा नही होती । कारण यह है कि 'इव' के अर्थ में विहित तद्धितप्रत्यय के प्रयोग में ही श्रौती उपमा हुआ करती है । वह इवार्थक तद्धितप्रत्यय 'वति' है, जो 'तत्र तस्येव' इत्यादि पाणिनि सूत्र से कहा गया है । वह सदा साधारण धर्म में साकांक्ष होता है तथा साधारण धर्म का प्रयोग न होने पर वह तद्धित ही नहीं होता अतः साधारण धर्म के अप्रयोग (लोप) में श्रौती तद्धितगा धर्मलुप्तोपमा नही होती ।

यद्यपि इस प्रकार तुल्यक्रिया रूप साधारण धर्म की आकांक्षा रखने के कारण तुल्यार्थक 'वति' (तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः) प्रत्यय के प्रयोग में भी आर्थी तद्धितगा धर्मलुप्तोपमा भी नहीं हो सकती तथापि कल्पप्, देश्य तथा देशीयर् के प्रयोग में होती ही है ।

अनुवाद—(धर्मलुप्तोपमा के) उदाहरण हैं—

१. (वाक्यगा श्रौती)—'हे चित्त, असाधारण सौजन्य की अधिकता से युक्त तथा सर्वोत्कृष्ट (धन्यस्य) उस सज्जन के अमृत जैसे वचन का निश्चय ही (सत्यं) पालन करना चाहिये' ॥३६७॥

२. आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन्।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥३६८॥
३,५. करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे, ॥३६६॥
(११६) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥८८॥
६. सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स।
दीसइ अह व णिसम्मइ सरिसं अंसमेत्तेण ॥४००॥

प्रभा—यहाँ 'अमृत' उपमान है, 'वचस्' उपमेय है और 'यथा' उपमावाचक है। 'परिणाममुखकरत्व' रूप साधारण धर्म है जो अत्यन्त प्रसिद्ध है इसी से उसका ग्रहण नहीं किया गया। यहाँ 'यथा' शब्द के साथ समास नहीं है, अतएव वाक्यगा धर्मलुप्ता श्रौती उपमा है।

अनुवाद—२. (वाक्यगा आर्थी)—'तलवार खींचकर संग्राम में घूमता हुआ यह राजा शत्रु सेना के द्वारा यमराज के समान देखा गया।' ॥३६८॥

प्रभा—यहाँ कृतान्त उपमान है तथा राजा उपमेय है। 'क्रूरता' साधारण धर्म है। अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण उसका प्रयोग नहीं किया गया। सादृश्यार्थक 'सम' शब्द उपमावाचक है 'सम' शब्द के साथ समास नहीं है अतएव वाक्यगा धर्मलुप्ता आर्थी उपमा है।

अनुवाद—३-५ (समासगा ३. श्रौती तथा ४. आर्थी एवं ५. तद्धितगा आर्थी) 'हे मित्र, उस (दुष्ट) का आचरण तलवार के समान है, उसकी वाणी अमृत के समान है तथा मन विष सदृश है; यदि इस सब को जान लोगे तो जीवित रहोगे' ॥३६६॥

प्रभा—(३) 'करवाल इवाचारः'—में करवाल उपमान है, आचार उपमेय है, इव उपमावाचक है। यहाँ 'घातकता' साधारण धर्म है जो लुप्त (अनुपात्त) है। इव के साथ समास हुआ है अतएव समासगा श्रौती धर्मलुप्ता उपमा है। (४) 'वागमृतोपमा'—में 'वाक्' उपमेय है, 'अमृत' उपमान है सादृश्यार्थक 'उपमा' शब्द उपमावाचक है। यहाँ 'माधुर्य' साधारण धर्म है जो लुप्त है 'उपमा' शब्द के साथ समास हुआ है अतएव समासगा आर्थी धर्मलुप्ता उपमा है। (५) 'विषकल्पं मनः' इसमें 'विष' उपमान है, 'मनस्' उपमेय है 'मारकत्व' साधारण धर्म है जो लुप्त है। तुल्यार्थक 'कल्पप्' तद्धित प्रत्यय (ईषदसमाप्तौ कल्पप्देश्यदेशीयरः ५।३।६७) है—अतएव यहाँ तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता उपमा है।

अनुवाद—(द्विधा उपमानलुप्तोपमा) उपमान का लोप होने पर (६) वाक्यगा तथा (७) समासगा (दो प्रकार की उपमानलुप्तोपमा होती है) ११९। जैसे—समस्त इन्द्रियों (करण) को परमविश्रान्ति (विषयान्तरवैमुख्य) तथा सौख्य

(सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥)

७. कव्वस्सेत्यत्र कव्वसममिति सरिसमित्यत्र च णूणमिति पाठे एषैव समासगा ।

(१०३) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि

वाशब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे पद-समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा, कर्तुः क्यङा, कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत्। उदाहरणम्—

(श्री) प्रदान करने वाले सरसकाव्य के सदृश अंशमात्र में भी अन्य कुछ वस्तु न देखी जाती है, न सुनी जाती है' ॥४००॥

'काव्यस्य' (कव्वस्स) के स्थान पर 'काव्यसम' (कव्वसमम्) और 'सदृश' (सरिस) के स्थान पर 'नूनं' (णूणम्) पाठ होने पर यही समासगा उपमानलुप्तोपमा हो जाती है ।

प्रभा—(६) यहाँ वर्णनीय है काव्य तथा यही उपमेय है । 'सकल' इत्यादि साधारण धर्म है; सदृशशब्द उपमावाचक है इसके साथ 'काव्य' शब्द का समास नहीं किया गया । यहाँ पर उपमान का भी ग्रहण नहीं किया । इस प्रकार यहाँ वाक्यगा उपमानलुप्ता आर्थी उपमा है । (७) 'काव्यसमम्' इत्यादि पाठ हो जाने पर तुल्यार्थक 'समं' शब्द के साथ काव्य शब्द का समास होगा अतः समासगा उपमानलुप्ता आर्थी उपमा होगी ।

उपमानलुप्ता के अन्य (चार) भेद न होने का कारण यह है—(क) उपमावाचक 'वति' आदि तद्धित प्रत्यय उपमानवाचक शब्द से ही हुआ करते हैं । अतः तद्धितगत दोनों भेद उपमान का लोप होने पर नहीं हो सकते, (ख) 'इव' आदि उपमावाचक का उपमानवाचक के साथ ही अन्वय हुआ करता है अतः उपमान का लोप होने पर वाक्यगा एवं समासगा श्रौती नहीं हो सकती ।

अनुवाद—(षड्विधा वाचकलुप्तोपमा)—वा (इव) आदि का लोप (अनुपादान) होने पर यह (वाचकलुप्ता) उपमा—समास में, कर्म तथा अधिकरण से होने वाले 'क्यच्' में, 'क्यङ्' प्रत्यय में, कर्म तथा कर्तृ उपपद वाले णमुल् प्रत्यय में—होती है । (१३०)

'वा' शब्द उपमाद्योतक है इसलिए 'वा' इत्यादि उपमावाचक शब्द का लोप होने पर (लुप्तोपमा के) ६ भेद होते हैं—(८) समास के द्वारा, (९) कर्म से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय तथा (१०) अधिकरण से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय के द्वारा, (११) कर्ता से विहित क्यङ् प्रत्यय द्वारा और (१२) कर्म उपपद होने पर (णमुल्) या (१३) कर्तृ उपपद होने पर णमुल् प्रत्यय द्वारा ।

२. आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन्।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥३६८॥

३,५. करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे, ॥३६९॥

(११९) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥८८॥

६. सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स।
दीसइ अह व णिसम्मइ सरिसं अंसमेत्तं ण ॥४००॥

प्रभा—यहाँ 'अमृत' उपमान है, 'वचस्' उपमेय है और 'यथा' उपमावाचक है। 'परिणामसुखकरत्व' रूप साधारण धर्म है जो अत्यन्त प्रसिद्ध है इसी से उसका ग्रहण नहीं किया गया। यहाँ 'यथा' शब्द के साथ समास नहीं है, अतएव वाक्यगा धर्मलुप्ता श्रौती उपमा है।

अनुवाद—२. (वाक्यगा आर्थी)—'तलवार खींचकर संग्राम में घूमता हुआ यह राजा शत्रु सेना के द्वारा यमराज के समान देखा गया।' ॥३९८॥

प्रभा—यहाँ कृतान्त उपमान है तथा राजा उपमेय है। 'क्रूरता' साधारण धर्म है। अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण उसका प्रयोग नहीं किया गया। सादृश्यार्थक 'सम' शब्द उपमावाचक है 'सम' शब्द के साथ समास नहीं है अतएव वाक्यगा धर्मलुप्ता आर्थी उपमा है।

अनुवाद—३-५ (समासगा ३. श्रौती तथा ४. आर्थी एवं ५. तद्धितगा आर्थी) 'हे मित्र, उस (दुष्ट) का आचरण तलवार के समान है, उसकी वाणी अमृत के समान है तथा मन विष सदृश है; यदि इस सब को जान लोगे तो जीवित रहोगे' ॥३९९॥

प्रभा—(३) 'करवाल इवाचारः'—में करवाल उपमान है, आचार उपमेय है, इव उपमावाचक है। यहाँ 'घातकता' साधारण धर्म है जो लुप्त (अनुपात्त) है। इव के साथ समास हुआ है अतएव समासगा श्रौती धर्मलुप्ता उपमा है। (४) 'वागमृतोपमा'—में 'वाक्' उपमेय है, 'अमृत' उपमान है सादृश्यार्थक 'उपमा' शब्द उपमावाचक है। यहाँ 'माधुर्य' साधारण धर्म है जो लुप्त है 'उपमा' शब्द के साथ समास हुआ है अतएव समासगा आर्थी धर्मलुप्ता उपमा है। (५) 'विषकल्पं मनः' इसमें 'विष' उपमान है, 'मनस्' उपमेय है 'नाशकत्व' साधारण धर्म है जो लुप्त है। तुल्यार्थक 'कल्पप्' तद्धित प्रत्यय (ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७) है—अतएव यहाँ तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता उपमा है।

अनुवाद—(द्विधा उपमानलुप्तोपमा) उपमान का लोप होने पर (६) वाक्यगा तथा (७) समासगा (दो प्रकार की उपमानलुप्तोपमा होती है) ११९। जैसे—समस्त इन्द्रियों (करण) को परमविश्रान्ति (विश्रामातिशयसुख) तथा सौन्द

(सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥)

७. कव्वस्सेत्यत्र कव्वसममिति सरिसमित्यत्र च णूणमिति पाठे एषैव समासगा।

(१०३) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यङि।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि

वाशब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट्-समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा, कर्तुः क्यङा, कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत्। उदाहरणम्—

(श्री) प्रदान करने वाले सरसकाव्य के सदृश अंशमात्र में भी अन्य कुछ वस्तु न देखी जाती है, न सुनी जाती है' ॥४००॥

'काव्यस्य' (कव्वस्स) के स्थान पर 'काव्यसम' (कव्वसमम्) और 'सदृश' (सरिस) के स्थान पर 'नून' (णूणम्) पाठ होने पर यही समासगा उपमानलुप्तोपमा हो जाती है।

प्रभा—(६) यहाँ वर्णनीय है काव्य तथा यही उपमेय है। 'सकल' इत्यादि साधारण धर्म है; सदृशशब्द उपमावाचक है इसके साथ 'काव्य' शब्द का समास नहीं किया गया। यहाँ पर उपमान का भी ग्रहण नही किया। इस प्रकार यहाँ वाक्यगा उपमानलुप्ता आर्थी उपमा है। (७) 'काव्यसमम्' इत्यादि पाठ हो जाने पर तुल्यार्थक 'सम' शब्द के साथ काव्य शब्द का समास होगा अतः समासगा उपमानलुप्ता आर्थी उपमा होगी।

उपमानलुप्ता के अन्य (चार) भेद न होने का कारण यह है—(क) उपमावाचक 'वति' आदि तद्धित प्रत्यय उपमानवाचक शब्द से ही हुआ करते हैं। अतः तद्धितगत दोनों भेद उपमान का लोप होने पर नहीं हो सकते, (ख) 'इव' आदि उपमावाचक का उपमानवाचक के साथ ही अन्वय हुआ करता है अतः उपमान का लोप होने पर वाक्यगा एवं समासगा श्रौती नहीं हो सकती।

अनुवाद—(षड्विधा वाचकलुप्तोपमा)—वा (इव) आदि का लोप (अनुपादान) होने पर वह (वाचकलुप्ता) उपमा—समास में, कर्म तथा अधिकरण से होने वाले 'क्यच्' में, 'क्यङ्' प्रत्यय में, कर्म तथा कर्तृ उपपद वाले णमुल् प्रत्यय में—होती है। (१३०)

'वा' शब्द उपमाद्योतक है इसलिए 'वा' इत्यादि उपमावाचक शब्द का लोप होने पर (लुप्तोपमा के) ६ भेद होते हैं—(८) समास के द्वारा, (९) कर्म से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय तथा (१०) अधिकरण से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय के द्वारा, (११) कर्ता से विहित क्यङ् प्रत्यय द्वारा और (१२) कर्म उपपद होने पर (णमुल्) या (१३) कर्तृ उपपद होने पर णमुल् प्रत्यय द्वारा।

८ (क). ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥४०१॥

तथा—

८ (ख). असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०२॥

९-११. पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥४०३॥

प्रभा—'वा' आदि उपमावाचक शब्दों के अप्रयोग में होने वाली उपमा 'वाचकलुप्तोपमा' कहलाती है। यह वाक्यगा नहीं होता; क्योंकि 'मुखं चन्द्रः काशते' इत्यादि वाक्य से (जहाँ उपमावाचक शब्द लुप्त है) उपमा की प्रतीति नहीं होती। यह तद्धितगा अथवा श्रौती भी नहीं हो सकती, क्योंकि तद्धितगा में 'वति' आदि तद्धित एवं श्रौती में 'इव' आदि शब्द उपमा प्रतिपादक होते हैं और यदि उनका प्रयोग होगा तो वाचकलुप्ता कैसे रहेगी ? इसलिये यह समासगा इत्यादि भेद से ६ प्रकार की होती है। यह ६ प्रकार की आर्थी उपमा ही है, श्रौती नहीं। समासगा भी दो प्रकार की होती है, (क) द्विपद-समासगा और (ख) बहुपद-समासगा।

अनुवाद—उदाहरण (जैसे)—(८. क. समासगा)—'तत्पश्चात् कामिनी के कपोल (गण्ड) के समान पीतवर्ण, नेत्रों को आनन्द देने वाले कुमुदनायक चन्द्रमा ने महेन्द्र की दिशा (पूर्व) को अलङ्कृत किया' ॥४०१॥

तथा (८. ख–समासगा)—'शत्रु-योद्धाओं का पराक्रम देखने पर यह वीर ऐसा हो गया कि जिसकी असिलता कृष्णसर्प के समान भयङ्कर थी, उत्कण्ठा (रुह-रुहिका) से व्याप्त चित्त होने के कारण जिसकी गति (चार=सञ्चार) तीव्र हो गई थी, (शूरता से) शरीर पुलकित था, इसलिए कपोलों की आभा प्रकट हो रही थी' ॥४०२॥

प्रभा—(८ क) 'ततः' इत्यादि द्विपदसमासगा वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है। 'कामिनीगण्डपाण्डुः' का विग्रह है 'कामिनीगण्ड इव पाण्डुः' अथवा 'कामिनी-गण्डवत् पाण्डुः'। यहाँ पर उपमान (कामिनीगण्ड) तथा साधारण धर्मवाचक (पाण्डु) शब्दों का समास (उपमानानि सामान्यवचनैः २/१/५५) हुआ है। समास से ही उपमा की प्रतीति हो जाती है अतएव 'इव' आदि उपमावाचक पदों का प्रयोग नहीं होता। (८ ख) 'असित' इत्यादि बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता का उदाहरण है। यहाँ 'असित-भुजग' उपमान है, 'भीषणता' साधारण धर्म है, 'असिपत्र' उपमेय है। इन तीनों का ही समास हो रहा है अतः यहाँ बहुपदसमासगा वाचकलुप्तोपमा है।

अनुवाद—(९. १०. ११)—'यह राजा पुरवासी जनों से पुत्रवत् व्यवहार करता है, अद्भुत कार्य करने में प्रसिद्ध ('चुञ्चु' पद प्रसिद्धार्थवाचक प्रत्यय है—जैसे

१२; १३. मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे।
स पुनः पार्थसञ्चारं सञ्चरत्यवनीपतिः ॥४०४॥

विततश्चुञ्चुप्चणपौ ५/२/२६) होने वाला वह संग्राम के मध्य में अन्तःपुर के समान आचरण (स्वच्छन्द विहार) करता है; जिसके हाथ में कृपाण है ऐसे उस राजा के युद्धभूमि में कार्यों (पराक्रमों) को देखकर शत्रु-सेना नारी के समान (भीरुता का) आचरण करने लगती है' ॥४०३॥

प्रभा—(९) 'पौरं जनं सुतीयति'—में 'पौरजन' उपमेय है, 'सुत' उपमान है—'सुतमिव आचरति' इस अर्थ में उपमानवाचक कर्मरूप 'सुत' शब्द से क्यच् प्रत्यय (उपमानादाचारे ३/१/१०) होता है। उपमेयवाचक 'जनम्' शब्द मे द्वितीय विभक्ति होने से ही यह विदित होता है कि यहाँ कर्मभूत सुत शब्द से क्यच् प्रत्यय हुआ है। 'स्नेहपूर्वक पालन करना' आदि ही यहाँ आचार है, यही साधारण धर्म है। यहाँ 'इव' का अर्थ (नामधातु रूप) वृत्ति में ही अन्तर्निहित है, (क्यच् प्रत्यय तो इवार्थ का वाचक नहीं है) इसी से 'इव' आदि का प्रयोग नहीं होता तथा यहाँ कर्म से उत्पन्न क्यच् के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा है। (१०) 'समरान्तरे०' इत्यादि में समरान्तर उपमेय है, 'अन्तःपुर' उपमान है। यहाँ उपमान-वाचक अधिकरणपद 'अन्तःपुर' से (उपमानादाचारे-अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्-वार्तिक) क्यच् प्रत्यय होता है। यहाँ आचार अर्थात् स्वच्छन्दगमन आदि ही साधारण धर्म है। अतएव पूर्ववत् यहाँ अधिकरण क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा है। (११) 'सपत्नसेना नारीयते' इसमें कर्तृवाचक नारीपद से आचार अर्थ मे क्यङ् (कर्तुः क्यङ् सलोपश्च ३/१/११) प्रत्यय होता है। यहाँ नारी उपमान है, सपत्नसेना—उपमेय (वर्णनीय) है, आचार अर्थात् कातरतापूर्वक विनय आदि ही साधारण धर्म है। यहाँ उपमाप्रतिपादक 'इव' आदि का प्रयोग नहीं होता इसलिए 'क्यङ्' प्रत्यय के प्रयोग में वाचक-लुप्तोपमा है।

अनुवाद—(१२. १३)—'शत्रु लोग (परे) उस (राजा) को युद्धभूमि में (मृधे) ग्रीष्म ऋतु के सूर्य (घर्मांशु) के सदृश देखते हैं किन्तु वह राजा तो युद्ध में अर्जुन के समान विचरण करता है' ॥४०४॥

प्रभा—(१२) 'निदाघघर्मांशुदर्शम्' उपमानवाचक कर्म (निदाघघर्मांशुम्) उपपद होने पर 'दृश्' धातु से भाव में णमुल् प्रत्यय (उपमाने कर्मणि च ३/४/४५) हुआ है। यहाँ राजा उपमेय है, 'पश्यन्ति' (देखना) साधारण धर्म है; 'इव' के अर्थ का कृदन्तवृत्ति में ही प्रवेश हो रहा है अतः 'इव' आदि उपमावाचक शब्द का अप्रयोग (लोप) है तथा यहां कर्म उपपद होने पर णमुल् प्रत्यय में वाचकलुप्तोपमा है। (१३) 'पार्थसञ्चारम्' में उपमानवाचक कर्ता (पार्थः इव सञ्चरति) उपपद होने पर 'चर्' धातु से णमुल् प्रत्यय (उपमाने कर्मणि च ३/४/४५ में 'च' से कर्ता का भी ग्रहण है) होता है। यहां राजा उपमेय है, सञ्चार साधारण धर्म है। यहां 'कर्ता' उपपद होने पर णमुल् में वाचकलुप्तोपमा है।

८ (क). ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥४०१॥

तथा—

८ (ख). असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०२॥

९–११. पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥४०३॥

प्रभा—'वा' आदि उपमावाचक शब्दों के अप्रयोग में होने वाली उपमा 'वाचकलुप्तोपमा' कहलाती है । यह वाक्यगा नहीं होता; क्योंकि 'मुखं चन्द्रः काशते' इत्यादि वाक्य से (जहाँ उपमावाचक शब्द लुप्त है) उपमा की प्रतीति नहीं होती । *यह तद्धितगा अथवा श्रौती भी नहीं हो सकती, क्योंकि तद्धितगा में 'वति' आदि तद्धित* एवं श्रौती में 'इव' आदि शब्द उपमा प्रतिपादक होते हैं और यदि उनका प्रयोग होगा तो वाचकलुप्ता कैसे रहेगी ? इसलिये यह समासगा इत्यादि भेद से ६ प्रकार की होती है । यह ६ प्रकार की आर्थी उपमा ही है, श्रौती नहीं । समासगा भी दो प्रकार की होती है, (क) द्विपद-समासगा और (ख) बहुपद-समासगा ।

अनुवाद—उदाहरण (जैसे)—(८. क. समासगा)—'तत्पश्चात् कामिनी के कपोल (गण्ड) के समान पीतवर्ण, नेत्रों को आनन्द देने वाले कुमुदनायक चन्द्रमा ने महेन्द्र की दिशा (पूर्व) को अलङ्कृत किया' ॥४०१॥

तथा (८. ख-समासगा)—'शत्रु-योद्धाओं का पराक्रम देखने पर यह वीर ऐसा हो गया कि जिसकी असिलता कृष्णसर्प के समान भयङ्कर थी, उत्कण्ठा (रुहरुहिका) से व्याप्त चित्त होने के कारण जिसकी गति (चार=सञ्चार) तीव्र हो गई थी, (शूरता से) शरीर पुलकित था, इसलिए कपोलों की आभा प्रकट हो रही थी' ॥४०२॥

प्रभा—(८ क) 'ततः' इत्यादि द्विपदसमासगा वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है । 'कामिनीगण्डपाण्डुः' का विग्रह है 'कामिनीगण्ड इव पाण्डुः' अथवा 'कामिनीगण्डवत् पाण्डुः' । यहाँ पर उपमान (कामिनीगण्ड) तथा साधारण धर्मवाचक (पाण्डु) शब्दों का समास (उपमानानि सामान्यवचनैः २/१/५५) हुआ है । समास में ही उपमा की प्रतीति हो जाती है अतएव 'इव' आदि उपमावाचक पदों का प्रयोग नहीं होता । (८ ख) 'असित' इत्यादि बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता का उदाहरण है । यहाँ 'असितभुजग' उपमान है, 'भीषणता' साधारण धर्म है, 'असिपत्र' उपमेय है । इन तीनों का ही समास हो रहा है अत. यहाँ बहुपदसमासगा वादिलुप्तोपमा है ।

अनुवाद—(९. १०. ११)—'यह राजा पुरवासी जनों में पुत्रवत् व्यवहार करता है, अद्भुत कार्य करने में प्रसिद्ध ('चुञ्चु' यह प्रसिद्धार्थवाचक प्रत्यय है—तेन

१२/१३. मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे।
स पुनः पार्थसञ्चारं सञ्चरत्यवनीपतिः ॥४०४॥

वित्तश्चुञ्चुप्चरणपौ ५/२/२६) होने वाला वह संग्राम के मध्य में अन्तःपुर के समान आचरण (स्वच्छन्द विहार) करता है; जिसके हाथ में कृपाण है ऐसे उस राजा के युद्धभूमि में कार्यों (पराक्रमों) को देखकर शत्रु-सेना नारी के समान (भीरुता का) आचरण करने लगती है' ॥४०३॥

प्रभा—(९) 'पौरं जनं सुतीयति'—में 'पौरजन' उपमेय है, 'सुत' उपमान है—'सुतमिव आचरति' इस अर्थ में उपमानवाचक कर्मरूप 'सुत' शब्द से क्यच् प्रत्यय (उपमानादाचारे ३/१/१०) होता है। उपमेयवाचक 'जनम्' शब्द मे द्वितीय विभक्ति होने से ही यह विदित होता है कि यहाँ कर्मभूत सुत शब्द से क्यच् प्रत्यय हुआ है। 'स्नेहपूर्वक पालन करना' आदि ही यहाँ आचार है, यही साधारण धर्म है। यहाँ 'इव' का अर्थ (नामधातु रूप) वृत्ति मे ही अन्तर्निहित है, (क्यच् प्रत्यय तो इवार्थ का वाचक नही है) इसी से 'इव' आदि का प्रयोग नही होता तथा यहाँ कर्म से उत्पन्न क्यच् के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा है। (१०) 'समरान्तरे०' इत्यादि में समरान्तर उपमेय है, 'अन्तःपुर' उपमान है। यहाँ उपमान-वाचक अधिकरणपद 'अन्तःपुर' से (उपमानादाचारे-अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्-वार्तिक) क्यच् प्रत्यय होता है। यहाँ आचार अर्थात् स्वच्छन्दगमन आदि ही साधारण धर्म है। अतएव पूर्ववत् यहाँ अधिकरण क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा है। (११) 'सपत्नसेना नारीयते' इसमें कर्तृवाचक नारीपद से आचार अर्थ में क्यङ् (कर्तुः क्यङ् सलोपश्च ३/१/११) प्रत्यय होता है। यहाँ नारी उपमान है, सपत्नसेना—उपमेय (वर्णनीय) है, आचार अर्थात् कातरतापूर्वक विनय आदि ही साधारण धर्म है। यहाँ उपमाप्रतिपादक 'इव' आदि का प्रयोग नही होता इसलिए 'क्यङ्' प्रत्यय के प्रयोग में वाचक-लुप्तोपमा है।

अनुवाद—(१२. १३)—'शत्रु लोग (परे) उस (राजा) को युद्धभूमि में (मृधे) ग्रीष्म ऋतु के सूर्य (घर्मांशु) के सदृश देखते हैं किन्तु वह राजा तो युद्ध में अर्जुन के समान विचरण करता है' ॥४०४॥

प्रभा—(१२) 'निदाघघर्मांशुदर्शम्' उपमानवाचक कर्म (निदाघघर्मांशुम्) उपपद होने पर 'दृश्' धातु से भाव में णमुल् प्रत्यय (उपमाने कर्मणि च ३/४/४५) हुआ है। यहाँ राजा उपमेय है, 'पश्यन्ति' (देखना) साधारण धर्म है; 'इव' के अर्थ का कृदन्तवृत्ति में ही प्रवेश हो रहा है अतः 'इव' आदि उपमावाचक शब्द का अप्रयोग (लोप) है तथा यहाँ कर्म उपपद होने पर णमुल् प्रत्यय में वाचकलुप्तोपमा है। (१३) 'पार्थसञ्चारम्' में उपमानवाचक कर्ता (पार्थः इव सञ्चरति) उपपद होने पर 'चर्' धातु से णमुल् प्रत्यय (उपमाने कर्मणि च ३/४/४५ में 'च' से कर्ता का भी ग्रहण है) होता है। यहाँ राजा उपमेय है, सञ्चार साधारण धर्म है। यहाँ 'कर्ता' उपपद होने पर णमुल् में वाचकलुप्तोपमा है।

(१३१) एतद्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ८९ ॥

एतयोर्द्धर्मवाचयोः । उदाहरणम्

१४. सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥४०५॥

१५. परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥४०६॥

(१३२) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

१६. ढुण्ढुण्णन्तो मरिहसि कण्टअकलिआइं केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर, भमन्तो ण पाविहिसि ॥४०७॥

अनुवाद—(द्विधा धर्मवाचकलुप्ता) 'इन दोनों (धर्म तथा वाचक) का लोप होने पर क्विप् प्रत्यय तथा समास में (दो प्रकार की द्विलुप्ता-उपमा होती है) (।३१) (कारिका में) ये दोनों अर्थात् साधारण धर्म और 'वा' आदि उपमावाचक का (लोप होने पर) । इनके उदाहरण हैं—

(१४. क्विप्गा)—'चित्त के सुख या दुःख के वशीभूत हो जाने पर (क्रमशः) सूर्य चन्द्रमा के तुल्य, चन्द्रमा सूर्य के तुल्य, रात्रियाँ दिवस के तुल्य तथा दिवस रात्रियों के तुल्य हो जाते हैं' ॥४०५॥

(१५. समासगा) 'शत्रुओं के शतशः मनोरथों से भी दुष्प्राप्य (अजेय) यह श्रेष्ठ राजा (राजकुञ्जर.) युद्ध में प्रवृत्त हुआ शोभायमान है' ॥४०६॥

प्रभा—(१४) 'सविता' इत्यादि क्विप्गा द्विलुप्तोपमा का उदाहरण है। यहाँ विधवति, सवितरति दिनन्ति और यामिनयन्ति—इन चारों क्रियापदों में उपमान-वाचक विधु आदि शब्दों से (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः—वार्तिक के अनुसार) आचार अर्थ में (विधुरिवाचरति-इति) क्विप् प्रत्यय होता है। यहाँ पर 'आचार' ही साधारण धर्म है। आचारार्थ में विहित 'क्विप्' प्रत्यय का लोप (वेरपृक्तस्य ६/१/६७) हो जाता है इसी हेतु साधारणधर्म का लोप कहा जाता है (वस्तुतः धर्म लोप नहीं है)। 'इव' आदि के अर्थ की प्रतीति होने पर भी उन शब्दों का अप्रयोग (लोप) है ही अतएव धर्म तथा वाचक का लोप होने से यहाँ क्विप्गा द्विलुप्तोपमा है। (१५) 'परिपन्थि' इत्यादि में समासगा द्विलुप्तोपमा है। यहाँ 'राजकुञ्जरः' इस समस्त पद में राजा उपमान है, कुञ्जर उपमेय है (राजा कुञ्जरः इव)। इन दोनों का समास (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २/१/५६) होता है। साधारणधर्म (दुराधर्षत्व आदि) का अप्रयोग है तथा 'इव' आदि का भी प्रयोग नहीं।

अनुवाद—(द्विधा धर्मोपमानलुप्ता) धर्म और उपमान दोनों का (एक साथ) लोप होने पर वृत्ति अर्थात् समास में तथा वाक्य में (द्विलुप्ता) देखी जाती है। (१३२)

१६. (समासगा)—'हे भ्रमर, कण्टकयुक्त केतकी वनों में ढूंढ़ ढूंढ़ शब्द करते हुए तुम मर जाओगे, किन्तु घूमते हुए मालती पुष्प-तुल्य (अन्य) को नहीं प्राप्त करोगे' ॥४०७॥

(ढुण्ढुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि।
मालतीकुसुमसदृक्षं भ्रमर, भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥४०७॥

१७. कुसुमेन सममिति पाठे वाक्यगा।

(१३३) क्यचि वाद्युपमेयासे।

आसे निरासे—

१८. अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥४०८॥

अत्रात्मा उपमेयः।

(१३४) त्रिलोपे च समासगा ॥८०॥

---

१७. यहाँ 'कुसुमेन समम्' यह पाठ होने पर वाक्यगा (द्विलुप्ता) होती है।

प्रभा—यद्यपि जहाँ शब्द अपने अवयवों के अर्थ के अतिरिक्त अर्थ का अभिधान करता है, वह वृत्ति कहलाती है - 'परार्थाभिधानं वृत्तिः', वह वृत्ति पाँच प्रकार की है—कृत्, तद्धित, समास, एकशेष तथा सनाद्यन्त धातु; तथापि कारिका में वृत्ति शब्द से 'समास' का ग्रहण होता है; क्योंकि धर्म तथा उपमान का लोप होने पर समास के अतिरिक्त कोई और वृत्ति सम्भव ही नहीं है।

(१६) 'मालतीकुसुमसदृक्षम्' में 'मालती' उपमेय है; क्योंकि यही वर्णनीय है, 'सदृक्षम्' उपमावाचक शब्द है। यहाँ उपमान (अन्य कुसुम) तथा साधारण धर्म का लोप है अतः समासगा धर्मोपमानलुप्ता है। (१७) 'कुसुमेन समम्' में समास का अभाव है, अतः वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता उपमा होगी।

अनुवाद—(एकधा वाचकोपमेयलुप्ता) वा आदि तथा उपमेय दोनों का (एक साथ) लोप होने पर क्यच् प्रत्यय के विषय में (द्विलुप्ता) होती है। (१३३) (कारिका में) 'आसे' अर्थात् निरास (अनुपादान या लोप) होने पर।

(१८) 'शत्रुओं के पराक्रम के अवलोकन से जिसके नेत्र विकसित हो जाते हैं, कृपाण के ग्रहण से जिसका भुजदण्ड भीषण है वह यह राजा सहस्र आयुध धारण करने वाले सहस्रबाहु के समान अपने आपको समझने लगता है' ॥४०८॥

यहाँ पर (राजा का) आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप ही उपमेय है (जो लुप्त है)।

प्रभा—(१८) 'सहस्रायुधीयति' में 'सहस्रायुधम्' इव आत्मानम् आचरति इस अर्थ में उपमानवाचक सहस्रायुध शब्द से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय (उपमानादाचारे) होता है। अपने आपको 'दुर्जय मानना' ही यहाँ आचार है। यही साधारण धर्म है। यहाँ उपमेय स्वयं राजा (आत्मा) ही है, उसका तथा उपमावाचक 'वा' आदि का अप्रयोग (लोप) है अतएव 'वा' आदि+उपमेय लुप्ता उपमा है।

अनुवाद—(एकधा त्रिलुप्ता) तीनों का लोप होने पर समासगा (त्रिलुप्ता) होती है (१३४) 'त्रयाणाम्' (तीनों का) अर्थात् वादि (उपमावाचक), धर्म तथा

(१३१) एतद्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ८९ ॥

एतयोर्द्धर्मवाशोः । उदाहरणम्

१४. सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥४०५॥

१५. परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥४०६॥

(१३२) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते।

१६. दुण्दुण्णन्तो मरिहसि कण्टअकलिआइं केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर, भमन्तो ण पाविहिसि ॥४०७॥

अनुवाद—(द्विधा धर्मवाचकलुप्ता) 'इन दोनों (धर्म तथा वाचक) का लोप होने पर क्विप् प्रत्यय तथा समास में (दो प्रकार की द्विलुप्ता-उपमा होती है) (१३१) (कारिका में) ये दोनों अर्थात् साधारण धर्म और 'वा' आदि उपमावाचक का (लोप होने पर)। इनके उदाहरण हैं—

(१४. क्विप्गा)—'चित्त के सुख या दुःख के वशीभूत हो जाने पर (क्रमशः) सूर्य चन्द्रमा के तुल्य, चन्द्रमा सूर्य के तुल्य, रात्रियाँ दिवस के तुल्य तथा दिवस रात्रियों के तुल्य हो जाते हैं' ॥४०५॥

(१५. समासगा) 'शत्रुओं के शतशः मनोरथों से भी दुष्प्राप्य (अजेय) वह श्रेष्ठ राजा (राजकुञ्जरः) युद्ध में प्रवृत्त हुआ शोभायमान है' ॥४०६॥

प्रभा—(१४) 'सविता' इत्यादि क्विप्गा द्विलुप्तोपमा का उदाहरण है। यहाँ विधवति, सवितरति दिनन्ति और यामिनयन्ति—इन चारों क्रियापदों में उपमान-वाचक विधु आदि शब्दों से (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः—वार्तिक के अनुसार) आचार अर्थ में (विधुरिवाचरति-इति) क्विप् प्रत्यय होता है। यहाँ पर 'आचार' ही साधारण धर्म है। आचारार्थ में विहित 'क्विप्' प्रत्यय का लोप (वेरपृक्तस्य ६/१/६७) हो जाता है इसी हेतु साधारणधर्म का लोप कहा जाता है (वस्तुतः धर्म लोप नहीं है)। 'इव' आदि के अर्थ की प्रतीति होने पर भी उन शब्दों का अप्रयोग (लोप) है ही अतएव धर्म तथा वाचक का लोप होने से यहाँ क्विप्गा द्विलुप्तोपमा है। (१५) 'परिपन्थि' इत्यादि में समासगा द्विलुप्तोपमा है। यहाँ 'राजकुञ्जरः' इस समस्त पद में राजा उपमान है, कुञ्जर उपमेय है (राजा कुञ्जरः इव)। इन दोनों का समास (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २/१/५६) होता है। साधारणधर्म (दुराधर्षत्व आदि) का अप्रयोग है तथा 'इव' आदि का भी प्रयोग नहीं।

अनुवाद—(द्विधा धर्मोपमानलुप्ता) धर्म और उपमान दोनों का (एक साथ) लोप होने पर वृत्ति अर्थात् समास में तथा वाक्य में (द्विलुप्ता) देखी जाती है। (१३२)

१६. (समासगा)—'हे भ्रमर, कण्टकयुक्त केतकी वनों में टुन् टुन् शब्द करते हुए तुम मर जाओगे, किन्तु घूमते हुए मालती पुष्प-तुल्य (अन्य) को नहीं प्राप्त करोगे' ॥४०७॥

(टुण्टुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि ।
मालतीकुसुमसदृक्षं भ्रमर, भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥४०७॥

१७. कुसुमेन सममिति पाठे वाक्यगा ।

(१३३) क्यचि वाद्युपमेयासे ।

आसे निरासे—

१८. अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥४०८॥

अत्रात्मा उपमेयः ।

(१३४) त्रिलोपे च समासगा ॥६०॥

---

१७. यहाँ कुसुमेन समम्' यह पाठ होने पर वाक्यगा (द्विलुप्ता) होती है ।

प्रभा—यद्यपि जहाँ शब्द अपने अवयवों के अर्थ के अतिरिक्त अर्थ का अभिधान करता है, वह वृत्ति कहलाती है - 'परार्थाभिधानं वृत्तिः', वह वृत्ति पाँच प्रकार की है—कृत्, तद्धित, समास, एकशेष तथा सनाद्यन्त धातु; तथापि कारिका में वृत्ति शब्द से 'समास' का ग्रहण होता है; क्योंकि धर्म तथा उपमान का लोप होने पर समास के अतिरिक्त कोई और वृत्ति सम्भव ही नही है ।

(१६) 'मालतीकुसुमसदृक्षम् में 'मालती' उपमेय है; क्योंकि यही वर्णनीय है, 'सदृक्षम्' उपमावाचक शब्द है । यहाँ उपमान (अन्य कुसुम) तथा साधारण धर्म का लोप है अतः समासगा धर्मोपमानलुप्ता है । (१७) 'कुसुमेन समम्' में समास का अभाव है, अत. वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता उपमा होगी ।

अनुवाद—(एकधा वाचकोपमेयलुप्ता) वा आदि तथा उपमेय दोनों का (एक साथ) लोप होने पर क्यच् प्रत्यय के विषय में (द्विलुप्ता) होती है । (१३३) (कारिका में) 'आसे' अर्थात् निरास (अनुपादान या लोप) होने पर ।

(१८) 'शत्रुओं के पराक्रम के अवलोकन से जिसके नेत्र विकसित हो जाते हैं, कृपाण के ग्रहण से जिसका भुजदण्ड भीषण है वह यह राजा सहस्र आयुध धारण करने वाले सहस्रबाहु के समान अपने आपको समझने लगता है' ॥४०८॥

यहाँ पर (राजा का) आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप ही उपमेय है (जो लुप्त है) ।

प्रभा—(१८) 'सहस्रायुधीयति' में 'सहस्रायुधम्' इव आत्मानम् आचरति इस अर्थ में उपमानवाचक सहस्रायुध शब्द से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय (उपमानादाचारे) होता है । अपने आपको 'दुर्जय मानना' ही यहाँ आचार है । यही साधारण धर्म है । यहाँ उपमेय स्वयं राजा (आत्मा) ही है, उसका तथा उपमावाचक 'वा' आदि का अप्रयोग (लोप) है अतएव 'वा' आदि+उपमेय लुप्ता उपमा है ।

अनुवाद—(एकधा त्रिलुप्ता) तीनों का लोप होने पर समासगा (त्रिलुप्ता) होती है (१३४) 'त्रयाणाम्' (तीनों का) अर्थात् वादि (उपमावाचक), धर्म तथा

त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम् । उदाहरणम्-

१६. तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।
स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥४०६॥

अत्र सप्तम्युपमानेत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदेदमुदाहरणम् । क्रूरस्याचारस्यायः शूलतयाऽध्यवसायात् अयः शूलेनान्विच्छति आयःशूलिक इत्यतिशयोक्तिर्न तु क्रूराचारोपमेय-तैक्ष्ण्यधर्म-वादीनां लोपे त्रिलोपेयमुपमा।

उपमान का। जैसे—(१६) 'जिसने (अपने शरीर में) यौवन का अवलोकन किया है (किशोरी), ललित और विलास (शृङ्गार से उत्पन्न विशेष प्रकार की चेष्टाओं) को अपना शरीर (विग्रह) समर्पित कर दिया है, काम के बाण-समुदाय (शर-विसर) से जिसका हृदय व्याप्त (आचित) है, ऐसी मृगनयनी मुनियों के भी मन को हर लेती है' ॥४०६॥

यहाँ पर 'सप्तम्युपमान-पूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इत्यादि (वार्तिक) से जब समास तथा (उत्तरपद का) लोप होता है, तभी यह (त्रिलुप्ता का) उदाहरण है।

प्रश्न—उपमावाचक, साधारणधर्म तथा उपमान—इन तीनों का लोप होने पर त्रिलुप्ता होती है। उपमेयोपमानधर्मलुप्ता अथवा उपमेयधर्मवादिलुप्ता रूप में यह नहीं हो सकती। क्योंकि उपमेय के बिना अन्य किसी एक अङ्ग से उपमा का बोध नहीं हो सकता। वाक्यगा और तद्धितगा भी यह नहीं होती, क्योंकि वहाँ केवल उपमेय से उपमा का बोध नहीं हो सकता। यह श्रौती भी नहीं, क्योंकि इव आदि का लोप हो जाता है। अतः केवल समासगा आर्थी ही होती है (प्रदीप)।

'मृगनयना' तभी त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण होता है जबकि यहाँ 'मृगलोचने इव (चञ्चले) नयने यस्याः' यह अर्थ विवक्षित है तथा 'अनेकमन्यपदार्थे' २/२/२४ पाणिनिसूत्र पर स्थित 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इस कात्यायनकृत वार्तिक द्वारा नयन शब्द के साथ समास होता है और पूर्वपद (मृगलोचन) में से 'लोचन' शब्द का लोप हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर 'लोचन' इस उपमान का 'इव' शब्द का तथा 'चञ्चल' इस साधारण धर्म का ग्रहण नहीं किया गया, केवल उपमेयरूप 'नयन' का ग्रहण किया गया है अतएव त्रिलुप्तोपमा (समासगा) है।

यदि (कातन्त्र व्याकरण के अनुसार) 'मृग' शब्द का लक्षणा द्वारा मृगलोचन अर्थ में प्रयोग किया जाय तब तो 'मृग इव नयने यस्याः सा मृगनयना' यह समास होगा तथा यह त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण न होगा अपि तु वादिधर्मलुप्ता का उदाहरण होगा।

अनुवाद—(त्रिलुप्तोपमा के अन्यप्रदत्त उदाहरण का खण्डन)—क्रूराचरण

[उपमाभेदपरिगणना]

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।

अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
म्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥४१०॥

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे ।

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥४११॥

का अयः शूल (भाला) के साथ तादात्म्य मानकर (अध्यवसायात्) 'अयः शूल से व्यवहार करता है' (अन्विच्छति) एतदर्थक 'आयः शूलिक' पद में अतिशयोक्ति अलङ्कार है। (१) क्रूराचरण रूप उपमेय, (२) तीक्ष्णता रूप साधारण धर्म तथा (३) 'वा' आदि (उपमावाचक) का लोप होने पर यहाँ त्रिलुप्ता उपमा नहीं है।

प्रभा—कुछ आलङ्कारिक (प्रतिहारेन्दुराज आदि) का मत है कि उपमान-मात्र का ग्रहण करने पर भी त्रिलुप्ता (उपमेयधर्मवादिलुप्ता) तद्धितगा उपमा होती है; जैसे 'आयः शूलिक' पद मे है। 'अयः शूलेन अन्विच्छति (व्यवहरति)' इस विग्रह में 'आयः शूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ' ५/२/७६ सूत्र के द्वारा अयः शूल शब्द से ठक् प्रत्यय होकर 'आयःशूलिक' शब्द बनता है। जो व्यक्ति मृदु उपाय से साध्य अर्थ के लिये क्रूर आचरण करता है वह आयःशूलिक कहलाता है। यहाँ अयः शूल शब्द क्रूर आचरण का उपमान है, तीक्ष्णता आदि साधारण धर्म है। उन दोनों का ग्रहण नहीं किया गया तथा वादि का भी। इस प्रकार उपमेयधर्मवादिलुप्ता तद्धितगा त्रिलुप्ता उपमा है। इस पर काव्यप्रकाशकार का कथन है कि यहाँ त्रिलुप्तोपमा नहीं अपि तु अतिशयोक्ति अलङ्कार है, क्योंकि यहाँ उपमेय रूप क्रूराचरण का अयः शूल रूप उपमान के द्वारा निगरण किया गया है तथा अयः शूल के तादात्म्य रूप में निर्देश किया गया है। यदि ऐसे स्थल पर भी उपमा अलङ्कार होगा तो 'निगीर्याध्यवसानमूला' अतिशयोक्ति कहाँ हुआ करेगी ?

अनुवाद—इस भांति १९ प्रकार की लुप्तोपमा (६ प्रकार की) पूर्णोपमाओं सहित २५ प्रकार की होती है।

(मालोपमा) (क) अनीति से राजलक्ष्मी के समान, दीनता से मनस्विता के समान तथा हिमजल से कमलिनी के समान वह नायिका (विरहजनित) वेदना से म्लान हो गई' ॥४१०॥

यहाँ पर (म्लानता रूप) साधारण धर्म के अभिन्न (एक रूप) होने पर। तथा (ख) 'प्रशस्तनितम्ब वाली नायिका चन्द्रिका के समान नेत्रों को आनन्द देने वाली है; मदिरा के समान मद उत्पन्न करने वाली तथा प्रभुता के समान समस्त लोक को आकृष्ट करने वाली है' ॥४११॥

इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा।
यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववदभिन्नभिन्नधर्मत्वे—

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥४१२॥

मतिरिव मूर्त्तिर्मधुरा मूर्तिरिव सभा प्रभावचिता।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥४१३॥

इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसम्भवात्, उक्तभेदानतिक्रमाच्च।

इत्यादि में उस (साधारण धर्म) के भिन्न-भिन्न होने पर जो एक (उपमेय) के लिये ही अनेक उपमानों का प्रयोग किये जाने पर (दो प्रकार की) मालोपमा होती है।

एवं (पूर्व पूर्व) उपमेय का उत्तर-उत्तर उपमानरूप हो जाने पर मालोपमा के समान (पूर्ववत्) (क) अभिन्न तथा (ख) भिन्न साधारण धर्म होने पर—(क) 'निरन्तर स्वर्ण-दान के लिये (संकल्प के) जलबिन्दुओं से पूर्ण जिसके हाथ में याचकसमूह (ततिः) श्रेणीबद्ध (तरङ्गित) है, ऐसे हे राजन् आपकी उक्ति के समान बुद्धि, बुद्धि के समान चेष्टा (आचरण), चेष्टा के समान कीर्ति अत्यन्त विमल है' ॥४१२॥

(ख) 'उस राजा की मति के समान ही मधुर मूर्ति है, मूर्ति के समान सभा प्रभावयुक्त है तथा सभा के समान जयलक्ष्मी शत्रुओं के द्वारा जीते जाने योग्य नहीं है' ॥४१३॥

जो उपर्युक्त (दो प्रकार की) रशनोपमा है वह यहाँ (लक्षणादि द्वारा) प्रदर्शित नहीं की गई; क्योंकि (i) इस प्रकार की सहस्रों विचित्रताएँ सम्भव हैं तथा (ii) ये उक्त (२५) भेदों से अतिरिक्त नहीं हैं अर्थात् उनमें ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रभा—(१) उपर्युक्त प्रकार से उपमा के २५ प्रकार ही आचार्य मम्मट को अभीष्ट हैं। ये २५ प्रकार हैं—

पूर्णोपमा–(१ श्रौती तथा २ आर्थी) × (१ वाक्यगा, २ समासगा, ३ तद्धितगा) = ६
एकलुप्ता—(धर्मलुप्ता ५ + उपमानलुप्ता २ + वाचकलुप्ता ६) = १३
द्विलुप्ता—(धर्मवाचकलुप्ता २ + धर्मोपमानलुप्ता २ + वाचकोपमेयलुप्ता १) = ५
त्रिलुप्ता — = १

(२) प्राचीन आचार्यों (रुद्रट आदि) ने उपमा के अन्य भेदों का भी निरूपण किया है; जैसे—मालोपमा और रशनोपमा आदि। जहाँ एक ही उपमेय का बहुत से उपमानों से साधर्म्य दिखलाया जाता है वहाँ मालोपमा होती है। यह दो प्रकार की होती है—(क) साधारण धर्म की अभिन्नता होने पर; जैसे 'अनयेन' इत्यादि में

(१३५) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वयः ।

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः । उदाहरणम्—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥४१४॥

राज्यश्री आदि अनेक उपमानों का 'म्लानता' ही साधारण धर्म है तथा नायिकारूप उपमेय का राज्यश्री आदि अनेक उपमानो से सम्बन्ध है। (ख) साधारण धर्म के भिन्न २ होने पर; जैसे 'ज्योत्स्ना' इत्यादि पद्य में 'ज्योत्स्ना' इत्यादि अनेक उपमानों के नयनानन्दहेतुता आदि साधारण धर्म भिन्न २ हैं तथा एक ही नितम्बिनीरूप उपमेय का अनेक उपमानों से सम्बन्ध है।

रशनोपमा वहाँ होती हैं जहाँ पूर्व पूर्व उपमेय आगे आगे (उत्तरोत्तर) उपमान होता जाता है। यह भी मालोपमा के समान धर्म की अभिन्नता तथा भिन्नता होने पर दो प्रकार की होती है। जैसे—(क) 'अनवरत' इत्यादि मे 'भणितिरिव मतिः' मे (पूर्व) जो उपमेय है वही 'मति' 'मतिरिव चेष्टा' में उपमान बन गया है। इसी प्रकार आगे की उपमाओं मे भी है। यहाँ सभी उपमाओं में 'विमलता' ही साधारण धर्म है। (ख) 'मतिरिव' इत्यादि मे भी पूर्व पूर्व 'मूर्तिः' आदि उपमेय उत्तरोत्तर 'मूर्तिरिव सभा' आदि मे उपमान बन गये हैं, किन्तु यहाँ साधारण धर्म 'मधुरता' आदि भिन्न २ हैं।

(३) आचार्य मम्मट का कथन है कि मालोपमा तथा रशनोपमा आदि विविध भेदों का पृथक् विवेचन करना युक्तियुक्त नही, क्योंकि एक तो इस प्रकार अन्य भी सहस्रों उपमा के भेद हो सकते हैं अतः सबका विवेचन सम्भव ही नहीं; दूसरे उपर्युक्त २५ भेदो मे ही इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

टिप्पणी—मम्मट के इन २५ उपमा-भेदों का आधार व्याकरण सम्बन्धी विश्लेषण (वाक्य, समास, तद्धित आदि) है। उनसे पहले भी उद्भट ने व्याकरण के आधार पर उपमा का विभाजन किया था। अप्पय्य दीक्षित का (चित्रमीमांसा में) कथन है कि इस प्रकार का विभाजन साहित्यशास्त्र में विशेष उपयोगी नही। साथ ही मम्मट का विभाजन सर्वाङ्गीण भी नही कहा जा सकता।

अनुवाद—(२. अनन्वय) एक ही वस्तु के एक वाक्य में उपमान तथा उपमेय रूप होने पर अनन्वय अलङ्कार होता है। (१३५)

अन्य उपमान के सम्बन्ध (अन्वय) का अभाव ही अनन्वय है। जैसे—'केवल अतिशय कान्ति वाली वह नितम्बिनी (प्रशस्त नितम्बों वाली) ही उस नितम्बिनी के समान शोभायमान नहीं हैं, किन्तु (यावत्) कामदेव (विलासायुध) के नृत्यस्थल रूप (लास्यवासाः) उस (नायिका) के वे हावभाव (विलास) भी उसके विलासों के समान ही हैं' ॥४१४॥

(१३६) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥९१॥

तयोरुपमानोपमेययोः परिवृत्तिः अर्थाद्वाक्यद्वये इतरोपमानव्यवच्छेद-परा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा । उदाहरणम्—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥४१५॥

प्रभा—यहाँ पर 'नितम्बिनी' आदि वस्तु स्वयं ही उपमान तथा उपमेय रूप में गृहीत की गई है अन्य कोई उपमान नहीं है अतएव अनन्वय अलङ्कार है। यदि देशान्तर या कालान्तर में होने वाली उसी वस्तु को भिन्न माना जाय और उससे ही साधर्म्य दिखलाया जाय तो उपमा ही होगी।

टिप्पणी—(i) यहाँ 'एकस्य' शब्द द्वारा अनन्वय का उपमा से भेद प्रकट किया गया है। उपमा में उपमान और उपमेय भिन्न २ होते हैं किन्तु अनन्वय में एक ही वस्तु उपमान तथा उपमेय होती है। उपमा दो वस्तुओं के साधर्म्य पर आश्रित है किन्तु अनन्वय में अन्य किसी सदृश वस्तु की व्यावृत्ति होती है। (ii) 'एव' (=ही) शब्द से यह प्रकट किया गया है कि जब एक ही शब्द से उपमान तथा उपमेय का कथन किया जाय तभी अनन्वय होता है, दो पर्याय शब्दों से कहे जाने पर भी नहीं होता। 'अतः अस्याः वदनमिवास्याः वक्त्रम्'—यहाँ अनन्वय नहीं। (iii) 'एकवाक्यगे' शब्द से रशनोपमा तथा उपमेयोपमा से अनन्वय का भेद दिखलाया गया है। यद्यपि रशनोपमा और उपमेयोपमा में एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान हो जाती है तथापि वह भिन्न २ वाक्यों में होती है, एक में नहीं।

अनुवाद—(३. उपमेयोपमा) उन दोनों का परिवर्तन उपमेयोपमा अलङ्कार है। (१३६) (कारिका में) 'तयोः' (उन दोनों) अर्थात् उपमान तथा उपमेय का। परिवृत्ति (विपर्यास) अर्थात् दो वाक्यों में (अदलबदल रखना)। उपमेयोपमा अर्थात् उपमेय के साथ उपमा जो कि (प्रकृत उपमान से) भिन्न उपमान की व्यावृत्ति कराती है। उदाहरण है—

जिस (राजा) की लक्ष्मी के समान बुद्धि है, बुद्धि के समान लक्ष्मी है, शरीर के समान कान्ति है, कान्ति के समान शरीर है, धरणी के समान धैर्य है, तथा धैर्य के समान धरणी निरन्तर शोभायमान है ॥४१५॥

प्रभा—(१) यहाँ लक्ष्मी और मति में 'स्पृहणीयता' साधारण धर्म है, शरीर और कान्ति में 'प्रचय' तथा धरणी और धृति में विस्तार' रूप साधारण धर्म है। प्रथम वाक्य में स्पृहणीयता रूप धर्म के साम्य से 'मति' को 'कमला' के समान कहा गया है। द्वितीय वाक्य में भी इसी धर्म की समानता से 'कमला' को 'मति' के समान कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि स्पृहणीयता में इन दोनों वस्तुओं के सदृश तृतीय वस्तु नहीं है, यही इतरोपमानव्यवच्छेद है। इसी विशेषता के कारण यह उपमा से भिन्न है।

(१३७) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

समेन उपमानेन । उदाहरणम्—

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु, ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥४१६॥
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥४१७॥
इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम् ।

उपमा और उपमेयोपमा—(क) उपमा में साधर्म्य दिखलाया जाता है किन्तु उपमेयोपमा में उपमान और उपमेय से भिन्न किसी तृतीय समान वस्तु की व्यावृत्ति (तृतीयसदृशव्यवच्छेद) दिखलानी होती है। (ख) यद्यपि रशनोपमा में भी कोई उपमेय द्वितीय वाक्य में उपमान बन जाता है तथापि वहाँ वह दूसरे उपमेय का उपमान होता है; जैसे—'भणितिरिव मतिः->मतिरिव चेष्टा'। किन्तु उपमेयोपमा में कोई उपमेय प्रथमवाक्योक्त उपमान का ही उपमान बन जाता है; जैसे कमलेव मतिः->मतिरिव कमला ।

अनुवाद—(४. उत्प्रेक्षा) जो प्रकृत (वर्णनीय) वस्तु की सम अर्थात् 'उपमान के साथ सम्भावना करना है, वही उत्प्रेक्षा अलङ्कार है (१३७)। (कारिका में) समेन अर्थात् उपमान के साथ। उदाहरण हैं—(क–हेतूत्प्रेक्षा)—[नायक की नायिका के प्रति उक्ति] 'हे सुन्दर शरीर वाली (प्रेयसि), मैं समझता हूँ कि कमल की शोभा इस हर्ष से तुम्हारे चरणों में गिर गई है (लग्ना=सक्ता, प्रणता) कि इस कमल सदृश नेत्रों वाली सुन्दरी ने अपने मुख की कान्ति से उस चन्द्रमा के सौन्दर्यदर्प को बलपूर्वक निवारण कर दिया है जो मेरा (कमलशोभा का) सहजशत्रु है तथा रात्रि में मेरे विकास (उन्मेष) को सहन नहीं कर सकता' ॥४१६॥

(ख–क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा)—'मानों अन्धकार अङ्गों को लिप्त (लीप) कर रहा है; आकाश काजल सा बरसा रहा है इससे दुर्जन की सेवा के समान दृष्टि व्यर्थ हो गई है' ॥४१७॥

इत्यादि में (अन्धकार के) फैलने आदि की लेपन आदि के रूप से सम्भावना की गई है' ॥४१७॥

प्रभा—(१) जब वर्णनीय वस्तु (उपमेय) में सदृश वस्तु (उपमान) की सम्भावना की जाती है तो उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है। सम्भावना का अर्थ है—आहार्य ज्ञान, किसी वस्तु के यथार्थ रूप को जानते हुए भी उसमें अन्य वस्तु की कल्पना करना। उत्प्रेक्षा के लिये आवश्यक है कि (क) जिसमे सम्भावना की जाती है वह कोई यथार्थ वस्तु होती है, जैसे—'मुख मानों चन्द्रमा है' यहाँ 'मुख' यथार्थ

वस्तु है, (ख) यह सम्भावना सादृश्य के आधार पर होती है; अर्थात् उत्प्रेक्षा का आधार उपमान-उपमेय-भाव ही है, यह बात यहाँ 'समेन' शब्द द्वारा प्रकट होती है। (ग) सम्भावना आहार्य ज्ञान अर्थात् कल्पना-जन्य होती है। 'मुख मानों चन्द्रमा है' यह कहने वाला व्यक्ति मुख और चन्द्रमा के भेद को मानता है तथा मुख में चन्द्रमा की कल्पना कर लेता है। (घ) यह उत्प्रेक्षा मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनम्, अवैमि, ऊहे, सम्भावयामि, उत्प्रेक्षे, स्यात् तथा इव आदि शब्दों से जानी जाती है। किन्तु कहीं-कहीं इन शब्दों के प्रयोग के बिना भी उत्प्रेक्षा होती है, वह गम्योत्प्रेक्षा या प्रतीयमानोत्प्रेक्षा (व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा या उत्प्रेक्षा ध्वनि) कहलाती है, जिसके उदाहरण ऊपर अलङ्कार ध्वनि में देखे जाते सकते हैं। यहाँ तो वाच्य उत्प्रेक्षा के दो उदाहरण हैं:—

(i) 'उन्मेषम्' आदि यहाँ स्वाभाविक चरणशोभा उपमेय है, उनमें उपर्युक्त हर्ष के हेतु से चरणों में निपटने वाली कमलशोभा (उपमान) की सम्भावना की गई है। अतएव हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है। (ii) 'लिम्पति' इत्यादि मृच्छकटिक का पद्य है। यहाँ अन्धकार की अङ्गों में व्याप्ति को 'लेपन' के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है तथा कालिमा के प्रसरण में 'वर्षण' की सम्भावना की गई है, अतएव यहाँ क्रिया-स्वरूपोत्प्रेक्षा है। यहाँ 'इव' शब्द सम्भावना अर्थ में है।

(२) उपमा और उत्प्रेक्षा का अन्तर—(क) उत्प्रेक्षा में मन्ये, शङ्के आदि उत्प्रेक्षाद्योतक शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु उपमा में नहीं। (ख) 'इव' शब्द उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों का द्योतक है। इव का प्रयोग होने पर दोनों के भेदक तत्त्व ये हैं—(i) उत्प्रेक्षा में 'इव' शब्द का प्रयोग प्रायः क्रिया के साथ होता है, जैसे लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, किन्तु उपमा में संज्ञा के साथ, जैसे—मुखं चन्द्र इव। (ii) उपमा का आधार सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का सम्भावना। जब उपमान लोक-प्रसिद्ध होता है तो इव शब्द सादृश्य को प्रकट करता है तथा उपमा होती है, जैसे 'मुखं चन्द्र इव'। किन्तु जब उपमान कल्पित होता है तो 'इव' शब्द सम्भावना को प्रकट करता है और उत्प्रेक्षा होती है, जैसे—'अस्याः मुखम् अपरश्चन्द्र इव'। यहाँ 'अपर चन्द्र' कविकल्पित है, लोकप्रसिद्ध नहीं। (iii) अप्पय्य दीक्षित के अनुसार जब उपमान किसी ऐसे विशेषण से विशिष्ट होता है जो सम्भावना को प्रकट करने में सहायक हो तब उत्प्रेक्षा होती है, जैसे 'मुखम् अपरश्चन्द्र इव'।

टिप्पणी—(i) आचार्य मम्मट ने उत्प्रेक्षा के भेद-प्रभेदों की ओर ध्यान नहीं दिया। आगे चलकर विश्वनाथ आदि ने इसके अनेक भेद-प्रभेद दिखलाये हैं। इनमें तीन मुख्य भेद हैं - स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा। (ii) यहाँ 'निगरणीय' [illegible] मत का निराकरण [illegible] किया गया है।

(१३८) ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥९२॥

भेदोक्तौ यथा —

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥४१८॥

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः । यथा—

इन्दु किं क्व कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम् ।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि, निश्चितं परतः ॥४१९॥

किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन । तदनुक्तौ यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

अर्थात् तिङन्त पद से उपमान का बोध नहीं होता अतः यहाँ उपमा नहीं हो सकती ।

अनुवाद—(५) ससन्देह तो वह (अलङ्कार है) जहाँ (सादृश्य के कारण) उपमेय का उपमान (समेन) के साथ संशयात्मक ज्ञान (संशय) होता है, और वह (उपमेय तथा उपमान के) (क) भेद की उक्ति अथवा (ख) अनुक्ति से दो प्रकार का होता है । (१३८)

(क) भेद का कथन होने पर (ससन्देह अलङ्कार); जैसे—'क्या यह सूर्य है ? किन्तु वह (सूर्य) तो सप्त अश्वों से युक्त होता है । क्या यह अग्नि है ? किन्तु यह (एषः=प्रसिद्ध) अग्नि तो नियमपूर्वक समस्त दिशाओं में प्रसरण नहीं करता (वायु के अभिमुख ही प्रसरण करता है) । क्या यह साक्षात् यमराज है ? किन्तु वह तो भैंसे की सवारी करने वाला है । इस प्रकार हे राजन्, युद्ध में तुम्हें देखकर तुम्हारे शत्रु योद्धा (प्रतिभटाः) बहुत समय तक सन्देह करते रहते हैं' ॥४१८॥

'भेद की उक्ति होने पर' इस कथन से यह (ससन्देह) केवल निश्चयगर्भ (निश्चयः गर्भे मध्ये यस्य) ही नहीं होता अपितु निश्चयान्त (निश्चयः अन्ते समाप्तौ यस्य) भी होता है । जैसे—'क्या यह चन्द्रमा है ? किन्तु (यहाँ) कलङ्क कहाँ है ? क्या यह कमल है ? तो जल कहाँ गया ? इस प्रकार हे मृगनयनी तदनन्तर (परतः) ललित विलास-युक्त वचनों से यह मुख है ऐसा निश्चय हुआ' ॥४१९॥

किन्तु निश्चयगर्भ सन्देह के समान यहाँ अर्थात् निश्चयान्त में निश्चय व्यङ्ग्य नहीं है (अपि तु वाच्य है) इसलिये भट्टोद्भट ने इसकी उपेक्षा कर दी ।

(ख) भेद का कथन न होने पर (ससन्देह अलङ्कार) जैसे—[पुरूरवा की

-वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥४२०॥

इस उक्ति में] 'इस (उर्वशी) के रचना कार्य में क्या कान्तिदायक चन्द्रमा हो निर्माण-कर्त्ता है ? अथवा जिसका शृङ्गार ही प्रधान रस है वह कामदेव ही स्वयं इसका स्रष्टा है ? या पुष्पों का निधानभूत मास अर्थात् मधुमास (वसन्त) इसका निर्माता है ? क्योंकि वेद के अभ्यास से कुण्ठित (जड़), सुन्दर विषयों में औत्सुक्य रहित (व्यावृत्त) पुरातन मुनि ब्रह्मा इस रमणीय रूप के निर्माण में कैसे समर्थ हो सकता है ?' ॥४२०॥

प्रभा (१) ससन्देहः-संशयः-यहाँ ससन्देह शब्द लक्ष्य है, 'संशयः' लक्षण है तथा 'भेदोक्तौ तदनुक्तौ च' यह विभाग है। पूर्वसूत्र से 'प्रकृतस्य समेन यत्' की अनुवृत्ति हो रही है; अतएव जहाँ सादृश्य के कारण उपमेय का उपमान रूप में संशय हुआ करता है, वहाँ ससन्देह अलङ्कार होता है। इसका नाम 'सन्देह भी है। इसके आवश्यक अङ्ग हैं—(i) संशय का सादृश्य पर आश्रित होना तथा (ii) चमत्कार-पूर्ण होना। उत्प्रेक्षा या सम्भावना में एक पक्ष में (अर्थात् उपमेय की उपमान रूप प्रतीति में) संशय का झुकाव होता है; किन्तु सन्देह अलङ्कार में दोनों ओर समान रूप से (तुल्यकोटिक) संशय होता है यही दोनों में भेद है-संशयश्चात्र समकोटिको ग्राह्य इत्युत्प्रेक्षाव्युदासः)।

ससन्देह अलङ्कार दो प्रकार का है—(क) भेदोक्ति होने पर तथा (ख) भेद की अनुक्ति होने पर। प्रथम भी दो प्रकार का है—१-निश्चयगर्भ, २-निश्चयान्त।

(क १) निश्चयगर्भ सन्देह वह है जहाँ संशय के अनन्तर निश्चय हो जाने पर फिर संशय हो जाता है जैसे—'अयं मार्तण्ड': इत्यादि। यहाँ पर अयं किं मार्तण्डः सदन्यो वा' यह संशय का आकार है। 'सप्ताश्वों' का सम्बन्ध आदि उपमेय (अर्थात् राजा) में नहीं है—यही भेद-कथन है। इस भेद कथन से राजा की सूर्य से भिन्नता निश्चित हो जाती है; किन्तु फिर उसमें 'कृशानुता' का संशय हो जाता है। इस प्रकार यहाँ भेदोक्ति में निश्चयगर्भ ससन्देह अलङ्कार है।

(२) निश्चयान्त सन्देह वह है जहाँ संशय के अनन्तर निश्चय हो जाने पर फिर संशय का उदय नहीं होता अर्थात् अन्त में निश्चय हो जाता है। जैसे—'इन्दुः किम्' ? इत्यादि। यहाँ सविलास वचन रूप वैधर्म्य से मुख में मुखत्व का निश्चय हो जाता है और फिर किसी प्रकार के संशय का उदय नहीं होता। यहाँ भी 'क्व कलङ्कः' ? इत्यादि के द्वारा भेद-कथन किया गया है। इस प्रकार यहाँ भेदोक्ति में निश्चयान्त ससन्देह अलङ्कार है।

यहाँ आचार्य मम्मट ने आचार्य रुद्रट सम्मत दो प्रभेद निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त को स्वीकृत किया है; किन्तु आचार्य उद्भट ने 'निश्चयान्त' नामक प्रभेद का निरूपण नहीं किया। उनका आशय यह है कि निश्चयगर्भ के स्थल में वैधर्म्य

(१३९) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो: ।
अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेद: ।

का कथन होता है अतएव वहाँ निश्चय व्यङ्ग्य हुआ करता है; किन्तु 'निश्चयान्त' के स्थल में निश्चय' (निश्चितम् आदि शब्द के द्वारा) वाच्य होता है अतएव वह विशेष चमत्कारक नहीं होता तथा "निश्चयान्त' को ससन्देह अलङ्कार नहीं कहा जा सकता । काव्यप्रकाशकार तो निश्चय के वाच्य होने पर भी उसे चमत्कारक मानते हैं इसी से इस प्रभेद को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके मत मे भेदोक्ति में ये दो प्रकार हैं ।

(ख) 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादि भेदानुक्ति में उदाहरण है। यहाँ पर संशय का आकार यह है—'इसकी रचना में जो प्रजापति था वह चन्द्रमा था या मदन था अथवा वसन्त ?' यहाँ प्रजापति उपमेय है, चन्द्र आदि उपमान हैं । इनमें से किसी के भी भेद अर्थात् वैधर्म्य का कथन नहीं किया गया ।

अनुवाद – (६ रूपक) जो उपमान तथा उपमेय का अभेदारोप (आरोपित या कल्पित अभेद) है, वह रूपक अलङ्कार कहलाता है । (१३९)

अर्थात् जिन उपमान तथा उपमेय का भेद (वैधर्म्य) प्रकट (अनपह्नुत) है, उनमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप करना (रूपक) है ।

प्रभा – (१) भाव यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकट होने वाले उपमान तथा उपमेय में अभेद का आरोप ही रूपक है—रूपयति एकतां नयतीति रूपकम् । यह अभेदारोप अत्यन्त साम्य के कारण होता है जैसे—'मुखं चन्द्रः' या 'मुखचन्द्र' में मुख और चन्द्र के भेद को नहीं छिपाया गया तथा दोनों के अभेद की कल्पना की गई है । रूपक के आवश्यक अङ्ग हैं—(i) उपमान और उपमेय के भेद की स्पष्ट प्रतीति (ii) दोनों में अत्यन्त साम्य के निमित्त से अभेद की कल्पना ।

(२) रूपक का अन्य अलङ्कारों से अन्तर—(i) रूपक और उपमा—(क) उपमा मे उपमान और उपमेय के साधर्म्य का कथन होता है किन्तु रूपक में साधर्म्य के आधार पर अभेद का आरोप किया जाता है। (ख) वाक्यगा उपमा में प्राय: साधारण धर्म या उपमावाचक का प्रयोग होता है, किन्तु रूपक में इनका प्रयोग नहीं होता । समासगा और रूपक का अन्तर तो यह है कि उपमा में उपमेय की प्रधानता होती है तथा रूपक में उपमान की प्रधानता होती है। जिसके साथ विशेषण या क्रिया का अन्वय होता है वही प्रधान होता है, जैसे 'मुखपद्मम्' आदि में यदि 'हास्यसहितं मुखपद्मम्' ऐसा प्रयोग है तो हास्य का मुख से अन्वय होने के कारण 'उपमा' होगी । यदि 'विकसितं मुखपद्मम्' है तो विकास का पद्म से अन्वय होने के कारण रूपक होगा (द्र०, उदा० ४२१) ।

(१४०) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥९॥

आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम्। आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम्।

यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥४२१॥

(ii) रूपक और अतिशयोक्ति—निगीर्याध्यवसाना अतिशयोक्ति में उपमेय की अपने स्वरूप से उपस्थिति नहीं होती किन्तु रूपक में होती है। अथवा कहिये कि गौणी सारोपा लक्षणा के क्षेत्र में रूपक होता है और गौणी साध्यवसाना के क्षेत्र में अतिशयोक्ति।

(iii) रूपक और अपह्नुति—अपह्नुति में उपमेय के स्वरूप को छिपाकर उपमान रूप में प्रकट किया जाता है किन्तु रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का स्वरूप पृथक्शः प्रकट होता है (अनपह्नुतभेदयोः)।

(iv) रूपक और भ्रान्तिमान्—भ्रान्ति में उपमान और उपमेय के भेद का ज्ञान ही नहीं रहता (भेदाग्रह) किन्तु रूपक में दोनों का भेद स्पष्ट भासित होता है।

(३) प्रथमतः रूपक के तीन प्रकार हैं—(क) साङ्ग, (ख) निरङ्ग और (ग) परम्परित। साङ्ग रूपक भी दो प्रकार का है—समस्तवस्तुविषयक, एकदेशविवर्ती। निरङ्ग के भी दो भेद हैं शुद्ध और मालारूप। परम्परित के श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट रूप से प्रथमतः दो भेद हैं, फिर इनमें से प्रत्येक के शुद्ध और मालारूप में दो भेद होकर चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार रूपक के आठ प्रकार हैं; जिनका विवेचन क्रमशः आगे किया जाता है—

अनुवाद—(१. समस्तवस्तुविषय) जब (समस्त) आरोप्यमाण वस्तुएँ शब्दोपात्त (श्रौताः=शब्दप्रतिपाद्याः) होती हैं तो समस्तवस्तुविषय (साङ्ग) रूपक होता है। (१४०)

जब आरोप के विषय अर्थात् उपमेय के समान आरोप्यमाण अर्थात् उपमान शब्द-प्रतिपाद्य होते हैं (आर्थ नहीं) तब समस्त (आरोप्यमाण) वस्तुएँ जिसका विषय है, ऐसा यह समस्तवस्तुविषयक (साङ्ग) रूपक होता है। (सूत्र में) 'आरोपिताः' इस शब्द में बहुवचन विवक्षित नहीं है; (अतः आरोप्यमाण वस्तुद्वय होने पर भी यह रूपक होता है)। उदाहरण है—

जो चन्द्रिका रूपी भस्म के लेपन (छुरण) से शुभ्र है, तारे रूपी अस्थियों को धारण करती है, अन्तर्धान की क्रीडा (व्यसन) में तत्पर है; ऐसी यह रात्रिरूपी

अत्र पादत्रये। अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकमस्तीति तत्सङ्कराशङ्का न कार्या।

(१४१) श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ॥

कापालिकी (योगिनी) चन्द्ररूपी मुद्राकपाल (दीक्षाकाल में गृहीत कपाल) में कलङ्क के व्याज से रखे हुए सिद्धाञ्जन के चूर्ण (परिमल) को लिये हुए एक द्वीप से दूसरे द्वीप को भ्रमण कर रही है' ॥४२१॥

यहाँ पर (श्लोक के) तीन पादों में (ज्योत्स्ना आदि में आरोप्यमाण भस्मत्व आदि) सभी शब्द द्वारा गृहीत हैं। क्योंकि अन्तर्धानव्यसन-रसिकता आरोपित अर्थात् उपमान (कापालिकी) का ही धर्म (हो सकता) है, यह रूपक की स्वीकृति में साधक है इसलिए (इति) उस (रूपक) के (उपमा के साथ) सन्देह सङ्कर की शङ्का नहीं करनी चाहिए।

प्रभा—(१) 'ज्योत्स्ना' इत्यादि समस्तवस्तुविषय साङ्ग रूपक का उदाहरण है। साङ्ग रूपक वह होता हैं जहाँ एक रूपक प्रधान (अङ्गी) होता है तथा अन्य रूपक अङ्ग रूप मे आकर प्रधान रूपक के सहायक होते हैं। यहाँ 'रात्रिरेव कापालिकी' यह प्रधान रूपक है, 'ज्योत्स्ना एव भस्म' आदि सहायक रूपक हैं तथा उपमेयभूत रात्रि और ज्योत्स्ना आदि के उपमानों (आरोप्यमाण कापालिकी, भस्म आदि) का शब्दों से ग्रहण किया गया है अतएव समस्तवस्तुविषयक साङ्ग रूपक है।

(२) यहाँ पर शङ्का यह होती है—कि 'रात्रिः कापालिकी इव' इत्यादि विग्रह मे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२/१/५६) इस पाणिनिसूत्र के अनुसार उपमितसमास होता है अथवा 'ज्योत्स्ना एव भस्म' इत्यादि विग्रह में मयूरव्यंसकादयश्च (२/१/७२) सूत्र के अनुसार समास होकर रूपक होता है—इस प्रकार संशय होने के कारण सन्देह सङ्कर है, रूपक नहीं।

अन्तर्धान—न कार्यः अवतरण में ग्रन्थकार इस शङ्का का समाधान करते हैं। भावयह है कि अन्तर्धानव्यसन—रसिकत्व चेतन का धर्म हैं, यह कापालिकी (योगिनी) में ही हो सकता है, रात्रि में नहीं। यदि उपमेयभूत रात्रि में इस विशेषण का प्रधान रूप से अन्वय हो सकता तो उपमा की सम्भावना कथञ्चित् हो सकती थी, अन्यथा नहीं। इसलिये यहाँ रूपक मानना ही उचित है तथा सन्देहसङ्कर की शङ्का न करनी चाहिये।

अनुवाद—(२. एकदेशविवर्ती) जिस रूपक में वे (आरोप्यमाण अर्थात् उपमान) शब्द-प्रतिपाद्य (श्रौत) तथा कुछ अर्थ-गम्य (आर्थ) होते हैं, वह एकदेशविवर्ती (साङ्ग) रूपक है। (१४१)

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः केचिदर्थसामर्थ्यादवसेयाः इत्येकदेशविवर्त्तनात् एकदेशविवर्ति । यथा—

> जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम् ।
> रससंमुहीवि सहसा परंमुही होइ रिउसेणा ॥४२२॥
> (यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम् ।
> रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ॥)

अत्र रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम् मण्डलाग्रलतायाः नायिकात्वम्,रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वम् अर्थसामर्थ्यादवसीयते इत्येकदेशो विशेषेण वर्त्तनादेकदेशविवर्ति ।

(१४२) साङ्गमेतत् ॥

उक्तद्विभेदं सावयवम् ।

(१४३) निरङ्गन्तु शुद्धम्

अर्थात् जहाँ कुछ उपमान शब्द द्वारा गृहीत तथा कुछ अर्थ-सामर्थ्य के द्वारा जानने योग्य (अवसेयाः) होते हैं, वह एकदेश में स्पष्ट रूप से (स्फुटतया) वर्तमान होने के कारण एकदेशविवर्ती (साङ्ग रूपक) होता है जैसे कि—

'जिस राजा के रण रूपी अन्तःपुर में खड्ग-लता (और नायिका) को हाथ में ग्रहण करते ही रसाविष्ट (वीररसाविष्टा अथवा शृङ्गाररसाविष्टा) भी शत्रु-सेना (तथा प्रतिनायिका) सहसा पराङ्मुखी हो जाती है (युद्ध से या प्रियसङ्गम से निवृत्त हो जाती है)' ॥४२२॥

यहाँ रणभूमि में आरोपित किया गया 'अन्तःपुर' तो शब्द-प्रतिपाद्य है; किन्तु असिलता में (आरोप्यमाण) नायिकात्व तथा रिपुसेना में (आरोप्यमाण) प्रतिनायिकात्व अर्थतः प्रतीत हो रहा है—इस हेतु एकदेश अर्थात् 'रणान्तःपुर' में विशेष रूप से प्रकट होने के कारण (वर्तनात् =प्रकाशनात्) एकदेशविवर्ती रूपक है।

यह साङ्ग रूपक है। (१४२)। ('एतत्' अर्थात्) उपर्युक्त दो प्रकार का (समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ती) साङ्ग रूपक है।

अथवा—'साङ्ग' या 'सावयव' रूपक अनेक रूपकों का समुदाय होता है; जिसमें एक (प्रधान) रूपक में अन्य (अप्रधान) रूपक अङ्ग हुआ करते हैं। जिस रूपक में समस्त उपमेय तथा उपमान शब्दों द्वारा प्रतिपादित किये जाते हैं वह समस्तवस्तुविषयक साङ्ग रूपक होता है तथा जहाँ कुछ शब्द-प्रतिपाद्य तथा कुछ अर्थगम्य होते हैं वहाँ एकदेशविवर्ती साङ्ग रूपक होता है जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

अनुवाद—[२. शुद्ध निरङ्ग रूपक] अङ्गों के आरोपरहित (निरङ्ग) (जहाँ केवल अङ्गी का आरोप होता है (१४३) जैसे—

यथा—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥४२३॥

(१४४) माला तु पूर्ववत् ॥६४॥

मालोपमायामिवैकस्मिन् बहव आरोपिताः। यथा—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
बाणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥४२४॥

[कोई धात्री किशोरी का वृत्तान्त कहती है] जो यह बाला गीत की ध्वनि सुनने पर मृगी के समान अपने अङ्गों को निश्चल कर लेती है (स्तिमितयति), जो सुने हुए भी प्रियतम के समाचार (उदन्त) को सखी से फिर पूछती है, जो बिना निद्रा के ही गृह के भीतर (अन्तः) सोती है—इससे मैं समझती हूँ कि इसके हृदय में कामदेव ने एक नवीन प्रेमलता को सींचना प्रारम्भ कर दिया है' ॥४२३॥

(४. माला निरङ्गरूपक) मालारूप रूपक तो पूर्व (मालोपमा) के समान होता है (१४४)

अर्थात् मालोपमा के समान ही जहाँ एक उपमेय में अनेक उपमान आरोपित किये जाते हैं (वह मालारूप निरङ्ग रूपक है); जैसे—(कोई विरही प्रेयसी का स्मरण करता है) 'नारियों में शिरोमणि वह मेरी प्रिया सौन्दर्य की नदी है, यौवनोत्कर्ष के आनन्द का उद्गम है, कान्ति की वशीकरण क्रिया (कार्मणं वशीकरणमन्त्रः) है, क्रीडा के रहस्यों के उल्लास की आवासभूमि है, वक्रिमायुक्त वाणी की विद्या (अलङ्काररूपा) है; विधाता के असीम निर्माणकौशल की साक्षात् मूर्ति है, पञ्चबाणधारी कामदेव की बाणरूप है' ॥४२४॥

प्रभा—निरङ्ग रूपक वह है, जहाँ अङ्गाङ्गिभाव से शून्य एक ही रूपक होता है, उसमें अन्य रूपकों का मिश्रण नहीं होता अतएव वह शुद्ध रूपक होता है। भाव यह है कि उसमें साङ्गरूपक के समान परस्पर सम्बद्ध रूपक-समुदाय नहीं होता। यह दो प्रकार का होता है—१. केवल निरङ्ग रूपक तथा १. मालारूप निरङ्गरूपक। १. 'कुरङ्गी' इत्यादि केवल निरङ्गरूपक का उदाहरण है। यहाँ केवल 'प्रेम' में लतिका (प्रेमलतिकाम्) का आरोप किया गया है। उसके परिपोषक रूप में अन्य किसी वस्तु का आरोप नहीं किया गया। २. 'सौन्दर्य' इत्यादि मालारूप निरङ्गरूपक का उदाहरण है। यहाँ उपमेय रूप एक ही प्रिया में 'तरङ्गिणी' आदि अनेक

(१४५) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥९५॥

यथा—विद्वन्मानसहंस, वैरिकमलासङ्कोचदीप्तद्युते,
दुर्गामार्गणनीललोहित, समित्स्वीकारवैश्वानर,
सत्यप्रीतिविधानदक्ष, विजयप्राग्भावभीम, प्रभो,
साम्राज्यं वरवीर, वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥४२५॥

उपमानों का आरोप किया गया है। किन्तु प्रिया में 'तरङ्गिणी' आदि के आरोप का परिपोषण करने के लिये अन्य रूपक का प्रयोग नहीं किया गया।

अनुवाद—(ग-परम्परितरूपक)— [नियतारोपणोपायः यः परस्य आरोपः तत् परम्परितं स्यात्; (तत् द्विविधम्) परस्य वाचके श्लिष्टे (सति) भेदभाजि वा]—मुख्य अथवा अवश्यवर्णनीय (नियत) आरोपण का निमित्तभूत (उपाय) जो अन्य किसी वस्तु का आरोप होता है, वह परम्परित (कार्यकारणभावरूपा आरोपपरम्परा संजाताऽस्य इति परम्परा+इतच्) रूपक होता है; (वह दो प्रकार का है) (१) अन्य के वाचक शब्द के श्लिष्ट होने पर अथवा (२) भिन्न रूप (अश्लिष्ट) होने पर। (१४५)

प्रभा—जहाँ वर्णनीय में आरोप करने के लिये अन्य वस्तु का आरोपण किया जाता है, वहाँ पर परम्परित रूपक होता है। परम्परा का अर्थ है—कार्यकारणभावरूपा आरोपपरम्परा, 'परम्परा सञ्जाता अस्येति परम्परितम्'। यहाँ अन्य वस्तु का आरोप मुख्य आरोप का कारण होता है, किन्तु साङ्गरूपक में अङ्गरूपक अङ्गी (मुख्य) रूपक के पोषकमात्र होते हैं, निमित्त नहीं क्योंकि उनके बिना भी रूपक बन ही सकता है। यही इसका साङ्गरूपक से भेद है।

प्रथमतः यह दो प्रकार का है—१. श्लिष्ट रूपक तथा २. अश्लिष्ट रूपक। इनमें से भी प्रत्येक मालारूप तथा केवल (मालाभिन्न) दो प्रकार का होता है। जैसे कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट होता है—

अनुवाद—जैसे (१-श्लिष्ट मालारूप)—'हे विद्वानों के (मानसरूप) मानस के हंस, शत्रुओं के लक्ष्मी-संकोच रूपी कमलों के पद्मसंकोच (विकास) में सूर्य रूप (दीप्तद्युते=दीप्तद्युति वाले), दुर्गों के अमार्गण (न खोजना) रूपी दुर्गा (पार्वती) के मार्गण (अन्वेषण) में शिव (नीललोहित), समित् (संग्रामों) के स्वीकार रूपी समिधाओं (काष्ठ) के स्वीकरण (आत्मसात् करने) में अग्निरूप, सत्यप्रीति रूपी सती (दुर्गा) में अप्रीति के कार्य में दक्षप्रजापति रूप, शत्रुविजयरूपी अर्जुन (विजयः स्यादर्जुने पार्थे—मेदिनी) से प्रथम उत्पन्न होने में भीमसेन रूप, श्रेष्ठवीर, महाराज (प्रभो), तुम ब्रह्मा के (वैरिञ्चम्) सौ वर्ष पर्यन्त उच्च भाव से चक्रवर्ती राज्य भोगो' ॥४२५॥

अत्र मानसमेव मानसम्, कमलायाः सङ्कोच एव कमलानामसङ्कोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः परपराभव एव विजयोऽर्जुनः, एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः।

यद्यपि शब्दार्थालङ्कारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः एकदेशविवर्ति हीदमन्यैरभिधीयते।

यहाँ पर मानस [चित्त] ही मानसरोवर है, कमला का सङ्कोच ही कमलों का असङ्कोच [विकास] है, दुर्गों का अमार्गण ही दुर्गा का अन्वेषण [मार्गण] है, समित् [संग्रामों] का स्वीकार ही समिधाओं का स्वीकार है, सत्य में प्रीति ही सती में अप्रीति है, विजय अर्थात् शत्रु का पराभव ही अर्जुन [विजय] है—इस प्रकार के आरोपण के निमित्त से होने वाला [राजा में] हंस आदि का आरोप है।

यद्यपि [प्राचीनों ने] यह [श्लिष्ट परम्परित] उभयालङ्कार है ऐसा कहा है तथा आगे [काव्यप्रकाश सूत्र २११ की वृत्ति में] भी कहा जायगा तथापि प्रसिद्धि का अनुसरण करके इसका अर्थालङ्कारों में [अत्र] कथन किया गया है, क्योंकि अन्य [भामह आदि] आचार्यों ने इसे एकदेशविवर्ती रूपक कहा है।

प्रभा- (१) विद्वन्मानसहंस' इत्यादि में 'मानस' आदि पद श्लिष्ट हैं। यहाँ एक ही राजा में हंस सूर्य तथा शिव का आरोप करना अपेक्षित है। इनके निमित्त रूप में श्लेषबल से मन इत्यादि में मानसरोवर आदि का आरोप किया गया है। अतएव राजा में हंस आदि का आरोप अन्य-आरोपनिमित्तक है तथा यहाँ मालारूप श्लिष्ट परम्परित रूपक है।

(२) 'विद्वन्मानस' इत्यादि में *'मानस' इत्यादि पद परिवृत्त्यसह हैं तथा 'हंस'* आदि पद परिवृत्तिसह हैं इस हेतु यहाँ पर उभयालङ्कार अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों का अलङ्कार मानना उचित है और 'पुनरुक्तवदाभास' के समान इसका भी उभयालङ्कार के प्रकरण में ही निरूपण करना चाहिए था तथापि आचार्य मम्मट ने प्रसिद्धि का अनुसरण करते हुए *अर्थालङ्कारों में इसका निरूपण किया है।* प्रसिद्धि का अभिप्राय यह है कि भामहाचार्य आदि ने इसकी अर्थालङ्कारों में ही गणना की है। उन्होंने यहाँ एकदेशविवर्ती रूपक बतलाया है तथा एकदेशविवर्ती रूपक अर्थालङ्कार है, यह सर्वसम्मत ही है। प्रदीपकार के मतानुसार प्रसिद्धि का अभिप्राय यह है कि अलङ्कारसर्वस्वकार ने श्लेष को रूपक का बाधक माना है। उसके अनुसार श्लेष अर्थालङ्कार है और अर्थालङ्कार किसी अर्थालङ्कार का ही बाधक होता है अतः यह अर्थालङ्कार ही है। फलतः प्राचीनों का अनुसरण करके ही इसे अर्थालङ्कारों में रक्खा गया है। वस्तुतः तो आचार्य मम्मट इसे उभयालङ्कार ही मानते हैं। यह आगे संकर के प्रकरण में स्पष्ट होगा। काव्यप्रकाश के लक्षणानुसार यहाँ एकदेशविवर्ती (साङ्ग) रूपक नहीं, यह भी स्पष्ट ही है।

भेदभाजि यथा—

> आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
> पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
> संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
> राजन् , राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥४२६॥

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपः युज्यते ।

> अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
> स्तूयते देव सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥४२७॥

> निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
> प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥४२८॥

अनुवाद—(२) (अश्लिष्ट मालारूप)—(वाचक शब्दों के) भिन्न रूप अर्थात् अश्लिष्ट होने पर (परम्परितरूपक), जैसे—

'हे राजन्, विजयरूपी हस्ती का बन्धन-स्तम्भ (आलान), विपत्तिरूपी सागर का शिलामय सेतु, खड्गरूपी सूर्य (चण्डमहाः चण्डं महः तेजोऽस्य, सूर्यः) का उदयाचल, राजश्री का लीलोपधान (सुखपूर्वक शयन का तकिया), संग्रामरूपी अमृतसमुद्र की मथनरूपी क्रीड़ा में मन्दराचल रूप, वीर शत्रुओं की नारियों को वैधव्य प्रदान करने वाला तुम्हारा भुजदण्ड शोभायमान है ॥४२६॥

यहाँ पर भिन्न शब्द (अश्लिष्ट) के वाच्य 'जय' आदि में कुञ्जरत्व, आदि का आरोप होने पर ही भुजा में आलानत्व (बन्धनस्तम्भ) आदि का आरोप युक्तिसंगत होता है ।

प्रभा—'आलानम्' इत्यादि में जय तथा कुञ्जर आदि शब्द भिन्न २ हैं, मानस आदि की भाँति श्लिष्ट नहीं । जय आदि में 'कुञ्जर' आदि का आरोप (रूपण) भुजा में आलानत्व के आरोप का निमित्त है । एक सूत्र में बहुत से पुष्पों के समान एक उपमेय (भुजा) में अनेक आलानत्व आदि का आरोप किया गया है, अतः यहाँ अश्लिष्ट मालारूप परम्परित रूपक है ।

अनुवाद—(३. श्लिष्ट-अमालारूप)—'हे राजन्' अपने अलौकिक महान् प्रकाश (यश) से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले, श्रेष्ठकुल रूपी उत्कृष्ट बाँस (वंश) से उत्पन्न मुक्तारत्न-रूप आप किसके द्वारा स्तुत नहीं किये जाते' ॥४२७॥

प्रभा—'अलौकिक' इत्यादि में आरोप का विषय (सत्कुल) तथा आरोप्यमाण अर्थात् उपमान (उत्तम बाँस) दोनों को श्लिष्ट 'सद्वंश' शब्द द्वारा कहा गया है । यह कुल में बाँस का आरोप राजा में मुक्तारत्न के आरोपण का निमित्त है । उपमेय (राजा) में यह एक ही आरोपण किया गया है, अतएव श्लिष्ट अमालारूप परम्परित रूपक है

अनुवाद—(४ अश्लिष्ट-अमालारूप) 'जिसकी स्थिति अवधि की सीमा

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम्।

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥४२६॥

इत्यादिरशनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम्।

से रहित है, बिना किसी आश्रय के है तथा आश्चर्य के विस्तार (प्रपञ्च) को कभी समाप्त नहीं करती; चतुर्दश भुवनरूपी लता के मूलभूत, इस जगत् में प्रथम यह कूर्ममूर्ति आप (विष्णु भगवान्) सर्वोत्कृष्ट हैं (जयति)' ॥४२८॥

यह (उपर्युक्त दो प्रकार का) अमालारूपक भी परम्परित समझना चाहिये।

प्रभा—'निरवधि' इत्यादि में 'लोक' तथा 'वल्लि' पद भिन्न २ (अश्लिष्ट) हैं, लोक में वल्लित्व का आरोप विष्णु में कन्दत्व (मूल) के आरोप का निमित्त है। विष्णु रूप उपमेय में यह एक ही रूपण किया गया है, अतएव यहाँ अश्लिष्ट परम्परित रूपक अमालारूप है। इस प्रकार अमालारूप परम्परित रूपक के श्लिष्ट ('अलौकिक' इत्यादि ४२७) तथा अश्लिष्ट ('निरवधि' इत्यादि ४२८) भेद से से दो उदाहरण दिये गये हैं।

अनुवाद—(रशनारूपक) 'लताओं के नवपल्लव रूपी करों से, युवतियों के कर कमलों से, कमलिनियों के कमलरूपी मुखों से तथा युवतियों के मुखरूपी चन्द्रमा से कामदेव कामी-जनों के मन को वश में कर लेता है' ॥४२६॥

इत्यादि रशनारूपक तो (विशेष) चमत्कारजनक नहीं है इसलिये उसका (यहाँ) पृथक् निरूपण नहीं किया गया।

प्रभा—(१) 'किसलय' इत्यादि में किसलय में करत्व, कर में कमलत्व, कमल मे मुखत्व तथा मुख में चन्द्रत्व का आरोप किया गया है। यहाँ पूर्व २ उपमान (आरोप्यमाण) 'कर' आदि उत्तरोत्तर उपमेय (आरोप का विषय) हो गया है अतएव रशनोपमा की भाँति यहाँ रशनारूपक है। आचार्य मम्मट ने इसका पृथक् निरूपण नहीं किया; क्योंकि यह विशेष चमत्कारक नहीं होता। (२) व्याख्याकारों का विचार है कि मम्मट के मतानुसार परिणामालङ्कार का भी रूपक में ही समावेश हो जाता है। (३) इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार रूपक के भेद-प्रभेद ये हैं—

इत्थं वा—

> बत सखि, कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
> प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि ।
> उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
> प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥४३१॥

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि, अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः ।
एवं वा—

> अमुष्मिंल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
> स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।
> यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
> शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥४३२॥

अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः । एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या ।

अनुवाद - अथवा इस प्रकार—(आर्थी अपह्नुति)—(किसी विरहिणी की सखी के प्रति उक्ति)—हे सखी, यह देखो कैसा खेद का विषय है (बत) कि प्रियविरह से क्षीण इस मुझ जैसे कामीजन पर कामदेव का कितना वैरभाव है कि इस (काम) ने उद्यानों की आम्र-मञ्जरी (सहकार) पर शोभायमान (उद्भासित) भ्रमरों के बहाने से (अपने) प्रत्येक (पुष्परूपी) बाण (विशिख) पर उत्कट विष रख दिया है ॥४३१॥

यहां पर ये भ्रमरयुक्त सहकार-पुष्प नहीं हैं अपि तु कालकूट (महाविष) सहित बाण हैं, ('छल' शब्द के प्रयोग से) यह प्रतीति होती है ।

प्रभा—'बत सखि' इत्यादि में उपमेयभूत भृङ्गों का निषेध करके उपमानरूप कालकूट की स्थापना की गई है । यहाँ कपटार्थक 'छल' शब्द से उपमेय का निषेध अर्थलभ्य (आक्षिप्त) है, अतएव आर्थी अपह्नुति है ।

अनुवाद—अथवा इस प्रकार (आर्थी अपह्नुति)—[वेश्यादासी किसी कामी के प्रति वेश्या का वर्णन करती है] 'हे रसिक, निश्चय ही शिव के द्वारा दग्ध किया गया (शर्वप्लुष्टः) कामदेव इस मृगनयनी के पुष्ट जघनस्थल पर (विद्यमान) सौन्दर्य-रूपी अमृत के सरोवर में निमग्न हो गया है; क्योंकि (काम के) अङ्गों के अङ्गारों की शान्ति को सूचित करने वाली यह धूमशिखा नाभि-गुहा में रोमावली के आकार में परिणत हो रही है' ॥४३२॥

यहाँ पर 'यह रोमावली नहीं किन्तु धूमशिखा है' (परिणमति शब्द से अर्थ-वशात्) ऐसी प्रतीति होती है । इसी प्रकार प्रकारान्तर से भी यह (आर्थी अपह्नुति) समझनी चाहिए ।

प्रभा— (१) 'अमुष्मिन्, इत्यादि में 'परिणमति' (धूमशिखा रोमावलिवपुः परिणमति) शब्द के द्वारा यह प्रतीत होती है कि 'यह रोमावलि नहीं किन्तु धूम-शिखा है' यहाँ 'परिणाम' शब्द से उपमेय का निषेध अर्थगम्य है अतएव यह आर्थी अपह्नुति है ।

(१५६) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।

उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः।

उदाहरणम्—

> अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये,
> कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि।
> अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
> रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥४३०॥

अनुवाद—(७ अपह्नुति)—जहाँ प्रकृत अर्थात् वर्णनीय (उपमेय) का निषेध करके अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है, वह अपह्नुति अलङ्कार है। (१५६)

अर्थात् जो उपमेय को असत्य बतलाकर उपमान को सत्य रूप से स्थापित किया जाता है वह अपह्नुति अलङ्कार है।

प्रभा—(१) अपह्नुति के आवश्यक अङ्ग हैं—विद्यमान वर्णनीय वस्तु का निषेध और (ii) उसके स्थान पर अन्य (उपमान) की स्थापना। ये दोनों ही बातें आहार्य (कल्पित) होती हैं; जैसे—मुख का वर्णन करते हुए कहना 'नेदं मुखं किन्तु चन्द्रः'। (२) अपह्नुति के लक्षण में जो 'प्रकृतं निषिध्य' ऐसा कहा गया है इससे रूपक की व्यावृत्ति हो जाती है; क्योंकि रूपक में वर्णनीय (प्रकृत) का निषेध नहीं होता। 'अन्यत्साध्यते' कथन से आक्षेप अलङ्कार में यह लक्षण नहीं जाता। सन्देह में संशय होता है तथा अपह्नुति में निश्चय यही दोनों का भेद है।

(३) अपह्नुति दो प्रकार की होती है—शाब्दी तथा आर्थी जहाँ शब्द द्वारा उपमेय की असत्यता कही जाती है वहाँ शाब्दी तथा जहाँ यह अर्थ से प्रतीयमान (पर्यवसन्न) होती है वहाँ आर्थी अपह्नुति है। आर्थी तो बहुत सी भङ्गिमाओं द्वारा होती है अर्थात् कहीं छल इत्यादि पदार्थक, कहीं परिणामार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है; जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट होगा।

अनुवाद—(अपह्नुति का) उदाहरण है—(शाब्दी)—[पूर्णचन्द्र में कलङ्क को देखकर शिव की पार्वती के प्रति उक्ति] 'हे पर्वतपुत्रि, पूर्ण कान्ति वाले (परिणतरुचः) शशाङ्क के शरीर पर प्रकट होने वाला (प्रागल्भ्यम् अवाप्तः) यह कलङ्क नहीं विराजमान है; मैं ऐसा समझता हूँ कि इस चन्द्रमा के द्रवीभूत (विगलत्) अमृत-स्रवण से शीतल वक्षःस्थल पर रति से परिश्रान्त रात्रिरूपी रमणी (चन्द्र-पत्नी) गाढ (निद्रा में) सो रही है' ॥४३०॥

प्रभा—'अवाप्त' इत्यादि में उपमेयरूप कलङ्क को असत्य बतलाकर उपमानभूत रात्रि की सत्यता स्थापित की गई है। यहाँ 'नैवायम्' इस शब्द द्वारा उपमेय का निषेध किया गया है अतएव शाब्दी अपह्नुति (अलङ्कार) है।

इत्थं वा—

वत सखि, कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥४३१॥

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि, अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः।

एवं वा—

अमुष्मिंल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥४३२॥

अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः। एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या।

अनुवाद– अथवा इस प्रकार—(आर्थी अपह्नुति)—(किसी विरहिणी की सखी के प्रति उक्ति)—हे सखी, यह देखो कैसा खेद का विषय है (बत) कि प्रियविरह से क्षीण इस मुझ जैसे कामीजन पर कामदेव का कितना वैरभाव है कि इस (काम) ने उद्यानों की आम्र-मञ्जरी (सहकार) पर शोभायमान (उद्भासित) भ्रमरों के बहाने से (अपने) प्रत्येक (पुष्परूपी) बाण (विशिख) पर उत्कट विष रख दिया है ॥४३१॥

यहाँ पर ये भ्रमरयुक्त सहकार–पुष्प नहीं हैं अपि तु कालकूट (महाविष) सहित बाण हैं, ('छल' शब्द के प्रयोग से) यह प्रतीति होती है।

प्रभा—'बत सखि' इत्यादि में उपमेयभूत भृङ्गों का निषेध करके उपमानरूप कालकूट की स्थापना की गई है। यहाँ कपटार्थक 'छल' शब्द से उपमेय का निषेध अर्थलभ्य (आक्षिप्त) है, अतएव आर्थी अपह्नुति है।

अनुवाद—अथवा इस प्रकार (आर्थी अपह्नुति)—[वेश्यादासी किसी कामी के प्रति वेश्या का वर्णन करती है] 'हे रसिक, निश्चय ही शिव के द्वारा दग्ध किया गया (शर्वप्लुष्टः) कामदेव इस मृगनयनी के पुष्ट जघनस्थल पर (विद्यमान) सौन्दर्य-रूपी अमृत के सरोवर में निमग्न हो गया है; क्योंकि (काम के) अङ्गों के अङ्गारों की शान्ति को सूचित करने वाली यह धूमशिखा नाभि-गुहा में रोमावली के आकार में परिणत हो रही है' ॥४३२॥

यहाँ पर 'यह रोमावली नहीं किन्तु धूमशिखा है' (परिणमति शब्द से अर्थ-वशात्) ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रकारान्तर से भी यह (आर्थी अपह्नुति) समझनी चाहिए।

प्रभा— (१) 'अमुष्मिन्, इत्यादि में 'परिणमति' (धूमशिखा रोमावलिवपुः परिणमति) शब्द के द्वारा यह प्रतीत होती है कि 'यह रोमावलि नहीं किन्तु धूम-शिखा है' यहाँ 'परिणाम' शब्द से उपमेय का निषेध अर्थगम्य है अतएव यह आर्थी अपह्नुति है।

(१४७) श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥९६॥

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः ।

उदाहरणम्—

> उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
> नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्त्तयति क्रियाः ।
> रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्त्तनकर्त्तनं
> बत बत लसत्तेजः पुञ्जो विभाति विभाकरः ॥४३३॥

अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ ।

---

(२) आर्थी अपह्नुति अनेक भङ्गिमाओं (प्रकारों) से होती है। कहीं कपटार्थक शब्द के प्रयोग से, कहीं परिणामार्थक शब्द के प्रयोग से; जिनके उदाहरण यहाँ दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकारों से भी आर्थी अपह्नुति होती है जैसे— सप्तम उल्लास उदाहरण २६४ में 'इदं ते केनोक्तम्, ऐसा कहकर प्रश्न का निषेध किया गया है। विश्वनाथ ने एक अन्य प्रकार की अपह्नुति का भी निरूपण किया है—

> गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ।
> यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यह्नुतिः ॥

अनुवाद—(८. श्लेष)—जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ (प्रकट) हों वहाँ श्लेष (अलङ्कार) होता है। (१४७)

अर्थात् एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ हो जाते हैं, वह अर्थश्लेष है, (उसका) उदाहरण है—

'विभाकर (सूर्य या विभाकर नामक राजा) उदय (या उन्नति) को प्राप्त होता है, दिशाओं की मलिनता (अन्धकार या दुराचरण) को दूर करता है, निद्रा की दशा (या निरुत्साह) को नष्ट करता है, क्रियाओं [गमनागमन आदि अथवा अग्निहोत्र आदि) को प्रवृत्त करता है, उच्छृङ्खल आचार (अभिसरण आदि अथवा स्वच्छन्दाचरण) की प्रवृत्ति का उच्छेदन करता है। हर्ष की बात है कि शोभित तेज पुञ्ज (रश्मियों या कान्तियों के समूह) से यह शोभायमान है ॥४३३॥

यहाँ (उदयादि शब्दों की) अभिधा का (प्रकरण आदि से) नियन्त्रण नहीं होता तथा सूर्य और राजा दोनों (अर्थ) वाच्य हैं।

प्रश्न—(१) एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ हो जाते हैं वहाँ अर्थश्लेष होता है। इस कथन में विरोध सा भासित होता है—जो शब्द एक अर्थ के प्रतिपादक हैं उनके अनेक अर्थ कैसे सम्भव हैं ? अतः इसका तात्पर्य यह है कि (i) यहाँ स्वभाव से शब्दों का एक ही अर्थ होता है किन्तु दूसरे शब्दों के सम्पर्क से अनेक अर्थ हो जाते हैं (द०, सार्द्धः स्वभावात् एकार्थः

(१४८) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः

श्लेषोनेऽकार्थवाचनम् — विश्वनाथ)। (ii) स्वभाव से शब्द सामान्य अर्थ को कहते हैं परन्तु दूसरे शब्दो के सम्बन्ध से विशेष अर्थों का बोध कराते हैं"; जैसे–'उदय' शब्द का स्वाभाविक अर्थ है सामान्यतः उठना; किन्तु सूर्य के साथ 'उदित होना और राजा के साथ 'वृद्धि' अर्थ हो जाता है। यहाँ 'एकस्मिन् वाक्ये और 'एकार्थप्रतिपादकानाम्' (वृत्ति) ये दो पद शब्द-श्लेष की व्यावृत्ति के लिये दिये गये हैं।

(२) शब्द-श्लेष और अर्थश्लेष—इन दोनों के द्वारा ही दो अर्थो का बोध होता है तथापि दोनों में अन्तर है —(i) अर्थ-श्लेष मे शब्द स्वभावतः एक अर्थ के वाचक होते हैं (एकार्थप्रतिपादकानाम्) किन्तु शब्द-श्लेष में शब्द सदा ही अनेकार्थक होते हैं। (ii) अर्थ-श्लेष में शब्द परिवृत्तिसह होते हैं, अर्थात् किसी शब्द का पर्याय रख देने पर भी श्लेष बना रहता है किन्तु शब्द:श्लेष में शब्द परिवृत्त्यसह होते हैं। (iii) अर्थ-श्लेष में एक ही वाक्य होता है (एकस्मिन् वाक्ये) जैसे कि 'उदयमयते' आदि में है किन्तु शब्द-श्लेष में भिन्न २ अर्थों के अनुसार भिन्न २ वाक्य हो जाते हैं; जैसे 'त्वां सर्वदोमाधवः पायात्'=(क) त्वां सर्वदः माधवः पायात्, (ख) त्वां सर्वदा उमाधवः पायात्।

(३) श्लेष और अभिधामूला (शब्दशक्तिमूल) ध्वनि—इन दोनों के द्वारा ही दो अर्थों का बोध होता है तथापि श्लेष में संयोग आदि के द्वारा अभिधा का नियन्त्रण नहीं होता और प्रकरण के योग्य दोनों ही अर्थ वाच्य होते हैं, जैसे—उदा० ४३३ में सूर्य और राजा दोनों ही वाच्य हैं इसके विपरीत ध्वनि में संयोग आदि के द्वारा अभिधा का जिस अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है, वह अर्थ तो वाच्य होता है और दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य होता है, जैसे ऊपर उदा० १२ में राजविषयक अर्थ वाच्य है किन्तु गज-सम्बन्धी अर्थ व्यङ्ग्य है।

(४) 'उदमयते' इत्यादि में सूर्य और राजा (विभाकर) दोनों ही समानरूप से वर्ण्य हैं और सभी अर्थों का दोनों के साथ अन्वय होता है यहाँ 'उदय' शब्द का सामान्य अर्थ 'उठना' है और यह शब्द एकार्थक है किन्तु सूर्य के साथ इसका अर्थ है—उदित होना (निकलना) और राजा के साथ इसका अर्थ है—वृद्धि। इन दोनों अर्थों का अभिधावृत्ति से ही बोध हो जाता है; क्योंकि अभिधावृत्ति संयोग आदि के द्वारा किसी एक अर्थ में नियन्त्रित नहीं हुई है। यह 'उदय' शब्द परिवृत्तिसह भी है। यदि 'उदमयते' के स्थान पर 'उन्नति गच्छति' आदि रख दिया जाय तो भी श्लेष बना ही, रहेगा। अतः अर्थ-श्लेष है।

अनुवाद—(६. समासोक्ति) श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा (भेदकैः) पर अर्थात् अप्रकृत अर्थ का बोधन समासोक्ति अलङ्कार है। (१४८)

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात्समासोक्तिः । उदाहरणम्—

> लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीए स कोवि उल्लासो
> जअलच्छी तुह विरहे ण हुज्जला दुब्बला णं सा ॥४३४॥
> (लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः ।
> जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ॥४३४॥)

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति ।

प्रकरण-प्राप्त अर्थ के प्रतिपादक वाक्य-द्वारा श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से, न कि विशेष्यवाचक शब्दों के सामर्थ्य से भी, जो अप्रस्तुत अर्थ का व्यञ्जना-द्वारा बोध होता है (अभिधानम् = व्यञ्जनया बोधनम्); वह समास अर्थात् संक्षेप से दो अर्थों (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) का कथन करने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है। (उसका) उदाहरण है— [समर-पतित स्वामी के प्रति वीरपत्नी की उक्ति]— 'हे वीर, तुम्हारे बाहु-स्पर्श को प्राप्त करके जिसको अनूठा (कोऽपि) आनन्द होता था, वह जयलक्ष्मी अब तुम्हारे विरह में उज्ज्वल नहीं रही, दुर्बल हो गई है' ॥४३४॥

यहाँ केवल (विशेष्यवाचक) जयलक्ष्मी शब्द (अप्रकृत) कामिनी का वाचक नहीं है ("लब्ध्वा बाहुस्पर्शं" इत्यादि विशेषण तो उसके बोधक हैं ही)।

प्रश्न—(१) समास का अर्थ है—संक्षेप, अतः समासोक्ति=संक्षेप से दो अर्थों का कथन। श्लिष्ट अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में उपयुक्त विशेषणों के द्वारा अप्रकृत अर्थ का बोधन ही समासोक्ति है। इसमें (i) प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति होती है (ii) केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं, विशेष्य नहीं। 'लब्ध्वा' इत्यादि में विशेषणवाचक शब्दों से (व्यञ्जना द्वारा) जयलक्ष्मी का वृत्तान्त (अप्रकृत, कामिनी के वृत्तान्त के रूप में प्रतीत हो रहा है, अतः समासोक्ति अलङ्कार है।

(२) समासोक्ति का अन्य (अलङ्कारों) से अन्तर—

(i) समासोक्ति और श्लेष—यद्यपि दोनों में श्लिष्ट शब्द होते हैं और अनेक अर्थों की प्रतीति होती है तथापि (क) श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों ही श्लिष्ट होते हैं, किन्तु समासोक्ति में केवल विशेषण श्लिष्ट होते हैं; (ख) श्लेष में दोनों ही अर्थ वाच्य होते हैं, दोनों ही समान रूप से प्रस्तुत होते हैं किन्तु समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है और अप्रस्तुत अर्थ प्रतीयमान (व्यङ्ग्य)।

(ii) समासोक्ति और रूपक—दोनों में ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत का उपमेय-उपमान-भाव होता है तथापि (क) रूपक में उपमान के स्वरूप का उपमेय में आरोप किया जाता है जैसे 'मुखं चन्द्रः' में चन्द्र के स्वरूप का मुख में आरोप किया जाता है। दूसरी ओर समासोक्ति में अप्रस्तुत के व्यवहारों का प्रस्तुत में आरोप किया

(१४९) निदर्शना ।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥९७॥

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् । उदाहरणम्—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥४३५॥

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति ।

यथा वा—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४३६॥

जाता है जैसे 'लब्ध्वा' इत्यादि में नायिका के व्यवहारों का जयलक्ष्मी में आरोप किया गया है (ख) रूपक में अप्रस्तुत को शब्दों द्वारा कहा जाता है, किन्तु समासोक्ति में वह व्यङ्ग्य होता है ।

(३) समासोक्ति और ध्वनि—समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है, अप्रस्तुत का व्यवहार व्यङ्ग्य होता है । जब उसका प्रस्तुत के व्यवहार में आरोप किया जाता है तो उससे वाच्य अर्थ का उत्कर्ष ही बढ़ता है । अतः व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य का अङ्ग होता है और यहां ध्वनि नहीं कही जा सकती । इसी हेतु आचार्यों ने समासोक्ति को अपराङ्गगुणीभूत व्यङ्ग्य माना है । (बालबोधिनी) ।

अनुवाद—(१० निदर्शना) जहां पदार्थों या वाक्यार्थों (वस्तु) का अनुपपद्यमान (अभवन्=असम्भवन्, उपयुक्त न होता हुआ) सम्बन्ध उपमा की कल्पना (आक्षेप) कर लेता है वह निदर्शना अलङ्कार है । (१४९)

निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त या उदाहरण दिखलाना ।

प्रभा—जहाँ उक्त पदार्थों या वाक्यार्थों का अन्वय नहीं बन पाता तथा वह 'उपमानोपमेयभाव में परिणत हो जाता है वहां निदर्शना अलङ्कार होता है । वह दो प्रकार का है—१ वाक्यार्थ निदर्शना तथा २ पदार्थ निदर्शना ।

अनुवाद—उदाहरण है—(वाक्यार्थ निदर्शना)-[रघुवंश महाकाव्य में]—'कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न होने वाला वंश (रघुवंश) और कहाँ अल्पज्ञान वाली मेरी बुद्धि ? मैं तो मोहवश उडुप (छोटी नाव) से दुस्तर सागर को पार करने का इच्छुक हूँ' ॥४३५॥

यहाँ पर—'उडुप के द्वारा सागर-तरण के समान ही मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्यवंश का वर्णन है' इस उपमा में (कवि की उक्ति) परिणत हो जाती है ।

अथवा जैसे—(पदार्थ निदर्शना) [माघ-काव्य के रैवतकगिरि-वर्णन में]—'किरण रूपी रज्जुओं को ऊपर की ओर पसारे अहिमरश्मि (सूर्य) के उदित होने

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम्।

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्ग-
मादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम्।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव,
यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति ॥४३७॥

इत्यादौ मालारूपाऽप्येषा द्रष्टव्या।

पर तथा शीतरश्मि (चन्द्रमा) के अस्त होते समय यह पर्वत उस गजेन्द्र की शोभा (लीला) को धारण करता है जो (दोनों ओर) लटकते हुए दो घण्टों से युक्त हो' ॥४३६॥

यहाँ पर अन्य (वारणेन्द्र) की लीला को अन्य (रैवतक पर्वत) कैसे धारण कर सकता है? इसलिये 'उसके समान (उस जैसी)' इस उपमा में परिणति हो जाती है।

(मालारूपा निदर्शना)—'हे राजन्, जो तुम्हारे गुणों का कथन करना चाहता है वह निश्चय ही (ध्रुवम्) सरित्पति (तरङ्गवतीनां नदीनां भुजङ्गं विटं भर्तारम्) अर्थात् सागर को भुजाओं से तरने का इच्छुक है, हाथ में मृगाङ्क बिम्ब (चन्द्रमण्डल) को पकड़ना (आदातुं) चाहता है तथा मेरु पर्वत को लाँघ जाना चाहता है ॥४३७॥

इत्यादि में मालारूपा भी यह (निदर्शना) देखी जाती है।

प्रभा—(१) 'क्व सूर्यप्रभवः' इत्यादि में वाक्यार्थ-निदर्शना है। यहाँ पर सूर्यवंश के वर्णन में 'अहं सागरं तितीर्षुः अस्मि' इन वाक्यार्थों का सम्बन्ध अनुपपन्न है तथा वह इस उपमा की कल्पना कर लेता है—'उडुप से सागर-तरण के समान मेरी मति से सूर्य-वंश का वर्णन असम्भव है'।

(२) 'उदयति' इत्यादि में पदार्थ निदर्शना है। यहाँ पर 'वारणेन्द्रलीला' इस समस्त पद के अर्थ के साथ 'गिरि' शब्द के अर्थ का सम्बन्ध नहीं बनता; क्योंकि 'वारणेन्द्र की लीला पर्वत में कैसे हो सकती है? इसलिये वह 'वारणेन्द्रसदृशी लीला' इस उपमा का बोध कराता है।

(३) 'दोर्भ्याम्' इत्यादि में मालारूपा निदर्शना है। यहाँ पर 'यः तव गुणान् गदितुम् उद्यमम् आदधाति' इस वाक्य के अर्थ के साथ 'एषः तरङ्गवती-भुजङ्गं दोर्भ्यां तितीर्षति' इत्यादि वाक्यों का सम्बन्ध अनुपपन्न है तथा वह 'सागर-तरण आदि के समान तुम्हारे गुणों का वर्णन है', इस उपमा में परिणत हो जाता है। एक ही 'गुण-वर्णन' उपमेय के 'समुद्रतरण' आदि अनेक उपमान होने के कारण यहाँ मालारूपा वाक्यार्थ-निदर्शना है।

(१५०) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ।

क्रिययैव स्वस्वरूप-स्वकारणयोः सम्बन्धो यदवगम्यते साऽपरा निदर्शना । यथा—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥४३८॥

अत्र पातक्रियया पतनस्य लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य च सम्बन्धः ख्याप्यते ।

(१५१) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रय ॥६८॥

अनुवाद—(अन्य प्रकार की निदर्शना) जो क्रिया के द्वारा ही अपना (स्व) तथा अपने हेतु का सम्बन्ध-कथन है वह एक अन्य प्रकार की (अपरा) निदर्शना है। (१५०)

अर्थात् जहाँ क्रिया के द्वारा ही अपने स्वरूप तथा अपने कारण का सम्बन्ध अवगत कराया जाता है, वह एक अन्य (उपर्युक्त निदर्शना से भिन्न) निदर्शना है। जैसे—

'पर्वत के शिखर पर पहुँचा हुआ पाषाणकण मन्दवायु से कम्पित होकर (धुतः) यह कहता हुआ नीचे गिरता है कि जो नीच या अल्प बुद्धि वाला (लघु) है वह उच्च पद को पाकर सहज ही (हेलयैव=लीला मात्र से ही) गिर जाता है' ॥४३८॥

यहाँ पर पतन क्रिया के द्वारा (अपने स्वरूप) पतन का तथा (पतन के कारण) लघु होकर उच्च पद की प्राप्ति का (कार्यकारणभाव) सम्बन्ध प्रकट किया जा रहा है।

प्रभा—'उन्नतम्' इत्यादि एक अन्य प्रकार की निदर्शना का उदाहरण है। यहाँ पर 'पतति' इस पतन क्रिया (कार्य) के द्वारा 'पतेत्' शब्द से बोधित अपने पतनरूपकार्य का तथा क्षुद्र व्यक्ति की उन्नतपदप्राप्ति रूप (अपने) कारण का (कार्य-करणभाव) सम्बन्ध प्रतिपादित किया जा रहा है जो इस दृष्टान्त (निदर्शन) में परिणत हो जाता है कि 'क्षुद्र होने पर उन्नत पद को प्राप्त करने वाले का इस प्रकार पतन हो जाता है जिस प्रकार पाषाण कण का'।

इस निदर्शना में वस्तुओं का सम्बन्ध सम्भव या उपपन्न ही होता है। प्रथमोक्त निदर्शना में वस्तु-सम्बन्ध अनुपपन्न होता है, यही दोनों का भेद है। दृष्टान्त और निदर्शना में अन्तर है (द्र० दृष्टान्त)।

अनुवाद—(११. अप्रस्तुतप्रशंसा)—[या अप्रस्तुतप्रशंसा सा प्रस्तुताश्रया (चेत् तदा) सैव अप्रस्तुतप्रशंसा]—जो अप्रकृतवस्तु का वर्णन (प्रशंसा) प्रकृत (वर्णनीय) वस्तु की प्रतीति का निमित्त (आश्रय) होता है, वही अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलङ्कार है। (१५१)

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा।

(१५२) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥९९॥

तदन्यस्य कारणादेः।

क्रमेणोदाहरणम्—

१. याताः किन्न मिलन्ति सुन्दरि, पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि।

अर्थात् अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) के कथन द्वारा प्रस्तुत विषय की प्रतीति कराना (आक्षेप) अप्रस्तुतप्रशंसा है।

यह (अप्रस्तुतप्रशंसा) पाँच प्रकार की है—१-कार्य, २-निमित्त, ३-सामान्य, ४-विशेष के प्रस्तुत (वर्णनीय) रहने पर उससे भिन्न (अर्थात् कारण, कार्य, विशेष और सामान्य) का तथा (५) तुल्य वस्तु के प्रस्तुत रहने पर उसके समान (अप्रस्तुत) का कथन। (१५२)

(कारिका में) तदन्यस्य अर्थात् (प्रकृत कार्य आदि से भिन्न) कारण आदि का।

प्रभा—(१) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ अप्राकरणिक अर्थात् अप्रस्तुत की वर्णना द्वारा प्राकरणिक (प्रस्तुत) की प्रतीति होती है। किन्तु जहाँ प्राकरणिक के वर्णन से अप्राकरणिक का आक्षेप (प्रतीति) होता है वहाँ समासोक्ति हुआ करती है (बालबोधिनी)। किञ्च, जब अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेष पर आश्रित होती है तो वहाँ कभी विशेषण और कभी विशेष्य अथवा दोनों अनेकार्थक हो सकते हैं किन्तु समासोक्ति में विशेषण ही अनेकार्थक हुआ करते हैं, विशेष्य नहीं। इसी प्रकार जहाँ कार्य-कारण तथा सामान्य विशेष दोनों ही वाच्य होते हैं वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है। जहाँ दोनों तुल्य वस्तु वाच्य होती हैं वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है। अप्रस्तुत के वाच्य तथा प्रस्तुत के प्रतीयमान (गम्य, आरोपगम्य) होने पर ही अप्रस्तुतप्रशंसा होती है (अलङ्कारसर्वस्व)। श्लेष के समान अप्रस्तुत-प्रशंसा में भी विशेषण तथा विशेष्य दोनों ही अनेकार्थक हो सकते हैं तथापि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं, दोनों ही प्रस्तुत होते हैं किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में एक अर्थ अप्रस्तुत तथा वाच्य होता है, दूसरा अर्थ प्रस्तुत तथा व्यङ्ग्य होता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा को अन्योक्ति भी कहते हैं।

(ख) अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का पाँच प्रकार का सम्बन्ध होता है इसी हेतु यह पाँच प्रकार की होती है। कारिका में पाँचों प्रकारों की योजना इस प्रकार है—(१) कार्य के वर्णनीय होने पर उससे भिन्न अर्थात् कारण का वर्णन (कार्ये प्रस्तुते तदन्यस्य वच.); (२) कारण के प्रस्तुत होने पर तद्भिन्न (कार्य) का वर्णन; (३) सामान्य के प्रस्तुत रहते तद्भिन्न (विशेष) का कथन (४) विशेष के प्रस्तुत रहते तद्भिन्न (सामान्य) का वर्णन तथा (५) तुल्य के प्रस्तुत होने पर (अप्रस्तुत) का तुल्य वर्णन।

अनुवाद—(अप्रस्तुतप्रशंसा के) क्रमशः उदाहरण ये हैं—[किसी प्रेमी का

लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥४३६॥

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम्।

२. राजन्, राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे, भोजय मां कुमार सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते।
इत्थं नाथ, शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरात्
चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥४४०॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम्।

३. एतत्तस्य मुखात्कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।

मित्र के प्रति स्वप्रिया-वर्णन]—(१) (हे मित्र) अश्रुपूर्ण होकर मेरे यह कहने पर कि—'सुन्दरी, गये हुए क्या फिर नहीं मिलते हैं (अपितु मिलते ही हैं), अतः तुम्हें मेरे लिए चिन्ता न करनी चाहिए, तुम (चिन्ता में) अत्यधिक कृश हो गई हो।' उस (प्रिया) ने लज्जा से निश्चल तारिकाओं वाले तथा गिरते हुए अश्रु को पी लेने वाले (निपतद् एव पीतम् अश्रु येन) नेत्र से मुझे देखा और हँसकर भावी मरण-विषयक उत्साह को सूचित किया' ॥४३६॥

यहाँ पर 'जाने से क्यों रुक गये ?' इस प्रकार (मित्र द्वारा) कार्य (रुकना) के पूछे जाने पर (प्रस्तुत) कारण अर्थात् प्रिया के भावी मरणोत्साह (अप्रस्तुत) का कथन किया गया है; [अतः यहाँ कार्य के प्रस्तुत होने पर कारणवर्णना रूप अप्रस्तुत-प्रशंसा है]।

(२) [राजा के प्रति कवि की उक्ति] 'हे स्वामिन्, आपके शत्रुओं के भवन में पथिकों द्वारा पिंजरे से मुक्त किया हुआ शुक सूनी अटारी में चित्र-स्थितों (राजा आदि) को देखकर एक-एक से इस प्रकार कहता है—हे राजन्, राजपुत्री मुझे नहीं पढ़ाती, रानियाँ भी चुप हो गई हैं। हे कुब्जा, मुझे भोजन कराओ। हे कुमार, तुम्हारे साथियों ने (सचिवैः) अब तक भी भोजन क्यों नहीं किया' ? ॥४४०॥

यहाँ पर 'आपको प्रस्थान (आक्रमण) के लिये उद्यत जानकर सहसा ही आपके शत्रु भाग गये' इस (शत्रुपलायन रूप) कारण के प्रस्तुत होने पर (पथिक द्वारा मुक्त शुक का चित्रों से बोलना रूप) कार्य (अप्रस्तुत) का कथन किया गया है, [अतः यहाँ कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य-वर्णना रूप अप्रस्तुतप्रशंसा है]।

(३) भल्लटशतक में मूर्खविषयक चर्चा में एक व्यक्ति की दूसरे के प्रति उक्ति] 'उसके मुख से जो सुना है (श्रुतम् इति शेषः) कि उस मूर्ख ने कमलिनी-पत्र पर स्थित जल-कण को 'मोती' मान लिया, यह कौन बड़ी बात है (कियत् =

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा ।

(१५२) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥९९॥

तदन्यस्य कारणादेः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

१. याताः किन्न मिलन्ति सुन्दरि, पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।

अर्थात् अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) के कथन द्वारा प्रस्तुत विषय की प्रतीति कराना (आक्षेप) अप्रस्तुतप्रशंसा है ।

यह (अप्रस्तुतप्रशंसा) पाँच प्रकार की है—१—कार्य, २—निमित्त, ३—सामान्य, ४—विशेष के प्रस्तुत (वर्णनीय) रहने पर उससे भिन्न (अर्थात् कारण, कार्य, विशेष और सामान्य) का तथा (५) तुल्य वस्तु के प्रस्तुत रहने पर उसके समान (अप्रस्तुत) का कथन । (१५२)

(कारिका में) तदन्यस्य अर्थात् (प्रस्तुत कार्य आदि से भिन्न) कारण आदि का ।

प्रभा—(१) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ अप्राकरणिक अर्थात् अप्रस्तुत की वर्णना द्वारा प्राकरणिक (प्रस्तुत) की प्रतीति होती है । किन्तु जहाँ प्राकरणिक के वर्णन से अप्राकरणिक का आक्षेप (प्रतीति) होता है वहाँ समासोक्ति हुआ करती है (बालबोधिनी) । किञ्च, जब अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेष पर आश्रित होती है तो वहाँ कभी विशेषण और कभी विशेष्य अथवा दोनों अनेकार्थक हो सकते हैं किन्तु समासोक्ति में विशेषण ही अनेकार्थक हुआ करते हैं, विशेष्य नहीं । इसी प्रकार जहाँ कार्य-कारण तथा सामान्य विशेष दोनों ही वाच्य होते हैं वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है । जहाँ दोनो तुल्य वस्तु वाच्य होती हैं वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है । अप्रस्तुत के वाच्य तथा प्रस्तुत के प्रतीयमान (गम्य, आक्षेपलभ्य) होने पर तो अप्रस्तुतप्रशंसा होती है (अलङ्कारसर्वस्व) । श्लेष के समान अप्रस्तुत-प्रशंसा में भी विशेषण तथा विशेष्य दोनों ही अनेकार्थक हो सकते हैं तथापि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं, दोनों ही प्रस्तुत होते हैं किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में एक अर्थ अप्रस्तुत तथा वाच्य होता है, दूसरा अर्थ प्रस्तुत तथा व्यङ्ग्य होता है । अप्रस्तुत-प्रशंसा को अन्योक्ति भी कहते हैं ।

(ग) अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का पाँच प्रकार का सम्बन्ध होता है इसी हेतु यह पाँच प्रकार की होती है । कारिका में पाँचों प्रकारों की योजना इस प्रकार है—(१) कार्य के वर्णनीय होने पर उससे भिन्न अर्थात् कारण का वर्णन (कार्ये प्रस्तुते तदन्यस्य वच.); (२) कारण के प्रस्तुत होने पर तद्भिन्न (कार्य) का वर्णन; (३) सामान्य के प्रस्तुत रहते तद्भिन्न (विशेष) का वर्णन (४) विशेष के प्रस्तुत रहते तद्भिन्न (सामान्य) का वर्णन तथा (५) तुल्य के प्रस्तुत होने पर (अप्रस्तुत) का तुल्य वर्णन ।

अनुवाद—(अप्रस्तुतप्रशंसा के) क्रमशः उदाहरण ये हैं—[किसी प्रेमी का

लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥४३९॥

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

२. राजन्, राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे, भोजय मां कुमार सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ, शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरात्
चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥४४०॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

३. एतत्तस्य मुखात्कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।

मित्र के प्रति स्वप्रिया-वर्णन]—(१) (हे मित्र) अश्रुपूर्ण होकर मेरे यह कहने पर कि—'सुन्दरी, गये हुए क्या फिर नहीं मिलते हैं (अपितु मिलते ही हैं), अतः तुम्हें मेरे लिए चिन्ता न करनी चाहिए, तुम (चिन्ता में) अत्यधिक कृश हो गई हो।' उस (प्रिया) ने लज्जा से निश्चल तारिकाओं वाले तथा गिरते हुए अश्रु को पी लेने वाले (निपतद् एवं पीतम् अश्रु येन) नेत्र से मुझे देखा और हँसकर भावी मरण-विषयक उत्साह को सूचित किया' ॥४३९॥

यहाँ पर 'जाने से क्यों रुक गये ?' इस प्रकार (मित्र द्वारा) कार्य (रुकना) के पूछे जाने पर (प्रस्तुत) कारण अर्थात् प्रिया के भावी मरणोत्साह (अप्रस्तुत) का कथन किया गया है; [अतः यहाँ कार्य के प्रस्तुत होने पर कारणवर्णना रूप अप्रस्तुत-प्रशंसा है]।

(२) [राजा के प्रति कवि की उक्ति] 'हे स्वामिन्, आपके शत्रुओं के भवन में पथिकों द्वारा पिंजरे से मुक्त किया हुआ शुक सूनी अटारी में चित्र-स्थितों (राजा आदि) को देखकर एक-एक से इस प्रकार कहता है—हे राजन्, राजपुत्री मुझे नहीं पढ़ाती, रानियाँ भी चुप हो गई हैं। हे कुब्जा, मुझे भोजन कराओ। हे कुमार, तुम्हारे साथियों ने (सचिवैः) अब तक भी भोजन क्यों नहीं किया' ? ॥४४०॥

यहाँ पर 'आपको प्रस्थान (आक्रमण) के लिये उद्यत जानकर सहसा ही आपके शत्रु भाग गये' इस (शत्रुपलायन रूप) कारण के प्रस्तुत होने पर (पथिक द्वारा मुक्त शुक का चित्रों से बोलना रूप) कार्य (अप्रस्तुत) का कथन किया गया है, [अतः यहाँ कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य-वर्णना रूप अप्रस्तुतप्रशंसा है]।

(३) भल्लटशतक में मूर्खविषयक चर्चा में एक व्यक्ति की दूसरे के प्रति उक्ति] 'उसके मुख से जो सुना है (श्रुतम् इति शेषः) कि उस मूर्ख ने कमलिनी-पत्र पर स्थित जल-कण को 'मोती' मान लिया, यह कौन बड़ी बात है (कियत् =

अन्यत्तुल्यमलघुस्फटिकप्रविलम्बिन्यादीयमाने शनैः
कृष्णोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥४४१॥

अत्रास्थाने जडानां ममत्वसम्भावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः ।

४. सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥४४२॥

अत्र 'कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्य', इति विशेषे प्रकृते सामान्यमभिहितम् ।

५. तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः । श्लेषः समासोक्तिः सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः ।
क्रमेणोदाहरणम्—

अस्पष्टम्); इससे भी बढ़कर यह सुनो—(मोती समझकर उस मणिखण्ड को) धीरे धीरे-लेते समय (आदीयमाने) मकड़ी के अग्रभाग के स्पर्श (किया) से उसके विलीन हो जाने पर 'मेरा (मोती) कहाँ उड़ गया' इस हार्दिक शोक से यह तो प्रतिदिन सोता ही नहीं ॥४४१॥

यहाँ पर 'अयोग्य स्थान (अवसर) पर भी मूर्खों की ममता की सम्भावना है' इस सामान्य के प्रस्तुत होने पर (मोती समझकर किसी मूर्ख की जलकण में ममता रूप) विशेष का कथन किया गया है, [अतः सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष वर्णना रूप अप्रस्तुतप्रशंसा है]।

(४) [नरकासुर का वध किये जाने पर उसके मित्र शाल्व के प्रति किसी की उक्ति]—'जो पुरुष वैर का बदला लेकर मित्र की नारियों के अश्रुजल को पोंछता वही पूज्य है, वही पुरुष (पौरुषयुक्त) है, वही नीतिमान् है उसका ही उत्तम जीवन है और वही लक्ष्मी का भाजन है ॥४४२॥

यहाँ पर कृष्ण को मारकर यदि नरकासुर की नारियों के शोक को शान्त करते हो तो तुम्हीं प्रशंसनीय हो। इस (शाल्व-विषयक) विशेष के प्रस्तुत होने पर (जो वैर का प्रतिशोध करता है वही प्रशंसनीय है—इस) सामान्य का वर्णन किया गया है; [अतः विशेष के प्रस्तुत रहने पर सामान्य-वर्णना रूप अप्रस्तुत प्रशंसा है]।

(५) तुल्य के प्रस्तुत होने पर (तुल्य अप्रस्तुत) के वर्णन के तीन प्रकार हैं; क्योंकि (क) श्लेष (सभी विशेषण तथा विशेष्यवाचक पदों की उभयार्थबोधकता), (ख) समासोक्ति (विशेषणमात्र की उभयार्थबोधकता) तथा (ग) केवल सादृश्य: ये (अप्रस्तुत) तुल्य के वर्णन से (प्रस्तुत) तुल्य की व्यञ्जना (आक्षेप) के हेतु होते हैं। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(५ क. श्लेषहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा) [अन्यायपूर्वक, जिस राजा का धन शत्रु ने हड़प कर लिया है उसके प्रति किसी की उक्ति] काहे पुरुष (लोगे)

(क) पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
याायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥४४३॥

(ख) येनास्यभ्युदितेन चन्द्र, गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्येवं जडधामता तु भवतो यद्व्योम्नि विस्फूर्जसे।४४४।

(ग) आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।

से रहित (मोहिनी रूप) हो जाय, चाहे नीचे [पाताल में कूर्म आदि रूप से या सम्पत्ति नाश से] चला जाय, चाहे याचना (प्रणयन=वामनरूप में माँगना या सहायता माँगना) में महान् भी न रहे; तथापि संसार (समस्त राज्य आदि) का उद्धार करे। किसी पुरुषोत्तम (विष्णु या सत्पुरुष) ने इस प्रकार की पद्धति (दिक्) प्रदर्शित की है। [अतः आप भी स्व-राज्य का उद्धार कीजिए, यह भाव है] ॥४४३॥

प्रभा—यहाँ सत्पुरुष वर्णनीय रूप में प्रस्तुत है उसके तुल्य अप्रस्तुत विष्णु का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में 'पुंस्त्व' आदि विशेषण पद तथा 'पुरुषोत्तम' यह विशेष्य पद श्लिष्ट हैं। अतः श्लेष के द्वारा प्रस्तुत सत्पुरुष की प्रतीति हो जाती है तथा यहाँ श्लेषहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अनुवाद—[५ ख. समासोक्तिहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा)—[अपकारी का अनुसरण करने वाले क्षीण-व्यक्ति के प्रति उपालम्भ है] 'हे चन्द्र, जिस (सूर्य) के उदित होने से तुम क्षीणता को प्राप्त हुए हो उस सूर्य का तुम्हें प्रतिकार करना ही युक्त है, न कि उसका ही पैर पकड़ना (रश्मि-ग्रहण) यदि क्षीण (कलाहीन या धनहीन) होने से तुमने यह (पाद-ग्रहण) किया है तो तुम तनिक भी लज्जित क्यों नहीं होते? तिस पर जो आकाश में गर्व पूर्वक उदित होते हो (विस्फूर्जसे) यह तुम्हारी जडधामता (शीतल या शिथिल तेजवाला होना) ही है' ॥४४४॥

प्रभा—यहाँ निर्धन और धनिक का वृत्तान्त वर्णनीय रूप में प्रस्तुत है, तत्तुल्य अप्रस्तुत चन्द्र तथा रवि का वर्णन किया गया है। यहाँ विशेष्यवाचक चन्द्र तथा रवि पद श्लिष्ट नहीं; केवल श्लिष्ट विशेषणों द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति हो जाया करती है; अतः समासोक्तिहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अनुवाद—(५ ग. सादृश्यहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा) 'इस दुष्ट सागर ने सब ओर से सरिताओं के मुख से जल ग्रहण करके क्या किया (अर्जितं सम्पादितम्)?

अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥४४१॥
अत्रास्थाने जडानां ममत्वसम्भावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथित.।

४.सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः॥४४२॥
अत्र 'कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्य', इति विशेषे प्रकृते समान्यमभिहितम्।

५. तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः। श्लेषः समासोक्तिः सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः।
क्रमेणोदाहरणम्—

अत्यल्पम्); इससे भी बढ़कर यह सुनो—(मोती समझकर उस जलबिन्दु को) धीरे से लेते समय (आदीयमाने) अङ्गुलि के अग्रभाग के स्पर्श (क्रिया) से उसके विलीन हो जाने पर 'मेरा (मोती) कहाँ उड़ गया' इस हार्दिक शोक से यह तो प्रतिदिन सोता ही नहीं ॥४४१॥

यहाँ पर 'अयोग्य स्थान (अनवसर) पर भी मूर्खों की ममता की सम्भावना है' इस सामान्य के प्रस्तुत होने पर (मोती समझकर किसी मूर्ख की जलकण में ममता रूप) विशेष का कथन किया गया है, [अतः सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष वर्णना रूप अप्रस्तुतप्रशंसा है]।

(४) [नरकासुर का वध किये जाने पर उसके मित्र शाल्व के प्रति मन्त्री की उक्ति]—'जो पुरुष वैर का बदला लेकर मित्र की नारियों के अश्रुजल को पोंछेगा वही पूज्य है, वही पुरुष (पौरुषयुक्त) है, वही नीतिमान् है उसका ही उत्तम जीवन है और वही लक्ष्मी का भाजन है ॥४४२॥

यहाँ पर कृष्ण को मारकर यदि नरकासुर की नारियों के शोक को शान्त करते हो तो तुम्हीं प्रशंसनीय हो। इस (शाल्व-विषयक) विशेष के प्रस्तुत होने पर (जो वैर का प्रतिशोध करता है वही प्रशंसनीय है—इस) सामान्य का वर्णन किया गया है; [अतः विशेष के प्रस्तुत रहने पर सामान्य-वर्णना रूप अप्रस्तुत प्रशंसा है]।

(५) तुल्य के प्रस्तुत होने पर (तुल्य अप्रस्तुत) के वर्णन के तीन प्रकार हैं; क्योंकि (क) श्लेष (सभी विशेषण तथा विशेष्यवाचक पदों की उभयार्थबोधकता), (ख) समासोक्ति (विशेषणमात्र की उभयार्थबोधकता) तथा (ग) केवल सादृश्य; ये (अप्रस्तुत) तुल्य के वर्णन से (प्रस्तुत) तुल्य की व्यञ्जकता (आक्षेप) के हेतु होते हैं। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(५ क. श्लेषहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा) [भल्लटशतक में, जिस राजा का शत्रु ने राज्यापहरण कर लिया है, उसके प्रति मन्त्री की उक्ति] चाहे पुरुषत्व [शौर्य]

(क) पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यघोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥४४३॥

(ख) येनास्यभ्युदितेन चन्द्र, गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्येवं जडधामता तु भवतो यद्व्योम्नि विस्फूर्जसे ॥४४४॥

(ग) आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।

से रहित (मोहिनी रूप) हो जाय, चाहे नीचे [पाताल में कूर्म आदि रूप से या सम्पत्ति नाश से] चला जाय, चाहे याचना (प्रणयन=वामनरूप में मांगना- या सहायता मांगना) में महान् भी न रहे; तथापि संसार (समस्त राज्य आदि) का उद्धार करे। किसी पुरुषोत्तम (विष्णु या सत्पुरुष) ने इस प्रकार की पद्धति (दिक्) प्रदर्शित की है। [अतः आप भी स्व-राज्य का उद्धार कीजिए, यह भाव है] ॥४४३॥

प्रभा—यहाँ सत्पुरुष वर्णनीय रूप में प्रस्तुत है उसके तुल्य अप्रस्तुत विष्णु का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में 'पुंस्त्व' आदि विशेषण पद तथा 'पुरुषोत्तम' यह विशेष्य पद श्लिष्ट हैं। अतः श्लेष के द्वारा प्रस्तुत सत्पुरुष की प्रतीति हो जाती है तथा यहाँ श्लेषहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अनुवाद—[५ ख. समासोक्तिहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा)—[अपकारी का अनुसरण करने वाले क्षीण-व्यक्ति के प्रति उपालम्भ है] 'हे चन्द्र, जिस (सूर्य) के उदित होने से तुम क्षीणता को प्राप्त हुए हो उस सूर्य का तुम्हें प्रतिकार करना ही युक्त है, न कि उसका ही पैर पकड़ना (रश्मि-ग्रहण) यदि क्षीण (कलाहीन या धनहीन) होने से तुमने यह (पाद-ग्रहण) किया है तो तुम तनिक भी लज्जित क्यों नहीं होते? तिस पर जो आकाश में गर्व पूर्वक उदित होते हो (विस्फूर्जसे) यह तुम्हारी जडधामता (शीतल या शिथिल तेजवाला होना) ही है' ॥४४४॥

प्रभा—यहाँ निर्धन और धनिक का वृत्तान्त वर्णनीय रूप में प्रस्तुत है, तत्तुल्य अप्रस्तुत चन्द्र तथा रवि का वर्णन किया गया है। यहाँ विशेष्यवाचक चन्द्र तथा रवि पद श्लिष्ट नहीं; केवल श्लिष्ट विशेषणों द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति हो जाया करती है; अतः समासोक्तिहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अनुवाद—(५ ग. सादृश्यहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा) 'इस दुष्ट सागर ने सब ओर से सरिताओं के मुख से जल ग्रहण करके क्या किया (अर्जितं सम्पादितम्)?

सारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥४४५॥

इयं च क्वचिद् वाच्ये प्रतीयमानार्थाऽनध्यारोपेणैव भवति, यथा—

अब्धेरम्भः स्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः
पोतोपाया इह हि बहवो लङ्घनेऽपि क्षमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥४४६॥

क्वचिदध्यारोपेणैव यथा—

कस्त्वं भो: ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥४४७॥

(केवल) उसे खारा कर दिया, वडवानल में होम दिया और पाताल की उदरगुहा में फेंक दिया' ॥४४५॥

प्रभा—यहाँ दूसरों का धन खसोट कर असत्कार्य में व्यय करने वाला व्यक्ति वर्णनीय रूप में प्रस्तुत है, तत्तुल्य अप्रस्तुत सागर का वर्णन किया गया है। इसके द्वारा श्लेष के अभाव में ही केवल सादृश्य से उस असत्पुरुष की प्रतिति हो जाती है; अतः सादृश्यमात्रहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अनुवाद—और यह (तुल्य के प्रस्तुत रहने पर तत्तुल्य अप्रस्तुत-वर्णना) (i) कहीं तो वाच्य (अप्रस्तुत) अर्थ में प्रतीयमान (प्रस्तुत) अर्थ का अध्यारोप (अन्य वस्तु में अन्य की प्रतीति–Imposition) किये बिना ही हो जाती है, जैसे—

'इस संसार में जलयान रखने वाले अनेक (समुद्र-व्यापारी) उस सागर को, जिसने निज जल से संसार के विस्तार (आभोग) और पाताल के गर्त को आच्छादित (स्थगित) कर रक्खा है, लाँघने में भी समर्थ हैं। यदि दैवयोग से यह सागर किसी प्रकार जल-शून्य हो जाय, तब तो इसके गर्तों (अवट) और छिद्रों (कुहर) को देखने में भी कौन समर्थ (कल्पः) होगा ?' ॥४४६॥

प्रभा—यहाँ 'अत्याचारी प्रभु सम्पत्ति में सुख सेव्य है विपत्ति में नहीं, यह प्रभुवृत्तान्त प्रस्तुत अर्थ है। अप्रस्तुत सागर के द्वारा सादृश्यमात्र से इसकी प्रतीति हो रही है। यहाँ कही बातें (वाच्य) सागर में भी घटित होती हैं इसलिए यहाँ वाच्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ का आरोप करने की आवश्यकता नहीं।

अनुवाद—(ii) कहीं (वाच्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ का) अध्यारोप करके ही अप्रस्तुतप्रशंसा होती है; जैसे—[वृक्ष के प्रति पथिक के प्रश्न तथा वृक्ष के उत्तर में] 'अरे, तुम कौन हो ? कहता हूँ—'मुझे भाग्य का मारा शाखोटक (सेहुण्ड) वृक्ष जानो। तुम तो वैराग्य-युक्त से बोल रहे हो। हाँ, आपने ठीक (साधु) जान

क्वचिदंशेऽध्यारोपेण; यथा—

> सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
> दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा ।
> सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे, यद्वारणोऽद्याप्यसौ ।
> अन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः, क एष ग्रहः ॥४४८॥

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं च भ्रमरस्यासेवने न हेतुः । कर्णचापलं तु हेतुः, मदः प्रत्युत सेवने निमित्तम् ।

लिया । किन्तु यह (वैराग्य) किस कारण से है ? कहा जाता है (कथ्यते)—यहाँ (मार्ग के) वाम भाग में (वाम ग्राचरण से युक्त) जो वट वृक्ष है, पथिक जन उसका सब प्रकार (छाया, ग्रारोहण ग्रादि) से (ग्रादरपूर्वक) ग्राश्रय लेते हैं; किन्तु मार्ग में स्थित होते हुए भी मेरी छाया भी परोपकार में समर्थ नहीं होती' ॥४४७॥

प्रभा—यहाँ पर ऐसा दानाभिलाषी वर्णनीय रूप में प्रस्तुत है जिसका दिया दान किसी सत्पात्र ने इसलिये स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसे नीच समझा जाता है । ग्रप्रस्तुत शाखोटक वृक्ष वाच्य है । ग्रचेतन होने के कारण उसके साथ उक्ति-प्रत्युक्ति सम्भव नहीं; ग्रतएव वाच्यार्थ में प्रतीयमान ग्रधमजातीय व्यक्ति ग्रादि का ग्रध्यारोप ग्रावश्यक है ।

ग्रनुवाद—(iii) कहीं (वाच्यार्थ में प्रतीयमान ग्रर्थ का) कुछ ग्रंशों में ग्रध्यारोप करके यह (ग्रप्रस्तुतप्रशंसा) होती है; जैसे—[भल्लटशतक में भ्रमर के प्रति उक्ति]—'हे भ्रमर, जिस हाथी की जिह्वा उल्टे ढङ्ग (ग्रग्निशाप से हाथियों का जिह्वा-विपर्यास पुराण-प्रसिद्ध है) की है (प्रस्तुत में–जो परस्पर विपरीत बात कहता है), कानों में चञ्चलता है (दूसरे के कहने से छला जाता है), जिसकी वह दृष्टि है जो मद से ग्रपने तथा पराये मार्ग को भुलाने वाली है (गर्व के कारण भले बुरे का विवेक नहीं करती) । ग्रथवा ग्रधिक कहने से क्या ? यह सब तुम भूल गये हो । हे भ्रातः, जो भीतर से शून्य (खोखले) सूंड वाले (या-धनशून्य हाथ वाले) इस हाथी (या सेवक निवारक स्वामी) की ग्राज भी सेवा करते हो, यह तुम्हारा क्या ग्राग्रह है ?' ॥४४८॥

यहाँ पर रसना—विपर्यय तथा शून्यकरत्व भ्रमर के सेवा न करने का हेतु नहीं है (इसलिए इस ग्रंश में भ्रमर में प्रतीयमान पुरुष का ग्रारोप करना ग्रावश्यक है) । कर्ण-चञ्चलता तो भ्रमर के ग्रसेवन का हेतु है (इसलिए इस ग्रंश में ग्रध्यारोप ग्रावश्यक नहीं) । मद तो उल्टा (भ्रमर की) गज-सेवा का निमित्त है (इसलिए इस ग्रंश में प्रतीयमान पुरुष का ग्रध्यारोप ग्रावश्यक है) ।

प्रभा—यहाँ पर निरादर करने वाला स्वामी तथा ग्रनुसरण करने वाले सेवक का वृत्तान्त प्रस्तुत है, तत्तुल्य ग्रप्रस्तुत गज ग्रौर भ्रमर के वर्णन द्वारा स्मेव

(१५३) निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥१००॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा

१. उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका, यथा—
कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥४४६॥

से प्रस्तुत का आक्षेप किया जा रहा है; अतः अप्रस्तुतप्रशंसा है। यह अप्रस्तुतप्रशंसा कुछ अंश (कर्णोत्पल) में बिना अध्यारोप के तथा अन्यत्र (रसनाविपर्यास शून्यकरत्व और मद के स्थल में) वाच्यार्थ में प्रतीयमान (सेव्य-सेवक) के अध्यारोप से होती है।

अनुवाद—(१२ अतिशयोक्ति) (१) जहाँ—'पर' अर्थात् उपमान के द्वारा 'प्रकृत' अर्थात् उपमेय का निगरण (पृथक् अनिर्देश) करके उसके साथ कल्पित अभेद का निश्चय (अध्यवसान) (२) वर्णनीय का अन्य रूप से वर्णन (३) 'यदि' अर्थ वाले शब्दों का कथन करके (असम्भव अर्थ की) कल्पना और (४) कार्य तथा कारण के पूर्व-अपर-भाव का विपरीत होना—वर्णित किया जाता है; वह अतिशयोक्ति जाननी चाहिये। (१५३)

प्रभा—(१) अतिशयोक्ति का अर्थ है—'अतिशयिता प्रसिद्धिम् अतिक्रान्ता लोकातीता उक्तिः'। उपर्युक्त चारों प्रकार के वर्णन में लोकोत्तरता होती है अतएव ये चारों अतिशयोक्ति नाम से कहे जाते हैं। (२) अतिशयोक्ति भी रूपक के समान सादृश्य पर आश्रित है तथा इसमें भी गौणी लक्षणा कार्य करती है तथापि रूपक और अतिशयोक्ति में स्पष्ट अन्तर है (द्र०, रूपक, टि०)। (३) विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति के ५ भेद माने हैं। उनका मम्मट के चार भेदों से इस प्रकार समन्वय हो सकता है—

निगीर्याध्यवसानरूपा = भेदेऽभेदः ।
प्रस्तुतान्यत्वरूपा = अभेदे भेदः ।
यद्यर्थोक्तौ कल्पना = असम्बन्धे सम्बन्धः, सम्बन्धे असम्बन्धः
कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपा = उभयनिष्ठा

इन चारों के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं।

अनुवाद—(१) उपमान के द्वारा अपने भीतर निगल लिये गये (स्वरूप से अनुपस्थित) उपमेय का जो तादात्म्य निश्चय करना है वह प्रथमा अतिशयोक्ति है। जैसे—[प्रेयसी को देखकर उसकी सखी के प्रति नायक की उक्ति]—'जलरहित प्रदेश में कमल (कान्ता मुख) है कमल में दो नीलोत्पल (नेत्रद्वय) हैं, वे कमल तथा

अत्र मुखादि कमलादिरूपतयाऽध्यवसितम् ।

२. यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते साऽपरा । यथा—

अण्णं लडहत्तणअं अण्णा विअ का वि वत्तणच्छाआ ।
सामा सामण्णपआवइणो रेह च्चिअ ण होई ॥४५०॥
(अन्यदेव सौकुमार्यमन्यैव च काऽपि वर्तनच्छाया ।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ॥)

३. यद्यर्थस्य यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया । यथा—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥४५१॥

दो कुवलय) सुवर्णलता (कान्ता शरीर) में हैं और वह कनकलता कोमल और सुन्दर है । यह क्या अद्भुतमाला (उत्पातपरम्परा) है ? ॥४४६॥

यहाँ पर (प्रकृत कामिनी के) मुख आदि कमल आदि के रूप में निश्चित किये गये हैं ।

प्रभा—यह निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति (भेदेऽपि अभेदः) का उदाहरण है । वस्तुतः मुख आदि उपमेय कमल आदि उपमान से भिन्न है तथापि उनका कमल आदि के द्वारा निगरण किया गया है तथा दोनों में अभेद का निश्चय किया गया है । इससे मुख आदि का अतिशय प्रकट होता है ।

(२) द्वितीय अतिशयोक्ति वह है जहाँ उस (वर्णनीय वस्तु) को ही अन्य रूप से वर्णित किया जाता है । जैसे—[नायक के प्रति नायिका की सखी कहती है]—'उसकी सुकुमारता कुछ और (अनूठी) ही है, उसके शरीर की कान्ति (वर्तनच्छाया) कोई अनिर्वचनीय है, वह श्यामा (षोडशी) नायिका सामान्य विधाता की सृष्टि (रेखा=निर्मिति) ही नहीं है' ॥४५०॥

प्रभा—यद्यपि लोकप्रसिद्ध सौकुमार्य आदि ही उस नायिका में है तथापि भिन्नता दिखलाई गई है । इस प्रकार 'अन्यदेव सौकुमार्यम्' इत्यादि कथन द्वारा प्रस्तुत नायिका के सौन्दर्य में अन्य नायिका के सौन्दर्य से विलक्षणता (अतिशयता) प्रतीत होती है तथा यहाँ अन्यत्ववर्णना (अभेद में भेद का अध्यवसान) रूप अतिशयोक्ति (भेदकातिशयोक्ति) है । प्रथमा अतिशयोक्ति में तो भेद में अभेद का अध्यवसाय किया गया था ।

अनुवाद—(३) तृतीय अतिशयोक्ति वह है जहाँ उक्ति में यद्यर्थक अर्थात् 'यदि' या 'चेत्' शब्द के द्वारा असम्भव अर्थ की कल्पना की जाती है; जैसे—

'यदि पूर्णिमा में सुधाकर की आकृति (वपुः=शरीरम्) कलङ्करहित हो, तब तब उस (नायिका) का मुख 'समतारूप तिरस्कार को प्राप्त करे' (निरुपम वस्तु का उपमान मिल जाना ही तिरस्कार है)' ॥४५१॥

४. कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी । यथा—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ, लोचनविषयं त्वया भजता ॥४५२॥

(१५४) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१०१॥

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा । यथा—

प्रभा—'राकायम्' इत्यादि में 'चेत्' शब्द के द्वारा चन्द्रमा के साथ मुख के साम्य की कल्पना की गई है; वस्तुतः साम्य नहीं है । इससे मुख की अतिशयता प्रतीत होती है, अतएव यहाँ 'यद्यर्थातिशयोक्ति' है । उद्योतकर का विचार है कि यहाँ पूर्वार्ध में जो चन्द्रमा में कलङ्क न होने की कल्पना है वह (कलङ्काभाव के) असम्बन्ध में सम्बन्धकल्पना है तथा उत्तरार्ध में मुख और चन्द्र-बिम्ब में साम्य-सम्बन्ध होने पर भी 'पराभव' पद द्वारा उसके असम्बन्ध की कल्पना है । इस प्रकार काव्यप्रकाशकार ने 'यद्यर्थोक्तौ' इत्यादि के द्वारा सम्बन्धातिशयोक्ति तथा असम्बन्धातिशयोक्ति इन दो अतिशयोक्ति के भेदों की ओर संकेत किया है ।

अनुवाद—(४) चतुर्थी अतिशयोक्ति वह है जहाँ कारण में शीघ्र कार्य करने की शक्ति बतलाने के लिए कार्य के (कारण से) पूर्व होने का कथन किया जाता है, जैसे—'हे कामिनीकान्त, पुष्प के धनुष-बाण वाले उस कामदेव ने मालती (नामक नायिका) के हृदय पर पहिले अधिकार कर लिया (आक्रान्तम्); दृष्टिगोचर होते हुए तुम तो उसके पश्चात् वहाँ (हृदय में) स्थित हुए' ॥४५२॥

प्रभा—इस चतुर्थी अतिशयोक्ति में कारण और कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय दिखलाया जाता है । यह विपर्यय दो प्रकार का है—एक तो कार्य को कारण से पूर्व दिखलाना और दूसरा दोनों को साथ-साथ (सहभाव) दिखलाना । 'हृदयम्' इत्यादि इनमें से प्रथम का उदाहरण है । यह दामोदरकृत 'कुट्टनीमत' नामक काव्य का (९६) पद्य है । यहाँ 'प्रिय का हृदय में बसना' कारण है तथा 'काम का आविर्भाव' कार्य है । कारण में शीघ्रकारिता प्रकट करने के लिये 'कार्य' का पहले वर्णन किया गया है । कार्य कारण के सहभाव-वर्णन का उदाहरण यह है—

समकमेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना । तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीभृताम् ॥

अनुवाद—(१३) प्रतिवस्तूपमा (अलङ्कार) वह है, जहाँ (उपमान तथा उपमेय रूप) दो वाक्यों में एक ही साधारण धर्म का दो बार ग्रहण (स्थितिः= उपादानम्) किया जाता है । (१५४)

अर्थात् जहाँ उपमेयवाक्य में तथा उपमानवाक्य में (एक ही) साधारण धर्म

१. देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥४५३॥

२. यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किन्ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥४५४॥

इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या । एवमन्यत्राप्यनुसर्त्तव्यम् ॥

का कथितपदता (पुनरुक्ति) के दोष होने के कारण भिन्न-भिन्न शब्दों से (अनेक बार) ग्रहण किया जाता है; वह प्रतिवस्तूपमा (अलङ्कार) है; क्योंकि उसमें वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ उपमान रूप (तथा उपमेय) होता है। जैसे—[राजा के प्रति राजमहिषी की सखी की उक्ति]—

(१ अमालारूपा) हे महाराज, देवी (राजमहिषी) के पद को प्राप्त कर लेने वाली यह (देवी) सामान्य स्त्री (परिवार) के पद को कैसे ग्रहण करे ? जो रत्न देवता के रूप में अङ्कित कर दिया जाता है (अर्थात् देव-प्रतिमा रूप हो जाता है) भला वह (भूषणादि के रूप में) ग्रहण-योग्य कहाँ होता है' ॥४५३॥

(२ मालारूपा)—'यदि दहति' (ऊपर उदाहरण २७२) ॥४५४॥

इत्यादि में मालाप्रतिवस्तूपमा जाननी चाहिए। इसी प्रकार अन्य (वैधर्म्य) स्थलों में (प्रतिवस्तूपमा का) उदाहरण खोज लेना चाहिए।

प्रभा—(१) 'प्रतिवस्तूपमा' शब्द की व्युत्पत्ति है—प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा साधारणधर्मोऽस्याम्' अर्थात् जहाँ एक ही साधारण धर्म का उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्य में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा (अनेक बार) कथन किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा के विशेष अङ्ग हैं—(i)उपमान तथा उपमेय दोनों वाक्य रूप में में होते हैं, (ii)एक ही साधारण धर्म का प्रत्येक वाक्य में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाता है, (iii) साम्य प्रतीयमान होता है, वाच्य नहीं।

(२) प्रतिवस्तूपमा का अन्य अलङ्कारों से सम्बन्ध—

उपमा तथा प्रतिवस्तूपमा—(समानता) दोनों सादृश्य पर आश्रित हैं तथा दोनों मे उपमान तथा उपमेय का साम्य दिखलाया जाता है। (भेद) (i) उपमा में प्रायः एक वाक्य होता है, प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य होते हैं। (ii) यदि कहीं (वाक्यार्थोपमा) उपमा में दो वाक्य होते हैं तो वे दोनों परस्पर सापेक्ष होते हैं, किन्तु प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष होते हैं, (iii) उपमा में साधर्म्य साक्षात् रूप से या अर्थतः यथा, इव आदि उपमावाचक शब्दों द्वारा कहा जाता है, किन्तु प्रतिवस्तूपमा में वह गम्य (प्रतीयमान) होता है, (iv) उपमा में साधारण धर्म प्रायः एक बार कहा जाता है, किन्तु प्रतिवस्तूपमा में वह भिन्न-भिन्न शब्दों से अनेक बार कहा जाता है, (v) उपमा में पदार्थों का साम्य होता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा में वाक्यार्थों का।

(१५५) दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥१०२॥

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।

१. त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥४५५॥

प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना—(समानता) दोनों सादृश्य पर आश्रित हैं तथा दोनों में प्रायः दो-दो वाक्य होते हैं। (भेद) (i) प्रतिवस्तूपमा मे दोनों वाक्य अपने अर्थ में पूर्ण होते हैं तथा परस्पर निरपेक्ष, किन्तु निदर्शना में दोनों सापेक्ष होते हैं और जब तक दोनों के साम्य का बोध नही हो जाता वाक्यार्थ उपपन्न नहीं होता, (ii) प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म का प्रत्येक वाक्य मे भिन्न-भिन्न शब्द द्वारा कथन किया जाता है (वस्तु-प्रतिवस्तुभाव), किन्तु निदर्शना में साधारण धर्म का कथन नहीं किया जाता।

इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा का दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास से भी समानता एवं भेद होता है, जिसका यथास्थान निरूपण किया जायेगा।

(३) प्रतिवस्तूपमा साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार की होती है। इनमें से भी प्रत्येक (क) अमालारूपा तथा (ख) मालारूपा हुआ करती है। (क) 'देवीभावम्' इत्यादि साधर्म्य में अमालारूपा का उदाहरण है। यहाँ पूर्व वाक्य उपमेय है तथा उत्तर वाक्य उपमान है। 'अनौचित्य' रूप साधारण धर्म है; जिसे पूर्वार्ध में 'कथं भजतु' तथा उत्तरार्ध में 'न खलु' शब्दों द्वारा कहा गया है। (ख) 'यदि दहति' इत्यादि साधर्म्य में मालारूपा का उदाहरण है। यहाँ 'प्रकृतिरेव सतामविषादिता' यह उपमेयवाक्य है। अन्य तीन उपमानवाक्य हैं। 'आश्चर्यजनक न होना' (विस्मयाजनकत्वम्) साधारण धर्म है, जिसका चारों वाक्यों मे—'किमद्भुतम्' 'किं ततः', 'सदैव' और 'प्रकृतिरेव' इन भिन्न-भिन्न शब्दों से ग्रहण किया गया है।

अनुवाद—(१४) दृष्टान्त (अलङ्कार) वह है जहाँ (वाक्यद्वय में—'वाक्यद्वये' इत्यनुवर्तते) इन सब (साधारण धर्म आदि) का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। (१५५)

अर्थात् जहाँ (दार्ष्टान्तिक वाक्यार्थ के) इन साधारण धर्म (उपमेय तथा उपमान) आदि का (दृष्टान्त वाक्यार्थ में) प्रामाण्य-निश्चय (अन्तः) गृहीत हो जाता है। (जैसे)—

(क) 'उस (नायिका) का कामदेव से संतप्त मन तुम्हारे दर्शन से ही शान्त हो जाता है (निर्वाति), कुमोदिनी का कुसुम शीतकर (चन्द्र) के दर्शन से ही विकसित होता है' ॥४५५॥

यह (उदाहरण) समान धर्म के सम्बन्ध से है। विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से तो (यह उदाहरण होगा)—

एष साधर्म्येण। वैधर्म्येण तु—

२. तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करे कृपाणान्तिकमानिनीषतः।
भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ॥४५६॥

(ख) '(हे राजन्) साहसिक कर्म में सुखी होने वाले आप के कृपाण की ओर हाथ ले जाने की इच्छा करते ही शत्रुओं के योद्धा छिन्न-भिन्न (विशरारुतां=विशीर्णताम्) हो गये (अगुः); निश्चय ही धूलिकरण वायु के अभाव में (अवाते) स्थिरता को धारण करते हैं' ॥४५६॥

प्रभा—(१) 'दृष्टान्त' का व्युत्पत्तिकृत अर्थ है—'दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र' अर्थात् जहाँ दृष्टान्त वाक्य के द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्य के अर्थ का निश्चय देखा जाता है, अथवा जहाँ साधारण धर्म आदि का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दो वाक्यार्थों का औपम्य प्रतीत होता है वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है। दृष्टान्त के विशेष अङ्ग हैं—(i) उपमान और उपमेय दोनों वाक्यरूप मे होते हैं। (ii) उपमान-वाक्य और उपमेय-वाक्य में उपमान, उपमेय और साधारण धर्म सभी का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है; अर्थात् वे पृथक्-पृथक् होते हैं किन्तु उनमें सादृश्य होता है। (iii) साम्य प्रतीयमान होता है। (२) दृष्टान्त का अन्य अलङ्कारों से सम्बन्ध—

दृष्टान्त और उपमा—उपमा और दृष्टान्त में प्रायः उसी प्रकार की समानता और असमानता है जैसी कि उपमा और प्रतिवस्तूपमा में है। केवल विशेषता यह (iv में) है – उपमा में साधारण धर्म एक होता है और प्रायः उसका एक बार कथन किया जाता है किन्तु दृष्टान्त में साधारण धर्म समान होते हुए भी वस्तुतः भिन्न २ होते हैं और उनका अनेक बार कथन किया जाता है।

दृष्टान्त और निदर्शना—(समानता) दोनों में उपमान तथा उपमेय रूप दो वाक्य होते हैं, उन्हीं का सादृश्य दिखलाया जाता है तथा यह सादृश्य बिम्बप्रतिबिम्ब भाव पर आश्रित होता है। (भेद) (i) दृष्टान्त में दोनो वाक्य स्वतः पूर्ण होते हैं तथा परस्पर निरपेक्ष; किन्तु निदर्शना मे दोनो वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं। (ii) दृष्टान्त में पहले दोनों वाक्यों का वाक्यार्थ बोध होता है फिर दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की प्रतीति होती है किन्तु निदर्शना मे जब दोनों वाक्यों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव जान लिया जाता है; तभी वाक्यार्थ का बोध होता है।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा—(समानता) दोनों में उपमान और उपमेय के दो निरपेक्ष वाक्य होते हैं, उनका सादृश्य गम्य (प्रतीयमान) होता है। (भेद) (i) प्रतिवस्तूपमा के दोनों वाक्यों में साधारण धर्म एक होता है, उसे भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है—यही वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहलाता है। दृष्टान्त के दोनों वाक्यों में साधारण धर्म समान होते हुए भी पृथक्-पृथक् होते हैं(एक नहीं)—इसी को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव कहा जाता है। कहा भी है—'एकस्यार्थस्य शब्दद्वयेनाभिधानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः। द्वयोरर्थयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः (प्रतापरुद्रयशोभूषण)।

(१५६) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१०३॥

प्राकरणिकाप्राकरणिकानामर्थादुपमानोपमेयानां धर्मः क्रियादिः एकवारमेव यदुपादीयते तत् एकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद्दीपकम्, यथा—

किवणाणं घणं णाआणं फणमणी केसराइ' सीहाण ।
कुलबालिआणं त्थणआ कुतो छिप्पन्ति अमुआणम् ॥४५७॥
(कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम् ।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥)

(ii) प्रतिवस्तूपमा में पाठक का ध्यान भिन्न शब्दों में अभिहित किन्तु अभिन्न साधारण धर्म की ओर रहता है उसी में इस अलङ्कार का चमत्कार निहित है, किन्तु दृष्टान्त में केवल भिन्न-भिन्न साधारणधर्मों के विम्बप्रतिविम्ब भाव पर ही चमत्कार निर्भर नहीं है, अपितु उपमान, उपमेय और साधारण धर्मों के विम्ब-प्रतिविम्ब भाव पर। 'एतेषां सर्वेषां प्रतिविम्बनम्' इस कथन द्वारा ग्रन्थकार ने दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमा के अन्तर को स्पष्ट किया है।

(३) दृष्टान्त अलङ्कार भी साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है। (क) 'त्वयि' इत्यादि समानधर्म के सम्बन्ध (साधर्म्य) से होने वाले दृष्टान्त का उदाहरण है। यहाँ पूर्व वाक्य उपमेय वाक्य है तथा उत्तर वाक्य उपमान वाक्य है। नृप और चन्द्रमा, नायिका और कुमुदनी, मन और कुसुम, मनोभवज्वलित और सूर्यकिरणज्वलित तथा निर्वाण और विकास में विम्बप्रतिविम्बभाव है। (ख) 'तवाहवे' इत्यादि वैधर्म्य से होने वाले दृष्टान्त का उदाहरण है। यहाँ 'वाते तु पांसवः स्थिरतां न दधति' इस प्रकार वैधर्म्य के विपर्यय से साधर्म्य की प्रतीति होती है। यहाँ पांसु और भट का तथा पलायन और अस्थिरता का विम्बप्रतिविम्बभाव है।

अनुवाद—(१५) दीपक अलङ्कार वह है, जहाँ (क) उपमेय (प्रकृत) और उपमान (अप्रकृत) रूप वस्तुओं के (क्रियादिरूप) धर्म का एक बार ग्रहण (सकृद् वृत्ति) किया जाता है, या (ख) बहुत सी क्रियाओं के होने पर किसी कारक का एक बार ग्रहण (सैव=सकृद्वृत्तिरेव) किया जाता है। (१५६)

(क) जो प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थात् उपमेय और उपमान के क्रिया (गुण) आदि धर्म का एक बार ही उपादान (ग्रहण) किया जाता है वह एक (प्रस्तुत) में स्थित (धर्म) के द्वारा समस्त वाक्य को प्रकाशित करने के कारण दीपक अलङ्कार होता है। जैसे—कृपणों का धन, सर्पों के फण की मणि, सिंहों के केसर और कुलीन बालाओं के स्तन उनके जीवित रहते (अमृतानाम्=बिना मरे) कैसे छुए जा सकते हैं' ॥४५७॥

(ख) बहुत सी क्रियाओं के होने पर किसी कारक का एक बार ग्रहण रूप दीपक यह है; जैसे—'नवपरिणीता वधू पति की सेज पर स्वेदयुक्त हो जाती है,

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम् । यथा—

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥४५८॥

(१५७) मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्तरमुत्तरं चेदुपक्रियते तन्मालादीपकम्, यथा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।

संकोच करती है (कूणति-कूण संकोचने), हट जाती है, करवट बदलती है, नेत्र मूंद लेती है, तिरछी दृष्टि से देखती है, मन ही मन प्रसन्न होती है तथा (पति-मुख) चुम्बन की इच्छा करती है' ॥४५८॥

प्रभा—दीपक का व्युत्पत्तिकृत अर्थ है—'दीप इव दीपकं' जिस प्रकार द्वार की देहली पर रक्खा हुआ एक ही दीपक घर और बाहर दोनों जगह उजाला करता है इसी प्रकार जहाँ एकत्र स्थित कोई साधारण धर्म समस्त वाक्य का उपकारक (उत्कर्षक)होता है वहाँ दीपक अलङ्कार है यहाँ भी प्रतिवस्तूपमा आदि के समान साम्य (औपमय) प्रतीयमान होता है । यह दो प्रकार का होता है—(क) क्रियादीपक, (ख) कारकदीपक । प्रथम दीपक भी दो प्रकार का है—(१) क्रियादीपक तथा (२) गुणदीपक । (क) 'कृपणानाम्' इत्यादि क्रियादीपक का उदाहरण है । यहां 'कुलवधूस्तन' वर्णनीय रूप में प्रस्तुत है, 'कृपणधन' इत्यादि अप्रस्तुत हैं । स्पर्शन क्रिया रूप साधारण धर्म है । इसका एक बार ही ग्रहण किया गया है, किन्तु समस्त वाक्य में अन्वय होता है । गुणदीपक का उदाहरण यह है—

श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपंक्तिभिः । भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः ॥

यहाँ 'श्यामलत्व' साधारण धर्म एक बार गृहीत है इसका दिशः '(प्रकृत) और 'भुवः (अप्रकृत) दोनों में अन्वय होता है । (ख) 'स्विद्यति' इत्यादि कारक दीपक का उदाहरण है । यहाँ पर अनेक क्रियाओं में अन्वित एक ही 'वधू' इस कर्त्ता कारक का या 'शयन' इस अधिकरण कारक का ग्रहण किया गया है । यहाँ समस्त क्रियाएँ प्रकृत ही हैं कहीं समस्त क्रियाएं अप्रकृत होती हैं तथा कहीं कुछ क्रियाएं प्रकृत और कुछ अप्रकृत भी होती हैं । फलतः 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' यह पद क्रिया दीपक पर ही लागू होता है, अर्थात् क्रिया दीपक में ही प्रकृत तथा अप्रकृत दो भिन्न प्रकार के पदार्थों के साथ एक धर्म का सम्बन्ध हुआ करता है, कारक दीपक में यह नियम नहीं है । इसके अतिरिक्त दीपक अलङ्कार मालारूप भी होता है—

अनुवाद—मालादीपक वह होता है जहाँ आद्य अर्थात् पूर्व पूर्व वस्तु उत्तरोत्तर वर्णनीय वस्तु में उत्कर्षाधायक होती है । (१५७)

अर्थात् यदि पूर्व पूर्व (वर्णित) वस्तु के द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार

कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥४५६॥

(१५८) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥१०४॥

नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा। क्रमेणोदाहरणम्—

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि, हृदन्तः ॥४६०॥

कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का।
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥४६१॥

किया जाता है, तो मालादीपक अलङ्कार होता है। जैसे—'संग्रामाङ्गणम्' इत्यादि (ऊपर उदाहरण २२६) ॥४५६॥

प्रभा—'संग्राम' इत्यादि में कोदण्ड के द्वारा 'शर' शत्रु-शिर तक पहुंचाए जाते है अतः शर में उत्कर्षाधान किया जाता है। 'शर के द्वारा 'अरि-शिर' में उत्कर्षाधान किया जाता है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु द्वारा पर-पर का उपकार किया जाता है और अन्त में सभी वर्णनीयरूप से प्रस्तुत 'कीर्ति' के उत्कर्षाधायक होते हैं। यहाँ एक 'आसादन' क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध है, अतएव मालादीपक है।

अनुवाद—(१६) तुल्ययोगिता (अलङ्कार) तो वह है जहाँ (केवल) प्रकृत अथवा अप्रकृत वस्तुओं के (नियतानाम्) साधारण धर्म का एक बार ही ग्रहण किया जाता है। (१५८)

(कारिका में) 'नियतानाम्' अर्थात् क-(केवल) प्राकरणिक (वस्तुओं) का अथवा ख-(केवल) अप्राकरणिक (वस्तुओं) का। क्रमशः उदाहरण ये हैं—क—"पाण्डु क्षामम्" इत्यादि (ऊपर उदाहरण ३३२) ॥४६०॥

ख—[नायिका के प्रति नायक की उक्ति] 'हे प्रिये मनोहर विलास से युक्त तुम्हारे नेत्रों के सामने कुमुद, (लाल) कमल तथा नीलकमलों की पंक्ति क्या है? और तुम्हारे मुख के सामने अमृत, सुधाकर और अम्बुज एक साथ ही पराजित हो गये हैं' ॥४६१॥

प्रभा—(१) 'तुल्ययोगिता' अन्वर्थ संज्ञा है। तुल्ययोग का अर्थ है—तुल्यों का एक (धर्म) से अन्वय होना। अतः जहाँ केवल प्रस्तुतों या केवल अप्रस्तुतों का ही एक बार वर्णित एक साधारण धर्म से अन्वय होने के कारण साम्य की प्रतीति होती है, वह तुल्ययोगिता अलङ्कार है। इसमें—(i) केवल प्रस्तुतों का ही या केवल अप्रस्तुतों का ही साम्य जाना जाता है, (ii) साधारण धर्म एक होता है उसका केवल एक बार ही ग्रहण किया जाता है।

(२) तुल्ययोगिता, दीपक और उपमा—यद्यपि 'कमलम् इव मनोज्ञं मुखम्'

(१५६) उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।
अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि, यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥४६२॥

इस उपमा में दीपक के समान मनोज्ञता रूप साधारण धर्म का प्रकृत (मुख) और अप्रकृत (कमल) दोनों के साथ अन्वय है तथा 'जगाल मानो हृदयादमुष्या विलोचनाभ्यामिव वारिधारा' इस उपमा में तुल्ययोगिता के समान 'गलन' रूप साधारण धर्म का 'मानः' और वारिधारा, दो प्रस्तुत पदार्थों के साथ अन्वय है, तथापि भेद यह है—(i) उपमा का चमत्कार साम्य में निहित रहता है किन्तु दीपक और तुल्ययोगिता में अनेक पदार्थों का साधारण धर्म के साथ सम्बन्ध ही चमत्कारजनक होता है। (ii) उपमा में साम्य इव आदि शब्द द्वारा वाच्य होता है, किन्तु दीपक और तुल्ययोगिता में कभी भी 'इव' आदि का प्रयोग नहीं होता और साम्य प्रतीयमान (गम्य) होता है।

तुल्ययोगिता और दीपक—(समानता) तुल्ययोगिता की दीपक से यह समानता है कि दोनों मे ही एक वार वर्णित एक धर्म के साथ अनेक पदार्थों का अन्वय होता है तथा साम्य प्रतीयमान होता है। (भेद) (i) तुल्ययोगिता में एक धर्म का केवल प्रस्तुत पदार्थों से सम्बन्ध दिखलाया जाता है; किन्तु दीपक में तो एक धर्म का प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों पदार्थों से एक साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है। (ii) दीपक में प्रकृत पदार्थ उपमेय होते हैं और अप्रकृत पदार्थ उममान होते हैं किन्तु तुल्योगिता में सभी पदार्थ केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत होते हैं अतः यहाँ उपमान-उपमेयभाव का विमर्श होना अनिवार्य नहीं।

(३) यह दो प्रकार की है— (क) प्रकृतों का एक धर्म से सम्बन्ध, (ख) अप्रकृतों का एक धर्म से सम्बन्ध। (क) 'पाण्डुक्षामम्' इत्यादि में पाण्डुता, आदि विरह के अनुभाव हैं, ये सभी वर्णनीय रूप से प्रस्तुत हैं। यहाँ 'आवेदन क्रिया रूप' साधारण धर्म का एक वार ही ग्रहण किया गया है। (ख) 'कुमुद' इत्यादि के पूर्वार्द्ध में 'कामिनीनयन' प्रस्तुत है, कुमुद आदि उसके उपमान रूप मे हैं तथा अप्रस्तुत हैं। नायिका के नेत्र द्वारा इनका अधिक्षेप (तुच्छता) ही अप्रस्तुत वस्तुओं का साधारण धर्म है, जो एक ही 'का' पद द्वारा व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार उत्तरार्ध मे 'आनन' के उपमान रूप में प्रयुक्त (अप्रकृत) अमृत आदि के एक धर्म का 'प्रतिहतम्' शब्द से कथन किया गया है।

अनुवाद—(१७) व्यतिरेक वह अलङ्कार है जहाँ उपमान की अपेक्षा अन्य अर्थात् उपमेय का व्यतिरेक (गुणविशेष के द्वारा उत्कर्ष) वर्णित किया जाता है। (१५६)

(कारिका में) 'अन्यस्य' अर्थात् उपमेय का। 'व्यतिरेकः' अर्थात् आधिक्य। 'सत्य है, कि चन्द्रमा बार-बार क्षीण होकर भी पुनः पुनः बढ़ता है; किन्तु गया हुआ

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं, तदयुक्तमत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

तारुण्य लौटने वाला नहीं है इसलिये हे सुन्दरी, मान से बस करो (विरम), प्रसन्न हो जाओ ॥४६२॥ इत्यादि में उपमेय की अपेक्षा उपमान का आधिक्य वर्णित है (तथा व्यतिरेकालङ्कार है), यह किसी (आलङ्कारिक) ने कहा है, किन्तु यह कथन अयुक्त है; क्योंकि यहाँ पर (उपमेयरूप) यौवन की अस्थिरता का आधिक्य ही विवक्षित है ।

प्रभा—(१) व्यतिरेक शब्द का अर्थ है—विशेषेण अतिरेकः । भाव यह है—गुणविशेष के कारण कोई पदार्थ किसी का उपमान है, इसका अभिप्राय है कि वह उपमेय से उत्कृष्ट है । किन्तु जब कोई कवि उपमेय को उपमान से उत्कृष्ट दिखलाना चाहता है तब व्यतिरेक हो जाता है । प्रसिद्ध उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष दिखलाने में ही इस अलङ्कार का चमत्कार निहित है । (व्यतिरेक और प्रतीप के अन्तर के लिये द्रष्टव्य है—प्रतीप) ।

(२) उद्भट तथा रुद्रट आदि के मतानुसार उपमेय से उपमान का उत्कर्ष होने पर भी व्यतिरेक अलङ्कार होता है । उनके मतानुसार 'क्षीणः' इत्यादि में उपमेय रूप 'यौवन' की अपेक्षा चन्द्रमा (उपमान) का उत्कर्ष (क्षीणेऽपि पुनर्वृद्धिः) दिखलाया गया है तथा यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है । आचार्य मम्मट का आशय है कि यहाँ चन्द्रमा और यौवन का सादृश्य नहीं दिखलाया गया अपितु चन्द्रक्षय और यौवनक्षय का सादृश्य दिखलाया गया है । इनमें चन्द्रक्षय तो वृद्धि द्वारा पुनः पूर्ण हो जाता है; किन्तु यौवनक्षय पुनः पूर्ण नहीं हो सकता; यही यौवनक्षय का उत्कर्ष है । इससे यह वाक्यार्थ होता है—चन्द्रमा तो पुनः पूर्ण हो जाने के कारण सुलभ है; किन्तु गया यौवन फिर नहीं आता, अतः दुर्लभ है तथा आप जैसी विदग्धा रमणी को इसे व्यर्थ ही गँवाना उचित नहीं । इस प्रकार यहाँ यौवनक्षय रूप उपमेय का उपमान (चन्द्रक्षय) की अपेक्षा उत्कर्ष दिखलाया गया है और स्पष्ट ही व्यतिरेकालङ्कार है । अभिप्राय यह है कि उपमेय की अपेक्षा उपमान का उत्कर्ष दिखलाने में व्यतिरेक अलङ्कार नहीं होता ।

टिप्पणी—(i) उद्भट के अनुसार व्यतिरेक का स्वरूप यह है—

विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः ।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः ॥ (काव्या० २, ६)

आगे चलकर रुद्रट तथा रुय्यक ने भी उपमेय या उपमान के उत्कर्ष दोनों को ही व्यतिरेक माना । रुय्यक ने स्पष्ट ही यह कहा—'भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः' ।

(ii) कुछ टीकाकारों के मतानुसार यहाँ रुय्यक की मान्यता का खण्डन

(१६०) हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥१०५॥
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम्, उपमानगतमपकर्षकारणम्। तयोर्द्वयोरुक्तिः। एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम्। एतद्भेदचतुष्टयम्। उपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते, आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः। आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव। एवं द्वादश। एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः।

क्रमेणोदाहरणम्—

किया गया है; किन्तु रुय्यक की अपेक्षा मम्मट प्राचीन हैं, यही मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है (द्र०HSP–काणे)

अनुवाद—(व्यतिरेक-अलङ्कार के भेद) [हेत्वो. उक्तौ अनुक्तीनां त्रये च (चत्वारो भेदाः), शब्दार्थाभ्यां साम्ये निवेदिते अथ आक्षिप्ते (द्वादश), श्लिष्टे (शब्दे सति) तद्वत् (पुनः द्वादश); तत् (तस्मात्) त्रिःअष्ट (चतुर्विंशतिः) भेदाः इत्यन्वयः] व्यतिरेक के (१) दोनों हेतुओं का कथन होने पर (२–४) इनमें से एक या दोनों का अनुपादान होने पर—(चार भेद होते हैं); साधर्म्य के (i) शब्द द्वारा या (ii) अर्थ द्वारा उक्त होने पर तथा (iii) आक्षिप्त (आक्षेपलभ्य) होने पर (चारों में से प्रत्येक के तीन भेद होते हैं—(४ × ३ = १२); इनमें से प्रत्येक के श्लिष्ट (तथा अश्लिष्ट) शब्द में भी होने से २४ (त्रिःअष्ट) भेद होते हैं। (१६०)

व्यतिरेक का हेतु है—(क) उपमेयगत उत्कर्ष का निमित्त तथा (ख) उपमानगत अपकर्ष का निमित्त। (१) उन दोनों का कथन। उनमें से किसी एक (२) (उत्कर्षनिमित्त) या (३) (अपकर्ष निमित्त) का अथवा (४) दोनों का (एक साथ) कथन न करना—यह तीन प्रकार की अनुक्ति है। एक तो उपमान-उपमेय-भाव (साम्य) का (इव आदि) शब्द के द्वारा प्रतिपादन करने पर ये चार भेद होते हैं; पुनः ('तुल्य' आदि शब्द के द्वारा) अर्थ-सामर्थ्य से (साम्य के) प्रतिपादित होने पर क्रमशः उपर्युक्त चार भेद ही होते हैं। उसी प्रकार साम्य के व्यङ्ग्य होने पर (आक्षिप्त) भी उतने (चार) ही भेद होते हैं। इस प्रकार बारह भेद हो जाते हैं। ये श्लेष (तथा अश्लेष) में भी होते हैं, इसलिए चौबीस भेद हो जाते हैं।

प्रभा—संक्षेप में व्यतिरेक अलङ्कार के २४ भेद इस प्रकार हैं—
अश्लिष्ट-शब्द विषयक १२ भेद = (साम्य का १. शब्द द्वारा कथन, २. अर्थगम्य होना और ३. व्यङ्ग्य होना) × (१. दोनों निमित्तों की उक्ति, २. उपमेयोत्कर्ष के हेतु की अनुक्ति, ३. उपमानापकर्ष के हेतु की अनुक्ति, ४. दोनों की अनुक्ति)। इसी प्रकार श्लिष्ट शब्द विषयक १२ भेद होते हैं। इन्हें निम्न प्रकार चित्रित किया जा सकता है—

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे ।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः ॥४६३॥

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वाऽनुपादानेऽन्यत् भेदत्रयम् । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् । अत्रेवशब्दस्य सद्भावाच्छाब्दमौपम्यम् ।

व्यतिरेक
- अश्लेषनिबन्धनः
- श्लेषनिबन्धनः = २

शाब्दे साम्ये | आर्थे साम्ये | आक्षिप्ते साम्ये
२ × ३ = ६

हेतुद्वयोक्तौ | एकहेत्वनुक्तौ | अपरहेत्वनुक्तौ | हेतुद्वयानुक्तौ
६ × ४ = २४
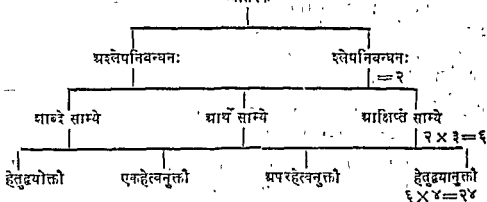
अनुवाद—(व्यतिरेक अलङ्कार के २४ भेदों के) क्रमशः उदाहरण—(अश्लिष्ट पद वाले) [१–४] 'अत्यन्त धैर्य वाले, खड्गमात्र साथ लिए हुए इस वीर को बहुत से शत्रुओं को पराजित करने पर भी अन्य तुच्छ जनों के समान गर्व नहीं होता' ॥६३॥

इसी उदाहरण में 'तुच्छ' तथा 'महाधृति' इन दोनों पदों का पर्याय से (एक एक का) कथन न होने पर अथवा एक साथ कथन न होने पर अन्य (अनुक्ति के) तीनों भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य अर्थात् आगे के उदाहरणों में भी समझना चाहिये। यहाँ पर 'इव' शब्द के विद्यमान होने से शाब्दी उपमा है।

प्रभा—(१) उपर्युक्त उदाहरण में किसी पद में श्लेष नहीं। यहाँ राजा उपमेय है, 'अन्यजन' उपमान है 'अरिपराभव' साधारणधर्म है। व्यतिरेक के हेतु-उपमेयगत उत्कर्ष का निमित्त (महाधैर्य) तथा उपमानगत अपकर्ष का निमित्त (तुच्छता) दोनों का ग्रहण किया गया है। 'इव' शब्द के प्रयोग से साधर्म्य शब्द-वाच्य है अतः यहाँ प्रथम (शब्दवाच्य साम्य में—दोनों हेतुओं की उक्ति) व्यतिरेक अलङ्कार है। साम्य के शब्द-वाच्य होने पर अनुक्तित्रय के उदाहरण इस प्रकार होंगे—

(२) उपमानगत अपकर्ष हेतु की अनुक्ति में—
'नूनमन्यजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः'।

(३) उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में—
'अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः'।

(४) दोनों हेतुओं की अनुक्ति में—
'नूनमन्यजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः'।

असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥४६४॥
अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।
इयं सुनयना दासीकृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥४६५॥
अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।
जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धिनिषेविणः ।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥४६६॥

अनुवाद—[५-८]-('असि' इत्यादि उदाहरण ४६३ के समान) ॥४६४॥

यहाँ पर ('अन्यतुच्छजनवत्' में) तुल्य-अर्थ में 'वति' प्रत्यय है (तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः) इसलिए यहाँ उपमा अर्थगम्य (आर्थी) है ।

प्रभा—(५) व्यतिरेक-अलङ्कार के इस उदाहरण में शब्द अश्लिष्ट हैं, दोनों हेतुओं का कथन किया गया है, किन्तु साम्य का बोध तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय से होता है अतएव साम्य अर्थ-लभ्य है । यहाँ 'जनस्येव' के स्थान पर 'जनवत्' हो गया है । साम्य के अर्थ-लभ्य होने पर अनुक्तित्रय के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(६) उपमानगत अपकर्षहेतु की अनुक्ति में—

'नूनं नैवान्यजनवत् सगर्वोऽयं महाधृतिः' ।

(७) उपमेयगत उत्कर्ष-हेतु की अनुक्ति में—

"नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः' ।

(८) दोनों की अनुक्ति में—'नूनं नैवान्यजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः' ।

अनुवाद—[९-१२] 'यह सुन्दर नेत्रों वाली (नायिका), जिसने कमल (तामरस) की शोभा को दासी बना लिया है ऐसे कलङ्करहित मुख से कलङ्कयुक्त चन्द्रमा को जीत रही है' ॥४६५॥

यहाँ पर 'इव' आदि तथा 'तुल्य' आदि शब्दों के न होने से उपमा आक्षेप-लभ्य (व्यङ्ग्य, प्रतीयमान) ही है ।

प्रभा— (९) व्यतिरेक के इस उदाहरण में 'आनन' उपमेय है, इन्दु उपमान है, अकलङ्क होना उपमेय के उत्कर्ष का हेतु है तथा सकलङ्क होना उपमान के अपकर्ष का हेतु है । यहाँ शब्द अश्लिष्ट हैं, दोनों हेतुओं का कथन किया गया है; किन्तु साम्य आक्षिप्त या व्यङ्ग्य है । समता के व्यङ्ग्य होने पर अनुक्तित्रय के उदाहरण इस प्रकार हैं—(१०) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति—'आननेनाकलङ्केन जयत्यमृतदीधितिम्' । (११) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति—'आननेन मनोज्ञेन जयतीन्दुं कलङ्किनम्' (१२) दोनों की अनुक्ति—'आननेन मनोज्ञेन जयत्यमृतदीधितिम्

अनुवाद—[श्लिष्टशब्दगत व्यतिरेक] (१३-१६) 'जितेन्द्रियता के कारण

अत्रेवार्थे वतिः गुणशब्दः श्लिष्टः शाब्दमौपम्यम् ।
अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ।।४६७।।
अत्र तुल्यार्थे वतिः कलाशब्दः श्लिष्टः ।

विद्वानों (अथवा विद्या और वृद्धों) की भली भाँति सेवा करने वाले तथा अत्यन्त दृढ़ (धैर्य आदि) गुण वाले इस राजा के गुण (धैर्य आदि) कमल के गुणों (तन्तुओं) के समान नश्वर नहीं हैं' ।।४६६।।

यहाँ पर 'इव' के अर्थ में ('तत्र तस्येव' इस पाणिनि सूत्र से) 'वति' प्रत्यय है, 'गुण' शब्द श्लिष्ट है तथा शाब्दी उपमा है ।

प्रभा - (१३) 'जितेन्द्रियतया' इत्यादि व्यतिरेक के श्लिष्ट शब्द वाले उदाहरणों में प्रथम है। इसमें अस्य (इसका) शब्द से निर्दिष्ट राजा उपमेय है, कमल (अब्ज) उपमान है, गाढता उपमेय के उत्कर्ष का निमित्त है, भङ्गुरता उपमान के अपकर्ष का हेतु है। यहाँ गुण शब्द के धैर्य आदि तथा तन्तु दो अर्थ हैं अतः यह श्लिष्ट है। इवार्थक वति प्रत्यय का प्रयोग होने से उपमा शाब्दी है तथा व्यतिरेक के दोनों हेतुओं का कथन किया गया है। अनुक्तित्रय के उदाहरण इस प्रकार हैं—(१४) उपमानगत उत्कर्ष की अनुक्ति—'अतिगाढगुणस्यास्य न तामरसवद्गुणाः' । (१५)उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति—'सत्कर्मनिरतस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः'।(१६)दोनों की अनुक्ति—'सत्कर्मनिरतस्यास्य न तामरसवद्गुणाः'।

अनुवाद—[१७-२०] 'देखो' अखण्डमण्डल (समृद्धराजमण्डल वाला, चन्द्रपक्ष में-पूर्ण-बिम्ब वाला) सम्पत्ति या शोभा से युक्त (श्रीमान्) यह राजा कभी भी (जातु) चन्द्रमा के समान (चित्रादि ६४ अथवा षोडश) कलाओं के नाश (वैकल्य) को नहीं प्राप्त हुआ' ।।४६७।।

यहाँ पर तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय है। 'कला' शब्द श्लिष्ट है।

प्रभा—(१७) 'अखण्ड' इत्यादि श्लिष्ट शब्द वाले व्यतिरेक का उदाहरण है। यहाँ कला शब्द की श्लिष्टता व्यतिरेक में सहायक है। पृथ्वीपति उपमेय है, निशाकर उपमान है। उत्कर्षहेतु (अखण्डमण्डलत्व) तथा अपकर्षहेतु (कलावैकल्य) दोनों का ग्रहण किया गया है। तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय के प्रयोग से यहाँ आर्थी उपमा है। अनुक्तित्रय के उदाहरण इस प्रकार हैं—(१८) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति—'अखण्डमण्डलो ह्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः। न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः' इत्यादि। इस पाठ में अखण्डमण्डल शब्द श्लिष्ट होगा। (१९) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति—बहुलादिगतोप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः' इत्यादि। इस पाठ में 'कला' शब्द श्लिष्ट होगा। (२०) दोनों की अनुक्ति—'बहुलादिगतोप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः। न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः'।। इस पाठ में 'बहुल' शब्द श्लिष्ट,(कृष्णपक्ष, विपुल) होगा।

मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि सम्भवति तस्यापि भेदा एवमूह्याः दिङ्मात्रमुदाह्रियते यथा—

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चातिदुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥४६८॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः ।

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वताऽनेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥४६६॥

अत्र ह्याक्षिप्तैवोपमा भास्वतेति श्लिष्टः । यथा वा—

अनुवाद – (मालाव्यतिरेक) मालारूप प्रतिवस्तूपमा के समान माला व्यतिरेक (अलङ्कार) भी हो सकता है । उसके भेद भी उक्त प्रकार से जानने चाहियें । दिग्दर्शन मात्र के लिए उदाहरण दिया जाता है । जैसे—

'हे महाराज (विभो), आप कभी भी शिव के समान विषमदृष्टि (असमदर्शी, शिवपक्ष में त्रिलोचन) नहीं हैं, न विष्णु (कृष्ण) के समान महान् (वितत) वृष (धर्म; कृष्णपक्ष में—वृषासुर) का विनाश करने वाले है, न सूर्य के समान अत्यन्त दुःसह कर (राजकर तथा किरणों) से भूमि को संतप्त करने वाले हैं' ॥४६८॥

यहाँ पर तुल्य-अर्थ में 'वति' प्रत्यय है तथा 'विषम' आदि शब्द श्लिष्ट हैं ।

प्रभा—'हरवत्' इत्यादि मे राजा उपमेय है, 'हर' आदि अनेक उपमान हैं । 'विषम' आदि शब्द शिलष्ट हैं । अपकर्षहेतु (विषमदृष्टित्व) का कथन किया गया है; किन्तु 'समदृष्टित्व' रूप उत्कर्षहेतु का कथन नहीं किया गया । तुल्यार्थक 'वति' (प्रत्यय) के प्रयोग से साम्य अर्थलभ्य है । एक ही उपमेय का अनेक उपमानों की अपेक्षा उत्कर्ष दिखलाया गया है । अतः यहाँ साम्य के अर्थगम्य होने पर शिलष्टपद वाला मालाव्यतिरेक अलङ्कार है ।

अनुवाद—[२१–२४] 'निरन्तर उदित पराक्रम (प्रकृष्टताप) वाले कान्तिवाले या सूर्यरूप (भास्वता) इस राजा ने रात्रि (त्रियामा) में जिसकी प्रभा नष्ट (मीलित) हो जाती है ऐसे इस सूर्य को जीत लिया है' ॥४६६॥

यहाँ पर उपमा आक्षेपलभ्य (व्यङ्ग्य) है, 'भास्वता' यह श्लिष्ट शब्द है ।

प्रभा—(२१) 'नित्य इत्यादि शिलष्ट शब्द वाले व्यतिरेक का उदाहरण है । यहाँ 'भास्वता' तथा 'प्रताप' शब्द शिलष्ट हैं । 'भूप' उपमेय है तथा सूर्य उपमान है । उपमेयगत उत्कर्षहेतु (नित्य–उदित–रहना) तथा उपमानगत अपकर्षहेतु (रात्रि में प्रभाहीन हो जाना) दोनों का ग्रहण किया गया है । साम्यबोधक 'इव' आदि शब्द यहाँ नहीं हैं; किन्तु 'विनिर्जित' शब्द से साम्य आक्षिप्त हो रहा है । पूर्ववत् अनुक्तित्रय मे उदाहरण इस प्रकार हैं—(२२) उपमानगत अपकर्षहेतु की अनुक्ति—नित्योदित प्रतापेन पङ्कजावलि-नन्दन । (२३) उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति—

स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं
बिम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम् ।
यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र
तृष्णां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥४७०॥

अत्रेवादीनां तुल्यादीनां च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेषणैराक्षिप्तैवोपमा प्रतीयते । एवञ्जातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्यस्य पदस्य पृथगुपादानेऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्ति । तेऽप्यनयैव दिशा द्रष्टव्याः ।

(१६१) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥१०६॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

'समरासक्तमनसा त्रियामामीलितप्रभः (२४) दोनों की अनुवृत्ति—'समरासक्तमनसा पङ्कजावलिनन्दन.' ।

अनुवाद—अथवा जैसे—'जिस वसन्त ऋतु की रात्रियों में अत्यन्त पीनेवाले तरुणों की पान-लालसा को उस मद्य ने तृप्त कर दिया, किन्तु कामिनियों के मुख ने तृप्त न किया, जिस (मद्य तथा मुख) में निर्मलता गुण के कारण चन्द्रबिम्ब प्रतिबिम्बित (समुल्लसित) हो रहा था, जो बिम्बप्रभाधर (बिम्बाफल की प्रभा को धारण करने वाला अथवा बिम्बाफल की प्रभायुक्त अधरों वाला) था, जिसमें स्वाभाविक मनोहर गन्ध थी' ॥४७०॥

यहाँ 'इव'-आदि तथा 'तुल्य' आदि शब्दों के न होने पर भी श्लिष्ट अर्थात् उभयान्वित ('स्वच्छात्म' इत्यादि) विशेषणों के द्वारा आक्षिप्त (व्यक्त) उपमा की प्रतीति होती है । इसी प्रकार श्लिष्ट कथन के योग्य पद का पृथक् रूप में (अर्थात् उपमान के विशेषण के रूप में या उपमेय के विशेषण के रूप में) प्रयोग करने पर इस प्रकार के अन्य भी (व्यतिरेक के) भेद हो सकते हैं । उन्हें भी इसी रीति से जानना चाहिये ।

प्रभा—(१) 'स्वच्छात्म' इत्यादि में श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा यह प्रतीति होती है कि हृद्य गन्ध आदि वाला होने से सुन्दरियों का मुख (उपमेय) मधु (उपमान) के सदृश है; किन्तु मधु से तृष्णा तृप्त हो गई, मुख से नहीं । इसके द्वारा (उपमेय) मुख का उत्कर्ष प्रकट होता है । यहाँ सबको सुलभ होना (सर्वलोकसम्पत्व) मधु के तृष्णाहरण रूप अपकर्ष का हेतु है और एकमात्र पुरुष को प्राप्त होना (पुरुषैकलभ्यत्व) अङ्गनामुख के तृष्णा-अहरण रूप उत्कर्ष का हेतु है । इन दोनों का कथन नहीं किया गया, अतः श्लिष्ट पद वाले उस व्यतिरेक का उदाहरण है जहाँ साम्य आक्षिप्त है तथा दोनों निमित्तों की अनुक्ति है ।

(२) सप्तम उल्लास के 'अमृतममृतं कः सन्देहः' इत्यादि उदाहरण (२१५) में उपमान 'अमृत' आदि में तथा उपमेय 'अधर' में मधुरत्व, आदि (विशेषण) का पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है ।

अनुवाद—(१८) आक्षेप अलङ्कार यह है जो (जहाँ) विशेष (वक्ष्यमाण विषय में कथन की अशक्यता या अतिप्रसिद्धि) के कथन की इच्छा से वक्ष्यमाण

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्य अशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः । क्रमेणोदाहरणम्—

१. ए एहि किंपि कीएवि कएण णिक्किव भणामि अलमहवा ।
अविचारिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सम् ॥४७१॥
(ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप, भणामि अलमथवा ।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ॥४७१॥)

२. ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर—
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥४७२॥

(प्रकरण प्राप्त कहने योग्य या न कहने योग्य) बात का निषेध किया जाता है। वह (आक्षेप) दो प्रकार का है–(१) वक्ष्यमाणविषयक और (२) उक्तविषयक। (१६१)

कहने के लिये अभीष्ट (वक्तुमिष्ट–विवक्षित) अर्थात् प्रकरणप्राप्त होने के कारण जिसकी उपेक्षा न की जा सके उस वस्तु के वर्णन की अशक्यता या अतिप्रसिद्धिरूप विशेषता का बोध कराने के लिए जो निषेध सा (आपाततः प्रतीयमान निषेध अर्थात् निषेधाभास) किया जाता है, वह वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक दो प्रकार का आक्षेप अलङ्कार है। क्रमशः उदाहरण हैं—

(१) [नायक के प्रति नायिका की सखी की उक्ति]—'अरे निर्दय, आओ, मैं किसी (नायिका) के लिए तुमसे कुछ कहती हूँ। अथवा रहने दो, बिना विचारे कार्य आरम्भ करने वाली वह मर जाय; किन्तु मैं कुछ न कहूँगी' ॥४७१॥

(२) [नायक के प्रति दूती की उक्ति]—'चन्द्रिका, मुक्तामाला, चन्दनरस, चन्द्रकान्तमणि का जल, कर्पूर, केला, मृणाल के कङ्कण तथा कमलिनी-किसलय आः! (क्रोधार्थक अव्यय) ये सब भी उस (नायिका) के हृदय में तेरे स्थित होने से (प्रभवता) चिनगारी के समूह (अङ्गारों) के व्यापार के लिये (दाहोत्पादन हेतु) हो गये हैं। ओह! (हन्त–विषादार्थक अव्यय) इसके कथन से क्या प्रयोजन? हम कुछ न कहेंगी' ॥४७२॥

प्रभा—जहाँ विशेष अर्थ की प्रतीति के लिये अवश्यवक्तव्य का इस प्रकार निषेध किया जाता है कि उस निषेध का विधि में ही तात्पर्य होता है, वहाँ 'आक्षेप' अलङ्कार होता है। इसके विशेष अङ्ग हैं—(i) किसी बात को कहना अभीष्ट (विवक्षित—कहना इष्ट) होता है, (ii) उसी बात का निषेध किया जाता है, (iii) किन्तु वह निषेध बनता नहीं, वह आपाततः प्रतीयमान अर्थात् निषेधाभास (निषेध-

(१६२) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥१०७॥
हेतुरूपक्रियायाः निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना । यथा—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टाऽपि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ॥४७३॥

इव) मात्र हो जाता है, (iv) इससे कोई विशेष अर्थ प्रकट करना होता है (विशेषाभिधित्सया) । यह दो प्रकार का है—(वक्ष्यमाणविषयक—'ए एहि' आदि इसका उदाहरण है यहाँ पर विरहिणी नायिका की विरहजनित दुर्दशा (मरणावस्था) वक्ष्यमाण है, उसमें वर्णन की अशक्यता (वक्तुमशक्यता) की अभिव्यञ्जना करने के लिये 'अलम्' इत्यादि से निषेध किया गया है । (२) उक्तविषयक—'ज्योत्स्ना' इत्यादि इसका उदाहरण है । यहाँ पर 'ज्योत्स्ना' आदि उस विरहिणी के लिये दाहोत्पादक हो गये हैं' यह अर्थ 'उक्त' है; किन्तु 'विरहिणियों के लिये ज्योत्स्नादि सन्तापकारी हुआ करते हैं' इस अतिप्रसिद्ध (विशेष) अर्थ की व्यञ्जना के लिये'किमनेन' इत्यादि से 'उक्त' कथन का निषेध किया गया है ।

टिप्पणी—अनुपसर्जनीकार्यस्य—'उपसर्जन' शब्द प्रधान का विलोमार्थक है। इसका अर्थ है—गौण, अप्रधान । पाणिनि व्याकरण में 'उपसर्जन' एक पारिभाषिक शब्द भी है । उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया । अनुपसर्जनीकार्यस्य का अर्थ है- जिसे गौण न किया जा सके, जिसकी उपेक्षा न की जा सके, अर्थात् प्रकरण के अनुसार जिसे प्रकट करना आवश्यक हो (विवक्षितस्य—प्राकरणिकत्वाद् अनुपसर्जनीकार्यस्य) ।

अनुवाद—(१८) विभावना अलङ्कार वह है जहाँ कारण (क्रिया=कारण, क्रियतेऽनया इति) का प्रतिषेध होने पर भी (उसके कार्यरूप) फल (उत्पत्ति) का कथन (व्यक्तिः=वचन, प्रकाशन) किया जाता है ।

अर्थात् हेतुरूप क्रिया का निषेध होने पर भी उसके फल अर्थात् कार्य का प्रकाशन करना विभावना है । जैसे—[किसी नायिका की विरहावस्था का वर्णन]—

'पुष्पित लताओं से ताडित न की हुई भी वह (नायिका, विरह के कारण) वेदना का अनुभव करती थी; भ्रमरगणों से न काटी गई भी वह लोट-पोट होती थी (परिवर्त्तते=परावृत्य वर्तते); कमलिनी-युक्त लहरों से चालित न की गई भी वह चक्कर खाती थी' ॥४७३॥

प्रभा—(१) जहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है वहाँ विभावना अलङ्कार होता है । सूत्र में 'क्रिया' शब्द का अभिप्राय 'कारण' है ।

(२) यहाँ विभावना के भेदों का निरूपण नहीं किया गया । साहित्यदर्पण के अनुसार इसके दो भेद हैं—उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता । अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण है—'कुसुमित' आदि । यहाँ लताप्रहार आदि पीडा इत्यादि के हेतु हैं;

(१६३) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः। अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च। क्रमेणोदाहरणम्—

१. निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥४७४॥

२. कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥४७५॥

३. स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम् ॥४७६॥

किन्तु उन प्रसिद्ध हेतुओं के न होने पर भी उनके कार्य 'पीडा' आदि का वर्णन किया गया है अतएव विभावना अलङ्कार है।

अनुवाद—(२०) विशेषोक्ति वह (अलङ्कार) है जहाँ (प्रसिद्ध) कारणों के मिलने पर (अखण्डेषु=मिलितेषु) भी कार्य (उत्पत्ति) का कथन नहीं किया जाता। (१६३)

अर्थात् कारणों के एकत्र होने पर भी कार्य (के होने) का कथन न करना—विशेषोक्ति है। (यह तीन प्रकार की है) १. अनुक्तनिमित्ता, २. उक्तनिमित्ता तथा ३. अचिन्त्यनिमित्ता। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

१. 'निद्रा की निवृत्ति हो जाने पर, सूर्य उदित होने पर सखियों के द्वार-स्थान पर आ जाने पर; प्रेमी (भुजङ्गः=उपपतिः) के द्वारा आलिङ्गन के आनन्द को शिथिल कर देने पर भी वह अङ्गना आलिङ्गन से नहीं हटी' ॥४७४॥

२. 'जो (कामदेव) कपूर के समान जल जाने पर भी प्रत्येक मनुष्य पर अधिकार (शक्ति) रखने वाला है, उस अकुण्ठित पराक्रम वाले मकरकेतु (कामदेव) को नमस्कार हो' ॥४७५॥

३. 'पुष्पों के अस्त्रवाला वह (कामदेव) अकेला ही तीनों लोकों को विजय करता है; जिसके शरीर को नष्ट करते हुए भी शिवजी ने बल का हरण नहीं किया' ॥४७६॥

प्रभा—(१) कारिका में 'अखण्ड' शब्द का अभिप्राय है—मिलित या पूर्ण। 'कारणेषु' में बहुवचन विवक्षित नहीं है तात्पर्य यह है कि प्रसिद्ध कारण या कारणों के होने पर भी कार्य के न होने का कथन विशेषोक्ति है (विशेषस्य नवीन-प्रकारस्य उक्तिः. विशेषोक्तिः)। (२) विभावना और विशेषोक्ति (समता) दोनों अलङ्कार कार्यकारणभाव के विरोध पर आश्रित (विरोधमूलक) हैं। (भेद) विभावना में कारणों के न होने पर भी कार्य का वर्णन होता है किन्तु विशेषोक्ति मे समस्त कारणों के होने पर भी कार्य का न होना वर्णित किया जाता है। (३) कार्य न होने का कथन तीन निमित्तों से किया जाता है अतएव विशेषोक्ति

(१६४) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥१०८॥

यथा—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥४७७॥

(१६५) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥१०९॥

तीन प्रकार की होती है। १. अनुक्तनिमित्ता—जिसमे कार्य-अभाव के निमित्त का कथन नही किया जाता; जैसे निद्रा इत्यादि में निद्रानिवृत्ति, सूर्योदय आदि कारणों के सद्भाव मे भी आलिङ्गन-परित्यागरूप कार्य का अभाव कहा गया है यहाँ 'अनुरागातिशय' ही आलिङ्गन को न त्यागने का निमित्त है, जो प्रकरण आदि से ज्ञात होता है, उसका कथन नहीं किया गया। २. उक्तनिमित्त—जिसमें कार्याभाव के निमित्त का कथन किया जाता है, जैसे—'कर्पूर इव' इत्यादि में 'शरीरदाह रूप कारण के होने पर भी शक्तिध्वंस रूप कार्य का अभाव वर्णित है। 'कामदेव का अकुण्ठित-पराक्रम वाला होना' (अवार्यवीर्यत्व) इसका निमित्त कहा गया (उक्त) है। ३. अचिन्त्यनिमित्ता—जिसमें निमित्त अचिन्त्य अर्थात् दुरधिगम (Inconceivable) होता है; जैसे-'स एकः' इत्यादि मे तनुहरणरूप कारण के होने पर भी 'बलनाश' रूप कार्य का अभाव वर्णित है। तनुहरण करते हुए भी शिव ने कामदेव का बलनाश क्यों नही किया—इसके हेतु का विचार नही किया जा सकता यह तो केवल शास्त्र-गम्य है अतः अचिन्त्य है।

अनुवाद—(२१) यथासंख्य वह अलङ्कार है जहाँ किसी क्रम से उक्त पदार्थों का उसी क्रम से (प्रथम उक्त का प्रथम पदार्थ के साथ द्वितीय का द्वितीय के साथ-आदि) अन्वय (सम्बन्ध) होता है। (१६४) जैसे—[राजा के प्रति उक्ति]—

'हे राजन्, यह आश्चर्य (चित्रम्) है कि शौर्य की प्रखरता, नम्रता तथा विलास के द्वारा क्रमशः सताप, आनन्दरस और रति का पोषण करते हुए आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों तथा मृगनयनियों के हृदय में तीन प्रकार से निवास करते हैं' ॥४७७॥

प्रभा—'एकस्त्रिधा' इत्यादि में प्रथम चरण में उक्त 'द्विष्' आदि का द्वितीय चरण के 'ताप' आदि तथा तृतीय चरण के 'शौर्योष्मणा' आदि पदार्थों के साथ क्रमशः अन्वय होता है जो एक अर्थ-वैचित्र्य का अनुभव कराता है, अतएव यह यथासंख्य अलङ्कार है।

अनुवाद—(२२) अर्थान्तरन्यास वह अलङ्कार है जहाँ साधर्म्य या वैधर्म्य (तद्वितरेण वा) के विचार से सामान्य या विशेष वस्तु का उससे भिन्न (विशेष या सामान्य) के द्वारा समर्थन किया जाता है। (१६५)

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः।

अर्थात् जो समानधर्मता अथवा विरुद्धधर्मता के विचार से सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष (वस्तु) का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

प्रभा—(१) जहाँ किसी संभाव्यमान अर्थ के उपपादन (सिद्धि) के लिये उससे भिन्न किसी दूसरे अर्थ की स्थापना (न्यास) की जाती है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। अर्थान्तरन्यास के विशेष अङ्ग हैं—(i) दो वाक्य होते हैं एक सामान्य अर्थ का कथन करता है दूसरा विशेष अर्थ का (ii) दोनों अर्थों में समर्थ्य-समर्थकभाव होता है। यहाँ सामान्य का अर्थ है-अधिक देश में रहने वाला (व्यापक) और विशेष का अर्थ है-सामान्य के एक देश में रहने वाला (व्याप्य); जैसे 'पशु' सामान्य है 'अश्व' विशेष है। जब अश्व सामान्य है तो श्वेताश्व या कोई अश्व-व्यक्ति विशेष है।

(२) अर्थान्तरन्यास का अन्य अलङ्कारों से सम्बन्धः—

अर्थान्तरन्यास और निदर्शना- (समता) अपरा निदर्शना (सूत्र १०५) तथा अर्थान्तरन्यास दोनों में ही दो अर्थों का सामान्य-विशेष भाव तथा समर्थ्य-समर्थक-भाव होता है। (भेद) निदर्शना के दोनों वाक्यों का आधारभूत जो कार्यकारणभाव होता है, वह एकरूप ही होता है; जैसे उदाहरण ४३८ में 'क्षुद्र की उन्नत पदप्राप्ति (कारण) तथा पतन (कार्य) दोनों वाक्यो में एकरूप ही है। किन्तु अर्थान्तरन्यास के दोनों वाक्यो में जो कार्य—कारणभाव होता है; वह भिन्न-भिन्न होता है। जैसे 'निजदोषावृत०' (उ० ४७८) में पूर्वार्ध में 'दोष' कारण है, विपरीत ज्ञान कार्य है; उत्तरार्ध में पित्त कारण है, विपरीत चाक्षुष ज्ञान कार्य है।

इस प्रकार जहाँ पूर्व तथा उत्तर वाक्य मे भिन्न-भिन्न कार्यकारण भाव होता है तथा सामान्यविशेष रूप से समर्थ्य-समर्थकभाव होता है, वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है।

अर्थान्तरन्यास और प्रतिवस्तूपमा-(समानता) दोनों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ को बतलाने वाले दो दो वाक्य होते हैं। अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत को समझने मे सहायक होता है। (भेद) (i) प्रतिवस्तूपमा मे दोनों अर्थ सामान्य ही होते हैं या विशेष ही; किन्तु अर्थान्तरन्यास में एक अर्थ सामान्य होता है और दूसरा विशेष। (ii) प्रतिवस्तूपमा मे दोनों अर्थों का उपमान-उपमेय-भाव होता है; किन्तु अर्थान्तरन्यास में दोनों का समर्थ्य—समर्थक—भाव होता है।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त—(समानता) दोनों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ को बतलाने वाले दो-दो वाक्य होते है तथा अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत अर्थ का समर्थन

क्रमेणोदाहरणम्—

१. निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम् ॥४७८॥

२. सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः ॥४७९॥

३. गुणानामेव दौरात्म्यात् धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असञ्जातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥४८०॥

करता है। दोनों में साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर भी अवान्तर भेद होते हैं। (भेद) (i) दृष्टान्त में दोनो अर्थ सामान्य होते हैं या दोनों विशेष; किन्तु अर्थान्तर-न्यास मे एक अर्थ सामान्य होता है, दूसरा विशेष। (ii) दृष्टान्त में मुख्यतः दोनों अर्थों के साम्य या बिम्बप्रतिबिम्बभाव की प्रतीति होती है बाद में समर्थ्य-समर्थक भाव जाना जाता है; किन्तु अर्थान्तरन्यास का आधार ही समर्थ्य-समर्थक-भाव है। अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग (द्र०, आगे काव्यलिङ्ग)।

(३) यह अर्थान्तरन्यास चार प्रकार का है—१. साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन, २. साधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन, ३. वैधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन तथा ४. वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन।

अनुवाद—(अर्थान्तरन्यास के) क्रमशः उदाहरण ये हैं—

१. 'अपने दोषों से जिन (व्यक्तियों) का मन व्याप्त (आवृत) है उनको अति सुन्दर वस्तु भी विपरीत अर्थात् असुन्दर प्रतीत होती है। पित्त (कामला) रोग से पीडित व्यक्तियों को चन्द्रमा के सदृश श्वेत शङ्ख भी पीला दिखलाई पड़ता है' ॥४७८॥

प्रभा—यहाँ पूर्वार्ध में एक सामान्य बात कही गई है और उसका साधर्म्य [उदाहरण] के द्वारा 'पश्यति' इत्यादि अन्य विशेष अर्थ से समर्थन किया गया है। अतः साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन रूप १. अर्थान्तरन्यास है।

अनुवाद—२. 'सुसितवसना' इत्यादि (ऊपर उदाहरण २६६) ॥४७९॥

प्रभा—यहाँ 'सुसित' इत्यादि में विशेष वस्तु का कथन किया गया है तथा साधर्म्य के द्वारा 'क्व नासि' आदि में उसका सामान्य वस्तु से समर्थन किया गया है। अतएव साधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन रूप २. अर्थान्तरन्यास है।

अनुवाद—३. 'कार्य करने में योग्य (धुर्यः) व्यक्ति को गुणों के अपराध से (दौरात्म्यात्) ही कार्यभार (धुरि) वहन में नियुक्त किया जाता है। गलिया बैल तो कन्धे पर व्रण-चिह्न हुए बिना ही सुखपूर्वक सोता है' ॥४८०॥

४. अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥४८१॥

(१६६) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः ।

(१६७) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥११०॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

प्रभा—यहाँ 'गुणानां—नियुज्यते' आदि मे सामान्य वस्तु का कथन किया गया है तथा वैधर्म्य के द्वारा उत्तरार्ध में वर्णित विशेष अर्थ से उसका समर्थन किया गया है। गुण के अभाव से गलिया बैल कार्यभार में नियुक्त नहीं किया जाता—यह वैधर्म्य है। अतएव वैधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य-समर्थन रूप ३. अर्थान्तरन्यास है।

अनुवाद—४. 'अहो! मेरे दीर्घकाल के जीवन ने बड़ा अपराध किया है जो मुझे ऐसी अप्रिय बात कहनी पड़ रही है। निश्चय ही वे इस संसार में धन्य हैं जो मित्र की आपत्ति को बिना देखे ही नाश (मृत्यु) को प्राप्त हो जाते हैं' ॥४८१॥

प्रभा—यहाँ पूर्वार्ध में 'अपने' दीर्घजीवन का अपराध' रूप [अहम् अधन्यः] विशेष अर्थ वर्णित किया गया है। उसका 'ते धन्याः' इत्यादि उत्तरार्ध में वर्णित सामान्य अर्थ से समर्थन किया गया है। उत्तरार्ध में वर्णित [ते धन्याः] अर्थ पूर्वार्ध में प्रदर्शित [अहम् अधन्यः] के विपरीत है अतएव यहाँ वैधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष अर्थ का समर्थन रूप ४. अर्थान्तरन्यास है।

अनुवाद—(२३) विरोध या विरोधाभास वह अलङ्कार है; जहाँ विरोध न होने पर भी (दो वस्तुओं का) विरुद्धों के समान वर्णन किया जाता है। (१६६)

अर्थात् वास्तव में (वस्तुवृत्तेन=यथार्थ मे) विरोध न होने पर भी जो दो वस्तुओं का विरुद्धों के समान वर्णन होता है वह विरोध (विरोधाभास) है।

ये (विरोध) दस प्रकार के हैं—(१-४) जाति का जाति आदि [गुण, क्रिया, द्रव्य] चारों से विरुद्ध होना (विरोध); (५-७) गुण का तीन [गुण, क्रिया, द्रव्य] के साथ विरोध; (७-९) क्रिया का दो [क्रिया, द्रव्य] के साथ विरोध तथा (१०) द्रव्य का (एक) द्रव्य के साथ ही विरोध। (१६७)

प्रभा—(१) जहाँ वस्तुत. विरोध न होने पर भी आपाततः विरोध की प्रतीति होती है वह अलङ्कार विरोधाभास है 'आभासते इति आभासः; विरोधश्चासौ आभासश्च इति'। जहाँ प्रकृत वाच्यार्थ में विरोध प्रतीत होता है वहीं विरोधालङ्कार हुआ करता है, किन्तु जहाँ व्यङ्ग्य अर्थों में विरोध होता है वहाँ [वाच्य] विरोधालङ्कार नही होता अपितु विरोधालंकार ध्वनि होती है; जैसे 'तिग्मरुचिरप्रतापः, [उदाहरण ५५] इत्यादि में।

विरोध की वहीं स्पष्ट प्रतीति होती है जहां विरोधसूचक 'अपि' शब्द का प्रयोग होता है, अथवा जहां क्रियाओं के विरोध में [उनके] समुच्चयबोधक 'च' का प्रयोग होता है; या 'अभूत्, भवति, भविष्यति' इत्यादि क्रियापदों के द्वारा विरुद्ध वस्तुओं में एकता की प्रतीति होती है। विरोध के विशेष अङ्ग हैं—(i) एक आश्रय में रहने वाले दो पदार्थों का भिन्न-भिन्न आश्रय में वर्णन या (ii) भिन्न-भिन्न आश्रयों में रहने वाले (व्यधिकरण) दो पदार्थों का एक आश्रय में वर्णन (iii) वास्तविक विरोध नहीं, अपितु विरोध की आपाततः प्रतीति, जिसे दूर किया जा सकता है।

(२) विरोध और रूपक-(समानता) विरोध के तीन भेद [(क) दो जातियों का विरोध उदा० ४८२ (ख) जाति और द्रव्य का विरोध उदा०, ४८५, तथा (ग) *दो द्रव्यों का विरोध उदा० ४६१] रूपक के समान ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि* (क) किसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः, (ख) 'शफरो जनार्दनः' और (ग) 'शङ्करचूडापगाऽपि कालिन्दी' आदि में 'मुखचन्द्रः' इस रूपक के समान ही दो पदार्थों में अभेद की प्रतीति होती है। तथापि (भेद) (i) विरोध में अभेदारोप साधनमात्र है उसका उद्देश्य होता है विरोध की उद्भावना; किन्तु रूपक में अभेदारोप ही लक्ष्य होता है (ii) विरोधाभास में विरोध की प्रतीति ही चमत्कारक होती है किन्तु रूपक में अभेदारोप चमत्कारक होता है। (iii) रूपक में दो पदार्थों में उपमान-उपमेय-भाव होता है; किन्तु विरोधभास में नहीं। (iv) विरोधभास में 'अपि' शब्द का *प्रयोग होता है (शङ्करचूडा०) या उसकी अर्थतः प्रतीति होती* है (किसलय०) किन्तु रूपक में अपि शब्द का कोई स्थान नहीं।

विरोध-विभावना और विशेषोक्ति-(समानता) इन तीनों अलङ्कारों में ऐसे विरोध की प्रतीति हुआ करती है, जिसे दूर किया जा सकता है। (भेद) (i) विरोधा-भास का क्षेत्र व्यापक है यह विरोध के सभी स्थलों पर हो सकता है। किन्तु विभावना *और विशेषोक्ति का क्षेत्र सीमित है, केवल कार्य-कारण-भाव के विरोध में ही ये दोनों* अलङ्कार हुआ करते हैं। फलतः विरोधाभास उत्सर्ग है, विभावना और विशेषोक्ति अप-वाद हैं। और, *अपवादविषयपरिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थितिः*' अर्थात् अपवाद के क्षेत्र को छोड़ कर ही उत्सर्ग (सामान्य नियम) के क्षेत्र का निश्चय किया जाता है। इस लिये कार्यकारणभाव के विरोध से भिन्न अन्य विरोध के स्थलों पर विरोधाभास अलङ्कार होता है, यह समझना चाहिये। (ii) विभावना में कारण के अभाव में होने वाला कार्य ही बाधित रूप में जाना जाता है और विशेषोक्ति में कार्य (फल) को उत्पन्न न करने वाला कारण ही बाधित रूप में प्रतीत होता है; किन्तु विरोधाभास में दोनों *विरुद्ध पदार्थों में परस्पर* बाध्य-बाधकभाव होता है।

विरोध और असङ्गति (द्र०, आगे असङ्गति)।

(३) ते दश—ऊपर (सूत्र १० में) चार प्रकार के शब्द बतलाये गये हैं जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। *जाति आदि चार ही उनके सङ्केतित अर्थ हैं।* इनमें से

क्रमेणोदाहरणम्—

१. अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग, कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥४८२॥

२. गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः ।
विश्वम्भराऽप्यतिलघुर्नरनाथ, तवान्तिके नियतम् ॥४८३॥

जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ विरोध हो सकता है इसी प्रकार गुण आदि का भी चारों के साथ विरोध हो सकता है। किन्तु गुण का जो जाति के साथ विरोध होगा उसकी गणना जाति के गुण के साथ विरोधमे ही की जा चुकी है। अतः गुण का विरोध गुण क्रिया और द्रव्य के साथ ही गिना जायेगा। इसी प्रकार क्रिया का विरोध क्रिया और द्रव्य के साथ और द्रव्य का विरोध केवल द्रव्य के साथ गिना जायेगा। फलतः विरोध दस प्रकार का होगा—जाति के चार+गुण के तीन+क्रिया के दो+द्रव्य का एक।

अनुवाद—१. (जाति का जाति के साथ विरोध)—'हे सुन्दर दैववशात् इस मृगनयनी पर तुम्हारे वियोग का वज्रपात हो जाने से (इसके लिये) नूतन कमलिनी के किसलय तथा मृणाल के कङ्कण आदि भी दावानल के पुञ्ज हो गये हैं' ॥४८२॥

प्रभा—यहाँ पर 'नलिनीत्व' आदि जातियों का 'दवदहनत्व' जाति से विरोध है; क्योंकि 'कमल' आदि 'दावानल' रूप कैसे हो सकते हैं ? किन्तु 'कमल'–किसलय' आदि विरह के उद्दीपक है अतएव उनमें औपचारिक रूप से दावानलत्व की वर्णना की गई है। इस प्रकार विरोध का परिहार हो जाता है और वह विरोध आभास–मात्र रह जाता है; अतएव विरोधाभास अलङ्कार है। यद्यपि ऐसे स्थलों पर—'यहाँ रूपक है या विरोधाभास' इस प्रकार का सन्देह होना स्वाभाविक है तथापि जहाँ उपमेय में उपमान का अभेदारोप चमत्कारक होता है वहाँ रूपक–अलङ्कार होगा, जैसे 'मुखचन्द्र' यहाँ मुख में चन्द्राभेद है यही चमत्कारक है; किन्तु जहाँ विरोध प्रतीति ही चमत्कारक होती है, वहाँ विरोधाभास होता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'विरहिणी की दशा का अत्यन्त अद्भुत होना' विवक्षित है; विरोध प्रतीति ही उसको प्रकट करती है अभेदारोप नहीं।

अनुवाद—२. (जाति का गुण के साथ विरोध)—'हे राजन्, यह निश्चित है कि आपके सामने पर्वत भी अत्यन्त ऊँचे नहीं (अनुन्नत=उच्चतारहित–यह विरोध है) वायु भी अल्प वेग वाली (वेग-शून्य) है, सागर भी अल्पगम्भीर (गम्भीरता-रहित) है; पृथिवी भी अतिलघु है' ॥४८३॥

प्रभा—यहाँ पर 'गिरित्व' आदि जाति का 'अनुन्नतत्व' (ऊंचा न होना) आदि गुणों के साथ विरोध प्रतीत होता है; किन्तु यहाँ वर्णनीय राजा की 'अत्यन्त–उन्नति' विवक्षित है अतएव इस आपाततः प्रतीयमान विरोध का परिहार हो जाता है तथा विरोधाभास अलङ्कार है।

३. येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां संप्राप्य धाराधर-
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं पराप्नोति च ।
तेषां सङ्गरसङ्गसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते,
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिनिर्वर्त्यते कौतुकम् ॥४८४॥
४. सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥४८५॥
५. सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥४८६॥

अनुवाद—३. (जाति का क्रिया के साथ विरोध)—'हे राजन्, यह आश्चर्य है कि आपका तीक्ष्ण खड्ग (धराधर) युद्ध के विषय में आसक्तमन वाले जिन राजाओं के गले मिलने (आलिङ्गन) की प्रीति को प्राप्त करके अनुरक्त (रक्त से सना) हो जाता है तथा किसी अनिर्वचनीय स्नेह (चिकनापन) को प्राप्त करता है, उन राजाओं की प्रसाधनविधि आप धूलि (पांसूनां) के समूह से किया करते हैं [उनके सिर काटकर धूलि-धूसरित कर देते हैं]' ॥४८४॥

प्रभा—यहाँ पर 'खड्गत्व (धाराधरत्व, जाति का अनुरक्त होना (अनुरज्यते) और स्नेह प्राप्त करना—इन दोनों क्रियाओं के साथ विरोध है; क्योंकि जड खड्ग में अनुराग और स्नेह का होना सम्भव नहीं ।' अनुरज्यते' का अर्थ—'रक्त से लाल हो जाता है' और स्नेह का चिकनापन' करने से विरोध का परिहार हो जाता है अतः विरोधाभास अलङ्कार है ।

अनुवाद—४. (जाति का द्रव्य के साथ विरोध)—जो इस जगत् का अनायास ही नियमपूर्वक सृजन करता है, रक्षण करता है तथा संहरण करता है, यह जनार्दन (भगवान् विष्णु) भी अवसर के अनुसार मत्स्य (शफर) हो जाता है, यह आश्चर्य है ॥४८५॥

प्रभा—'यहाँ पर मत्स्यत्व' (शफरत्व) जाति का जनार्दन रूप व्यक्ति (द्रव्य) से विरोध है; किन्तु भगवान् तो अपनी लीला से सब रूप धारण कर सकते हैं तथा उनका मत्स्य-शरीर धारण करना भी पुराण प्रसिद्ध है अतएव विरोध का परिहार हो जाता है तथा विरोधाभास अलङ्कार है ।

अनुवाद—५. (गुण का गुण के साथ विरोध) 'हे राजन्, निरन्तर मूसल (उठाने) में तत्पर तथा गृहस्थी के अनेक कार्य करने के कारण कठोर हुए ब्राह्मण गृहिणियों के हाथ आप जैसे (दानी) के (प्राप्त) होने पर (सति) कमल के समान सुकुमार हो गये हैं ॥४८६॥

प्रभा—यहाँ पर 'कठिनता' और 'कोमलता' गुणों का आपस में विरोध है; किन्तु राजा के दान देने के कारण ब्राह्मण-गृहिणियाँ गृह-कार्य से मुक्त हो गईं; अतः जो हाथ पहले कठोर थे वे अब (राजभेद में) कोमल हो गये, इस प्रकार विरोध-परिहार हो जाता है तथा यहाँ विरोधाभास है ।

६. पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम् ।
पुरुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत् प्रमोदयति ॥४८७॥
७. क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषदृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।
अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स. भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥४८८॥
८. परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥४८९॥
९. अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।

अनुवाद—६. (गुण का क्रिया के साथ विरोध)—'खलों का कोमल वचन भी तत्त्वज्ञों के मन को अत्यन्त जला देता है 'तथा सज्जनों का कठोर वचन भी चन्दन रस के समान आनन्दित करता है ॥४८७॥

प्रभा—यहाँ पर 'पेशलता' (गुण) से जलाना (क्रिया) का एवं 'परुषता' (गुण) से आनन्दित करना (क्रिया) का विरोध है; किन्तु कोमलता और कठोरता तात्कालिक हैं तथा परिणाम में 'दाहकता' और आनन्दप्रदता' है अतः विरोध-परिहार हो जाता है (प्रभाटीका); अथवा पेशल और परुष शब्दों का अर्थ है—सुनने में 'प्रिय' तथा 'कटु' और 'दहति' का अर्थ है—'संतापकारक' अतएव विरोध-परिहार हो जाता है (उद्योत) ।

अनुवाद—७. (गुण का द्रव्य के साथ विरोध)—जिस के बाणों (मार्गण) के निरन्तर (अनर्गल) तीव्र (शातः=तीक्ष्णः) प्रहार के द्वारा महती शिलाओं से दृढ़ यह क्रौञ्च पर्वत भी नवकमल पत्र के समान कोमल (अभिजातः) हो गया. सचमुच ही वह परशुराम कोई अपूर्व सृष्टि है' ॥४८८॥

प्रभा—यहाँ 'कोमलता' (गुण) का क्रौञ्चपर्वत (द्रव्य) के साथ विरोध है; किन्तु भार्गव की महिमा से 'अभिजात' (कोमल) पद का अर्थ सुखपूर्वक बेंधने योग्य' (सुभेद्य) किया जाता है और विरोध-परिहार होता है अतः 'विरोधाभास' है ।

अनुवाद—८. (क्रिया का क्रिया से विरोध) 'परिच्छेदातीतः' (ऊपर उदाहरण १०७)' ॥४८९॥

प्रभा—यहाँ पर जडयति (जड़ या शीतल कर देता है) और 'तापं च कुरुते' (संतप्त करता है)—इन दोनों क्रियाओं का विरोध है; किन्तु विरह का प्रभाव विचित्र होता है, अतएव एक क्षण में जड़ कर देता है तथा दूसरे क्षण ही संतप्त कर देता है—इस प्रकार विरोध-परिहार हो जाता है ।

अनुवाद—९. (क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध) यह सागर जल का मुख्य (एक) स्थान है, रत्नों की खान है, यह सोचकर (इति) तृष्णा से बाले

क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेन ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥४६०॥

१०. समदमतङ्गजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक, त्वयि तटजुषि शङ्करचूडापगाऽपि कालिन्दी ॥४६१॥

(१६८) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१११॥

स्वयोस्तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः संस्थानं च । उदाहरणम्—

पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाऽङ्गमुच्चै–
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४६२॥

हम लोगों ने इसका आश्रय लिया था; किन्तु यह कौन जानता था कि क्षुब्ध हो गये हैं (ताम्यत्) मत्स्य (तिमि) और मकर जिसमें ऐसे इस सागर को अपने हाथ की चुल्लू में लेकर अगस्त्य मुनि क्षण भर में ही पी लेंगे ॥४६०॥

प्रभा—यहाँ पान क्रिया (पीने) का अगस्त्य मुनि रूप कर्ता (द्रव्य) तथा समुद्ररूप कर्म (द्रव्य) के साथ विरोध है; किन्तु अगस्त्य के तप के प्रभाव की विलक्षणता से विरोध-परिहार हो जाता है तथा यहाँ 'विरोधाभास' है ।

अनुवाद—१०. (द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध)—'हे पृथ्वी के तिलक (राजन्), आपके (गङ्गा के) तट पर पहुँचते ही (आपके) मदयुक्त गजों के मद जल की धारा रूपी नदी (तरङ्गिणी) के सम्पर्क से शिव की जटाओं की नदी (आपगा) अर्थात् गङ्गा भी कालिन्दी हो जाती है' ॥४६१॥

प्रभा—गङ्गा और यमुना (द्रव्यों) का परस्पर विरोध है; किन्तु यहाँ 'कालिन्दी' का अर्थ 'श्याम आभा वाली' करने से विरोध-परिहार हो जाता है अतः विरोधाभास' अलङ्कार है ।

अनुवाद—(२४) स्वभावोक्ति वह अलङ्कार है जहाँ बालक आदि (पदार्थों) की स्व-आश्रित क्रिया तथा रूप आदि का वर्णन किया जाता है । (१६८)

(कारिका में) 'स्वयोः' (स्वयोः क्रियारूपयोः वर्णनमिति स्वक्रियारूपवर्णनम्) अर्थात् एकमात्र अपने में आश्रित । 'रूपम्' अर्थात् रंग और अङ्ग प्रत्यङ्ग का विन्यास (अवयवसंस्थान या आकृति) । (स्वभावोक्ति का) उदाहरण है—[हर्षचरित के तृतीयोच्छ्वास का पद्य], सोकर उठा हुआ अश्व अपने पिछले पैरों को फैलाकर, पृष्ठ-वंश (त्रिक=रीढ़ की हड्डी) के झुकने से विस्तृत हुए शरीर को लम्बा करके, वक्र-ग्रीवा वाला होकर मुख को छाती पर लगाकर, धूलि धूसरित सटा को विशेष रूप से हिलाकर घास खाने की अभिलाषा से अपने ओष्ठों के अग्रभाग (प्रोथ तुण्ड) को निरन्तर चलाता हुआ, मन्द मन्द (फुर फुर) शब्द करता हुआ खुरों से भूमि (क्ष्माम्) को खोद रहा है' ॥४६२॥

(१६६) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परः
लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते ।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥४६३॥

हे हेलाजितबोधिसत्त्व, वचसां किं विस्तरैस्तोयधे,
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो—
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥४६४॥

प्रभा—यहाँ पर एकमात्र अश्व में होने वाली क्रिया (घास खाना) तथा संस्थान (पिछले चरणों को फैलाना आदि) का स्वाभाविक वर्णन किया गया है, अतएव स्वभावोक्ति अलङ्कार है । अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु के असाधारण धर्म का वर्णन ही स्वभावोक्ति-अलङ्कार होता है ।

अनुवाद—(२५) व्याजस्तुति वह अलङ्कार है जहाँ आपाततः (मुखे) निन्दा या स्तुति (प्रकट होती है) तथा तात्पर्यतः (रूढिः) उसके विपरीत (स्तुति या निन्दा) प्रतीत होती है । (२५)

(व्याजस्तुति पद का ही अर्थ है)—व्याजरूपा स्तुतिः (अर्थात् स्तुति का कपट रूप, वस्तुतः निन्दा) अथवा व्याजेन स्तुतिः (अर्थात् निन्दा के बहाने स्तुति) । (सूत्रोक्त) क्रम से उदाहरण ये हैं—[क–स्तुति के अभिप्राय से निन्दा]—'हे राजन् मैं समझता हूँ कि (आश्रितों का) अनुरोध (स्वीकार करने) में शून्य हृदय वालों का शिरोमणि आपके अतिरिक्त अन्य नहीं है तथा लक्ष्मी के अतिरिक्त लज्जाशून्य अन्यत्र नहीं दिखलाई देती; क्योंकि आप अनेकों उपायों द्वारा (मुखशतैः) आकर आश्रित होने वाली लक्ष्मी का अत्यधिक त्याग करते हैं और वह (लक्ष्मी) त्यागकृत अपमान को प्राप्त करके भी आप में ही स्थिर हो रही है (स्थितिः=स्थिरता)' ॥४६३॥

[ख–निन्दा के अभिप्राय से स्तुति]—'हे अनायास ही (दयाशील) बुद्ध को भी जीतने वाले जलधि, अधिक वाग्-विस्तार से क्या ? परोपकार व्रत को ग्रहण करने वाला तेरे समान दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि तुम प्यासे पथिकजनों के उपकार-सम्पादन में विमुख रहने के कारण प्राप्त हुए अपयश के भार-वहन में मरुस्थल की कृपा पूर्वक सहायता जो करते हो' ॥४६४॥

(१७०) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥११२॥

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलात् उभयस्यावगमकं सा सहोक्तिः। यथा—

सह दिअहणिसाहिँ दीहरा सासदण्डा
सह मणिवलएहिँ वाप्पधारा गलन्ति।
तुह सुहअ विओए तीअ उव्विग्गिरीए
सह अ तणुलदाए दुब्बला जीविदासा ॥४६५॥

(सह दिवसनिशाभिर्दीर्घाः श्वासदण्डाः
सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति।

प्रभा—(१) 'व्याजस्तुति' यह अन्वर्थ संज्ञा है। इसके उपर्युक्त दो अर्थ होते हैं। यहाँ वृत्ति में (प्रायः सभी उपलब्ध पुस्तकों में) 'व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः' पाठ है। किन्तु सूत्र के क्रम से 'व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिः' पाठ उचित प्रतीत होता है। ये ही व्याजस्तुति के दो भेद हैं—क-स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा अथवा निन्दापूर्विका व्याजस्तुति (व्याजेन स्तुतिः); जैसे—'हित्वा' इत्यादि। यहाँ पर आपाततः राजा की (आश्रितत्यागरूपा) निन्दा प्रतीत होती है, किन्तु (महादानी होने पर भी समृद्धिशाली होना रूप) स्तुति में तात्पर्य है। ख-निन्दापर्यवसायिनी स्तुति अथवा स्तुतिपूर्विका निन्दा व्याजस्तुति (व्याजरूपा स्तुतिः); जैसे 'हे हेलाजित' इत्यादि। यहाँ पर आपाततः सागर की स्तुति प्रतीत होती है, किन्तु (प्यासे पथिकों का उपकार न करना रूप) निन्दा में तात्पर्य है।

(२) व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा—(समानता) दोनों में वाच्य अर्थ से भिन्न किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु (भेद) (i) दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। अप्रस्तुतप्रशंसा में कार्य आदि से निमित्त आदि की प्रतीति होने के कारण ५ भेद होते हैं परन्तु व्याजस्तुति में निन्दा से स्तुति या स्तुति से निन्दा की प्रतीति होकर दो ही भेद होते हैं। (ii) कार्यकारणभाव आदि के द्वारा अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीतिमात्र में ही अप्रस्तुतप्रशंसा का चमत्कार निहित है किन्तु व्याजस्तुति का विशेष चमत्कार अप्रस्तुत-निन्दा से प्रस्तुत-स्तुति आदि की प्रतीति में होता है।

अनुवाद—(२६) 'सहोक्ति' यह अलङ्कार है जहाँ एक पद 'सह' (साथ) अर्थ के सामर्थ्य से दो अर्थों का बोधक होता है। (१७०)

अर्थात् जहाँ एक अर्थ का वाचक पद 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से दोनों अर्थों का बोधक होता है वह सहोक्ति है। जैसे—

[कर्पूरमञ्जरी में नायिकाविरहवर्णन] 'हे सुन्दर, तुम्हारे विरह में व्याकुल उस (नायिका) को साँस दिन-रात के साथ दण्डाकार लम्बी हो रही हैं, उसकी अश्रु-धारा रत्न-कङ्कणों के साथ गिर पड़ती हैं और देहलता के साथ-साथ उसके जीवन की आशा दुर्बल हो जाती है' ॥४६५॥

तव सुभगवियोगे तस्या उद्विग्नायाः
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा ॥४६५॥

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दम् दिवसनिशादिगतं तु सहार्थसामर्थ्यात्प्रतिपद्यते ।

(१७१) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

क्वचिदशोभनः क्वचिच्छोभनः । क्रमेणोदाहरणम्—

(क) अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥४६६॥

(ख) मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥४६७॥

यहाँ 'श्वास-दण्ड' आदि में 'दीर्घता' साक्षात् शब्द-द्वारा बोधित होती है; किन्तु 'दिवानिशा' आदि में तो 'सह' शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से ही (दीर्घता) प्रतीत होती है।

प्रभा—'सहोक्ति' यह अन्वर्थ संज्ञा है—सहभावस्य (साहित्यस्य) उक्तिः सहोक्तिः। भाव यह है कि जहाँ 'सहयुक्तेऽप्रधाने २/३/१९ इस पाणिनि सूत्र से सहार्थ के योग में (अप्रधान अर्थ में) तृतीया विभक्ति होती है वहाँ यह अलङ्कार होता है। गौण तथा प्रधान रूप में रहने वाले दो पदार्थों का वहीं पर (शब्दार्थ की मर्यादा से) एक धर्म से सम्बन्ध (साहित्य) हुआ करता है। जैसे 'पुत्रेण सह आगतः पिता'—इसमें पिता प्रधान है और पुत्र गौण है तथा दोनों का सह अर्थ के द्वारा आगमन क्रिया से सम्बन्ध है। यहाँ गौण तथा प्रधान में अभेदाध्यवसाय हो जाता है। तृतीयान्त शब्द विशेषण (उपमान) होने से गौण होता है तथा 'प्रथमान्त' विशेष्य (उपमेय) होने के कारण प्रधान होता है। उक्त धर्म का प्रथमान्त के साथ शाब्द (शब्दबोध्य) सम्बन्ध होता है और तृतीयान्त के साथ सहार्थ की सामर्थ्य से (अर्थगम्य) सम्बन्ध होता है। ऊपर के उदाहरण में दीर्घता का 'श्वासदण्ड' से शाब्द सम्बन्ध है; किन्तु 'दिवानिशा' आदि के साथ अर्थगम्य ही।

अनुवाद—(२७) विनोक्ति वह अलङ्कार है जहाँ एक (अन्य) के बिना दूसरा न तो शोभन (सत्) और ना ही अशोभन (इतरः) प्रतीत होता है। (१७१)

अर्थात् (एक के बिना दूसरा) कहीं तो (क) अशोभन (=सत् न) और कहीं (ख) शोभन (=इतरः अर्थात् असत् न) प्रतीत होता है। क्रमशः उदाहरण हैं—

क—'रात्रि के बिना चन्द्रमा शोभाहीन है, चन्द्रमा के बिना वह (निशा) भी महान् अन्धकाररूपा अर्थात् शोभाहीन है और इन दोनों के बिना कामिनी तथा कामी जनों की कामक्रीडा शोभित नहीं होती' ॥४६६॥

ख—'यह राजपुत्र मृगनयनी (नायिका) के बिना अद्भुत व्यवहार की प्रतिभा के

(१७२) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥११३॥

परिवृत्तिरलङ्कारः। उदाहरणम्—

(क) लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं
मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम्।
लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय सहसा
ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम् ॥४९८॥

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन समस्य द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य।

(ख) नानाविधप्रहरणैर्नृप, संप्रहारे स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान्।
दृप्तारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥४९९॥

प्रदर्शन में चतुर (शोभन) हो रहा है तथा उस (दुष्टस्वभाव वाले) मित्र के बिना चन्द्रमा के समान निर्मल (सुन्दर) अन्तःकरण वाला हो रहा है' ॥४९७॥

प्रभा—विनोक्ति का अर्थ है—'विना' शब्द के अर्थ की उक्ति। जहाँ किसी के बिना किसी वस्तु की अशोभनता अथवा शोभनता का वर्णन किया जाता है वहाँ विनोक्ति नामक अलङ्कार होता है। (क) अशोभनता का उदाहरण है—'अरुचिः' इत्यादि। यहाँ पर 'निशा' आदि के बिना चन्द्रमा की अशोभनता का वर्णन किया गया है। (ख) शोभनता का उदाहरण है—'मृगलोचनया' इत्यादि। यहाँ किसी नायिका तथा मित्र के बिना राजपुत्र की (व्यवहारनिपुणता तथा निर्मलाशयता) शोभनता का प्रतिपादन किया गया है।

अनुवाद—(२८) परिवृत्ति यह अलङ्कार है जहाँ समान या असमान वस्तु के साथ पदार्थों का विनिमय (बदला) दिखाया जाता है। (१७२)

'परिवृत्ति' (यह) अलङ्कार (का नाम) है [अर्थात् यहाँ 'परिवृत्तिः' यह उद्देश्य है, शेष लक्षण है]। उदाहरण हैं—

(क) यह वायु इन पुष्पयुक्त लताओं को मनोहर लास्य (नृत्य) देकर उनसे अनुपम (असम) सुगन्धि को ग्रहण करती है और ये लताएं तो पथिकों की दृष्टि को सहसा खींचकर (आदाय-लेकर) उन्हें मनोवेदना, व्याधि, विभ्रम, रोदन और मोह (निश्चेष्टता) का सम्पर्क (व्यतिकर) देती हैं' ॥४९८॥

यहाँ पर प्रथमार्ध में सम (लास्य) से उसके समान (आमोद) का तथा द्वितीय (अर्धभाग) में उत्तम (दृष्टि) से उसकी अपेक्षा न्यून (आधि-व्याधि आदि) का [विनिमय वर्णित है]।

(ख) 'हे राजन्, आपके दर्पयुक्त शत्रुवीरसमुदाय (विसरः) ने युद्ध में (संप्रहारे) अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के भयङ्कर शब्दयुक्त प्रहारों को ग्रहण करके (सहकर) यह वसुधा आपको अर्पित की है, जिसने (आपके साथ) वियोगरहित (कभी न टूटने वाले) आलिङ्गन (परिरम्भ) को स्वीकार किया है (विधि.)' ॥४९९॥

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य ।

(१७३) प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकम् ।

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः । भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम् । उदाहरणम्—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥५००॥

आद्ये भूतस्य द्वितीये भाविनो दर्शनम् ।

यहाँ पर (अनुपादेय होने के कारण) न्यून (प्रहारों) से उत्तम (वसुन्धरा) का (विनिमय वर्णित है) ।

प्रभा—विनिमय का अर्थ है—किसी को एक वस्तु देकर उससे (बदल में) दूसरी वस्तु ले लेना । परिवृत्ति अलङ्कार मे दान तथा आदान (विनिमय) कविकल्पित होता है, वास्तविक नहीं । इस प्रकार पदार्थों के कविकल्पित विनिमय के वर्णन द्वारा जो अर्थ-वैचित्र्य होता है वह परिवृत्ति अलङ्कार है । यह दो प्रकार का है—एक समपरिवृत्ति अर्थात् समान वस्तु से सामान का विनिमय जैसे 'लतानाम् इत्यादि के पूर्वार्ध में है' यहाँ 'लास्य' से 'आमोद' का विनिमय वर्णित किया गया है । ये दोनों ही उपादेय हैं अतः समान हैं । दूसरी असमपरिवृत्ति अर्थात् असमान वस्तु के साथ विनिमय । असमपरिवृत्ति भी दो प्रकार की है—(i) कहीं तो उत्तम वस्तु से न्यून वस्तु का विनिमय; जैसे—लतानाम् इत्यादि के उत्तरार्ध में हैं । यहाँ उत्तम दृष्टि से न्यून आधि-व्याधि का विनिमय वर्णित है । आधि-व्याधि इत्यादि अनुपादेय (अग्राह्य) होने से न्यून (निकृष्ट) हैं । (ii) कहीं न्यून से उत्तम का विनिमय; जैसे 'नानाविधि' इत्यादि में 'प्रहार' से वसुन्धरा का विनिमय वर्णित है । 'प्रहार' अनुपादेय होने के कारण न्यून है ।

अनुवाद—(२९) भाविक वह अलङ्कार है जहाँ भूत तथा भविष्य काल में होने वाले पदार्थों को प्रत्यक्ष (वर्तमान) के समान (वर्णित) किया जाता है (१७३)

(कारिका में) 'भूत और भावी' इस प्रकार ('भूतभाविनः' में) द्वन्द्व समास है । भाव अर्थात् कवि का अभिप्राय (भूत तथा भविष्य की वस्तु को प्रत्यक्ष रूप में वर्णन की इच्छा) जिसमें रहता है, वह भाविक (कहलाता) है । उदाहरण यह है—

'हे प्रिये, (क) इन (तुम्हारे) नेत्रों में जो काजल लगाया गया था उस (पूर्वकालीन काजल) से युक्त तुम्हारे नेत्रों को देखता हूँ और (ख) भविष्य के (पहने जाने वाले) अलङ्कारों से शोभित तुम्हारी आकृति को प्रत्यक्षतः देख रहा हूँ' ॥५००॥

यहाँ प्रथम (अर्ध) में पूर्वकालिक (काजल) का तथा द्वितीय (अर्ध) में उत्तरकालिक (भूषणसंभार) का साक्षात्कार (वर्णित है) ।

(१७४) काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥११४॥

(क) वाक्यार्थता यथा—

> वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
> पुरारे, न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
> नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
> महेश, क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥५०१॥

प्रभा—जहाँ कवि भावना के द्वारा भूत और भविष्य के पदार्थों को प्रत्यक्ष के समान दिखलाता है वहाँ भाविक अलङ्कार होता है। यह दो प्रकार का है—(क) अतीत वस्तु का प्रत्यक्ष रूप में वर्णन तथा (ख) भविष्य में होने वाली वस्तु का प्रत्यक्षरूप में वर्णन। 'आसीत्' इत्यादि एक ही पद्य के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में क्रमशः दोनों के उदाहरण हैं।

अनुवाद—(३०) काव्यलिङ्ग वह अलङ्कार है जहाँ वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में (किसी अनुपपन्न अर्थ का उपपादक) हेतु कहा जाता है। (११४)

प्रभा—(१) काव्यशास्त्र में अभिमत लिङ्ग (काव्याभिमतं लिङ्गम्) ही काव्यलिङ्ग है। *यहाँ 'लिङ्ग' का अर्थ हेतु है। इस प्रकार कवि-कल्पित अर्थ के उपपादन के लिये हेतु-कथन ही काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। यह हेतु-कथन* तर्कशास्त्र से नितान्त भिन्न है और चमत्कारोत्पादक होता है। काव्यलिङ्ग को ही हेत्वलङ्कार तथा 'काव्यहेतु' भी कहा जाता है।

(२)काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास—(समानता) दोनों में ही अन्य अर्थ प्रस्तुत अर्थ का समर्थक होता है। (भेद) (i) काव्यलिङ्ग में दोनों अर्थ परस्पर सापेक्ष होते हैं, एक के बिना दूसरे का भाव भली भाँति नहीं समझा जा सकता। किन्तु अर्थान्तरन्यास में दोनों अर्थ निरपेक्ष होते हैं, प्रत्येक अपने अर्थ में पूर्ण होता है। (ii) काव्यलिङ्ग अलङ्कार में कारण के द्वारा कार्य का अथवा कार्य के द्वारा कारण का समर्थन किया जाता है *किन्तु अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य तथा समर्थक में सामान्य-विशेषभाव होता है।* (उद्योत)। काव्यलिङ्ग और अनुमान—काव्यलिङ्ग में व्याप्ति आदि का निर्देश नहीं होता, अनुमान (अलङ्कार) में होता है—यही दोनों का भेद है (उद्योत) अथवा काव्यलिङ्ग में कारक हेतु का कथन होता है, अनुमान में ज्ञापक हेतु का—यही दोनों का अन्तर है (कमलाकरभट्ट)।

(३) यह हेतु कथन दो प्रकार से सम्भव है। (क) एक तो वाक्यार्थरूप में, दूसरे पदार्थ रूप में। (ख) पदार्थ रूप में भी कहीं तो अनेक पदों द्वारा इसका कथन होता है और कहीं (ग) *एक पद द्वारा ही। इस प्रकार काव्यलिङ्ग अलङ्कार के तीन* भेद हो जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः निम्न प्रकार से हैं—

अनुवाद—(क) हेतु की वाक्यार्थता (वाक्यार्थ द्वारा बोधित हेतु) जैसे—

(ख) अनेकपदार्थता; यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै—
ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत्।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपत:
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुज: ॥५०२॥

(ग) एकपदार्थता; यथा—

भस्मोद्धूलन, भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले, शुभं
हा सोपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालङ्कृतिम्।
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा—
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ॥५०३॥

'हे त्रिपुरशत्रो (शिव), इस शरीर की उत्पत्ति से ही मैंने यह अनुमान कर लिया है कि पूर्वजन्मों में कहीं भी मैंने आपको प्रणाम नहीं किया। इस समय आपको प्रणाम करते हुए ही मैं मुक्त हो रहा हूँ; अत: शरीर-शून्य होकर भविष्य में भी प्रणतिरहित ही रहूँगा। हे महेश, मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा करना ॥५०१॥

प्रभा—यहाँ पर 'तदिदम्' शब्द से द्योतित पापविशेष (अपराधद्वय) का हेतु अनमन (भगवान् को प्रणाम न करना) है। यह (अनमन) 'पुरा क्वचिदपि नाहं भवन्तं प्रणतवान्' तथा 'अग्रेऽहमनतिभाक्' इन दोनों अवान्तर वाक्यों का अर्थ है अतः हेतु की वाक्यार्थरूपता है तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

अनुवाद—(ख) हेतु की अनेकपदार्थता (अनेक पदों द्वारा बोधित हेतु); जैसे—['मालती-माधव' में मालती के वध के लिये उद्यत अघोरघण्ट के प्रति माधव की उक्ति]—'प्रेमपूर्ण सखियों के लीलापूर्वक परिहास में होने वाले, कोमल शिरीष-कुसुमों के प्रहार से भी जो शरीर पीड़ित हो जाता है उस (मालती के) शरीर पर वध के लिये शस्त्र प्रहार करने वाले तुम्हारे शिर पर असामयिक यमदण्ड के समान यह मेरी (भयंकर) भुजा प्रहार करे' ॥५०२॥

प्रभा—यहाँ आघोरघण्ट के द्वारा मालती पर शस्त्र-प्रहार करना ही अघोरघण्ट के सिर पर (माधव के) प्रहार का हेतु है। 'वपुषि' शस्त्रमुक्षिपत:' इन अनेक पदों के द्वारा इस हेतु का कथन किया गया है। मुख्य क्रिया में साकांक्ष होने से यह शब्द-समुदाय वाक्य नहीं कहला सकता, अतएव यहाँ अनेकपदार्थ-बोधित काव्यलिङ्ग है।

अनुवाद—(ग) हेतु की एकपदार्थता (एक पद द्वारा बोधित हेतु); जैसे—[शिव की कृपा से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने वाले भक्त की उक्ति]—'हे भस्मलेपन आपका कल्याण हो; हे रुद्राक्षमाले, तुम्हारा शुभ हो; हाय, पार्वतीप्रिय शिव के प्रासाद की शोभा रूप सोपान-पंक्ति! (अर्थात् तुम्हारे वियोग का मुझे शोक है)

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोरनमनम्, भुजपाते शस्त्रोपक्षेपः, महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वं च यथाक्रममुक्तरूपो हेतुः।

(१७५) पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम्। उदाहरणम्—

यं प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥५०४॥

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि शब्देनोच्यते। तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्। यथा तु व्यङ्ग्यन्न तथोच्यते। यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे 'गौः शुक्लश्चलति' इति विकल्पः। यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथा दृष्टं तथा। यतोऽभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टं भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति।

हमें तो आज आराधना से प्रसन्न शिव ने तुम सबके आनन्द के प्रकाश को उच्छिन्न कर देने वाले मोक्ष नामक महामोह में डाल दिया है' ॥५०३॥

प्रभा—यहाँ पर मोक्ष को 'महामोह' कहा गया है उसका हेतु है 'सुखालोक का उच्छेद करना' (सुखालोकोच्छेदित्वम्)। यह समस्तपद होने से एकपदरूप ही है। अतएव यहाँ एकपदार्थबोधित काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

अनुवाद—इन (ऊपर के उदाहरणों) में (क) अपराधद्वय में पूर्व तथा अपर (भावी) जन्म में प्रणाम न करना, (ख) भुजपात में शस्त्र-प्रहार तथा (ग) महामोह में सुख के प्रकाश को नष्ट करना—(ये तीनों) क्रमशः उपर्युक्त रूप में हेतु हैं। [इनका यथास्थान प्रतिपादन किया जा चुका है]।

अनुवाद—(३१) पर्यायोक्त वह अलङ्कार है जहाँ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध के बिना ही (वाच्यार्थ का) प्रतिपादन (वचः) होता है। (१७५)

जो वाच्य-वाचकभाव से भिन्न अवगमन अर्थात् व्यञ्जना नामक व्यापार के द्वारा वाच्यार्थ का बोधन है, वह पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर से (वाच्यार्थ के) प्रतिपादन के कारण पर्यायोक्त (अलङ्कार) कहलाता है। उदाहरण—जिस (रावण या हयग्रीव) को देखकर मद ने ऐरावत के मुख में तथा अभिमान ने इन्द्र (हरि) के हृदय में चिरकाल से स्थित (पुष्ट) निवास की प्रीति को छोड़ दिया' ॥५०४॥

यहाँ पर ऐरावत और इन्द्र (दोनों) मद तथा अभिमान से मुक्त हो गये'—ऐसा व्यङ्ग्य अर्थ भी शब्द के द्वारा (अभिधा वृत्ति से) प्रतिपादित किया गया है। अतः जो वाच्य (अर्थ) है (उच्यते=अभिधया प्रतिपाद्यते) वही व्यङ्ग्य अर्थ भी है; किन्तु जिस प्रकार से व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है (व्यङ्ग्यम्) उस प्रकार से (शब्द द्वारा) वाच्य नहीं है। जैसे गौ (गोत्व) शुक्लगुण तथा चलन क्रिया (और इनके)

आश्रयरूप गोव्यक्ति) का (निर्विकल्पक) ज्ञान हो जाने पर (दृष्टे) 'श्वेत रङ्गवाली गाय चलती है' ऐसा विशिष्टज्ञान (विकल्पः=सविकल्पकज्ञान) होता है। यहाँ पर जो पहले (निर्विकल्पक द्वारा) जाना गया था (कोई प्रमाता) उसको ही सविकल्पक ज्ञान से जानता है (विकल्पयति); किन्तु जिस प्रकार से (निर्विकल्पक के समय) देखा गया था उसी प्रकार से नहीं; क्योंकि (निर्विकल्पक में) भेद-रहित तथा संसर्गरहित रूप में देखी गई वस्तु को (अतद्व्यावृत्ति रूप) भेद तथा (विशेष्य-विशेषण रूप) संसर्ग से विशिष्ट कर देता है।

प्रभा—(१) 'पर्याय का अर्थ है—प्रकार। विवक्षित (वाच्य) अर्थ का प्रकारान्तर अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति द्वारा कथन ही पर्यायोक्त अलङ्कार है।

यहाँ जो अर्थ अभिधावृत्ति द्वारा कहना होता है वही व्यञ्जनावृत्ति द्वारा प्रतीत हुआ करता है; किन्तु दोनों के प्रकार में अन्तर होता है; जैसे हमे कहना है—'यहाँ आइये' (अत्रागम्यताम्)। इसे प्रकारान्तर से कह दिया जाता है—आगमनेन अलङ्क्रियताम् इदम्'। इस प्रकार के कथन से उक्ति-वैचित्र्य हो जाता है। इसी प्रकार 'यं प्रेक्ष्य' इत्यादि उदाहरण में एक ही अर्थ—ऐरावत और इन्द्र मदमान से मुक्त हो गये'—इस प्रकार व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है किन्तु 'मद और मान ने ऐरावत के मुख तथा इन्द्र के हृदय में रहने का प्रेम छोड़ दिया'—इस प्रकार अभिधावृत्ति द्वारा कहा गया है। प्रकारान्तर से कथन होने के कारण यह चमत्कारजनक होता है, दोषावह नहीं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि एक ही अर्थ वाच्य और व्यङ्ग्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार न्याय-वैशेषिक और बौद्ध की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया का उदाहरण देते हैं। भाव यह है कि व्यावहारिक जीवन में भी एक प्रकार से अवगत अर्थ की प्रकारान्तर द्वारा प्रतीति हुआ करती है। यहाँ न्याय-वैशेषिक और बौद्ध के प्रत्यक्ष-विषयक मत-भेद को प्रकट करने के लिये भेद और संसर्ग दो शब्दों का ग्रहण किया गया है। भेद का अर्थ है—अन्यवस्तुओं से भेद= अतद्व्यावृत्ति। संसर्ग का अर्थ है—सम्बन्ध=विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध। न्याय-वैशेषिक आदि के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष (संयोग आदि) से वस्तु(अर्थ) का प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है-एक निर्विकल्पक और दूसरा सविकल्पक। प्रथमतः गाय, शुक्लगुण तथा चलन क्रिया आदि का 'यह कुछ है' (इदं किञ्चित्) इस रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है, यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है, अर्थात् इसमें गोत्व, शुक्ल, तथा चलन क्रिया आदि की असम्बद्ध (असंसृष्ट) प्रतीति हुआ करती है; निष्प्रकारक या विशेष्यविशेषणभावरहित ज्ञान होता है। इसके पश्चात् 'यह शुक्ल गाय चलती है' इस प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है, यह सविकल्पक ज्ञान है। इसमें निर्विकल्पक द्वारा गृहीत वस्तु को संसर्ग से विशिष्ट कर दिया जाता है। बौद्धदर्शन की ज्ञान-विवेचना के अनुसार नेत्र इत्यादि इन्द्रिय और गौ व्यक्ति के क्षणिक सान्निध्य से जो गौ का आभास होता है, वही निर्विकल्पक

ज्ञान है, वही वस्तुतः प्रत्यक्ष है, जिसे यहाँ दर्शन (दृष्टम्) कहा गया है। उस निर्विकल्पक ज्ञान (प्रत्यक्ष) में गौ व्यक्ति का अश्व आदि से भेद (अतद्व्यावृत्ति) नहीं भासित होता। उस निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर नाम, जाति आदि की योजना (=कल्पना) के साथ 'यह गौ है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, जिसे बौद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानता अपितु प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी सविकल्पक ज्ञान या विकल्प कहता है। उस सविकल्पक ज्ञान में गौ का अश्व आदि से भेद (अतद्व्यावृत्ति) भी भासित होता है। यह भेद या अतद्व्यावृत्ति परमार्थसत् वस्तु से भिन्न कोई वास्तविक वस्तु नहीं है अपितु कल्पित ही है।

इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा सविकल्पक ज्ञान का विषय वस्तुतः एक ही होता है। दोनों ज्ञानों में उसी का प्रकारान्तर से भान हुआ करता है। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार में भी वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ वस्तुतः एक ही होता है, उसी का प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया जाता है।

(२) पर्यायोक्त तथा ध्वनि—दोनों में वाच्य तथा व्यङ्ग्य दो प्रकार के अर्थ होते हैं किन्तु पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य और वाच्य दोनों प्रकार का अर्थ तात्पर्यतः एक ही होता है, केवल उसको भङ्ग्यन्तर से कह दिया जाता है। इसके विपरीत ध्वनि में ये दोनों अर्थ पृथक्-पृथक् होते हैं। (ii) पर्यायोक्त में वाच्य अर्थ, जो कि भङ्ग्यन्तर से कहा जाता है, अधिक चमत्कारजनक होता है, व्यङ्ग्य अर्थ अत्यन्त स्फुट होता है तथा उतना चमत्कारक नहीं होता। किन्तु ध्वनि में वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य ही अधिक चमत्कारक हुआ करता है।

पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशंसा—यद्यपि पर्यायोक्त अलङ्कार अप्रस्तुतप्रशंसा के 'कारणे प्रस्तुते कार्यस्य उक्तिः (राजन् राजसुता०)' इस भेद के समान ही प्रतीत होता है फिर भी दोनों में भेद है—उपर्युक्त अप्रस्तुतप्रशंसा में कारण प्रस्तुत होता है और कार्य अप्रस्तुत। किन्तु पर्यायोक्त में कारण के साथ-साथ कार्य भी प्रस्तुत होता है। कारण का कथन न करके केवल कार्य का वर्णन तो इसलिये किया जाता है क्योंकि उसके वर्णन में ही विशेष चमत्कार हुआ करता है।

विश्वनाथ का मत है कि 'राजन्, राजसुता०' इत्यादि में कारण और कार्य दोनों प्रस्तुत हैं और यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं, अपितु पर्यायोक्त अलङ्कार ही है।

टिप्पणी—पर्यायोक्त अलङ्कार का अलङ्कारवादी तथा ध्वनिवादी सभी आचार्यों ने विस्तार से विवेचन किया है। इसके स्वरूप का दो प्रकार से निर्देश किया गया है एक तो—'विवक्षित अर्थ का वाच्यवाचकवृत्ति के अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति (अवगमन) द्वारा प्रतिपादन'—जैसे—भामह उद्भट की उक्ति है—पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ (काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४१)। दूसरे—'गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से अभिधान; जैसे अलङ्कार सर्व-

(१७६) उदात्तं वस्तुनः सम्पत् ।

सम्पत् समृद्धियोगः यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥५०५॥

(१७७) महतां चोपलक्षणम् ॥११५॥

उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे । उदाहरणम्—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥५०६॥

स्वकार का कथन है—'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्' । यद्यपि तात्पर्यतः दोनों को एक भी कहा जा सकता है तथापि विचारणीय यह है कि जब ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने द्वितीय प्रकार को ही अपनाया था—'अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमेवाभिधीयते इति (ध्वन्यालोकलोचन) तथा बाद में रसवादी कविराज विश्वनाथ ने भी इसी को अपनाया—पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते (सा० द० १०-१६०) तब आचार्य मम्मट ने प्राचीन आलङ्कारिकों के लक्षण को क्यों महत्त्व दिया ?

अनुवाद—(३२) [प्रथम]—उदात्त अलङ्कार वह है जहाँ किसी वस्तु (धन शौर्य आदि) की (असम्भावित) समृद्धि का वर्णन होता है । (१७६)

'सम्पत्' अर्थात् वस्तु का समृद्धि से सम्बन्ध दिखलाना [इस प्रकार सम्बन्धातिशयोक्ति इस अलङ्कार की अनुप्राणिका है—उद्योत] । जैसे—'जो विद्वानों के भवनों में—रतिक्रीडा में टूटी हुई मुक्तामाला से गिरे हुए मोती झाड़ू से बुहार दिये जाते हैं और प्रातःकाल आंगन में मन्द-मन्द चलती हुई युवतियों के चरणालक्तक से कुछ लाल (अरुण) हो जाते हैं तथा अनार के दानों की शङ्का करने वाले (शङ्किता धीः येषां ते) क्रीडा के लिए पाले गये शुक उन्हें खींचने लगते हैं—यह सब महाराज भोज के दान की ही लीला है' ॥५०५॥

[द्वितीय] 'और (उदात्त अलङ्कार वह भी है) जहाँ (किसी वर्णनीय अर्थ में) उदारचरितों का अङ्गरूप में वर्णन किया जाता है (उपलक्षणम्) (१७७)

उपलक्षण का अर्थ है—अङ्गरूप होना अर्थात् मुख्यरूप से वर्णनीय (उपलक्षणीय) वस्तु में अङ्गरूप से वर्णन । उदाहरण है–[पुष्पक विमान में स्थित लक्ष्मण की अङ्गद के प्रति उक्ति-उद्योत]—'यह वह अरण्य (दण्डकारण्य) है जहाँ पर महाराज दशरथ के वचन-पालन में तत्पर राम ने निवास करते हुए केवल भुजाओं

ज्ञान है, वही वस्तुतः प्रत्यक्ष है, जिसे यहाँ दर्शन (दृष्टम्) कहा गया है। उस निर्विकल्पक ज्ञान (प्रत्यक्ष) में गो व्यक्ति का अश्व आदि से भेद (अतद्व्यावृत्ति) नहीं भासित होता। उस निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर नाम, जाति आदि की योजना (=कल्पना) के साथ 'यह गौ है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, जिसे बौद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानता अपितु प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी सविकल्पक ज्ञान या विकल्प कहता है। उस सविकल्पक ज्ञान में गौ का अश्व आदि से भेद (अतद्व्यावृत्ति) भी भासित होता है। यह भेद या अतद्व्यावृत्ति परमार्थसत् वस्तु से भिन्न कोई वास्तविक वस्तु नहीं है अपितु कल्पित ही है।

इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा सविकल्पक ज्ञान का विषय वस्तुतः एक ही होता है। दोनों ज्ञानों में उसी का प्रकारान्तर से भान हुआ करता है। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार में भी वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ वस्तुतः एक ही होता है, उसी का प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया जाता है।

(२) *पर्यायोक्त तथा ध्वनि—दोनों मे वाच्य तथा व्यङ्ग्य दो प्रकार के अर्थ होते हैं किन्तु पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य और वाच्य दोनों प्रकार का अर्थ तात्पर्यतः एक ही होता है,* केवल उसको भङ्ग्यन्तर से कह दिया जाता है। इसके विपरीत *ध्वनि में वे दोनों अर्थ पृथक्-पृथक् होते हैं। (ii) पर्यायोक्त में वाच्य अर्थ, जो कि भङ्ग्यन्तर से कहा जाता है, अधिक चमत्कारजनक होता है, व्यङ्ग्य अर्थ अत्यन्त स्फुट होता है तथा* उतना चमत्कारक नहीं होता। किन्तु ध्वनि में वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य ही अधिक चमत्कारक हुआ करता है।

पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशंसा—यद्यपि पर्यायोक्त अलङ्कार अप्रस्तुतप्रशंसा के 'कारणे प्रस्तुते कार्यस्य उक्तिः (राजन् राजसुता०)' इस भेद के समान ही प्रतीत होता है फिर भी दोनों मे भेद है—उपर्युक्त अप्रस्तुतप्रशंसा मे कारण प्रस्तुत होता है और कार्य अप्रस्तुत। किन्तु पर्यायोक्त मे कारण के साथ-साथ कार्य भी प्रस्तुत होता है। कारण का कथन न करके केवल कार्य का वर्णन तो इसलिये किया जाता है क्योंकि उसके वर्णन में ही विशेष चमत्कार हुआ करता है।

विश्वनाथ का मत है कि 'राजन्, राजसुता०' इत्यादि में कारण और कार्य दोनो प्रस्तुत हैं और यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं, अपितु पर्यायोक्त अलङ्कार ही है।

टिप्पणी—पर्यायोक्त अलङ्कार का अलङ्कारवादी तथा ध्वनिवादी सभी आचार्यों ने विस्तार से विवेचन किया है। इसके स्वरूप का दो प्रकार से निर्देश किया गया है एक तो—'विवक्षित अर्थ का वाच्यवाचकवृत्ति के अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति (अवगमन) द्वारा प्रतिपादन'—जैसे-आचार्य उद्भट की उक्ति है—**पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥** (काव्यालङ्कारसार-संग्रह ४६)। दूसरे—'गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से अभिधान; जैसे अलङ्कार सर्व-

(१७६) उदात्तं वस्तुनः सम्पत् ।

सम्पत् समृद्धियोगः यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥५०५॥

(१७७) महतां चोपलक्षणम् ॥११५॥

उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे । उदाहरणम्—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥५०६॥

स्वकार का कथन है—'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् । यद्यपि तात्पर्यतः दोनों को एक भी कहा जा सकता है तथापि विचारणीय यह है कि जब ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने द्वितीय प्रकार को ही अपनाया था—'अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमेवाभिधीयते इति (ध्वन्यालोकलोचन) तथा बाद में रसवादी कविराज विश्वनाथ ने भी इसी को अपनाया—पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते (सा० द० १०-०६०) तब आचार्य मम्मट ने प्राचीन आलङ्कारिकों के लक्षण को क्यों महत्त्व दिया ?

अनुवाद—(३२) [प्रथम]—उदात्त अलङ्कार वह है जहां किसी वस्तु (धन शौर्य आदि) की (असम्भावित) समृद्धि का वर्णन होता है। (१७६)

'सम्पत्' अर्थात् वस्तु का समृद्धि से सम्बन्ध दिखलाना [इस प्रकार सम्बन्धातिशयोक्ति इस अलङ्कार की अनुप्राणिका है—उद्योत]। जैसे—'जो विद्वानों के भवनों में—रतिक्रीडा में टूटी हुई मुक्तामाला से गिरे हुए मोती झाड़ू से बुहार दिये जाते हैं और प्रातःकाल आंगन में मन्द-मन्द चलती हुई युवतियों के चरणालक्तक से कुछ लाल (अरुण) हो जाते हैं तथा अनार के दानों की शङ्का करने वाले (शङ्किता धीः येषां ते) क्रीडा के लिए पाले गये शुक उन्हें खींचने लगते हैं—यह सब महाराज भोज के दान की ही लीला है' ॥५०५॥

[द्वितीय] 'और (उदात्त अलङ्कार यह भी है) जहां (किसी वर्णनीय अर्थ में) उदारचरितों का अङ्गरूप में वर्णन किया जाता है (उपलक्षणम्) (१७७)

उपलक्षण का अर्थ है—अङ्गरूप होना अर्थात् मुख्यरूप से वर्णनीय (उपलक्षणीय) वस्तु में अङ्गरूप से वर्णन। उदाहरण है—[पुष्पक विमान में स्थित लक्ष्मण को अङ्गद के प्रति उक्ति-उद्योत]—'यह वह अरण्य (दण्डकारण्य) है जहां पर महाराज दशरथ के वचन-पालन में तत्पर राम ने निवास करते हुए केवल भुजाओं

न चात्र वीररसः, तस्येहाङ्गत्वात् ।
(१७८) तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ,

की सहायता युक्त होकर (अकेले ही) राक्षसों (खरदूषण आदि) का विनाश किया था' ॥५०६॥

यहाँ पर वीररस (व्यङ्ग्य, ध्वनि) नहीं है; क्योंकि वह तो यहाँ (अरण्य-वर्णन) का अङ्ग है।

प्रभा—(१) 'उदात्त' अलङ्कार दो प्रकार का होता है। प्रथम तो वहाँ जहाँ, किसी वस्तु की असम्भावित (अलौकिक) समृद्धि का वर्णन किया जाया करता है। जैसे—'मुक्ताः' इत्यादि में विद्वानों के भवन की धन-समृद्धि का वर्णन किया गया है जिससे वर्णनीय भोजनृपति की समृद्धि का अतिशय अभिव्यक्त होता है। यहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति इस उदात्त अलङ्कार का पोषण करती है। द्वितीय प्रकार का 'उदात्त' अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ वर्णनीय वस्तु के उपकारक रूप में महापुरुषों का चरित-वर्णन किया जाता है। जैसे—'तदिदम्' इत्यादि में राम का वर्णन (वर्णनीय) दण्डकारण्य के उत्कर्ष की प्रतीति कराता है 'ऐसे राम ने जहाँ निवास किया'—इस रूप में अरण्य की महत्ता प्रतीत होती है।

जैसा कि मल्लिनाथ (विद्याधरकृत 'एकावलि' पर 'तरल' टीका में) ने बतलाया है, इसमें से प्रथम उदात्त में उदात्त ऐश्वर्य के साथ सम्बन्ध का वर्णन होता है द्वितीय उदात्त में वर्णनीय वस्तु से उदात्त पुरुष के चरित के सम्बन्ध का वर्णन होता है। अतः वस्तुतः ये दोनों भिन्न भिन्न अलङ्कार हैं। केवल शब्द-साम्य से एक कह दिया गया है।

(२) उदात्त, स्वभावोक्ति और भाविक—सभी में वस्तुओं के किसी स्वरूप का वर्णन किया जाता है तथापि स्वभावोक्ति और भाविक में तो वस्तुओं का यथावत् वर्णन होता है किन्तु उदात्त में वस्तुओं की कवि-कल्पित असम्भावित समृद्धि का वर्णन होता है।

(३) न चात्र वीरो रसः—'तदिदम्' आदि में 'केवल भुजबल से राक्षसों का क्षय करना'—यह वीर रस के अनुभाव की वर्णना है इस प्रकार यहाँ वीर रस ध्वनि होनी चाहिए चित्रकाव्य नहीं—यह शंका होती है। इसका समाधान है कि यहाँ 'अरण्य' वर्णनीय है। राम के उत्साह का वर्णन उसका अङ्ग होकर आया है अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय के अनुसार इसे वीररसध्वनि नहीं कह सकते अपि तु चित्रकाव्य ही कहना उचित है।

अनुवाद—(३३) समुच्चय वह अलङ्कार है जहाँ प्रस्तुत कार्य (तत्) की सिद्धि के एक साधक के रहते, अन्य कारण (अन्यत्=साधकान्तराणि) का भी होना कहा जाता है।

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकान्तराणि यत्र सम्भवन्ति स समुच्चयः। उदाहरणम्—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्म्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुरा कथन्नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥५०७॥

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति तदुपरि प्रियतमदूरस्थित्यादि उपात्तम्।

एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते।

यथाहि—

कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।

अर्थात् जिस अलङ्कार में (यत्र) उस प्रस्तुत कार्य के एक साधक के स्थित होने पर (तत्सिद्धिहेतौ एकस्मिन्) अन्य साधकों (अन्यत्=साधकान्तराणि) का कथन किया जाता है (संभवन्ति=अभिधीयन्ते) वह 'समुच्चय' कहलाता है। उदाहरण—[किसी विरहिणी की दैव के प्रति उक्ति]—'काम के बाण का निवारण करना कठिन है, फिर प्रियतम दूर हैं, मन अत्यन्त उत्सुक है, गाढ प्रेम है, नवीन यौवन है, प्राण अत्यन्त कठोर हैं, कुल पवित्र है, स्त्री होना धैर्य धारण में बाधक है, यह समय (वसन्त) कामदेव का सहायक है, यमराज भी प्राण हरने में समर्थ नहीं (अक्षमः), सखियाँ (नायक से मिलाने में) चतुर नहीं हैं—इस प्रकार यह मर्मभेदी (शठ.) विरह कैसे सहा जाय ?' ॥५०७॥

यहाँ पर काम के बाण (कारण) ही विरह को असह्य (कार्य) बना देते हैं और ऊपर से 'प्रियतमदूरस्थिति' आदि (अनेक कारणों का) ग्रहण किया गया है।

प्रभा—(१) जहाँ एक हेतु से कार्य-सिद्धि हो सकने पर भी खलेकपोत (खलिहान में एक साथ दाना चुगने के लिए गिरने वाले कबूतरों की भाँति) न्याय से अनेक कारणों का वर्णन किया जाता है वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है।

(२) समुच्चय तथा काव्यलिङ्ग—समुच्चय में कार्य करने में समर्थ हेतुओं का सहभाव होता है; काव्यलिङ्ग में तो हेतुमात्र का कथन होता है वहाँ हेतुओं का गुण-प्रधान भाव या एकत्व-अनेकत्व का विचार नहीं होता।

अनुवाद—यह (उक्तलक्षणः) समुच्चय ही—('रुद्रट' आदि निर्दिष्ट) (क) सद्योग अर्थात् शोभन वस्तुओं के समुच्चय (Combination) में (ख)—असद्योग अर्थात् अशोभन वस्तुओं के योग में तथा (ग) सदसद्योग अर्थात् शोभन और अशोभन वस्तुओं के योग में—घटित होता है; इसलिये यहाँ (सद्योगसमुच्चय आदि रूप से) पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं किया गया; जैसे कि—

प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजन्, त एव तवाङ्कुशाः ॥५०८॥

अत्र सतां योगः। उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५०९॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभनयोगः।

(क) 'हे राजन्, निर्मल कुल, शोभन आकृति, वेदाभ्यास से शोभित बुद्धि, पर्याप्त बाहु-बल, समृद्ध लक्ष्मी, अकुण्ठित प्रभुता—ये पदार्थ स्वभाव से ही सुन्दर हैं। इनके द्वारा यह मनुष्य अत्यन्त गर्व को प्राप्त हो जाता है; किन्तु ये ही (पदार्थ) आपके लिये तो विनय के हेतु (अंकुशाः) हैं' ॥५०८॥

यहाँ पर (कुलनिर्मलता आदि) शोभन कारणों का समुच्चय है। (ख) उपर्युक्त (दुर्वाराः आदि) उदाहरण में तो अशोभनों (काम-बाण आदि) का समुच्चय है।

(ग)—[नीतिशतक के पद्य में] 'दिवस में धुंधला चन्द्रमा, ढलते हुए यौवन वाली सुन्दरी, कमलहीन सरोवर, सुन्दर आकृति वाले व्यक्ति का विद्याहीन मुख, धन का लोभी स्वामी, निरन्तर दरिद्र (दुर्गतः) सज्जन, राजप्रासाद में उपस्थित दुष्ट-जन—ये सात मेरे मन में शल्य (बाण का अग्रभाग अर्थात् चुभने वाले) हैं' ॥५०९॥

यहाँ पर धूसर शशिरूप शल्य (व्यथाहेतु) के रहते अन्य व्यथा-हेतुओं का ग्रहण किया गया है—इस प्रकार अनेक शोभनाशोभन (शोभनाश्च ते अशोभनाश्च—इति कर्मधारयः) वस्तुओं का समुच्चय है।

प्रभा—रुद्रट आदि आचार्यों ने सद्योगसमुच्चय इत्यादि रूप से त्रिविध समुच्चय का पृथक् पृथक् निरूपण किया है। जैसे—यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव। ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः। (काव्यालङ्कार ७.१९) आचार्य मम्मट इन तीनों प्रकारों के पृथक् विवेचन को युक्तियुक्त नहीं मानते। उनका अभिप्राय है कि समुच्चय के सामान्यलक्षण से ही इन तीनों का भी ग्रहण हो जाता है अतः इनके पृथक् पृथक् लक्षण की आवश्यकता नहीं। (क) यहाँ पर 'सत्' का अर्थ है शोभन या समीचीन अर्थात् वक्ता द्वारा उपादेय रूप में अभिप्रेत 'कुलममलम्' इत्यादि में निर्मल कुल आदि स्वभाव से सुन्दर होने के कारण उपादेय हैं अतः सत् हैं। यहाँ दर्प तथा (प्रकृत राजा के पक्ष में) दर्पाभावरूप कार्य में निर्मलकुलरूपहेतु ही समर्थ है फिर 'भद्रमूर्ति' आदि अनेक हेतुओं का कथन किया गया है अतः सामान्य

(१७६) स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रियाः ॥१२६॥

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः । क्रमेणोदाहरणम्—

१. विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।
प्रखलमुखानि नराधिप, मलिनानि च तानि जातानि ॥५१०॥

२. अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥५११॥

लक्षण के अनुसार ही समुच्चयालङ्कार है। (ख) असत् का अर्थ है अनुपादेय होने के कारण अशोभन। 'दुर्वारा.' इत्यादि में कामबाण (स्मरमार्गण) आदि अशोभनों का समुच्चय है। विरहिणी के लिये दुःखप्रद होने से काम—बाण आदि अनुपादेय तथा असत् हैं। (ग) ('सदसत्' शब्द की दो व्याख्याएं है-(i) सन्तश्च असन्तश्च सदसन्तः (द्वन्द्व) तेषां योगः, अर्थात् शोभनों और अशोभनों का योग (प्रदीप) (ii) सन्तश्च ते असन्तश्च (कर्मधारय) तेषां योगः; अर्थात् शोभन और अशोभन दोनों धर्मों से युक्त वस्तुओं का योग इसमें प्रत्येक वस्तु शोभन और अशोभन धर्म से युक्त होती है (उद्योत)। दूसरी व्याख्या ही अधिक उपयुक्त मानी जाती है। ऊपर के उदाहरण में चन्द्रमा स्वत. शोभन है किन्तु दिवस में कान्तिहीन होकर अशोभन हो जाता है। 'शशी' इत्यादि उदाहरण में ऐसे अनेक व्याघाकृत् हेतुओं का ग्रहण किया गया है जबकि एक हेतु से ही व्याघाकार्य सिद्ध हो सकता है अतएव यहां समुच्चय का सामान्य लक्षण ही घटित होता है।

अनुवाद—यह तो एक अन्य प्रकार का समुच्चय—अलङ्कार है जो गुण और क्रियाओं का एक काल में होना (वर्णित किया जाता) है। (१७६)

(कारिका में) गुणक्रियाः अर्थात् (१) गुण और गुण (गुणौ च) (२) क्रिया और क्रिया (क्रिये च) तथा (३) गुण और क्रिया (गुणक्रिये च) [यह द्वन्द्व समास होकर गुणक्रियाश्च गुणक्रिये च=गुणक्रियाः यह एक शेष होता है। इस प्रकार यह समुच्चय तीन प्रकार का है—१. गुणों का यौगपद्य २. क्रियाओं का यौगपद्य तथा ३. गुण क्रिया का यौगपद्य] क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) 'हे राजन्, समस्त शत्रुकुल का विनाश करने वाली तुम्हारी सेना (बलम्) शीघ्र ही निर्मल हो गई और दुष्टजनों के मुख भी मलिन हो गये' ॥५१०॥

(२) [विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा की उक्ति] 'उस प्रिया (उर्वशी) से मेरा अकस्मात् (एकपदे) यह दुःसह वियोग हो गया है (उपनतः=प्राप्तः) और (उधर) नवजलधरों के आगमन से ये दिवस आतपरहित होने के कारण रमणीय होने वाले हैं' ॥५११॥

३. कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात् सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः ।
पतितं च महीपतीन्द्र, तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥५१२॥

'धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिमित्यादेः', 'कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये ।' इत्यादेश्च दर्शनात् 'व्यधिकरणे' इति 'एकस्मिन्देशे' इति च न वाच्यम् ।

---

(३) 'हे नृपेन्द्र, श्वेत कमल के समान (सोदर) शोभा वाले आपके नेत्र शत्रुओं पर अकस्मात् क्रोध से रक्त (कलुषं=कषायं) हो गये और उन (शत्रुओं) के शरीर पर विपत्तियों के कटाक्ष (क्रूर दृष्टि) स्पष्ट रूप से गिर गये' ॥५१२॥

प्रभा—*गुण क्रिया के इस समुच्चय में (१) कहीं तो दो या अधिक गुणों का* समुच्चय होता है । जैसे—'विदलित' इत्यादि में दो बार 'च' (और) के प्रयोग से 'विमलता' और 'मलिनता' दो गुणों का समुच्चय प्रकट होता है । (२) कहीं दो या अधिक क्रियाओं का समुच्चय होता है; जैसे—'अयमेकपदे' इत्यादि में दो बार 'च' के प्रयोग से 'उपनत' तथा 'भवितव्यम्' से बोधित क्रियाओं का यौगपद्य प्रकट होता है । (३) कहीं गुण तथा क्रिया का समुच्चय होता है; जैसे—'कलुष' इत्यादि में 'कलुषत्व' (लालिमा) गुण है तथा 'पतन' क्रिया है । दोनों का सहभाव दो 'च' के प्रयोग से प्रकट हो रहा है ।

क्रियासमुच्चय और कारकदीपक–यद्यपि दोनों में अनेक क्रियाओं का समुच्चय होता है तथापि (i) समुच्चय में सभी क्रियायें एक साथ होती हैं किन्तु कारकदीपक में वे क्रमशः होती हैं । (ii) समुच्चय में क्रियायें समानाधिकरण या व्यधिकरण दोनों प्रकार की होती हैं, कारकदीपक में समानाधिकरण ही होती है ।

अनुवाद—(परमत का निराकरण) यह (समुच्चय अलङ्कार) भिन्न-भिन्न अधिकरण (आश्रय भेद) होने पर ही होता है अथवा एक अधिकरण (सामानाधिकरण्य) होने पर ही होता है—इस प्रकार (नियम) न कहना चाहिये; क्योंकि (क) *वह अपनी तलवार घुमाता है तथा कीर्ति को फैलाता है ।* इत्यादि (सामानाधिकरण्य में 'धुनोति' तथा 'तनुते' क्रियाओं का समुच्चय) तथा (ख) 'कृपाण हाथ में लिये आप संग्राम भूमि में उतरे और स्वर्गलोक में देवता साधुवाद देने लगे ।' इत्यादि (वैयधिकरण्य में भी कृपाण ग्रहण तथा साधुवाद करण दो क्रियाओं का) समुच्चय देखा जाता है ।

प्रभा—(१) प्रस्तुत अवतरण में रुद्रट की मान्यता का निराकरण किया गया है । रुद्रट का मत है कि जहाँ गुण तथा क्रिया आदि भिन्न २ आश्रयों में होते हैं वहीं समुच्चय अलङ्कार होता है-व्याधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ ॥ (काव्यालङ्कार ७.२७) । मम्मट का कथन है कि यह युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'धुनोति०' इत्यादि में सामानाधिकरण्य में भी समुच्चय होता है । इसी प्रकार सामानाधिकरण्य में ही समुच्चय होता है यह

(१८०) एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः ।

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः। क्रमेणोदाहरणम्—

१. नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट ।
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ,
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥५१३॥

यथा वा—

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि, पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि, लक्ष्यते ॥५१४॥

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वादेकत्वमविरुद्धम् ।

२. तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेण ॥५१५॥
(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥)

नियम भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'कृपाणपाणिश्च' इत्यादि में व्यधिकरण में भी समुच्चय होता है ।

(२) यहाँ 'व्यधिकरणे इति' यह पद रुद्रट को लक्ष्य करके दिया गया है। 'एकस्मिन् देशे' यह भी रुद्रट के ही कथन का अंश है । व्यधिकरण और समानाधिकरण दोनों दशाओं में समुच्चय हो सकता है'—यह दिखलाने के लिये ही यह सब कहा गया है ।

अनुवाद—(३४) पर्याय वह अलङ्कार है जहाँ एक ही वस्तु क्रमशः अनेक (आधारों) में होती है । (१८०)

अर्थात् जहाँ एक वस्तु क्रमशः १—अनेकों में होती है या २—की जाती है वह अलङ्कार पर्याय कहलाता है । क्रमशः उदाहरण हैं—

(१) (भल्लटशतक ४) 'रे उत्कटविष, एक के पश्चात् दूसरे उत्कृष्ट पद को प्राप्त करने की इस आश्रयविधि [रहने की रीति] का तुझे किसने उपदेश दिया है ? प्रथम तो तुम सागर के हृदय में, फिर [अथ] वृषभ है चिह्न [वाहन] जिसका ऐसे महादेव के कण्ठ में रहे और अब तो [पुनः] दुष्टों की वाणी में बसते हो' ॥५१३॥

अथवा जैसे—(नवसाहसाङ्कचरित ६.६०) 'हे कृशाङ्गि' पहले तो तुम्हारे बिम्ब-सदृश ओष्ठ में राग (लालिमा) दिखाई देता था और हे मृगनयनी, अब यह राग (प्रेम) हृदय में भी दिखलाई देता है ॥५१४॥

यहाँ राग-पदार्थ (लालिमा) और (प्रेम) में वस्तुतः भेद है किन्तु (श्लेष के द्वारा) दोनों को अभिन्न रूप में (एकतया) मान लेने के कारण दोनों की एकता में कोई विरोध नहीं ।

(२) [आनन्दवर्धनकृत विषमबाणलीला की इस उक्ति में] 'उन (राक्षसों)

(१८१) अन्यस्ततोऽन्यथा ।

'अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः । क्रमेणोदाहरणम्—

१. मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।
अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालाहलं विषं तदेव ॥५१६॥

२. तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।

का मन जो लक्ष्मी के सहोदर रत्न (कौस्तुभमणि) के हरण में तल्लीन था उसे कामदेव ने प्रिया (मोहिनी) के बिम्ब-सदृश अधर में लगा दिया' ॥५१५॥

प्रभा—जहाँ एक वस्तु का अनेक में क्रम से सम्बन्ध दिखलाया जाता है वह प्रथम पर्याय (अलङ्कार) है । यह दो प्रकार का है—(१) क—जहाँ प्रयोजक का निर्देश नहीं होता जिसे वृत्ति में 'भवति शब्द द्वारा प्रकट किया गया है; जैसे—'नन्वाश्रय' इत्यादि में किसी प्रयोजक के बिना ही एक कालकूट की क्रमशः अनेक स्थानों में स्थिति दिखलाई गई है । ख—यहाँ वस्तु की वास्तविक एकता विवक्षित नहीं है, अतएव जहाँ कल्पित (आरोपित) एकता है वहाँ भी पर्याय अलङ्कार होता है । जैसे—'बिम्बोष्ठ' इत्यादि मे राग के दोनों अर्थों-लालिमा और प्रीति-में श्लेष से एकता मान ली गई है । यहाँ प्रयोजक का निर्देश नहीं किया गया तथा एक ही राग क्रमशः ओष्ठ और हृदय में रहता है ।

(२) जहाँ प्रयोजक का निर्देश होता है (क्रियते); जैसे 'तत्त्वेषाम्' इत्यादि में राक्षसों का एक ही हृदय क्रमशः 'कौस्तुभमणि' तथा 'मोहिनी' के बिम्बाधर में, स्थित दिखलाया गया है; यहाँ 'कामदेव' प्रयोजक है, इसी हेतु यहाँ (किसी के द्वारा) किया जाता है (क्रियते) का उदाहरण रूप पर्याय अलङ्कार है ।

[टिप्पणी—'भवति' का अर्थ होता है—'स्वाभाविक' रूप से होना' । यह अर्थ मानने पर 'नन्वाश्रयः इत्यादि में पर्याय अलङ्कार का लक्षण घटित न होगा; क्योंकि शिव के कण्ठ में 'कालकूट' की स्वाभाविक स्थिति नहीं है । इसलिए 'भवति' का अर्थ 'प्रयोजक का निर्देश न होना'—किया गया है ।

अनुवाद—द्वितीय पर्याय वह है जो उस (प्रथम पर्याय) से विपरीत होता है । (१८१) अर्थात् जहाँ अनेक वस्तुएं एक (आधार) में क्रमशः (१) होती हैं अथवा (२) की जाती हैं, वह अन्य पर्याय अलङ्कार है । क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(१) 'अहो' ! मधुरता के कारण मनोहर होने वाला दुष्टों का वचन प्रथम तो प्रायधिक अमृत प्रकट करता है तत्पश्चात् वही उदरगत तीव्र विष के समान मोह के हेतु को बतलाता है अर्थात् मूर्छा का कारण बनता है' ॥५१६॥

(२) [सुदामा के नवीन भवन को देखकर कोई कहता है]—'(कहाँ तो) झुकी दीवारों वाला वह घर और (कहाँ) स्वर्ग (आकाश) में स्थान प्राप्त करने

स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥५१७॥

अत्रैकस्यैव ह्यानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न परिवृत्तिः ।

वाला (गगनचुम्बी) यह प्रासाद ! (तब) वह बूढ़ी गाय थी और (अब) ये मेघसदृश गजपंक्तियाँ (घटा) गरजती हैं । वह मन्द सी मूसल की ध्वनि थी और (अब) युवतियों का यह मधुर संगीत है । आश्चर्य की बात है कि यह (सुदामा) ब्राह्मण (थोड़े) दिनों में ही इस इतनी (समृद्ध) अवस्था (भूमिम्) को पहुँचा दिया गया ॥५१७॥

यहाँ पर एक ही (कर्ता) का लेन-देन (उपादान-हान) विवक्षित नहीं है अतः परिवृत्ति अलङ्कार नहीं (अपि तु पर्याय अलङ्कार है) ।

प्रभा—(१) मधुरिम 'इत्यादि में खल-वचन रूप एक ही आधार में अमृत-व्यञ्जना' और 'विषकथन,—इन अनेक वस्तुओं की क्रमशः स्थिति का वर्णन किया गया है । यहाँ किसी प्रयोजक हेतु का निर्देश नही किया गया अतः यहाँ एक ही आधार में अनेक वस्तुओं के होने (भवति) का वर्णन है तथा द्वितीय पर्याय अलङ्कार है । (२) 'तद्गेहम्' इत्यादि में एक ही द्विज में अनेक मन्दिर आदि का सम्बन्ध दिखलाया गया है । 'दिवसैः' (कर्तृ) इसका प्रयोजक हेतु है अतः' एक ही आधार में वस्तुओं का किया जाना रूप द्वितीय पर्याय है ।

(३) अत्र—न परिवृत्तिः—परिवृत्ति का अर्थ है—विनिमय अर्थात् एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु लेना—विनिमयोऽत्र किञ्चित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्— (अलङ्कारसर्वस्व) । इस दृष्टि से 'तद्गेहम्' इत्यादि में परिवृत्ति अलङ्कार है; क्योंकि पुरातन घर के स्थान पर नवीन भवन लिया जाने का वर्णन है । यह शंका है । इसका समाधान करते हुए आचार्य मम्मट ने 'अत्र इत्यादि' कहा है । झ- वामनाचार्य के अनुसार इसका भाव यह है कि जहाँ एक व्यक्ति के द्वारा अपनी कोई वस्तु देकर (हानं=स्वीयवस्तुमर्पणम्) दूसरे की कोई वस्तु ली जाय (उपादानं= परकीयवस्तुग्रहणम्) वहाँ परिवृत्ति अलङ्कार होता है । यहाँ एककर्तृक हानोपादान विवक्षित नहीं है अतः परिवृत्ति अलङ्कार नहीं है—'एककर्तृकहानोपादानयोस्सतो हि परिवृत्तिः न त्वत्र तयोरिति भावः' । संकेत नामक टीका में माणिक्यचन्द्र का कथन है—'अत्र गेहादि त्यज्यत एव न तु केनापि स्वीक्रियते परिवृत्तौ तु यदेकेन त्यज्यते तदन्येन गृह्यते' अर्थात् यहाँ घर आदि का त्याग किया गया है किसी अन्य के द्वारा उसका ग्रहण नही किया गया; परिवृत्ति अलङ्कार मे जो एक के द्वारा दिया जाता है वह दूसरे के द्वारा लिया जाता है ।

इस प्रकार परिवृत्ति में एक ही कर्ता एक वस्तु को त्याग कर दूसरी वस्तु का ग्रहण करता है तथा एक के द्वारा त्यागी हुई वस्तु को दूसरा स्वीकार करता है,

(१८२) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥११७॥

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्। धर्मिणि अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम्। यथा—

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः ॥५१८॥

साध्य-साधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किञ्चिद् वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्।

किन्तु पर्याय में एक ही वस्तु का अनेक आश्रयों में या अनेक वस्तुओं का एक आश्रय में क्रमशः रहने का वर्णन होता है।

टिप्पणी—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट ने परिवृत्ति के प्राचीन लक्षण को परिष्कृत करके उसमें 'एकस्यैव' (एक व्यक्ति के द्वारा ही) यह पद और और जोड़ दिया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी यही लक्षण स्वीकार किया है—'परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिः।

अनुवाद—(३५) अनुमान वह अलङ्कार है जहाँ साध्य (सिद्ध करने योग्य अग्नि आदि) और साधन (हेतु-धूम आदि) भाव का कथन किया जाता है। (१८२)

(i) पक्ष में रहना (पक्षधर्म), (ii) सपक्ष में रहना (अन्वयित्वम्=सपक्षसत्त्व), (iii) विपक्ष में न रहना (व्यतिरेकित्वम्=विपक्ष-असत्त्व)—इस प्रकार से रूपत्रयसम्पन्न हेतु ही साधन (कहलाता) है। धर्मी अर्थात् पक्ष पर्वत आदि में व्यापक (अग्नि आदि) का अवश्य सम्बन्ध होना (अयोगस्य असम्बन्धस्य व्यवच्छेदः व्यावृत्तिः) ही साध्यता है। अनुमान का उदाहरण है—

'क्योंकि ये तरङ्गों के समान चञ्चल नेत्रों वाली कामिनियाँ जिस (युवक) पर कटाक्ष करती हैं, उस (युवक) पर ही ये मर्मभेदी (काम के) बाण निरन्तर गिरने लगते हैं (साध्य); इसलिए (तत्) युवतियों का आज्ञाकारी (शासनधरः) तथा अत्यन्त क्रुद्ध और इसीलिए धनुष को खींचकर चढ़ाये हुए (अञ्चित) बाणों पर हाथ फेरता हुआ (प्रेङ्खत्करः) कामदेव इन (कामिनियों) के सामने ही सदा आगे आगे दौड़ता है' ॥५१८॥

साध्य और साधन का पूर्व-अपर भाव (आगे पीछे होना) बदल जाने पर कोई (विशेष) चमत्कार नहीं होता अतः वैसा (भेद या उदाहरण) प्रदर्शित नहीं किया गया।

प्रभा—(१) त्रिरूपो हेतुः—जिस आधार में कोई वस्तु सिद्ध की जाती है, वह पक्ष कहलाता है, जैसे='पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर पर्वत पक्ष है। जहाँ

अग्नि आदि साध्य का होना निश्चित होता है, वह सपक्ष है; जैसे पाकशाला आदि। जहाँ साध्य का अभाव निश्चित है वह विपक्ष है; जैसे सरोवर आदि ।

जिसके द्वारा वह वस्तु सिद्ध की जाती है, वह हेतु है; जैसे—यहाँ 'धूम' हेतु है; क्योंकि 'धूम होने से' अग्नि की सिद्धि की जाती है ।·यह हेतु रूपत्रयसम्पन्न होकर ही किसी वस्तु का साधन (सिद्धि कराने वाला) होता है—हेतु का रूपत्रय है—(१) पक्षसत्त्व (पक्षधर्मता)—हेतु (धूम) का पक्ष (पर्वत) में होना, (२) सपक्षसत्त्व—हेतु का सपक्ष (पाकशाला आदि) में नियत रूप से रहना, इसी को अन्वय कहा जाता है, (३) विपक्षासत्त्व—हेतु का विपक्ष (सरोवर आदि) में नियत रूप से न रहना इसी को व्यतिरेक कहा जाता है ।

पक्ष को ही धर्मी (हेतु आदि धर्मयुक्त) कहते हैं। न्यूनदेश में रहने वाला धूम आदि व्याप्य तथा अधिक देश में स्थित अग्नि आदि व्यापक कहलाते हैं। पर्वत आदि पक्ष (धर्मी) से व्यापक अग्नि का अयोग (असम्बन्ध) नहीं है अर्थात् अवश्य सम्बन्ध है यह कहना ही अग्नि की साध्यता कही जाती है। किन्तु 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि में अनुमान अलङ्कार नही होता; क्योंकि यहाँ चमत्कार-जनकता नही है; भाव यह है कि कवि-प्रतिभा द्वारा कल्पित जो किसी धर्मी में साधन द्वारा साध्य का प्रतिपादन है वह अनुमान अलङ्कार है ।

(२) 'यत्रैता' इत्यादि के पूर्वार्ध में 'यत्र', 'तत्र' इन दोनों पदों के द्वारा 'कटाक्ष-क्षेप' तथा बाण-पतन की व्याप्ति प्रतीत होती है यह शर-पतन उत्तरार्ध में कथित साध्य (रमणियों के आगे कामदेव का दौड़ना) का साधन हो जाता है। इस प्रकार साध्य-साधन के कथन से यहाँ अनुमान अलङ्कार है, किन्तु यह साध्यसाधन-भाव लोकसिद्ध नहीं, अपि तु कवि-प्रतिभा द्वारा कल्पित है। अनुमान का प्रयोग यह है—'एताः (रमण्यः) पुरोगामिमदनाः मार्गणपातनियतभ्रूव्यापारवत्त्वात्' ।

(३) 'यत्रैताः' इत्यादि के पूर्वार्ध मे 'साधन' का कथन किया गया है तथा उत्तरार्ध में साध्य का। इसके विपरीत जहाँ साध्य का पूर्व कथन किया जाता है तथा साधन का बाद में अर्थात् साध्यसाधन का पौर्वापर्य-विपर्यय हो जाता है वहाँ पर रुद्रट आदि ने अनुमान-अलङ्कार का अन्य भेद माना है। आचार्य मम्मट का कथन है कि ऐसे स्थलों पर चमत्कार में कोई विशेषता नहीं होती, अतः उसका पृथक् कथन करने की आवश्यकता नही ।

(४) अनुमान और काव्यलिङ्ग—(द्र० ऊपर काव्यलिङ्ग) ।

अनुमान और उत्प्रेक्षा—कभी-कभी दोनों अलङ्कारों की स्थिति मन्ये, शङ्के, सत्यम्, वक्ति, कथयति आदि शब्दों द्वारा प्रकट होती है, तथापि दोनों में भेद यह है—(i) उत्प्रेक्षा सम्भावना (उत्कटैककोटिसन्देह) पर आधारित होती है किन्तु अनुमान में काव्यप्रसिद्ध हेतु के द्वारा साध्य का निश्चय किया जाता है (ii) उत्प्रेक्षा साधर्म्य (उपमानोपमेय-भाव) पर आधारित है, किन्तु अनुमान में हेतुहेतुमद्भाव होता है ।

(१८३) विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

अर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥५१६॥

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः ।

अनुवाद—(३६) परिकर वह अलङ्कार है जहाँ अभिप्राययुक्त विशेषणों के द्वारा (विशेष्य अर्थात् वर्णनीय अर्थ की) परिपुष्टि (उक्ति) होती है । (१८३)

अर्थात् विशेष्य की (परिपुष्टि); उदाहरण है—[किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के प्रति दूत की उक्ति]—'महान् तेजस्वी, स्वाभिमानी, धन से सत्कृत, संग्राम में कीर्ति प्राप्त करने वाले, न (अधिक) मिले हुए और न परस्पर भिन्नव्यवहार वाले अर्थात् एकमतवाले धनुर्धर (योद्धा लोग) उस (दुर्योधन) के अभीष्ट कार्यों को प्राणों के (समर्पण) द्वारा भी पूर्ण करना चाहते हैं' ॥५१६॥

यद्यपि (सप्तम उल्लास में) अपुष्टार्थ का दोषरूप में कथन किया है अतः उसके निराकरण से पुष्टार्थत्व की (काव्य के उपकारक रूप में) स्वीकृति कर ली गई—तथापि एक (विशेष्य) में अन्वित अनेक विशेषणों के (उपर्युक्त उदाहरण के समान) कथन में एक (विशेष) चमत्कार होता है इसलिए अलङ्कारों के मध्य में 'परिकर' की गणना की गई है ।

प्रभा—(१) अनेक सार्थक विशेषणों के द्वारा वर्णनीय अर्थ का परिपोषण ही परिकर अलङ्कार है । 'महौजसो' इत्यादि में 'महौजसः' आदि विशेषणों का 'दूसरों के द्वारा अभिभूत न होने योग्य' आदि अभिप्राय है । इनके द्वारा 'धनुर्भृतः' विशेष्य की परिपुष्टि होती है तथा उससे प्रधान (दुर्योधन) का उत्कर्ष प्रतीत होता है—क्योंकि किसी लोभ, भय आदि के बिना ही स्वाभाविक स्नेह के कारण धनुर्धारी वीरजन दुर्योधन की अभीष्ट सिद्धि करते हैं अतः वह दुर्जेय है, यह व्यङ्ग्य है । इस प्रकार यहाँ परिकरालङ्कार है ।

(२) यद्यपि इत्यादि शंका का आशय यह है कि अपुष्टार्थत्व को दोष कहा गया है अतः पुष्टार्थत्व दोषाभावमात्र है फिर इसका अलङ्कारों में पाठ क्यों किया गया ? 'तथापि' इत्यादि समाधान का अभिप्राय यह है कि अनेक साभिप्राय विशेषणों के ग्रहण करने पर केवल दोषाभाव ही नहीं होता अपि तु एक विशेष चमत्कार की भी अनुभूति होती है, इसलिये परिकर का अलङ्कारों में पाठ किया गया है ।

(१८४) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥११८॥

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यद्-पह्नूयते सा व्याजोक्तिः। न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात्। उदाहरणम्—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥५२०॥

---

(३) मम्मट के अनुसार अनेक साभिप्राय विशेषणों के होने पर ही परिकर अलङ्कार होता है। विश्वनाथ ने भी यही स्वीकार किया है। किन्तु प्रदीपकार के अनुसार एक साभिप्राय विशेषण के होने पर भी परिकर हो सकता है। जगन्नाथ को भी यही अभिमत है।

उद्योतकर के अनुसार विशेष्य के साभिप्राय होने पर भी परिकर अलङ्कार होता है। जयदेव ने भी चन्द्रालोक में यही माना है। किन्तु सुधासागरकार का मत है कि केवल विशेष्यांश कभी भी साभिप्राय नहीं हो सकता। अतः विशेषणों के साभिप्राय होने पर ही परिकर अलङ्कार होता है।

(४) परिकर और काव्यलिङ्ग—यद्यपि पदार्थगत काव्यलिङ्ग तथा परिकर दोनों में ही पद का अर्थ हेतु को प्रस्तुत करता है तथापि (i) काव्यलिङ्ग में पद का वाच्यार्थ ही हेतु होता है, जबकि परिकर में वाच्यार्थ से प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ हेतु होता है, (ii) काव्यलिङ्ग का चमत्कार इसमें है कि पदार्थ या वाक्यार्थ वर्ण्य विषय का हेतु होता है किन्तु परिकर की चारुता यह है कि साभिप्राय विशेषणों द्वारा व्यञ्जित अर्थ वाच्य अर्थ को अधिक चमत्कारक बना देता है।

टिप्पणी—निदर्शनकार का मत है कि यहां तक आचार्य मम्मट की कृति है। इससे आगे अल्लट आचार्य की। कहा भी है—'कृतःश्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा'।

अनुवाद—(३७) व्याजोक्ति वह अलङ्कार है जहाँ स्पष्ट रूप में प्रकट हुए वस्तुस्वरूप का कपट से छिपाना—वर्णित किया जाता है। (१८४)

जो गुप्त भी वस्तु का स्वरूप किसी प्रकार (चिह्नविशेष आदि से) स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है (उद्भिन्न), यदि उसे किसी बहाने (कल्पित कारण) से (छद्मना) छिपा लिया जाता है तो वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होता है। यह अपह्नुति नहीं (कही जा सकती) है; क्योंकि इसमें प्रकृत (वर्णनीय) तथा अप्रकृत दोनों में स्थित (किसी प्रकार के) साम्य का अभाव होता है। उदाहरण है—

[भवानी तथा शङ्कर के वैवाहिक इतिवृत्त का वर्णन]—'पर्वतराज हिमालय के द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वती के कर-स्पर्श से प्रकटित रोमाञ्च आदि से

अथ पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः।

(१८५) किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
ताहगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥११२॥

शिथिल तथा समस्त (वैवाहिक) कार्य-व्यापार के भङ्ग हो जाने से व्याकुल अतएव हिमालय के अन्तःपुर की माताओं तथा शिवजी के (नन्दी आदि) गणों के द्वारा मुस्कराहट के साथ देरो गये जिस महादेव ने यह कहा—'अहो! हिमालय के हाथों की शीतलता।' वे शिव तुम्हारी रक्षा करें' ॥५२०॥

यहाँ पर रोमाञ्च और कम्पन (पार्वतीविषयक शिवगत रतिभाव के) सात्त्विक अनुभाव के रूप में प्रकट हो रहे हैं, किन्तु (हिमालय की) शीतलता के कारण से होने वाले कहे गये हैं; अतएव उनका स्वरूप छिपाया गया है और वे 'व्याजोक्ति' के प्रयोजक हैं।

प्रभा—(१) वस्तुतः तो यहाँ पार्वतीविषयक शिवगत गूढ रतिभाव पुलक और कम्पन (चिह्न) द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। पुलक और कम्पन को शीतजन्य बतलाकर उस रतिभाव का अपलाप किया गया है; अतः व्याजोक्ति अलङ्कार है। यह प्रदीप उद्योत आदि व्याख्याओं में स्पष्ट किया गया है।

(२) व्याजोक्ति और अपह्नुति-(समानता) दोनों अलङ्कारों में एक वस्तु को छिपाकर उसके स्थान पर दूसरी को प्रकट किया जाता है। (भेद) (i) अपह्नुति में गोपनीय को शब्दों द्वारा कहा जाता है (नेदं मुखम्); किन्तु व्याजोक्ति में पाठक को स्वयं ही उसकी उद्भावना करनी होती है जैसे 'शैलेन्द्र०' इत्यादि में 'रति भाव' कहा नहीं गया। (ii) अपह्नुति में उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाती है; किन्तु व्याजोक्ति में किसी का निषेध नहीं किया जाता अपितु प्रकट हो जाने वाली वस्तु का किसी अन्य निमित्त से होना बतलाया जाता है। (iii) अपह्नुति में एक प्रस्तुत होता है और दूसरा अप्रस्तुत जो उपमेय तथा उपमान रूप में आते हैं; किन्तु व्याजोक्ति में दोनों ही प्रस्तुत होते हैं जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'रति' और शैत्य दोनों प्रस्तुत ही हैं। तथा (iv) अपह्नुति प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साम्य पर निर्भर है, व्याजोक्ति नहीं।

अनुवाद—(१८) [किञ्चित् पृष्टम् अपृष्टं वा शब्देन कथितं (सत्) तादृगन्यव्यपोहाय यत् प्रकल्पते सा तु परिसंख्या स्मृता—यह अन्वय है] परिसंख्या वह अलङ्कार है जहाँ पूछी गई अथवा न पूछी गई वस्तु (शब्द के द्वारा) कही जाकर अपने जैसी किसी अन्य वस्तु के व्यवच्छेद (निराकरण) में पर्यवसित हो जाती है। (१८५)

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या। अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

१. किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥५२१॥

अर्थात् अन्य (शास्त्र पुराणादि) प्रमाणों द्वारा अवगत वस्तु भी जब शब्द से प्रतिपादित होकर अन्य प्रयोजन न होने से अपने जैसी अन्य वस्तु की व्यावृत्ति (निराकरण) के रूप में परिणत हो जाती है, वही परिसंख्या है। यहाँ पर वस्तु का कथन (१) प्रश्नपूर्वक और (२) अप्रश्नपूर्वक (अन्यथा) देखा जाता है तथा इन दोनों स्थलों में व्यवच्छेद्य (जिसका व्यवच्छेद या निराकरण किया जाता है) वस्तु भी (दो प्रकार की) प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) या वाच्य रूप में होती है—इस प्रकार परिसंख्या के चार भेद हैं।

प्रभा—परिसंख्या अन्वर्थ संज्ञा है। 'परि' का अर्थ है—वर्जन (निषेध) और 'संख्या' का अर्थ है—बुद्धि। अतएव वर्जनबुद्धि ही परिसंख्या है, अर्थात् तदन्यस्य निषेधाय तस्योक्तिः परिसंख्या'। मीमांसा आदि में भी यह परिसंख्या' प्रसिद्ध है; किन्तु परिसंख्या अलङ्कार तो वहीं होता है जहाँ कविप्रतिभा-कल्पित वस्तु के कथन द्वारा उसी प्रकार की अन्य वस्तु की व्यावृत्ति हुआ करती है। परिसंख्या (अलङ्कार) चार प्रकार की है—१. प्रश्नपूर्विका प्रतीयमानव्यवच्छेद्या २. प्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या, ३. अप्रश्नपूर्विका प्रतीयमानव्यवच्छेद्या, ४ अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या।

अनुवाद—(चतुर्विधा परिसंख्या के) क्रमशः उदाहरण ये हैं—

१. (प्रश्न) मनुष्यों के सेवन-योग्य क्या है ? (उत्तर) देवनदी गङ्गा का निर्दोष तट (सविध=समीपम्)। एकान्त में ध्यान-योग्य क्या है ? कौस्तुभमणि धारण करने वाले (विष्णु) के चरणयुगल। आराधना के योग्य क्या है ? पुण्य। अभिलाषा के योग्य क्या है ? करुणा। क्योंकि जिन (उपर्युक्त गङ्गा आदि) में प्रीति के द्वारा चित्त असीम या शाश्वत मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है' ॥५२१॥

प्रभा—यहाँ पर गङ्गातट आदि की सेवनीयता शास्त्रविदित ही है अतः उसका प्रतिपादन अभिप्रेत नहीं; किन्तु गङ्गा से भिन्न अन्य नदी के तट आदि की सेवनीयता का निराकरण करने के लिये गंगा-तीर आदि की सेवनीयता (आदि) का कथन किया गया है इसलिये परिसंख्या अलङ्कार है। यहाँ 'किमासेव्यम्' इत्यादि प्रश्नपूर्वक कथन है तथा व्यवच्छेद्य (अन्य नदीतट आदि की सेवनीयता आदि) प्रतीयमान है अतएव प्रश्नपूर्विका प्रतीयमानव्यवच्छेद्या परिसंख्या है।

२. किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
　　किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
　किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
　　जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥५२२॥

३. कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
　काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥५२३॥

४. भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
　चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥५२४॥

अनुवाद—२. 'स्थायी (सुदृढम्) भूषण क्या है ? कीर्ति न कि रत्न। कर्तव्य क्या है ? शिष्टों से आचरित पुण्यकर्म, दोष नहीं। अप्रतिहत (कहीं न रुकने वाली) दृष्टि कौनसी है ? बुद्धि, नेत्र नहीं। [अन्त में उत्तरों से सन्तुष्ट वक्ता का कथन है] आपके अतिरिक्त और कौन है जो उत्कृष्ट तथा निकृष्ट के भेद को जानता है ? अर्थात् कोई नहीं' ॥५२२॥

प्रभा—यहाँ यश आदि की भूषणता अन्य प्रमाणों से विदित है; किन्तु यश आदि से भिन्न 'रत्न' आदि की भूषणता के निराकरण के लिये उसका कथन किया गया है। यहाँ कथन प्रश्नपूर्वक है तथा व्यवच्छेद्य (रत्न आदि की भूषणता आदि) 'न रत्नम्' इत्यादि का वाच्य है अतएव प्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या है।

अनुवाद—३. 'हे प्रिय, तुम्हारे केश कलाप में कुटिलता (हृदय में नहीं), कर चरण तथा अधर-पल्लव में राग अर्थात् लालिमा (परपुरुष में राग अर्थात् प्रेम नहीं), स्तनयुगल में काठिन्य अर्थात् दृढ़ता (हृदय में निर्दयता नहीं), नयनों में चञ्चलता (मन में नहीं) बसती है' ॥५२३॥

प्रभा—यहाँ केश-समूह में कुटिलता आदि के कथन द्वारा हृदय में कुटिलता आदि का निराकरण प्रकट होता है। कथन अप्रश्नपूर्वक है तथा व्यवच्छेद्य (कुटिलता आदि का अन्य में न होना आदि) प्रतीयमान है अतएव अप्रश्नपूर्विका प्रतीयमान-व्यवच्छेद्या परिसंख्या है।

अनुवाद—४. 'प्रायः महापुरुषों की भक्ति शिव में न कि ऐश्वर्य में; रति (व्यसनम्) शास्त्र में न कि युवतिरूप काम के अस्त्र में; चिन्ता कीर्ति में न कि शरीर में देखी जाती है' ॥५२४॥

प्रभा—यहाँ पर महापुरुषों की शिव के प्रति भक्ति आदि के कथन द्वारा वैभव आदि के प्रति भक्ति की व्यावृत्ति की जा रही है। कथन अप्रश्नपूर्वक है तथा व्यवच्छेद्य (भक्ति आदि का अन्य में न होना) 'न विभवे' आदि शब्द-वाच्य है अतएव अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या है।

(१८६) यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात्;

उत्तरमुत्तरम्प्रति यथोत्तरम् । उदाहरणम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥५२५॥

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतु' रिति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः । आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् ।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥५२६॥

अनुवाद—(३६) कारणमाला अलङ्कार तब होता है यदि उत्तर उत्तर अर्थ के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ की कारणता वर्णित की जाती है । (१८६)

'यथोत्तरम्' अर्थात् उत्तर-उत्तर (आगे वाले) के प्रति । उदाहरण—'जितेन्द्रियत्वम्' इत्यादि (ऊपर उदाहरण ३१६) ॥५२५॥

प्रभा—(१) यहाँ जितेन्द्रियता (अपने से उत्तरवर्ती) विनय का कारण है, विनय गुणप्रकर्ष का कारण है; गुणप्रकर्ष जनानुराग का कारण है और जनानुराग सम्पदा का कारण है—इस प्रकार पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु उत्तरोत्तरवर्ती वस्तु के प्रति कारण है तथा कारणमाला अलङ्कार है ।

(२) कारण माला और माला दीपक—यद्यपि दोनों में पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर-उत्तर से सम्बद्ध होता है तथापि कारणमाला में पहिला पदार्थ अगले पदार्थ का कारण होता है किन्तु मालादीपक में वह केवल विशेषण होता है । फलतः कारणमाला कार्यकारण-भाव पर आश्रित है, मालादीपक विशेष्य-विशेषण-भाव पर ।

अनुवाद—(हेतु अलङ्कार का खण्डन) 'हेतुमत् अर्थात् कार्य के साथ हेतु (कारण) का अभेदरूप में कथन हेतु नामक अलङ्कार है ।' यह (प्राचीनों द्वारा कथित) हेत्वलङ्कार तो यहाँ निरूपित नहीं किया गया; क्योंकि 'आयुर्घृतम्' अर्थात् घृत आयु है' [हेतुमत् 'आयु' का हेतु 'घृत' के साथ अभेदकथन] इत्यादि के रूप में यह हेत्वलङ्कार होगा, जो वैचित्र्य (चमत्कार) के अभाव से कदापि अलङ्कार कहलाने योग्य नहीं ।

'अब यह रमणीय वसन्तकाल आ रहा है, जो कमलों का सतत विकास ही है, समस्त भ्रमरों का मदरूप है, कोकिलों का आनन्दरूप है तथा लोगों की उत्कण्ठा का जनक है' ॥५२६॥

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव हेतुः ।

यहाँ (प्राचार्यों ने) कोमल अनुप्रास की महिमा से ही काव्यरूपता बतलाई थी; हेतु नामक अलङ्कार की कल्पना द्वारा नहीं। इसलिए पूर्वोक्त काव्यलिङ्ग ही हेत्वलङ्कार है (उससे पृथक् कोई हेतु नामक अलङ्कार नहीं)।

प्रभा—कार्य-कारणभाव मूलक अलङ्कार के प्रसङ्ग से आचार्य मम्मट ने हेत्वलङ्कार' की मान्यता का विरोध किया है। प्राचीन आचार्यों ने मम्मटोक्त काव्यलिङ्ग और कारणमाला दोनों अलङ्कारों से भिन्न एक हेतु अलङ्कार भी माना था जिसका स्वरूप है—कार्य के साथ हेतु का अभेद-कथन। उस पर मम्मट का कथन है कि अलङ्कार वही है जो वैचित्र्य का जनक है किन्तु 'आयुर्घृतम्' इत्यादि स्थलों पर कार्यवाचक शब्द से कारण के कथन में कोई चमत्कार नहीं, तब इसे अलङ्कार कैसे कहा जा सकता है'

इस पर यह शङ्का होती है कि यदि हेत्वलङ्कार नहीं माना जायेगा तो प्राचीन काव्याचार्यों ने जो 'अविरलकमल' इत्यादि में काव्यरूपता मानी है वह न हो सकेगी; यहाँ वसन्तकाल हेतु है, कमल-विकास' आदि हेतुमत् हैं। हेतु तथा हेतुमत् का अभेदरूप से कथन किया गया है एवं हेत्वलङ्कार होने से ही यहाँ काव्यात्मकता है।

'काव्यरूपतां'''हेतु इत्यादि पंक्तियों में इसका समाधान किया गया है। भाव यह है कि प्राचीनों ने इस श्लोक को जो अलङ्कारयुक्त होने के कारण काव्य कहा है वह तथाकथित हेत्वलङ्कार होने से नहीं; किन्तु अनुप्रास आदि अलङ्कारों के कारण। अतएव हेतु नामक अलङ्कार मानने की आवश्यकता नहीं। हाँ, काव्यलिङ्ग का नाम हेत्वलङ्कार भी है।

टिप्पणी—प्राचीन काल से ही हेतु नामक अलङ्कार की मान्यता विवाद का विषय रही है; किन्तु अनेक काव्याचार्यों ने इसका स्वरूप विवेचन किया है। प्रश्न यह है कि आचार्य मम्मट ने किस आलङ्कारिक की मान्यता का यहाँ विरोध किया है। बालबोधिनी टीका के अनुसार यहाँ 'उद्भट' की हेत्वलङ्कारविषयक मान्यता का खण्डन किया गया है। शशिकला (*हिन्दी व्याख्या*) के अनुसार यह रुद्रट की मान्यता का खण्डन है जैसा कि रुद्रट ने काव्यालङ्कार (७ ८२) में कहा है—हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र। सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥ श्रीझाँ महोदय के अनुसार भी यहाँ रुद्रट के मत का ही निराकरण किया गया है।

(१८७) क्रियया तु परस्परम् ॥१२०॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्;—

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामाऽलङ्कारः। उदाहरणम्—

हंसाणं सरेहिँ सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहिँ।
अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गरुअन्ति ॥५२७॥

(हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः।
अन्योन्यमेव एते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥५२७॥)

अत्रोभयेषामपि परस्परं जनकता मिथः श्रीसारतासम्पादनद्वारेण।

(१८८) उत्तरश्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥१२१॥
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्।

अनुवाद—(४०) अन्योन्य वह अलङ्कार है जहाँ क्रिया के द्वारा दो वस्तुओं के परस्पर उत्पादन का वर्णन होता है। (१८७)

अर्थात् जहाँ एक जातीय (एकसी) क्रिया के उत्पादन-द्वारा दो पदार्थ एक दूसरे का कारण प्रतीत होते हैं वहाँ अन्योन्य नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

'सरोवरों के द्वारा हंसों की शोभा बढ़ाई जाती है (=सार्यते) और हंसों के द्वारा सरोवरों की शोभा; ये दोनों एक दूसरे की शोभा बढ़ाने वाले हैं अपने आप को तो केवल गौरवयुक्त करते हैं' ॥५२७॥

यहाँ पर एक दूसरे की शोभावृद्धि सम्पादन (क्रिया) के द्वारा दोनों एक दूसरे के कारण हैं।

प्रभा—वस्तुतः दो पदार्थ एक दूसरे के जनक नहीं हो सकते। वे दोनों एक दूसरे में स्थित क्रिया के जनक होते हैं और इसी से उनमें परस्पर जन्यजनकभाव भी कल्पित कर लिया जाता है। जैसे ऊपर के उदाहरण में हंस तथा सरोवर एक दूसरे में शोभा-वृद्धि के जनक हैं इसलिये शोभाविशेष से युक्त हंसों के प्रति सरोवर कारण हैं और शोभाविशेष-युक्त सरोवर के प्रति हंस कारण हैं तथा यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है।

अनुवाद—(४१) उत्तर वह अलङ्कार है जहाँ (१) उत्तर के श्रवणमात्र से प्रश्न की कल्पना (उन्नयन) कर ली जाती है अथवा (२) अनेक बार प्रश्न होने पर (तत्र अर्थात् प्रश्ने सति) अनेक बार (असकृत्) असम्भावित उत्तर होता है। (१८८)

१. प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम् ।
उदाहरणम्—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्हा ॥५२८॥
(वाणिजक, हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा) ॥५२८॥

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी ताः मूल्येन प्रयच्छेति क्रेतुर्वचनम् अमुना वाक्येन समुन्नीयते ।

न चैतत् काव्यलिङ्गम् उत्तरस्य तादृूप्यानुपपत्तेः । नहि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः । नापीदमनुमानम् एकधर्मिनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशाद् इत्यलङ्कारान्तरमेवोत्तरं साधीयः ।

---

(१) एक (प्रथम) उत्तरालङ्कार तो यह है जहां प्रतिवचन अर्थात् उत्तर की उपलब्धि से ही प्रश्न (पूर्ववाक्य) की कल्पना कर ली जाती है। उदाहरण—[क्रेता वणिक् के प्रति वृद्ध व्याध की उक्ति]—'हे व्यापारी, जब तक (मेरे) घर में कुटिल केशों से युक्त मुख वाली पुत्रवधू विचरती है तब तक हमारे घर में हाथी दांत तथा व्याघ्र-चर्म कहां ? [वधू में आसक्त मेरा पुत्र शिकार को नहीं जाता यह व्यङ्ग्य है] ॥५२८॥

मैं हाथी-दांत और व्याघ्रचर्म चाहता हूं उन्हें मूल्य से (मुझे) दे दो'—ऐसा क्रेता वणिक् का प्रश्न-वाक्य इस (व्याध के) वचन से कल्पित (अनुमित) किया जाता है।

यह (उत्तर अलङ्कार) काव्यलिङ्ग नहीं है; क्योंकि उत्तर-वाक्य हेतुरूप (तादृूप्य=हेतुत्व) नहीं हो सकता। उत्तर-वाक्य प्रश्न का जनक (कारक) हेतु नहीं है (जो काव्यलिङ्ग के लिये अपेक्षित है)। यह (उत्तर अलङ्कार) अनुमान भी नहीं; क्योंकि एक धर्मी में स्थित साध्य और साधन का यहाँ निर्देश नहीं किया जाता। इसलिये एक अन्य अलङ्कार ही है, यही (मानना) उचित है।

प्रभा 'न चैतत्'—यद्यपि उत्तर अलङ्कार में प्रतिवचन से प्रश्न की कल्पना की जाती है तथापि 'काव्यलिङ्ग' में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ हेतु का कथन हुआ करता है। हेतु दो प्रकार का है—कारक (जनक) और ज्ञापक। 'काव्यलिङ्ग' में कारक हेतु का कथन होता है। उत्तर वाक्य तो प्रश्न का जनक (कारक) हेतु हो ही नहीं सकता। केवल ज्ञापक हेतु ही हो सकता है। किन्तु काव्यलिङ्ग में कारण और कार्य दोनों का कथन किया जाता है किन्तु उत्तर अलङ्कार में ज्ञापक कारण जो उत्तर है उसी का कथन किया जाता है। यद्यपि अनुमान अलङ्कार में ज्ञापक हेतु का ही कथन होना अपेक्षित है, तथापि उत्तर अलङ्कार अनुमान भी नहीं है। क्योंकि वहाँ उत्तर का तो साधन रूप में निर्देश होता है; किन्तु

२. प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसंभाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात्तदपरमुत्तरम्। अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्। उदाहरणम्—

का विसमा देव्वगई किं लद्धं जणो गुणग्गाही।
किं सोक्ख सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ॥५२६॥

(का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं यज्जनो गुणग्राही।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत्खलो लोकः ॥५२६॥

प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम् इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः।

प्रश्न का साध्य रूप में निर्देश नहीं किया जाता और अनुमान अलङ्कार में पक्षरूप एक धर्मी में साध्य और साधन दोनों का निर्देश किया जाता है। अतएव यह उत्तर अलङ्कार काव्यलिङ्ग तथा अनुमान दोनों से भिन्न ही है।

अनुवाद—२. द्वितीय उत्तर अलङ्कार वह है जहाँ प्रश्न के पश्चात् ऐसा उत्तर होता है जो लौकिक ज्ञान का विषय न होने के कारण असम्भाव्य अर्थात् दुर्ज्ञेय होता है। इन दोनों (प्रश्न तथा उत्तर) का एक बार कथन होने पर चमत्कार (चारुता) की प्रतीति नहीं होती अतएव (सूत्र में) 'असकृत्' अर्थात् अनेक बार—ऐसा कहा गया है। उदाहरण—'कौनसी वस्तु विषम (कठोर, विकट) है ? भाग्य की गति। क्या प्राप्तव्य है ? गुणग्राहक मनुष्य। सुख क्या है ? श्रेष्ठ नारी। दुःख क्या है ? दुष्ट मनुष्य ॥५२६॥

प्रश्नपूर्विका परिसंख्या (अलङ्कार) में अन्य की व्यावृत्ति में तात्पर्य होता है; किन्तु इस (द्वितीय उत्तर अलङ्कार) में (निगूढ) वाच्यार्थ में ही तात्पर्य-विश्रान्त हो जाता है—यही इन दोनों का भेद है।

प्रभा—(१) यहाँ 'का विषमा ?' इत्यादि रूप में अनेक बार प्रश्न किये गये हैं तथा 'दैवगतिः' इत्यादि अनेक बार उनके उत्तर भी दिये गये हैं। 'दैवगति की विषमता' आदि लौकिक ज्ञान के अगोचर तथा दुर्ज्ञेय उत्तर हैं, अतः द्वितीय उत्तरालङ्कार है।

(२) यद्यपि प्रश्नपूर्विका परिसंख्या में भी नियमपूर्वक प्रश्न तथा उत्तर का कथन किया जाता है तथापि यह उत्तरालङ्कार उससे नितान्त भिन्न है, क्योंकि (i) 'किं भूषणम्' इत्यादि (उदाहरण ५२२) प्रश्नपूर्विका परिसंख्या में तो रत्न आदि की व्यावृत्ति में तात्पर्य होता है और 'का विषमा' इत्यादि में दैवगति की दुर्ज्ञेयता बतलाने में ही तात्पर्य है। (ii) परिसंख्या में प्रश्न और उत्तर की अनेकता (असकृत् होना) अनिवार्य नहीं है किन्तु उत्तर अलङ्कार की चारुता इसी पर निर्भर है।

(१८९) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥१२२॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा । सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः । उदाहरणम्—
वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥५३०॥

अत्राकृतिमवलोक्य कयाऽपि वितर्कितं पुरुषायितं असिलतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतम् । पुंसामेव कृपाणपाणितायोग्यत्वात् ।
यथा वा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥५३१॥

अत्र जिज्ञासितःसङ्केतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः ।

अनुवाद—(४२) 'सूक्ष्म' अलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ किसी (ज्ञापक) हेतु से प्रतीत हुआ कोई सूक्ष्म पदार्थ किसी (स्मारक) धर्म के द्वारा अपने से भिन्न व्यक्ति पर प्रकट किया जाता है। (१८९)

(कारिका में) 'कुतोऽपि' (किसी से भी) अर्थात् (१) 'आकार से' अथवा (२) संकेत या चेष्टा (इङ्गित) से। 'सूक्ष्मः' अर्थात् तीव्र बुद्धि वाले व्यक्तियों द्वारा संवेद्य अथवा सहृदयमात्रवेद्य। उदाहरण—

(१) किसी (प्रगल्भा) सखी ने नायिका के मुख से टपके प्रस्वेद बिन्दुओं की धारा से गले में लगी केसर को बिगड़ी हुई (भिन्न) देखकर, मुस्कराकर कृशाङ्गी नायिका के पुरुषत्व को अभिव्यक्त करते हुए उसके हाथ पर खड्ग का चित्र अङ्कित कर दिया' ॥५३०॥

यहाँ पर आकृति (गले में प्रस्वेदकृत कुङ्कुम भेद) को देखकर किसी सखी द्वारा अनुमित (भाँपा हुआ सूक्ष्म-अर्थ) विपरीत रतिभाव है जिसे खड्ग—रेखाचित्र के अङ्कन द्वारा प्रगल्भता के साथ अभिव्यक्त किया गया है; क्योंकि पुरुषों के हाथ में ही कृपाण होना उचित है।

(२) 'चतुर उपनायिका ने नेत्रों द्वारा आन्तरिक रहस्य (आकूत) को सूचित करने वाले उपपति (विट) को संकेतकाल का जिज्ञासु जानकर अपने लीलाकमल को संकुचित कर दिया' ॥५३१)

यहाँ पर जिज्ञासित संकेतकाल (सूक्ष्म अर्थ) है जिसे किसी (चतुर) कामिनी ने नेत्र-संकेत से समझ लिया तथा रात्रिकाल के सूचक (ज्ञापक) कमल-संकोचन द्वारा लीलापूर्वक प्रकट कर दिया।

प्रभा—जिस अलङ्कार में सहृदयमात्रवेद्य (सूक्ष्म) अर्थ को किसी ज्ञापक द्वारा जानकर किसी स्मारक धर्म के द्वारा दूसरों पर प्रकट किया जाता है, वह सूक्ष्म अलङ्कार है। यह दो प्रकार का है—१. आकार से लक्षित का प्रकाशन; जैसे

(१९०) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥१२३॥

परं पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः। उदाहरणम्—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥५३२॥

(१९१) भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ॥१२४॥

इह यद्देशं कारणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि। यत्र तु हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनं सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्परसङ्गतित्यागादसङ्गतिः। उदाहरणम्—

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा भणइ तं जणो अलिअम्।
दन्तक्खअं कवोले वहूए वेअणा सवत्तीणम् ॥५३३॥

'वक्त्र' इत्यादि में तथा २. इङ्गित से लक्षित का प्रकाशन; जैसे 'संकेत' इत्यादि में। (देखिये अनुवाद) भामहाचार्य ने 'सूक्ष्म' अलङ्कार की मान्यता का विरोध किया था (काव्यालङ्कार २.८६)।

अनुवाद—(४३) 'सार' वह अलङ्कार है जहाँ चरमसीमा पर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन होता है। (१९०)

परः अर्थात् (वाक्यों का) अन्तिम भाग ही है 'अवधि' अर्थात् चरमसीमा जिसकी (ऐसा उत्कर्ष); क्योंकि वहाँ (वाक्य के अन्तिम भाग में) ही प्रवाहरूप से उत्कर्ष की समाप्ति होती है। उदाहरण—

'राज्य का सार पृथ्वी है पृथ्वी का सार नगर है, नगर में सारभूत है—प्रासाद (सौध), प्रासाद में भी शय्या (सेज) और सेज का सार है—कामदेव की सर्वस्वरूपा सुन्दरी' ॥५३२॥

प्रभा—यहाँ पर राज्य में पृथिवी को सारभूत कहा गया है पृथिवी में नगर को–इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्टता का वर्णन किया गया है और यह उत्कर्ष–वर्णन वाक्य के अन्त में सुन्दरी मे पराकाष्ठा को पहुँच जाता है अर्थात् सुन्दरी की सर्वोत्कृष्टता में पर्यवसित हो जाता है अतएव 'सार' अलङ्कार है।

अनुवाद—(४४) असङ्गति वह अलङ्कार है जहाँ कार्य-कारणरूप धर्मों के अत्यन्त भिन्न स्थानों में एक साथ रहने का कथन (ख्यातिः) किया जाता है। (१९१)

इस लोक में जिस स्थान में (यः देशः यस्य तत् यद्देशम्=जिस स्थान वाला) कारण होता है उस स्थान में ही कार्य उत्पन्न हुआ देखा गया है; जैसे—धूम आदि

(यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम्।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम्॥५२३॥)

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात्। विरोधे तु विरोधित्वम् एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम् अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः। तथा चैवं निदर्शितम्।

(कार्य वहीं होते हैं जहाँ इनके कारण अग्नि आदि होते हैं)। किन्तु जहाँ किसी विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये (केनाप्यतिशयेन) कारण और कार्य रूप होते हुए भी दो पदार्थों (धर्मों) का एक साथ भिन्न-भिन्न स्थानों में रहना प्रकट किया जाता है (यदभासनम्) वह उन दोनों (कार्य-कारण) की स्वाभाविक सङ्गति (एक देश-स्थिति) का परित्याग कर देने से असङ्गति (अलङ्कार) कहलाती है। जैसे—

'जो लोग यह कहते हैं कि जिसके व्रण होता है उसे ही पीड़ा होती है, वह झूठ है; क्योंकि दन्त-क्षत तो वधू के कपोल पर है; किन्तु वेदना सपत्नियों को होती है' ॥५२३॥

प्रभा—यहाँ दन्तक्षत कारण है और वेदना कार्य। इन दोनों की भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमानता का वर्णन किया गया है। वधू के कपोलों पर दिखाई देने वाला पति का दन्तक्षत सपत्नियों के लिये अत्यन्त क्लेशदायक है—इस विशेष अर्थ का प्रतिपादन करना ही इस कथन का प्रयोजन है। अत एव यहाँ असङ्गति अलङ्कार है।

अनुवाद—[असङ्गति और विरोधाभास का अन्तर] यह (असङ्गति) विरोधाभास की बाधक है, विरोधाभास नहीं है; क्योंकि इस (असङ्गति) में भिन्न-भिन्न आधार में होने से ही दोनों (कार्य और कारण) का विरोध झलकता है किन्तु विरोधाभास (अलङ्कार) में तो बिना कहे भी (भिन्न-भिन्न देशवर्ती वस्तुओं का) एक आधार में रहना रूप विरोध ही तात्पर्य का विषय है (पर्यवसितम्)। क्योंकि अपवाद के विषय का परित्याग करके ही सामान्य नियम (उत्सर्ग) की व्यवस्था (लागू होना-Application) होती है। और उसी प्रकार (विरोधाभास का) उदाहरण भी दिया गया है।

प्रभा—(१) 'एषा च' इत्यादि में असङ्गति अलङ्कार का विरोधाभास से भेद दिखलाया गया है। भाव यह है कि यद्यपि अनुपपत्ति (न बन सकना) रूप विरोध दोनों में ही समान है तथापि दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। (i) नियमपूर्वक समानदेश में रहने वाले कार्य और कारण का भिन्न-भिन्न देशों में एक साथ रहने का वर्णन असङ्गति है तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में नियतरूप से रहने वालों का एक आश्रय में वर्णन करना विरोधाभास है। (ii) विरोध सामान्य नियम (उत्सर्ग) है और असङ्गति अपवाद है अतः असङ्गति अपने क्षेत्र में विरोध की बाधिका है। यद्यपि विरोधाभास के लक्षण (स्वरूप) में यह दिखलाया नहीं गया तथापि 'प्रारम्भ बाधकविषय'

(१६२) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम । उदाहरणम्—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥५३४॥

उत्सर्गोऽभिनिविशते' अर्थात् अपवाद-स्थल को छोड़कर ही सामान्य नियम अपने विषय में प्रवृत्त होता है—इस न्याय के अनुसार यह तात्पर्य-बोध होता है। बात यह है कि 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' (सूत्र १६६)—यहाँ विरोध-कथन में विरोधाभास अलङ्कार होता है, यह सामान्यरूप में कहा गया है; किन्तु 'भिन्नदेशतया' इत्यादि उपर्युक्त सूत्र द्वारा विशेष प्रकार के विरोधस्थल में असङ्गति अलङ्कार होता है, यह बतलाया गया है। अतएव अपने क्षेत्र (विषय) में असङ्गति (अपवाद=विशेष) अलङ्कार विरोधाभास (उत्सर्ग=सामान्य) का बाधक होता है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही ऊपर विरोधाभास का उदाहरण प्रदर्शित किया गया है।

(२) असङ्गति, विभावना और विशेषोक्ति—तीनों में ही आपाततः विरोध, प्रतीत होता है, जिसका परिहार किया जा सकता है। (भेद) असङ्गति में कार्य और कारण एक आश्रय में नहीं रहते। विभावना में प्रसिद्ध कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है और विशेषोक्ति में समस्त कारणों के विद्यमान होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन होता है।

टिप्पणी :—सामान्य (General) का विशेष (Exception) द्वारा बाध हो जाता है, यह लोकसिद्ध ही है। उदाहरणार्थ प्रथमतः यह कहा जाता है कि 'समस्त उपस्थित सज्जन भोजन करेंगे' और तत्पश्चात् कहा जाता है कि अनिल-कुमार तथा राजेशकुमार भोजन परिवेषण (परोसना) करेंगे तो उस समय अनिल-कुमार तथा राजेशकुमार परिवेषण कार्य ही करते हैं, भोजन नहीं अर्थात् प्रथम सामान्यकथन का द्वितीय विशेष कथन से बाध हो जाता है।

अनुवाद—(४५) समाधि वह अलङ्कार है जहाँ (इष्ट कारण के अतिरिक्त) अन्य कारणों के योग से किसी कार्य के सौकर्य (सुगमतापूर्वक किये जाने) का वर्णन होता है। (१६२)

अर्थात् जहाँ आरम्भ किया गया कार्य (नियतसाधन के अतिरिक्त) अन्य साधनों की सहायता से युक्त कर्ता के द्वारा अनायास ही भली भाँति कर लिया जाता है, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है। उदाहरण है—

'इस (नायिका) के मान का निराकरण करने के लिये मैं इसके चरणों में गिरने वाला ही था कि मेरी सहायता के लिये सौभाग्य से मेघगर्जना होने लगी' ॥५३४॥

(यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ॥५२३॥)

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात् । विरोधे तु विरोधित्वम् एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम् अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः । तथा चैवं निदर्शितम् ।

(कार्य वहीं होते हैं जहाँ इनके कारण अग्नि आदि होते हैं) । किन्तु जहाँ किसी विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये (केनाप्यतिशयेन) कारण और कार्य रूप होते हुए भी दो पदार्थों (धर्मों) का एक साथ भिन्न-भिन्न स्थानों में रहना प्रकट किया जाता है (अवभासनम्) वह उन दोनों (कार्य-कारण) की स्वाभाविक सङ्गति (एक देश-स्थिति) का परित्याग कर देने से असङ्गति (अलङ्कार) कहलाती है । जैसे—

'जो लोग यह कहते हैं कि जिसके व्रण होता है उसे ही पीड़ा होती है, वह झूठ है; क्योंकि दन्त-क्षत तो वधू के कपोल पर है; किन्तु वेदना सपत्नियों को होती है' ॥५२३॥

प्रभा—यहाँ दन्तक्षत कारण है और वेदना कार्य । इन दोनों की भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमानता का वर्णन किया गया है । वधू के कपोलों पर दिखाई देने वाला पति का दन्तक्षत सपत्नियों के लिये अत्यन्त क्लेशदायक है—इस विशेष अर्थ का प्रतिपादन करना ही इस कथन का प्रयोजन है । अत एव यहाँ असङ्गति-अलङ्कार है ।

अनुवाद—[असङ्गति और विरोधाभास का अन्तर] यह (असङ्गति) विरोधाभास की बाधक है, विरोधाभास नहीं है; क्योंकि इस (असङ्गति) में भिन्न-भिन्न आधार में होने से ही दोनों (कार्य और कारण) का विरोध झलकता है किन्तु विरोधाभास (अलङ्कार) में तो बिना कहे भी (भिन्न-भिन्न देशवर्ती वस्तुओं का) एक आधार में रहना रूप विरोध ही तात्पर्य का विषय है (पर्यवसितम्) । क्योंकि अपवाद के विषय का परित्याग करके ही सामान्य नियम (उत्सर्ग) की व्यवस्था (लागू होना-Application) होती है । और उसी प्रकार (विरोधाभास का) उदाहरण भी दिया गया है ।

प्रभा—(१) 'एषा च' इत्यादि में असङ्गति अलङ्कार का विरोधाभास से भेद दिखलाया गया है । भाव यह है कि यद्यपि अनुपपत्ति (न बन सकना) रूप विरोध दोनों में ही समान है तथापि दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है । (i) नियमपूर्वक समानदेश में रहने वाले कार्य और कारण का भिन्न-भिन्न देशों में एक साथ रहने का वर्णन असङ्गति है तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में नियतरूप से रहने वालों का एक आश्रय में वर्णन करना विरोधाभास है । (ii) विरोध सामान्य नियम (उत्सर्ग) है और असङ्गति अपवाद है अतः असङ्गति अपने क्षेत्र में विरोध की बाधिका है । यद्यपि विरोधाभास के लक्षण (स्वरूप) में यह दिखलाया नहीं गया, तथापि 'अकस्य बाधकत्वं इस

(१९२) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम । उदाहरणम्—

मानमस्या निराकर्त्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥५३४॥

उत्सर्गोऽभिनिविशते' अर्थात् अपवाद-स्थल को छोड़कर ही सामान्य नियम अपने विषय में प्रवृत्त होता है—इस न्याय के अनुसार यह तात्पर्य-बोध होता है। बात यह है कि 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' (सूत्र १६६)—यहाँ विरोध-कथन में विरोधाभास अलङ्कार होता है, यह सामान्यरूप में कहा गया है; किन्तु 'भिन्नदेशतया' इत्यादि उपर्युक्त सूत्र द्वारा विशेष प्रकार के विरोधस्थल में असङ्गति अलङ्कार होता है, यह बतलाया गया है। अतएव अपने क्षेत्र (विषय) में असङ्गति (अपवाद=विशेष) अलङ्कार विरोधाभास (उत्सर्ग=सामान्य) का बाधक होता है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही ऊपर विरोधाभास का उदाहरण प्रदर्शित किया गया है।

(२) असङ्गति, विभावना और विशेषोक्ति—तीनो में ही आपाततः विरोध, प्रतीत होता है, जिसका परिहार किया जा सकता है। (भेद) असङ्गति में कार्य और कारण एक आश्रय मे नहीं रहते। विभावना मे प्रसिद्ध कारण के विना ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है और विशेषोक्ति में समस्त कारणों के विद्यमान होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन होता है।

टिप्पणी :—सामान्य (General) का विशेष (Exception) द्वारा बाध हो जाता है, यह लोकसिद्ध ही है। उदाहरणार्थ प्रथमतः यह कहा जाता है कि 'समस्त उपस्थित सज्जन भोजन करेंगे' और तत्पश्चात् कहा जाता है कि अनिल-कुमार तथा राजेशकुमार भोजन परिवेषण (परोसना) करेंगे तो उस समय अनिल-कुमार तथा राजेशकुमार परिवेषण कार्य ही करते हैं, भोजन नहीं अर्थात् प्रथम सामान्यकथन का द्वितीय विशेष कथन से बाध हो जाता है।

अनुवाद—(४५) समाधि वह अलङ्कार है जहाँ; (इष्ट कारण के अतिरिक्त) अन्य कारणों के योग से किसी कार्य के सौकर्य (सुगमतापूर्वक किये जाने) का वर्णन होता है। (१९२)

अर्थात् जहाँ आरम्भ किया गया कार्य (नियतसाधन के अतिरिक्त) अन्य साधनों की सहायता से युक्त कर्ता के द्वारा अनायास ही भली भाँति कर लिया जाता है, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है। उदाहरण है—

'इस (नायिका) के मान का निराकरण करने के लिये मैं इसके चरणों में गिरने वाला ही था कि मेरी सहायता के लिये सौभाग्य से मेघगर्जना होने लगी' ॥५३४॥

(१९३) समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥१२५॥

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चेत्तदा समम्, तत्सद्योगेऽसद्योगे च। उदाहरणम्—

१. धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य।
जातं दैवात्सदृशमनयोः सङ्गतं यत्तदेतत्
शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥५३५॥

प्रभा—(१) समाधि का अर्थ है—सम्यक् आधिः उत्पादनम् अर्थात् कार्य के अनायास ही सम्यक् सम्पादन का वर्णन। यही लक्षण द्वारा स्पष्ट किया गया है। सौकर्य का अर्थ है कार्य का अनायास ही भली भांति हो जाना।

(२) समाधि और समुच्चय—दोनों में ही एक से अधिक कारण किसी कार्य के उत्पादक होते हैं; किन्तु (i) समुच्चय में सभी कारण एकसाथ (खलेकपोत-न्याय से) कार्य करते हैं और समाधि में एक (प्रधान) कारण पहिले कार्य करना प्रारम्भ करता है अन्य कारण बाद में अकस्मात् ही (काकतालीय न्याय से) आ जाता है। (ii) 'साधनान्तरोपकृतेन (कारणान्तरयोगतः) से यह सूचित होता है कि जहाँ एक कारण प्रधानतया विवक्षित होता है तथा अन्य सहकारी रूप में वहीं समाधि अलङ्कार हुआ करता है।

(३) 'मानम्' इत्यादि में पादपतन (कारण) द्वारा मान का निराकरण (कार्य) किया जा रहा था। आकस्मिक घनगर्जन (कारणान्तर) के सहयोग से वह कार्य अनायास ही हो गया; अतः यहाँ समाधि अलङ्कार है।

अनुवाद—(४६) 'सम' अलङ्कार तब होता है जब किन्हीं वस्तुओं का सम्बन्ध (क्वचित् योगः=वस्तुविशेषयोः सम्बन्धः) औचित्य के कारण सर्वसम्मत बतलाया जाता है (सम्भावितः) ॥१९३॥

'यह इन दोनों के लिये सराहनीय है' यदि इस प्रकार (इति) वर्णनीय वस्तुओं के (नियतविषयं=वर्णनीयं विषयीकृत्य) सम्बन्ध का औचित्यरूप में निश्चय (अध्यवसानं) होता है तो 'सम' अलङ्कार होता है। यह (१) दो शोभन पदार्थों के योग में अथवा (२) अशोभन पदार्थों के योग में—(दो प्रकार का होता है)। उदाहरण है—

अनुवाद—(१) 'यह मृगनयनी (नायिका) विधाता के निर्माणकौशल के उत्कर्ष की कसौटी है। सौन्दर्य में अनुपम यह राजा (नायक) भी कामदेव को पत्र

२. चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रम्
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥५३६॥

(१९४) क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥१२६॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥१२७॥

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यद् अनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते (१) यच्च किञ्चिदारभमाणः कर्त्ता क्रियायाः प्रणाशात् न केवलमभीष्टं यत्फलं न लभेत यावदप्रार्थितमप्यनर्थं विषयमासादयेत् (२) तथा सत्यपि कार्यस्य

(चुनौती) दे चुका है। जो सौभाग्य से इन दोनों का मिलन हुआ है यह इस समय शृङ्गाररस का एकच्छत्र राज्य ही हो गया है' ॥५३५॥

(२) 'आश्चर्य ! आश्चर्य ! अहो ! महान् आश्चर्य ! यह तो विचित्र ही है कि विधाता भी सौभाग्य से उचित रचना करने वाला हो गया है; क्योंकि नीम के पके फलों (निमोलियों) की समृद्धि (स्फीति) भी स्वाद लेने योग्य हो गई है और इस (फलसमृद्धि) की आस्वादनकला में कुशल काकगण निर्मित किये गये हैं' ।५३६।

प्रभा—(१) भाव यह है कि जहाँ दो वस्तुओं के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए यह बतलाया जाता है कि इनका यह सम्बन्ध सराहनीय है वहाँ सम अलङ्कार होता है। यह दो प्रकार का है—प्रथम; जैसे 'धातुः' इत्यादि में मृगनयनी और राजा दो शोभन पदार्थों के मिलन की श्लाघनीयता का वर्णन है। द्वितीय; जैसे–'चित्रम्' इत्यादि में निम्ब तथा काक दो निकृष्ट पदार्थों के योग का औचित्य वर्णित है।

(२) सम और समुच्चय—दोनों में सद्योग और असद्योग का वर्णन होता है। (भेद) समुच्चय में उत्कृष्ट या निकृष्ट कारणों का ही योग होता है जो एक कार्य का उत्पादक हुआ करता है। किन्तु सम में जो कारण नहीं होते ऐसे उत्कृष्ट या निकृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध का औचित्य दिखलाया जाता है।

अनुवाद—(४७) विषम यह अलङ्कार माना गया है (१) जहाँ कहीं (दो सम्बन्धियों का) सम्बन्ध (श्लेषः) अतिवैधर्म्य (विलक्षणता) के कारण उपपन्न न हो सके (घटनाम्=उपपन्नताम् इयात्) (२) कर्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न हो प्रत्युत अनर्थ हो जाय। (३.४) जहाँ कार्य के गुण तथा क्रिया से कारण के गुण तथा क्रिया क्रमशः विरुद्ध हों। (१९४)

अर्थात् (१) दो (सम्बद्ध वस्तुओं) की अत्यन्त विलक्षणता के कारण जो उनका सम्बन्ध अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है (२ जो किसी कार्य का आरम्भ करने

कारणरूपानुकारे यत् तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परं विरुद्धतां व्रजतः (३, ४) स समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

१. शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।
   अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ॥५३७॥

२. सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः
   जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ॥५३८॥

३. सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
   तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥५३९॥

वाला कर्ता क्रिया के नष्ट हो जाने से केवल अभीष्ट फल से ही वञ्चित नहीं रहता अपितु न चाहे हुए अनिष्ट पदार्थ को भी प्राप्त करता है। और, कार्य के कारण का अनुसरण करने का (नियम) होने पर भी जो उन दोनों के (३) गुण परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं एवं (४) क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध हो जाती हैं। यह सम अलङ्कार का विपर्यय रूप चार प्रकार का विषम अलङ्कार है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(१) 'शिरीष कुसुम से भी कोमल अङ्ग वाली यह विशालनेत्रा (नायिका) कहाँ और तुषानल के समान दुःसह यह कामाग्नि कहाँ ?' ॥५३७॥

प्रभा—इस [पद्मगुप्तकृत नवसाहसाङ्कचरित १६·२८] पद्य में नायिका तथा मदनानल दोनों के अत्यन्त वैलक्षण्य के कारण उनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत हो रहा है। अतः प्रथम विषमालङ्कार है।

अनुवाद—(२) सिंहिकासुत अर्थात् सिंहनी के पुत्र से डरे हुए शश (खरगोश) ने (रक्षा के लिए) चन्द्रमा का आश्रय लिया; किन्तु वहाँ द्वितीय सिंहिका-सुत (सिंहिका के पुत्र राहु) ने आश्रयसहित (चन्द्रमासहित) उसको ग्रस लिया' ॥५३८॥

प्रभा—यहाँ शशक (कर्ता) ने सिंहिनी के पुत्र से त्राण (फल) के लिये चन्द्रमा का आश्रयण (कार्य) आरम्भ किया, किन्तु त्राणरूप अभीष्ट फल की अनुप-लब्धि ही नहीं होती अपितु राहु द्वारा ग्रसन रूप अनर्थ की प्राप्ति भी होती है। अतः द्वितीय विषमालङ्कार है।

अनुवाद—(३) 'प्रत्येक संग्राम में तमाल के समान काली कृपाण की धारा जिस (राजा) के कर-स्पर्श को प्राप्त करके तत्काल ही शरद् के चन्द्रमा के समान शुभ्र लोकत्रय के आभूषण रूप यश को उत्पन्न करती है' ॥५३९॥

प्रभा—यह नियम है कि कारण के समान गुण वाला ही कार्य होता है, जैसे श्वेत तन्तुओं से श्वेत वस्त्र बनता है, नीले तन्तुओं से नीला। 'सद्यः' इत्यादि में काली कृपाणधारा से शुभ्र-यश की उत्पत्ति का वर्णन है अतएव कार्य तथा कारण के गुणों में विरोध है अतः तृतीय विषमालङ्कार है।

४. आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने, ददासि त्वम्।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥५४०॥
अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते।

एवं—

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥५४१॥
इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम्।

अनुवाद—(४) 'हे कमलपत्र के समान नेत्रों वाली, (सयोग के समय) तुम तो यह अनल्प आनन्द देती हो; किन्तु तुम्हारे द्वारा ही उत्पन्न किया हुआ वियोग मेरे शरीर को अत्यन्त संतप्त करता है' ॥५४०॥

यहाँ पर आनन्द-प्रदान (क्रिया) शरीर-संतापन क्रिया से विरुद्ध है।

प्रभा—यहाँ पर नायिका कारण है विरह उसके द्वारा जनित (कार्य है, किन्तु नायिका में आनन्द-प्रदान की क्रिया है तथा विरह में सन्ताप देने की। ये दोनों विरुद्ध हैं। अतएव यहाँ चतुर्थ विषमालङ्कार है।

विषम, विरोध और असङ्गति - (समानता) इन तीनों में ही एक आपाततः विरोध की प्रतीति होती है; जिसका परिहार किया जा सकता है। (भेद) विरोधाभास में तो विरोधी वस्तुओं का एक आधार में होना चमत्कारकारक होता है तथा असङ्गति में कार्य और कारण का भिन्न-भिन्न आश्रय में होना। यहाँ (तृतीय चतुर्थ विषम में) तो कार्य तथा कारण में विजातीय गुण तथा क्रिया का सम्बन्ध-वर्णन ही चमत्कारक हुआ करता है।

अनुवाद—इस प्रकार-'सागर में शयन करने वाले जिस विष्णु (श्रीकृष्ण) के विशाल उदर ने प्रलयकाल में चतुर्दश भुवनों का पान किया था (अपने भीतर रख लिया था), उस (कृष्ण) को भी एक नगरकामिनी ने (अपनी) मदजन्य हाव-भावों (विभ्रम) से युक्त तथा असम्पूर्ण एक ही दृष्टि (नेत्र-प्रान्त) से पी लिया (आदर के साथ देखा)' ॥५४१॥ इत्यादि (पद्य) में भी यथायोग (सम्बन्ध) या अवसर के अनुसार विषम अलङ्कार ही समझना चाहिये।

प्रभा—(१) 'विपुलेन' इत्यादि में विष्णु का उदर (अवयव) तो पानक्रिया का कर्त्ता है; किन्तु शरीर (अवयवी) पानक्रिया का कर्म है। इस प्रकार अवयव और अवयवी दो सम्बन्धियों के सम्बन्ध की विषमता है तथा विषमालङ्कार है। उद्योत व्याख्या के अनुसार यहाँ विषम अलङ्कार दो प्रकार से है— एक तो सागर-शयन और सागरसहित चतुर्दश भुवनों का पान करना—यह विषम है। दूसरे जिसकी कुक्षि ही चतुर्दश भुवन को पीने में समर्थ है उस (समस्त अवयवी) का नयन-छोर मात्र से पिया जाना—यह विषम है।

(१९५) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

आश्रितमाधेयम् आश्रयस्तदाधारः । तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यद् अधिकतरतां व्रजतः तदिदं द्विविधम् अधिकं नाम । क्रमेणोदाहरणम्—

अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥५४२॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥५४३॥

---

(२) कुछ टीकाकारों ने इस उदाहरण का विषम के उपर्युक्त चार भेदों (प्रथम या चतुर्थ प्रकार) में ही अन्तर्भाव किया है । वस्तुतः तो 'एवम्' इत्यादि ग्रन्थ का यह अभिप्राय है कि सूत्र में जो विषम अलङ्कार के चार भेद किये गये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं; 'विपुलेन' इत्यादि उदाहरणों में अन्य प्रकार का विषम अलङ्कार भी देखा जाता है अतः जहाँ योगवैषम्य (असम्भिव्यक्ति) है वहाँ विषम अलङ्कार जानना चाहिये । साहित्यदर्पणकार ने तो 'विरूपसंघटना' नामक विषम-अलङ्कार के एक अन्य भेद में ऐसे उदाहरणों का अन्तर्भाव कर दिया है ।

अनुवाद—[महतोः आश्रिताश्रययोः क्रमात् आश्रयाश्रयिणौ तनुत्वेऽपि यन्महीयांसौ स्यातां तत् तु अधिकम्—यह अन्वय है] (४८) अधिक यह अलङ्कार है जहाँ बड़े आश्रित अर्थात् आधेय और आश्रय अर्थात् आधार में क्रमशः आधार और आधेय (आश्रयी) छोटे होने पर भी अधिक बड़े वर्णित किये जायँ । (१९५)

अर्थात् (सूत्र में) आश्रित का अर्थ है—आधेय और आश्रय का अर्थ है—आधार उन दोनों (आधेय तथा आधार) के विशाल होने पर उनकी अपेक्षा अल्प भी आधार और आधेय वर्णनीयवस्तु का उत्कर्ष-प्रतिपादन के लिये यदि क्रमशः अधिकता को पहुँच जाते हैं; वह यह दो प्रकार का (क) [आधार-महत्त्व-वर्णन, (ख) आधेय-महत्त्व-वर्णन] अधिक अलङ्कार होता है । क्रमशः उदाहरण हैं—

(क) 'हे भूपाल, तीनों लोकों का उदर बहुत बड़ा है; आश्चर्य है कि तुम्हारी अपरिमेय यशोराशि भी इसमें समा जाती है' ॥५४२॥

(ख) [माघकाव्य १.२३; नारद मुनि के आगमन पर श्रीकृष्ण के हर्ष का वर्णन] प्रलयकाल में समस्त जीवों को अपने भीतर (आत्मनि) समेट लेने वाले कैटभ के शत्रु जिस श्रीकृष्ण (विष्णु) के शरीर में चतुर्दश भुवन (जगन्ति) विस्तार सहित (सावकाश सुखकर) स्थित हो जाते हैं; उसी शरीर में तपस्वी नारद के आगमन से उत्पन्न होने वाले आनन्द न समा सके' ॥५४३॥

(१९६) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥१२९॥

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तद् अनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात्प्रत्यनीकमभिधीयते। यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः। उदाहरणम्—

प्रभा - अधिक अलङ्कार दो प्रकार का है। (क) प्रथम जहाँ आधेय विशाल होता है तथा आधार उसकी अपेक्षा छोटा होता है; किन्तु वर्णनीय के उत्कर्ष का बोध कराने लिए आधार के महत्त्व का वर्णन किया जाता है। जैसे—'अहो' इत्यादि में कविविवक्षा के कारण यशोराशि रूप आधेय विशाल है, त्रिभुवन रूप आधार उसकी अपेक्षा छोटा है; किन्तु उस (आधार) का महान् (विशाल) रूप में वर्णन किया गया है। जिससे यशोराशि का उत्कर्ष प्रतीत होता है; अतएव प्रथम अधिक' अलङ्कार है। (ख) द्वितीय—जहाँ आधार विशाल होता है; तथा अधेय उसकी अपेक्षा छोटा होता है; किन्तु वर्णनीय के उत्कर्ष का बोध कराने के लिये आधेय के महत्त्व का वर्णन किया जाता है; जैसे— युगान्त' इत्यादि में भगवान् कृष्ण के शरीर की अत्यन्त विशालता कही गई है; नारदमुनि के आगमन से होने वाला हर्ष उसकी अपेक्षा लघु है; किन्तु उसका महान् रूप में वर्णन किया गया है जिससे हर्ष की महत्ता प्रकट होती; है अतएव द्वितीय अधिक अलङ्कार है।

अनुवाद—(४६) 'प्रत्यनीक' अलङ्कार वह कहा जाता है जहाँ प्रतिपक्षी का प्रतिकार करने में असमर्थ (किसी) व्यक्ति के द्वारा उससे सम्बन्ध रखने वाले (तदीयस्य) पदार्थ का उस (प्रतिपक्षी) के उत्कर्ष को प्रकट करने वाला तिरस्कार किया जाता है। (१९६)

अर्थात् पराभव में तत्पर भी शत्रु को साक्षात् जीतने (निरसितुम्) में असमर्थ होकर जो कोई व्यक्ति उस (शत्रु) के आश्रित का ऐसा तिरस्कार करता है जिससे उस शत्रु का उत्कर्ष ही प्रकट होता है (प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुम् प्रतिपक्षोत्कर्षफलकम्), वह अनीक अर्थात् (शत्रु) सेना के प्रतिनिधि के समान होने के कारण प्रत्यनीक (अलङ्कार) कहा जाता है। जैसे सेना के दण्डनीय (अभियोज्ये=पीडनीये) होने पर किसी के द्वारा मूर्खता से अन्य (उसके प्रतिनिधि) को पीडित किया जाता है उसी प्रकार यहाँ भी जेतव्य (जीतने योग्य) तो शत्रु है; किन्तु उससे सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य का तिरस्कार किया जाता है (विजीयते=अभिभूयते) यह अर्थ है। उदाहरण है—

(१६५) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

आश्रितमाधेयम् आश्रयस्तदाधारः । तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यद् अधिकतरतां व्रजतः तदिदं द्विविधम् अधिकं नाम । क्रमेणोदाहरणम्—

अहो विशालं भूपाल, भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥५४२॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥५४३॥

---

(२) कुछ टीकाकारों ने इस उदाहरण का विषम के उपर्युक्त चार भेदों (प्रथम या चतुर्थ प्रकार) में ही अन्तर्भाव किया है । वस्तुतः तो 'एवम्' इत्यादि ग्रन्थ का यह अभिप्राय है कि सूत्र में जो विषम अलङ्कार के चार भेद किये गये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं; 'विपुलेन' इत्यादि उदाहरणों में अन्य प्रकार का विषम अलङ्कार भी देखा जाता है अतः जहाँ योगवैषम्य (असम्बन्ध) है वहाँ विषम अलङ्कार जानना चाहिये । साहित्यदर्पणकार ने तो 'विरूपसंघटना' नामक विषम-अलङ्कार के एक अन्य भेद में ऐसे उदाहरणों का अन्तर्भाव कर दिया है ।

अनुवाद—[महतोः आश्रिताश्रययोः क्रमात् आश्रयाश्रयिणौ तनुत्वेऽपि यत् महीयांसौ स्यातां तत् तु अधिकम्—यह अन्वय है] (४८) अधिक वह अलङ्कार है जहाँ बड़े आश्रित अर्थात् आधेय और आश्रय अर्थात् आधार में क्रमशः आधार और आधेय (आश्रयी) छोटे होने पर भी अधिक बड़े वर्णित किये जायें । (१६५)

अर्थात् (सूत्र में) आश्रित का अर्थ है—आधेय और आश्रय का अर्थ है—आधार उन दोनों (आधेय तथा आधार) के विशाल होने पर उनकी अपेक्षा अल्प भी आधार और आधेय वर्णनीयवस्तु का उत्कर्ष-प्रतिपादन के लिये यदि क्रमशः अधिकता को पहुँच जाते हैं; यह यह दो प्रकार का (क) [आधार-महत्त्व-वर्णन, (ख) आधेय-महत्त्व-वर्णन] अधिक अलङ्कार होता है । क्रमशः उदाहरण हैं—

(क) 'हे भूपाल, तीनों लोकों का उदर बहुत बड़ा है; आश्चर्य है कि तुम्हारी अपरिमेय यशोराशि भी इसमें समा जाती है' ॥५४२॥

(ख) [माघकाव्य १.२३; नारद मुनि के आगमन पर श्रीकृष्ण के हर्ष का वर्णन] प्रलयकाल में समस्त जीवों को अपने भीतर (आत्मनि) समेट लेने वाले कैटभ के शत्रु जिन श्रीकृष्ण (विष्णु) के शरीर में चतुर्दश भुवन (जगन्ति) विस्तार सहित (अवकाश पाकर) स्थित हो जाते हैं; उसी शरीर में तपस्वी नारद के आगमन से उत्पन्न होने वाले आनन्द न समा सके' ॥५४३॥

(१९६) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥१२९॥

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तद् अनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात्प्रत्यनीकमभिधीयते । यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः। उदाहरणम्—

प्रभा - अधिक अलङ्कार दो प्रकार का है । (क) प्रथम जहाँ आधेय विशाल होता है तथा आधार उसकी अपेक्षा छोटा होता है; किन्तु वर्णनीय के उत्कर्ष का बोध कराने लिए आधार के महत्त्व का वर्णन किया जाता है । जैसे—'अहो' इत्यादि में कविविवक्षा के कारण यशोराशि रूप आधेय विशाल है, त्रिभुवन रूप आधार उसकी अपेक्षा छोटा है; किन्तु उस (आधार) का महान् (विशाल) रूप में वर्णन किया गया है । जिससे यशोराशि का उत्कर्ष प्रतीत होता है; अतएव प्रथम अधिक' अलङ्कार है । (ख) द्वितीय—जहाँ आधार विशाल होता है; तथा आधेय उसकी अपेक्षा छोटा होता है; किन्तु वर्णनीय के उत्कर्ष का बोध कराने के लिये आधेय के महत्त्व का वर्णन किया जाता है; जैसे— युगान्त' इत्यादि मे भगवान् कृष्ण के शरीर की अत्यन्त विशालता कही गई है; नारदमुनि के आगमन से होने वाला हर्ष उसकी अपेक्षा लघु है; किन्तु उसका महान् रूप मे वर्णन किया गया है जिससे हर्ष की महत्ता प्रकट होती; है अतएव द्वितीय अधिक अलङ्कार है ।

अनुवाद—(४६) 'प्रत्यनीक' अलङ्कार वह कहा जाता है जहाँ प्रतिपक्षी का प्रतिकार करने में असमर्थ (किसी) व्यक्ति के द्वारा उससे सम्बन्ध रखने वाले (तदीयस्य) पदार्थ का उस (प्रतिपक्षी) के उत्कर्ष को प्रकट करने वाला तिरस्कार किया जाता है । (१९६)

अर्थात् पराभव में तत्पर भी शत्रु को साक्षात् जीतने (निरसितुम्) में असमर्थ होकर जो कोई व्यक्ति उस (शत्रु) के आश्रित का ऐसा तिरस्कार करता है जिससे उस शत्रु का उत्कर्ष ही प्रकट होता है (प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुम् प्रतिपक्षोत्कर्षफलकम्), वह अनीक अर्थात् (शत्रु) सेना के प्रतिनिधि के समान होने के कारण प्रत्यनीक (अलङ्कार) कहा जाता है । जैसे सेना के दण्डनीय (अभियोज्ये=पीडनीये) होने पर किसी के द्वारा मूर्खता से अन्य (उसके प्रतिनिधि) को पीडित किया जाता है उसी प्रकार यहाँ भी जेतव्य (जीतने योग्य) तो शत्रु है; किन्तु उससे सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य का तिरस्कार किया जाता है (विजीयते=अभिभूयते) यह अर्थ है । उदाहरण है—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर, भवत्यनुरक्ता।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥५४४॥

यथा वा—

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥५४५॥

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात्।

'हे सुन्दर, तुम कामदेव के सौन्दर्य को पराजित करने वाले हो और वह कामिनी आप में ही अनुरक्त है इसीलिये कामदेव मानों द्वेष के कारण (अनुशयाद् इव) अपने पाँचों बाणों से एक साथ उस कामिनी को संतप्त करता है' ॥५४४॥

अथवा जैसे—[माघकाव्य सर्ग १४,७८] 'शिर (कायस्य कायावयवस्य शिरसः) के छेदन (निग्रह) के कारण वैरभाव मानने वाला, वैरशोधन में कुशल (कृती) राहु जिस श्रीकृष्ण का कुछ भी अपकार करने में असमर्थ होकर उसके कमनीय मुख के समान आकार वाले चन्द्रमा को अब भी पीड़ित करता है' ॥५४५॥

यहाँ पर चन्द्रमा की कृष्णसम्बन्धिता श्रीकृष्ण सम्बन्धी (मुख) से (सादृश्यात्मक) सम्बन्ध रखने के कारण है।

प्रभा—(१) प्रतिपक्ष का सम्बन्धी (तदीय) दो प्रकार का होता है—एक साक्षात्सम्बन्ध से दूसरा परम्परासम्बन्ध से। साक्षात्सम्बन्धी का उदाहरण 'त्वम्' इत्यादि है। यहाँ पर कामदेव के स्वरूप को जीत लेने के कारण नायक उसका प्रतिपक्ष है। कामदेव उसका प्रतिकार करने में असमर्थ है तथा उसकी कामिनी को संतप्त करता है। कामिनी और नायक का साक्षात् ही स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। उसकी कामिनी के पीडन में नायक के उत्कर्ष की प्रतीति होती है। अतएव यहाँ प्रथम प्रत्यनीक अलङ्कार है। परम्परया सम्बन्धी का [illegible] इत्यादि है। यहाँ कृष्ण का स्वमुख से सम्बन्ध है और [illegible] साक्षात्

(१६७) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षणम्, तद्द्वारेण यत्किञ्चित् केनचिद् वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते, तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति । क्रमेणोदाहरणम्—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥५४६॥

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन, तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते ।

अनुवाद—(५०) (मीलित) [निजेन आगन्तुना वा समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यत् निगूह्यते तत् मीलितं स्मृतम्—यह अन्वय है]—मीलित अलङ्कार वह कहा गया है जहाँ अपने स्वाभाविक अथवा कारणविशेष के द्वारा उत्पन्न किसी साधारण चिह्न (लक्ष्म) से एक वस्तु अन्य वस्तु द्वारा तिरोहित कर दी जाती है। (१६७)

अर्थात् जो स्वाभाविक (निज) या निमित्तजन्य (आगन्तुक) कोई साधारण चिह्न होता है, उसके द्वारा यदि कोई कर्त्ता किसी वस्तु को वस्तुतः बलवान् होने के कारण ही तिरोहित कर देता है तो वह दो प्रकार [(क) स्वाभाविक चिह्न द्वारा तथा (ख) आगन्तुक चिह्न द्वारा] का मीलित नामक अलङ्कार कहा जाता है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(क) 'नेत्र प्रान्तभागपर्यन्त चञ्चल हैं, वचन मधुर तथा गूढ अर्थ वाले (वक्र) हैं, विलास के भार से मन्द गति है, मुख अत्यन्त मनोहर है—इस प्रकार इस मृगनयनी के अङ्गों में काम-लीला स्वय ही प्रस्फुटित हो रही है, इसलिये (तत्) इस (शरीर) में (मधुपानजन्य) मद का आविर्भाव स्थान पाकर भी दिखलाई नहीं देता' ॥५४६॥

यहाँ पर (नेत्रों) की चञ्चलता इत्यादि (नायिका के) शरीर का स्वाभाविक चिह्न है और वह मदोदय (नशा होने) में भी समान ही है क्योंकि वहाँ (मदोदय में) इस (नेत्रचञ्चलता आदि) का दर्शन होता है।

(ख) 'हे राजन्, आपके आक्रमण से शङ्कित बुद्धि वाले जो आपके शत्रु विवश होकर सदा हिमालय की कन्दराओं में निवास करते हैं। खेद है (बत) कि

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर; भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥५४४॥

यथा वा—

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥५४५॥

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ।

'हे सुन्दर, तुम कामदेव के सौन्दर्य को पराजित करने वाले हो और वह कामिनी आप में ही अनुरक्त है इसीलिये कामदेव मानों द्वेष के कारण (अनुशयाद् इव) अपने पाँचों बाणों से एक साथ उस कामिनी को संतप्त करता है' ॥५४४॥

अथवा जैसे—[माघकाव्य सर्ग १४,७८] 'शिर (कायस्य कायावयवस्य शिरसः) के छेदन (निग्रह) के कारण वैरभाव मानने वाला, वैरशोधन में कुशल (कृती) राहु जिस श्रीकृष्ण का कुछ भी अपकार करने में असमर्थ होकर उसके कमनीय मुख के समान आकार वाले चन्द्रमा को अब भी पीड़ित करता है' ॥५४५॥

यहाँ पर चन्द्रमा की कृष्णसम्बन्धिता श्रीकृष्ण सम्बन्धी (मुख) से (सादृश्यात्मक) सम्बन्ध रखने के कारण है।

प्रभा—(१) प्रतिपक्ष का सम्बन्धी (तदीय) दो प्रकार का होता है—एक साक्षात्सम्बन्ध से दूसरा परम्परासम्बन्ध से। साक्षात्सम्बन्धी का उदाहरण 'त्वम्' इत्यादि है। यहाँ पर कामदेव के स्वरूप को जीत लेने के कारण नायक उसका प्रतिपक्ष है। कामदेव उनका प्रतिकार करने में असमर्थ है तथा उसकी कामिनी को संतप्त करता है। कामिनी और नायक का साक्षात् ही स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। उसकी कामिनी के पीड़न से नायक के उत्कर्ष की प्रतीति होती है। अतएव यहाँ प्रथम प्रत्यनीक अलङ्कार है। परम्परया सम्बन्धी का उदाहरण 'यस्य' इत्यादि है। यहाँ कृष्ण का स्वमुख से सम्बन्ध है और मुख का चन्द्रमा के साथ सादृश्य सम्बन्ध है। इस प्रकार चन्द्रमा के साथ श्रीकृष्ण का परम्परया सम्बन्ध है। राहु के शिरश्छेद के कारण श्रीकृष्ण उसके शत्रु हैं। श्रीकृष्ण को जीतने में असमर्थ राहु श्रीकृष्ण के परम्परया सम्बन्धी चन्द्रमा को पीड़ित करता है। इस वर्णन से श्रीकृष्ण के उत्कर्ष की प्रतीति होती है। अतएव यहाँ द्वितीय प्रत्यनीक अलङ्कार है। (२) यद्यपि यहाँ प्रथम उदाहरण में सम्भावनार्थक 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा द्वितीय उदाहरण में भी संभावना की प्रतीति होती है तथापि यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रतिपक्ष के प्रतिकार में असमर्थ होकर तत्सम्बन्धी को पीड़ित करने की प्रतीति ही यहाँ चमत्कारजनक है।

(१६७) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षणम्, तद्द्वारेण यत्किञ्चित् केनचिद् वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते, तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति । क्रमेणोदाहरणम्—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥५४६॥

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन, तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते ।

अनुवाद—(५०) (मीलित) [निजेन आगन्तुना वा समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यत् निगूह्यते तत् मीलितं स्मृतम्—यह अन्वय है]—मीलित अलङ्कार वह कहा गया है जहाँ अपने स्वाभाविक अथवा कारणविशेष के द्वारा उत्पन्न किसी साधारण चिह्न (लक्ष्म) से एक वस्तु अन्य वस्तु द्वारा तिरोहित कर दी जाती है। (१६७)

अर्थात् जो स्वाभाविक (निज) या निमित्तजन्य (आगन्तुक) कोई साधारण चिह्न होता है, उसके द्वारा यदि कोई कर्त्ता किसी वस्तु को वस्तुतः बलवान् होने के कारण ही तिरोहित कर देता है तो वह दो प्रकार [(क) स्वाभाविक चिह्न द्वारा तथा (ख) आगन्तुक चिह्न द्वारा] का मीलित नामक अलङ्कार कहा जाता है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(क) 'नेत्र प्रान्तभागपर्यन्त चञ्चल हैं, वचन मधुर तथा गूढ अर्थ वाले (वक्र) हैं, विलास के भार से मन्द गति है, मुख अत्यन्त मनोहर है—इस प्रकार इस मृगनयनी के अङ्गों में काम-लीला स्वयं ही प्रस्फुटित हो रही है, इसलिये (तत्) इस (शरीर) में (मधुपानजन्य) मद का आविर्भाव स्थान पाकर भी दिखलाई नहीं देता' ॥५४६॥

यहाँ पर (नेत्रों) की चञ्चलता इत्यादि (नायिका के) शरीर का स्वाभाविक चिह्न है और वह मदोदय (नशा होने) में भी समान ही है क्योंकि वहाँ (मदोदय में) इस (नेत्रचञ्चलता आदि) का दर्शन होता है।

(ख) 'हे राजन्, आपके आक्रमण से शङ्कित बुद्धि वाले जो आपके शत्रु विवश होकर सदा हिमालय की कन्दराओं में निवास करते हैं। खेद है (यह) कि

अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं
तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः ॥५४७॥

अत्र तु सामर्थ्यादवसितस्य शैत्यस्य आगन्तुकत्वात्तत्प्रभवयोरपि कम्पपुलकयोस्तादृप्यं समानता च भयेऽप्यपि तयोरुपलक्षितत्वात्।

रोमाञ्चयुक्त तथा कम्पन सहित शरीर को धारण करने वाले भी उन शत्रुओं के भय को बुद्धिमान् जन भी नहीं जानते' ॥५४७॥

यहाँ पर तो (हिमालय की कन्दरा में निवास के) सामर्थ्य से जानी गई (अवसित=अवगत) शीतलता के आगन्तुक होने के कारण उस (शीतलता) से उत्पन्न होने वाले कम्पन और रोमाञ्च में भी आगन्तुकता ही है तथा उन दोनों (कम्प और पुलक) की भय में भी समानता है; क्योंकि वहाँ भी ये देखे गये हैं (उपलक्षितत्वात्=दृष्टत्वात्)।

प्रभा—(१) जहाँ समान चिह्न वाली दो वस्तुओं में एक स्वभावतः प्रबल होती है और दूसरी को तिरोहित कर देती है वहाँ 'मीलित' अलङ्कार होता है। व्याजोक्ति में तो किसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाने वाली वस्तु को किसी अन्य वस्तु के द्वारा तिरोहित करने का प्रयास किया जाता है, वहाँ वस्तुतः तिरोधान नहीं होता किन्तु मीलित में वस्तु अभिव्यक्त नहीं होती तथा तिरोधान वास्तविक रूप में होता है—यही व्याजोक्ति तथा मीलित का भेद है। इसी प्रकार मीलित का अपह्नुति से भी भेद है; क्योंकि (i) अपह्नुति में उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाती है और यहाँ ऐसा नहीं होता। (ii) अपह्नुति में छिपाने वाला व्यक्ति दोनों वस्तुओं और उनके भेद को जानता है किन्तु मीलित में तिरोहित वस्तु प्रकट ही नहीं होती (iii) अपह्नुति में साम्य प्रकट करने में तात्पर्य होता है किन्तु मीलित में समान लक्षण वाली प्रबल वस्तु द्वारा अन्य वस्तु का तिरोधान दिखलाना होता है।

(२) दोनों वस्तुओं का समान चिह्न कहीं स्वभाविक होता है कहीं निमित्तजन्य (आगन्तुक) इसी हेतु मीलित अलङ्कार के दो भेद हैं—

(क) 'अपाङ्ग' इत्यादि में नेत्र-चञ्चलता आदि सहजलीलाजन्य होने के कारण नायिका के स्वाभाविक चिह्न हैं। इस प्रकार के चिह्न मद्यपान आदि के मद में भी होते हैं। किन्तु प्रसिद्ध होने के कारण लीलारूप वस्तु प्रबल है और उसके द्वारा मदरूप वस्तु तिरोहित हो जाती है। (ख) 'ये कन्दरासु' इत्यादि में कम्प तथा पुलक आगन्तुक शीतजन्य होने के कारण आगन्तुक हैं। इसी प्रकार के चिह्न भय में भी होते हैं। किन्तु हिमालय के सामीप्य के कारण शीतजन्य वस्तु प्रबल है तथा उसके द्वारा भयरूप वस्तु तिरोहित हो जाती है।

(१८८) स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१३१॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन यत्स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली भण्यते। क्रमेणोदाहरणम्—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥५४८॥

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥५४९॥

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः, तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपम्, तस्य विलासाः, तेषामप्यस्त्रम् इत्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते। उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं योज्यम् ।

अनुवाद—(५१ एकावली) जहाँ पूर्व पूर्व वस्तु (यथापूर्वम्) के प्रति उत्तरोत्तर (वर्णित) वस्तु विशेष रूप में (क) स्थापित की जाती है अथवा (ख) निषिद्ध की जाती है वह दो प्रकार का एकावली नामक अलङ्कार होता है। (१८८)

अर्थात् जहाँ पूर्व पूर्व (वर्णित) वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर (वर्णित) वस्तु का अनेक बार (वीप्सया=बाहुल्येन) विशेषण के रूप में (क) विधान (स्थाप्यते=विधीयते) या (ख) निषेध (अपोह्यते=निषिध्यते) हुआ करता है वह विद्वानों के द्वारा दो प्रकार का 'एकावली' अलङ्कार कहा जाता है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

क–[नवसाहसाङ्कचरित; महाराज विक्रमादित्य की नगरी उज्जयिनी का वर्णन] 'जिस (उज्जयिनी) में अन्तःपुर (पुर=भवन) सुन्दरियों से पूर्ण, सुन्दरियाँ रूप से अलङ्कृत (पुरस्कृत) अङ्गों वाली, (उनका) रूप प्रकटित विलासों से युक्त था तथा वे विलास कामदेव के अस्त्ररूप ही थे' ॥५४८॥

ख–[भट्टिकाव्य में शरत्काल-वर्णन]—'वह (ऐसा कोई) जल नहीं था' जिसमें सुन्दर कमल न हो वह (ऐसा) कमल नहीं था जिस पर भ्रमर स्थित (लीन) न हों; वह भ्रमर नहीं था जो मधुर गुञ्जार करने वाला न हो और वह गुञ्जार नहीं थी जिसने मन को मोहित न किया हो' ॥५४९॥

(क) पूर्व ('पुराणि' इत्यादि) उदाहरण में अन्तःपुरों का वराङ्गनायें, उनका शरीर के विशेषण द्वारा रूप, उस (रूप) के विलास तथा उन विलासों का अस्त्र—इस क्रम से (पूर्व पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर को) विशेषण किया गया है। (ख) पिछले ('न तज्जलम्' इत्यादि) उदाहरण में निषेध में भी इसी प्रकार (जल में पङ्कज की, पङ्कज में षट्पदों की, षट्पद में गुञ्जन की और उसमें मनोहारिता की विशेषणता के उत्तरोत्तर निषेध की) योजना कर लेनी चाहिए।

(१९९) यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः

स्मरणम्—

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचिदनुभूतोऽभूत्, स कालान्तरे स्मृतिप्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत्तथैव स्मर्यते तद्भवेत्स्मरणम् । उदाहरणम्—

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥५५०॥

प्रभा—'एकावली' नामक एक विशेष प्रकार का हार होता है। जिसमें एक दाना दूसरे से गुंथता हुआ चलता है। उसके सादृश्य से जिस अलङ्कार में पूर्व पूर्व-वर्णित के प्रति उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु अनेक बार विशेषण हो जाती है वहाँ एकावली अलङ्कार होता है। अनेक बार विशेषण रूप में विधान या निषेध करने पर ही चमत्कार की प्रतीति होती है तथा वहीं यह अलङ्कार हुआ करता है। इसके लिये उपमानोपमेयभाव की अपेक्षा नहीं। इसलिए मालोपमा से इसका भेद स्पष्ट ही है, क्योंकि वहाँ एक ही उपमेय के साथ अनेक उपमान इसी प्रकार ग्रथित होते हैं, जिस प्रकार एक सूत्र में अनेक सुमन।

एकावली, मालादीपक और कारणमाला—सभी में उत्तर-उत्तर पदार्थ का पूर्व-पूर्व से सम्बन्ध होता है; किन्तु (i) मालादीपक में पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर उत्तर की विशेषण होती है, एकावली में उत्तर-उत्तर वस्तु पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण। किञ्च मालादीपक के चमत्कार का विशेष निमित्त यह है कि वहाँ अनेकों का एक समान धर्म से सम्बन्ध होता है, एकावली में ऐसा नहीं। (ii) कारणमाला में कारण कार्य भाव होता है अर्थात् पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर-उत्तर का कारण होती है। एकावली में विशेष्य-विशेषण भाव होता है अर्थात् उत्तर-उत्तर वस्तु पूर्व-पूर्व का विशेषण होती है।

अनुवाद—(५२) स्मरण यह अलङ्कार है जहाँ उस (अनुभूत) के समान किसी वस्तु के उपलब्ध होने पर (दृष्टे=उपलब्धे) पूर्वानुभूत प्रकार से उस वस्तु की स्मृति (की वर्णना) होती है। (१९९)

अर्थात् जो पदार्थ किसी (विशेष) आकार से विशिष्ट रूप में (नियतः=विशेषितः) किसी समय अनुभव का विषय हुआ था, अन्य समय में स्मृति (के संस्कारों) की उद्बोधक उस जैसी अन्य वस्तु का ज्ञान होने पर जो उसका उसी (अनुभूत) प्रकार से स्मरण (का वर्णन किया जाता) है, वही स्मरण अलङ्कार है। उदाहरण—

(क) [अप्सराओं की जलक्रीडा का वर्णन]—'चञ्चल नेत्रों वाली अप्सराओं के गम्भीर नाभिछिद्रों में जब तरङ्गों के द्वारा जल-संचार होने लगा तो उससे उत्पन्न 'कुहु' ध्वनियों ने सुरनारियों को रतिकूजन (सुरतकण्ठरुत) का स्मरण करा दिया' ॥५५०॥

यथा वा—

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।
संभरिअपञ्चजण्णस्स णमह कण्हस्स रोमाञ्चम् ॥५३१॥

(करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥५५१॥)

(५००) भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ॥१३२॥

तदिति अन्यत् अप्राकरणिकं निर्दिश्यते । तेन समानं अर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते । तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्यां यत् अप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान् ।

न चैव रूपकं प्रथमातिशयोक्तिर्वा । तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् । इह च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् ।

अथवा जैसे—

(ख) 'उन श्रीकृष्ण के रोमाञ्च को प्रणाम करो, जिन्होंने अपने दोनों हाथों से पकड़े हुए माता यशोदा के स्तन के अग्रभाग (मुख) पर अपना अधर पुट रखते हुए पाञ्चजन्य नामक शङ्ख का स्मरण किया (जिससे वे रोमाञ्चित हो गये)' ।५५१।

प्रभा—चमत्कार-जनक स्मरण का वर्णन ही स्मरणालङ्कार है (वस्तुतः वैचित्र्यजनकं स्मरणमात्रमेव स्मरणालङ्कार इति युक्तम्—बालबोधिनी) । यह स्मरण दो प्रकार का है—क. इस जन्म में अनुभूत वस्तु का स्मरण; जैसे—'निम्ननाभि' इत्यादि में रतिकाल की ध्वनि के सदृश 'कुह' ध्वनि की अनुभूति करने पर पूर्वानुभूत रतिकूजन की स्मृति का वर्णन है। ख. जन्मान्तर में अनुभूत वस्तु का स्मरण; जैसे—'करयुग' इत्यादि में शङ्खसदृश स्तन को देखकर पूर्वजन्म में अनुभूत पाञ्चजन्य (शंखविशेष) की स्मृति का वर्णन किया गया है ।

अनुवाद—(५३) भ्रान्तिमान् वह अलङ्कार है जहाँ उस (अप्राकरणिक या अप्रस्तुत) के तुल्य पदार्थ अर्थात् प्राकरणिक (प्रस्तुत) का दर्शन होने पर अन्य अर्थात् अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) की प्रतीति (की वर्णना) होती है' (२००)

(कारिका में) 'तत्' शब्द के द्वारा अन्य अर्थात् अप्राकरणिक का निर्देश किया गया है । 'उसके समान' (तत्तुल्य) इससे यहाँ प्रस्तुत का ग्रहण होता है । उस प्रकार (अप्रस्तुत के तुल्य रूप) की उस (प्रस्तुत) वस्तु का दर्शन होने पर जो उसका अप्रस्तुत के रूप में निश्चयात्मक ज्ञान (संवेदन) होता है, वह भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

यह (भ्रान्तिमान्) रूपक या प्रथमा (निगीर्याध्यवसानरूपा) अतिशयोक्ति नहीं है; क्योंकि उनमें वास्तविक भ्रम का अभाव होता है और यहाँ 'भ्रान्तिमान्' इस

उदाहरणम्—

> कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
> तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति ।
> रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
> प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥५५२॥

अन्वर्थक संज्ञा की प्रवृत्ति से ही उस की स्पष्टतया सिद्धि हो रही है । उदाहरण—

महान् आश्चर्य है कि कान्ति (के गर्व) से उन्मत्त चन्द्रमा इस संसार को भ्रान्ति में डाल रहा है—बिलाव कपाल (खप्पर) में स्थित चन्द्रमा की किरणों को दूध समझकर (पय इति) चाटने लगते हैं; हाथी वृक्ष के छिद्रों से (भूमि पर) गिरने वाली (प्रोतान्) चन्द्रकिरणों को मृणाल समझने लगता है और कोई युवती रति-क्रीडा की समाप्ति पर (जाल मार्ग द्वारा) शय्या पर स्थित चन्द्रमा की किरणों को वस्त्र समझ कर उठाने लगती है' ॥५५२॥

प्रभा—(१) 'भ्रान्तिमान्' यह अन्वर्थ संज्ञा है । जिसमें भ्रान्ति का वर्णन होता है (भ्रान्तिःअस्मिन् अस्ति इति) अर्थात् जहाँ सादृश्य के कारण प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु के भ्रम का वैचित्र्यपूर्ण वर्णन किया जाता है वह भ्रान्तिमान् अलङ्कार है । एक वस्तु को निश्चयात्मक रूप से दूसरी वस्तु समझना ही भ्रान्ति है ।

(२) 'कपाले' इत्यादि में शुभ्रता के कारण अप्रस्तुत दुग्ध आदि के तुल्य प्रस्तुत चन्द्रकिरणों को देखकर मार्जार इत्यादि की दुग्ध-भ्रान्ति आदि का वर्णन किया गया है अतः 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार है । इसे 'भ्रम' अलङ्कार भी कहा जाता है ।

(३) भ्रान्तिमान् का अन्य अलङ्कारों से सम्बन्ध ; भ्रान्तिमान् रूपक और प्रथमातिशयोक्ति—(समानता) इन तीनों में ही उपमेय को उपमान के रूप में समझ लिया जाता है । जैसे 'मुखं चन्द्रः' (रूपक) तथा 'चन्द्रः उदेति' (अतिशयोक्ति) में मुख को चन्द्रमा के रूप में निश्चित किया जाता है, इसी प्रकार कपाले० इत्यादि में चन्द्रकिरणों (उपमेय) को पयः (उपमान) इत्यादि के रूप में समझ लिया जाता है । (भेद) (i) रूपक और प्रथमातिशयोक्ति में वस्तुतः भ्रम नहीं होता केवल आरोप या अध्यवसान होता है, अर्थात् हम मुख और चन्द्र को पृथक् जानते हुए भी मुख में इच्छा-नुसार (आहार्य) चन्द्र के अभेद की कल्पना कर लेते हैं (रूपक और अतिशयोक्ति के अन्तर के लिये द्र० रूपक) । दूसरी ओर भ्रान्तिमान् में वस्तुतः भ्रान्ति का वर्णन होता है । यहाँ हम उपमेय तथा उपमान दोनों को पृथक्तः नहीं जानते । (ii) भ्रान्तिमान् में 'भ्रम' आदि शब्द से या 'इति' शब्द से भ्रम को प्रकट किया जाता है किन्तु रूपक या अतिशयोक्ति में ऐसा नहीं होता (उद्योत) ।

(२०१) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।

तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥१३३॥

(१) अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यदुपमानमाक्षिप्यते (२) यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्पयते तदुपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वादुभयरूपं प्रतीपम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

१. लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां

भ्रान्तिमान् और स्मरण—(समानता) दोनों में ही तुल्य वस्तु को देखकर अन्य वस्तु की प्रतीति का वर्णन होता है । (भेद) (i) स्मरण में स्मृत और दृष्ट दोनों वस्तुओं का पृथक्शः ज्ञान रहा करता है किन्तु भ्रान्तिमान् में दृष्ट वस्तु को भ्रम से स्मृत वस्तु के रूप में ही समझ लिया जाता है । अतः दृष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं रहता । जैसे ऊपर के उदाहरण में मार्जार आदि को चन्द्रकिरणों का ज्ञान नहीं रहता । (ii) स्मरण अलङ्कार में स्मृति ही प्रधान होती है, वही अलङ्कार का आधार है किन्तु भ्रान्ति में स्मृति केवल सहायक होती है, भ्रम का वर्णन ही चमत्कार-जनक होता है ।

भ्रान्तिमान् और सन्देह—(i) एक वस्तु में उभयकोटिक (दो प्रकार का) ज्ञान होना सन्देह है, जैसे यह मुख है या चन्द्रमा' इस प्रकार का ज्ञान । किन्तु एक वस्तु को निश्चित रूप से दूसरी समझ लेना (एककोटिक निश्चय) भ्रम या भ्रान्ति है; जैसे मुख को चन्द्रमा समझ लेना । जहाँ सन्देह (संशय) का चमत्कारजनक वर्णन होता है, वहाँ सन्देह अलङ्कार है । किन्तु जहाँ भ्रान्ति का चमत्कारजनक वर्णन होता है वहाँ भ्रान्तिमान् है ।(ii) सन्देह में उपमान और उपमेय दोनों का पृथक्शः ज्ञान रहता है किन्तु भ्रान्तिमान् में उपमेय को भुलाकर उपमान के रूप में ही निश्चित कर लिया जाता है ।

अनुवाद—(५४) प्रतीप वह अलङ्कार है जहाँ (क) उपमान का आक्षेप (निन्दा या निषेध) किया जाय अथवा (ख) उस (उपमान) का तिरस्कार करने के लिये उसकी उपमेयरूप में कल्पना की जाय ।

अर्थात् (१) इस (उपमान) के प्रयोजन (धुरम्) को उपमेय ही भली भाँति (सुतराम्) निबाहने में (वोढुं) समर्थ (प्रौढ) है, अतः उपमान का क्या प्रयोजन है (कैमर्थ्येन=किमर्थमिति न्यायेन) ?—इस प्रकार जो उपमान का निषेध या निन्दा की जाती है (प्रथम प्रतीप) और (२) जो उस उपमान रूप से ही लोकप्रसिद्ध (चन्द्रमा आदि) वस्तु को (मुख आदि) अन्य उपमान की विवक्षा से अनादर के लिए उपमेय रूप में कल्पित किया जाता है (द्वितीय प्रतीप)—यह उपमेय के उपमान से प्रतिकूल होने के कारण दो प्रकार का प्रतीप अलङ्कार है । क्रमशः उदाहरण इस प्रकार है—

(१) 'हे राजन्, सौन्दर्य के निवास-स्थान, प्रताप की गरिमा से युक्त, त्या-

देव, त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥५५३॥

२. ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो उअमिज्जइ जणेण ॥५५४॥

(अयि एहि तावत्सुन्दरि, कर्णं दत्वा शृणुष्व वचनीयम् ।
तव मुखेन कृशोदरि, चन्द्र उपमीयते जनेन ॥५५४)

अत्र मुखेनोपमीयमानस्य शशिनः स्वल्पतरगुणत्वादुपमित्यनिष्पत्त्या वअणिज्जमिति वचनीयपदाभिव्यङ्ग्यस्तिरस्कारः ।

गियों में अग्रगण्य, पृथिवी के भार-वहन में समर्थ भुजा वाले आपको जब विधाता ने रच दिया तो चन्द्रमा को क्यों रचा ? यह सूर्य (पूषा) किस लिए बनाया ? यह चिन्तामणि क्यों उत्पन्न की ? और ये कुल पर्वत (महेन्द्रो, मलयः, सह्यः, शुक्तिमान्, ऋक्षपर्वतः विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः) भी व्यर्थ ही बनाए' ॥५५३॥

प्रभा—प्रतीप का अर्थ है—प्रतिकूल; अतएव उपमेय के द्वारा उपमान का अपकर्ष बोध कराना ही प्रतीप अलङ्कार है। यह दो प्रकार का होता है—

(१) उपमान का आक्षेप—'उपमेय के होते उपमान व्यर्थ हैं' यह आक्षेप करना प्रथम प्रतीप है; जैसे—'लावण्य' इत्यादि में वर्णन किया गया है कि 'लावण्य' आदि गुणों से युक्त राजारूप उपमेय के होने पर इन्दु आदि समस्त उपमान व्यर्थ हैं। यद्यपि यहाँ पर 'लावण्यौकसि' इत्यादि का 'इन्दु' आदि के साथ क्रमशः अन्वय है, इस हेतु यथासंख्य अलङ्कार भी कहा जा सकता है तथापि उपमान का आक्षेप ही विशेष चमत्कारक है अतएव प्रथम प्रतीप अलङ्कार है। उपमान का तिरस्कार या अपकर्ष-बोधन ही इस प्रतीप का प्रयोजन है; व्यतिरेक अलङ्कार में तो उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य दिखलाया जाता है—यही दोनों का भेद है।

(२) उपमान की उपमेयताकल्पना—तिरस्कार के लिए लोकप्रसिद्ध उपमान की उपमेय के साथ उपमा दिखलाना द्वितीय प्रतीप है इसके द्वारा भी उपमान का तिरस्कार किया जाता है। इसलिए यह उपमेयोपमा से भिन्न है; क्योंकि वहाँ परस्पर उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होती है; उपमान का तिरस्कार नहीं। जैसे कि अग्रिम उदाहरणों से स्पष्ट है।

अनुवाद—(ख) 'हे सुन्दरी, तनिक इधर आओ, कान लगाकर इस निन्दा (वचनीयम्) को सुन लो। अरी कृशोदरी, लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की उपमा देते हैं' ॥५५४॥

यहाँ मुख के साथ जिसकी उपमा दी गई है (उपमीयमान) उस चन्द्रमा के अल्पगुणयुक्त होने से उपमा—उपमिति (सादृश्य) निष्पन्न (सिद्ध) नहीं होती, जिससे 'वचनीय' (वअणिज्जम्) पद से व्यङ्ग्य (उपमान का) तिरस्कार प्रकट होता है।

क्वचित्तु निष्पन्नैवोपमितिक्रियाऽनादरनिबन्धनम्। यथा—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे,
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥५५५॥

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः।

अनयैव रीत्या यदसामान्यगुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम्। यथा—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल, तात, मास्म दृप्यः।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥५५६॥

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसंभाव्यमेवोपनिबद्धम्।

कहीं तो उपमिति-कार्य निष्पन्न होकर ही तिरस्कार का हेतु होता है। जैसे—'हे मुग्धे, तुम अपने नेत्रों के कारण इतना अधिक (असंवाह्यम्=न वहन करने योग्य) गर्व क्यों रखती हो? क्योंकि प्रत्येक दिशा में सरोवरों में ऐसे नीलकमल (भी) विद्यमान हैं' ॥५५५॥

यहाँ नीलकमलों को उपमेय बनाना ही उनका अनादर है।

प्रभा—द्वितीय (उपमान की उपमेयरूपता कल्पना) प्रतीप में (क) कहीं तो कल्पित उपमा की असिद्धि द्वारा उपमान का तिरस्कार प्रकट होता है; जैसे—'अयि एहि' इत्यादि में—अत्युत्तम गुण वाले निरुपमेय मुख के समान चन्द्रमा को बतलाना अनुचित है, यह भाव है; अतएव कल्पित उपमा की निष्पत्ति नहीं होती। (ख) कहीं निष्पन्न अर्थात् सिद्ध हुई उपमा द्वारा उपमान का तिरस्कार प्रकट होता है; जैसे—'गर्वम्' इत्यादि में। यहाँ उपमानरूप से लोक प्रसिद्ध कमलों को लोचनों का उपमेय बनाना ही अनादार का हेतु है; क्योंकि उपमेय तो उपमान की अपेक्षा न्यून गुणों वाला ही होता है।

अनुवाद—(प्रतीप का अन्य प्रकार) इसी प्रकार असाधारण गुणयुक्त होने के कारण जिस वस्तु की उपमानरूपता का भी पहले अनुभव नहीं किया गया, उस (वस्तु) की वैसी (उपमानरूपता) कल्पना करने पर भी प्रतीप अलङ्कार होता है यह जानना चाहिए। जैसे—

'हे तात (उपहास या अनुकम्पा में सम्बोधन) हालाहल, तू ऐसा दर्प मत कर कि अत्यन्त दारुण पदार्थों में मैं ही उच्च हूँ, क्योंकि इस संसार में दुर्जनों के वचन तेरे समान बहुत (भूयः=बहु यथा स्यात् तथा) हैं' ॥५५६॥

यहाँ पर हालाहल की असम्भाव्यमान उपमानरूपता का ही उल्लेख किया गया है।

(२०२) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं वध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अताद्दशमपि ताद्दशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन संपृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत्समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम् ।

प्रभा—सूत्र में प्रतीप का भेद-द्वय कथन उपलक्षण मात्र है । इसके अन्य भेद भी हो सकते हैं, अनयैव रीत्या' इत्यादि अवतरण में यही निरूपति किया गया है । भाव यह है कि जो वस्तु असाधारण गुणों वाली है अतएव कभी उसे उपमानरूप में भी नहीं जाना गया; उस वस्तु की उपमानरूप में कल्पना करने पर एक अन्य प्रकार का प्रतीप अलङ्कार होता है । जैसे—'अहमेव' इत्यादि में अत्युत्कट दुःख के हेतु हालाहल को खलवचनों का उपमान बनाया गया है जो उपमान के तिरस्कार का हेतु है अत एव यहाँ प्रतीप अलङ्कार है । साहित्यदर्पणकार के अनुसार प्रतीप के इस भेद में दो अनिवार्य तत्त्व हैं—प्रथमतः उत्कृष्ट वस्तु के अत्यन्त उत्कर्ष का वर्णन किया जाये फिर उसे उपमान रूप में कल्पित किया जाये (सा०द० १०.८८-८९) ।

(२) प्रतीप और व्यतिरेक—दोनों में किसी अंश में प्रसिद्ध उपमानोपमेयभाव के विपरीत कथन होता है तथापि (i) प्रतीपका आधार है—उपमान का तिरस्कार (उपमानतिरस्कारस्य अलङ्कारतावीजत्वात्-प्रतीप) । यह कार्य अनेक प्रकार से किया जाता है-क—उपमान का आक्षेप, ख-उपमान की उपमेय रूप में कल्पना (उपमा की सिद्धि न होने पर अथवा उपमा की सिद्धि हो जाने पर भी), ग—असाधारण गुण वाले पदार्थ की उपमान कल्पना । इसके विपरीत व्यतिरेक का आधार है—उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य दिखलाना । यह कार्य 'उपमेयगत उत्कर्ष का निमित्त' आदि के वर्णन द्वारा चार प्रकार से किया जाता है (द०,व्यतिरेक) । (ii) प्रतीप केवल साधर्म्य पर आश्रित है; किन्तु व्यतिरेक साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों पर क्योंकि वहाँ जब उपमेय के उत्कर्ष का निमित्त या उपमान के अपकर्ष का निमित्त बतलाया जाता है तब दोनों का वैधर्म्य ही प्रकट होता है ।

अनुवाद—(५५) सामान्य वह अलङ्कार कहा गया है जहाँ वर्णनीय वस्तु का अन्य अर्थात् अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से गुण-साम्य का बोध कराने के लिए दोनों की एकरूपता का निरूपण किया जाता है । (१३४)

अर्थात् वस्तुतः उस (अप्रस्तुत वस्तु) के समान न होने पर भी उसकी समानता का बोध कराने के लिये जो अप्रस्तुत वस्तु से सम्बद्ध होकर अपने गुणों को बिना त्यागे ही प्रस्तुत वस्तु का उस (अप्रस्तुत वस्तु) को एकात्मतारूप में प्रतिपादन किया जाता है वह समानगुणों के सम्बन्ध से होने के कारण सामान्य अलङ्कार है । उदाहरण—

उदाहरणम्—

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः ।
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ॥
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः ।
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥५५७॥

अत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः। अत एव पृथग्भावेन न तयोरुपलक्षणम् । यथा वा—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।

भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥५५८॥

अत्र निमित्तान्तरजनिताऽपि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते । प्रतीतत्वात्तस्य । प्रतीतेश्च बाधायोगात् ।

'जब विस्तृत तेज वाले शशाङ्क ने पृथ्वी को धवलित कर दिया तब चन्दन रस से लिप्त शरीर वाली, नूतन मुक्तामालाओं से विभूषित, शुभ्र कर्णभूषण (दन्त-पत्र=हस्तिदन्त निर्मित कर्णाभरण) से मुख-कान्ति को बढ़ाने वाली, रम्य तथा निर्मल वस्त्रों वाली अभिसारिकाएँ चन्द्रिका में अलक्ष्य (एकरूप) होकर भयरहित सुखपूर्वक प्रिय-गृह को जाती हैं' ॥५५७॥

यहाँ प्रस्तुत (अभिसारिका) और तदन्य अर्थात् अप्रस्तुत (चन्द्रिका) की अन्यून और अनधिक रूप (सामानरूप) में वर्णित धवलता ही एकरूपता का हेतु है, इसलिये उन दोनों की पृथक् रूप में प्रतीति (उपलक्षणम्) नहीं होती । अथवा जैसे—

'वेत्र की छाल के समान कान्तिवाली वधुओं के कानों के अग्रभाग से कपोल-तल पर आये हुए नवचम्पक-पुष्पों को कौन जान सकता यदि लीलापूर्वक (झूम झूम कर) भ्रमर उन पर न गिरते' ॥५५८॥

यहाँ पर अन्य निमित्त (भ्रमर-पतन) से उत्पन्न होने वाली भी भेद प्रतीति पूर्वज्ञात अभेद को दूर करने में (व्युदसितुं निरसितुम्) समर्थ नहीं है; क्योंकि उस (एकरूपता) की प्रतीति हो चुकी है तथा उत्पन्न प्रतीति की अनुत्पत्ति (बाधः= अनुत्पादः) सम्भव नहीं है ।

प्रभा—(१) जहाँ समानगुणों के होने से अनुभूत प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में एकात्मता की प्रतीति का वर्णन होता है वह सामान्य अलङ्कार है । इसका 'तद्गुण' अलङ्कार से भेद स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ प्रस्तुत निज गुणों का परित्याग कर देता है किन्तु यहाँ अपने गुणों को त्यागे बिना ही (अपरित्यक्तनिजगुणमेव) अप्रस्तुत के साथ एकरूपता की प्रतीति होती है । इसका 'मीलित' अलङ्कार से भी भेद है क्योंकि मीलित में एक वस्तु में समान धर्म उत्कृष्ट कोटि का होता है और उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के द्वारा निकृष्ट गुण वाली का तिरोधान हो जाता है किन्तु

(२०२) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अताद्दशमपि ताद्दशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन संपृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत्समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम् ।

प्रभा—सूत्र में प्रतीप का भेद–द्वय कथन उपलक्षण मात्र है । इसके अन्य भेद भी हो सकते हैं, अनयैव रीत्या' इत्यादि अवतरण में यही निरूपति किया गया है । भाव यह है कि जो वस्तु असाधारण गुणों वाली है अतएव कभी उसे उपमानरूप मे भी नही जाना गया; उस वस्तु की उपमानरूप में कल्पना करने पर एक अन्य प्रकार का प्रतीप अलङ्कार होता है । जैसे—'अहमेव' इत्यादि में अत्युत्कट दुःख के हेतु हालाहल को खलवचनों का उपमान बनाया गया है जो उपमान के तिरस्कार का हेतु है अत एव यहाँ प्रतीप अलङ्कार है । साहित्यदर्पणकार के अनुसार प्रतीप के इस भेद में दो अनिवार्य तत्त्व हैं–प्रथमतः उत्कृष्ट वस्तु के अत्यन्त उत्कर्ष का वर्णन किया जाये फिर उसे उपमान रूप में कल्पित किया जाये (सा०द० १०.८८–८९) ।

(२) प्रतीप और व्यतिरेक—दोनों में किसी अंश में प्रसिद्ध उपमानोपमेयभाव के विपरीत कथन होता है तथापि (i) प्रतीपका आधार है–उपमान का तिरस्कार (उपमानतिरस्कारस्य अलङ्कारताबीजत्वात्-प्रदीप) । यह कार्य अनेक प्रकार से

उदाहरणम्—

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः ।
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ॥
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः ।
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥५५७॥

अत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः । अत एव पृथग्भावेन न तयोरुपलक्षणम् । यथा वा—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥५५८॥

अत्र निमित्तान्तरजनिताऽपि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते । प्रतीतत्वात्तस्य । प्रतीतेश्च बाधायोगात् ।

'जब विस्तृत तेज वाले शशाङ्क ने पृथ्वी को धवलित कर दिया तब चन्दन रस से लिप्त शरीर वाली, नूतन मुक्तामालाओं से विभूषित, शुभ्र कर्णाभूषण (दन्तपत्र=हस्तिदन्त निर्मित कर्णाभरण) से मुख-कान्ति को बढ़ाने वाली, रम्य तथा निर्मल वस्त्रों वाली अभिसारिकाएँ चन्द्रिका में अलक्ष्य (एकरूप) होकर भयरहित सुखपूर्वक प्रिय-गृह को जाती हैं' ॥५५७॥

यहाँ प्रस्तुत (अभिसारिका) और तदन्य अर्थात् अप्रस्तुत (चन्द्रिका) की अन्यून और अनधिक रूप (सामानरूप) में वर्णित धवलता ही एकरूपता का हेतु है, इसलिये उन दोनों की पृथक् रूप में प्रतीति (उपलक्षणम्) नहीं होती । अथवा जैसे—

'वेत्र की छाल के समान कान्तिवाली वधुओं के कानों के अग्रभाग से कपोलतल पर आये हुए नवचम्पक-पुष्पों को कौन जान सकता यदि लीलापूर्वक (झूम झूमकर) भ्रमर उन पर न गिरते' ॥५५८॥

यहाँ पर अन्य निमित्त (भ्रमर-पतन) से उत्पन्न होने वाली भी भेद प्रतीति पूर्वज्ञात अभेद को दूर करने में (व्युदसितुं निरसितुम्) समर्थ नहीं है; क्योंकि उस (एकरूपता) की प्रतीति हो चुकी है तथा उत्पन्न प्रतीति की अनुत्पत्ति (बाधः=अनुत्पादः) सम्भव नहीं है ।

प्रभा—(१) जहाँ समानगुणों के होने से अनुभूत प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में एकात्मता की प्रतीति का वर्णन होता है वह सामान्य अलङ्कार है । इसका 'तद्गुण' अलङ्कार से भेद स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ प्रस्तुत निज गुणों का परित्याग कर देता है किन्तु यहाँ अपने गुणों को त्यागे बिना ही (अपरित्यक्तनिजगुणमेव) अप्रस्तुत के साथ एकरूपता की प्रतीति होती है । इसका 'मीलित' अलङ्कार से भी भेद है क्योंकि मीलित में एक वस्तु में समान धर्म उत्कृष्ट कोटि का होता है और उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के द्वारा निकृष्ट गुण वाली का तिरोधान हो जाता है किन्तु

(२०३) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥१३५॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥१३६॥

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत् आधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः । यथा—

१. दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥५५६॥

सामान्य अलङ्कार में दोनों (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) वस्तु तुल्य गुण वाली होती हैं अत एव दोनों के भेद का ग्रहण नहीं होता (भेदाग्रह)–मि० साहित्यदर्पण । भ्रान्तिमान् से इसका भेद यह है कि वहाँ प्रस्तु में स्मृत अप्रस्तुत वस्तु की भ्रान्ति होती है; किन्तु यहाँ अनुभूत वस्तुओं में एकरूपता होती है । इसी प्रकार यह रूपक तथा प्रथमातिशयोक्ति से भी भिन्न है; क्योंकि वहाँ उपमेय की उपमानरूपता प्रतीत होती है; किन्तु यहाँ उपमान तथा उपमेय की एकरूपता ।

(२) 'मलयज' इत्यादि में शुक्लता की समानता के कारण प्रस्तुत अभिसारिका तथा अप्रस्तुत (चन्द्रिका) की एकरूपता का वर्णन है यहाँ पर 'अविभाव्यतां गताः' इसके द्वारा एकात्मता का प्रतिपादन किया गया है अत एव सामान्यालङ्कार है ।

(३) कहीं २ प्रस्तुत और अप्रस्तुत की उत्तरकाल में भेद-प्रतीति हो जाने पर भी पूर्वकालिक ऐक्यप्रतीति के भासित होने से सामान्य-अलङ्कार होता है; जैसे–'वेत्रत्वचा' इत्यादि में प्रस्तुत (कपोल) और अप्रस्तुत (चम्पक) में भ्रमरपतन के पश्चात् भेद–प्रतीति हो जाती है फिर भी पूर्वकालिक एकरूपता को लेकर सामान्य अलङ्कार होता है ।

अनुवाद—(५६ विशेष) (क) जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय (आश्रित) वस्तु की स्थिति अथवा (ख) एक (वस्तु) की अनेक वस्तुओं में एक साथ एकरूप से वृत्ति (स्थिति) अथवा (ग) वेग से अन्य कार्य करते हुए (व्यक्ति) के किसी अन्य अशक्य कार्य का उसी प्रकार से करने का वर्णन किया जाता है; यह तीन प्रकार का 'विशेष' अलङ्कार कहा गया है ।

(१) प्रथम 'विशेष' (अलङ्कार) वह है जहाँ प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय वस्तु की विशिष्ट (अर्थात् बिना आधार के ही) स्थिति का वर्णन किया जाता है । उदाहरण—'स्वर्ग में चले जाने पर भी जिनकी प्रचुरगुणों से युक्त काव्य-रूपवाणी कल्पपर्यन्त समस्त संसार को आनन्दित करती है, वे कविगण इस लोक में वन्दना योग्य क्यों न हों ॥५५६॥

२. एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः। यथा—

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअ अच्छीसु सा अ वअणेसु।
अह्मारिसाण सुन्दर ओआसो कत्थ पावाणम् ॥५६०॥
(सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु।
अस्मादृशीनां सुन्दर, अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥५६०॥)

३. यदपि किंचिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो विशेषः। यथा—

(क) स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६१॥

यथा वा—

(ख) गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम् ॥५६२॥

[यहाँ कविरूप प्रसिद्ध आधार के बिना ही कविवाणी रूप आधेय की स्थिति का वर्णन है अतः प्रथम 'विशेष' अलङ्कार है]

(२) द्वितीय 'विशेष' (अलङ्कार) वह है जहाँ एक ही वस्तु एक ही रूप में एक साथ अनेक स्थानों में विद्यमान रहती है। उदाहरण—[सपत्नी में आसक्त पति के प्रति पत्नी की उक्ति]—'हे सुन्दर, वह (सपत्नी) ही तुम्हारे हृदय में बस रही है, वही आँखों में और वही वचनों में निवास करती है, हमारी जैसी पापिनी (अभागिनी) के लिये स्थान ही कहाँ है?' ॥५६०॥

[यहाँ पर एक ही सपत्नी की एकरूप में एक साथ ही हृदय इत्यादि अनेक वस्तुओं में स्थिति का वर्णन किया गया है अत एव द्वितीय विशेष अलङ्कार है]

(३) तृतीय 'विशेष' (अलङ्कार) वह है जहाँ वेगपूर्वक किसी कार्य को करने वाला कर्ता उसी प्रयत्न के द्वारा किसी अन्य अशक्य कार्य को भी कर लेता है (यह वर्णन किया जाता है)। जैसे—

(क) 'हे राजन् प्रकाशमान अद्भुत रूप वाले, उद्दीप्त प्रतापानल से युक्त तथा शुद्धविद्या वाले आपकी रचना करते हुए विधाता ने सचमुच ही एक नवीन कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पति का निर्माण किया है' ॥५६१॥

[यहाँ पर—राजा की रचना करने वाले विधाता ने उसी प्रयत्न के द्वारा अन्य अशक्य कार्य कामदेव आदि की रचना कर डाली—इस वर्णन में तृतीय विशेष अलङ्कार है]

(ख) अथवा जैसे—[रघुवंश; इन्दुमती-निधन पर राजा अज की उक्ति] 'हे इन्दुमती, तुम मेरी गृहिणी, मन्त्रणा देने वाली, एकान्त की सहचरी तथा ललित कला के अभ्यास में प्रियशिष्या थी, करुणा-विहीन मृत्यु ने तुम्हें छीनते हुए मेरा क्या नहीं छीन लिया? ॥५६२॥

(२०३) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥१३५॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥१३६॥

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत् आधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः । यथा—

१. दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥५५६॥

सामान्य अलङ्कार में दोनों (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) वस्तु तुल्य गुण वाली होती हैं अत एव दोनों के भेद का ग्रहण नहीं होता (भेदाग्रह)–मि० साहित्यदर्पण । भ्रान्तिमान् से इसका भेद यह है कि वहाँ प्रस्तु में स्मृत अप्रस्तुत वस्तु की भ्रान्ति होती है; किन्तु यहाँ अनुभूत वस्तुओं में एकरूपता होती है । इसी प्रकार यह रूपक तथा प्रथमातिशयोक्ति से भी भिन्न है; क्योंकि वहाँ उपमेय की उपमानरूपता प्रतीत होती है; किन्तु यहाँ उपमान तथा उपमेय की एकरूपता ।

(२) 'मलयज' इत्यादि में शुक्लता की समानता के कारण प्रस्तुत अभिसारिका तथा अप्रस्तुत (चन्द्रिका) की एकरूपता का वर्णन है यहाँ पर 'अविभाव्यतां गताः' इसके द्वारा एकात्मता का प्रतिपादन किया गया है अत एव सामान्यालङ्कार है ।

(३) कहीं २ प्रस्तुत और अप्रस्तुत की उत्तरकाल में भेद-प्रतीति हो जाने पर भी पूर्वकालिक ऐक्यप्रतीति के भासित होने से सामान्य-अलङ्कार होता है; जैसे–'वेत्रत्वचा' इत्यादि में प्रस्तुत (कपोल) और अप्रस्तुत (चम्पक) में भ्रमरपतन के पश्चात् भेद–प्रतीति हो जाती है फिर भी पूर्वकालिक एकरूपता को लेकर सामान्य अलङ्कार होता है ।

अनुवाद—(५६ विशेष) (क) जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय (आश्रित) वस्तु की स्थिति अथवा (ख) एक (वस्तु) की अनेक वस्तुओं में एक साथ एकरूप से वृत्ति (स्थिति) अथवा (ग) वेग से अन्य कार्य करते हुए (व्यक्ति) के किसी अन्य अशक्य कार्य का उसी प्रकार से करने का वर्णन किया जाता है; वह तीन प्रकार का 'विशेष' अलङ्कार कहा गया है ।

(१) प्रथम 'विशेष' (अलङ्कार) वह है जहाँ प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय वस्तु की विशिष्ट (अर्थात् बिना आधार के ही) स्थिति का वर्णन किया जाता है । उदाहरण—'स्वर्ग में चले जाने पर भी जिनकी प्रचुरगुणों से युक्त काव्य-रूपवाणी कल्पपर्यन्त समस्त संसार को आनन्दित करती है, वे कविगण इस लोक में वन्दना योग्य क्यों न हों ॥५५६॥

२. एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः। यथा—

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअ अच्छीसु साअ वअणेसु।
अह्मारिसाण सुन्दर ओआसो कत्थ पावाणम् ॥५६०॥
(सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु।
अस्मादृशीनां सुन्दर, अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥५६०॥)

३. यदपि किंचिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो विशेषः। यथा—

(क) स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६१॥

यथा वा—

(ख) गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वत किं न मे हृतम् ॥५६२॥

[यहाँ कविरूप प्रसिद्ध आधार के बिना ही कविवाणी रूप आधेय की स्थिति का वर्णन है अतः प्रथम 'विशेष' अलङ्कार है]

(२) द्वितीय 'विशेष' (अलङ्कार) वह है जहाँ एक ही वस्तु एक ही रूप में एक साथ अनेक स्थानों में विद्यमान रहती है। उदाहरण—[सपत्नी में आसक्त पति के प्रति पत्नी की उक्ति]—'हे सुन्दर, वह (सपत्नी) ही तुम्हारे हृदय में बस रही है, वही आँखों में और वही वचनों में निवास करती है, हमारी जैसी पापिनी (अभागिनी) के लिये स्थान ही कहाँ है ?' ॥५६०॥

[यहाँ पर एक ही सपत्नी की एकरूप में एक साथ ही हृदय इत्यादि अनेक वस्तुओं में स्थिति का वर्णन किया गया है अत एव द्वितीय विशेष अलङ्कार है]

(३) तृतीय 'विशेष' (अलङ्कार) वह है जहाँ वेगपूर्वक किसी कार्य को करने वाला कर्ता उसी प्रयत्न के द्वारा किसी अन्य अशक्य कार्य को भी कर लेता है (यह वर्णन किया जाता है)। जैसे—

(क) 'हे राजन् प्रकाशमान अद्भुत रूप वाले, उद्दीप्त प्रतापानल से युक्त तथा शुद्धविद्या वाले आपकी रचना करते हुए विधाता ने सचमुच ही एक नवीन कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पति का निर्माण किया है' ॥५६१॥

[यहाँ पर—राजा की रचना करने वाले विधाता ने उसी प्रयत्न के द्वारा अन्य अशक्य कार्य कामदेव आदि की रचना कर डाली—इस वर्णन में तृतीय विशेष अलङ्कार है]

(ख) अथवा जैसे—[रघुवंश; इन्दुमती-निधन पर राजा अज की उक्ति] 'हे इन्दुमती, तुम मेरी गृहिणी, मन्त्रणा देने वाली, एकान्त की सहचरी तथा ललित कला के अभ्यास में प्रियशिष्या थी, करुणा-विहीन मृत्यु ने तुम्हें छीनते हुए मेरा क्या नहीं छीन लिया ? ॥५६२॥

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात् अत एवोक्तम्—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना" ॥ इति ।

प्रभा—'गृहिणी' इत्यादि तृतीय प्रकार के विशेष अलङ्कार का दूसरा उदाहरण है। 'स्फुरद्' इत्यादि में अन्य कार्य का करना शब्द-बोध्य है; किन्तु 'गृहिणी' आदि में वह व्यङ्ग्य है इसी कारण यह दूसरा उदाहरण दिया गया है। कुछ व्याख्याकारों (माणिक्यचन्द्र) का मत है कि 'स्फुरद्' इत्यादि में यथासंख्य अलङ्कार भी हो सकता है अत एव यह दूसरा उदाहरण दिया गया है। यहाँ पर 'इन्दुमतीहरणरूप' एक कार्य करने वाली मृत्यु का उसी प्रयत्न के द्वारा सचिव-हरण आदि अन्य अशक्य कार्य करने का वर्णन है अत एव तृतीय प्रकार का विशेष अलङ्कार है।

अनुवाद—इस प्रकार के ('विशेष' अलङ्कार इत्यादि के) स्थलों पर सर्वत्र अतिशय अर्थात् लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाली उक्ति (अनूठा कथन) ही प्राण रूप में स्थित होता है, उसके बिना तो प्रायः अलङ्कार होना सम्भव नहीं है। अतएव (भामहाचार्य ने) कहा है—

"समस्त अलङ्कारों के स्थल में (सर्वत्र) यह (पूर्वलक्षित अतिशयोक्ति) यही वक्रोक्ति (वैचित्र्याधायक उक्ति अथवा लोकातिवर्ती उक्ति, यहाँ अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति समानार्थक हैं)। इसके द्वारा अर्थ को अलङ्कृत किया जाता है (विभाव्यते)। (अतः) कवि को (इसमें यत्न करना चाहिये। इसके बिना कौन अलङ्कार है?" (अर्थात् यह समस्त अलङ्कारों का बीजरूप है)।

प्रभा—(१) यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि आधार के बिना आधेय की स्थिति नहीं हो सकती, एक ही वस्तु एक साथ अनेक वस्तुओं में नहीं रह सकती तथा एक ही यत्न से दो कार्यों का होना भी असम्भव ही है फिर इनके वर्णन को अलङ्कार कैसे कहा जा सकता है? 'सर्वत्र' इत्यादि अवतरण द्वारा इसका समाधान किया गया है। भाव यह है कि प्रायः कवि-प्रतिभा-कल्पित लोकसीमातिवर्ती उक्ति-वैचित्र्य ही कविता का अलङ्कार हुआ करता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त स्थलों में भी अलङ्कार मानने में क्या आपत्ति है। यद्यपि 'दिवम्' इत्यादि में कवि अपनी वाणी का वास्तविक आधार नहीं (क्योंकि शब्द का आधार आकाश माना जाता है); किन्तु वह कवि-सम्प्रदाय में तो आधार रूप से प्रसिद्ध है; इसलिये ऐसे कविप्रतिभाकल्पित आधार के बिना आधेय की स्थिति असम्भव नहीं और उसका वर्णन अलङ्कार ही है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये।

(२) आचार्य मम्मट ने यहाँ लोकसीमातिवर्ती विचित्र कथन-रूप अतिशयोक्ति को ही प्रायः समस्त अलङ्कारों का जीवन बतलाया है, अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार को नहीं। यहाँ पर अतिशयोक्ति शब्द यौगिक है 'प्रायेण' शब्द इसलिये दिया

(२०४) स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥१३७॥

गया है कि स्वाभावोक्ति आदि अलङ्कारों का आधार यह अतिशयोक्ति नहीं होती। उन्होंने अपनी मान्यता के समर्थन में भामहाचार्य की 'सैपा' इत्यादि उक्ति उद्धृत की है। भामहाचार्य का भाव यह है कि यह अतिशयोक्ति, जिसका दूसरा नाम वक्रोक्ति भी है, स्वयं अलङ्कार है तथा समस्त अलङ्कारो का बीज रूप है अर्थात् यह सर्वत्र विद्यमान रहती है। इस प्रकार जहाँ अन्य वैचित्र्य होता है वहाँ 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय से अन्य अलङ्कार कहा जाता है यदि अन्य कोई वैचित्र्य नही होता तो अतिशयोक्ति कही जाती है। आचार्य मम्मट ने आंशिक रूप में ही इसे स्वीकार किया है; अर्थात् वक्रोक्ति या वैचित्र्यपूर्ण उक्ति मात्र को अतिशयोक्ति अलङ्कार तो नहीं माना, किन्तु वैचित्र्यकथन को सब अलङ्कारो का बीज अवश्य माना है। यह स्पष्ट ही है कि मम्मट के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार का स्वरूप भामह की अतिशयोक्ति से भिन्न है। इस प्रकार टीकाकारों का मत है कि यहाँ काव्यप्रकाश वृत्ति में जो अतिशयोक्ति शब्द है, वह यौगिक (वैचित्र्यपूर्ण उक्ति के अर्थ मे) है किन्तु भामह के ग्रन्थ में वह योगारूढ (अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार के लिये) है।

दूसरी ओर प्रो० गजेन्द्रगडकर का विचार है कि मम्मट की वृत्ति एवं भामह के ग्रन्थ दोनो में ही अतिशयोक्ति (या वक्रोक्ति) शब्द के द्वारा अतिशयोक्ति अलङ्कार का ग्रहण होता है। उन्होंने अनेक युक्ति और प्रमाणों के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन किया है (द्र० काव्यप्रकाश, नोटस्, पृ० ४५२–४५५)। तथ्य यही प्रतीत होता है कि मम्मट ने यहाँ अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार को ही विशेष अलङ्कार का आधार बतलाया है। यहाँ दिये गये विशेष के सभी उदाहरणों मे अतिशयोक्ति बीज रूप मे विद्यमान है। भाहम ने तो सभी अलङ्कारों के मूल में अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार को माना था। अतः आंशिक रूप में ही भामह के कथन की स्वीकृति यहाँ की गई है।

(३) विशेष और विरोध—यद्यपि विशेष अलङ्कार के तीनों ही प्रकारों में विरोध भासित होता है तथापि विरोधाभास और विशेष में अन्तर है—(i) विरोधाभास का क्षेत्र व्यापक है; अर्थात् विरोधमात्र में वह हो सकता है किन्तु विशेष अलङ्कार उपर्युक्त तीन प्रकार के विरोध के स्थलों में ही होता है। *(ii)* व्यधिकरण (भिन्न-भिन्न आधारों में रहने वाले) पदार्थों की एक आधार में स्थिति के वर्णन में विरोधाभास का चमत्कार निहित है, किन्तु विशेष अलङ्कार की चारुता उपर्युक्त तीन प्रकार के विरोधों के वर्णन में है।

अनुवाद—(५७) तद्गुण वह अलङ्कार है, जहाँ (न्यूनगुणवाली प्रस्तुत) वस्तु

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया स्वगुणसम्पदोपरक्तं तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्गुणः तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति । उदाहरणम्—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥५६३॥

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रगुणवर्णना ।

अत्यन्त उज्ज्वल गुणवाली (अप्रस्तुतवस्तु) के सम्बन्ध से अपने रूप (गुण) को त्याग कर तद्रूपता (अप्रस्तुत के स्वरूप) को प्राप्त करती है (यह वर्णन होता है)। (२०४)

अर्थात् जब प्रस्तुत वस्तु समीपस्थ वस्तु के द्वारा उसकी प्रकृष्ट गुण सम्पत्ति से उपरक्त होने के कारण अपने रूप का तिरस्कार करके उस (समीपगत) वस्तु के रूप (प्रतिभास) को ही प्राप्त कर लेती है (समासादयति), वह तद्गुण अलङ्कार है; जैसा कि—(तद्गुण शब्द की व्युत्पत्ति ही है) उस (तत्) अर्थात् अप्रस्तुत का स्वरूप (गुण) जिसमें है (वह तद्गुण कहा जाता है)। उदाहरण—

[माघकाव्य ४.१४, रैवतक पर्वत के वर्णन में सूर्य के अश्वों का वर्णन]—'अरुण (गरुडाग्रज) की चारों ओर फैलने वाली कान्ति से भिन्न (लाल) वर्ण वाले होकर सूर्य के रथ के घोड़े (रथ्याः) जिस रैवतक पर्वत पर (यत्र) बाँस के अङ्कुर जैसी हरित वर्ण (मरकत) मणियों की चारों ओर स्फुरित हुई कान्ति से फिर अपनी (हरित) कान्ति को प्राप्त हो गये' ॥५६३॥

यहाँ पर सूर्य के अश्वों की अपेक्षा गरुड के अग्रज अर्थात् अरुण के और उस (अरुण) की अपेक्षा हरितमणियों के गुण-प्रकर्ष का वर्णन किया गया है।

प्रभा—(१) अपने रूप को त्यागकर दूसरे के उत्कृष्ट गुण को ग्रहण करने का अनूठा वर्णन ही तद्गुण अलङ्कार है—'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः'। जैसे—'विभिन्नवर्णाः' इत्यादि।

यहाँ दो स्थलों पर तद्गुण अलङ्कार है—एक तो सूर्य के अश्वों का अपनी अपेक्षा उज्ज्वल गुण वाले अरुण के रूप को प्राप्त करना और दूसरे अरुण की अपेक्षा उत्कृष्ट गुण वाली हरितमणियों के रूप को प्राप्त करना।

(२) तद्गुण, मीलित और सामान्य—तीनों में किसी एक-पदार्थ का दूसरे के द्वारा आच्छादन होता है, तथापि (i) मीलित तथा सामान्य में एक वस्तु के द्वारा तिरोहित हो जाने के कारण अन्य वस्तु (धर्मी) का ग्रहण ही नहीं होता; जबकि तद्गुण में केवल गुण (रंग आदि) का ही अभिभव होता है, धर्मी का तो पृथक् भास होता ही रहता है (ii) मीलित और सामान्य में दोनों वस्तु समान गुण वाली

(२०५) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः ।

(क) यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायां इदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात्तदा भवेदतद्गुणो नाम ।

उदाहरणम्—

धवलोसि जइ वि सुन्दर तइ वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम् ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोसि ॥५६४॥
(धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर, तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग, निहितो न रक्तोऽसि ॥५६४॥

अत्रातिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः ।

(ख) किं च तदिति अप्रकृतम् अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते । तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तान्नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् ।

होती हैं किन्तु तद्गुण में दोनों भिन्न २ गुण वाली (iii) तद्गुण में प्रस्तुत मे वस्तु अपने गुणों का परित्याग करके दूसरी के गुण को प्राप्त करती है, मीलित मे समान चिह्न वाली प्रबल वस्तु के द्वारा तिरोहित हो जाती है और सामान्य में अपने गुणों को त्यागे बिना ही दूसरी के साथ एकरूपता को प्राप्त होती है ।

तद्गुण और भ्रान्तिमान्—दोनों में किसी प्रकार की मिथ्याप्रतीति का वर्णन होता है यद्यपि (i) भ्रान्तिमान् में समान गुणों के कारण एक वस्तु दूसरी के रूप में प्रतीत होती है; जबकि तद्गुण में किसी उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के सम्पर्क से अन्य वस्तु का गुण उत्कृष्ट वस्तु के गुण (रंग आदि) के रूप में प्रकट होता है (ii) भ्रान्तिमान् मे एक वस्तु दिखलाई देती है, उसमें स्मृत वस्तु का आरोप करके उसे दूसरी समझ लिया जाता है, किन्तु तद्गुण में दोनों वस्तु दिखलाई देती हैं जिनमें से एक का गुण दूसरी में भासित होने लगता है । (मि० उद्योत) ।

सामान्य और मीलित—(द्र०, सामान्य) ।

अनुवाद—(५८) (प्रथम अर्थ) अतद्गुण अलङ्कार तब (तद्=तदा) होता है यदि (न्यूनगुण वाले अप्रस्तुत) का (उज्ज्वल गुणों का सम्बन्ध होने पर भी=योगाद् उज्ज्वलगुणस्य, पूर्व सूत्र से) उस (उज्ज्वल गुण वाले प्रस्तुत) के रूप को ग्रहण न करना निरूपित किया जाता है । (२०५)

अर्थात् यदि प्रस्तुत सम्बन्धी (तदीयम्) रूप की रूपग्रहण की संभावना होने पर भी, यह न्यून गुण वाली अप्रस्तुत वस्तु ग्रहण नहीं करती तो अतद्गुण नामक अलङ्कार होता है । उदाहरण—

[गाथा सप्तशती ७·६५, नायक के प्रति नायिका का उपालम्भ] 'हे सुन्दर, यद्यपि तुम श्वेतवर्ण हो तथापि तुमने मेरे हृदय को अनुरक्त कर दिया है । हे सौभाग्यशाली, मैंने राग से पूर्ण अपने हृदय में तुम्हें रख लिया है तथापि तुम अनुरक्त (लालिमा युक्त) नहीं हुए' ॥५६४॥

यहाँ अत्यन्त रक्त [लालिमा पूर्ण, अनुरक्त] हृदय से सम्बन्ध प्राप्त करके

यथा—

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस, तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥५६५॥

(२०६) यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥१३८॥
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।

लालिमा को प्राप्त नहीं हुआ—इस प्रकार अतद्गुण अलङ्कार है ।

(अतद्गुण का दूसरा रूप) और भी यहाँ (सूत्र में) 'तद्' (तद्रूपाननुहारः) शब्द के द्वारा 'अप्रस्तुत' और 'अस्य' शब्द के द्वारा 'प्रस्तुत' का निर्देश किया गया है । इसलिए यह भी समझना चाहिये कि जहाँ किसी भी कारण से प्रस्तुत (वस्तु) के द्वारा अप्रस्तुत के रूप का अनुसरण नहीं किया जाता वह अतद्गुण अलङ्कार है । जैसे—

'हे राजहंस, गङ्गा का जल श्वेत है, यमुना का जल काजल की आभा वाला (श्याम) है, दोनों में स्नान करते हुए भी तुम्हारी शुभ्रता वही (रहती) है, न बढ़ती है न घटती है' ॥५६५॥

प्रभा—(१) 'अतद्गुण' अलङ्कार के सूत्रोक्त लक्षण की दो व्याख्याओं के आधार पर यह दो प्रकार का होता है—(क) संभावना होने पर भी अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूप का अग्रहण, जैसे—'धवलोसि' इत्यादि में । यहाँ पूर्वार्द्ध में तृतीय विषय अलङ्कार है; क्योंकि यहाँ कार्य (राग) और कारण (नायक) के गुण (क्रमशः रक्त और धवल) परस्पर विरुद्ध हैं । उत्तरार्ध में—अप्रस्तुत युवक के द्वारा प्रस्तुत हृदय की रक्तता का ग्रहण न करना, (जबकि हृदय में निहित है) अतद्गुण अलङ्कार है । (ख) संभावना होने पर भी प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत के रूप का अग्रहण; जैसे—'गाङ्गमम्बु' इत्यादि में । यहाँ प्रस्तुत राजहंस के द्वारा अप्रस्तुत गङ्गा-यमुना के गुण का अग्रहण वर्णित है (जबकि 'मज्जतः' शब्द से ग्रहणयोग्यता प्रकट हो रही है); अतः अतद्गुण अलङ्कार है ।

(२) अतद्गुण और विशेषोक्ति—दोनों में योग्य कारण के होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन होता है तथापि विशेषोक्ति तो इस प्रकार के सभी स्थलों पर हो सकती है यह सामान्य (उत्सर्ग) है; किन्तु जब कोई वस्तु सम्भावना होने पर भी अन्य वस्तु के गुणों का ग्रहण नहीं करती वहाँ अतद्गुण अलङ्कार होता है । अतद्गुण विशेषोक्ति का अपवाद है (मि० साहित्यदर्पण) ।

अतद्गुण और विषम (तृतीय)—दोनों में कार्यकारण भाव का विरोध दिखलाया जाता है तथापि विषम में कोई कारण अपने से भिन्न गुण वाले कार्य को उत्पन्न करता है किन्तु अतद्गुण में सम्भावना होने पर भी एक वस्तु दूसरी के गुण को नहीं ग्रहण करती ।

अनुवाद—(२६) व्याघात वह अलङ्कार कहा गया है जहाँ किसी के द्वारा

येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स साधितवस्तुव्याहृतिहेतुत्वाद् व्याघातः ।

उदाहरणम्—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ।।५६६।।

जो वस्तु (यत्) जिस उपाय से (यया) सिद्ध की गई है, दूसरे के द्वारा (विजय की इच्छा से) वह वस्तु उस (उस जैसे) उपाय द्वारा ही (तथा) विपरीत (सिद्ध) कर दी जाती है । (२०६)

अर्थात् जिस उपाय के द्वारा जो वस्तु एक व्यक्ति ने सिद्ध की है। उसको अन्य व्यक्ति विजय की इच्छा से उस उपाय के द्वारा ही जो अन्यथा अर्थात् विपरीत (सिद्ध कर देता है यह पूर्वसाधित वस्तु के व्याघात (परस्परविरोध) का हेतु होने से 'व्याघात' अलङ्कार है। उदाहरण—[राजशेखरकृत विद्धशालभञ्जिका १.२) जो (शिव की) दृष्टि से दग्ध हुए कामदेव को अपनी दृष्टि से ही पुनः जीवित कर देती हैं, विषमलोचन शिव को जीतने वाली उन रम्य एवं वक्र (वाम) लोचनों वाली कामिनियों की मैं स्तुति करता हूँ' ।।५६६।।

प्रभा—शिव ने दृष्टि (उपाय) द्वारा काम-दहन किया, शिव को जीतने की इच्छा वाली वामलोचनाओं ने दाहहेतुभूत दृष्टि (उपाय) द्वारा ही (उसके विपरीत) काम को जीवित कर दिया । यद्यपि शिव तथा वामलोचनाओं की दृष्टि भिन्न २ हैं तथापि सजातीय होने से दोनों की एकता मान ली जाती है। इस प्रकार यहाँ 'व्याघात' अलङ्कार है ।

(२) इस प्रकार आचार्य मम्मट ने शुद्ध ५६ अलङ्कारों का विवेचन किया है । अन्य प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों ने इन अलङ्कारों की संख्या भिन्न २ मानी है । आचार्य मम्मट ने यत्र-तत्र अन्य मान्यताओं का परिहार भी किया है इसी प्रकार व्याख्याकारों ने भी अन्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों का या तो मम्मटोक्त अलङ्कारों में ही अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है अथवा उनका अलङ्कार होना ही स्वीकार नहीं किया । जैसे—'निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम् :' यह निरुक्ति' नामक अलङ्कार श्लेष-विशेष ही है । इसी प्रकार कुछ आलङ्कारिकों ने (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव) आठ प्रमाणालङ्कारो का निरूपण किया था । उनमें से प्रत्यक्ष' भाविक (अलङ्कार) के द्वारा और उपमान' उपमा के द्वारा ही गतार्थ है । 'अनुमान नामक अलङ्कार को स्वरूपतः यहाँ स्वीकार किया गया है । शेष अलङ्काररूप ही नही है ।

(२०७) सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥१३९॥

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव, अर्थविषये एव, उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः ।

(१) तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिर्यथा—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ॥५६७॥

(२) अर्थालङ्कारसंसृष्टिस्तु—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥५६८॥

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे ।

(३) शब्दार्थालङ्कारयोस्तु संसृष्टिः—

सो णत्थि एत्थ गामे जो एअं महुमहन्तलाअण्णम् ।
तरुणाणं हिअलूडिं परिसवकन्तीं णिवारेइ ॥५६९॥

अनुवाद—(६० संसृष्टि) जो इन (उपर्युक्त अलङ्कारों) की परस्पर निरपेक्ष रूप से (भेदेन) एकत्र (इह) स्थिति होती है यह संसृष्टि मानी गई है। (२०७)

अर्थात् अभी (नवम तथा दशम उल्लास में) जिनका स्वरूप प्रदर्शित किया गया है इन अलङ्कारों का यथासम्भव एक दूसरे के निरपेक्षभाव (स्वतन्त्ररूप) से जहाँ एक स्थान पर, अर्थात् (१) शब्दरूप (काव्य के) भाग में या (२) अर्थ के विषय में अथवा (३) शब्द तथा अर्थ दोनों में ही, स्थिति होती है यह एक वस्तु (शब्द, अर्थ आदि) में अनेक (अलङ्कारों) का सम्बन्ध होना रूप संसृष्टि है।

(१) उनमें से शब्दालङ्कार-संसृष्टि यह है, जैसे—[माघकाव्य ६.१४ में किसी नायिका का वर्णन]—'मुख की सुगन्धि के लोभ से भ्रमण करते हुए भ्रमरों के भय (संभ्रम) से और अधिक शोभा को धारण करने वाली, भागती हुई, अतएव केशों (के गिरने) से चञ्चल दृष्टि वाली अन्य किसी नायिका ने सुन्दर करधनी की कलकलध्वनि की' ॥५६७॥

(२) अर्थालङ्कारों की संसृष्टि तो यह है—'लिम्पति' इत्यादि (ऊपर० उदा० ४१७) ॥५६७॥

पूर्वश्लोक ('वदन' इत्यादि) में यमक तथा अनुप्रास संसृष्टि (अलङ्कार) के प्रयोजक हैं, उत्तर श्लोक ('लिम्पति' इत्यादि) में तो परस्परनिरपेक्ष (तथाविधे) उपमा तथा उत्प्रेक्षा (संसृष्टि के प्रयोजक हैं)।

(३) शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की संसृष्टि तो यह है—

(स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्याम् ।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमाणां निवारयति ॥५६६॥

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे । संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात् ।

(२०८) अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ।

'इस ग्राम में वह (ऐसा कोई) नहीं है जो अत्यधिक उल्लसित सौन्दर्य वाली तरुणों के हृदय को लूटने वाली, इधर उधर घूमती हुई (परिष्वक्कमाणाम्) इस तरुणी को रोके' ॥५६६॥

यहाँ पर अनुप्रास और रूपक परस्पर निरपेक्ष हैं और उन दोनों का एक वाक्य या छन्द में सम्बन्ध होने से दोनों की संसृष्टि (संसर्ग) है ।

प्रभा—परस्परनिरपेक्षभाव से दो या अधिक अलङ्कारों की एकत्र अवस्थिति ही संसृष्टि है । यह एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करती है अतएव पृथक् अलङ्कार ही है । यह संसृष्टि तीन प्रकार की है–(१) शब्दालङ्कार संसृष्टि; जैसे–'वदन' इत्यादि के पूर्वार्ध में 'भकार' का तथा तृतीय चरण में लकार का अनुप्रास है और चतुर्थ चरण में 'लकलोलकलो' यह यमक है । दोनों शब्दालङ्कार परस्पर निरपेक्ष भाव से एकत्र स्थित हैं । (२) अर्थालङ्कार संसृष्टि; जैसे—'लिम्पति' इत्यादि के पूर्वार्ध में उत्प्रेक्षा है उत्तरार्ध मे (असत्पुरुषसेवेव) उपमा है । दोनों अर्थालङ्कार परस्पर निरपेक्षभाव से एकत्र स्थित हैं । (३) शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की संसृष्टि; जैसे—'सो णत्थि' आदि के पूर्वार्ध में छेकानुप्रास शब्दालङ्कार है तथा उत्तरार्ध (हृदयलुण्ठाकी) रूपक' अर्थालङ्कार है उनका परस्परनिरपेक्षभाव से योग ने होने के कारण संसृष्टि है ।

यहाँ यह शंका होती है कि अनुप्रास तो शब्दाश्रित है और रूपक अर्थाश्रित है फिर दोनों की एकत्र स्थिति कैसे कही जा सकती है । 'संसर्गश्च' इत्यादि पंक्ति में इसका समाधान किया गया है । भाव यह है कि आकांक्षादि युक्त अर्थात् अर्थविशिष्ट शब्द-समूह ही वाक्य है; अतः शब्द और अर्थ एक वाक्य में स्थित हैं तथा इनका एकार्थसमवाय है । यदि यहाँ वाक्य-भेद माना जाये तो अनेक वाक्यों को एकवाक्यता रूप छन्द में दोनों स्थित हैं—(शब्दालङ्कार साक्षात् रूप से और अर्थालङ्कार परम्परया) इसलिये कोई दोष नहीं ।

अनुवाद—[६१ क-अङ्गाङ्गिभाव संकर] अपने स्वरूप में निरपेक्षभाव (स्वतन्त्र रूप) से पर्यवसित न होने वाले उपर्युक्त (एतेषाम्-की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति होती है) अलङ्कारों का अङ्ग तथा अङ्गी (उपकारक और उपकार्य अथवा अनुग्राहक और अनुग्राह्य) रूप से स्थित होना संकर अलङ्कार है । (२०८)

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां सङ्कीर्यमाणस्वरूपत्वात्सङ्करः। उदाहरणम्—

आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटङ्कपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये
राजन् गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥५७०॥

अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतम् तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमित्तम्, इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावः।

यथा वा—

अर्थात् ये (उपर्युक्त अलङ्कार) ही जहाँ अपने स्वरूप में स्वतन्त्ररूप से स्थित नहीं होते तथा परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव को धारण कर लेते हैं यह उनके स्वरूप के संकीर्ण (मिश्रित mixed) हो जाने के कारण संकर (कहलाता) है। उदाहरण—

'हे राजन् किरातजन वन में (आपके भय से) इधर उधर भटकती हुई आपकी शत्रु-नारियों के मरकतमणियुक्त शिरोभूषण (सीमन्तरत्न) को लेने पर सुवर्ण के कर्णभूषण (ताटङ्क) को हर लेते हैं। तब मेखला को तोड़ कर मणि निर्मित नूपुरद्वय (कोटियुग्म) शीघ्र ही ले लेते हैं, किन्तु बिम्बाफल सदृश ओष्ठों की आभा से लाल मुक्तामाला को गुञ्जाफलों की माला समझकर नहीं हरते हैं' ॥५७०॥

यहाँ तद्गुण अलङ्कार की अपेक्षा से भ्रान्तिमान् अलङ्कार का आविर्भाव होता है और उस (भ्रान्तिमान्) के आश्रय से तद्गुण अलङ्कार सहृदयों के लिये विशेष चमत्कारक होता है—इस प्रकार इन (तद्गुण और भ्रान्तिमान्) दोनों का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है।

प्रभा—दो या अधिक अलङ्कारों की परस्परसापेक्षभाव से एकत्र स्थिति ही संकर है। यह तीन प्रकार का होता है—१-अङ्गाङ्गिभावसंकर २-सन्देहसंकर और ३-एकपदप्रतिपाद्य सङ्कर। १-जहाँ दो या अधिक अलङ्कारों का इतरानपेक्ष भाव से स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होता तथा उनका परस्पर अनुग्राह्यानुग्राहक भाव होता है वह अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। यहाँ दो दो अर्थालङ्कारों का सङ्कर होता है; जैसे—'आत्ते सीमन्तरत्ने' इत्यादि। यहाँ पर 'बिम्बोष्ठकान्त्या शोणम्' (बिम्बोष्ठ की कान्ति से श्वेत मुक्तामाला भी लाल दिखलाई देती है) में तद्गुण अलङ्कार है; उसके आधार पर ही 'गुञ्जाफलानां स्रजः' (मुक्तामाला में गुञ्जाफल की माला भ्रान्ति) इस भ्रान्तिमान् अलङ्कार का स्वरूप निष्पन्न होता है। तद्गुण अलङ्कार भी यहाँ स्वतन्त्ररूप से चमत्कार-विशेष का उत्पादक नहीं; किन्तु भ्रान्तिमान् की अपेक्षा से ही विशेष चमत्कारोत्पादक होता है। इस प्रकार यहाँ अनुग्राह्यानुग्राहकभाव है—

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।
परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाङ्किततले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥५७१॥

उपमा, रूपकं, उत्प्रेक्षा, श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत् अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते । कलङ्क एवाक्षवलयमिति रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते । अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलङ्करूपं अक्षवलयमेव मुख्यतयाऽवगम्यते, तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः । श्लेपच्छायया तु कलङ्कस्य करधारणं असदेव प्रत्यासत्त्या उपचर्य योज्यते, शशाङ्केन केवलं कलङ्कस्य मूर्त्यैव उद्वहनात् । कलङ्कोऽक्षवलयमिवेति तु उपमायां

तथा अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है । अङ्ग है—तद्गुण और अङ्गी है भ्रान्तिमान् । कहीं बहुत से अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होता है, जैसे—

अनुवाद—(बहूनां सङ्करः) अथवा जैसे—'जटासदृश कान्तियों से युक्त, किरण समूह (कर, योगी पक्ष में हाथ) में कलङ्क रूपी रुद्राक्ष (अक्षवलय) की माला धारण किये हुए, विरही जनों (योगी-पक्ष में वियुक्त होने वाले विषयों) के विनाश से (क्रोध नष्ट हो जाने से) स्वीकृत लालिमा के अभाव के कारण शुभ्रवर्ण (योगी-पक्ष में विषयविनाशजनित वैराग्य से शुद्ध-चित्त) भस्म के समान पाण्डुर (योगीपक्ष में भस्म से पाण्डुवर्ण) यह चन्द्रमा चलते हुए (परिप्रेङ्खत्) तारा-समूह रूपी कपालों से अङ्कित तल वाले श्मशान सदृश आकाश में विचरता है' ॥५७१॥

यहाँ पर उपमा (जटाभिर्भाभिः, पितृवन इव व्योम्नि), रूपक (कलङ्काक्षवलय, तारापरिकरकपाल), उत्प्रेक्षा (वियोगिव्यापत्तेरिव) तथा श्लेष (वैराग्यविशदः) ये चारों अलङ्कार पूर्वोदाहरण के समान (परस्पर) अङ्गाङ्गिभाव से प्रतीत हो रहे हैं ।

['कलङ्काक्षवलय' में रूपक-निर्णय] यहाँ कलङ्क ही अक्षवलय इस प्रकार (इति) 'रूपक' स्वीकार करने में 'करधृतत्व' (हाथ में धारण करना) यह (विशेषण) ही साधक प्रमाण हो जाता है; क्योंकि इसे रूपक मानने पर कलङ्क रूप को तिरोहित कर देने वाला अक्षवलय ही मुख्य रूप से प्रतीत होता है (और उस अक्षमाला) को ही हाथ में लिये जा सकने (करग्रहणयोग्यता) की सर्वत्र प्रसिद्धि है । कलङ्क का करधृतत्व (हाथ में धारण करना) वस्तुतः न होने पर भी ('कर' पद में) श्लेष की छाया-(प्रभाव शक्ति) से सामीप्यसम्बन्ध (प्रत्यासत्त्या=रश्मीनां कलङ्कस्य च चन्द्रे सत्वाद् एकाश्रयत्वसम्बन्धेन) के द्वारा (कर शब्द का मण्डल अर्थ में) औपचारिक प्रयोग मानकर सङ्गत होता है; क्योंकि चन्द्रमा केवल स्वमण्डल द्वारा ही कलङ्क को धारण करता है ।

कलङ्कस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः। न चास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येष्पु-
पचार एव शरणं स्यात्।

'अक्षवलय के समान कलङ्क' इस प्रकार उपमा स्वीकार करने पर तो कलङ्क की ही मुख्यरूप से प्रतीति होगी और इस कलङ्क में करग्रहणयोग्यता वास्तविक रूप में है नहीं, इसलिए मुख्य (अर्थ-कलङ्क का करधृतत्व) में भी उपचार अर्थात् लक्षणा का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा।

प्रभा—(१) 'जटाभाभिः' इत्यादि बहुत से (दो से अधिक) अलङ्कारों के अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर का उदाहरण है। यहाँ उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा तथा श्लेष परस्पर सापेक्ष हैं, जैसे कि—'वैराग्यविशदः' में उत्प्रेक्षा श्लेष का अङ्ग है तभी विषयविनाशाद् इव कलितं यत् वैराग्यं तेन विशदः' इस प्रकार का द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है। यही 'श्लेष' रूपक तथा उपमा का अङ्ग है; क्योंकि इसके द्वारा अवगत वैराग्य की महिमा से ही जटाधारण (जटाभिर्भाभिः-उपमा) और अक्षमाला धारण (कलङ्काक्षवलय-रूपक की सङ्गति बैठती है। इसी प्रकार 'तारापरिकर' इत्यादि रूपक 'पितृवन इव' इस उपमा का अङ्ग है, क्योंकि रूपित कपाल के आश्रय से ही यहाँ सादृश्य बन पाता है। सर्वत्र अङ्गों को भी चारुत्वप्रतीति के लिए अङ्गी की अपेक्षा है। समासोक्ति ही यहाँ अङ्गी अलङ्कार है काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट होने के कारण उसका उल्लेख नहीं किया (प्रदीप)।

(२) यहाँ शङ्का यह है कि 'कलङ्काक्षवलय' में 'कलङ्क एव अक्षवलम्' इस प्रकार 'मयूरव्यंसकादयश्च' २।१।७२) से समास होने पर रूपक होता है, किन्तु 'कलङ्कः अक्षवलयम् इव' इस प्रकार 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) से उपमित समास होने पर उपमा भी हो सकती है। अतएव यहाँ रूपक तथा उपमान का सन्देह संकर है, रूपक नहीं माना जा सकता।

'कलङ्क—शरणं स्यात्' इस अवतरण में उक्त शङ्का का समाधान किया गया है। भाव यह है कि अलङ्कारों का सन्देहसङ्कर वहाँ होता है जहाँ एकतर अलङ्कार का साधक या बाधक कोई प्रमाण न मिले। यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो 'करधृतत्व' विशेषण के द्वारा स्पष्ट ही रूपक की सिद्धि हो रही है। कारण यह है कि 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्यादि उपमा में सादृश्य अंश में उपमान को विशेषण करके उपमेय का प्रधान रूप से निर्देश किया जाता है और ऐसा विशेषण जोड़ा जाता है जो मुख्य रूप से उपमेय के साथ अन्वित हो सके। किन्तु 'चन्द्र एव मुखम्' इत्यादि रूपक में तो उपमेय और उपमान का अभेद दिखलाकर उपमान का प्रधान रूप से निर्देश किया जाता है और ऐसा विशेषण ही दिया जाता है जो मुख्य रूप से उपमान के साथ अन्वित हो सके तथा उपमेय के साथ औपचारिक रूप से ही। यहाँ के 'करधृतत्व' विशेषण का अक्षवलय से ही मुख्य रूप से सम्बन्ध हो सकता है और

एवं रूपश्च सङ्करः शब्दालङ्कारयोरपि परिदृश्यते ।

यथा—

राजति तटीयमभिहतदानवरासाऽतिपातिसारावनदा ।
गजता च यूथमविरतदानवरा साऽतिपाति सारा वनदा ॥५७२॥

अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे ।

श्लेषलभ्य कलङ्क का कर-धारण गौण रूप से (उपचारतः) मान लिया जाता है यदि यहाँ उपमा मानी जाय तो कलङ्क की मुख्यतया प्रतीति होगी और उसमें 'करधृतत्व' विशेषण का उपचारतः सम्बन्ध मानना पड़ेगा । यह उचित नहीं, कारण यह है कि 'गुणे तुल्वन्याय्यकल्पना' इस न्याय से मुख्य में उपचार कल्पना की अपेक्षा अमुख्य में ही उपचार मानना श्रेयस्कर है ।

अनुवाद—और, इस प्रकार का अर्थात् अनुग्राह्यानुग्राहकरूप सङ्कर दो शब्दालङ्कारों में भी दृष्टिगोचर होता है । उदाहरण—'यह स्थली (तटी) शोभायमान है, जिसमें दानवों के सिंहनाद (रास) अभिहत हो गये हैं शीघ्रगामी तट शब्द-युक्त जलप्रवाह (नद) हो रहा है तथा सतत मदजल से शोभित बलिष्ठ (सारा) और वनों को छिन्न-भिन्न करने वाला (वनदा) वह गज-समूह (गजता) अपनी अत्यन्त रक्षा करता है (अतिपाति) ॥५७२॥

यहाँ पादद्वय (द्वितीय तथा चतुर्थ) में स्थित यमक तथा अनुलोमप्रतिलोम चित्रनामक अलङ्कार दोनों परस्पर-सापेक्ष हैं ।

प्रभा—यह आर्या छन्द है । यहाँ द्वितीय तथा चतुर्थ चरण (दानवरासातिपा-तिसारावनदा २) मे यमक अलङ्कार है । साथ ही इन चरणों मे अनुलोमप्रतिलोम नामक चित्र अलङ्कार भी है; क्योंकि इन चरणों को जब अन्त्याक्षर से लेकर विलोम रूप में पढ़ा जाता है तब भी यही ('दानव०' इत्यादि चरण बन जाता है । यहाँ चारुता के अतिशय की प्रतीति में दोनो परस्परसापेक्ष हैं अतः अङ्गाङ्गिसङ्कर है ।

टिप्पणी—कुछ टीकाकारों का विचार है कि यहाँ आचार्य मम्मट ने अलङ्कार-सर्वस्वकार रुय्यक की मान्यता का खण्डन किया है । रुय्यक के मतानुसार दो शब्दालङ्कारों का अङ्गाङ्गिभावसङ्कर नहीं होता । अलङ्कारसर्वस्व और उस पर जयरथ की टीका के अनुशीलन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि रुय्यक ने ही ऐसे कतिपय स्थलों पर मम्मट की मान्यता का खण्डन किया है तथा मम्मट की अपेक्षा रुय्यक अर्वाचीन ही हैं । इस प्रसङ्ग में रुय्यक का कथन इस प्रकार हैं—'शब्दालङ्कार-सङ्करस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा—'राजति तटीयम्०' । अत्र यमकानुलोमप्रतिलोमयोः शब्दालङ्कारयोः परस्परापेक्षतत्वेनाङ्गाङ्गिसङ्करः इति । एतत् न सम्यगावर्जम् शब्दालङ्कारयो. शब्दवदुपकार्योपकारकत्वाभावेनाङ्गाङ्गिभावाभावात् शब्दालङ्कार-संसृष्टिस्त्वत्र श्रेयसी ।' इति । यहाँ टीकाकार जयरथ ने कैश्चित् काव्यप्रकाशकारा-दिभिः—यह व्याख्या की है ।

(२०६) एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥१४०॥

द्वयोर्बहूनां वा अलङ्काराणामेकत्र समावेशेऽपि विरोधान्न यत्र युगपदवस्थानम्, न चैकतरस्य परिग्रहे साधकम्, तदितरस्य वा परिहारे बाधकमस्ति, येनैकतर एव परिगृह्येत स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः सङ्करः, समुच्चयेन सङ्करस्यैवाक्षेपात्। उदाहरणम्—

जइ गहिरो जइ रअणणिब्भरो जइ अ णिम्मलच्छाओ।
तह किं विहिणा एसो सरसवाणीओ जलणिही ण किओ ॥५७३॥
(यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः।
तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥५७३॥)

अत्र समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः, किमन्येरप्रस्तुतस्य मुखेन कस्यापि तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुतप्रशंसा इति सन्देहः। यथा वा—

अनुवाद—(६१ ख–सन्देहसङ्कर)—एकतर अलङ्कार के मानने में साधक प्रमाण (न्याय) तथा बाधक प्रमाण (दोष) न होने के कारण जो सन्देह (अनिश्चय) होता है वह सन्देहसङ्कर है। (२०६)

अर्थात् दो या बहुत से अलङ्कारों का एक स्थल में समावेश होने पर भी (छाया और आतप के समान) विरोध होने के कारण जहाँ एक साथ होना सम्भव नहीं होता और एकतर के स्वीकार में साधक अथवा इतर के त्याग में बाधक प्रमाण नहीं होता, जिससे उनमें से एक को स्वीकार कर लिया जाय; वह निश्चयाभावरूप अर्थात् सन्देहरूप द्वितीय सङ्कर होता है। सूत्र में समुच्चयबोधक 'चकार' (एकस्य च) के द्वारा 'सङ्कर' शब्द की ही पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति होती है (आक्षेपात्)।

उदाहरण—

[दो अलङ्कारों का सन्देह सङ्कर] 'विधाता ने इस सागर को जैसा गम्भीर रत्नपूर्ण तथा निर्मलकान्ति वाला बनाया है, वैसा स्वादिष्ट जल वाला क्यों नहीं बनाया' ॥५७३॥

यहाँ समुद्र के (वर्णनीय रूप में) प्रस्तुत होने पर (गम्भीर आदि विशिष्ट) विशेषणों के साम्य से अप्रस्तुत (पुरुषविशेष) अर्थ की प्रतीति हो रही है, इस कारण क्या यह समासोक्ति है? अथवा अप्रस्तुत सागर के वर्णन द्वारा (मुखेन) समानगुणों के कारण किसी प्रस्तुत (पुरुषविशेष) अर्थ की प्रतीति हो रही है इसलिए क्या यह अप्रस्तुतप्रशंसा है? यह सन्देह है। [इस प्रकार एकतर साधक तथा इतर-बाधक प्रमाणों के अभाव में यहाँ सन्देहसङ्कर है]।

नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति ।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदन्तमः ॥५७४॥

अत्र किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम्, उत वदनस्येन्दुबिम्बतयाऽध्यवसानादतिशयोक्ति, किं वा एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम्, अथवा तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम्, अथवा तुल्ययोगिता, किमु प्रदोपसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः, आहोस्विन्मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसा इति बहूनां सन्देहादयमेव सङ्करः ।

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः । न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता, तत्र—

सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ॥५७५॥

अथवा जैसे—[बहुत से अलङ्कारों का सन्देहसङ्कर] 'नयनों का आनन्ददायक यह चन्द्रमण्डल दीप्त हो रहा है किन्तु दिशाओं को आच्छादित करने वाला यह अन्धकार अब भी नष्ट नहीं हुआ (मुख पक्ष में—आशा अर्थात् अभिलाषा को आच्छादित करने वाला तम अर्थात् विरहजन्य मोह)' ॥५७४॥

यहाँ—क्या 'काम को उद्दीप्त (उत्तेजित) करने वाला समय है।' इस (व्यङ्ग्यार्थ) का प्रकारान्तर से कथन होने के कारण 'पर्यायोक्ति' है ? अथवा (उत) मुख का चन्द्रबिम्ब के रूप में अध्यवसान (निश्चय) होने से (निगीर्याध्यवसानरूपा) 'अतिशयोक्ति' है ? या कि 'एतत्' (यह) इस शब्द से मुख का निर्देश करके उस (चन्द्रबिम्ब) के रूप का आरोप होने के कारण 'रूपक' है ? अथवा उन दोनों (मुख और चन्द्रबिम्ब) के समुच्चय (इन्दुबिम्बं प्रसीदति एतत् वक्त्रं च प्रसीदति=इस अन्वय) की विवक्षा में (क्रिया) दीपक है ? अथवा (दोनों के प्रकृत अथवा अप्रकृत होने से) तुल्ययोगिता है ? अथवा (किमु) प्रदोषकाल के वर्णन में (चन्द्रबिम्ब के प्रस्तुत रहने पर) (आनन्ददायक रूप) विशेषण की समानता होने से (अप्रस्तुत) मुख की प्रतीति में 'समासोक्ति' है ? अथवा मुख की निर्मलता का वर्णन करने के प्रसङ्ग से अप्रस्तुत (चन्द्र की) प्रशंसा है—इस प्रकार बहुत से अलङ्कारों के सन्देह से यही (सन्देहरूप) सङ्कर है ।

अनुवाद—[न्याय तथा दोष के होने पर सङ्कर नहीं] जहाँ न्याय (साधक प्रमाण) तथा दोष (बाधक प्रमाण) में से एक की उपस्थिति होती है वहाँ एकतर अलङ्कार का निश्चय हो जाने से सन्देह नहीं होता । यहाँ न्याय का अभिप्राय है—साधकता या अनुकूलता । दोष भी—बाधकता या प्रतिकूलता है । उनमें से क-(उपमा के साधक प्रमाण की उपस्थिति का उदाहरण है)—'चाँदनी के समान हास-शोभा चन्द्रसदृश मुख के सौन्दर्य को बढ़ाती है' ॥५७५॥

इत्यत्र मुख्यतयाऽवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम् शशिनि तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः ॥५७६॥

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते न तूपमाया बाधकताम्।

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ॥५७७॥

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासम्भवात्।

इस स्थान पर मुख्यरूप से प्रतीयमान 'हास-द्युति' मुख (की प्रधानतया प्रतीति) में ही अनुकूल होती है इसलिये (वक्त्रं शशी इव) उपमा की साधक (प्रमाण) है, चन्द्रमा (की प्रधानतया प्रतीति) में तो वैसी प्रतिकूल भी नहीं (न प्रतिकूला—यह अन्वय है; क्योंकि गौणरूप से चन्द्र में हास अर्थात् 'विकास' रहता ही है)—इसलिये (वक्त्रमेव शशी) रूपक के प्रति उस (हासद्युति) की बाधकता नहीं।

ख—[रूपक के साधक प्रमाण की उपस्थिति का उदाहरण]—'तुम्हारे मुख चन्द्र के होते हुए ही जो यह द्वितीय चन्द्रमा उदित हो गया है' ॥५७६॥

इस (रत्नावली नाटिका के) पद्य में 'अपरत्व' (दूसरा होना) चन्द्रमा (की प्रधानतया प्रतीति) में अनुकूल है; किन्तु मुख (की प्रधानतया प्रतीति) में प्रतिकूल नहीं (क्योंकि मुख की अपेक्षा से 'अपरत्व' की कल्पना भी सम्भव है)—इसलिये यह 'अपरत्व' रूपक का साधक होता है उपमा का बाधक तो नहीं होता।

प्रभा—भाव यह है कि एकतर बाधक अथवा अन्यतर साधक प्रमाणों के अभाव में ही सन्देहसङ्कर होता है यदि किसी एक अलङ्कार का साधक प्रमाण विद्यमान है तो उसका निश्चय हो जाता है तथा गुणप्रधानादिक संशय का उदय ही नहीं होता अतः सन्देह-सङ्कर नहीं हो सकता। जैसे 'सौभाग्यम्' इत्यादि में 'हासद्युति' शब्द उपमा का साधक है तथा—'वक्त्रेन्दौ' इत्यादि में 'अपरत्व' शब्द रूपक का साधक है; इसलिये वहाँ सन्देह-सङ्कर नहीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपमा में उपमेय की प्रधानतया प्रतीति होती है तथा रूपक में उपमान प्रधानतया प्रतीति होती है। इसी प्रकार जहाँ अन्यतर का बाधक प्रमाण होता है वहाँ भी सन्देह-सङ्कर नहीं होता—

अनुवाद—ग—(उपमा के बाधक की उपस्थिति)—'हे नृप, आप राजा रूपी नारायण हैं लक्ष्मी आपका गाढ आलिङ्गन करती है' ॥५७७॥

यहाँ तो (पुनः) 'आलिङ्गन' शब्द (राजा नारायण इव) उपमा का निराकरण करता है, क्योंकि नारायण के सदृश (राजा) के साथ नारायण की प्रेयसी (लक्ष्मी) का आलिङ्गन करना असम्भव (अनुचित) है।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥५७८॥

इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितं अम्बुजे प्रतिकूलम्, असम्भवादिति रूपकस्य बाधकम् न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधकमभिधीयते, विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः। एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम्।

घ–(रूपक के बाधक की उपस्थिति)—'मञ्जीर (नूपुर) की मधुर ध्वनि (शिञ्जित) से मनोहर पार्वती का चरणकमल हमारी विजय के लिये हो' ॥५७८॥

यहाँ पर 'मञ्जीरशिञ्जित' शब्द अम्बुज (की प्रधानतया प्रतीति) में प्रतिकूल है; क्योंकि (कमल में नूपुरध्वनि) सम्भव नहीं है; इसलिये यह (पाद एव अम्बुजम्–इस) रूपक का बाधक है; किन्तु यह ('मञ्जीरशिञ्जित' शब्द) चरण के अनुकूल होने से (पादोऽम्बुजम् इव, इस) उपमा का साधक भी नहीं कहा जाता; क्योंकि विधि अर्थात् पाद में अम्बुजत्व के आरोप (रूपक) का निराकरण करने वाला बाधक (मञ्जीरशिञ्जित इत्यादि) उस उपमासाधकत्व की अपेक्षा बलवान् प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार अन्य काव्यस्थलों में भी बुद्धिमानों को (अलङ्कारों के साधक तथा बाधक प्रमाणों की) परीक्षा करनी चाहिए।

प्रभा—(१) भाव यह है कि जहाँ अन्यतर अलङ्कार का बाधक-प्रमाण होता है वहाँ सन्देह सङ्कर नहीं होता। जैसे—'राजनारायणम्' आदि में 'आलिङ्गन' शब्द उपमा का बाधक है तथा 'पादाम्बुजम्' इत्यादि में 'मञ्जीरशिञ्जित' शब्द रूपक का बाधक है अतः यहाँ सन्देह-सङ्कर नहीं होगा।

(२) यहाँ यह शङ्का होती है कि जैसे 'मञ्जीरशिञ्जित' इत्यादि का रूपक आदि अलङ्कार के बाधक के रूप में निर्देश किया जा रहा है, उसी प्रकार इनका उपमा आदि के साधक के रूप मे ही निर्देश क्यों नहीं किया गया है, 'न तु-प्रतिपत्तः' इस पंक्ति में इस शङ्का का समाधान किया गया है अभिप्राय यह है कि—

प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति—इस न्याय के अनुसार प्रधानता ही व्यवहार का निमित्त है; क्योंकि वही बलवती होती है। यहाँ पर उपमासाधक की अपेक्षा रूपकबाधक ही बलवान् तथा प्रधान है; क्योंकि उपमा-साधक का कथन करने पर तो यह सन्देह भी हो सकता है कि रूपक का भी कोई साधक होगा; किन्तु रूपक के बाधक का निर्देश करने पर सन्देह का उच्छेद हो जाता है। इसी हेतु यहाँ बाधक प्रमाणों के होने से सन्देह निवृत्ति मानी जाती है तथा साधक और बाधक प्रमाण दोनों पृथक् २ सन्देहसङ्कर के निवर्तक बतलाये गये हैं।

इत्यत्र मुख्यतयाऽवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम् शशिनि तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता ।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः ॥५७६॥

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते न तूपमाया बाधकताम् ।

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ॥५७७॥

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्ततयाऽलिङ्गनस्यासम्भवात् ।

इस स्थान पर मुख्यरूप से प्रतीयमान 'हास-द्युति' मुख (की प्रधानतया प्रतीति) में ही अनुकूल होती है इसलिये (वक्त्रं शशी इव) उपमा की साधक (प्रमाण) है, चन्द्रमा (की प्रधानतया प्रतीति) में तो वैसी प्रतिकूल भी नहीं (न प्रतिकूला— यह अन्वय है; क्योंकि गौणरूप से चन्द्र में हास अर्थात् 'विकास' रहता ही है)— इसलिये (वक्त्रमेव शशी) रूपक के प्रति उस (हासद्युति) की बाधकता नहीं ।

ङ–[रूपक के साधक प्रमाण की उपस्थिति का उदाहरण]—'तुम्हारे मुख चन्द्र के होते हुए ही जो यह द्वितीय चन्द्रमा उदित हो गया है' ॥५७६॥

इस (रत्नावली नाटिका के) पद्य में 'अपरत्व' (दूसरा होना) चन्द्रमा (की प्रधानतया प्रतीति) में अनुकूल है; किन्तु मुख (की प्रधानतया प्रतीति) में प्रतिकूल नहीं (क्योंकि मुख की अपेक्षा से 'अपरत्व' की कल्पना भी सम्भव है)—इसलिये यह 'अपरत्व' रूपक का साधक होता है उपमा का बाधक तो नहीं होता ।

प्रभा—भाव यह है कि एकतर साधक अथवा अन्यतर बाधक प्रमाणों के अभाव में ही सन्देहसङ्कर होता है यदि किसी एक अलङ्कार का साधक प्रमाण विद्यमान है तो उसका निश्चय हो जाता है तथा तुल्यकोटिक संशय का उदय ही नहीं होता अतः सन्देह-सङ्कर नहीं हो सकता । जैसे 'सौभाग्यम्' इत्यादि में 'हासद्युति' शब्द उपमा का साधक है तथा—'वक्त्रेन्दौ' इत्यादि में 'अपरत्व' शब्द रूपक का साधक है; इसलिये यहां सन्देह-सङ्कर नहीं । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उपमा में उपमेय की प्रधानतया प्रतीति होती है तथा रूपक में उपमान प्रधानतया प्रतीति होती है । इसी प्रकार जहां अन्यतर का बाधक प्रमाण होता है वहां भी सन्देह-सङ्कर नहीं होता—

अनुवाद—ग–(उपमा के बाधक की उपस्थिति)—'हे नृप, आप राजा रूपी नारायण हैं लक्ष्मी आपका गाढ आलिङ्गन करती है' ॥५७७॥

यहां तो (पुनः) 'आलिङ्गन' शब्द (राजा नारायण इव) उपमा का निराकरण करता है, क्योंकि नारायण के सदृश (राजा) के साथ नारायण की प्रेयसी (लक्ष्मी) का आलिङ्गन करना असम्भव (अनुचित) है ।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥५७८॥

इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितं अम्बुजे प्रतिकूलम्, असम्भवादिति रूपकस्य बाधकम् न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधकमभिधीयते, विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः। एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम्।

घ–(रूपक के बाधक की उपस्थिति)—'मञ्जीर (नूपुर) की मधुर ध्वनि (शिञ्जित) से मनोहर पार्वती का चरणकमल हमारी विजय के लिये हो' ॥५७८॥

यहाँ पर 'मञ्जीरशिञ्जित' शब्द अम्बुज (की प्रधानतया प्रतीति) में प्रतिकूल है; क्योंकि (कमल में नूपुरध्वनि) सम्भव नहीं है; इसलिये यह (पाद एव अम्बुजम्–इस) रूपक का बाधक है; किन्तु यह ('मञ्जीरशिञ्जित' शब्द) चरण के अनुकूल होने से (पादोऽम्बुजम् इव, इस) उपमा का साधक भी नहीं कहा जाता; क्योंकि विधि अर्थात् पाद में अम्बुजत्व के आरोप (रूपक) का निराकरण करने वाला बाधक (मञ्जीरशिञ्जित इत्यादि) उस उपमासाधकत्व की अपेक्षा बलवान् प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार अन्य काव्यस्थलों में भी बुद्धिमानों को (अलङ्कारों के साधक तथा बाधक प्रमाणों की) परीक्षा करनी चाहिए।

प्रभा—(१) भाव यह है कि जहाँ अन्यतर अलङ्कार का बाधक-प्रमाण होता है वहाँ सन्देह सङ्कर नहीं होता। जैसे—'राजनारायणम्' आदि में 'आलिङ्गन' शब्द उपमा का बाधक है तथा 'पादाम्बुजम्' इत्यादि में 'मञ्जीरशिञ्जित' शब्द रूपक का बाधक है अतः यहाँ सन्देह-सङ्कर नहीं होगा।

(२) यहाँ यह शङ्का होती है कि जैसे 'मञ्जीरशिञ्जित' इत्यादि का रूपक आदि अलङ्कार के बाधक के रूप में निर्देश किया जा रहा है, उसी प्रकार इनका उपमा आदि के साधक के रूप में ही निर्देश क्यों नहीं किया गया है, 'न तु-प्रतिपत्तः' इस पंक्ति में इस शङ्का का समाधान किया गया है अभिप्राय यह है कि—

प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति—इस न्याय के अनुसार प्रधानता ही व्यवहार का निमित्त है; क्योंकि वही बलवती होती है। यहाँ पर उपमासाधक की अपेक्षा रूपकबाधक ही बलवान् तथा प्रधान है; क्योंकि उपमा-साधक का कथन करने पर तो यह सन्देह भी हो सकता है कि रूपक का भी कोई साधक होगा; किन्तु रूपक के बाधक का निर्देश करने पर सन्देह का उच्छेद हो जाता है। इसी हेतु यहाँ बाधक प्रमाण के होने से सन्देह निवृत्ति मानी जाती है तथा साधक और बाधक प्रमाण दोनों पृथक् २ सन्देहसङ्कर के निवर्तक बतलाये गये हैं।

(२१०) स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च,

अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालङ्कारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः सङ्करः । उदाहरणम्—

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि सङ्चुकोच ॥५७६॥

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

(२११) तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥१४१॥

अनुवाद—[३. एकपदप्रतिपाद्य सङ्कर]—जहाँ एक ही विषय (विषय=पद) में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों स्पष्टतया व्यवस्थित होते हैं (वह तृतीय सङ्कर है) । (२१०)

अर्थात् जहाँ अभिन्न (सुबन्त, तिङन्तरूप) पद (या पद-समुदाय) में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों स्पष्ट रूप से स्थित होते हैं वह भी एक अन्य प्रकार का सङ्कर होता है । (यही एकपदप्रतिपाद्य सङ्कर कहलाता है) ।

[हरविजय १९. १, सन्ध्याकालवर्णन] 'इसके अनन्तर (अथो) यह दिवस-रूपी कमल सङ्कुचित हो गया, जिसकी स्पष्टतया प्रकाशित किरणें ही केसर (किञ्जल्क) हैं तथा सूर्यबिम्ब ही विशाल बीजकोश (कर्णिका) है और जिसमें परस्पर सम्बद्ध आठ दिशारूपी दलसमुदाय वाले सन्ध्यारम्भ (मुख) के आगमन से अन्धकार रूपी भ्रमरपंक्ति निरुद्ध (बद्ध=बन्द) हो गई है' ॥५७६॥

यहाँ पर एक पद ('किरणकेसर' 'सूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिका' तथा दिग्दलकलाप में से प्रत्येक) रूपक (अर्थालङ्कार) और अनुप्रास (शब्दालङ्कार) दोनों उपस्थित हैं [अतः एकपदानुप्रवेश रूप तृतीय सङ्कर है] ।

प्रभा—यहाँ 'विषये' (पदे) में एकवचन अविवक्षित है; अर्थात् जहाँ अनेक पदों में दो अलङ्कार प्रविष्ट होते हैं वहाँ भी यह एकपदानुप्रवेश सङ्कर होता है जैसे—'कलकलोऽलकगोलदृशान्यया' यहाँ दो पदों में यमक और अनुप्रास अलङ्कारद्वय की स्थिति है (प्रदीप) ।

इसी प्रकार शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का ही यह सङ्कर हो—यह आवश्यक नहीं, अपितु दो शब्दालङ्कारों और दो अर्थालङ्कारों का भी एकपदानुप्रवेश नामक सङ्कर होता है, जैसे—'कलकलो०' इत्यादि में दो शब्दालङ्कारों का सङ्कर है ।

तदयमनुग्राह्यानुग्राहकतया, सन्देहेन, एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात् त्रिप्रकार एव सङ्करो व्याकृतः। प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तु म् आनन्त्यात्तत्प्रभेदानाम् । इति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलङ्काराः।

[अलङ्काराणां शब्दगतत्वादिव्यवस्था]

कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलङ्कारः शब्दस्य कश्चिदर्थस्य, कश्चिच्चोभयस्येति चेत् । उक्तमत्र यथा काव्ये दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात्। ततश्च योऽलङ्कारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलङ्कारो व्यवस्थाप्यते इति एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयाऽ-

---

अनुवाद—उक्त रीति से (तेन) यह सङ्कर तीन प्रकार का कहा गया है। (२११)

इस प्रकार अङ्गाङ्गिभाव से, सन्देह रूप से तथा एकपदानुप्रवेश रूप से अवस्थित होने के कारण यह तीन प्रकार का ही सङ्कर प्रतिपादित किया गया है। अन्य प्रकार से (अर्थात् उपमा और रूपक का, अनुप्रास और उपमा का सङ्कर इत्यादि रूप से) तो इसका विवेचन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार उसके अनन्त भेद हो सकते हैं।

इस प्रकार शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत—ये तीन प्रकार के अलङ्कार (नवम तथा दशम उल्लास में) प्रतिपादित किये गये हैं।

प्रभा—इस प्रकार ग्रन्थकार ने दशम उल्लास में ६१ अर्थालङ्कारों का वर्णन किया है। नवम उल्लास में शब्दालङ्कारों का वर्णन किया जा चुका है। अब संक्षेप में यह बतलाते हैं कि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का भेद किस आधार पर किया गया है।

अनुवाद—यदि कोई शंका करे कि सभी अलङ्कार समान रूप से काव्य शोभा को बढ़ाने वाले हैं फिर यह नियम क्यों है कि कोई शब्द का, कोई अर्थ का और कोई दोनों का अलङ्कार है तो इस विषय में (अत्र) कहा हो जा चुका है (सू० १२०) कि दोष गुण और अलङ्कारों की जो शब्दगत, अर्थगत या उभयगत होने की व्यवस्था है उसमें अन्वय (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्) और व्यतिरेक (तदभावे तदभावः) ही कारण हैं (प्रभवतः=समर्थौ भवत.); क्योंकि कोई अन्यनिमित्त नहीं हो सकता। इसलिये जो अलङ्कार जिस (शब्द, अर्थ या शब्दयुगल) के अन्वय (सद्भाव) और व्यतिरेक (अभाव) का अनुसरण करता है वह उसका ही अलङ्कार है, यह व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार जैसे पुनरुक्तवदाभास और परम्परित

लङ्कारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः। अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उत्कटतया प्रतिभासते इति वाच्यालङ्कारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः।

योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कार इत्यपि कल्पनायां अन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावात्। इत्यलङ्काराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।

रूपक, शब्द और अर्थ दोनों के सद्भाव तथा अभाव का अनुसरण करने के कारण, उभयालङ्कार माने जाते हैं उसी प्रकार शब्द के निमित्त से होने वाले अर्थान्तरन्यास आदि (जैसे—'उत्पादयति लोकस्य प्रीति मलयमारुतः। ननु दाक्षिण्यसम्पन्नः सर्वस्य भवति प्रियः', यहाँ दाक्षिण्य शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास है) को भी (उभयालङ्कार) समझना चाहिए; किन्तु उन (अर्थान्तरन्यास आदि) में अर्थ-वैचित्र्य उत्कृष्ट (उत्कट =प्रकट, उत्कृष्ट) रूप में प्रतीत होता है (शब्द-वैचित्र्य नहीं) इसलिये (उभयालङ्कारतारूप) वस्तुस्थिति को ध्यान में न रखकर ही अर्थालङ्कारों में प्रदर्शित किया गया है।

(अन्य मत की समीक्षा) जो अलङ्कार जिस (शब्द या अर्थ) के आश्रित है वह उसका ही अलङ्कार कहलाता है, इस कल्पना में भी अन्वय और व्यतिरेक का ही आश्रय लेना पड़ेगा; क्योंकि (यहाँ) उस (अन्वयव्यतिरेक रूप) निमित्त (आश्रय) के बिना कोई और विशेष प्रकार का 'आश्रयाश्रयिभाव' सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव अलङ्कारों का उक्त रीति से अन्वयव्यतिरेकनिमित्तक ही (शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत) परस्पर भेद मानना अधिक अच्छा है।

प्रभा—(१) शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की भेद-व्यवस्था का नवम उल्लास में श्लेष के प्रसङ्ग से विवेचन किया जा चुका है उसी का यहाँ निगमन किया जा रहा है। (२) 'आश्रयाश्रयिभाव' ही अलङ्कार व्यवस्था का निमित है, यह अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक का मत है—लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्चा तत्तदलङ्कारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ न तदलङ्कारत्वे। अधिकांश टीकाकारों ने यहाँ रुय्यक के मत का खण्डन है, यही स्वीकार किया है। किन्तु सारबोधिनिकार के अनुसार यहाँ 'उद्भट' के मत का खण्डन किया गया है। वस्तुतः बात यह है कि यह मत अत्यन्त प्राचीन था अलङ्कारसर्वस्वकार ने इसका बलपूर्वक समर्थन मात्र किया था; जैसा कि उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है— तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुस्मृतिरिति। फलतः मम्मट ने प्राचीन (उद्भट आदि के) मत का ही खण्डन किया है, रुय्यक के मत का नहीं। रुय्यक, मम्मट से अर्वाचीन हैं यह ऊपर कहा जा चुका है।

[अलङ्कारदोष-समीक्षा]

(२१२) एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः॥१४२॥

तथा हि अनुप्रासस्य (१) प्रसिद्ध्यभावो, (२) वैफल्यं, (३) वृत्ति-विरोध इति ये त्रयो दोषाः ते प्रसिद्धिविरुद्धताम्, अपुष्टार्थत्वं, प्रतिकूल-वर्णतां च यथाक्रमं न व्यतिक्रामन्ति तत्स्वभावत्वात्।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) चक्री चक्रारपङ्क्तिं हरिरपि च हरीन् धूर्जटिर्धूर्ध्वजाग्रा-
नक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः।
रंहः सङ्घः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य॥
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यन्दनो वः॥५८०॥

अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः। अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः।

अलङ्कार-दोष-समीक्षा

अनुवाद—इन (अलङ्कारों) के कुछ दोष भी हो सकते हैं जिनका (सप्तम उल्लास में) उपर्युक्त दोषों में ही अन्तर्भाव हो जाता है इसलिये उनका पृथक् प्रतिपादन नहीं किया गया। (२१२)

(अनुप्रासदोष) जैसे कि अनुप्रास के जो ये—(१) प्रसिद्ध्यभाव, (२) वैफल्य और (३) वृत्तिविरोध (प्राचीनोक्त) तीन दोष हैं, वे क्रमशः (१) प्रसिद्धिविरुद्ध, (२) अपुष्टार्थत्व और (३) प्रतिकूलवर्णता नामक दोषों से अतिरिक्त नहीं हैं, क्योंकि ये भी उनके स्वरूप (लक्षण) वाले ही हैं। क्रमशः उदाहरण—(१. प्रसिद्ध्यभाव) [मयूरकविकृत सूर्यशतक में सूर्य के रथ का वर्णन] 'उष्ण किरणों वाले सूर्य का वह रथ आप सबकी रक्षा करे, लोकोपकार में सतत प्रवृत्त जिस रथ की चक्रारपंक्ति (पहियों के अरों) की विष्णु (स्तुति करते हैं—यह अन्वय है), अश्वों की इन्द्र (हरिः) मुख (धूः=यानमुखम्) पर स्थित पताका के अग्रभाग की शिव (धूर्जटि) धुरी (अक्षम्) की नक्षत्रपति चन्द्रमा, अरुण नामक सारथि की वरुण, कूबराग्र (युगन्धर अर्थात् जुआ बांधने के स्थान का अग्रभाग) की कुबेर वेग (रंहः) की देवों का समूह—प्रतिदिन प्रीति से प्रसन्न होकर स्तुति करते हैं' ॥५८०॥

यहाँ स्तुतिकर्ता (चक्री आदि) और स्तुतिकर्म (चक्रारपंक्ति आदि) में से प्रत्येक की नियत स्तुति का वर्णन अनुप्रास के अनुरोध से ही किया गया है, इस प्रकार की नियत स्तुति (देवविशेष के द्वारा रथ के अङ्गविशेष की स्तुति) पुराण या इतिहास आदि में प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये यह (तथाकथित प्रसिद्ध्यभाव नामक अनुप्रास) प्रसिद्धिहत दोष ही है।

(२) भण तरुणि, रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत् किं त्वदीय मे ॥५८१॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥५८२॥

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किञ्चिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यपुष्टार्थतैवानुप्रासस्य वैफल्यम्।

(३) 'अकुण्ठोत्कण्ठया' इति। अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाडम्बरः पूर्वोक्तरीत्या विरुध्यत इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः।

(२ वैफल्य) [पतिगृह को जाने के लिए उद्यत नायिका के प्रति उपनायक की उक्ति]—'हे आनन्ददायक एवं सुन्दर इन्दु के समान मुखवाली, उत्कृष्ट लीलापूर्वक वार्तालाप करने वाली तथा लाल चरणों वाली तरुणी, बतलाओ तो (भण) कि यदि तुम पतिगृह को जाती हो तो अत्यधिक (अनणु) ध्वनि करने वाली मणियों की मेखला से युक्त तथा निरन्तर झनझनाते हुए (शिञ्जान=शब्दायमान) सुन्दर नूपुरों से युक्त तुम्हारा यह गमन (परिसरण) बिना किसी निमित्त के ही मुझे चिन्ता (रणरणकम्) क्यों उत्पन्न करता है ? ॥५८१॥ ॥५८२॥

यहाँ जो वाच्य-अर्थ (ध्वनित मेखला आदि से युक्त गमन मुझे क्यों उत्कण्ठित करता है ?) है, उसमें विचार करने पर भी कुछ चारुता (चमत्कार) प्रतीत नहीं होती, इसलिये अनुप्रास का वैफल्य (नामक तथाकथित अलङ्कार दोष) अपुष्टार्थता ही है।

प्रभा—भाव यह है कि अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार भी परम्परया अर्थ और रस के उपकारक होते हैं; किन्तु प्रस्तुत पद में अनुप्रास अलङ्कार केवल शब्द-सौन्दर्य को ही बढ़ाता है वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ आदि का कोई उपकार नहीं करता अर्थात् उनमें चमत्काराधायक नहीं। अतएव अर्थ का परिपोषण न होने के कारण यहाँ 'अपुष्टार्थता' नामक दोष ही है, अनुप्रास-वैफल्य उससे भिन्न कोई दोष नहीं।

अनुवाद—'अकुण्ठोत्कण्ठया' इत्यादि (ऊपर उदाहरण २०७) यहाँ पर कठोर वर्णों का बाहुल्य (आडम्बर=प्रचुर प्रयोग का आरम्भ) ऊपर (अष्टम उल्लास में) वर्णित रीति से शृङ्गार रस के विरुद्ध ही है अतः यहाँ परुषानुप्रास वृत्तिविरोध है तथा यह 'प्रतिकूलवर्णता' नामक दोष ही है।

प्रभा—भाव यह है कि प्राचीन अलङ्कारिकों ने अनुप्रास का वृत्तिविरोध नामक दोष माना है जिसका उदाहरण है—'अकुण्ठोत्कण्ठया' इत्यादि। अर्थात् यह शृङ्गार-विषयक पद्य है यहाँ माधुर्यव्यञ्जक वर्णों वाली उपनागरिका वृत्ति होनी चाहिये थी किन्तु कवि ने ओजगुण व्यञ्जक कठोर वर्णों वाली परुषा वृत्ति का

यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः। यथा—

भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहावकीर्णेव नदी सदम्भाः।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥५८३॥

उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वं अधिकता वा तादृशी अनुचितार्थत्वं दोषः। धर्माश्रये तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वं च न व्यभिचरतः। क्रमेणोदाहरणम्—

१. चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥५८४॥

२. वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥५८५॥

आश्रय लिया है। इसलिये यहां वृत्तिविरोध नामक अनुप्रास-दोष हैं। आचार्य मम्मट का कथन है; कि शृङ्गार रस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग किया जाने के कारण यहाँ प्रतिकूलवर्णता नामक दोष ही है तथा वृति-विरोध नामक अनुप्रास-दोष इससे भिन्न अन्य कोई दोष नही।

अनुवाद—[यमक-दोष] यमक का (श्लोक के) तीन-तीन चरणों में निबन्धन रूप जो (प्राचीनोक्त) अलङ्कार दोष है, वह अप्रयुक्तत्व दोष ही है, जैसे—

'कान्तियुक्त (सद् विद्यमानम् अम्भः तेजः अस्य) सर्प की मणि के समान तथा नक्रों से व्याप्त (अवकीर्ण) स्वच्छ जलवाली नदी के समान कपटी (सदम्भ) मनुष्य उस प्राणी का मन भी बलपूर्वक आकृष्ट कर लेते हैं जो इनको परिणाम में दुःखप्रदता को निश्चयरूप से जानता है' ॥५८३॥

प्रभा—यहां पर तीन चरणों मे 'यमक' (सन्दभाः) रक्खा गया है; किन्तु एक, दो या चार चरणों में यमक रचना ही कवि- सम्प्रदाय सिद्ध है, तीन चरणों में नहीं (यमकं तु विधातव्य न कदाचिदपि त्रिपात्। इसलिए यहां अप्रयुक्तत्वरूप दोष ही है।

अनुवाद—[उपमा-दोष-समीक्षा] उपमा में जो उपमान की (अपेक्षा) जाति या प्रणाम (परिमाण) विषयक न्यूनता अथवा अधिकता होती है वह अनुचितार्थत्व दोष ही है। साधारणधर्मविषयक न्यूनता और अधिकता तो क्रमशः 'हीनपदत्व' और अधिकपदत्व' के अतिरिक्त (अन्य दोष) नहीं होते। क्रमशः उदाहरण हैं—

[१. उपमान की जातिगत न्यूनता—] 'चण्डालों के समान तुम लोगों ने बड़ा साहस किया है' ॥५८४॥

[२. उपमान की प्रमाणगत न्यूनता]—'यह सूर्य अग्नि की चिनगारी के समान चमकता है' ॥५८५॥

८. सक्तवो भक्षिता देव, शुद्धाः कुलवधूरिव ॥५६१॥

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद्दूषणावतारः। उभयथापि अस्यानुगमक्षमस्वभावत्वात्। यथा—

---

८. (वचनभेद)—हे राजन्, कुलनारी के समान शुद्ध सत्तू मैंने खाये हैं' ॥५६१॥

प्रभा—प्राचीन अलङ्कारिकों ने 'भिन्नलिङ्गत्व' तथा 'भिन्नवचनत्व' नामक उपमा के दोषद्वय का उल्लेख किया है। भाव यह है कि जहाँ उपमा उपमेय दोनों भिन्न २ लिङ्गों या वचनों में होते हैं तथा साधारणधर्मवाचक पद किसी एक के लिङ्ग या वचन का अनुसरण करता है वहाँ उसका केवल (उसी) एक के साथ अन्वय हो सकता है, दोनों के साथ नहीं; क्योंकि समानलिङ्गवचन वाले शब्दों का ही विशेष्य-विशेषणभाव से अन्वय हुआ करता है। कोई वस्तु साधारणधर्म विशिष्ट (सविशेषण-होकर ही) उपमान या उपमेयरूपता को प्राप्त होती है। अतः साधारण धर्म का उपमान तथा उपमेय दोनों के साथ अन्वय न होने के कारण उपमा कैसे बन सकेगी ? यदि साधारण धर्म का एक अर्थात् उपमान या उपमेय में साक्षात् अन्वय हो जाने से तथा दूसरे के साथ प्रतीयमान सम्बन्ध होने से उपमा-निर्वाह माना जाये तो वह उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार अविलम्बेन उपमा-प्रतीति न होगी। इस प्रकार भिन्नलिङ्गता और भिन्नवचनता को भोजराज ने उपमा दोष ही माना है।

आचार्य मम्मट की मानता है कि इन दोषों का 'भग्नप्रक्रम' नामक दोष में ही अन्तर्भाव हो जाता है। बात यह है कि उक्तरीति से उपमान में किसी साधारण धर्म का सम्बन्ध वाच्यरूप में या प्रतीयमान रूप में आरम्भ (प्रक्रान्त) होता है; किन्तु उपमेय में अन्य प्रकार (प्रतीयमान अथवा वाच्य रूप) से उसका उपसंहार किया जाता है अतः प्रक्रमभङ्ग दोष ही है। जैसे—'चिन्तारत्नम्' इत्यादि में 'च्युत' यह साधारण धर्म है, जिसका पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया गया है। उसका पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त उपमेय ('त्वम्) के साथ ही साक्षात् अन्वय सम्भव है न तु सक्तत्वविशिष्ट उपमान (चिन्तारत्नम्) के साथ नहीं। इसी प्रकार 'सक्तवः' इत्यादि में साधारण धर्म (शुद्धाः) बहुवचन में है, जिसका बहुवचन में प्रयुक्त उपमेय (सक्तवः) के साथ ही साक्षात् अन्वय हो सकता है; एकवचन में प्रयुक्त उपमान (कुलवधू) के साथ नहीं।

अनुवाद—जहाँ (उपमान और उपमेय में) लिङ्ग और वचन का भेद होने पर भी साधारणधर्मवाचक पद रूपभेद को प्राप्त नहीं होता, वहाँ इस (भग्नप्रक्रमत्व) दोष की उपस्थिति नहीं होती; क्योंकि इस साधारण धर्मवाचक का स्वरूप दोनों प्रकार से (अर्थात् उपमान की लिङ्गवचनविशिष्टता से तथा उपमेय की लिङ्गवचन-विशिष्टता से) अन्वय की योग्यता रखता है (अनुगमक्षमस्वभावत्वात् = अन्वय-योग्य-स्वरूपत्वात्)। जैसे—

गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥५६२॥
तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥५६३॥

कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः । यथा—

१. अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥५६४॥

[लिङ्गभेद में भग्नप्रक्रमत्व का अभाव] 'अमूल्य (अनर्घ्य) गुणों से वह राजा उसी प्रकार प्रसिद्ध था जैसे अमूल्य रत्नों से सागर प्रसिद्ध है' ॥५६२।

[वचनभेद में भग्नप्रक्रमत्व का अभाव]—'उसके हावभावों के समान उसका वह वेष उत्कृष्ट शोभा को धारण करता है जो मधुरताभृत अर्थात् मधुरता से परिपूरित है (विभ्रमपक्ष में मधुरता को धारण करने वाले मधुरताभृत्) तथा अन्य स्त्री के वेष (पक्ष में विभ्रमों) से विलक्षण (असदृशः) हैं' ॥५६३॥

प्रभा—यदि उपमान तथा उपमेय के लिङ्ग तथा वचन में भेद होता है; किन्तु साधारण धर्म वाचक पद अपने प्रयुक्त रूप में ही दोनों के साथ अन्वित होने का सामर्थ्य रखता है तो वहाँ भग्नप्रक्रमत्व नहीं होता जैसे—

(क) 'गुणैः' इत्यादि में उपमेयवाचक 'गुण' शब्द पुल्लिङ्ग है तथा उपमान वाचक 'रत्न' शब्द नपुंसकलिङ्ग है; किन्तु 'अनर्घ्य' रूप साधारणधर्मवाचक शब्द का दोनों के साथ अन्वय सम्भव है, क्योंकि दोनों लिङ्गों में तृतीय विभक्ति के बहुवचन में समान ही रूप बनता है । (ख) इसी प्रकार 'तद्वेषः' इत्यादि में उपमेय (तद्वेषः' एकवचन में है तथा उपमान (विभ्रमाः) बहुवचन में है, किन्तु साधारणधर्म वाचक शब्द-'असदृशः' 'मधुराभृतः' तथा 'दधते दोनों के साथ अन्वित हो सकते हैं जैसे कि 'असदृशः' यह कञ् प्रत्ययान्त (सदृश) होने पर एकवचन है तथा क्विप् प्रत्ययान्त (सदृश) होने पर बहुवचन है । 'भृतः' यह 'क्त' प्रत्ययान्त (भृत) होने पर एकवचन में तथा क्विप् प्रत्ययान्त भृत होने पर बहुवचन में होता है । इसी प्रकार 'दधते' यह 'यह दध धारणे' (भ्वादि०) से एकवचन में तथा 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जुहोत्यादि) से बहुवचन में होता है ।

अनुवाद-[कालादि भेद में भी भग्नप्रक्रमता दोष] काल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) पुरुष (प्रथम, मध्यम तथा उत्तम) विधि (विध्यर्थक लिङ्, लोट्, तव्यत) आदि का भेद होने पर भी (उपमान तथा उपमेय भाव की) प्रतीति वैसी (जैसी कि काल आदि का साम्य होने पर होती है) निर्दोष (अस्खलित) रूप में परिसमाप्त नहीं होती, इसीलिये यह (कालादि भेदरूप दोष) भी भग्नप्रक्रमता के द्वारा ही गृहीत हो जाता है (व्याप्तः); जैसे—[रघुवंश१७]—१. [कालभेद] 'रानी कुमुद्वती ने काकुत्स्थ (कुश-नामक राजा) से अतिथि नामक पुत्र को उसी प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार चेतना रात्रि के अन्तिम प्रहर से (में) निर्मलता को प्राप्त कर लेती है' ॥५६४॥

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः।

१०. प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्त्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५६५॥

अत्र लता विभ्राजते न तु विभ्राजसे इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात् पुरुषभेदः।

११. गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्त्तिः ॥५६६॥

इत्यादौ च गङ्गा प्रवहति न तु प्रवहतु इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः। एवंजातीयकस्य चान्यस्यार्थस्य उपमानगतस्यासम्भवाद्विध्यादिभेदः।

यहाँ चेतना निर्मलता को प्राप्त हुआ करती है, यह ('आप्नोति', लट् वर्तमान काल) है; किन्तु (उपमेय के समान) प्राप्त किया' ('आप', लिट् भूतकाल) नहीं—इस प्रकार कालभेद है (तथा भग्नप्रक्रम दोष है)।

१०. [पुरुष-भेद]—[रत्नावली नाटिका १]—'हे सखि, नव स्नान से अधिक निर्मल (विविक्त) शरीर वाली, कुसुम्भराग से रञ्जित सुन्दर वस्त्र (अंशुकान्त) वाली तुम मकरकेतन (कामदेव) की पूजा करती हुई उस लता के समान शोभायमान हो जो नूतन किसलय-युक्त शाखाओं का उत्पत्ति-स्थान (प्रभव) है (नूतन सिञ्चन से विशेषतः स्वच्छ आकृति वाली है और कुसुम्भसदृश रक्तिमा से सुन्दर है तथा 'स्फुरित -अंशु-कान्ता' अर्थात् स्फुरित होती हुई किरणों से रमणीय है)' ॥५६५॥

यहाँ पर 'लता विभ्राजते' (यह प्रथमपुरुष उचित है) विभ्राजसे (यह मध्यम पुरुष नहीं)। इसलिये (वासवदत्ता) व्यक्तिविषयक क्रिया के शेषांश रूप (परभागस्य =प्रत्ययस्य) 'से' प्रत्यय का सम्बोधन के अयोग्य (अचेतन) लताविषयक (विभ्राजते) यह परिवर्तन किया जाता है अतः (उपमेयगत मध्यमपुरुष तथा उपमानगत प्रथम पुरुष के होने से यहाँ पुरुष-भेद है।

११. [विधि-भेद] 'तुम्हारी कीर्ति सदा गङ्गा के समान प्रवाहित हो' ॥५६६॥

इत्यादि में 'गङ्गा प्रवहति' ऐसा (कहना उचित) है (गङ्गा) 'प्रवहतु' यह (उचित) नहीं; अतएव यहाँ अप्रवृत्त-प्रवर्तन रूप (आशीर्वादरूप) विधि का भेद (व्यत्यास; अर्थात् 'गङ्गा प्रवहति' इस रूप में विधि का परिवर्तन) होता है।

और, इस प्रकार अन्य अर्थ (प्रार्थना आदि) की भी (उपमेय के समान) उपमान में सम्भावना न होने के कारण विध्यादि-भेद होता है।

प्रभा—विधि का अर्थ है— अप्रवृत्त-प्रवर्तन अर्थात् किसी कार्य में प्रवृत्त न होने वाले व्यक्ति को उस कार्य में प्रवृत्त कराना। यह विधि अनेक प्रकार की होती है जैसे आशीर्वाद, प्रार्थना, प्रेरणा आदि के रूप में। 'गङ्गेव' इत्यादि में—प्रवहन रूप में अप्रवृत्त कीर्ति के प्रवहन के लिये आशीर्वाद रूप विधि है (प्रवहतु।

ननु समानमुच्चारितं प्रतीयमानं वा धर्मान्तरमुपादाय पर्यवसितायामुपमायामुपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसम्बन्धान्न कश्चित्कालादिभेदोऽस्ति। यत्राप्युपात्ते नैव सामान्यधर्मेण उपमाऽवगम्यते यथा 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदती' ति तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवाद्ययं सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे। सत्यवादी सत्यं वदतीति च न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् 'रैपोषं पुष्णाती तिवत् युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात्। सत्यमेतत्, किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदन्न तु सर्वथा निरवद्यम् प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम्।

जो उपमानरूप 'गङ्गा' में सङ्गत नहीं होती; क्योंकि गङ्गा तो पूर्वकाल से वह रही है। अतएव गङ्गा से अन्वय करने के लिये 'यथा गङ्गा प्रवहति तथा कीर्तिः प्रवहतु' इस प्रकार से विधि में परिवर्तन (भेदः—व्यत्यासः) करना होता है। यही विधि-भेद है। अन्य प्रार्थना इत्यादि में भी इसी प्रकार भेद होता है; इसीलिये ग्रन्थकार ने विध्यादि भेद कहा है। इस उपमा दोष का भग्नप्रक्रमदोष में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुवाद—(शङ्का) वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरणों में उच्चारितपदबोध्य उच्चारित=उपात्त) या अध्याहारलभ्य (प्रतीयमान=गम्य) उक्तकालविशेष आदि से रहित (धर्मान्तर=उपात्तभिन्न) साधारण धर्म को लेकर उपमा निष्पन्न हो जाती है तथा उपमेय का (कालविशेषादि से रहित) प्रस्तुत धर्म से सम्बन्ध हो जाने के कारण कोई भी काल आदि का भेद नहीं रहता। जहाँ उच्चारित साधारण धर्म के द्वारा ही उपमा की प्रतीति होती है जैसे—'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' (यहाँ 'सत्यं वदति' इसके द्वारा बोधित साधारणधर्म वर्तमानकाल विशिष्ट ही है); वहाँ 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति' यह तात्पर्य लेंगे; और 'सत्यवादी सत्य कहता है' इस कथन में पुनरुक्ति की भी शङ्का न करनी चाहिए क्योंकि 'रैपोषं पुष्णाति' अर्थात् 'धन पोषण द्वारा पुष्टि करता है' (यहाँ धात्वर्थ 'पुष्टि' का सामान्यविशेषभाव हो जाने से विशेषण-विशेष्यभाव हो जाता है तथा पुनरुक्ति नहीं होती)। इस (प्रयोग) की भांति यहाँ भी—'युधिष्ठिर के समान सत्य बोलने के कारण यह सत्यवादी है—'इस अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

(समाधान) यह कथन ठीक है; किन्तु प्रचलित प्रयोगों के विषय में ही कथञ्चित् इस प्रकार का समर्थन किया जा सकता है, यह बात सर्वथा निर्दोष नहीं है; क्योंकि (ऐसे स्थलों पर) प्रस्तुत वस्तु अर्थात् उपमा (तथा रस आदि) की प्रतीति में (विलम्ब रूप) बाधा पड़ती ही है। इस प्रकार सहृदयजन ही इस विषय (कालादि के भेद से उपमा-दोष होता है या नहीं) में प्रमाण हैं।

असादृश्यासम्भवावप्युपमायामनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः। यथा—

१२. ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥५६७॥

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम् ।

१३. निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥५६८॥

प्रभा—शङ्का का आशय यह है कि—'अतिथि नाम' इत्यादि में जो काल भेद आदि के कारण उपमा-दोष (भग्नप्रक्रम) कहा गया है वह उचित नहीं; क्योंकि यहाँ 'इव' आदि पद के द्वारा उपमान तथा उपमेय दोनों में अन्वय-योग्य कालादि रहित साधारण धर्म (धर्मान्तर) के आधार पर ही उपमा निष्पन्न हो जाती है और तब गृहीत या प्रतीयमान धर्म का उपमेय तथा उपमान से सम्बन्ध हो जाता है यद्यपि 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' आदि में साधारण धर्म 'सत्यं वदति' वर्तमान कालविशिष्ट ही है अतः कालादिरहित 'धर्मान्तर' नहीं तथापि 'सत्यवादित्व' अर्थात् सत्यवदनशीलता रूप धर्मान्तर की ही यहाँ 'इव' शब्द-द्वारा प्रतीति मानेंगे, 'सत्यवादित्व' तो त्रैकालिक साधारण धर्म है अतएव कालभेद न होगा। 'युधिष्ठिर के समान सत्यवादी यह व्यक्ति सत्य बोलता है' में पुनरुक्ति दोष भी नहीं है क्योंकि 'रैपोषं पुष्णाति' इत्यादि व्याकरणादि सिद्ध प्रयोग देखे जाते हैं।

'सत्यम्' इत्यादि समाधान का भाव यह है कि—यद्यपि इस प्रकार अन्वय तथा अध्याहार आदि की कल्पना अनुभव सिद्ध है; किन्तु 'रैपोषं' इत्यादि उदाहरणों से सर्वत्र पुनरुक्ति आदि दोष का समर्थन नहीं किया जा सकता है। लोक-प्रसिद्ध प्रयोगों के समर्थन की दृष्टि से ही उन प्रयोगों को उचित (साधु) मान लिया गया है। अतएव इस युक्ति से सर्वत्र ही कालभेदादिविषयक दोषों का निराकरण नहीं किया जा सकता। बात यह है कि कालादि-भेद के कारण उपमा-प्रतीति में विलम्ब होता है, सहृदयजनों का अनुभव यही बतलाता है अतएव ये उपमा-दोष हैं ही, जिनका 'भग्नप्रक्रम' नामक पूर्वोक्त दोष में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुवाद—'असादृश्य' तथा 'असम्भव' (नामक उपमा-दोष) भी अनुचितार्थत्व (उपमा) में ही अन्तर्भूत (परिणत) हो जाते हैं। जैसे—

१२. (असादृश्य)—'मैं रश्मि के समान विस्तृत अर्थ वाले (अर्थाः रश्मयः इव-उपमित समास) चन्द्र-सदृश (काव्यं शशी इव) को ग्रथित करता हूँ ॥५६७॥

इस पद्य में वर्णित—'काव्य की चन्द्रमा के साथ' तथा 'अर्थों को रश्मियों के साथ' समानता कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है—इसलिये अनुचितार्थ दोष है।

१३. (असम्भव)—'धनुर्मण्डल के मध्य में स्थित उस राजा के मानों मुख से ही (तूणीर से नहीं) प्रदीप्त बाण इस प्रकार गिर रहे थे . . . मध्याह्न के कुण्ड-लाकार तेज से विशिष्ट (परिवेषिणः) सूर्य से . . . -धारायें गिरती हैं' ॥५६८॥

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न सम्भवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्णाति ।

उत्प्रेक्षायामपि सम्भावनं ध्रुवेवादयः एव शब्दा वक्तुं सहन्ते न यथाशब्दोऽपि । केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् । तस्य चास्यामविवक्षितत्वादिति तत्राशक्तिरस्यावाचकत्वं दोषः । यथा—

उदयौ दीर्घिकागर्भान्मुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचातुर्यशङ्कासङ्कुचितं यथा ।।५६६।।

उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरुपाख्यप्रख्यं तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं तत् आलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः । यथा—

यहाँ भी—'प्रज्वलित जल धाराओं का सूर्यमण्डल से गिरना सम्भव' नहीं है'—इसलिये (उपमान रूप में), वर्णित अर्थ अनौचित्य को ही प्रकट करता है (पुष्णाति=प्रकाशयति) ।

प्रभा—प्राचीन आचार्यों ने 'असादृश्य' तथा 'असम्भव' इन दो उपमा-दोषों का भी निरूपण किया था आचार्य मम्मट की मान्यता है कि इन दोनों दोषों का 'अनुचितार्थत्व' दोष मे ही अन्तर्भाव हो जाता है । कुछ टीकाकारों का मत है कि 'अश्नामि' इत्यादि मे 'अप्रयुक्तत्व' दोष है अनुचितार्थत्व नहीं ।

अनुवाद—[उत्प्रेक्षा-दोष]—उत्प्रेक्षा अलङ्कार में भी 'ध्रुव', 'इव' आदि शब्द ही सम्भावना (उत्प्रेक्षण) को प्रकट करने में समर्थ हैं, न कि यथा शब्द भी क्योंकि केवल (अर्थात् असमास में) 'यथा' शब्द साधर्म्य के प्रतिपादन करने में ही समर्थ है और उस (साधर्म्य) की उत्प्रेक्षा में (अस्याम्) विवक्षा नहीं होती। इस प्रकार सम्भावना को प्रकट करने में (तत्र) 'यथा' शब्द की असामर्थ्य है (इसे ही प्राचीनों ने अशक्तशब्दत्व उत्प्रेक्षा दोष कहा है) यह अवाचकत्व दोष ही है । जैसे—'बावड़ी के मध्य से ऐसा मुकुलित नीलकमल आविर्भूत हुआ मानों 'सुन्दरी का नयनचातुर्य अधिक है इस शंका से संकुचित हो' ।।५६६।।

प्रभा—यहाँ सम्भावना (उत्प्रेक्षण) को प्रकट करने के लिये 'यथा' शब्द का प्रयोग किया गया है जो असमर्थ है प्राचीन आचार्यों ने इसे ही 'अशक्तशब्दत्व' उत्प्रेक्षा-दोष कहा है । वस्तुतः इसका अवाचकत्व में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

अनुवाद—[उत्प्रेक्षित-अर्थ-समर्थक अर्थान्तरन्यास का दोष] सम्भावित वस्तु भी वास्तविकता से रहित होने के कारण मिथ्या (शशविषाण आदि) के तुल्य होती है (निरूपाख्यम् अलीकं तत्प्रख्य तत्तुल्यम्) । उसके समर्थन के लिये जो अर्थान्तरन्यास का ग्रहण किया जाता है यह आकाश में चित्र-लेखन के समान अत्यन्त असङ्गत है । इस प्रकार इस (अर्थान्तरन्यास) का 'निर्विषयत्व' (नामक प्राचीनोक्त दोष) अनुचितार्थत्व दोष ही है जैसे—[कुमारसम्भव १ में हिमालय वर्णन]—'जो (यह)

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ॥६००॥

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात् त्रास एव न सम्भवतीति कुत एव तत्प्रयोजितमद्रिणा परित्राणम्? सम्भावितेन तु रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यत्नः ।

साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत्, तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तं वा दोषः । यथा—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया ।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥६०१॥

हिमालय मानों दिन में सूर्य से भयभीत होकर कन्दराओं में छिपे हुये अन्धकार की रक्षा करता है, निश्चय ही शरण में आये हुए क्षुद्र व्यक्ति के लिये भी उच्च मस्तक वालों (बड़ों) को अत्यन्त ममता होती है ॥६००॥

यहाँ पर अचेतन अन्धकार का सूर्य से डरना ही सम्भव नहीं है फिर त्रास के कारण हिमालय द्वारा रक्षा भी कैसे हो सकती है ? इस अर्थ के (असत्य) उत्प्रेक्षित रूप से प्रतीत होने में तो कोई बाधा (अनुपपत्ति) उपस्थित ही नहीं होती, इसलिए उस (संम्भावना) के समर्थन के लिए (अर्थान्तिरन्यासरूप) प्रयास करना व्यर्थ ही है ।

प्रभा—भाव यह है कि 'दिवाकर' आदि में उत्प्रेक्षा का विषय अर्थात् अन्धकार का डरना' ही मिथ्या है; क्योंकि वह अचेतन है तथा हिमालय द्वारा परित्राण भी असम्भव है । अतएव परित्राण यहाँ पर उत्प्रेक्षित (कल्पित) मात्र ही हो सकता है और नितान्त कल्पित वस्तु में अनुपपन्नता कैसी ? अतः उसके उपपादन (समर्थन) के लिये उपनिबद्ध अर्थान्तिरन्यास दूषित है—यही उत्प्रेक्षासमर्थक अर्थान्तर-न्यास का 'निर्विषयत्व' नामक दोष बतलाया गया है जिसका आचार्य मम्मट के मतानुसार अनुचितार्थत्व नामक दोष अन्तर्भाव हो जाता है ।

अनुवाद—(समासोक्ति-दोष)—साधारण (सदृप) विशेषणों के बल से ही समासोक्ति अलङ्कार (शब्दों द्वारा) अनुक्त भी उपमानविशेष को प्रकट कर देता है, इसलिए उस (उपमानविशेष) के यहाँ (समासोक्ति के विषय में) फिर से ग्रहण (शब्द-द्वारा कथन) करने में कोई प्रयोजन न होने के कारण जो 'अनुपादेयत्व' (नामक समासोक्ति-दोष माना जाता) है यह अपुष्टार्थत्व या पुनरुक्त दोष ही है । जैसे—[रत्नाकर, हरविजय ३-३७] 'सूर्य (तिग्मरश्मि) के अपने करों (किरण, हस्त) द्वारा दिशाओं का स्पर्श करने पर मनोहर दिनश्री प्रियतमा (प्रतिनायिका) के समान अधिक सन्तापयुक्त होकर देर तक अत्यधिक (अ. नु) मान (कोप परिमाण) ग्रहण करती रही ॥६०१॥

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया नायिकात्वेन च व्यक्तिः तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन।

श्लेषोपमायास्तु स विषयः यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः। यथा—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥६०२॥ इति।

यहाँ पर जिस प्रकार सूर्य और दिशाओं की सदृश विशेषणों के सामर्थ्य से तथा लिङ्गविशेष (व्यक्ति = लिङ्ग; अर्थात् सूर्य का पुल्लिङ्ग से तथा दिशाओं का स्त्रीलिङ्ग से) का योग होने से नायक एवं नायिका रूप में प्रतीति (व्यक्तिः) हो रही है; उसी प्रकार ग्रीष्मदिवसशोभा की भी प्रतिनायिकारूप में प्रतीति हो जायेगी अतः 'दयिता' इस उपमान (स्व) शब्द के प्रयोग से क्या लाभ ?

(यहाँ श्लेषोपमा भी नहीं है क्योंकि) श्लेषोपमा का विषय तो वहाँ होता है जहाँ उपमान-विशेष का ग्रहण किये बिना विशेषणों के समान होने पर भी उस (उपमान) की वैसी (पूर्वोदाहरण के समान) स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। जैसे— 'स्वयं च' इत्यादि में (ऊपर उदाहरण ३७७) ॥६०२॥

प्रभा—(१) भाव यह है कि 'स्पृशति' इत्यादि में समासोक्ति अलङ्कार है यहाँ श्लिष्ट विशेषणों के सामर्थ्य से ही ग्रीष्मदिवस-शोभा की प्रतिनायिका के रूप में प्रतीति हो सकती है अतएव 'दयितेव' यह पद व्यर्थ है और प्राचीन अलङ्कारिकों के मतानुसार इस समासोक्ति में 'अनुपदेयत्व' दोष है। काव्यप्रकाशकार की स्थापना है कि इसका 'अपुष्टार्थत्व' नामक (सामान्य दोष) में ही अन्तर्भाव हो जाता है। (२) इस पर यह शङ्का होती है कि यहाँ ('स्पृशति' इत्यादि में) श्लेषमूलक उपमा है समासोक्ति नहीं और पद्य का भाव यह है—जिस प्रकार किसी प्रेमी के द्वारा एक प्रिया का स्पर्श किये जाने पर अन्य प्रिया को सन्ताप होता है उसी प्रकार सूर्य के द्वारा दिशाओं का स्पर्श किये जाने पर ग्रीष्मदिवसशोभा को भी सन्ताप होने लगता है।' ग्रन्थकार 'श्लेषोपमायास्तु' आदि के द्वारा इसका समाधान करते हैं। अभिप्राय यह है कि जहाँ उपमान का ग्रहण किये बिना भी श्लिष्ट विशेषणों के बल से उसकी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है वहाँ समासोक्ति के चमत्कारक होती है जैसे 'स्पृशति' इत्यादि। किन्तु यहाँ उपमान का ग्रहण किये बिना उसकी प्रतीति नहीं होती, वहाँ उपमान का ग्रहण किये जाने पर समासोक्ति निवृत्त हो जाती है, और उपमा ही चमत्कारक होती है। वही श्लेषमूलक उपमा का विषय है। जैसे 'स्वयं च' इत्यादि में 'प्रभातसन्ध्येव' का ग्रहण किये बिना उपमान की प्रतीति ही नहीं होती तथा यहाँ श्लेषमूलक उपमान मानी जाती है। अतएव 'स्पृशति' इत्यादि

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थतां नेयम् । यथा—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥६०३॥

अत्राचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम् ।

में समासोक्ति ही है और उसमें अनुपादेयत्व दोष है जिसका अपुष्टार्थत्व में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

टिप्पणी—श्लेषोपमा का अर्थ है—'श्लेषमूलक उपमा' क्योंकि इस नाम का कोई अतिरिक्त अलङ्कार आचार्य मम्मट ने स्वीकार नहीं किया । हाँ, काव्यादर्श (२-२८) में इसे एक अलङ्कार अवश्य माना गया है ।

अनुवाद—(अप्रस्तुतप्रशंसा-दोष)—अप्रस्तुतप्रशंसा में भी उपमेय इसी रीति से (साधारणविशेषणबलात्) प्रतीत हो जाता है; अतः (उपमेय का) पुनः प्रयोग करके दोषत्व (अर्थात् अपुष्टार्थत्व) को न प्राप्त कराना चाहिए जैसे—[भल्लटशतक ६६] 'विवेकशून्य तथा वस्तुओं के स्वरूप को न जानने वाले प्रभु के समान जो सामान्य (गोत्व आदि जाति, जो विवेक शून्य है अतएव वस्तुओं के स्वरूप तारतम्य का भेद नहीं करती) है, उसे धिक्कार है, जिसमें (पक्षित्व आदि द्वारा) पक्षियों को आमन्त्रित करने पर आगे आता हुआ मच्छर भी नहीं रोका जाता (क्योंकि उसमें भी पक्षित्व है) अथवा सागर के मध्य में रहने वाली तृणमणि (तृणों का अपकर्षक पाषाण विशेष) भी मणियों की कान्ति को धारण करती है (क्योंकि उसमें भी मणित्व जाति है) और तेजस्वियों के मध्य जाने में खद्योत (जुगनू) भी कम्पित नहीं होता (क्योंकि उसमें भी तेजस्वित्व जाति है हो)' ॥६०३॥

यहाँ पर अप्रस्तुत जो विशेषणयुक्त 'सामान्य' है उस के द्वारा ही अविवेकशील प्रभु (प्रस्तुत) की प्रतीति हो जाती है अतः उसका ('प्रभुमिव' शब्द के द्वारा) पुनः कथन अनुचित है ।

प्रभा—प्राचीन आचार्यों का मत था कि अप्रस्तुतप्रशंसा में जहाँ साधारण विशेषणों के द्वारा ही अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ प्रस्तुत का शब्द द्वारा उपादान (ग्रहण) करने पर अनुपादेयत्व दोष होता है । उदाहरणार्थ 'आहूतेषु' इत्यादि में 'अमृष्टतत्त्वान्तरम्' इस विशेषण से युक्त सामान्य के द्वारा ही 'अविवेकी प्रभु' की प्रतीति हो जाती है फिर 'अचेतन प्रभुमिव' यह कहना उचित नहीं । अतः

तदेतेऽलङ्कारदोषाः, यथासम्भविनोऽन्येऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तैव दोषजात्याऽन्तर्भाविताः न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति। सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम्।

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ॥१॥

इति काव्यप्रकाशेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नाम दशम उल्लासः।

॥ समाप्तश्चायं काव्यप्रकाशः ॥

यहाँ अनुपादेयत्व दोष है। मम्मट का कथन है कि इस दोष का अपुष्टार्थत्व या पुनरुक्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुवाद—इसलिये उपर्युक्त अलङ्कार-दोषों का और इस प्रकार के अन्य दोषों का भी पूर्वोक्त (सप्तम उल्लास में निरूपित) दोषसामान्य में ही अन्तर्भाव किया जाता है। इनका पृथक् प्रतिपादन उचित नहीं है।

प्रभा—भामहाचार्य आदि प्राचीन आलङ्कारिकों ने सामान्य काव्य-दोषों से पृथक अलङ्कार-दोषों का निरूपण किया था। इस प्रकरण में उनकी मान्यताओं की समीक्षा की गई है तथा उनके द्वारा वर्णित कतिपय अलङ्कार दोष का दोष-सामान्य में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। इसका यही अभिप्राय है कि आचार्य मम्मट के मतानुसार समस्त अलङ्कार-दोषों का दोष-सामान्य में अन्तर्भाव हो जाता है, उनका पृथक् निरूपण आवश्यक नहीं।

अनुवाद—इस प्रकार यह काव्यस्वरूप निरूपण (प्रकृतग्रन्थ) भली भांति पूर्ण होता है।

प्रभा—यहाँ काव्यलक्षण शब्द प्रकृतग्रन्थ का बोधक है—काव्यं लक्ष्यते स्वरूपतो विशेषतश्च ज्ञाप्यते अनेन तत्। काव्यस्वरूप विवेचन ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है जिसका ग्रन्थ के आरम्भ मे निर्देश किया गया है उसका ही यहाँ उपसंहार किया जा रहा है।

अनुवाद—(अन्त मङ्गल) 'इस प्रकार यह अद्भुत (काव्य-विवेचन) मार्ग (ध्वनिकार आदि) विद्वानों के (नाना ग्रन्थों में) भिन्न रूप से स्थित होता हुआ भी जो यहाँ अभिन्न सा प्रतीत होता है; यह विचित्र बात नहीं है; क्योंकि इस ग्रन्थ में (अमुत्र) जो (यत्र-तत्र विकीर्ण वस्तु का) समीचीन संकलन किया गया है वही इस (एकरूपता प्रतीति) का हेतु है।

प्रभा—(१) इस उपसंहारात्मक कथन से यह प्रतीत होता है कि भारतीय काव्य-विवेचन में प्रचलित विविध मार्गों (अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति तथा रसध्वनि आदि) का समन्वय ही आचार्य मम्मट को अभिप्रेत था। इसीलिये इस ग्रन्थ में विविध मान्यताओं का सुन्दर गुम्फन किया गया है। जो विचार भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में पड़े हुये एक दूसरे से नितान्त पृथक् प्रतीत होते थे। उनका काव्यप्रकाश ग्रन्थ में

सामञ्जस्य स्थापित किया गया है; अतएव यह काव्य-विवेचना का एक अद्भुत ग्रन्थ है ऐसा ग्रन्थ कि जिसमें अनेक मतों का सार संगृहीत है; किन्तु संघटना चातुर्य के कारण विभिन्न मत भी एक रूप में समन्वित हो गये हैं। (२) व्याख्याकारों का विचार है कि यह श्लोक 'अल्लटसूरि' निर्मित है। इससे ध्वनित होता है कि आचार्य मम्मट की इस कृति को अन्य (अल्लटसूरि) ने समाप्त किया था दो विद्वानों की रचना होने पर भी रचना-कौशल के कारण यह एक अखण्ड ग्रन्थ प्रतीत होता है। जैसे कि माणिक्यचन्द्र का कथन है—'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते।' निदर्शनकार ने स्पष्ट ही कहा है—

कृतः श्री मम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लट-सूरिणा विवेचनशील विद्वान् स्वयं ही इसका तथ्यातथ्य निणय कर सकते हैं।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में अर्थालङ्कार-निर्णय नामक यह दशम उल्लास समाप्त होता है।

यह काव्यप्रकाश भी समाप्त होता है।

उत्तरप्रदेशस्थमयराष्ट्र-मण्डलान्तर्गत-रसूलपुरग्रामनिवासिनां,
श्रीचन्द्रभानुनम्बरदारमहोदयानाम् आत्मजेन
विविधबुधजनचरणाधिगतविद्येन
श्रीनिवासशास्त्रिणा कृता हिन्दीव्याख्या समाप्ता।

काव्य-प्रकाशस्य उदाहृतपद्यानुक्रमणिका

सामञ्जस्य स्थापित किया गया है; अतएव यह काव्य-विवेचना का एक अद्भुत ग्रन्थ है ऐसा ग्रन्थ कि जिसमें अनेक मतों का सार संगृहीत है; किन्तु संघटना चातुर्य के कारण विभिन्न मत भी एक रूप में समन्वित हो गये हैं। (२) व्याख्याकारों का विचार है कि यह श्लोक 'अल्लटसूरि' निर्मित है। इससे ध्वनित होता है कि आचार्य मम्मट की इस कृति को अन्य (अल्लटसूरि) ने समाप्त किया था दो विद्वानों की रचना होने पर भी रचना-कौशल के कारण यह एक अखण्ड ग्रन्थ प्रतीत होता है। जैसे कि *माणिक्यचन्द्र का कथन है—'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण* च समर्थित इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते।' निदर्शनकार ने स्पष्ट ही कहा है—

कृतः श्री मम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लट-सूरिणा विवेचनशील विद्वान् स्वयं ही इसका तथ्यातथ्य निर्णय कर सकते हैं।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में अर्थालङ्कार-निर्णय नामक यह दशम उल्लास समाप्त होता है।

यह काव्यप्रकाश भी समाप्त होता है।

उत्तरप्रदेशस्थमथुराष्ट्र-मण्डलान्तर्गत-रसूलपुरग्रामनिवासिनां,
श्रीचन्द्रभानुनम्बरदारमहोदयानाम् आत्मजेन
विविधबुधजनचरणाधिगतविद्येन
श्रीनिवासशास्त्रिणा कृता हिन्दीव्याख्या समाप्ता।

काव्य-प्रकाशस्य उदाहृतपद्यानुक्रमणिका

पद्यानुक्रमणिका